

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

वरांग चरित्र

ग्रन्थकर्त्ता
परम पूज्य आचार्यश्री जटासिंहनन्दी जी महाराज

अनुवादक
खुशालचन्द्र जी गोरावाला

सम्पादक
डॉक्टर आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

प्रकाशक
भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

(परम्परानायक)



परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)



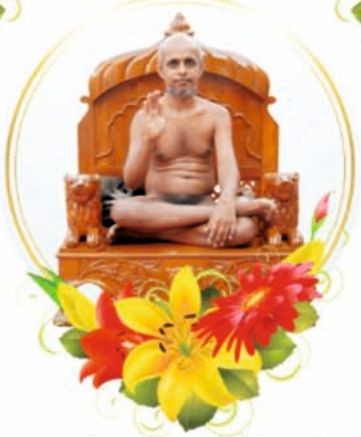
परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)



परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

आचार्यश्री जटासिंहनन्दि विरचित

वरांगचरित

मूल सम्पादक

डॉ० आ० ने० उपाध्ये

अनुवादक

प्रो० खुशालचन्द्र जी गोरावाला

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

आचार्य श्री भरतसागर 'ज्ञान-दिवाकर' महोत्सव पर प्रकाशित

आचार्यश्री जटासिंहनन्दि विरचित

वरांग चरित

भारती (हिन्दी) अनुवाद सहित

मूल सम्पादक

डॉ० आ० ने० उपाध्ये

अनुवादक

प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् पुस्प संख्या–२४

प्रेरणा : आर्यिका स्याद्वादमती माताजी

ग्रन्थ : **वरांग चरित**

प्रणेता : **आचार्यश्री जटासिंहनन्दि**

संस्करण : प्रथम

प्रतियाँ १०००

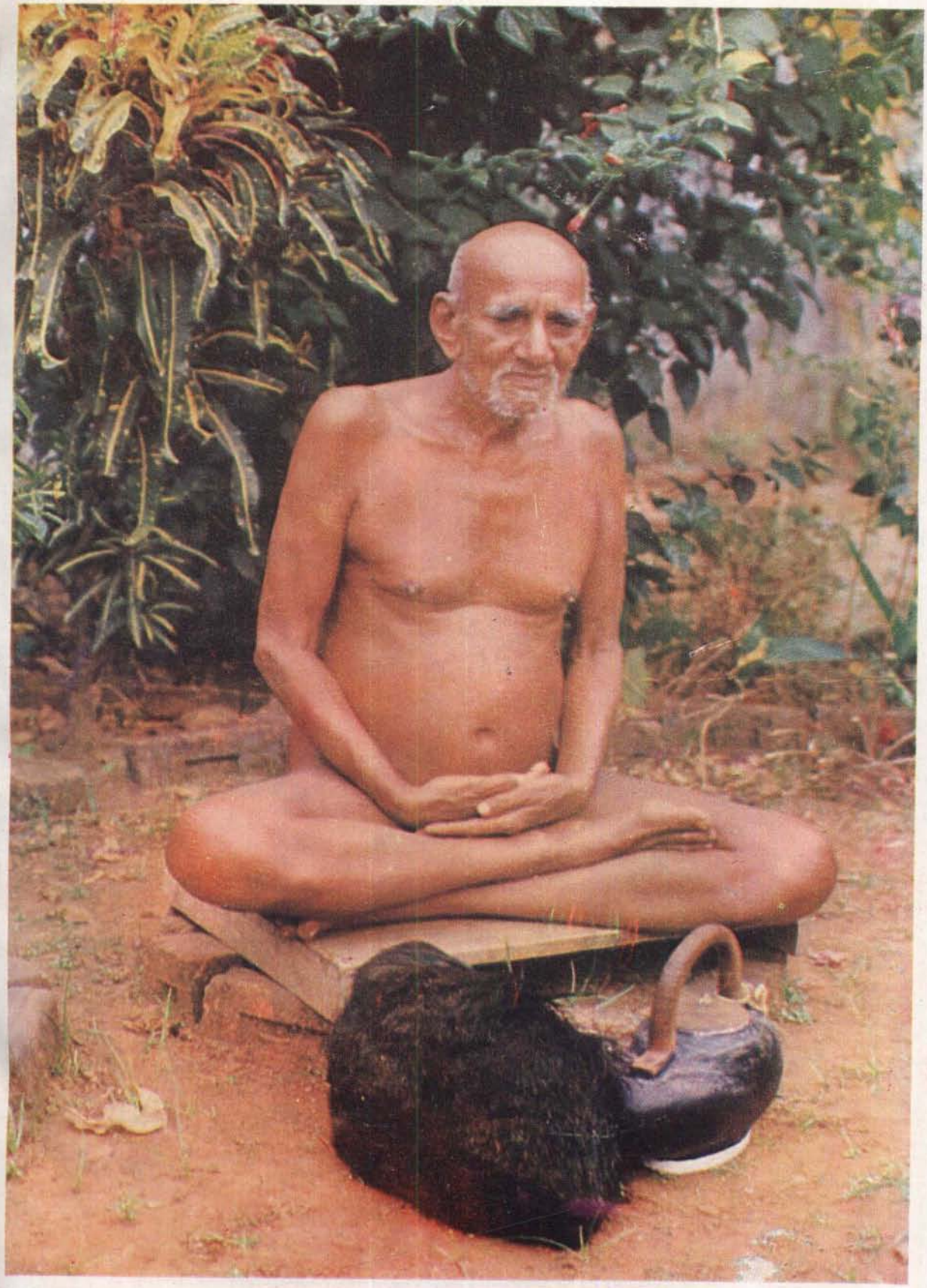
: वीर निर्वाण सं० २५२२ सन् १९९६

प्रकाशक : **भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्**

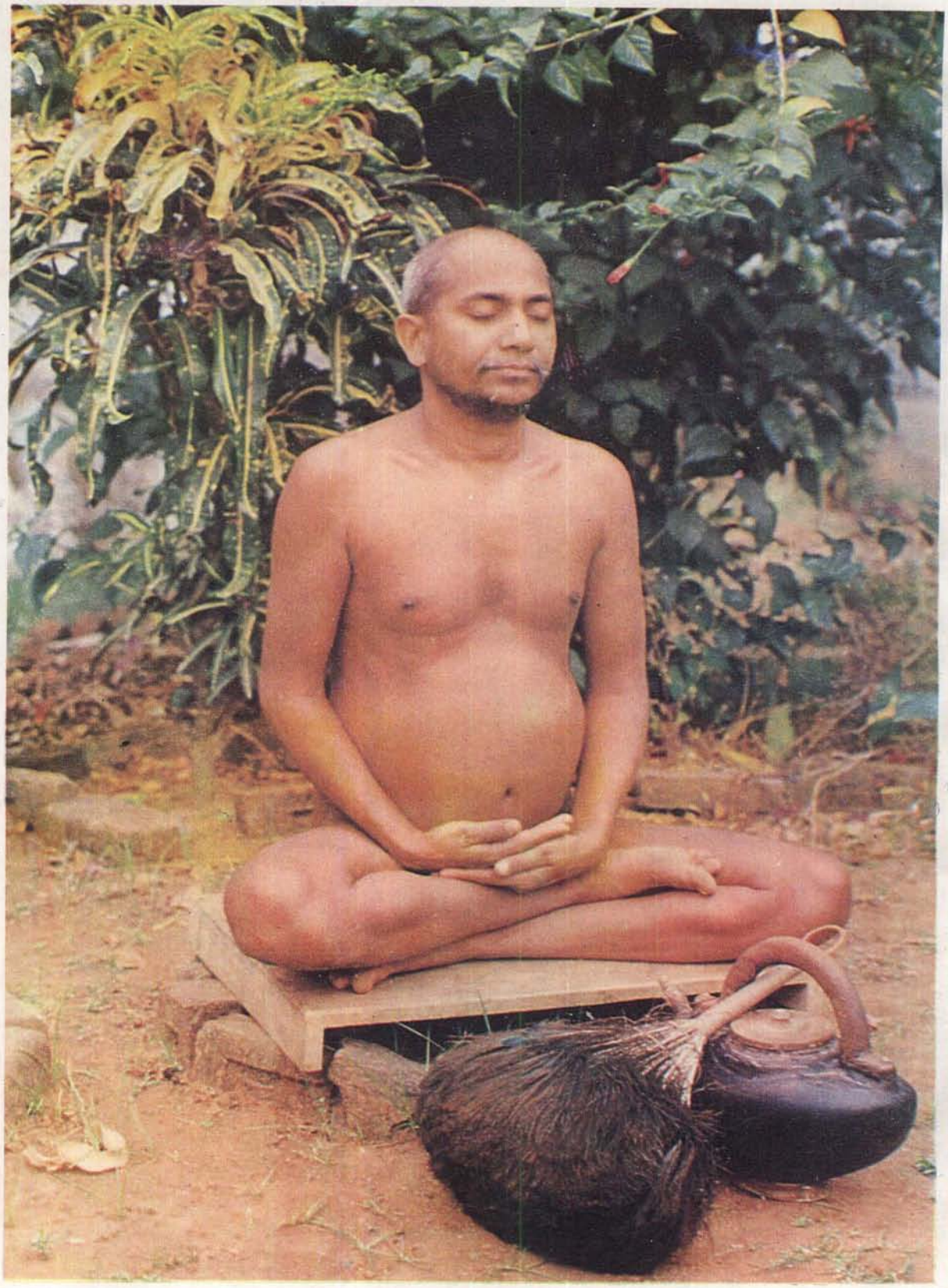
प्राप्ति स्थान : आचार्यश्री भरतसागरजी महाराज संघ

मूल्य : १२०) रुपये

मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहरनगर कॉलोनी, वाराणसी–२२१०१०



आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज



आचार्यश्री भरतसागरजी महाराज

समर्पण

ज्ञान दिवाकर

प्रशान्तमूर्ति

वाणीभूषण

मर्यादा शिष्योत्तम

गुरुभक्ति के अमर पुष्प

आचार्यश्री १०८ भरतसागर जी महाराज के

कर-कमलों में

ग्रन्थराज

सादर

समर्पित

भूमिका

वराङ्गनेव सर्वाङ्गै र्वराङ्ग चरितार्थवाक्। कस्य नोत्पादयेद्गाढ मनुरागं स्वगोचरम्[1] ॥

वी० नि० २४६० (१९३३ ई०) के पहिले वरांगचरितकी स्मृति आचार्य श्री जिनसेनकृत हरिवंशपुराणके प्रथम सर्गका उक्त ३५वाँ श्लोक ही दिलाता था। असंख्य लुप्त ग्रन्थोंमें इस महान् ग्रन्थकी भी गणना होती थी। यह भी पता न था कि किस आचार्यने इसे रचा था। पद्मचरितके प्रणेता श्री रविषेणाचार्य इसके भी कर्त्ता रहे होंगे ऐसा अनुमान किया जाता था। किन्तु भण्डारकर रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूनाकी पत्रिकाकी १४वीं प्रतिके प्रथम तथा द्वितीय भागमें डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येका एक शोधपूर्ण लेख उक्त वर्ष ही प्रकाशित हुआ, जिसने जिज्ञासुओंको वरांगचरितके सद्भावकी ही सूचना न दी थी; अपितु उसके कर्त्ता श्री जटिलमुनि, जटाचार्य अथवा जटासिंहनन्दिका भी पर्याप्त परिचय दिया था। इस लेखके प्रकाशनके बाद वरांगचरितको प्रकाशमें लानेके लिए विद्वान् लेखकसे सब तरफसे आग्रह किया गया और समाजके सौभाग्यसे २४६५ (वी० नि०) (दिसम्बर १९३८) में यह ग्रन्थ पाठकोंके सामने आसका। उक्त लेखके विद्वान् लेखक डॉ० आ० ने० उपाध्येने लक्ष्मीसेन मठ, कोल्हापुर तथा जैन मठ, श्रवणबेलगोलकी ताड़ प्रतियोंके आधारपर इसका सम्पादन किया है तथा साहित्य मनीषी मूक सेवक पं० नाथूराम प्रेमीने इसे श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमालाके ४०वें ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित किया है।

ग्रन्थ परिचय

यद्यपि सर्गोंके अन्तमें आया वाक्य "चारों वर्ग समन्वित, सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथा"[2] इस ग्रन्थका चतुर्वर्ग समन्वित धर्मकथा नामसे परिचय देता है, तथापि इसके आकार, छन्द तथा अन्य प्रकारोंके आधारपर इसे संस्कृत महाकाव्य कहा जा सकता है, क्योंकि मंगलाचरण पूर्वक प्रारब्ध यह पूरी रचना इकतीस सर्गोंमें विभाजित है। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा श्री कृष्णचन्द्रजीके समकालीन वरांग इसके नायक हैं। इनमें धीरोदात्त नायकके सब गुण हैं। महाकाव्यमें आवश्यक नगर, ऋतु, उत्सव, क्रीड़ा, रति, विप्रलम्भ, विवाह, कुमार-जन्म तथा वृद्धि, राजसभा-मंत्रणा, दूतप्रेषण, अभियान, युद्ध, विजय, राजसंस्थापन, धार्मिक आयोजन, आदिके वर्णनोंसे यह व्याप्त है। वसन्ततिलका, पुष्पिताग्रा, उपजाति, प्रहर्षणी, मालिनी, अनुष्टुभ, भुजंगप्रयाता, भारभारिणी, वंशस्थ तथा द्रुतविलम्बित छन्दोंका मुख्य रूपसे उपयोग हुआ है। सर्ग समाप्ति बहुधा विसदृश छन्दसे की गयी है। वरांगकी धर्मनिष्ठा, सदाचार, कर्त्तव्यपरायणता, शारीरिक तथा मानसिक विपत्तियोंमें सहिष्णुता, विवेक, साहस, लौकिक तथा आध्यात्मिक शत्रुओंपर पूर्ण विजय, आदि उसे सहज ही उत्कृष्ट धर्मवीर धीरोदात्त[3] नायक बना देते हैं। परम्पराके अनुसार महाकाव्यमें तीससे अधिक सर्ग नहीं होने चाहिये किन्तु इसमें एकतीस हैं।

१. सेठ माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालाका ३२वाँ ग्रन्थ, पृ० ४।

२. "इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्ग समन्विते स्फुट शब्दार्थ सन्दर्भे वरांगचरिताश्रिते····।"

३. "अविकत्थनः क्षमावानति गम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः कथितः॥ —साहित्यदर्पण, सर्ग ३, श्लोक ३२।

कथावस्तु—भगवान् अर्हन्त उनका धर्म तथा सर्वदर्शी ज्ञान रूप रत्नत्रयके नमस्कार पूर्वक ग्रन्थका प्रारम्भ होता है। महापुराणके समान कथा प्रबन्ध, उपदेष्टा तथा श्रोताके लक्षण तथा भेदोंका विवेचन है। फिर कथा प्रारम्भ होती है विनीत देशकी रम्या नदीके तटपर स्थित उत्तमपुरमें भोजवंशी महाराज धर्मसेन राज्य करते थे। इनकी तीन सौ रानियोंमें गुणवती पट्टरानी थी इसी देवीकी कुक्षिसे कुमार वराङ्ग उत्पन्न हुए थे। मंत्रियोंसे विमर्श करके धर्मसेनने वयस्क वरांगका दश कुलीन पुत्रियोंके साथ व्याह कर दिया था। कुछ समय बाद भगवान् अरिष्टनेमिके प्रधान शिष्य वरदत्त केवली उत्तमपुर पधारे धर्मसेन सकुटुम्ब वन्दनार्थ गये, तथा राजा द्वारा प्रश्न किये जानेपर कवेलीने धर्म और तत्त्वोंका उपदेश दिया। संसारके कारण कर्मों, लोकों, तिर्यंच गति, मनुष्यगति तथा लोक, स्वर्ग तथा मोक्षका विशेष विवेचन किया था। वरांगके पूछनेपर मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वका विवेचन किया था। जिससे प्रभावित होकर कुमारने अणुव्रतोंको धारण किया था। वरांगको युवराज पद देनेपर इनकी सौतेली माता तथा भाई सुषेणको ईर्ष्या होती है। ये सुबुद्धि मंत्रीसे मिलकर षड्यन्त्र करते हैं। मंत्रिके द्वारा शिक्षित दुष्ट घोड़ा वरांगको जंगलकी ओर ले भागता है तथा कुमार सहित कुएँमें जा पड़ता है। किसी प्रकार कुएँसे निकलकर वरांग जब दुर्गम वनमें आगे बढ़ते हैं तो व्याघ्र पीछा करता है तथा किसी हाथीकी सहायतासे ये उससे छुटकारा पाते हैं। इसी प्रकार एक यक्षी इन्हें अजगरसे बचाती है तथा इनके स्वदार-संतोष-व्रतकी परीक्षा लेकर इनकी भक्त हो जाती हैं वनमें भटकते युवराजको बलिके लिए भील पकड़ ले जाते हैं किन्तु साँपके द्वारा डँसे भिल्लराजके पुत्रका विष उतार देनेके कारण इन्हें मुक्ति मिल जाती है और यह सेठ सागरबुद्धिके बंजारेसे मिलकर उसे जंगली डाकुओंसे बचा लेकर कश्चिद्भट नामसे अज्ञात वास करते हैं। सेठ सागरबुद्धिके धर्मपुत्रकी भाँति ललितपुरमें रहते हुए वे सेठोंके प्रधान हो जाते हैं। इधर उत्तमपुरमें इनके माता, पितादि धार्मिक जीवन बिताकर वियोगके दुःखको भर रहे थे। हाथीके लोभसे मथुराधिपने ललितपुरपर आक्रमण किया तो कश्चिद्भटने उसको परास्त करके फिर अपने पराक्रमकी पताका फहरा दी। कृतज्ञ ललितपुराधिपने अपना आधा राज्य तथा लड़की वरांगको दी।

वरांगके लुप्त हो जानेपर सुषेण उत्तमपुरके राज्यभारको सम्हालता है और अपनी अयोग्यताओंके कारण शासनमें असफल रहता है। उसकी इस दुर्बलता तथा धर्मसेनके बुढ़ापेका अनुचित लाभ उठानेकी इच्छासे बकुलाधिप उत्तमपुरपर आक्रमण करता है तथा धर्मसेन ललितपुराधिपसे सहायता माँगते हैं। इस अवसरपर वरांग जाते हैं और बकुलाधिपके दाँट खट्टे कर देते हैं। तथा जनताके स्वागत और आनन्दके बीच अपनी नगरीमें प्रवेश करते हैं। अपने विरोधियोंको क्षमा करके वरांग पितासे दिग्विजयकी अनुमति माँगते हैं। वे नये राज्यकी स्थापना करते हैं जिसकी राजधानीका निर्माण सरस्वती नदीके किनारेपर आनर्तपुर नामसे हुआ था। यहाँपर वे विविध-ऋतुओंका आनन्द लेते हैं। अपनी पट्टरानीको श्रावकाचारका उपदेश देते हैं तथा महान् जिनमन्दिरका निर्माण कराके विशाल जिन बिम्बकी प्रतिष्ठा पूरे धार्मिक आयोजनके साथ कराते हैं। नास्तिकमतोंका निरूपण करके वे अपने मंत्रियोंका सन्देह निवारण करते हैं तथा उन्हें जिनधर्मज्ञ परम श्रद्धानी बना देते हैं। अपनी प्रजाका ज्ञान तथा सुख बढ़ानेके लिए ये तत्त्वार्थ तथा पुराणोंका उपदेश देते हैं। अनुपमा महारानीकी कुक्षिसे पुत्रका जन्म होता है, जिसका नाम सुगात्र रखा जाता है।

एक दिन वरांगराज आकाशसे टूटते तारेको देखते हैं और उन्हें संसारकी अनित्यताका तीव्र भान होता है। वे दीक्षा

लेनेका निर्णय करते हैं। कुटुम्बीजन उन्हें रोकते हैं, किन्तु वे अपने धर्मपिता सेठ सागरबुद्धि तथा अन्य स्वजनोंको समझा लेते हैं। कुमार सुगात्रको राजसिंहासनपर बैठाकर अन्तिम उपदेश देते हैं और श्री वरदत्त केवलीसे दैगम्बरी दीक्षा ले लेते हैं। रानियाँ भी धार्मिक दीक्षा लेती हैं। वरदत्त केवली मुनिधर्मका उपदेश देते हैं। इसके बाद राजा तथा रानियाँ, घोर तप करके अपने अन्तरंग और बहिरंग शत्रुओंको जीतते हैं। अन्तमें वरांगराज शुक्लध्यान करके सद्गतिको प्राप्त करते हैं।

इस कथा वस्तुसे भी स्पष्ट है—रस, पात्र तथा चतुर्वर्ग साधक होनेके कारण यह धर्म कथा उच्चकोटिका संस्कृत महाकाव्य हो जाती है।

ग्रन्थकार—अब तक प्रकाशमें आयी दोनों हस्तलिखित प्रतियोंमें कहीं भी ग्रन्थकारका किसी प्रकारसे निर्देश नहीं मिलता है। अर्थात् ग्रन्थकारके विषयमें अन्तरंग साक्षीका सर्वथा अभाव है। इस महाकाव्यको हमारे सामनेलाने वाले सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० उपाध्येने भी सर्गान्तमें आये विशाल कीर्ति, तथा राजसिंह शब्दोंके ऊपरसे लेखकका अनुमान लगानेके प्रलोभनको ग्राह्य नहीं समझा है।[1] आपाततः अन्तरंग साक्षियोंके अभावमें बाह्य साक्षियोंकी ही शोध एकमात्र गति रह जाती है। बाह्य साक्षी भी प्रधानतया दो प्रकारके हैं प्रथम साहित्यिक निर्देश, द्वितीय शिलालेख। साहित्यिक निर्देश संक्षेपमें निम्न प्रकार हैं—

१—आचार्य जिनसेनने (ल० ७८३ ई०) अपने हरिवंशपुराणके प्रारम्भमें पूर्ववर्ती कवियों तथा काव्योंका स्मरण करते हुए वरांगचरितके लिए लिखा है "सर्वगुण सम्पन्न नायिकाके समान अर्थ गम्भीर वरांगचरित अपने समस्त लक्षणों (अंगोपांगों) के द्वारा अपने प्रति किसके मनमें गाढ़ अनुरागको उत्पन्न नहीं करेगा[2] अर्थात् वरांगचरित सबके लिए मनोहारी है। किन्तु इतना सम्मानपूर्ण होकर भी यह निर्देश केवल ग्रन्थका परिचय देता है। उसके निर्माताके विषयमें मौन है।

२—आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन द्वितीयने (८३८ ई०) "काव्यकी कल्पनामें तल्लीन जिस आचार्यके जटा हमें अर्थ समझाते हुएसे लहराते हैं वह जटाचार्य हमारी रक्षा करें"[3] कहकर किन्हीं जटाचार्यको नमस्कार किया है। इतना ही नहीं, कितनी ही बातोंमें वरांगचरितके मन्तव्योंको अपने पद्योंमें दिया है। किन्तु आदिपुराण जटाचार्यकी कृतिके विषयमें मौन हैं।

३—हरिवंशपुराणके वरांगचरित आदिपुराणके जटाचार्यमें क्या सम्बन्ध था, इस समस्याका निकार श्री उद्योतनसूरि (७७८ ई०) की कुवलयमाला[4] की।

"जेहिं कए रमणिज्जे वरंग-पउमाण चरिय वित्थारे। कह व ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणो॥"

---

१. वरांगचरितकी अंग्रेजी भूमिका, पृ० ८ (मा० ग्र० मा० मुम्बई, ग्र० ४०)।

२. हरिवंशपुराण, प्र० अ०, श्लोक ३५।

३. "काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रचलवृत्तयः।
अर्थान्स्मानुवदन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात्। —आदिपुराण, सर्ग १, श्लोक ५०।

४. कैटलोग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट जैसलमेर भण्डार, गायकवाड़ सीरीज नं० १३, पृ० ४२।

गाथासे मिलता है। यद्यपि मा० प्रेमी जी[1] को 'रविषेणो' पदने द्विविधामें डाला था तथापि डॉ० उपाध्येने 'जेहि' 'ते' 'कइणो'[2] पदोंके आधारपर यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि उद्योतनसूरिने वरांगचरित तथा पद्मचरितके निर्माताओं जड़ियरविषेणका निर्देश किया है।

४—जडिय जटिलका भ्रान्त पाठ है यह धवलकृत हरिवंश[3] (ल ११वीं शती) के

मुणि महसेणु सुलोयणु जेण पउमचरिउ मुणि रविसेणेण। जिणसेणेण हरिवंसु पवित्तु जडिलमुणिणा वरंगचरित्तु ॥

उद्धरणसे स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् स्पष्टरूपसे धवलाचार्य सुलोचनाचरितके निर्माता मुनि महासेन, पद्मचरितके रचयिता आ० रविषेण, हरिवंशकार आचार्य जिनसेन तथा वरांगचरितकार श्री जटिलमुनिको स्मरण करते हैं।

इनके अतिरिक्त कतिपय ग्रन्थोंमें वरांगचरितके उद्धरण भी मिलते हैं। गोम्मटेश प्रतिष्ठापक मंत्रिवर चामुण्डरायने अपने त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित[4] में (९७८ ई०) कथा अंगोंका विवेचन करते हुए श्रोताके भेदोंको बतानेके लिए वरांगचरित-के प्रथम अध्यायका १५वाँ श्लोक ज्योंका ज्यों उद्धृत किया है। इस निर्देशकी महत्ता तो इसमें है कि उक्त श्लोकके पहिले चामुण्ड-रायने "जटासिंहनद्याचार्यर वृत्त"[5] भी लिखा है। दशमी शतीका यह निर्देश कुवलयमाला तथा हरिवंशपुराणके निर्देशोंका पुष्ट पोषक है। सोमदेवोचार्य द्वारा भी वरांगचरितके

"क्षुद्रमत्स्यः किलैकस्तु स्वयंभुरमणोदधौ। महामत्स्यस्य कर्णस्थः स्मृतिदोषादधो गतः ॥"

को उद्धृत करना भी प्रमाणित करता है कि वरांगचरित दशमी शतीमें ही पर्याप्त ख्याति तथा प्रतिष्ठा पा सका था।

मर्यादा-मंत्री चामुण्डराय द्वारा 'जटासिंहनन्दि' नामसे वरांगचरितकारका निर्देश हमारा आदिपुराणके उस पार्श्वलेख-की ओर ले जाता है जिसमें जटाचार्यका नाम 'सिंहनन्दिन' लिखा है। इन उद्धारणोंके सहारे ऐसी कल्पना आती है कि वरांग-चरितके प्रथम सर्गमें आया 'राजसिंह' शब्द संभवतः आचार्यके नामका आंशिक संकेत करता है क्योंकि प्रादेशिक भाषाके ग्रन्थ-कारोंमें भी 'जटासिंहनन्दि' नामसे वरांगचरितके रचयिताका स्मरण करनेवालोंका बहुमत है—

१—कन्नड़ भाषाके धुरन्धर कवि पम्पने अपने आदिपुराण (९४१ ई०) के आरम्भमें बड़े सम्मान और श्रद्धाके साथ 'जटाचार्य' नामसे वरांगचरितकारका स्मरण दिया[6]।

---

१. पद्मचरितकी भूमिका, पृ० ३।

२. वरांगचरितकी अंग्रेजी भूमिका, पृ० १० (मा० च० ग्र०, ग्र० ४०)।

३. सी० पी तथा बरारके संस्कृत प्राकृत मैनुस्क्रिप्टका कैटलोग, पृ० ७६४।

४. कर्नाटक साहित्य परिषद् द्वारा १९२८ में प्रकाशित।

५. यह वाक्य त्रिषष्टि-शलाकाचरितकी समस्त हस्तलिखित प्रतियोंमें नहीं मिलता तथापि इसकी स्थिति निर्विवाद है क्योंकि १४२७ (शक) में की गयी इसकी ताड़पत्रीय प्रतिमें भी यह वाक्य है।

६. प्रथम सर्ग, श्लोक १२ (मैसूर संस्करण १९००)।

२—धर्मामृतके रचयिता श्रीनयसेन (१११२ ई०) जटासिंहनन्दिको "चरित्र रत्नाकर रधिकगुणसंज्" रूपसे स्मरण करते हैं।[1]

३—पार्श्व पंडित अपने पार्श्वनाथ पुराणमें (१२०५) जटाचार्य नामसे वरांगचरितकारकी प्रशंसा करते हैं।[2]

४—अनन्तनाथ पुराणके कर्त्ता जन्नाचार्य (१२०९) "नृपभृत्य वर्धित सुधर्मर श्री जटासिंहनद्याचार्य" रूपसे जटाचार्य-का स्मरण करते हैं।[3]

५—पुष्पदन्तपुराणके निर्माता गुणवर्म द्वितीय (१२३० ई०) भी जटाचार्यको "मुनिपुंगव जटासिंहनन्दि" नामसे प्रणाम करते हैं[4]।

६—श्री कमलभव अपने शान्तीश्वर पुराणमें (१२३५ ई०) जटासिंहनन्दि नामसे ही वरांगचरितकारका उल्लेख करते हैं[5]।

७—नेमिनाथ पुराणके प्रारम्भमें महाबल कविने (१२४५) भी 'जगती ख्याताचार्य' रूपसे जटासिंहनन्दिका उल्लेख किया है[6]।

जटाचार्यका निर्देश करनेवाला एकमात्र शिलालेख निजाम राज्यके कोप्पल[7] (कोप्पन) नामके स्थानपर पाल्कीगुण्डु पहाड़ीपर मिला है। प्राचीन कालमें यह स्थान सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थान रहा होगा जैसा कि यहाँसे प्राप्त विविध शिलालेखोंसे स्पष्ट है। यहाँपर मिले शिलालेखोंमें सम्राट् अशोकके भी लेख हैं। प्रादेशिक परम्पराके आधारपर कहा जा सकता है कि मध्य-युगमें भी यह स्थान जैनियोंके लिए पूज्य रहा है। जटाचार्यका निर्देशक लेख अशोकके शिलालेखके ही पास है। पत्थरपर दो चरण खुदे हैं और उनके नीचे कन्नड़ भाषामें—

"जटासिंहनन्दि आचार्यर पदव चावय्यं माडिसिदों[8]"

दो पंक्तिका लेख भी अंकित है। जैन परम्परामें यह प्रथा प्रचलित थी कि किसी भी पूज्य पुरुषके देहत्याग स्थान अथवा श्मशानपर कोई स्मारक बनवा देते थे और उसपर चरण चिह्न खुदवा देते थे। ऐसे स्थानोंको 'निषिदि' नामसे कहा

१. सर्ग १, श्लोक १३ (मैसूर संस्करण १९२४-६)।
२. सर्ग १, श्लोक १४।
३. सर्ग १, श्लोक १३ (मैसूर संस्करण १९३०)।
४. सर्ग १, श्लोक २९ (मद्रास संस्करण १९३३)।
५. सर्ग १, श्लोक १९ (मैसूर संस्करण १९१२)।
६. सर्ग १, श्लोक १४।
७. कर्नाटक साहित्य परिषद् पत्रिका, जिल्द ३२, सं० ३, पृ० १३८-५४ पर श्री एन० बी० शास्त्रीका 'कोपन-कोप्पण' शीर्षक निबन्ध।
८. हैदराबाद आरकेयोलोजीकल सीरीज, सं० १२ (१९३५) में सी० आर० कृष्णम् चारलू लिखित 'कोपबलके कन्नण शिलालेख।

जाता था। 'नसियाँ' इसीका अपभ्रंश प्रतीत होता है। यतः अनेक जैन साधु समाधिमरणके लिए कोप्पन जाते थे अतः यही सम्भव प्रतीत होता है कि जटाचार्यने कोप्पनमें समाधिमरण किया होगा जिसकी स्मृतिमें उनके परमभक्त 'चावय्य' ने चरण-पादुका बनवायी होंगी। यद्यपि इस लेखमें केवल 'जटासिंहनन्दि' का उल्लेख है तथापि नामसे उल्लेख किये जानेके कारण कहा जा सकता है कि यह लेख कन्नड़ कवियों द्वारा नमस्कृत इन्हीं वरांगचरितकार जटाचार्यका ही निर्देश करता है। इसके अतिरिक्त लेखका काल भी उक्त निष्कर्षका समर्थन करता है। लेखके अक्षरोंके आकार तथा अंकनके प्रकारके आधारपर विद्वान् सम्पादकने[1] इसे १०वीं शतीका लेख बताया है। इन्हीं बातोंपर विचार करके डॉ० उपाध्येका अनुमान है कि यह लेख आसानीसे ८८१ ई० के आस पासका खुदा होना होना चाहिये, क्योंकि इसके अक्षरादि वहीं मिले उस शिलालेख[2] के समान हैं जिसमें उक्त सम्वत्का निर्देश है। डॉ० उपाध्येके मतसे यह लेख ईसाकी ८वीं शतीका भी हो सकता है।

यद्यपि शिलालेख आचार्य जटासिंहनन्दिकी रचनाओं आदिके विषयमें पूर्ण मौन है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि यह शिलालेख वरांगचरितकार जटाचार्यके ही समाधिमरणका स्मारक है, क्योंकि इसमें खुदा 'जटा' विशेषण इन्हें अन्य सिंहनन्दियोंसे अलग कर देता है। कन्नड़ साहित्यमें सुलभ विविध निर्देश यह बताते हैं कि जटाचार्य संभवतः कर्णाटकवासी रहे होंगे। उस समयका कर्णाटक कावेरीसे गोदावरी तक फैला था जिसमें कोप्पल पड़ता है। इतना ही नहीं, उस समयका कोप्पल विद्वानोंका मरण स्थान भी था जैसा कि कुमारसेन आदिके मरणस्थल होनेसे स्पष्ट है। इन सब साक्षियोंके आधारपर कहा जा सकता है कि जन्मजात महाकवि, उग्र तपस्वी, निरतिचार परिपूर्ण संयमी, परम प्रतापी, रंक तथा राजाके हितोपदेशी, सर्व सम्मत आचार्य तथा सुप्रसिद्ध जैन मुनि श्री जटाचार्य ही वरांगचरितके निर्माता थे।

जटासिंहनन्दिका समय

वरांगचरित अपने कर्त्ताके समान अपने निर्माणके समयके विषयमें भी मौन है। अर्थात् समयके विषयमें भी अब तक कोई अन्तरंग साक्षी हस्तगत नहीं हुआ है। फलतः केवल उत्तरवर्ती लेखकोंके समयके आधारपर इतना कहा जा सकता है कि आचार्य जटासिंहनन्दि इस वर्षके पहिले हुए होंगे। सबसे प्राचीन तथा स्पष्ट निर्देश कुवलयमालाका है। कुवलयमालाकार श्री उद्योतनसूरिके बाद श्री जिनसेनाचार्य प्रथमने अपने हरिवंशपुराणमें वरांगचरितका उल्लेख किया है। इनके बाद जिनसेन द्वितीयने आदिपुराणमें इस ग्रन्थका निर्देश किया है। जहाँ पम्पने जटाचार्यका स्मरण किया है वहीं आदर्श-मंत्री चामुण्डरायने वरांगचरितके उद्धरण दिये हैं। इनके बाद धवल, नयसेन, पार्श्वपंडित, जन्न, गुणवर्म, कमलभव तथा महाबल कविने वरांगचरित या जटाचार्य या दोनोंको स्मरण किया है। अर्थात् जटाचार्य और उनका वरांगचरित ८वीं शतीके चतुर्थ चरणमें ही पर्याप्त प्रसिद्ध हो गया था क्योंकि उद्योतनसूरिका समय ७७८ ई० निश्चित-सा ही है। हरिवंशपुराणके प्रारम्भमें आया वरांगचरितका उल्लेख भी

१. है० आ० सी, सं० १२ (१९३५) में केवल प्राचीन लिपि अध्ययनके आधारपर।

२. इस शिलालेखके च, चा, व, प, आदि वर्ण कन्नड़के उन शिलालेखोंके इन वर्णोंसे बिल्कुल मिलते हैं जिनपर ८८१ ई० सम्वत् खुदा है। यदि विसदृशता है तो केवल ज वर्णकी खुदाईमें है। इन्हीं हेतुओंके आधारपर डॉ० उपाध्ये शिलालेखका समय ८वीं शतीमें ले जाते हैं।

इसी बातकी पुष्टि करता है क्योंकि यह ७८३ ई० में समाप्त हुआ था। फलतः यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि ८३८ ई० के लगभग अपना आदिपुराण प्रारम्भ करते हुए आचार्य जिनसेन द्वितीयको जटाचार्यके लहराते जटा अर्थ समझातेसे लगे। आदिपुराणके इस निर्देशसे प्रतीत तो ऐसा होता है कि संभवतः; यदि आचार्य जिनसेनने जटासिंहनन्दिके दर्शन नहीं किये थे तो उनकी किसी मूर्ति या चित्रको अवश्य देखा था यही कारण है कि उनके मानस्तलपर लहराते जटा चित्रित हो रह गये।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, जटाचार्य और वरांगचरितकी ख्याति बढ़ती ही गयी। इसीलिए १०वीं शतीमें महाकवि पम्पने इन्हें सविनय स्मरण किया और चामुण्डरायने तो इनके उद्धरण ही दे डाले यही अवस्था ११वीं १२वीं शतीमें हुए महाकवि धवल तथा नयसेनकी है। १३वीं शतीमें तो वरांगचरित और जटाचार्य कवियोंके आदर्श बन गये थे क्योंकि पार्श्वपंडित (१२०५), जन्न (१२०९), गुणवर्म (१२३०), कमलभव (ल० १२३५) तथा महाबलकवि (१२५४) ने इसी शतीको गौरवान्वित किया था। महत्त्वकी बात तो यह है कि वरांगचरित और उसके रचयिताको ८वीं शतीके उत्तरार्द्धमें ही समस्त भारत तथा सम्प्रदायोंमें मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। क्या इस ख्याति और लोकप्रियताको पानेमें कुछ भी समय न लगा होगा ? स्वाभाविक तो यही है कि उस प्रकाशन तथा गमनागमनके साधन विरल युगमें इस ख्यातिने पर्याप्त समय लिया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि वरांगचरित अपने ढंगको सर्वप्रथम चतुर्वर्ग समन्वित धर्मकथा थी। फलतः इसे विश्रुत होनेमें उतना अधिक समय न लगा होगा जितना कि उस युगमें लगना चाहिए था तथापि उद्योतनसूरि तक पहुँचनेमें इसे कुछ समय अवश्य लगा होगा। उद्योतनसूरिका निर्देश तो यह भी सूचित करता है कि आचार्य रविषेणके सामने भी वरांगचरित था। आचार्य जटिल द्वारा किसी पूर्ववर्त्तीका निर्देश न किया जाना भी इसका पोषक है।

वरांगचरितकी आदि—काव्यता जहाँ उसकी प्रतिष्ठाका प्रसार करती है वहीं यह भी कठिन कर देती है कि वे किसके बाद हुए होंगे। अर्थात् उनके समयकी पूर्वसीमा दुरूह हो रह जाती है। ग्रन्थमें आगत व्यक्ति तथा पुरुषोंके नामादि भी इस दिशामें विशेष सहायक नहीं हैं क्योंकि जैन पुराणोंको इतिहास करनेवाला 'पार्जीटर' आज भी समयके गर्भमें है। वर्ण्य विषय, विशेषकर तत्त्व चर्चाओंके आधारपर भी बलपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि जटाचार्यने इस आचार्यके इस तत्त्वशास्त्रका विशेष रूपसे अनुसरण किया है। क्योंकि समस्त तत्त्वशास्त्र उपलब्ध भी नहीं है और जो हैं वे प्रवाहपतित हैं। इनमें आये सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक विवेचन इतने सदृश हैं कि उनके आधारपर पूर्वा-परताका निर्णय करना विज्ञान विरुद्ध है उदाहरणार्थ—वरांगचरितका नय आदिका वर्णन यदि सिद्धसेनसे मिलता-जुलता है तो सामायिकादिका वर्णन दशभक्तिसे अर्थात् और कुन्दकुन्दाचार्य पूज्यपादसे मिलता है। इसी प्रकार अनेकान्तका स्वरूप समन्तभद्र सदृश है, तो तत्त्वोंका समस्त विवेचन उमास्वामिसे मिलता है। फलतः इनके आधारपर यदि जटाचार्यके समयकी पूर्व सीमा निश्चित की जाय तो प्रथम शती (ईसापूर्व) से लेकर ई० ७वीं शती तक आवेगा। यह निष्कर्ष किसी निश्चित समयकी ओर न ले जा कर संशयको ही बढ़ायेगा। नय विवेचन, अथवा अनेकान्त निरूपण अथवा व्रतादिके लक्षण अथवा ज्ञानचरित्रकी सफल सहगामिता आदिके निदर्शन; इन सबका मूलाधार केवलीका वह ज्ञान था जो आचार्य परम्परासे चला आ रहा था। तथा जिसके आधारपर आचार्योंने उस समय अपनी-अपनी रचनाएँ की थीं, जब लोगोंके क्षयोपशम क्षीण होने लगे थे। फलतः इसके आधारसे, यदि तत्तत् लेखकोंके समयके अन्य साक्षी उपलब्ध हों तो यह

निष्कर्ष तो निकाला जा सकता है कि किस परिस्थितिसे प्रेरित होकर किस आचार्यने किस मान्यताकी व्याख्यामें क्या परिवर्तन, परिवर्द्धन अथवा वर्गीकरण किया था, किन्तु अन्य साक्षियोंके अभावमें उनके ही बलपर कोई निश्चय नहीं किया जा सकता है।

यतः १–उद्योतनसूरिने वरांगचरितको पद्मचरितसे पहिले तथा जटाचार्यको रविषेणसे पहिले रखा है, २–वरांगचरित आचार्यकी प्रारम्भिक कृति है जैसा कि उसकी अलंकृत कविता, विद्वत्तापूर्ण विवेचन तथा सिद्धान्त-तत्त्व चर्चा और पौराणिक वर्णनोंसे स्पष्ट है अतएव जटाचार्य अपनी कृतिको सर्व विश्रुतिको स्वयं भी देख सके होंगे अर्थात् उन्होंने बहुत लम्बी आयु पायी होगी। ३–आचार्य जिनसेन द्वितीयने अपने आदिपुराणको ८वीं शतीके अन्त अथवा ९वीं शतीके प्रथम चरणमें प्रारम्भ किया था। ये इसे अपूर्ण छोड़कर ही स्वर्ग सिधार गये और इनके प्रधान शिष्य श्री गुणभद्राचार्यको उसे समाप्त करना पड़ा। अर्थात् आदिपुराण आचार्य जिनसेन (द्वि०) की बुढ़ापेकी कृति थी। तथा इन्होंने जटाचार्यको ऐसे स्मरण किया है मानो उन्हें इन्होंने देखा ही था। ४–इतना ही नहीं इन्होंने सिद्धसेन, समन्तभद्र, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र और शिवकोटिके बाद जटाचार्यका स्मरण किया है अतएव कहा जा सकता है कि श्री जटाचार्यका समय ७वीं शतीके आगे नहीं लाया जा सकता। कोप्पलका शिलालेख भी इसी बातकी पुष्टि करता है। इसके विषयमें डॉ० उपाध्ये[1] ने ठीक ही लिखा है कि आचार्यश्रीके समाधिमरणके बहुत समय बाद श्री चावय्य यात्रार्थ कोप्पन पहुँचे तो उन्होंने देखा कि कालान्तरमें लोग यह भूल ही जायेंगे कि जटाचार्यका भी यहाँ समाधि-मरण हुआ था। एक ऐसे आचार्यके मृत्यु स्थानको लोग भूल जायँ जिसने अपने उपदेशों द्वारा देशके कोने-कोनेको प्रबुद्ध किया था तथा धर्मकथा लिखनेके तीर्थका प्रवर्तन किया था; यह बात उन्हें बहुत खटकी और उन्होंने लोकश्रुतिके आधारपर उस स्थानपर आचार्यश्रीके चरण सैकड़ों वर्ष बाद खुदवा दिये। फलतः उपलब्ध साक्षियोंके आधारपर जटाचार्यका समय ई० की सातवीं शतीके आगे ले जाना समुचित न होगा।

जटाचार्यका कवित्व

यथार्थ तो यही है कि जटाचार्यको स्वयं यह अभीष्ट न था कि वे कवियोंकी कोटिमें रखे जायँ। यदि ऐसा न होता वे अपनी इस कृतिको 'चारों वर्ग समन्वित धर्मकथा' स्वयं क्यों कहते? तथा इसके बहुभागको सिद्धान्त और तत्त्व चर्चासे क्यों भरते। चतुर्थ सर्गका कर्म प्रकरण, पाँचवेंका लोक-नरक वर्णन, छठेमें तिर्यञ्च योनिका विवेचन, सातवेंमें भोगभूमि, आठवेंमें कर्मभूमि, नवेंमें स्वर्गलोक, दशवेंमें मोक्षका दिग्दर्शन, ग्यारहवेंके प्रारम्भमें मिथ्यात्वोंका प्ररूपण, पन्द्रहवेंके उत्तरार्द्धमें बारह व्रतोंका उपदेश, बाइसवेंमें गृहस्थाचारका निरूपण, तेइसवेंकी जिनेन्द्र प्रतिष्ठा तथा पूजा, चौबीसवेंका परमत निरसन, पच्चीसवेंमें जगत् कर्तृत्व, वेद-ब्राह्मण-विविध तीर्थोंकी व्यर्थता, छब्बीसवेंका द्रव्यगुण प्रकरण, प्रमाणनय विवेचन, सत्ताइसवेंका त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित चित्रण, अट्ठाइसवेंमें बारह भावना, तथा इकत्तीसवेंका महाव्रत-समिति-गुप्ति ध्यान आदिका विवेचन स्पष्ट ही बताता है कि यह ग्रन्थ धर्मकथा ही नहीं है, अपितु इसका बहुभाग धर्मशास्त्र ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धांत और न्यायशास्त्रसे भागनेवाले सुकुमार मति पाठकोंके लिए ही आचार्यने अपना अध्ययन समाप्त होते ही यह रचना की थी।

१. संस्कृत वरांगचरितकी भूमिका, पृ० २३ (मा० ग्र० मा०, पु० ४०)

यही कारण है कि प्रारम्भिक सर्गोंमें स्पष्ट, कवित्वके आगे दर्शन नहीं होते। इसका यह तात्पर्य नहीं कि आगेकी रचना माधुर्य, सुकुमार कल्पना, सजीव सांगोपांग उपमा, अलंकार बहुलता तथा भाषाके प्रवाह तथा ओजसे हीन है, क्योंकि, तत्त्व विवेचन ऐसे नीरस प्रकरणमें भी कविकी प्रतिभा[1] तथा पांडित्यके दर्शन होते ही हैं। घटनाओंके[2] ऐसे सजीव चित्रण हैं कि उन्हें पढ़ते-पढ़ते मानस क्षितिजपर उनकी झाँकी घूम जाती है। सदुपदेश[3] तो जटाचार्यकी सहज प्रकृति है। जहाँ कतिपय दृश्य अस्वाभाविकसे लगते हैं वहीं युद्ध, अटवी, आदिके वर्णन इतने मौलिक तथा सजीव हैं कि वे वाल्मीकि और व्यासका स्मरण दिलाते हैं। प्रत्येक वस्तुकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म विगत देना और दृश्योंका ताँता बाँध देना भी वरांगचरितकारकी अपनी विशेषता है। जब वे चरित्र चित्रण करते हैं तो आवृत्ति, अनुप्रास, आदिका भी प्रयोग करते हैं। वरांगचरितका जो मूलरूप हमें प्राप्त हुआ है वह इतना विरूपित है कि उसके आधारपर कविके कवित्वको परख करना उचित न होगा। तथापि यह कविकी असाधारणता है कि उनकी पूरी कृतिमें प्रसाद और पाण्डित्यकी पुट पर्याप्त है। इन आधारोंपर उन्हें पुराणकार महाकवि कहना अनुचित न होगा।

निरंकुशाः कवयः

संस्कृतके युगनिर्माता महाकवियोंके समान जटाचार्यने अपनी रचनामें जहाँ सर्वत्र व्याकरणके पाण्डित्यका परिचय दिया है वहीं, कहीं-कहीं उनकी अवहेला भी की है। वरांगचरितमें आये संधि-स्थलोंकी समीक्षा करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जटाचार्यने प्रचलित संधि-नियमोंका निर्वाह किया है। तथापि ऐसे स्थल भी हैं जिन्हें देखकर यह समझना कठिन हो जाता है कि आचार्यने किस व्याकरणका पालन किया है। श्रोत्रात्मनोके स्थानपर श्रोतात्मनो (१-११), आदि सदृश अनेक स्थल हैं। आश्चर्यकी बात तो यह है कि छन्दके प्रथम एवं द्वितीय तथा तृतीय एवं चतुर्थ चरणोंके बीचमें भी आचार्यने संधि करनेको आवश्यक नहीं समझा है। ऐसे स्थलोंके विषयमें कहा जा सकता है कि यतः हस्तलिखित प्रतियाँ भृष्ट हैं अतः यह भूल लिपिकने की है किन्तु 'नं च इष्ट सपत् (८-३९), स्याद्वादः खलु (१६-८१), आदि विसंधि-स्थलोंके विषयमें क्या कहा जाय। '…मुक्षेत्र यज्ञो' (२८-४२), आदि तो ऐसे स्थल हैं जिन्हें 'कुसंधिके सिवा दूसरे शब्दोंसे कहना भी शक्य नहीं है।

शब्दरूपोंकी दृष्टिसे भी वरांगचरित्र वैचित्र्यपूर्ण है…'धूपवहाश्चगेहाः' (१-२५), 'जिनेन्द्रे गेहो' (२१-३०) आदि स्थल यही बताते हैं कि आचार्य गृह, चूर्ण, चक्र, आदि, शब्दोंको पुंलिङ्ग ही मानते थे। प्राण शब्द नित्य बहु वचनान्त है किन्तु आचार्यने इसकी भी अवहेला (२९–३–४ चरण) की है। 'ननाम स्वसारः' 'तासु गतेषु' आदि ऐसे प्रयोग हैं जिन्हें कवियोंको निरंकुशताके सिवा और क्या कहा जाय।

धातुरूपोंने तो शब्द रूपोंके वैचित्र्यको भी मात कर दिया है। 'भर्त्स्ययन्ति-असुरा' 'विटाश्चदधुः' कुमारं मृगयामि, मनुजास्तु प्रसवन्ति 'क्षीरमथाददाति' आदि रूपोंको देखकर यही लगता है कि आचार्यने संस्कृत धातुओंके परस्मै तथा आत्मने

१. सर्ग ११-६६, १८-१४, ६५ तथा ११९, २८-६, आदि।

२. सर्गमें वर्णन, १२ में अश्व-प्रतियोगिता, व्याघ्र, गजप्रतियोगिता, आदि १३ में नक्रग्रसन, यक्षी-परीक्षा आदि।

३. १५ में राजवधुओंका उपदेश, २२ में रानियोंको उपदेश, २८ में सागरबुद्धि पिता, आदिको उपदेश।

पद विभागसे भी मुक्ति ली है। ऐसी स्थितिमें सहायक पद तथा धातुरूपके अन्तरालमें शब्द प्रक्षेपण ऐसी सुप्रचलित कवि मान्यताकी यहाँ समीक्षा करना पिष्टपेषण ही होगा। 'दूतवरान्ससर्ज' मतिं संनिदध्युः' 'स्वबन्धु मित्रान् ···जुहुः', आदि प्रयोग पद व्यपलोपसे भी अधिक वैचित्र्यपूर्ण हैं। 'यथेष्टमुपभोग परीप्सयिन्यः' 'विधातयन्ति सम्यक्त्वं' 'तोदयन्ति' 'चूषयन्ति' आदि प्रयोग भी अपने स्थानपर कम वैचित्र्य पूर्ण नहीं हैं। उपसर्ग संयोगसे पद परिवर्तन संस्कृति व्याकरणकी सुप्रसिद्ध पद्धति है किन्तु आचार्यने उसे भी कालिदासादिके समान पद-दलित किया है।

संज्ञा और विशेषणोंको भाववाचक बना देना आचार्यश्रीकी अपनी विशेषता है अदृश्य रूप (१४-२०), गाध (२०-२४), उत्सुक (२२-७६), निराश्रय (२१-६३), निरमल (२५-४५), आदि दृष्टान्तोंकी वरांगचरितमें भरमार है।

इसी प्रकार कारकोंके प्रयोग, कृदन्त रूपों तथा तद्धितान्त शब्दोंके रूप भी विचित्र हैं। सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि जटाचार्यने कुछ ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है जिन्हें कठोर-संस्कृत-सम्प्रदायवादी सहज ही सहन नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ विकसितके लिए फुल्ल (२-७३), वृषभके अर्थमें गोग (६-१५), आदि शब्द। मैथुन, बर्करा, अद्धा (काल), आवहिता, सम्पदा, सादन आदि प्रयोग स्पष्ट ही अपनी प्राकृत अथवा प्रान्तीय भाषासे उत्पत्तिका स्मरण दिलाते हैं। कठोर संस्कृतवादी इन सब प्रयोगोंको कविकी निरंकुशता ही कहेंगे। पर मेरी दृष्टिसे ये प्रयोग संस्कृतके इतिहासके 'माइल स्टोन' हैं। ये बताते हैं कि 'प्रकृतिस्तु संस्कृतम्' मान्यता वेद-ब्राह्मणकी सर्वोपरिताके समान भाषा जगत्में संस्कृतकी सर्वोपरिताकी स्थापनाके लिए गढ़ा गया था। वास्तवमें प्रकृति; प्राकृत ही है उसका मनुष्यकृत अतिबद्ध रूप संस्कृत है। इसीलिए काव्य युगके महापुरुष जटाचार्यने संभवतः इसके जीवित रूपको ही अपनाया है। यदि ऐसा उन्हें अभीष्ट न होता तो वे तत्तत् भाषाओंके शब्द तथा सरल शब्द-धातु रूपादिको इतना न अपनाते। केवल छन्दोंकी मात्रा संख्या ठीक रखनेके लिए ही इतना बड़ा कवि व्यापक रूपसे व्याकरण नियमोंको इच्छानुसार ढाले यह संभव नहीं प्रतीत होता।

जटाचार्यकी कृतियाँ

वरांगचरितके सिवा अब तक आचार्य जटासिंहनन्दिकी दूसरी कृति सुननेमें नहीं आयी है। यदि यह सत्य है कि वरांग-चरित आचार्यकी अप्रौढावस्थाकी कृति है तो उन्होंने अन्य ग्रन्थ अवश्य रचे होंगे, जैसा कि उत्तरकालीन कवियोंके ससम्मान स्मरण और सम्बोधनोंसे स्पष्ट है। इसकी पुष्टि योगीन्द्र-रचित अमृताशीतिमें आये निम्न श्लोकसे भी होती है—

"जटासिंहनन्द्याचार्य वृत्तम्

तावत् क्रियाः प्रवर्तन्ते यावद् द्वैतस्य गोचरम्। अद्वये निष्कले प्राप्ते निष्क्रियस्य कुतः क्रिया॥"

यतः इस श्लोककी शैली (सापेक्ष पदोंका प्रयोग) जटाचार्यकी ही प्रतीत होती है तथा यह वरांग-चरितमें नहीं आया है अतः स्पष्ट है कि यह पद्य योगीन्द्राचार्यने आचार्य जटासिंहनन्दिके उस ग्रन्थसे लिया होगा जो आज लुप्त है।

जटाचार्यका जैनसिद्धान्त पाण्डित्य

अमृताशीतिमें उद्धृत उक्त पद्यसे भासित होता है तथा वरांगचरितके धर्मशास्त्रमय वर्णनोंसे स्पष्ट हो जाता है कि

जटाचार्य जैनसिद्धान्तके प्रगाढ़ पंडित थे। जब वरांगचरितके चौथे सर्गमें पहुँचते हैं तो यह ध्यान ही नहीं रहता कि किसी काव्यको देख रहे हैं अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्रका अध्ययन चल रहा है। डॉ० उपाध्येने[1] ठीक ही अनुमान किया है कि आचार्य गृद्धपिच्छके तत्वार्थसूत्रको ही सुकुमारमति पाठकोंके सामने रखनेके लिए आचार्यने वरांगचरितकी सृष्टि की होगी। जैन सिद्धान्तका कोई भी ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसका आचार्यने वरांगचरितमें प्रतिपादन न किया हो। गृहस्थाचारसे लेकर ध्यान पर्यन्त सभी बातोंका सांगोपांग वर्णन इस ग्रन्थमें उपलब्ध है। जटाचार्यकी दृष्टिमें काव्य 'अकल्याणके विनाश' तथा 'तुरन्त वैराग्य और निर्वाणके लिए'[2] ही था। आचार्यने देखा होगा कि लोगोंकी प्रवृत्ति धर्मशास्त्रोंके स्वाध्यायसे हटती जाती है। वाल्मीकिकी रामायणादि ऐसे काव्य ग्रन्थोंकी ओर बढ़ रही है। उन्हें तो लोककल्याण ही अभीष्ट था फलतः उन्होंने रत्नत्रय स्वरूप अर्हद्धर्मके ज्ञान तथा आचरणके लिए यह धर्मकथा (महाकाव्य) रच डाली। यही कारण है कि वर्ण्य विषयोंका क्रम तथा कहीं-कहीं पद्योंका भाव सहज ही सूत्रकार तथा उनके सूत्रोंकी स्पष्ट समतामय दिखता है। आचार्यने इस बातका पूरा ध्यान रखा है कि कोई मौलिक चर्चा छूट न जाय यही कारण है कि चौथेसे दशवें सर्ग तक गतियोंका वर्णन कर चुकनेपर उन्होंने देखा कि इस सबके मूल हेतु सम्यक्त्व-मिथ्यात्वका स्वरूप तो रह गया। फिर क्या था ग्यारहवें सर्गके प्रारम्भमें युवराजके द्वारा प्रश्न किया जाता है और संसार तथा मोक्षके महाकारण रूपसे इन दोनोंका निरूपण हो जाता है। तथ्य तो यह है कि सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक चर्चाओंके कारण ही इस आदि महाकाव्यमें भाषा प्रवाह, सुकुमारकल्पना, अलंकार बहुलता आदिको उस मात्रामें नहीं पाते जिस मात्रामें उनका प्रारम्भ हुआ था, अथवा कालिदासादिके महाकाव्योंमें पायी जाती हैं। यह तो जटाचार्यकी लोकोत्तर प्रतिभा थी जिसके बलपर वे तत्त्वचर्चा ऐसे नीरस विषयको लेकर भी अपनी कृतिकी काव्यरूपताको भी अक्षुण्ण रख सके।

सिद्धान्तके समान आचार्यका न्यायशास्त्रका ज्ञान भी विशाल था। आचार्यके इस ज्ञानका उपयोग जैन-सिद्धान्तकी मूल मान्यता कर्मवादकी प्रतिष्ठामें हुआ है। अन्तरंग तथा बहिरंग पराधीनताके कारण कर्तृत्ववादपर उनका मुख्य आक्रमण है। उन्होंने कालवाद, दैववाद, ग्रहवाद, नियोगवाद, नियतिवाद, पुरुषवाद, ईश्वरवाद, आदि समस्त विकल्पोंको उठाकर इनका बड़े सौन्दर्यके साथ अकाट्य युक्तियों द्वारा परिहार किया है। इनके एकान्त स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए इनको प्रत्यक्षबाधित सिद्ध किया है। बलिवादका चित्रण करते हुए जटाचार्य कहते हैं कि वह बलि क्या फल देगी जो आराध्य देवोंमें पास जानेके पहिले ही काकादि पक्षियों द्वारा खा ली जाती है। और पहुँचती भी हो तो वह देव क्या करेगा जो भेंटके लिए लालायित रहता है। 'समय ही प्रत्येक वस्तुका बलाबल' करता है तो संसारके कार्योंमें इतनी अधिक अव्यवस्था तथा आकस्मिकता क्यों है? यदि अनुकूल प्रतिकूल ग्रह ही लोगोंके शुभ तथा अशुभको करते हैं तो यह सबसे बड़ी वञ्चना है क्योंकि भले-बुरेके अन्य प्रत्यक्ष हेतु देखनेमें आते ही हैं। इतना ही नहीं स्वयं सूर्य तथा चन्द्रमा अपने सजातीय राहु तथा केतुके द्वारा क्यों ग्रसे जाते हैं और

---

१. वरांगचरितकी भूमिका, पृ० २०।

२. "काव्यं·····शिवेतर क्षतये।
सद्यः परिनिवृतये·····॥" (काव्यप्रकाश)।

विपत्तिमें पड़ते हैं ? स्वभाव ही सबका कर्त्ता-धर्ता है यह मान्यता भी नहीं टिकती क्योंकि साक्षात् दृष्ट सांसारिक घटनाएं इसके विरुद्ध हैं। नियतिकी जगत-कारणता भी प्रत्यक्ष तथा तर्कसे बाधित है। यदि निर्लेप पुरुष संसारका कारण है तो पुण्य कार्य किस लिए करणीय हैं ? ईश्वर संसारका कारण है यह मान्यता तर्कको कसौटीपर नहीं टिकती। शून्यवादका परिहास करते हुए आचार्य कहते हैं कि "जब विज्ञप्तिका ही शून्य (निषेध) हो जायगी तब किसके द्वारा, क्या और कौन जानेगा।" इसके सिवा शून्यवाद आत्मबाधित ही है। प्रतीत्यसिद्धि भी ऐसी अवस्थामें कोई सहायता नहीं कर सकती है। इस प्रकारसे समस्त एकान्तों (नय दृष्टियों) का निरसन करके अन्तमें आचार्य कहते हैं कि अनेकान्तवाद द्वारा ही तत्त्व व्यवस्था होती है क्योंकि वह सापेक्षवादपर आश्रित है। तथा इस संसारका न कोई करता है और न कोई धरता है षड् द्रव्यमय यह अपने कर्मोंसे प्रेरित स्वयमेव चलता है।

जन्मना वर्ण तथा गोत्र व्यवस्थापर भी जटाचार्यने घोर प्रहार किया है। जन्मना ब्राह्मण होनेके ही कारण पूज्य पुरोहितोंकी चर्चा करते हुए उन्होंने एक बाणसे दो लक्ष्यों (जन्मना वर्णव्यवस्था तथा यज्ञ यागादिकों) का भेदन किया है। हिंसाकी निन्दा करते हुए वे कहते हैं कि यदि यज्ञमें बलि किया गया पशु स्वर्ग जाता है यह सत्य है तो स्वर्गादिके लिए लालायित पुरोहित अपने स्वजनोंकी बलि क्यों नहीं करते ? यदि हिंसामय यज्ञोंके कर्ता स्वर्ग जाते हैं तो नरक कौन जायगा ? इसके बाद वे पुरुदेव प्रोक्त हव्यादिका निरूपण करते हैं। वैदिक निदर्शन देकर ही वे पूछते हैं—यदि एक ब्राह्मणकी विराधनाके कारण कुरुराजाको नरक जाना पड़ा तो अनेक पशुओंका व्याघात करनेवाला याज्ञिक क्यों नरक न जायगा ? इसी प्रसंगवश वे ब्राह्मणत्वको भी खबर लेते हैं। कहते हैं यदि ब्राह्म तेज सर्वोपरि है तो ब्राह्मण राजद्वारके चक्कर क्यों काटते हैं ? राजाश्रयमें ही अपने आपको कृत-कृत्य क्यों मानते हैं ? यदि ज्ञान, चारित्र तथा अन्य गुणोंका अभाव ब्राह्मणकी अवज्ञाका कारण है तो जन्म ब्राह्मणत्वका प्रतिष्ठापक कैसे हुआ। इसके बाद वे व्यास, आदि अनेक ऋषियोंको गिनाते हैं जिन्होंने अपनी साधनाके बलपर ब्राह्म तेजको प्राप्त किया था। गंगा तथा भीष्मकी चर्चा करके उन्होंने लोक-मूढ़ताओंका भी निराकरण कर दिया है। तीर्थोंकी तीर्थता महापुरुषोंकी साधनाके कारण है, स्थानमें गुण नहीं है यह सिद्ध करते हुए उन्होंने जिनेन्द्रदेवको आप्त सिद्ध किया है। असंभव नहीं कि आचार्यने किसी न्याय-ग्रन्थका भी निर्माण किया हो।

जटाचार्यके पूर्वगामी

यद्यपि आज तक यही प्रचलन है कि आचार्य रविषेणने पद्मचरितकी रचना वरांगचरितसे पहिले की होगी तथापि ऐसे कोई भी प्रमाण सामने नहीं आये हैं जिनके आधारपर निश्चित रूपसे इस कल्पनाको सिद्ध किया जा सके। वरांगचरितके प्रारम्भिक भागको देखनेपर तो इसके विपरीत दिशामें कल्पना दौड़ने लगती है। जब कि अपने पूर्ववर्ती लेखकों तथा ग्रन्थोंके स्मरणकी काव्य परम्परा थी तब जटाचार्यने ही क्यों एक भी पूर्ववर्तीका स्मरण नहीं किया है ? यह शंका उन्मस्तक होकर खड़ी हो जाती है। सांगोपांग आद्य-मंगल करनेवाले जटाचार्य क्या ऐसी भूल कर सकते थे कि उनके पहिले कोई ख्यात ग्रन्थकार हो चुके हों और वे उनका स्मरण भी न करें। कुवलयमालाका निर्देश तो यही सिद्ध करता है कि जटाचार्य आद्य महाकवि थे और

वरांगचरित आद्य-महाकाव्य था। हरिवंश पुराणका निर्देश यद्यपि रविषेणाचार्यकी काव्यमयी मूर्तिको वरांगचरितसे पहिले रखता है तथापि इसके ही आधारपर पूर्वापरताका निर्णय दे देना शीघ्रकारिता होगी, क्यों उद्योतनसूरि ही नहीं, आचार्य जिनसेन (द्वितीय) की दृष्टिमें भी जटाचार्य प्रथम महाकवि थे। पद्मचरित तथा वरांगचरितके नामोंकी सदृशता, उद्योतनसूरि द्वारा पहिले 'जडिल' का स्मरण फिर रविषेणका निर्देश आचार्य जिनसेन प्रथम द्वारा एक ही साथ सा पद्मचरित तथा वरांगचरितका महिमागान तथा जिनसेन द्वितीय द्वारा केवल जटाचार्यका संस्तवन यही संकेत करता है कि वरांगचरित प्रथम महाकाव्य था। मंत्रिवर चामुण्डराय आदिके निर्देश भी इसी निष्कर्षका संकेत करते हैं। अपभ्रंश हरिवंश पुराणका निर्देश यद्यपि इस क्रमसे नहीं है तथापि इसमें कालक्रमका ख्याल करके ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारोंके नाम दिये हों ऐसी बात भी नहीं है। क्योंकि यह रविषेणके पद्मचरितके साथ-साथ जिनसेन प्रथमके हरिवंशका भी वरांगचरित और जटिलमुनिसे पहिले उल्लेख करता है। देशी भाषाके कवियोंके निर्देशोंके द्वारा भी इसी मान्यताका समर्थन होता है क्योंकि उनमें केवल जटासिंहनन्दिके स्तोताओंका ही बहुमत है। पद्मचरित जहाँ विस्तृत मंगलाचरण करता है वहीं वह भी अपने पूर्ववर्तियोंके विषयमें सर्वथा मौन है। सौभाग्यसे रविषेणाचार्यने अपनी कृतिके अन्तमें समय दे दिया है अतएव उनका समय निश्चित है किन्तु वरांगचरित समयके विषयमें कोई भी सबल संकेत नहीं देता है फलतः इन दोनों पुराण ग्रन्थोंके आदिमें पूर्ववर्ती ग्रन्थकारोंका अनिर्देश तथा उत्तरवर्ती उद्योतनसूरि, जिनसेनाचार्य प्रथम तथा द्वितीय आदिके निर्देशोंके आधारपर यही कल्पना होती है कि जैन-कवि परम्परामें जटाचार्य आदि पुरुष रहे होंगे।

जटाचार्यके सहगामी

वरांग-चरितके वस्तु तथा वर्णन आदिको देखनेपर पता चलता है कि जटाचार्यने सुसंयत जीवनका उपदेश दिया है। इस संयत जीवनकी प्राण प्रतिष्ठा करते हुए जटाचार्यने जैनाचार-विचारका उपदेश दिया है। इसलिए जैन पारिभाषिक शब्दोंका बहुलतासे प्रयोग करके अपने काव्यको संस्कृतज्ञोंके लिए भी श्रमसाध्य बना दिया है। संसारकी अनित्यता, धर्मकी श्रेष्ठता, मनुष्य जन्मकी दुर्लभता धर्म-अर्थ-कामादिका 'परस्पराविरोधेन' केवन आचार्यके मुख्य विषय हैं। इन सब बातोंको दृष्टिमें रखते हुए जब हम अश्वघोषकी कृतियोंको देखते हैं तो दोनोंकी समता 'हाथका आँवला' हो जाती है। अश्वघोषने भी त्याग मय जीवनका उपदेश दिया है इसके लिए उन्होंने बौद्ध आचार-विचारका प्रतिपादन किया है। इनकी कृतियोंमें भी बौद्ध पारिभाषिक पदोंकी भरमार है और वे विद्वजन संवेद्य हैं। 'चतुरार्य सत्यों'का प्रतिपादन इनका थी मुख्य विषय है। इसके सिवा अश्वघोषकी कृतिका नाम बुद्धचरित तो जटाचार्यको इनके अति निकट ला देता है क्योंकि इनकी कृतिका नाम भी वरांग-चरित है। वेद-ब्राह्मणकी सर्वोपरिताके समान संस्कृतकी श्रेष्ठताको अश्वघोषने भी नहीं माना है। इनके सौन्दरनन्द तथा बुद्धचरितमें व्याकरण विषयक वैचित्र्य जटाचार्यके ही समान हैं। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग द्वारा उस युगमें दक्षिण-भारतमें बौद्धधर्मको फलता फूलता लिखना यह निष्कर्ष निकालनेके लिए बाध्य करता कि जटाचार्यने शायद अश्वघोषकी कृतियाँ देखी होंगी। यदि ह्वेनत्सांगके विवरणमें वह दृष्टि न होती जो एक अति श्रद्धालु धार्मिक यात्रीकी होती है। तथा अश्वघोषकी कृतियोंकी प्रतियाँ दक्षिण-भारतमें भी मिलीं होती तो यह कल्पना कुछ आधार हो सकती थी। संयोगकी बात है कि अब तक जितनी भी प्रतियाँ अश्वघोष-

के ग्रन्थोंकी मिली हैं वे सबकी सब उत्तर भारतमें ही मिली हैं। इसके सिवा जटाचार्य द्वारा पाली गयीं काव्य-परम्पराएं जैन कवि-मार्गमें बहुत पहिलेसे चली आ रहीं थी। इसलिए यह कहना कठिन है कि जटाचार्यने इनके लिए अश्वघोषसे प्रेरणा पायी होगी। इतना निर्विवाद है कि उस युगमें धार्मिक कट्टरता ऐसी नहीं थी जैसी कि मध्ययुगमें थी। यही कारण है कि जटाचार्य ने पर्याप्त दृष्टान्त वैदिक पुरुषोंके ही दिये हैं। उस युगमें जड़ता नहीं आयी थी फलतः पारस्परिक आदान-प्रदान उन्मुक्त रूपसे चलता था। यह प्रथा विविधतामें एकता और एकतामें विविधताका सर्वोत्तम निदर्शन है।

जटाचार्यके अनुगामी

जटाचार्यके समयकी चर्चाके प्रसंगसे देखा है कि समयकी दृष्टिसे आचार्य रविषेणका पद्मचरित ही वरांग-चरितसे पहिलेका माना जाता है। इसके सिवा जैन-साहित्यमें अब तक कोई अन्य रचना सुनने देखनेमें नहीं आयी है जिसे इससे अधिक प्राचीन कहा जा सके।। यतः पद्मचरित ६७७ ई० में पूर्ण हुआ था अतः इसके बादके समस्त ग्रन्थोंको इस प्रचलनके अनुसार भी वरांग चरितका अनुज कहा जा सकता है। जिनसेन द्वितीय (ल० ८६८ ई० प्रथम महाकवि हैं जिनपर जटाचार्यकी स्पष्ट छाप है। आदिपुराणमें दत्त कथाके सात अंग अनायास ही वरांगचरितके प्रथम सर्गके श्लोकोंकी स्मृति दिलाते हैं। आचार्य जिनसेन द्वारा प्ररूपित वक्ताका स्वरूप सहज ही वरांगचरित की पूर्व-कल्पना कराता है। तथा श्रोता अथवा श्रावकोंके भेद दोनोंमें सर्वथा सदृश हैं। सोमदेवाचार्य (९५९ ई०) दूसरे कवि हैं जिनकी कृति[1] स्पष्ट रूपसे वरांगचरितकी पूर्ववर्तिताको पुष्ट करती है, यद्यपि उन्होंने 'भवति चात्र श्लोकः' रूपसे वरांगचरितके पंचम सर्गके १७३वें श्लोकको उद्धृत किया है। मर्यादा-मन्त्री चामुण्डरायने भी वरांगचरितको अपना आदर्श माना था। यही कारण है कि वे कथाके अंगोंको जटाचार्यके ही अनुसार देते हैं। अन्तर केवल इतना है कि इन्होंने गद्यमें दिये हैं। और सोमदेवाचार्यके समान श्रोताके भेदोंको बतानेके लिए "जटा सिंह नद्याचार्यैर वृत्त"–लिखकर वरांगचरितका[2] श्लोक ही उद्धृत कर दिया है। किन्तु इन कतिपय उद्धरणोंके बलपर सरलतासे यह नहीं कहा जा सकता है कि जटाचार्यने अपने परवर्तियोंपर पर्याप्त प्रभाव डाला है। क्योंकि अन्य अनेक ग्रन्थाकारोंने बड़े सम्मानपूर्वक जटाचार्य अथवा उनकी कृतिको स्मरण करके भी उसमेंसे कुछ नहीं लिया है इस तर्कको महत्त्व देनेके पहिले यह भी विचारणीय है कि संस्कृति कवि-मार्गमें मौलिकता प्रधान गुण था। लक्षण शास्त्रों तकमें यह प्रशंसनीय माना जाता था कि अधिकांश निदर्शन भी निजनिर्मित हों। यही कारण है कि संस्कृत महाकवियोंने पूर्ववर्ती कवियोंकी कल्पना, अलंकार, पदविन्यासादिको कमसे कम अपनी कृतियोंमें लिया है। इसके सिवा वरांगचरित ऐसा धर्मशास्त्र मय महाकाव्य अन्य किसी उत्तर कालवर्ती कविने रचा भी नहीं है। यही कारण है कि उत्तरकालवर्ती जैन पुराणों तथा महाकाव्योंमें वरांगचरितका साक्षात् प्रभाव बहुलतासे दृष्टिगोचर नहीं होता है।

---

१. यशस्तिलक चम्पू, सप्तम आश्वास, पृ० ३३२।

२. "मृत्सारिणी महिष हंस शुकस्वभावा मार्जारकंक मशकाज जलूक साम्याः।
सच्छिद्र कुम्भ पशु सर्प शिलोपमानास्ते श्रावका भुवि चतुर्दशधा भवन्ति॥" [वरांगचरित, सर्ग १, श्लोक १५]

जटाचार्यके समयकी धार्मिक-सामाजिक अवस्था

वरांगचरितके १५, १६ आदि सर्गोंमें विशाल जिन मन्दिरोंका वर्णन है। वे कितने श्री सम्पन्न थे इसका भी विशेष चित्रण आचार्यने किया है। उनमें हीरा, माणिक, नीलम आदिकी मूर्तियाँ थीं। आचार्यने उनकी भित्तियोंपर बने पौराणिक चित्रों का उल्लेख किया है। पर्वोंके समय किस सज-धजके साथ महामह आदि वहाँ होते थे यह वर्णन पाठकको रोमाञ्चित कर देता है। क्या स्त्री क्या पुरुष दोनों ही अधिकसे अधिक पूजा, स्वाध्याय, दानादि करते थे। इतना ही नहीं मंदिरोंको ग्राम तक लगाये जाते थे। तात्पर्य यह कि वर्णनसे ऐसा लगता है कि आचार्य उस समयका वर्णन कर रहे हैं जब दक्षिणमें जैनधर्म उत्कर्षकी चरम सीमापर था। इतना ही नहीं अन्य धर्मोंकी संभवत वैसी स्थिति नहीं थी अन्यथा २४वें तथा सर्गमें आचार्य वैनयिक मतोंपर इस प्रकार आक्रमण न करते। जैनेतर देवताओंका निराकरण-वैदिक यागादि तथा पुरोहितोंके विधि विधानों का खण्डन तथा ब्राह्मण प्रधान समाजका विरोध स्पष्ट बताता है कि शैवादि मतोंकी इस समय उतनी अच्छी अवस्था नहीं थी जितनी जैन धर्म तथा जैनाचार्योंकी थी। यही कारण है कि उन्होंने ब्राह्मणपर बड़े-बड़े व्यङ्ग्य किये हैं वे कहते हैं कि ब्राह्मण राजसभासे निकाल दिये जाते हैं तो क्रुद्ध होते हैं किन्तु उनका क्रोध या शाप व्यर्थ ही जाता है। इस कथनसे स्पष्ट है कि उस समय ब्राह्मणोंको राजाश्रय प्राप्त नहीं था। और असंभव नहीं कि जटाचार्यके देशमें सर्वत्र जैनधर्मकी जय थी। आपाततः हमारा ध्यान ७वीं ८वीं शतीके कर्णाटकके इतिहासकी ओर जाता है।

प्राचीन भारतीय इतिहासके प्रवाह परिवर्तनका प्रबल साक्षी पुलिकेशी द्वितीयका 'ऐहोल शिलालेख" ऐसे ही समयमें अंकित किया गया था जब दक्षिण भारत "जयति भगवाज्जिनेन्द्रो[1]" से गूँज रहा था। यह लेख गत शक संवत् ५५६ (६३४-५ ई०) में अंकित किया गया था जैसाकि वहाँ दत्त भारतवारसे ३७३५ वर्ष बीतनेपर[2] निर्देशसे स्पष्ट है। इस शिलालेखके विद्वान् सम्पादक कीलहोर्न इसे साहित्यिक दृष्टिसे भी अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं वे लिखते हैं—"सैंतीसवीं पंक्तिका वर्णन शिलालेखके कविको कालिदास और भवभूतिकी श्रेणीमें बैठाता है, निश्चित ही यह अतिशयोक्ति है। किन्तु मेरी दृष्टिसे यह शिलालेख कविको सभा-पण्डितों तथा प्रशस्तिकारोंकी प्रथम पंक्तिमें बैठा देता है। रविकीर्ति अलंकार शास्त्रके नियमोंके पण्डित हैं और सच्चे दाक्षिणात्यके समान कतिपय उत्प्रेक्षाओंमें सर्वोपरि हैं।[3]" पद्मचरितके अन्तमें दत्त समयका निर्देश भी इसीके आस पास है[4]। फलतः अनायास ही आधे नामका साम्य यह कल्पना उत्पन्न करता है कि ऐहोल लेखके कवि रविकीर्ति और पद्म चरितके यशस्वी रचयिता रविषेणमें कोई सम्बन्ध तो न था ? क्योंकि पद्म (राम) चरित ऐसा महापुराण सहज ही इन्हें कालिदास

१. चालुक्य (वातापी) पुलकेशी द्वितीयका ऐहोल शिलालेख, प्रथम पंक्ति (एपीग्राफिया इण्डिका, भा० ८, पृ० ४)।

२. "त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः। सप्ताब्द शत युक्तेषु शगतेष्वब्देषु पञ्चसु।"

[E. I. vol. viii, P 7.]

३. एपीग्राफिया इण्डिका, भा० ८, पृ० ३।

४. पद्मचरित, खण्ड ३, पर्व १२३, श्लो० १८१, पृ० ४४५।

और भवभूतिकी श्रेणीमें बैठा दे सकता है। जो भी हो इतना निर्विवाद है कि सातवीं शतीके मध्यमें जैनधर्मको दक्षिण भारतके कनारीमण्डलमें प्रमुखता प्राप्त थी। पल्लव सिंहवर्मन (४३६ ई०) के राज्यारोहणसे लेकर कल्याणी चालुक्य तैल द्वितीय द्वारा राष्ट्रकूटोंके पातन (९७३ ई०) पर्यन्तका ऐसा युग है जब अन्तरा अन्तरा जैनधर्मको भी राजधर्म होनेका सौभाग्य प्राप्त रहा है।

पल्लववंशके संस्थापक यद्यपि सिंहवर्मन थे तथापि इसके वास्तविक प्रतिष्ठापक सिंहविष्णु थे। ये ईसाकी छठी शतीके उत्तरार्द्धमें हुए हैं। इनके पुत्र महेन्द्रवर्मन प्रथम जब सिंहासनपर बैठे तो इनका चालुक्योंके साथ वह संघर्ष चला जो कि इनके उत्तराधिकारियोंके लिए पैतृक देन हो गया था। ऐहोल शिलालेख कहता है कि 'पल्लवपति (महेन्द्रवर्मन प्र०) के प्रतापको पुलकेशी द्वितीयने अपनी सेनाको धूलसे आछन्न करके प्राकारान्तरित कर दिया था।'[1] पुष्पभूति वंशमें जात उत्तर भारत चक्रवर्ती हर्षको 'विगलित हर्ष[2]' करनेवाले पुलकेशीके लिए यह साधारण सी ही बात रही होगी। किन्तु इसने पल्लव-चालुक्य वैरको बद्धमूलकर दिया था। पल्लव लेख बताते हैं कि नरसिंहवर्मन प्रथमने अनेक युद्धोंमें पुलकेशी द्वितीयको हराकर अपने पिताको पराजयका प्रतिशोध किया था। फलतः चालुक्य विक्रमादित्य प्रथमको नृसिंहके वंशका विनाश करके काञ्चीपर अधिकार करना पड़ा था। इस आक्रमणसे भी पल्लव हतोत्साह नहीं हुए थे और ८वीं शतीके पूर्वार्द्धमें विक्रमादित्य द्वितीयके घोर प्रहार पल्लव-शक्तिको जर्जरित कर सके थे। परिणाम यह हुआ दक्षिणसे चोलोंके भी प्रहार होनेपर पल्लव शक्ति ९वीं शतीके साथ समाप्त हो गयी थी। किन्तु पल्लवकालमें काञ्चो जैनोंका प्रमुख केन्द्र थी। आचार्य समन्तद्र, भट्टाकलंक आदि प्रमुख जैन नैयायिकोंने काञ्चीके गौरवकी श्रीवृद्धिकी थी। काञ्चीके भग्नावशेषोंमें विष्णुकांची और शिवकांचीके समान जिनकाञ्ची (तिरुपरुत्ति-कुन्रम्) भी उपलब्ध है। यह शैव और वैष्णव भग्नावशेषोंसे दूर ही नहीं है अपितु अधिकतर जीर्ण शीर्ण भी है। इसकी अवस्था इस बातका संकेत करती है कि वैष्णवों और शैवोंके पहिले इस प्रदेशने जैनोंकी प्रमुखता देखी होगी। इतिहास बताता है कि पांड्योंद्वारा प्रारब्ध शैव-बलात्कार चोलोंके समयमें चलता रहा था। फलतः आदित्यचोल द्वारा अपराजित पल्लवका मूलोच्छेद हो जानेके बाद जैन संस्कृतिके प्रतीक असंख्य जैन मन्दिरादि चोलोंके धार्मिक उन्मादके शिकार न बने हों यह असंभव है। अगणित भग्नावशेष यही कह रहे हैं कि हमें चीनी यात्री ह्वेनत्सांगने इस द्रविड और मालकूट[3] भूमिमें खड़ा देखा था।

चालुक्य कालमें आचार्य रविकीर्ति द्वारा मेगुतिमें जिनेन्द्र[4] भवनका निर्माण स्पष्ट बताता है कि पल्लवोंके समान

---

१. ऐहोल शिलालेख, श्लोक २९ (ए० ई०, भा० ८, पृ० ६)

२. ऐहोल शिलालेख, श्लोक २३

३. घाटरकृत ह्वेनत्सांगकी यात्रा, (खं० २, पृ० २२६-९)

४. तस्याम्बुधित्रय निवारितशासनस्य सत्याश्रयस्य परमाप्तवता प्रसादम्।
शैलञ्जिनेन्द्रभवनं भवनंमहिम्नान्निरमापितं मतिमता रविकीर्तिनेदम्।।[३५]—

वातापीके चालुक्योंके राज्यकालमें भी जैनधर्मको राजाश्रय प्राप्त था। इसीलिए मूलवल्लि, आदि अनेक ग्राम इस मन्दिरको भुक्ति रूपसे लगाये गये थे। इतना ही नहीं इस वंशके उत्तरकालीन राजाओंने जैनसंघोंको भी भूदान किया था।[1]

अन्तरीप क्षेत्रमें भी इस युगमें जैनधर्मको केवल राजाश्रय ही प्राप्त न था अपितु वह कतिपय राज्योंका आश्रय भी था। बनवासीके कदम्बकुल और गंगावाडीका गंगवंश इस तथ्यके ज्वलन्त साक्षी हैं। ऐहोल शिलालेख बताता है "युद्ध पराक्रमके द्वारा जयश्रीके ग्राहोता महा तेजस्वी राजाओंके लिए मत्तगज समान जिसने (पुलकेशीने) सहसा ही कदम्बों रूपी कदम्ब वृक्षोंके समूहको अशेष रूपसे नष्ट कर दिया था[2]।" अर्थात् चालुक्यों द्वारा पददलित बनवासीकी रज्यलक्ष्मी कदम्बोंको छोड़कर चली गयी थी। तथापि "जैन मन्दिरोंकी समुन्नत अवस्था उनमें होने वाले पूजनविधान, इनके व्ययको चलानेके लिए दिये गये राजाओंके उदार दान, यह सिद्ध करते हैं कि कदम्ब साम्राज्यमें जैनधर्म लोकप्रिय धर्म था तथा ऐसे नागरिक पर्याप्त संख्यामें थे जो श्री १००८ जिनेन्द्रदेव की पूजा करते थे। इस युगमें जैनधर्म शैवसम्प्रदायका सबल प्रतिद्वन्द्वी हो गया था। तथा कदम्ब कालमें निर्बाध गतिसे फैलता जा रहा था।"[3] ये उद्गार वरांगचरितके २२-२३ वें सर्गोंके जिनमह वर्णनकी प्रतिध्वनिसे प्रतीत होते हैं। जैनाचार्य सिंहनन्दिकी सहायतासे प्रतिष्ठापित गंगवाड़ीके गंगवंशका तो कहना ही क्या है। इस वंशके वर्तमान कुलधरोंपर आज भी मर्यादा-मंत्री चामुण्डरायकी महत्त्वाकांक्षा हीन स्वामि परायणता तथा धार्मिकताकी छाप है। यहां अनेक भट्टारकोंकी गद्दियां तो हैं ही; श्री १००८ गोम्मटेशके महामस्तकाभिषेकमें प्रथम कलश भी राज्यका ही होता है।

आठवीं सदीके मध्य (ई० ७५३ के लगभग) वातापीके चालुक्य विक्रमादित्य (द्वि०) के पुत्र तथा उत्तराधिकारीको पराजित करके दन्तिदुर्गने नये करनाट-महाराष्ट्र राज्यका निर्माण किया था जो राष्ट्रकूट नामसे इतिहासमें अमर है। इस वंशके राज्यकालमें जैनधर्म को राजधर्म होनेका सौभाग्य प्राप्त था।[4] समस्त दक्षिण भारतमें फैले जैन मन्दिरोंके खण्डहर अथवा इतर धर्मायतनोंमें परिवर्तित जैनायतन ये बतलाते हैं कि जटाचार्यने जिन विशाल जिन भवनादिका वर्णन किया है वे केवल कविकी कल्पना ही न थे। जटाचार्य द्वारा दिया गया हीरा, माणिक, नीलम आदिकी जिनमूर्तियां बनवानेका उपदेश भी दक्षिणमें बहुलतासे कार्यान्वित हुआ था। इसकी साक्षी मूडबिदूरेके जिनमन्दिर आज भी दे रहे हैं। पौराणिक घटनाओंको दीवालों तथा छतों पर चित्रित करना अथवा अंकित करनेके जटाचार्यके वर्णनको परछांयी हलीवीड, मूड़विदुरेआदिके मन्दिरोंमें आज भी स्पष्ट झलकती है।

अन्य वरांगचरित

वर्द्धमान कविका वरांगचरित[5]—जटाचार्यके समयका विचार करते समय देखा है कि १३वीं शती तकके ग्रन्थकारोंने विविध रूपसे जटासिंहनन्दिका स्मरण किया है। इसके बादके ग्रन्थकारोंका उनके विषयमें मौन खटकता है आचार्यके अनुगामियोंका शोधक जब कारणकी खोज करता है तो उसे एक ऐसा संस्कृत वरांगचरित मिलता है जिसे रचयिता स्वयं 'संक्षिप्य

१. स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म, पृ० १११।—(ए० इं०, भा ८, पृ० ७) २. ऐहोल शिलालेख, श्लो० १७, ए० इं०, (भा० ८, पृ० ५)। ३. मोरे कृत कदम्बकुल, पृ० ३५ तथा २५२। ४. डा० आल्तेकर कृत राष्ट्रकूटस्, पृ०। ५. सराठी अनुवाद सहित सन् १९२७में पं० जिनदास, शोलापुर द्वारा संपादित।

सैव वर्ण्यते' कहकर प्रस्तुत करते हैं ! इसमें कथा-वस्तु ज्यों की त्यों है। केवल धार्मिक विवेचनोंमें लाघव किया गया है। इसके निर्माता 'मूलसंघ, बलात्कारगण, भारतीगच्छमें उत्पन्न परवादि-दन्तिपञ्चानन वर्द्धमान' हैं। डा० उपाध्येके मतसे अब तक दो वर्द्धमान प्रकाशमें आये हैं प्रथम हैं न्यायदीपिकाकार धर्मभूषणके गुरु तथा दूसरे हुमच शिलालेखके रचयिता वर्द्धमान हैं। इन दोनोंका समय तेरहवीं शतीसे पहिले ले जाना अशक्य है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि वर्द्धमानका वरांगचरित सरलतर होनेके कारण प्रचारमें आ गया होगा और स्वाध्यायी जटाचार्यके मूल, वरांगचरितसे दूर हो गये होंगे।

कन्नड वरांगचरित[1]—संस्कृत कवियोंके समान दक्षिणी भाषाओंके कवियोंका मौन भी धरणि पंडितके वरांगचरितके कारण हुआ होगा। इसके लेखक विष्णुवर्द्धनपुरके निवासी थे तथा ई० १६५० के लगभग हुए थे। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारोंका स्मरण करते हुए एक वर्द्धमान यतिका भी उल्लेख किया है। अतः डा० उपाध्येका अनुमान ठीक ही है कि कन्नड़-वरांगचरितका आधार वर्द्धमानका संक्षिप्त वरांगचरित रहा होगा।

लालचन्द्रकृत भाषा वरांगचरित[2]—जटाचार्यकी धर्मकथाकी लोकप्रियता इसीसे सिद्ध हो जाती है कि जब जैन शास्त्रोंके भाषा रूपान्तरका समय आया तो भाषाके बिद्वान् वरांगचरितको न भूल सके। इसके अन्तमें लिखा है श्री वर्द्धमानकी रचना संस्कृतमें होनेके कारण सबकी समझमें नहीं आ सकती अतएव उसकी भाषा करना आवश्यक था। इस कार्यको पाण्डे-लालचन्द्रने आगरा निवासी, बिलालगोत्रीय शोभाचन्द्रकी सहायतासे माघशुक्ला ५ शनिवार १८२७ में पूर्ण किया था।

कमलनयनकृत भाषा वरांगचरित[3]—ग्रन्थकी प्रशस्तिके अनुसार यह कृति भी वर्द्धमानके संस्कृत काव्यका भाषान्तर मात्र है। इसे मैनपुरी निवासी श्री कमलनयन नागरवारने सम्वत् १८७२ में समाप्त किया था। लेखकके पितामह श्री साहौ नन्दरामजी थे तथा पिता हरचन्ददास वैद्य थे। ये यदुवंशी बढेला थे, इनका गोत्र काश्यप था। लेखकने अपने बड़े भाई क्षितिपतिका भी उल्लेख किया है।

आगम एवं श्रुत-स्मृतके बाद आया शास्त्र (लेखिनीकृत) परम्परामें भारतकी प्राग्वैदिक परम्परा में, एक प्रकारसे वीर निर्वाणकी दशमी (९१०) शतीमें 'बहुश्रुत विच्छित्तौ' ''न्यूनाधिकान्, त्रुटिताऽत्रुटितान्··· स्वमत्या'' क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणी द्वारा लिपिबद्ध जैन (श्वे० मान्य) आगम, उदार–(पाश्चात्य)–मनीषियोंको संभवतः वैदिक वाङ्मयके बाद ही मिल जानेसे उन्होंने इन्हें मान्यता दी। क्योंकि वीरनिर्वाणकी पञ्चम-षष्ठ शतीमें लिपिबद्ध प्राचीनतम श्रमण (प्राग्वैदिक) आगम तब तक ताड़पत्री-रूपमें शास्त्र भण्डारोंमें देवमूर्तिके समान पूज्य वा बन्दनीय थे। किन्तु अर्वाचीन शोधक क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणी और मैक्समूलर की स्पष्ट-तथ्यवादिताकी उपेक्षा करके प्राचीनतम आचार्यों को अपने सम्प्रदाय का सिद्ध करने के लिये, उन्हें मूल (श्रमण-ब्राह्मण) रूपसे पृथक् दिखाकर अपनी विशेष शोधोपलब्धि प्रदर्शित करते हैं। 'वरांगचरितम्' भी इसका अपवाद नहीं है।

—खुशालचन्द्र गोरावाला

१. कर्णाटक कविचरित, आ० २, पृ० ४१७। इसकी हस्तलिखित प्रति अपूर्ण है। २. हरसुखलाल जैन पुस्तकालयकी सं० १९०५ में लिखी गयी हस्तलिखित प्रति। ३. श्री कामताप्रसाद, अलीगंज (एटा, उत्तरप्रदेश) की हस्तलिखित प्रति।

विषयानुक्रमणिका

प्रथम सर्ग १-१८
मंगलाचरण १
आदर्शकथा २
उपदेष्टा-श्रोता ३-४
उपदेष्टाका कर्त्तव्य ५
ग्रंथकार की प्रतिज्ञा ७
विनीतदेश
सौम्याचल ८
उत्तमपुर ९
महाराज धर्मसेन १२
अन्तःपुर १५
महारानी गुणवती १७
द्वितीय सर्ग १९-४०
कुमार वरांग १९
कुमारी अनुपमा २१
राजकुमारकी विवाह वार्ता २०
मंत्रशाला-मन्त्रणा २२-२५
मित्रशक्ति २५
आदर्शनृप २६
कन्या २७
अन्वेषण-मंत्रीप्रस्थान २८
कन्याके पिताकी स्वीकृति ३०
विवाह प्रस्ताव २९
वर-नगरको प्रस्थान ३१
अन्यराजा आगमन ३२
यौवराज्याभिषेक ३४
अभिषेक क्रम ३५
पुण्यफल ३७
विवाहमंगल ३९
पति-पत्नी अनुराग ४०
तृतीय सर्ग ४१-५६
श्री वरदत्त केवली-विहार ४२
धर्मयात्रा-एवं यात्री ४५
यात्रा वर्णन एवं राजवंश ४८
गुरु-विनय-स्तुति ४९
गति-कर्मादि जिज्ञासा ५१
ज्ञानमहिमा शास्त्रस्वरूप ५२
पापपुण्यादि चर्चा ५४
चतुर्थ सर्ग ५७-८१
सृष्टा-कर्म विवेचन ५७
ज्ञानावरणी ५८
दर्शनावरणी-वेदनीय ६२
मोहनीय ६३
आयु-नाम-गोत्र ६४
अन्तराय ६५
स्थिति ६६
ज्ञानावरणी आदि के बन्ध करण ६६
दर्शनावरणी-वेदनीय बन्ध ७०
दर्शन-चरित्र मोहनीय विवेचन ७०
क्रोधादि निदर्शन ७१
नोकषाय ७५
आयुबन्ध ७७
नाम-गोत्र-अन्तराय बन्ध ७८
उपसंहार ८१
पञ्चम सर्ग ८२-९८
लोकपुरुष-अवलम्ब ८२
चतुर्गति ८३
नरकगति-पटल-बिल-वातावरण ८४
नरकगति बाधा-बन्ध-जन्म ८५
नारकी स्वभाव,-व्यवहार-दुःख केलि ८६
नारकी दुःख तथा कारण ८९
परस्त्री गमनका फल ९१
व्यर्थ परिग्रहका फल ९२
अन्य दुःखसाधन ९३
असुरकुमारज-दुःख ९५
परिग्रह नरकका कारण ९७
नरकायु-अकालमृत्यु नहीं ९८
षष्ठ सर्ग ९९-११२
तिर्यञ्च योनि ९९
षट्काय, स्थावर-त्रस १००
स्थावर-त्रस पर्याय दुःख
नासिका-कर्णजिह्वादि का फल १०१
तिर्यञ्चों के वाहनादि भेद १०२
भयपूर्ण तिर्यञ्च योनि १०४
कोप-मान-वञ्चना-लोभ फल १०५
तिर्यञ्च जन्मके कारण १०७
कुभोगभूमि-जन्मकारण १०८
कर्मभूमिज तिर्यञ्च-कुलयोनि १०९
उपसंहार १११

सप्तम सर्ग ११३-१२८
भोगभूमियां ११३
भोगभूमिकी भूमि ,,
,, का जलवायु ११५
,, की समता ,,
कल्पवृक्ष ११६
भोगभूमिके कारण ११८
पात्रापात्र ११९
दाता का स्वरूप ,,
पात्र-दानभेद १२०
कन्यादान विमर्ष ,,
दान कथा १२१
दान परिपाक १२२
पात्रापात्र फल १२३
पाणिपात्र १२४
जन्मादिक्रम १२५
भोगभूमियोंके शरीरादि १२६
,, की आयु १२७
,, ,, विशेषताएँ १२८

अष्टम सर्ग १२९-१४४
कर्म भूमियोंके नाम-संख्या १२९
कर्मभूमिजोंके प्रधान भेद ,,
आर्य-अनार्य ,,
भोजवंश १३०
मनुष्यगतिकी उत्कृष्टता १३१
मनुष्यकी भ्रान्ति १३३
धर्माचरणकी प्रधानता ,,
परिग्रहकी पापमूलता १३४
पुण्यहीनोंकी गति १३५
पुण्यका सुफल १३८
मनुष्यगतिके कारण १४१
मनुष्यपर्यायकी दुर्लभता १४२
शरीर-अनित्यता १४३
मनुष्योंकी आयु १४४

नवम सर्ग १४५-१५९
देवगतिके प्रधान भेद १४५
भवनवासियोंके भेद ,,
व्यन्तरोंके भेद १४६
ज्योतिषियोंके भेद ,,
वैमानिकोंके भेद ,,
स्वर्गोंकी रचना १४७
विमानोंका रूपादि वर्णन १४८
देवगतिके कारण १५०
देवोंकी जन्म प्रक्रिया १५३
देवोंका शरीर-वैशिष्ट्यादि १५४
देवोंके वर्ग १५६
देवियां १५७
देवोंकी आयु ,,

दशम सर्ग १६०-१७४
मोक्षकी स्थिति १६०
मोक्षका माहात्म्य १६१
मोक्षगामी १६२
मोक्षसाधक तप १६३
कर्मक्षय क्रम १६४
मुक्त जीवका ऊर्ध्व गमन १६५
समुद्घात १६६
निर्वाण संख्या ,,
समय-स्थान-शरीरकी अपेक्षा ,,
मुक्ति उदाहरण १६७
मुक्त आकार-आधार ,,
सिद्ध-स्वरूप १६८
सिद्धोंके सुखका निरूपण १७०
संसार मोक्ष १७३

एकादश सर्ग १७५-१९४
कुमार वरांगका प्रश्न १७५
मिथ्यात्व सम्यक्त्व कथनकी भूमिका १७६
मिथ्यात्व लक्षण-उदाहरण ,,
मिथ्यात्व-संसारकर्ता १७८
मिथ्यात्वकी संसारकारणता ,,
सम्यग्दर्शनका स्वरूप १७९
सम्यक्त्वका उदय-दृष्टान्त १८१
रत्नत्रयका उदय क्रम ,,
वरांगकी चारित्रप्राप्ति १८२
राजकुमारका संयत जीवन १८५
पुत्रानुराग १८७
युवराज्याभिषेक प्रस्ताव ,,
,, सज्जा १८८
राज्याभिषेक तथा अधिकारार्पण १८९
राजावरांग १९०
सौतेले भाइयोंका मत्सर १९३

द्वादश सर्ग १९५-२१५
राजमाताकी प्रसन्नता १९५

विमाताकी इर्ष्या तथा पुत्रकी भर्त्सना १९५
कुचक्र १९७
मंत्रीका उपदेश १९८
,, अकार्यमें योगदान १९९
षड्यन्त्रारम्भ २०१
षड्यन्त्र कार्या० २०३
दोनों घोड़ोंकी दो प्रकारकी शिक्षा ,,
क्रीड़ाक्षेत्रमें अश्व प्रदर्शन ,,
वरांगका दूसरे घोड़ेपर चढ़ना ,,
घोड़ेका बेकाबू होना २०४
वरांगकी कष्टमयता तथा कूएंमें गिरना २०५
लता पकड़ कर बचना तथा बाहर आना ,,
अशरण वरांग २०६
पुरुषार्थ-उदय २०७
आक्रमण ,,
आपत्तिमें आपत्ति २०८
गजराजके प्रति कृतज्ञता २०९
रोटीके बिना व्याकुल रंक राजा २११
विचित्रा कर्म पद्धति २१४

त्रयोदश सर्ग २१५-२३५

कर्ममति २१५
आर्त्तध्यान तथा शुभ चिन्तन २१६
जिनभक्ति ही शरण २१७
शुभभावका फल २१९
यक्षिणी द्वारा जिज्ञासा २२१
वरांगका दृढ़ स्वदार-संतोष-व्रत २२२
यक्षिणीका प्रेम प्रस्ताव २२२
लैंगिक आचारका आधार पत्नी २२३
यक्षिणी पर प्रभाव २२४
भविष्यकी चिन्ता ,,
पुलिन्दों-आक्रमण २२५
धूर्त मंत्रीपर क्रोध २२७
नरबलिकी सज्जा २२८
विषाऽपहारमणि २२९
कारावाससे मुक्ति ,,
अग्रिम मार्गशोध ,,
भावी कर्त्तव्य द्विविधा २३०
न बन्धुमध्ये २३१
वरं वनम् २३२
शंका प्रश्न ,,
पुनः बन्दी होकर सार्थपतिके सामने २३३
गंभीर राजकुमार २३४
सार्थपतिकी सदाशयता तथा -स्वागत ,,
कुलीनताभक्त सागरवृद्धि ,,

चतुर्दश सर्ग २३६-२५७

बुधैरपि २३६
रंगमें भंग २३७
रण-आदेश ,,
सेठका स्नेह २३८
संघर्ष समारंभ ,,
रणकी दारुणता २३९
सार्थसेनाकी पराजय-पलायन २४१
वरांगका पराक्रम २४२
पुलिन्द युवराजका वध २४२
पुलिन्दराज महाकालसे युद्ध २४३
वरांगका युद्ध नैपुण्य २४४
पूर्ण विजय तथा विजयोल्लास २४५
वरांगका स्वागत २४६
स्वास्थ्य लाभ तथा कश्चिद्भट नामसे ख्याति २४८
सार्थका ललितपुर आना २४९
पुनर्मिलन २५०
वीरपूजा २५१
नूतन विवाह प्रस्ताव तथा २५२
-वरांगका संकोच ,,
राजा श्रेष्ठि अभिषेक २५३
गुणग्राही ललितपुर २५५
पुण्यात्माका प्रेम ,,
वरांगकी दिनचर्या २५६

पञ्चदश सर्ग २५८-२८२

उत्तमपुरकी दशा २५३
अपहरण-कारण विमर्ष २५९
गुप्तचरों द्वारा शोध
पिताकी दुश्चिन्ता तथा शोक २६०
अन्तपुर समाचार २६१
राजमाताका विलाप २६२
भारतीय-पत्नियाँ शोक सन्तप्त--राजवधुएँ २६४
ससुरसे दुःख रोना २६५
पुत्रवियोग से विह्वल माता २६६
प्रवाहैरेवाधार्यते २६८

राजवधुओंका आत्मवध-हिंसा २६८
धर्मकी शरणागति २६९
कर्म ही विधाता २७१
दुनिया रैन बसेरा २७२
मृत्यु ही निश्चित है २७३
आयुकर्मकी बलवत्ता ,,
त्रिदुःख २७४
धर्मका मूल दया २७५
पालनीयाणुव्रत ,,
अस्तेय अणुव्रतका लक्षण २७६
स्वदारसंतोषका ,, ,,
परिग्रहपरिमाणका ,, ,,
दिग्व्रतका ,, २७७
भोगोपभोग परिमाणका लक्षण ,,
अनर्थ दण्डव्रतका ,, ,,
सामायिकका ,, ,,
प्रोषधोपवासका ,, २७८
अतिथिसंविभागका ,, ,,
सल्लेखना ,,
स्वर्गसुख २७९
कामारि शान्ति ,,
दृढ़तरधर्मरुचि २८०
निर्माण ,,
अष्टान्हिका विधान २८१
धर्माचरण योग ,,
षोडश सर्ग २८३-३०८
काहू उर दुचिताई २८३
प्रभुताका मद २८४
ललितपुराधीशका हस्तिरत्न ,,
मथुराधिपके दूतका आगमन २८५
भर्त्सना २८६
मथुराके दूतका अपमान २८७
युद्धकी सज्जा २८८
मथुराधिपका क्रोध ,,
शत्रुपराभवकी कल्पना २८९
ललितपुरकी युद्धयात्रा २९०
युद्धमत्त २९१
शत्रु निन्दा २९२
यादवोंकी बर्बरता २९४
संकटकालीन मंत्रि परिषद् ,,
प्रथम मंत्रिमत २९५
आप्यायन ही उपाय ,,
साहाय्य ,, २९६
प्रतिरोध भेद २९७
विजयमंत्रीकी वाकपटुता २९८
दण्ड तथा भेद ही उपाय २९९
यशकी उपादेयता ,,
युद्ध (निश्चय-घोषणा) देहि ३००
वरांगका उत्साह तथा कृतज्ञता ३०१
सेवा-समर्पण विमर्ष ३०२
रणघोषणाकी घोषणा ३०३
पितृमोह ३०४
सेठकी रणभीरुता ३०५
वीर (वरांगका) स्वागत ३०७
सप्तदश सर्ग ३०९-३२८
सविचार निमंत्रण ३०९
समरयात्रा ३११
युद्धयात्राके कारण ३१३
सैनिकोंका उत्साह ,,
वरांगके प्रति नागरिकोंके विविध
-भाव ३१४
जनसाधारणकी बातें ३१५
विवेकियोंकी बातें ३१६
रणरंग ३१७
युद्धारम्भ ३१८
पदातियुद्ध ३१९
युद्धकी भीषणता ३२१
रणकला प्रदर्शन ३२३
समरस्थली ३२४
सहारमें कवित्व ३२५
युद्धकी चरमसीमा ३२६
अष्टादश सर्ग ३२९-३५८
नीतिपूर्वक युद्ध-संचालन ३२९
मथुराधिपका प्रत्याक्रमण ३३०
विजयमंत्री द्वारा प्रतिरोध ३३१
हस्तियुद्ध ,,
उपेन्द्रका प्रत्याघात ३३४
कश्चिद्भटका आविर्भाव ,,
उपेन्द्रसेनके तिरस्कारपूर्ण वचन ३३५
वरांगका संयम तथा वीरतापूर्ण उत्तर ३३६
युवराजोंका द्वन्द्व ३३८
घात-प्रत्याघात ३४१
द्वन्द्वका चरमोत्कर्ष ३४२
उपेन्द्रका वध ३४३

संहारका आरम्भ ३४४
नायकोंका सामना तथा वाग्युद्ध ३४५
इन्द्रसेन आहत ३५१
वरांगका रणरंग ३५३
विजयी-नगरप्रवेश ३५५
कुतुहलप्रिय ३५६
पुत्र-प्रेयता ३५६
एकोनविंश सर्ग ३५९-३७७
कुलादि जिज्ञासा ३५९
वरांगकी शालीनता ,,
नगर सज्जा ३६२
विवाह मण्डप ३६३
नवदम्पति स्वागत ३६५
गाढ़ानुराग ३६७
मनोरमाका मोह विरह-व्यथा ,,
प्रेमछिपाना ३६९
सखीद्वारा आश्वासन ३७१
वरांगास्थिरता ३७२
सखीकी युक्तियां ३७३
नारीका निर्वेद, ३७६
विंश सर्ग ३७८-३९९
सुखमग्न वरांग ३७८
अयोग्य सुषेणका राज्याभिषेक ३७९
सुषेणकी अयोग्यता तथा शत्रुका आक्रमण सुषेणका पराभव ३८०
शत्रुको सुअवसर ३८१
धर्मसेनका वरांगको याद करके दुखी होना ३८१
अवज्ञात धर्मसेन ३८२
सुमंत्री मत ३८३
दूत-देशनिष्ठ ३८४
कश्चिद्भट निर्वेद ३८५
पिता प्रेम ३८५
कृतज्ञ वरांग ३८६
मनोरमासे विवाहादि ३८७
कृतज्ञता ही साधुता ३८८
उपकारी पितासे अनुज्ञा लेना ३८९
युद्धयात्रा ३९०
सेनाका सौन्दर्य
सागरवृद्धि द्वारा देवसेन ३९१
आगमन समाचार ३९२
पुत्रप्राप्तिसे प्रमुदित राजा ३९३
आत्मीय बन्धुमिलन ३९५
शत्रु पलायन ३९६
राज्याभिषेक ३९७
राजभवन-प्रवेश ३९८
माता-भक्त ३९९
एकविंश सर्ग ४००-४१९
कर्म वैचित्र्य ४००
सम्बन्धी विदा ४०१
न्याय निपुण राजा ४०२
हृदय परिवर्तन ४०२
क्षमा याचना ४०३
पुरुषार्थ निश्चय ४०४
दिग्विजय अनुमति ४०५
सहयात्री चयन ४०६
आनर्तपुर पुनःस्थापन ४०६
नगर वर्णन ४०७
राजभवन ४०८
देवालय ४०९
नागरिक समृद्धि ४१०
सम्पन्न-राज ४११
उपकारसे अनूर्ण ४१२
वत्सल ४१३
शत्रुमर्दन ४१४
साम-नीति ४१६
क्षमा दान ४१७
सफल-शासक ४१८
द्वाविंश सर्ग ४२०-४३९
सुराज्यका वर्णन ४२०
दुखियाका सगा ४२१
वरांगराजका ऋतुविहार ४२२
सुखमग्न राजा ४२४
पुण्य प्रशंसा ४२४
सुखमें भी धर्म न भूलने विवेकिनी रानी-अनुपमा ४२५
सागार-धर्म ४२७
अष्टांग सम्यक्दर्शन ४२७
जिनपूजाकी श्रेष्ठता ४२८
नन्दीश्वर विधान ४२९
मूर्तिपूजा ४३०
जिनमन्दिर ४३२
जिनालय निर्माण ४३३
जिनालयका वर्णन ४३४

जिनालयकी सज्जा ४३५
जिनालयके विभाग ४३६
जिनालयके उद्यान ४३७
असाधारण मन्दिर ४३८
जिनमहका प्रारम्भ ४३९

त्रयोविंश सर्ग ४४०-४६५

मूर्तिप्रतिष्ठा ४४०
किमिच्छिक दान ४४०
प्रतिष्ठा संरम्भ ४४१
बहुमुखी भक्ति ४४२
प्रातःकालीन पूजा ४४३
जिनालयमें वास ४४३
द्रव्योंके फल ४४४
दिक्पाल-पूजा ४४५
अभिषेक सज्जा ४४५
सामग्रीकी मन्दिर यात्रा ४४७
चमरधारिणी ४४८
कलश यात्रा ४४९
जलयात्राके विविधरूप ४५०
जलयात्रा-सरिता रूपक ४५२
पुजारी राजा-रानी ४५३
मुहूर्त-प्रतीक्षा ४५३
अभिषेक प्रारम्भ ४५४
जिनबिम्ब शृंगार ४५५
अष्टमंगल-द्रव्य अर्पण ४५५
आशीर्वाद ४५६
जिनालय पूजाका फल ४५७
अभिषेकका फल ४५७
द्रव्यपूजाका फल ४५८
मंगलद्रव्य अर्पणका फल ४५९
गृहस्थाचार्यका आशिष ४५९
किमिच्छक-दानी ४६०
धर्ममेला ४६१
धर्मवीर ४६२
धर्मकरत संसार सुख ४६४

चतुर्विंश सर्ग ४६६-४८६

प्रकृति गुणोपेत ४६६
सुखसागरमें मग्न राजा ४६७
पुण्यका परिपाक ४६८
त्रिवर्ग सेवया ४६९
राजाकी स्तुति ४७०
धर्मप्रश्न ४७०
दैववाद विचार ४७१
कालवाद समीक्षा ४७३
ग्रहवाद ४७३
जगदीश्वर वाद ४७५
नियतिवाद ४७६
सांख्यवाद निरसन ४७७
शून्यवाद ४७७
(क्षणिक तथा नित्यवाद) बौद्ध ४७८
आत्मवादका विचार ४७९
उत्थान मार्ग ४८०
उपायज ४८१
संसारबन्ध ४८२
पुण्यका फल ४८३
धर्मज्ञानकी प्रशंसा ४८५

पञ्चविंश सर्ग ४८७-५११

वर्णव्यवस्था ४८७
विविधवंश ४८८
याज्ञिकी हिंसा ४९०
प्रासुक बलि ४९३
हिंसाकी घातकता ४९२
दयाधर्मका मूल ४९३
ब्राह्मणत्व विवेचन ४९४
यज्ञादिकी निस्सारता ४९६
ब्राह्मणत्व जातिकी निस्सारता ४९७
कर्मणा वर्ण ४९७
गंगाकी पूज्यता ४९८
तीर्थोंकी यात्रा ४९९
तीर्थोंका इतिहास ५००
गायका देवत्व ५०२
पितृ-तर्पण ५०३
ब्राह्मण दानका रहस्य ५०४
प्रमाण मीमांसा ५०४
कारणता विचार ५०५
ईश्वरत्व विवेचन ५०६
सुगत मीमांसा ५०७
ईश्वर वाक्य ५०८
सांचोदेव ५०८
उपसंहार ५१०

षड्विंश सर्ग ५१२-५३०

जीव तत्त्व विवेचन ५१२
अभव्य ५१३

अजीव	५१४	अद्धापल्य	,,	अन्य राजपुत्र	५५७
सूक्ष्मस्थूल	५१५	युगचक्र	५३७	वरांग आदर्श पिता	५५८
कार्मण वर्गणा विचार	५१६	युग परिमाण	५३८	भोगरत वरांग	५५९
धर्म-अधर्म		शलाकापुरुष	,,	वैराग्य	५६१
काल		चौदह मनु	५३९	वैराग्य भावना	,,
आकाशद्रव्य	५१७	चौबीस तीर्थंकर	५४०	लोक भावना	५६२
द्रव्य-विशेष	५१८	बारह चक्रवर्ती	५४०	मरते न बचावे कोई	५६३
द्रव्य-परिमाण	५१९	नौ वासुदेव	५४१	दुर्लभ नरपर्याय	५६४
ज्ञानकारण	५२०	नौ नारायण	,,	आत्म चिन्तन	५६५
नय चर्चा निक्षेप	,,	नौ प्रतिनारायण	,,	अनित्य भावना	५५६
उत्पाद-त्रय	५२१	तीर्थंकर कालमें वासुदेवादि	५४२	अशरण भावना	,,
सापेक्ष त्रय	५२२	तीर्थंकरों का उत्सेध	५४३	संसार भावना	५६७
विशद विवेचन	५२३	तीर्थंकरोंकी आयु	,,	एकत्व भावना	,,
नय तथा मिथ्यात्व	५२४	अन्तराल	५४४	जगत्स्वभाव	५६८
प्रकृति-पुरुष	,,	धर्मोछेद काल	५४६	विरक्ति उदय	५६९
एकान्त आपत्ति	५२५	तीर्थंकर जनक	५४८	उत्तराधिकार प्रस्ताव	५७०
सापेक्षतावाद	५२७	तीर्थंकर माता	५४९	परिजन हैं रखवारे	,,
रत्नत्रय	५२८	अहारदाता	५५०	राज-अघ	५७१
दर्शनकी प्रधानता	,,	जन्म नगरी	५५१	वैराग्यहेतु राज-अधिकारी	५७२
अंधपंगु मिलन	५२९	तीर्थंकरोंके वंश	५५२	आत्मा-शरण	५७३
दैवपुरुषार्थ	,,	तीर्थंकरोंके शरीरवर्ण	,,	वनिता बेड़ी	५७४
उपसंहार	५३०	तीर्थंकरोंके गोत्र	,,	कुसम सदृशो	५७५
सप्तविंश सर्ग	**५३१-५५४**	बाल ब्रह्मचारी	५४३	मोहमाया	५७६
उत्थानिक	५३१	तीर्थंकरोंकी निर्वाण मुद्रा	,,	विवेक निरोध	५७७
काल वर्णन	५३२	तीर्थंकरोंके निर्वाण क्षेत्र	,,	रोग, बुढ़ापा-मृत्यु	५७८
उपमा परिमाण	५३४	**अष्टाविंश सर्ग**	**५५५-५६९**	रत्नत्रयमय मेव	५७९
व्यवहार पल्य	५३५	पुत्रजन्म	५५५	राजबधुओंकी पतिपरायणता	५८१
उद्धार पल्य	५३६	राजशिशुका वर्णन	५५६		

एकोनत्रिंश सर्ग ५८२-६०५

सयाना संसार ५८२
तपकी दुष्करता ५८३
भोगोंकी अजेयता ५८४
सिंहवृत्ति-वरांग ,,
जो लो देह तोरी ५८५
स्वजन शत्रु ५८६
संसारमें फँसाने वाले ही शत्रु हैं ५८७
राज्य रहस्य ५८८
ममताका चित्रण ,,
महामोही जागे ,,
नियोगी सुतको ५८९
षडंग ५९०
परस्परावरोधने त्रिवर्ग ५९१
पाप मार्गपर पग न पड़े ,,
सफलताकी कुञ्जी है ५९२
राज्याभिषेक-सम्मान ५९३
'छोड़ बसे वन' ५९४
यथार्थ धर्मपत्नी ५९५
खलजनोंकी बातें ५९६
नास्तिक मत ५९७
नीति निपुणों द्वारा स्तुति ५९८
गुरुदर्शन ६००
चारित्र मेव ६०२
धर्मके साथी ६०४
पतिपरायणता पत्नियाँ ६०५
तपसूर ६०६

त्रिंश सर्ग ६०७-६२५

वियोगी जन ६०७
गुण स्थान ६०८
ज्ञायक-त्रिलोक विचार ६०९
शल्यत्रय उन्मूलन ६११
मन मंतगज ६१२
ऋतुतप ६१४
उपसर्ग परीषह जय ६१६
तीर्थाटन ६१९
रागद्वेष विजयी ,,
नीरस भोजनरत ६२१
रिद्धिसिद्धि ६२३
वर्द्धमान तप ६२५

एकत्रिंश सर्ग ६२६-६५५

रानियाँ पतिसे पीछे नहीं ६२६
वरांग ऋषिका तप ६३०
आशा विजय ६३२
नाना भाँति तप ६३५
ऋतुतप ६३७
घोर-तप-ऐहिकका फल ६३८
धर्म विहार ६३९
समाधिमरण ६४०
चतुर्विध आराधना ६४२
गुण प्राप्ति ६४६
बारह भावना ६४८
शरीरान्त ६५३
इतरसाधु सद्गति ६५४

पारिभाषिक शब्दकोश ६५६

वराङ्गचरितम्

प्रथमः सर्गः

मंगलाचरण

अर्हंस्त्रिलोकमहितो हितकृत्प्रजानां, धर्मोऽर्हतो भगवतस्त्रिजगच्छरण्यः ।
ज्ञानं च यस्य सचराचरभावदर्शि, रत्नत्रयं तदहमप्रतिमं नमामि ॥ १ ॥
येनेह मोहतरुमूलमभेद्यमन्यैरुत्पाटितं निरवशेषमनादिबद्धम् ।
यस्यर्द्धयस्त्रिभुवनातिशयास्त्रिधोक्ताः, सोऽर्हंञ्जयत्यमितमोक्षसुखोपदेशी ॥ २ ॥
प्राप्येत येन नृसुरासुरभोगभारो, नानातपोगुणसमुन्नतलब्धयश्च ।
पश्चादतीन्द्रियसुखं शिवमप्रमेयं, धर्मो जयत्यवितथः स जिनप्रणीतः ॥ ३ ॥

प्रथम सर्ग

प्राणिमात्रके कल्याणकर्ता, अतएव तीनों लोकोंमें परम पूज्य श्रीअर्हन्त परमेष्ठी, तीनों लोकोंके प्राणियोंकी ऐहिक और पारलौकिक उन्नतिका एकमात्र सहारा आर्हत-(जैन) धर्म तथा त्रिकालवर्ती चल और अचल समस्त पदार्थोंका साक्षात्द्रष्टा श्रीअर्हन्त परमेष्ठीका (केवल) ज्ञान, इन तीनोंकी इस अनुपम रत्नत्रयीको मैं मन, वचन और कायसे नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

निरुपम मोक्ष महासुखके सत्य उपदेष्टा श्रीअर्हन्त केवलीकी जय हो; जिन्होंने इस संसारमें अनादिकालसे जमी हुई मोह महातरुकी उन जड़ोंको बिल्कुल उखाड़कर फेंक दिया था, जिन्हें अन्य-अन्य मतोंके प्रवर्तक हिला-डुला भी न सके थे। तथा जिन अर्हन्त प्रभुकी तीन प्रकारकी क्षायिक ऋद्धियोंको गणधरादि ऐसे महाज्ञानी मुनियोंने भी तीनों लोकोंकी महाविभूतियोंसे भी बढ़कर कहा है ॥ २ ॥

श्रीजिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट सत्यधर्म (जैनधर्म) की जय हो। जिसके द्वारा जीवको नर, असुर और देवगतिके सब ही भोगोंकी प्राप्ति होती है, जिसके प्रतापसे नाना प्रकारके तपों, गुणों और बड़ीसे बड़ी लब्धियोंकी सिद्धि होती है, इतना ही नहीं, अपितु सांसारिक अभ्युदयके बाद अतीन्द्रिय तथा अनन्त सुखमय उस मोक्षपदकी प्राप्ति भी होती है; जहाँके सुखको किसी भी मापसे नापना असंभव है ॥ ३ ॥

---

१. क श्रीमदादिब्रह्मणे नमः । निर्विघ्नमस्तु । म श्रीवासुपूज्याय नमः ।

ज्ञानेन येन जिनवक्त्रविनिर्गतेन, त्रैलोक्यभूतगुणपर्ययसत्पदार्थाः ।
ज्ञाताः पुनर्युगपदेव हि सप्रपञ्चं, जैनं जयत्यनुपमं तदनन्तरं तत् ॥ ४ ॥
अर्हन्मुखागतमिदं गणदेवदृष्टं सद्धर्ममार्गचरितं परया विशुद्धया ।
संशृण्वतः कथयतः स्मरतश्च नित्यमेकान्ततो भवति पुण्यसमग्रलम्भः ॥ ५ ॥
द्रव्यं फलं प्रकृतमेव हि सप्रभेदं, क्षेत्रं च तीर्थमथ कालविभागभावौ ।
अङ्गानि सप्त कथयन्ति कथाप्रबन्धे तैः संयुता भवति युक्तिमतो कथा सा ॥ ६ ॥
द्रव्याणि षड् भगवताभिहितानि तानि, क्षेत्रं तथा त्रिभुवनं विविधश्च[2] कालः ।
तीर्थं जिनेन्द्रचरितं प्रकृतं हि वस्तु, ज्ञानक्षयोपशमजौ फलभावकल्पौ[3] ॥ ७ ॥

इस रत्नत्रयीके अन्तिम रत्न सम्यक्ज्ञानकी भी जय हो। जिसकी तुलना किसी भी ज्ञानसे नहीं की जा सकती है, जो अर्हन्त केवलीके मुखसे झरी दिव्यध्वनिसे निकला है और जिन धर्ममय है। तथा जिसके द्वारा तीनों लोकोंके समस्त द्रव्य, गुण, पर्याय तथा पदार्थोंका अपने त्रिकालवर्ती भेद-प्रभेदोंके साथ; एक साथ ही ज्ञान हो जाता है ॥ ४ ॥

आदर्श कथा

श्रीअर्हन्त केवलीके मुखारबिन्दसे निकले तथा श्रीगणधर भगवान द्वारा विस्तृत शास्त्रोंके रूपमें रचे गये, परम पवित्र जिनधर्मके सम्यक् चारित्रके अनुसार व्यतीत किये गये जीवन चरितको जो व्यक्ति परमशुद्धि और श्रद्धाके साथ सुनता है, कहता है मनन करता है उसे निसन्देह पूर्ण पुण्यका लाभ होता है ॥ ५ ॥

प्रत्येक कथा प्रबन्धके जीवादि द्रव्य, भरतादि क्षेत्र, सुषमादि काल, क्षायिक, क्षायोपशमिक-आदि भाव, आधिकारिक[4]-प्रासंगिक[5] भेद और उपभेदसहित प्रकृत (कथानक), श्रीऋषभादि तीर्थंकरोंका तीर्थकाल और पुण्य पापका फल ये सात अंग होते हैं[6] ॥ ६ ॥

इन सातों अंगोंसे युक्त होनेपर ही कोई कथा आदर्श और युक्तिसंगत रचना हो सकती है। पुद्गल, धर्म, अधर्म,

---

१. म °विभागभागा। २. [त्रिविधश्च]। ३. भ °शमजा····कल्पा।
४. फलके स्वामीका नाम अधिकारी है, उसकी कथा आधिकारिक-कथा होती है।
५. आधिकारिक कथाकी पूरक कथाको प्रासंगिक-कथा कहते हैं।
६. महापुराण प्रथम सर्ग श्लो० १२१–१२५।

धातुः स काञ्चनमयः क्रियया विहीनः कालान्तरादपि न याति सुवर्णभावम् ।
एवं जगत्यमितभव्यजनश्चिरेण नालं भवाद् व्रजितुमत्र विनोपदेशात् ॥ ८ ॥
दीपं विना नयनवानपि संदिदृक्षुर्द्रव्यं यथा घटपटादि न पश्यतीह ।
जिज्ञासुरुत्तममतिर्गुणवांस्तथैव वक्त्रा विना हितपथं निखिलं न वेत्ति ॥ ९ ॥
सर्वज्ञभाषितमहान[1]दधौतबुद्धिः स्पष्टेन्द्रियः स्थिरमतिर्मितवाङ्मनोज्ञः ।
मृष्टाक्षरो जितसभः प्रगृहीतवाक्यो वक्तुं कथां प्रभवति प्रतिभादियुक्तः ॥ १० ॥

आकाश, काल और जीवके भेदसे द्रव्योंको श्रीजिनेन्द्रदेवने छह प्रकारका कहा है। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोककी अपेक्षासे प्रधानतया क्षेत्र तीन प्रकारका है। सामान्यरूपसे भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालकी अपेक्षासे काल भी तीन प्रकारका है। श्री १००८ जिनेन्द्र भगवान्के जीवन और एक तीर्थंकरके जन्मकालसे लेकर अगले तीर्थंकरके जन्मतकके अन्तरालको तीर्थ कहते हैं। कथावस्तु या कहानीको प्रकृत कहते हैं। कर्मोंके उपशम, क्षय तथा क्षयोपशमसे होनेवाले भाव हैं और तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका ही नाम महाफल है ॥ ७ ॥

सुवर्णमिश्रित मूलधातु ठीक प्रकारसे शुद्ध न किये जानेके ही कारण बहुत समय बीत जानेपर भी स्वर्ण-पाषाण ही रह जाती है, सोना नहीं हो पाती है। इसी प्रकार इस संसारमें अनेकानेक भव्य (मुक्त होने योग्य) जीव सद्गुरुका उपदेश न मिलनेके कारण ही चिरकाल तक संसार समुद्रमें ही ठोकरें खाते हैं मोक्ष नहीं जा पाते हैं ॥ ८ ॥

पदार्थोंको देखनेके लिये उत्सुक पुरुष, आँखोंकी दृष्टि हर तरह ठीक होनेपर भी जैसे केवल दीपक न होनेके कारण ही अंधेरेमें घट, पट, आदि वस्तुओंको नहीं देख पाता है, उसी प्रकार परम बुद्धिमान, सद्गुणी और कल्याणमार्ग जाननेके लिये लालायित पुरुष भी एक सच्चे उपदेष्टाके न मिलनेसे ही संसारसे उद्धारके हितमार्गको पूर्णरूपसे नहीं समझ पाता है ॥ ९ ॥

उपदेष्टा

वही प्रतिभाशाली व्यक्ति कथा कहनेका अधिकारी है, जिसकी बुद्धि सर्वज्ञप्रभुके मुखारबिन्दसे निकले शास्त्ररूपी महानदमें गोते लगाकर निर्मल हो गयी हो, जिसकी चक्षु, आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको पूर्ण तथा विशदरूपसे जानती हों, जिसकी मति स्थिर हो, जिसकी मित बोली हितकारी और मनमोहक हो, जिसके अक्षरों, शब्दों और वाक्योंमें प्रवाह हो, जो सभाको मन्त्रमुग्ध-साकर देता हो तथा जिसकी भाषाको श्रोता सहज ही समझ लेते हों; अर्थात् जिसकी भाषा-भावोंके पीछे-पीछे चलती हो ॥ १० ॥

---

१. म महार्णव ।

सत्कारमैत्र्यवनभैषजसंश्रयादीन्वक्ताऽनपेक्ष्य जगता[1]त्युपकारहेतुम् ।
निष्केवले हितपथं[2] प्रवदन्वदान्यः श्रोतात्मनोरुपचिनोति फलं विशालम् ॥ ११ ॥
जन्मार्णवं कथमयं तरतीति योऽत्र संभावयत्यतुलधीर्मनसा दयालुः ।
संसारघोरभयदुःखमनादिबद्धं तस्य क्षयं व्रजति साध्विति वर्णयन्ति ॥ १२ ॥
श्रेयोऽर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः ।
मोक्षार्थिना श्रवणधारणसत्क्रियार्था योज्यास्तु ते मतिमता सततं यथावत् ॥ १३ ॥
शुश्रूषताश्रवणसंग्रहधारणानि विज्ञानमूहनमपोहनमर्थतत्त्वम् ।
धर्मश्रवार्थिषु सुखाभिमुखेन[3] नित्यमष्टौ गुणान्खलु विशिष्टतमा वदन्ति ॥ १४ ॥

जो उदाराशय उपदेशक निजी आदर-सत्कार, परिचय-मित्रता, भरण-पोषण, विरोधियोंसे रक्षा, रोगोंकी चिकित्सा, सहारा, आदि स्वार्थोंकी तनिक भी अपेक्षा न करके, संसारका एकमात्र पूर्ण उपकार करनेकी इच्छासे ही सर्वज्ञप्रभुके मुखारविन्दसे आगत सद्धर्मका ही शुद्ध उपदेश देता है वह अपने श्रोताओंके ही पुण्यको नहीं बढ़ाता है, अपितु स्वयं भी विशाल पुण्यबन्ध करता है ॥ ११ ॥

इस संसारमें जो परमकृपालु और अतुल बुद्धिशाली उपदेशक अपने मनमें सर्वदा यही सोचता है कि 'यह विचारे श्रोता लोग कैसे संसार समुद्रसे पार होंगे ?' उसके अनादिकालसे बंधे भयंकर संसारिक अज्ञानादि दुख और जन्म, रोग, जरा, मरणादि भय समूल नष्ट हो जाते हैं, ऐसा श्रीगणधरादि महाज्ञानियोंने कहा है ॥ १२ ॥

अपने तथा दूसरोंके कल्याणके इच्छुक सच्चे जिनधर्म प्रेमीको नियमपूर्वक जिन शासनका उपदेश करना चाहिये तथा मोक्ष लक्ष्मीको वरण करनेके लिए व्याकुल उस बुद्धिमान् उपदेशकका यह भी कर्त्तव्य है कि वह हर समय प्रमादको छोड़कर सब ही संसारी प्राणियोंको शास्त्र श्रवण, तत्त्वोंके मनन, सम्यक् चारित्रके पालन, आदि उत्तम कार्योंमें लगावे[4] ॥ १३ ॥

श्रोता

इस भव और परभवमें सुखोंके इच्छुक धर्मशास्त्रके श्रोताओंमें गुरु, आदिकी सेवा-परायणता, मन लगाकर सुनना, आगे पीछे पढ़े या सुनेको याद रखना, पठित या श्रुतविषयोंका मनन करना, प्रत्येक तत्त्वका गहन अध्ययन करना, प्रत्येक विषयको तार्किक दृष्टिसे समझना, हेयको छोड़ देना और उपयोगीको तुरन्त ग्रहण करना ये आठ गुण निश्चयसे होना चाहिये; ऐसा गणधरादि लोकोत्तर ऋषियोंने कहा है ॥ १४ ॥

---

१. [जगदकदत्युपकारहेतुम्] । २. क हितपदं । ३. म सुखादिमुखेन । ४. महापुराण, प्रथम अध्याय, श्लो० १२६–१३७ ।

मृत्सारिणीमहिषहंसशुकस्वभावा मार्जारकङ्कमशकाजजलूकसाम्याः ।
सच्छिद्रकुम्भपशुसर्पशिलोपमानास्ते श्रावका भुवि चतुर्दशधा भवन्ति ॥ १५ ॥
श्रोता न चैहिकफलं प्रतिलिप्समानो निःश्रेयसाय मतिमांश्च मतिं विधाय ।
यः संशृणोति जिनधर्मकथामुदारां पापं प्रणाशमुपयाति नरस्य तस्य ॥ १६ ॥
प्राज्ञस्य हेतुनयसूक्ष्मतरान्पदार्थान् मूर्खस्य बुद्धिविनयं च तपःफलानि ।
दुःखार्दितस्य जनबन्धुवियोगहेतुं निर्वेदकारणमशौचमशाश्वतस्य ॥ १७ ॥

कुछ श्रोताओं का स्वभाव मिट्टी (सुनते समय ही प्रभावित होनेवाले, बादमें जो सुने उसे समझकर उसपर आचरण नहीं करनेवाले), झाड[२] (सार ग्राहक असार छोड़नेवाला), भैंसा (सुना ना सुना दोनों बराबर), हंस (विवेकशाली), शुक (जितना सुना उतना ही बिना समझे याद रखा), के समान होता है। दूसरे श्रोताओंकी तुलना बिल्ली (चालाक पाखंडी), बगुला (अर्थात् सुननेका ढोंग करनेवाले), मशक (वक्ता तथा सभाको परेशान करनेमें प्रवीण), बकरा (देरमें समझनेवाले तथा कामी) और जौंक (दोष ग्राही) के साथ की जा सकती है। अन्य कुछ श्रोताओंके उदाहरण सैकड़ों छेदयुक्त घड़े (इस कान सुना उस कान निकाल दिया), पशु (किसीका जोर पड़ा तो कुछ सुन समझ लिया), सर्प (कुटिल) और शिला (प्रभाव-हीन) से दिये जा सकते हैं, इस प्रकार संसारके सब ही श्रावक चौदह प्रकारके होते हैं ॥ १५ ॥

जो विवेकी श्रोता सांसारिक भोग विलासरूपी फलोंकी स्वप्नमें भी इच्छा नहीं करता है तथा मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्ति करनेका अडिग तथा अकम्प निर्णय करके प्राणिमात्रके लिये कल्याणकारिणी जिनधर्मकी विशाल कथाको सुनता है, उस मनुष्यके सब ही पापोंका निसन्देह समूल नाश हो जाता है[३] ॥ १६ ॥

उपदेष्टा का कर्तव्य

बुद्धिमान् और कुशल कथाकारको श्रोताकी योग्यताके अनुसार उपदेश देना चाहिये। जैसे-विशेषज्ञानी श्रोताके सामने प्रमाण, नय, आदिके भेद प्रभेद ऐसे सूक्ष्मसे सूक्ष्म विषयोंकी चर्चा करे। मूर्ख या अज्ञ पुरुषको साधारण ज्ञान, शिष्टाचार और व्रत नियमादिके लाभोंको समझाये। यदि श्रोताका हृदय इष्ट वियोगसे विह्वल हो रहा हो तो उसे उन कर्मोंका मधुर उपदेश दे जिनके कारण स्वजन और बन्धु बान्धवोंका वियोग होता है। जिसकी बुद्धि डांवाडोल रहती हो उसे संसार और शरीरकी अपवित्रताका और अस्थिरता दिग्दर्शन कराये, जो कि वैराग्यके कारण हैं ॥ १७ ॥

१. म विनयश्च । २. महापुराणमें 'चालिनी' शब्द 'सारिणी' के स्थानपर है। अर्थात् बिना विवेकके छोड़ने या बहुत थोड़ा माननेवाले व्यक्ति । ३. महापुराण, प्रथम अध्याय श्लो० १३८-१४६ ।

लुब्धस्य शीलमधनस्य फलं व्रतानां दानं क्षमा च धनिनो विषयोन्मुखस्य ।
सद्दर्शनं व्यसनिनो जिनपूजनं च श्रोतुर्वशेन कथयेत्कथको विधिज्ञः[1] ॥ १८ ॥
संसारसागरतरङ्गनिमग्नजीवान् सज्ज्ञाननावमधिरोप्य सुखेन नीत्वा ।
सद्धर्मपत्तनमनन्तसुखाकरं यत् तत्प्रापयन्ति गुरवो विदितार्थतत्त्वाः ॥ १९ ॥
जन्माटवीषु कुटिलासु विनष्टमार्गान् येऽत्यन्तनिर्वृतिपथं प्रतिबोधयन्ति ।
तेभ्योऽधिकः प्रियतमो वसुधातलेऽस्मिन्कोऽन्योऽस्ति बन्धुरपरःपरिगण्यमानः ॥ २० ॥
राज्यार्धराज्यपृथुचक्रधरोरुभोगान् भौमेन्द्रकल्पपतिनामहमिन्द्रसौख्यम् ।
क्लेशक्षयोद्भवमनन्तसुखं च मोक्षं संप्राप्नुवन्ति मनुजा गुरुसंश्रयेण ॥ २१ ॥

सांसारिक सम्पत्ति और भोगोंके लोभीको संयमका उपदेश दें, निर्धनको व्रतादि पालन करनेकी प्रतिज्ञा कराये जिसके फलस्वरूप धनादिकी प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है। सांसारिक भोगविलासोंमें मस्त धनी पुरुषको दान और क्षमाका माहात्म्य समझाये। इसी प्रकार चोरी, व्यभिचार, आदि व्यसनों या दुखोंमें फँसे व्यक्तिको तत्त्वोंके सच्चे श्रद्धान और जिन पूजनादिकी ओर प्रेरित करें ॥ १८ ॥

जो सद्गुरु तत्त्व और अर्थको भलीभांति जानते हैं वे संसार समुद्रके मोहरूपी तूफानके थपेड़े खाकर लहरोंमें डूबते हुए प्राणियोंको सरलतासे उभार लेते हैं और सम्यक् ज्ञानरूपी नावपर चढ़ाकर अनन्त सुखोंके भण्डार जिनधर्मरूपी नगरमें पहुँचा देते हैं ॥ १९ ॥

भाई बन्धु और हितैषियोंका लेखा करनेपर इस संसारमें उनसे बढ़कर हितैषी और प्रेमी बन्धु दूसरा और कौन हो सकता है, जो जन्म मरणरूपी घने जंगलोंकी टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियोंमें रस्ता भूले हुए संसारी प्राणियोंको पूर्णवैराग्य और शान्तिरूपी कल्याणकारी मार्गोंको पूर्णरूपसे दिखा देते हैं ॥ २० ॥

मनुष्य सद्गुरुका सहारा पा जानेपर आधे राज्य, पूर्णराज्य और विशाल राज्योंके अधिपति पदको, चक्रवर्तीके विशाल भोगोपभोगोंको अथवा चक्रवर्तियोंके भी पूज्य भौमेन्द्रपद, देवताओंके अधिपति इन्द्र और अहमिन्द्रोंके सुखोंको ही प्राप्त नहीं करता, अपितु दुखके संयोगसे हीन ज्ञानावरणादि क्लेशोंके समूल नाशसे उत्पन्न एकमात्र फल अनन्त सुख, वीर्य, दर्शनादिमय मोक्ष महापदको भी वरण करता है ॥ २१ ॥

---

१. म कथकोविदज्ञः ।

तेभ्यो नमः प्रयतकायमनोवचोभिः कृत्वा जगत्त्रयविभूतिशिवंकरेभ्यः ।
धर्मार्थकामसहितां जगति प्रवृत्तां वक्ष्ये कथां शृणुत मोक्षफलावसानाम् ॥ २२ ॥
आसीद्विनो निजगुणैर्ह्रियमादधानः पुंसां समुन्नतधियां स निवासभूमिः ।
भोगश्रियः[1] कुरुभुवः प्रतिबिम्बभूतो नाम्ना विनीतविषयः ककुदं पृथिव्याम् ॥ २३ ॥
लोकस्य सारमखिलं निपुणो[2] विचिन्त्य सत्संनिवासभुवनैकमनोरथेन ।
यं निर्ममे स्वयमुदाहृतरत्नसारं धर्मार्थकामनियमाच्च निधिं विधाता ॥ २४ ॥
यस्मिन्दिशश्च रहितालि[3]विपिञ्जराभा यन्नातँ[4] इक्षुवनपीलितदुःप्रचाराः (?) ।
रक्तोत्पलामलदलैरुपहारितास्ते कालागरुप्रततधूपवहाश्च गेहाः ॥ २५ ॥

ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा

तीनों लोकोंकी सम्पत्ति और सुखप्राप्तिके मार्गके उपदेष्टा वीतराग सद्गुरुओंको विनीत मन, वचन और कायसे साष्टांग नमस्कार करके उस कथाको कहूँगा जो इस संसारमें धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थके परस्पर अविरोधी आचरणसे सुशोभित हुई थी। और जिसका अन्त मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्तिमें हुआ था। आप लोग सावधान होकर सुनें ॥ २२ ॥

विनीत देश

इस पृथ्वीपर ककुदके समान सर्वथा समुन्नत विनीत नामका देश था। उसकी सुख समृद्धि आदि विशेषताओंके सामने स्वर्ग भी लजाता था। वह अपनी भोग-उपभोगोंकी प्रचुर सम्पत्तिके कारण देवकुरु, उत्तरकुरु भोगभूमियोंका प्रतिबिम्ब-सा लगता था और उसमें बड़े-बड़े ज्ञानी तथा उदारपुरुष निवास करते थे ॥ २३ ॥

सज्जनोंके सुखपूर्वक निवास करने योग्य एक अलग ही लोक बनानेकी इच्छुक प्रकृतिने संसारके सारभूत सब ही पदार्थोंको कुशलतासे इकट्ठा करके, धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंकी मर्यादाओंको दृष्टिमें रखते हुए इस विनीत देशको ऐसे ढंगसे बनाया था कि इसे देखते ही संसारके सब रत्नों (श्रेष्ठ वस्तुओं) के नमूने आँखोंके आगे आ जाते थे ॥ २४ ॥

वहाँपर दिशाओंका रंग हरितालके समान हल्का पीला और सफेद-सा रहता था। दोनों ओर लहलहाते ईखके खेतोंकी सघन पंक्तियोंके मारे रास्तोंपर चलना भी अति कठिन था। रास्ते-रास्ते और गली-गलीमें पूजाके समय बलि चढ़ाई गयीं लाल कमलोंकी पंखुड़ियाँ बिखरी रहती थीं, मकानोंकी खिड़कियोंसे हर समय कालागरु धूप, आदि सुगन्धित पदार्थोंका धुँआ निकलता रहता था ॥ २५ ॥

---

१. म भोगश्रिया। २. [निपुणं]। ३. [हरिताल°]। ४. [पन्थान]।

यस्मिन्वनानि फलपुष्पनताग्रशाखाविभ्राजितानिलविकम्पितमहीरुहाणि ।
स्वाद्वम्बुकोमलतृणानि दिवा निशीथे घोषाः प्रतिध्वनितमन्द्रगुणा गुणाढ्याः ॥ २६ ॥
सन्तो नरा युवतयश्च विदग्धवेषा रागोत्तरासु सकलासु कलास्वबाह्याः ।
अन्योन्यरञ्जनपराः सततोत्सवाश्च सौख्येन किन्नरगणानतिशाययन्ति ॥ २७ ॥
देशान्विहाय हि पुराध्युषितान्कलज्ञाः[1] शिल्पावदातमयश्चनटा विटाश्च ।
रङ्गोपजीवनपराः पुरुषाः स्त्रियश्च यस्मिन्पुनर्बहुविशेषगुणा वसन्ति ॥ २८ ॥
रत्नोपलाग्रपरिचुम्बितमेघमालो नानादरीमुखविनिःसृतनिर्झरौघः ।
सौम्याचलः फणिमणिक्षपितान्धकारस्तस्मिन्बभूव हिमवानिव तुङ्गकूटः ॥ २९ ॥

इस देशके जंगलोंमें ऐसे ही वृक्षोंकी भरमार थी जो फूल और फलोंके भारसे पृथ्वीको चूमते थे। ये वृक्ष जब तीव्र वायुके झोकोंसे झूमते थे तब वनका दृश्य बड़ा ही हृदयहारी होता था। इन वनोंमें सुकुमार छोटी-छोटी हरी दूबका फर्श बिछा था और मधुर जलपूर्ण तालाबोंकी भरमार थी। इसीलिए दया, उदारता, आदि गुणोंके धनी पुरुषोंसे परिपूर्ण ग्वालोंकी बस्तियोंसे दिन-रात गाने-बजाने की मधुर और गम्भीर प्रतिध्वनि आती रहती थी ॥ २६ ॥

इस देशके पुरुष भले नागरिक थे। युवतियोंका वेशभूषा व आचरण शिष्ट था। शिक्षा, स्वास्थ्य, संगीत, चित्रकला, प्रेमप्रसंग, आदि कोई भी ऐसी कला न थी जिससे वहाँके युवक और युवतियाँ अनभिज्ञ हों। वे प्रतिदिन कोई न कोई उत्सव मनाते थे तथा एक-दूसरेको लुभाने और प्रसन्न करनेके लिए पृथ्वी-आकाश एक कर देते थे। अपने इन सुखभोगोंके द्वारा वे किन्नर देवताओंकी जोड़ियोंको भी मात करते थे ॥ २७ ॥

बड़े से बड़े प्रसिद्ध कलाकार, वर्षोंके अनुभवके कारण निर्दोष और तीक्ष्ण बुद्धि शिल्पी, नट, विट तथा अभिनय और संगीतके द्वारा ही आजीविका करनेवाले कुशल स्त्री और पुरुष अपने निवासके प्राचीन देशोंको छोड़कर इस (विनीत) देशमें आ बसे थे क्योंकि यहाँ आकर बसनेसे उनके गुण केवल उत्तरोत्तर बढ़ते ही न थे अपितु वे नयी-नयी विद्याएँ सीखकर बहुज्ञ भी हो जाते थे ॥ २८ ॥

सौम्याचल

इस विनीत देशमें सौम्याचल नामका पर्वत था। जिसके ऊँचे-ऊँचे शिखर हिमालय पर्वतकी बराबरी करते थे। रत्न-शिलाओंसे परिपूर्ण इसके शिखर मेघमालाको चूमते थे। इस पर्वतकी कितनी ही गुफाओंसे कल-कल निनाद करते झरने बहते थे। इसमें ऐसे-ऐसे विचित्र और भीषण साँप रहते थे जिनके फणके मणियोंकी चमकसे अंधेरी रातमें भी प्रकाश हो जाता था ॥ २९ ॥

१. [कलज्ञाः]।

यस्मिन्सदा गरुडकिन्नरपन्नगानां गन्धर्वसिद्धतुषितामरचारणानाम् ।
आक्रीडनानि विविधानि मनोहराणि सोद्यानकाननगुहागहनेष्वभूवन् ॥ ३० ॥

तस्मात्पतङ्गजविषाणविपाटितोरुपाषाणगह्वरविजृम्भितपन्नगेन्द्रान्[२] ।
कादम्बसारसगणैरुपसेव्यमाना रम्या नदी प्रभवति प्रथिता धरायाम् ॥ ३१ ॥

वाताहतद्रुमपतत्कुसुमोपहारे मत्तभ्रमद्भ्रमरगीतरवाभिधाने ।
तस्यास्तु दक्षिणतटे समभूमिभागे रम्यातटं पुरमभूद्भुवि विश्रुतं तत् ॥ ३२ ॥

रम्यानदीतटसमीपसमुद्भवत्वाद् रम्यातटं जगति रम्य[3] हि नाम रूढम् ।
तस्यैव नांम कृतवृद्धिगुणान्समीक्ष्य[4] अन्वर्थमुत्तमपुरं पटुभिर्द्वितीयम् ॥ ३३ ॥

इसके सुन्दर उद्यान, वन, गुफा और सघन जंगलोंमें नागकुमार, किन्नरादि व्यन्तर, पन्नग, गन्धर्व, सिद्ध, तुषित, अमर और चारण जातिके देव सदा ही सब प्रकारकी क्रीड़ाएँ किया करते थे। यह गुहा ग्रहोंमें क्रीड़ाएँ बड़ी ही रमणीय और मनमोहक होती थीं ॥ ३० ॥

दन्तकेलिके समय मदोन्मत्त हाथी झपटकर विशाल शिलाओंपर दन्तप्रहार करते थे, फलतः शिलामें फटकर बड़ी-बड़ी दरारें बन जाती थी, जिनमें विकराल साँप निवास करते थे ऐसे इस म्याचसौल पर्वतसे पृथ्वीभरमें प्रसिद्ध रम्या नामकी नदी निकली थी, जिसमें हंस, सारस आदि जलचर पक्षियोंके झुण्ड के झुण्ड रहते थे ॥ ३१ ॥

इसी रम्या नदीके दक्षिणी किनारेपर एक विशाल समतल भूमिखण्ड पर विश्वप्रसिद्ध रम्यातट नगरी थी। हवाके झोकोंसे झूमते हुए वृक्ष इसपर स्वयं गिरते हुये फूलोंकी भेंट चढ़ाते थे। फूलोंके परागसे मस्त होकर भौंरे यहाँ घूमते-फिरते थे जिनके गीतकी ध्वनिसे यह समतल नगरी सदा गूँजती रहती थी ॥ ३२ ॥

उत्तमपुर

इसी समतलपर संसारभरमें विख्यात रम्यातट नामका नगर बसा था। रम्यानदीके किनारेपर बसनेके कारण ही सारे संसारमें उसका 'रम्यातट' यह सुन्दर नाम चल पड़ा था यद्यपि इस नगरकी समृद्धि और विशेषताओंको देखकर कुशल पुरुषोंने इसका दूसरा नाम उत्तमपुर रखा था जो कि सर्वथा सार्थक था ॥ ३३ ॥

१. [तस्मान्मतंगज°]। २. [पन्नगेन्द्रात्]। ३. [यस्य]। ४. [कृतमृद्धिगुणान्]।

अभ्यन्तरस्य नगरस्य बहिःप्रदेशः कान्तो यतो भवति कान्तपुरं तदेव ।
पद्मालया सततमारमतीति यस्माल्लक्ष्मीपुरं बुधजनैः कथितं पुरं तत् ॥ ३४ ॥
उद्यानपर्वतवनान्तरितप्रदेशैर्वापीतडागवरपुष्करिणीह्रदैश्च ।
दिग्देवदेवगृहरम्यसभाप्रपा[1]भिर्बाह्यं पुरः परपुरश्रियमादधार ॥ ३५ ॥
आवेष्टच तत्पुरवरं परिखाऽवतस्थे द्वीपं यथा जलनिधिर्लवणाम्बुगर्भः ।
माहोमयोऽभ्युदितशैलसमानशालः प्रोद्भिद्य भूतलमिवाभ्यधिकं रराज ॥ ३६ ॥
प्रासादकूटवलभीतटगोपुरैः स्वैरत्युच्छ्रितध्वजविचित्रचलत्पताकैः ।
आरामकल्पतरुगुल्मलताप्रतानै रुद्धातपं पुरमभूद्गिरिभित्तिभिश्च ॥ ३७ ॥
संगीतगीतकरतालमुखप्रलापैर्वीणामृदङ्गमुरजध्वनिमुद्गिरद्भिः ।
हर्म्यैरनेकपरिवर्धितभूमिदेशे विन्यस्तचित्रबलिभिः सततं रराज ॥ ३८ ॥

इसे कान्तपुर भी कहते थे क्योंकि इस नगरके भीतरके और बाहरके प्रदेश एकसे सुन्दर और स्वच्छ थे। कमलालया लक्ष्मी भीइस नगरमें अपने अनेक रूपोंमें सदा निवास करती थी इसीलिए विद्वान् पुरुष इसे लक्ष्मीपुर नामसे भी पुकारते थे ॥३४॥

इस नगरके बाहिरी भागकी शोभा भी अन्य नगरोंकी शोभा और विभवसे बढ़कर थी; क्योंकि इसके बाहरके भाग उद्यान, कृत्रिम पर्वत, वन और उपवनोंसे भरे पड़े थे। प्रत्येक भागमें बावड़ी, झील, बढ़िया पुष्करिणी (पोखरे) और तालाबोंकी छटा दृष्टिगोचर होती थी। जिधर निकलिये उधर ही दिक्पालों और देवताओंके मन्दिर, रमणीय सभा-मण्डप और पियाउओंके पुण्य-दर्शन होते थे ॥ ३५ ॥

क्षार जलपूर्ण लवण समुद्रने जिस प्रकार जम्बूद्वीपको घेर रखा है उसी प्रकार इस श्रेष्ठ नगरको एक विशाल खाईं चारों तरफसे घेरे हुई थी। गगनचुंबी पर्वतके समान उन्नत पार्थिव परकोटा इस नगरके चारों ओर इतना अधिक अच्छा लगता था मानो उद्भिज्जोंके समान वह पृथ्वीको फोड़कर ही ऊपर निकल आया है ॥ ३६ ॥

इस नगरपर पड़नेवाली सूर्यकी धूप बाहरको बाहर ही रह जाती थी, क्योंकि यह अपने विशाल महलों तथा उनके शिखरों, छज्जोंके कगारों, प्रवेशद्वारों, अत्यन्त ऊँचे ध्वजदण्डों और उनपर लहराती हुई रंग-बिरंगी पताकाओं, बगीचों, विशेषकर उनमें लगे ऊँचे-ऊँचे कल्पवृक्ष, झाड़ियों, कुंजों और पर्वतरूपी भित्तियोंके द्वारा ही उसे (धूपको) रोक देता था ॥ ३७ ॥

इस नगरकी शोभाको ऐसे भवन दिन-दूना और रात चौगुना करते थे जिनमेंसे सदा ही संगीतके समय बजते हुये करताल, वीणा, मृदङ्ग, तबला, आदि बाजों तथा आलाप और गानेकी मधुर तथा गम्भीर ध्वनि सुनायी पड़ती थी। इन

१. म °प्रमाभि ।

भूशैलतोयविविधाकरजातपण्यं[1] मुक्ताप्रवालतपनीयमनेकभेदम् ।
यच्चच्च दुर्लभतमं पररा॰जधान्यां तस्मिन्पुरे प्रतिवसत्सुलभं च वस्तु ॥ ३९ ॥
न्यायार्जितद्रविणतैककुटुम्बपूर्णं सर्वर्तुसौख्यसहितं परमर्द्धियुक्तम् ।
उद्घाटितापणमुखेषु निरन्तरेषु नक्तं दिवं क्रयपरिक्रयसक्तमर्त्यम् ॥ ४० ॥
नैकप्रकारमहिमोत्सवचैत्यपूजादानक्रियास्नपनपुण्यविवाहसंगः ।
अन्योन्यगेहगमनागमनो जनौघस्तस्मिन्पुरे प्रतिदिनं ववृधे यथावत् ॥ ४१ ॥
शब्दार्थहेतुगणितादिविशेषयुक्ता ज्ञानप्रभावितिमिरीकृ[2]तधीमनस्काः ।
सद्धर्मशास्त्रकुशलाः सुलभा मनुष्या यत्रारराज्जुरधिकं सततप्रमोदाः ॥ ४२ ॥

मकानोंके सामनेके दूर्वायुक्त प्रदेश बहुत दूरतक फैले थे तथा इनपर भी बलिमें चढ़ायी गयी रंगबिरंगी सामग्रियाँ और फूल फैले रहते थे ॥ ३८ ॥

पृथ्वी, पहाड़, समुद्र तथा नाना प्रकारकी खनिज क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ अर्थात् प्रकार-प्रकारके मूंगा, मोती, हीरा, सब जातिका सोना आदि पण्य, जो कि दूसरे देशोंकी राजधानियोंके बाजारोंमें प्रयत्न करनेपर भी न मिलते थे, वे ही सब वस्तुएँ उत्तमपुरके बाजारोंमें मारी-मारी फिरती थीं ॥ ३९ ॥

इस नगरके निवासी ग्राहकोंसे ठसाठस भरे तथा आठों पहरके लिये खुले हुए बाजारोंमें दिनरात क्रय और विक्रयमें तल्लीन रहते थे। लेकिन सब ही नागरिकोंकी सम्पत्ति न्यायोपार्जित थी। किसीके भी घरमें अलगाव न होता था और सबके कुटुम्बमें बड़े-बूढ़ोंसे लेकर छोटेतक जीवित थे। हर ऋतुमें सबको सब ऋतुओंके सुख आसानीसे प्राप्त थे और सम्पत्ति और बिभव तो मानों उनके अनुचर ही थे ॥ ४० ॥

इस नगरमें प्रतिदिन ही सर्वसाधारणके लिए लाभदायक विविध प्रकारके विशेष-कार्य, इन्द्रध्वज आदि जिन-पूजा, विपुल दान-कर्म, जिनेन्द्रदेवका पञ्चामृत महाभिषेक, धर्म-विवाह, उत्सव, आदि कार्य आगमके अनुकूल विधिसे होते रहते थे। इन प्रसंगोंपर नागरिक एक-दूसरेके घर आया-जाया करते थे तथा आल्हाद और प्रसन्नतामें दिन दूने और रात चौगुने बढ़ते जाते थे ॥ ४१ ॥

यह उत्तमपुरका ही सौभाग्य था कि वहाँपर व्याकरण, काव्य, न्याय, गणित, अर्थशास्त्र, आदि विषयोंके ऐसे प्रकाण्ड पण्डित मौजूद थे जो अपने विमल ज्ञानके प्रकाशसे वहाँके निवासियोंका बौद्धिक और मानसिक अन्धकार (अज्ञान) नष्ट कर

---

१. क °पुण्यं । २. क °प्रभावितमिरी, म °प्रभावतिमिरी° ।

वृद्धाः समेषु तरुणाश्च गुरूपदेशे वेश्याङ्गनाः[1] सुललिताः समदा युवानः ।
त्यागेष्वथार्जितधनाः प्रमदाः प्रियेषु वस्त्वन्तरे रतिमुपेयुरथानुरूपम् ॥ ४३ ॥
पाषण्डिशिल्पिबहुवर्णजनातिकीर्णं रत्नापगाजलनिधिः सुरलोकल्पम्[2] ।
प्रज्ञातिमुग्धधनिनिर्धनसज्जनेष्टं चोरारिमारिपरचक्रकथा न तत्र ॥ ४४ ॥
नीरोगशोकनिरुपद्रवनिर्भयत्वादस्मिञ्जनः सुरसुखं मनसाऽवमेने ।
किं वा पुरस्य बहुवर्णनया नराणामिष्टेन्द्रियार्थपरिभोगसुखावहस्य ॥ ४५ ॥
तस्येश्वरः प्रथितभोजकुलप्रसूतो धर्मार्थकामनिपुणो विनिगूढमन्त्रः ।
न्यायेन लोकपरिपालनसक्तबुद्धिः श्रीधर्मसेन इति भूपतिरास नाम्ना ॥ ४६ ॥

देते थे। सच्चे धर्मशास्त्रके मर्मज्ञ पुरुष तो उस नगरमें अत्यन्त सुलभ थे। सदा प्रमुदित रहनेवाली यह विद्वान मण्डली वहाँ अलग ही चमकती थी ॥ ४२ ॥

उस नगरके वृद्ध पुरुष अपनी बराबरीके लोगोंके साथ उठते-बैठते थे। किशोर और तरुण पुरुष गुरुजनों तथा बड़ोंकी शिक्षाओंपर श्रद्धा करते थे। मदोन्मत्त सुन्दर युवक ही वेश्याओंके प्रेम-प्रपंचमें फँसते थे। जिन लोगोंने प्रचुर सम्पत्ति कमा ली थी वे दान देनेमें मस्त रहते थे। कामोन्मत्त कुलीन युवतियाँ अपने प्रेमियोंकी उपासनामें भूली रहती थीं। इस प्रकार उस नगरका व्यक्ति अपने अनुरूप वस्तुके पीछे पागल था ॥ ४३ ॥

इस नगरमें सब धर्मोंके विद्वान्, सब कोटिके कलाकार और सब ही वर्णोंके लोग निवास करते थे। हर प्रकारकी श्रेष्ठ वस्तुओं, नदियों और पानीकी बहुलतासे यह नगर स्वर्गके ही समान था। प्रकाण्ड पण्डितों और अतिशय मूर्खोंको, कोट्याधीशों और निर्धनोंको, साधु और सन्तजनोंको यह नगरी एक-सी प्रिय थी। यहाँपर चोरी, शत्रुका आक्रमण या षड्यन्त्र, महामारी, आदि रोगोंका नाम भी न सुना जाता था ॥ ४४ ॥

इस नगरके लोग न तो रोगी होते थे, न शोककी मर्म-भेदिनी यातनाओंसे ही छटपटाते थे। किसी भी प्रकारके आकस्मिक उपद्रव भी वहाँ न थे और भयसे त्रस्त होकर कांपना तो वहाँके लोग जानते ही न थे। इन्हीं सब कारणोंसे वहाँके नागरिक स्वर्गलोकके सुखोंकी सच्चे हृदयसे उपेक्षा करते थे। इस प्रकार सब इन्द्रियोंको इष्ट-सुख और भोगोपभोगकी आवश्यक सामग्रियोंसे परिपूर्ण उस नगरका अधिक वर्णन करनेसे क्या लाभ ? ॥ ४५ ॥

महाराज धर्मसेन

इस नगरके महाराज धर्मसेन नामसे विश्वमें विख्यात थे। वह विश्वविख्यात भोजवंशमें उत्पन्न हुए थे। धर्म, अर्थ

---

१. [वेश्याङ्गनासु ललिताः]। २. म जलनिधेः सुरलोकजल्पम्। ३. म नीराग····निर्भयत्वान्यस्मिन्।

यः कामिनीजनमनोहरचारुमूर्तिर्नीकावहप्रथितलब्धविशुद्धकीर्तिः ।
शक्तित्रयप्रतिविशेषहतप्रजार्तिः शास्त्रोपदिष्टवचसाऽप्रतिमानवृत्तिः ॥ ४७ ॥
श्रीमान्प्रभिन्नकटवारणतुल्यगामी रक्ताम्बुजच्छविहरामलपाणिपादः ।
आख्यायिकागणितकाव्यरसाद्यभिज्ञो नित्यं पराभिगमनीयगुणावतंसः ॥ ४८ ॥
बृद्धोपसेवनरतिर्दृढसौहृदश्च त्यक्तप्रमादमदमत्सरमोहभावः ।
सत्संग्रहः स्थिरसखः प्रियवागलोभः प्रागल्भ्यदाक्ष्यसहितो हितबन्धुवर्गः ॥ ४९ ॥
रूपेण काममथ नीतिबलेन शुक्रं[1] कान्त्या शशाङ्कममरेन्द्रमुदारकीर्त्या ।
दीप्त्या दिवाकरमगाधतया समुद्रं दण्डेनदण्डधरमप्यतिशिश्य एव ॥ ५० ॥

काम तीनों पुरुषार्थोंका मर्यादापूर्वक पालन करने और करानेमें कुशल थे। 'प्रजाका न्यायपूर्वक पालनपोषण हो' यह विचार सदा ही उनके मनमें चक्कर काटा करता था। वह इतने मन्त्रदक्ष थे कि उनकी योजनाओंकी, पूर्ति होनेके पहिले तक किसीको गन्ध भी न मिलती थी ॥ ४६ ॥

उसके अत्यन्त सुगठित और सुन्दर शरीरको देखकर ही कामिनी नायिकाएँ प्रेमोन्मत्त हो जाती थीं, सामुद्रिक व्यापारियोंने इसकी निर्मल कीर्तिको सात समुद्र पार दूर-दूर देशोंमें भी प्रसिद्ध कर दिया था। अपनी प्रभु, मन्त्र और उत्साह शक्तियों द्वारा वह प्रजाके समस्त दुख दूर करनेका सतत प्रयत्न करता था और भूलकर भी उसका आचार-विचार शास्त्रोंक्त सिद्धान्तों तथा नियमोंके प्रतिकूल न जाता था ॥ ४७ ॥

वह उस सुन्दर और मस्त हाथीके समान झूमके चलता था जिसके मस्तकसे मद-जल बहता है। उसके निर्दोष और विमल हाथ-पैरोंपर लाल कमलकी कान्ति नाचती थी। वह गल्प, उपन्यास, गणित, काव्य आदि शास्त्रोंके रस (ज्ञान) से अपरिचित न था। उसके सबही गुण ऐसे थे कि उन्हें प्राप्त करनेके लिये दूसरे राजा हर समय लालायित रहते थे ॥ ४८ ॥

उसे गुरुजनोंकी सेवा करनेका व्यसन था। मित्रता करके उसे तोड़ता न था। प्रमाद, अहंकार, मोह, दूसरोंकी बढ़ती देखकर कुढ़ना, आदि बुरे भाव उसके पास तक न फटक पाते थे। उसे सज्जनों और भली वस्तुओं के संग्रहका रोग था। उसके मित्र डंवाडोल स्वभावके व्यक्ति न थे। मधुरभाषी होनेके साथ-साथ बिल्कुल निर्लोभी भी था। साहसिकता और कार्यकुशलता उसके रोम-रोममें समायी थी, और अपने बन्धु-बान्धवोंका परमहितैषी था ॥ ४९ ॥

उसने अपने अक्षुण्ण सौन्दर्य द्वारा कामदेवको, न्यायनिपुणता और नीति कुशलतासे शुक्राचार्यको, शारीरिक कान्तिसे चन्द्रमाको, तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध यश द्वारा देवराज इन्द्रको, तेज और प्रताप द्वारा दिननाथ सूर्यको, गम्भीरता और सहनशीलता-

---

१. म युक्ते ।

यस्याज्ञया स्वपथमुत्क्रमितुं न शेकुर्वर्णाश्रमा जनपदे सकले पुरे वा ।
पाषण्डिनः स्वसमयोपविनीतमार्गाः सोऽतीव बालबुधवृद्धतमान्बभार ॥ ५१ ॥
यस्याहितं प्रकुरुते मनसापि कश्चित् किंचित्क्वचित्पुरुषमर्थमनर्थकं[1] वा ।
क्षुत्क्षीणभुग्ननयनोदरवक्त्रदण्डः स्थातुं हि तस्य विषये न शशाक मर्त्यः ॥ ५२ ॥
युद्धेषु भिन्नकटवारणगण्डलेखासंप्रस्रुतैः शमितधूलिषु दानतोयैः ।
वाक्येषु बृंहितमदान्प्रतियोद्धुकामान् यः सद्य एव हि रिपून्विमदोचकार ॥ ५३ ॥
चेतांसि बद्धदृढवैरवतां नराणामभ्यन्तरप्रकृतिकस्य जनस्य वापि ।
स्वाभाविकैर्विनयजैश्चरितैरुदारैर्योऽरञ्जयद् भृशमथ स्वगुणैर्नरेन्द्रः ॥ ५४ ॥

से समुद्रको और न्यायानुसार शासन करनेकी शक्ति द्वारा विश्व व्यवस्थापक यमराजको भी पछाड़ दिया था ॥ ५० ॥

यह उसके प्रचण्ड शासनका ही प्रताप था कि लोग राजधानी या राज्यके किसी कोनेमें भी चारों वर्णों (जीविकाके) और चारों आश्रमों (संघों) की मर्यादाओंको लाँघनेका साहस न करते थे । सबही सम्प्रदायोंके अनुयायी अपने शास्त्रोंके अनुसार आचरण करते थे । इस प्रकार वह बालकों या बूढ़ों, अज्ञ या प्रकाण्ड पण्डितों आदि सबसे ही अपने-अपने कर्त्तव्योंका पालन तत्परतासे करता था ॥ ५१ ॥

यदि कोई पुरुष केवल मनमें ही उसका बुरा करनेका विचार डाला था, या कहीं कोई विरुद्ध बात या काम करता था, तो चाहे उससे राजाका बुरा हो या न हो, तो भी वह उसके राज्यमें एक क्षण भी ठहरनेका साहस न करता था । वह इतना भयभीत हो जाता था कि अपनेको जंगलोंमें छिपाता फिरता था जहाँपर भूख प्यासकी वेदनासे उसका पेट, गाल और आँखें धँस जाती थी तथा दुर्बलता और श्रान्तिसे उसका पृष्ठ दण्ड झुक जाता था ॥ ५२ ॥

इसके युद्धोंमें पैदल सैनिक, और घोड़ोंकी टापोंकी मारसे जो धूलके बादल छा जाते थे, वे मदोन्मत हाथियोंके उन्नत गण्डस्थलोंसे लगातार बहती हुई दान (मदजल) की धाराओंसे बैठ जाते थे , ऐसे भीषण युद्धोंमें शत्रुकी तरफसे लड़ते हुये अभिमानी योद्धाओंको और शास्त्रार्थोंमें अपनी पण्डिताईके मदमें चकनाचूर प्रतिवादी विद्वानोंको (अर्थदानी) वह एकदम ही मसल देता था ॥ ५३ ॥

अपनी स्वाभाविक विनम्रतासे उत्पन्न उदार आचरणों तथा महान गुणोंके द्वारा वह उन लोगोंके भी मन्त्रमुग्ध कर लेता था, जिन्होंने उसके विरुद्ध वैरकी दृढ़ गाँठ बाँध ली थी, या जिनकी रुचि बाह्य संसारसे ऊबकर अन्तर्मुखी हो गयी थी फलतः जो सदा ज्ञान ध्यानमें ही लगे रहते थे और राग-द्वेष आदि मोहजन्य भावोंसे पर थे ॥ ५४ ॥

---

१. [°परुष°] ।

तारा॑धिपः कुमुदषण्ड[1]विकासदक्षैः शीतैः करैर्नभसि संविबभौ यथैव ।
नित्यं प्रियाकुमुदषण्डवचोमयूखैर्मह्यां तथैव वसुधाधिपपूर्णचन्द्रः ॥ ५५ ॥
आफुल्लचारुविमलाम्बुरुहाननस्य आजानुलम्बपरिपीनभुजद्वयस्य ।
श्रीवक्षसः खलु मृगेन्द्रपराक्रमस्य स्वान्तःपुरं पुरपतेस्त्रिशतोबभूव ॥ ५६ ।
युक्ताधिरोहपरिणा[2]हसमन्विताङ्ग्यो हंसीस्वनाः सुगमनग्रहणस्वभावाः ।
लज्जावपूर्विनयविभ्रमचारुवेषास्तुल्यावलोकननिरन्तरसौहृदाश्च ॥ ५७ ॥
फुल्लारविन्दवदना वरचारुनेत्राः फुल्लारविन्दकुसुमोरुशुचित्वगन्धाः ।
फुल्लारविन्दवरकान्तिगुणावदाताः फुल्लारविन्दवरकोमलपाणिपादाः ॥ ५८ ॥

शीतल-शीतल किरणों द्वारा कुमुदकी कलियोंको विकसित करनेमें प्रवीण ताराओंका अधिपति चन्द्रमा जैसा आकाशमें सुशोभित होता है उसी प्रकार अपनी पत्नियोंके मुखरूपी कमल कलियोंको मधुर वचनरूपी किरणोंसे प्रफुल्लित करता हुआ यह राजा पृथ्वीपर उदित दूसरा चन्द्रमा ही प्रतीत होता था ॥ ५५ ॥

उसका मुख पूर्ण विकसित सुन्दर और स्वच्छ लाल कमलके समान लालिमा और लावण्यसे पूर्ण था। उसकी खूब पुष्ट और गठी हुई दोनों भुजाएँ घुटनों तक लम्बी थीं। वक्षस्थलमें लक्ष्मीके निवास का चिह्न था और मृगोंके राजा सिंहके समान उसका प्रचण्ड पराक्रम था। उत्तमपुरके राजा महाराज धर्मसेनके अन्तःपुरमें केवल तीन सौ रानियाँ थीं ॥ ५६ ॥

अन्तःपुर

इन सबही रानियोंके शरीरकी ऊँचाई तथा परिणाह (चौड़ाई या घेरा) अनुपातिक थे अर्थात् समचतुरस्र संस्थान था, बोली हंसीके समान मधुर, स्पष्ट और धीमी थी। स्वभावसे ही उन सबकी गति सुन्दर और मन्थर थी। स्त्रियोचित लज्जाकी तो वे मूर्तियाँ थीं। विनम्रता और कुलीनता तो उनके रोम-रोममें समायी थी। वेशभूषा सुन्दर और शिष्ट थी और पतिकी प्रेम-दृष्टि और अनुग्रह सबपर एकसे होने कारण उनका पारस्परिक सखीभाव भी गाढ़ था ॥ ५७ ॥

उन सबके खिले हुये मुख और बड़ी-बड़ी मनोहर आँखें कमलोंके समान आल्हादजनक थीं। उनके श्वास और शरीर-की गन्ध तुरन्त खिले कमलोंसे निकलती सुगन्धित वायुके समान परम पवित्र और उन्मादक थी। उनके दोषरहित शील, आदि श्रेष्ठगुण प्रातःकालके खिले हुये श्वेतकमलके समान निर्मल थे। उनके हाथ पैर भी विकसित लाल कमलों के समान कोमल और मनमोहक थे ॥ ५८ ॥

---

१. म कुमुदखण्ड। २. क °परिणाम°।

सर्वाः स्त्रियः प्रथमयौवनगर्ववन्त्यः सर्वाः स्वमातृपितृगोत्रविशुद्धवन्त्यः ।
सर्वाः कलागुणविधानविशेषदक्षाः सर्वा यथेष्टमुपभोगपरीप्सयिन्यः ॥ ५९ ॥
चातुर्यहावगतिविभ्रमसत्क्रियाभो रूपेण ता द्युतिमतातिमनोहरेण ।
सत्यन्तरे समनुकूलतयानुभूय राज्ञो मनस्यधिगता वनितास्तदासन् ॥ ६० ॥
हासेन वा मधुमदेन सगर्वितेन रागेण वाथ कलुषीकृतचेतसा वा ।
अन्योन्यमर्मपरिहासकथाभिरामा राज्ञः स्त्रियस्त्विति कथा न बभूव लोके ॥ ६१ ॥
धर्मप्रियस्य रतिनीतिविशारदस्य सामान्यदृष्ट्यभिनिवि [ष्ट] तायात् ?
नात्युद्धताः सममुखाः[२] पतिवत्सलाश्च शीलानुरक्तहृदया वनिता विनीताः ॥ ६२ ॥
तासु क्षितीन्द्रहृदयप्रियकारिणीषु माधुर्यकान्तिललितप्रतिभान्वितासु ।
रेजे भृशं गुणवती क्षितिपाङ्गनासु तारागणेषु विमलेष्विव चन्द्रलेखा ॥ ६३ ॥

उन सबके ही माताओं और पिताओंके वंश परम शुद्ध व सदाचारी थे। एक भी रानी ऐसी न थी, जिसने ललित कलाओं, श्रेष्ठ गुणों और विशेष विधानोंमें असाधारण पटुता प्राप्त न की हो। सबकी सब यौवनके प्रथम उभारसे मदमाती हो रही थीं। फलतः सबकी सब मनभर प्रेमका उपभोग करनेके लिये लालायित थीं ॥ ५९ ॥

यद्यपि उनकी चतुराई, चाल, हावभाव, आचरण, शृंगार, आदर सत्कार और अत्यन्त कान्तिमान मनमोहक सौन्दर्यमें भेद था, तो भी उन सबकी सब रानियोंने अपनी स्वाभाविक विनम्रता और आज्ञाकारिताके द्वारा राजाके मनपर पूर्ण अधिकार कर लिया था ॥ ६० ॥

इन रानियोंने हँसी-हँसीमें या मदिराके नशेमें, या अहंकारके आवेगमें, या किसीकी प्रीतिके कारण अथवा किसीसे कोई मनोमालिन्य करके मनोविनोदके लिए किसी सखीकी गुप्त बात प्रकट की है या किसीसे दिल दुखानेवाली बात की है, ऐसी चर्चा भी कभी लोगोंके मुखसे न सुनी गयी थी ॥ ६१ ॥

ये सब ही रानियाँ पतिको प्यारी थीं और स्वयं भी पतिसे गाढ़ प्रेम करती थीं। एकका भी व्यवहार बद्धत न होता था। सबकी सब एकसी सुखी थीं। इनका हृदय शीघ्रव्रतके रंगसे रंगा था ओर सब ही अत्यन्त विनम्र थीं क्योंकि परम धार्मिक तथा सुरत कला और राजनीतिके पंडित महाराज धर्मसेन बिना भेदभावके सबको एक ही दृष्टिसे देखते थे ॥ ६२ ॥

ये सब ही रानियाँ स्वभावकी मधुर थीं। शरीरमें कान्ति ओर लावण्य फटे पड़ते थे और बुद्धि प्रतिभा सम्पन्न थी।

१. [कामैकभारपति°]। २. [सममुखाः]।

शुद्धान्वया रुचिरभूषणभूषिताङ्गी कामेकभारवतिकर्कशजातरागा (?)।
स्निग्धा हिता शुचिमती मितवाक्सुदक्षा भूमीश्वरस्य हृदयं स्वगुणैर्बबन्ध ॥ ६४ ॥
या धर्मसेननयनामृतरूपशोभा तस्मै वचःश्रवणपथ्यहितानुवाक्या।
तद्गात्रचित्तरतिकारणवेषचेष्टा तेनाभवत्सुरतनाटकनायिका सा ॥ ६५ ॥
तस्यास्तदाङ्गममलेन्दु[1]निभाननायाः पीनोन्नतस्तनतटार्पितचन्दनायाः।
आश्लिष्य कामशरताडनविह्वलायाः प्रीतिं परामुपजगाम पतिर्धरायाः ॥ ६६ ॥
सा चापि तस्य वदनं नयनातिकान्तमाकृष्य सीधुरसिना वदनाम्बुजेन।
भूयश्चुचुम्ब मदनातुरमन्दचेष्टापूर्वं प्रियव्रणितपाटलविभ्रमोष्ठी ॥ ६७ ॥

ये वही काम करती थीं जिसे राजा मन ही मन चाहता था ॥ ६३ ॥

महारानी गुणवती

उक्त प्रकारसे समानता होनेपर भी इन सब रानियोंमें गुणवती रानी वैसी ही चमकती थी जैसे निर्मल ताराओंके बीच चन्द्रलेखा अपनी कान्ति और सरलताके कारण विशेष शोभित होती है ॥ ६३ ॥

इसका पितृ-मातृकुल परमशुद्ध था, स्वभाव स्नेहमय था और सबका भला चाहती थी। शरीर और मन परम पवित्र थे। परिमित बोलती थी और हर एक कार्य करनेमें अत्यधिक कुशल थी। थोड़ेसे उपयुक्त और सुन्दर भूषण पहिन लेनेपर इसका सौन्दर्य चमक उठता था। कामदेवका सारा भार मानों उसीपर आ पड़ा था इसीलिए उसे अपने पतिसे प्रगाढ़ प्रेम था ॥ ६४ ॥

उसका रूपभार महाराजा धर्मसेनकी आँखोंको अमृत था। बार-बार पूंछनेपर कभी-कभी बोलनेवाली रानीकी हित-मित वाणी राजाके कानोंके लिए पथ्यसा मालूम देती थी। उसकी वेशभूषा और हावभाव राजाके मनको विकल और शरीरको कामातुर करनेमें समर्थ होते थे इसीलिए वह सुरतरूपी नाटककी प्रधान अभिनेत्री बन सकी थी ॥ ६५ ॥

उसका मुख पूर्णिमाके निष्कलंक चन्द्रमाके समान मनमोहक और रति-उत्तेजक था। पूर्ण विकसित उन्नत स्तनोंपर चन्दन लेप लगानेपर उसका शरीर बड़ा उद्दीपक हो जाता था। कामदेवके इन बाणोंकी मारसे विह्वल होकर राजा उसके शरीरका आलिंगन करता था। और इस तरह प्रीति समुद्रमें डूबता और तैरता था ॥ ६६ ॥

उसके लाल-लाल ओठ पतिके चुम्बनोंसे क्षत विक्षत हो जाते थे तथा कामके आवेशमें आ जानेके कारण शारीरिक चेष्टाएँ मन्थर हो जाती थीं तो भी वह आँखोंको अत्यन्त प्यारा राजाका मुख अपनी तरफ खींचकर मदिराकी गन्धयुक्त अपने मुख कमलसे बार-बार चूमती थी ॥ ६७ ॥

---

१. म °मनलेन्दु°।

ताभ्यां यथेष्टमभिसंहितमन्मथाभ्यां तुल्यानुरागरतिवर्धनसत्क्रियाभ्याम् ।
अन्योन्यचित्तपरिपोषणतत्पराभ्यां प्राप्तं नृजन्मचिरजीवितयोः फलं तत् ॥ ६८ ॥

अनुपरतमृदङ्गमन्द्रनादे मणिकिरणैरवभासितान्धकारे ।
षड्ऋतुसुखगृहे विशालकीर्तिर्वरवनिताभिररंस्त राजसिंहः ॥ ६९ ॥

इति नगरनरेन्द्र [-] भार्याः प्रथमतरं कथिताः कथाप्रबन्धात् ।
श्रुतिपथसुखदं निगद्यमानं तत उपरि प्रकृतं निशामयध्वम् ॥ ७० ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
जनपदनगरनृपतिनृपपत्नीवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।

उन दोनोंने मनुष्य जीवन और लम्बी आयुका वास्तविक फल प्राप्त कर लिया था; क्योंकि उन्होंने मनभरके कामदेव-की आराधना की थी। उनकी प्रत्येक आदर सत्कारमय चेष्टा दोनोंके प्रेम और रिरंसाको बराबरीसे बढ़ाते थे, और दोनोंके दोनों एक दूसरेके मनको संतुष्ट करने और बढ़ानेके लिए सर्वदा कमर कसे रहते थे ॥ ६८ ॥

विश्वविख्यात यशस्वी महाराज धर्मसेन अपनी परम कुलीन रानीके साथ उस विशाल राजभवनमें रमण करता था, जिसमें छहों ऋतुओंके सुख मौजूद थे, जगमगाते मणियोंकी किरणोंसे रात्रिका अन्धकार हटाया जाता था और जिसके गोपुर पर बजते हुये मृदंगोंकी गम्भीर ध्वनि कभी बन्द न ही होती थी ॥ ६९ ॥

इत प्रकार कथाके क्रमके अनुसार सबसे पहिले देश, राजधानी, राजा और पट्टरानीका वर्णन किया है जो कहने सुननेपर कानोंको सुख देता है। इसके उपरान्त आप लोग वास्तविक कथाको सुनें ॥ ७० ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
जनपद नगर-नृपति-नृपपत्नी वर्णन नामका प्रथम अध्याय समाप्त ।

द्वितीयः सर्गः

धर्मेण संप्राप्तमनोरथस्य श्रीधर्मसेनस्य नरेश्वरस्य ।
प्रियाङ्गनायां स वराङ्गनामा जज्ञे कुमारो गुणपूर्वदेव्याम् ॥ १ ॥
यस्मिन्प्रसूतेऽभिननन्द राष्ट्रं पितुश्च मातुर्ववृधे प्रहर्षः ।
भयं रिपूणामभवत्तदैव दुद्राव शोकः स्वजनस्य तस्य ॥ २ ॥
अन्योन्यहस्तैः प्रतिनीयमानो बालेन्दुवद् वृद्धिमुपाजगाम ।
कलाप्रलापं[1] वदनारविन्दं संप्रेक्ष्य भूपो न ततर्प लोकः ॥ ३ ॥
अनेकसल्लक्षणलक्षिताङ्गः प्रतापकान्तिद्युतिवीर्ययुक्तः ।
विद्वत्सहायो मतिमान् दयालुः प्रजाहितार्थाय कृतप्रयासः ॥ ४ ॥

द्वितीय सर्ग

कुमार वराङ्ग

प्रजापालक महाराज धर्मसेनके सब ही मनोरथ धर्मके प्रतापसे अपने ही आप पूरे हो जाते थे इसीलिए उनकी प्राण-प्यारी श्रेष्ठ रानी [जिसके नाममें देवी शब्दके पहिले गुण शब्द लगा था अर्थात् गुणदेवी] गुणवतीके वराङ्ग नामका राजपुत्र पैदा हुआ था ॥ १ ॥

कुमार वराङ्गके जन्म लेते ही माता-पिताके आल्हाद समुद्रने अपनी मर्यादाको छोड़ दिया था। कुटुम्बी और सगे सम्बन्धियोंका शोक उन्हें छोड़कर 'नौ दो ग्यारह' हो गया था। सारा राष्ट्र आनन्द विभोर हो उठा था और शत्रुओंको उससे अपनी पराजयका भय भी उसी क्षणसे होने लगा था ॥ २ ॥

कुटुम्बियों और परिचारकोंमें सदा ही एकसे दूसरेकी गोदमें जाता हुआ शिशु बालचन्द्रके समान दिन दूना और रात चौगुना बढ़ रहा था। जब वह तुतला, तुतलाकर मधुर अस्पष्ट शब्द बोलता था तब कमलके समान निर्मल, सुन्दर और कोमल मुखको देखते, देखते न राजा ही अघाता था और न प्रजाजन ॥ ३ ॥

उसके शरीरपर अनेक शुभ लक्षण स्पष्ट दिखायी देते थे। शैशव अवस्थामें ही उसके शरीरसे प्रताप, कान्ति, लावण्य और बल टपकते थे। उसकी बुद्धि प्रखर थी। शैशवकालसे ही विद्वानों की सहायता करता था। उसका अन्तःकरण दयासे ओतप्रोत था और प्रजाके कल्याणके लिए प्रयत्न करता था ॥ ४ ॥

१. [कलप्रलापं]।

देवेषु पूजां गुरुषु प्रणामं पराक्रमं शत्रुषु सत्सु मैत्रीम् ।
पात्रेषु दानं च दयां प्रजासु विद्यासु रागं सततं चकार ॥ ५ ॥
शब्दार्थगन्धर्वकलालिपिज्ञो हस्त्यश्वशास्त्राभ्यसनप्रसक्तः ।
व्यपेतमायामदमानलोभस्तत्याज सप्त व्यसनानि धीमान् ॥ ६ ॥
कदाचिदभ्यस्य गजाश्वशास्त्रमृद्ध्या महत्या नगरीं प्रविश्य ।
प्रणम्य भक्त्या पितरौ यथावत्तस्थौ पुरस्ताद्विनयानताङ्गः ॥ ७ ॥
समीक्ष्य तौ पुत्रगुणानुदारान् रूपं वपुस्तन्नवयौवनं च ।
काचिद्भुवेदस्य[1] समानरूपा वपुष्मतीति स्मरतः स्म सद्यः ॥ ८ ॥

किशोर अवस्थासे ही वह सदा ही सच्चे देवोंकी पूजा व गुरुओंकी मन, वचन और कायसे विनय करता था। उसके पराक्रमका प्रदर्शन शत्रुओंपर ही होता था। सज्जनमात्रके साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करता था। विपदग्रस्त उपयुक्त सत्पात्रोंको दान देता था, प्रजामात्रपर कारुण्य-भाव रखता था और विद्याओंपर उसका सच्चा अनुराग था ॥ ५ ॥

लेख, व्याकरण, काव्य, संगीत, आदि सब ही कलाओंमें पारंगत था। दिन रात, हाथी घोड़ेकी सवारी और शस्त्र विद्याके अभ्यास करनेमें तल्लीन रहता था। छल, कपट, प्रमाद, अहंकार, लोभ आदि दुर्गुण तो उसके पाससे भी न निकले थे इसके सिवा उसने बुद्धिपूर्वक, जुआ, आखेट, वेश्यागमन, आदि सातों व्यसनोंको भी छोड़ दिया था ॥ ६ ॥

किसी एक दिन राजकुमार वराङ्गने गज-अश्व आरोहण और शस्त्रचालनका अभ्यास करके बड़े भारी ठाट बाटके साथ राजधानीमें प्रवेश किया। इसके बाद राजमहलमें पहुँचकर भक्तिभावसे माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया और विनम्रतासे झुककर अपनी मर्यादाके अनुसार उनके सामने बैठ गया ॥ ७ ॥

राजकुमारकी विवाह वार्ता

राजपुत्रके उदार गुणोंका विचार करके तथा उसके सुन्दर शरीर और उसपर भी यौवनके प्रथम उन्मेषको देखकर एकाएक उसी क्षण उन दोनोंके मनमें यही ध्यान हो आया "क्या कोई राजकुमारी इसीके समान रूपवती तथा शरीरसे स्वस्थ होगी ॥ ८ ॥

---

१. म काचिद्भवेदप्यसमान°।

तस्मिन्स्वकाले[1] स्वयमेव कश्चिच्छ्रेष्ठी पुरस्यास्य कुमारभक्त्या ।
अतर्कितोपस्थितजातरागः समाहितात्मेत्थमुवाच वाचम् ॥ ९ ॥

कुलेन शीलेन पराक्रमेण ज्ञानेन धर्मेण नयेन चापि ।
समृद्धपुर्याः पतिरुत्तमश्रीर्भवत्समानो धृतिषेणराजा[2] ॥ १० ॥

अतुल्यनामा (?) किल तस्य भार्या विशालवंशा वरधर्ममूर्तिः ।
तयोः सुता कीर्तिगुणोपपन्ना बभूव नाम्नानुपमा विनीता ॥ ११ ॥

विभूषणानामतिभूषणेन विरूपतामानवयौवनेन[3] ।
किमत्र तद्वर्णनयातिमात्रं सा देवकन्या स्वयमागतैव ॥ १२ ॥

श्रुत्वा वचस्तस्य वणिक्तमस्य सोऽत्यर्थमर्थानुगतं मनोज्ञम् ।
तं पूजयित्वा विधिवत्ततस्तां स्वां मन्त्रशालां पुनराविवेश ॥ १३ ॥

जिस समय राजा रानी उक्त विचारमें मग्न थे उसी समय नगरका कोई सेठ जिसके आनेकी कल्पना भी न की जा सकती थी, मानो राजकुमारकी भक्तिसे ही प्रेरित होकर राजमहलमें जा पहुँचा। राजकुमारको देखते ही उसका स्नेह उमड़ पड़ा था तो भी उसने अपने आपको सम्हालकर निम्न प्रकारसे कहना प्रारम्भ किया था ॥ ९ ॥

कुमारी अनुपमा

'हे महाराज समृद्धपुरीके एकछत्र राजा धृतिसेन अपरिमित विभव और सम्पत्तिके अधिपति हैं। इसके अतिरिक्त जहाँतक कुलीनता, स्वभाव और संयम, तेज और पराक्रम, विद्या और बुद्धि, धर्म, कर्तव्यपालन, न्याय और नीतिका सम्बन्ध है, वे हर प्रकारसे आपके ही समान हैं ॥ १० ॥

महाराज धृतिसेनकी अतुला नामकी पट्टरानी है जो निर्दोष धर्माचरणकी सजीव मूर्ति है, उनका मातृ-पितृकुल भी एक विशाल और विख्यात राजवंश है। इन दोनोंके अनुपमा नामकी राजपुत्री है जो कान्ति, कीर्ति, दया आदि सद्गुणोंका भण्डार होते हुए भी अत्यन्त विनम्र और शिष्ट है ॥ ११ ॥

हे महाराज ? उस राजकुमारीके शरीर, सौन्दर्य और सद्गुणोंका अलग अलग विस्तारपूर्वक वर्णन करनेसे क्या लाभ ? बस संक्षेपमें यही समझिये कि आभूषणोंके भी उत्तम आभूषण नवयौवनके प्रथम उभारने उसकी गुण-रूप लक्ष्मीको इतना अधिक बढ़ा दिया है कि उसे देखते ही ऐसा लगता है मानों साक्षात् देवकन्या ही इस पृथ्वीपर उतर आयी है ॥ १२ ॥

सेठोंके प्रधानके अत्यन्त अर्थपूर्ण, गम्भीर और मनोहर वचन सुनकर राजाने उसकी मर्यादाके अनुकूल सेठका स्वागत सत्कार किया। सेठको प्रेमपूर्वक विदा करके वह अपनी प्रसिद्ध मन्त्रशालामें चला गया ॥ १३ ॥

१. [तस्मिंश्च काले]। २. [धृतिषेणराजः]। ३. [विरूपताया नव°]।

ते मन्त्रिमुख्या विदितार्थतत्त्वा अनन्तचित्राजितदेवसाह्वाः ।
आहूतमात्रा वसुधेश्वरेण यथाविधस्थानमुपोपविष्टाः ॥ १४ ॥
सत्कृत्य तान्स्मेरमुखः स राजा प्रोवाच वाचं मधुरार्थगर्भाम् ।
आपूर्यते यौवनमात्मसूनोः कृष्णेतरे पक्ष इवेन्दुबिम्बम् ॥ १५ ॥
व्यायामविद्यासु कृतप्रयोगो नीतौ[2] कृतो[3] सर्वकलाविधिज्ञः ।
वृद्धोपसेवाभिरतिर्हितात्मा सुबुद्धिमान् पौरुषवान्कुमारः ॥ १६ ॥
संभाव्यरूपः स्वगुणैर्महीनः पुष्पैः फलानामिव जन्मवेत्ता ।
रूपश्रियानङ्ग इव द्वितीयस्तदस्य चिन्त्यं खलु दारकर्म ॥ १७ ॥

मंत्रशाला प्रयाण

राजनीति, अर्थशास्त्र तथा अन्य शास्त्रोंके प्रकाण्ड पण्डित प्रधानमन्त्री लोग जिनके क्रमशः अनन्तसेन, चित्रसेन, अजितसेन और देवसेन नाम थे, महाराजके द्वारा बुलाये जाते ही मन्त्रशालामें आ पहुँचे और अपने अपने पदके अनुसार यथा-स्थान जा बैठे ॥ १४ ॥

उनके अभिवादनको स्वीकार करनेके पश्चात् मुस्कराते हुए राजाने उनका यथायोग्य कुशल समाचार आदि पूछकर स्वागत किया। इसके बाद विचारणीय विषयकी महत्ताके कारण उसने गम्भीर और मधुर वाणीको निम्नप्रकारसे कहना प्रारम्भ किया—

मंत्रणा

हे मन्त्रिवर! अपने राजकुमारका यौवन (कृष्णके उल्टे पक्ष) शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान पूर्णताको प्राप्त हो रहा है ॥ १५ ॥

साथ ही साथ आपके राजकुमारने सब विद्याओं और व्यायामोंको केवल पढ़ा ही नहीं है अपितु उनका आचरण करके प्रायोगिक अनुभव भी प्राप्त किया है, नीतिशास्त्रका कोई भी अंग ऐसा नहीं जिसका कुमारको अध्ययन करना हो। समस्त ललित कलाओं और विधि-विधानोंमें पारंगत हैं। गुरुजनों और वृद्धजनोंकी सेवाका बड़ा चाव है। संसार कल्याणकी भावनाका तो उन्हें प्रतिमूर्ति समझिये। वह कितना बुद्धिमान् पुरुषार्थी है यह आप लोग मुझसे ज्यादा जानते हैं ॥ १६ ॥

उसका रूप देखते ही बनता है। उसके साहस, वीरता, सेवापरायणता, सहानुभूति, आदि सद्गुण तो ऐसे हैं कि उसे सारी पृथ्वीका एक-छत्र राजा होना चाहिये। भविष्यको ऐसा सटीक आँकता है जैसे कोई फूलोंको देखकर फलोंका अनुमान

१. म अनन्तचित्राजित° [धीवराह्वाः]। २. म गीतौ। ३. म कृतिः।

श्रुत्वा वचस्तस्य नराधिपस्य ते मन्त्रिणो राजसुतानुरक्ताः ।
प्रीत्या नरेन्द्रं प्रशशंसुरुच्चैः[1] समञ्जसं साधु वचस्तवेति ॥ १८ ॥
तेषां पुरस्तात्स्वमनोगतार्थं राज्ञे तदा व्याहृतवाननन्तः ।
अन्या न तुल्याभिजनानुरूपां तां देवसेन्यां[2] प्रविहाय कन्याम् ॥ १९ ॥
वैवाहिको नः कुलसंततिः सा स्थिरा च मैत्री ननु मातुलत्वात् ।
तस्मादहं योग्यतया तयाशु सुनन्दयेच्छामि विवाहकर्म ॥ २० ॥
श्रुत्वा ततोऽनन्तवचोऽजितस्तु जगाद वाक्यं पुनरन्यदेव ।
यत्प्रोक्तमेतेन वचस्तदस्मान्न प्रीणयत्येवमयुक्तिमत्त्वात् ॥ २१ ॥

करता है। अंग अंगसे फूटते हुये, सौन्दर्यको विचारनेपर तो वह दूसरा कामदेव ही मालूम देता है। अतएव अब हमें उसके विवाहकी चिन्ता करनी चाहिये ॥ १७ ॥

मंत्रीसम्मति-अनन्तसेन

मंत्री लोग राजपुत्रसे स्वयं भी पिताके समान स्नेह और आदरपूर्ण व्यवहार करते थे अतएव राजाके उक्त प्रस्तावको सुनकर उन्होंने प्रेम और भक्तिपूर्वक उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—'हे महाराज ? आपका कथन सब दृष्टियोंसे उचित और सर्वसाधारणका कल्याणकारी है ॥ १८ ॥

इसके बाद मंत्रियोंने अलग-अलग अपनी सम्मति दी थी। अतः क्रमानुसार सबसे पहिले अनन्तसेन महामात्यने कुमार वराङ्गके विवाहके विषयमें अपने मनोभाव निम्न प्रकारसे प्रकट किये थे—हे महाराज ? स्वास्थ्य, सौन्दर्य, शिक्षा, कुलीनता, आदि गुणोंमें, महाराज अनंतसेनकी राजदुलारी सुनन्दाको छोड़कर कौन दूसरी राजकुमारी हमारे कुमारकी योग्य बधू, हो सकती है ॥ १९ ॥

इस प्रकारके सम्बन्ध करना (मामाकी लड़कीसे व्याह करना) हमारे राजवंशकी प्राचीन परम्परा है, साथ ही साथ महाराज देवसेन राजकुमारके मामा हैं फलतः इस वैवाहिक सम्बन्धसे दोनों राजवंशोंकी मित्रता दृढ़तर हो जायगी। इसलिये मैं सुनन्दाके साथ राजकुमारका विवाह शीघ्रसे शीघ्र देखना चाहता हूँ क्योंकि वह हर तरहसे योग्य कन्या है ॥ २० ॥

अजितसेन

महामात्य अनन्तसेनके अभिमतको सुनकर द्वितीयामात्य अजितसेनने दूसरा ही प्रस्ताव उपस्थित किया, उन्होंने कहा—'हे महाराज ? महामात्यने जो प्रस्ताव उपस्थित किया है वह युक्तिसंगत न होनेके कारण मुझे उतना अधिक नहीं जँचता है

१. क द्रशशेकुरुच्चैः। २. [देवसेन्यां]।

जनस्य सर्वस्य हि भर्तृबन्धुः स्वाभाविकं मित्रमकृत्रिमत्वात् ।
यत्कृत्रिमं स्यात्फलवच्च मित्रमुदारमेतत्करणीयमस्य ॥ २२ ॥
वचोऽजितेनाभिहितं निशम्य स चित्रसेनो गिरमित्युवाच ।
को देवसेनादितरः पृथिव्यां नरेश्वरः पक्षबलर्द्धिमान्स्यात् ॥ २३ ॥
असंहितं प्राक्कुलमुत्तमं च संधित्स्यमानं बलिना परेण ।
नोपैति विश्रम्भमुपैति शङ्कां प्रयोजने विक्रियते च भूयः ॥ २४ ॥
न सा सुनन्दा परिणीयते चेत्स्यान्मित्रभेदः स हि दोषमूलः ।
यस्यापचारेण च यान्ति मित्राण्यमित्रतां[1] वै न तु कार्यवित्सः ॥ २५ ॥

जितना कि वे स्वयं उसे समझते है ॥ २१ ॥

अकृत्रिम स्नेही होनेके कारण सबकी ही माताका भाई अर्थात् मामा उनका स्वाभाविक सहायक और हितैषी होता है क्योंकि इन लोगोंके साथ स्वार्थोंका संघर्ष नहीं रहता है। लेकिन जो कृत्रिम (नया सम्बन्ध या उपकार द्वारा बनाया जाता है) मित्र होता है वह बड़ा लाभदायक होता है इसीलिए नीतिशास्त्र विशाल-हृदय कृत्रिम मित्र बनानेकी शिक्षा देता है ॥ २२ ॥

चित्रसेन

द्वितीयामात्य अजितसेनके द्वारा उपस्थित किये गये सुझावको सुन लेनेके बाद तृतीय अमात्य चित्रसेनने निम्न प्रकारसे कहना प्रारम्भ किया। हे महाराज ? मातुलराज महाराज देवसेनके सिवा इस पृथ्वीतलपर कौन ऐसा दूसरा राजा है जिसकी सैन्य, शक्ति और सम्पत्ति उनसे अधिक हो या जिसके सहायक, सहगामी और अनुयायी राजाओंकी संख्या उनके पक्षके राजाओंसे अधिक हो ॥ २३ ॥

किसी सैन्य, अर्थ, सहायबल सम्पन्न राजवंशके पहिलेसे किसी भी प्रकारकी संधि न हुई हो और बादमें यदि वह राजवंश किसी दूसरे महाशक्तिशाली राजवंशके साथ संधि करता है तो तटस्थ या स्वाभाविक मित्र (मातुल, फूफा आदि) राष्ट्रोंको भी उसपर विश्वास नहीं होता है बल्कि उसके ऊपर शंका ही अधिक बढ़ती जाती है। इतना ही नहीं संधि या सम्बन्धके स्वाभाविक प्रयोजनको भी बहुत कुछ विकृतरूप ही दिया जाता है ॥ २४ ॥

अतएव यदि हम सुनन्दाके साथ राजकुमारका विवाह न करेंगे तो इसका परिणाम मित्रभेद अर्थात् स्वाभाविक मित्र राजासे सम्बन्ध विच्छेद होगा (कारण हम जिस किसी राजवंशमें भी कुमारका व्याह करेंगे उसका प्रयोजन केवल व्याह न समझकर, महाराजा देवसेन हमसे खिचकर अपनी राजकुमारीको किसी दूसरे राजवंशमें व्याह देंगे और उसके ही प्रबल समर्थक

१. क अमन्त्रतां ।

तां चित्रसेनाभिहितां विचित्रां वाणीं निशम्योत्तमधीश्चतुर्थः ।
प्रत्यब्रवीन्नीतिमतानुसारी वचोऽर्थसंपत्तिगुरुत्वबुद्ध्या ॥ २६ ॥
अभूतपूर्वोत्तमसौहृदस्य बलीयसस्तुल्यबलेन योगे ।
दोषा यतस्तेन खलूपदिष्टास्ते दूरनष्टा नयमार्गवृत्त्या ॥ २७ ॥
दारेषु मातर्यथ भृत्यवर्गे सुते पितर्यन्यतमे जने वा ।
विश्रम्भयोगो न तु तादृशः स्याद्यादृग्दृढे मित्र उदारबुद्धौ ॥ २८ ॥
मित्रं बलीयः स्वनुरागि पुंसामलभ्यमन्यत्र हि दैवयोगात् ।
तल्लभ्यते चेद्बलिना समग्रा वसुन्धरा हस्तगतैव तस्य ॥ २९ ॥

हो जायंगे। इस प्रकार एक प्रबल मित्र हाथसे निकल जायेगा) जो कि अचिन्तनीय अनर्थोंका मूलकारण हैं । अतएव जिसकी सम्मतिके अनुसार उल्टा सीधा काम कर डालनेसे मित्र भी शत्रु हो जाय उसे हम कार्य-कौशल नहीं कह सकते ऐसा आप निश्चित समझें ॥ २५ ॥

देवसेन

तृतीय आमात्य चित्रसेनके द्वारा उपस्थित किये गये विचित्र तर्कोंको सुनकर प्रखरबुद्धि और अनुभवी चतुर्थ आमात्य देवसेनने उक्त सबही तर्क वितर्कोंका समाधान करते हुए, राजनीतिके अनुसार अपनी सम्मति दी, जो कि विचारणीय विषयकी महत्ताके सर्वथा अनुकूल थी ॥ २६ ॥

सैन्यबल, अर्थबल और सहायबल सम्पन्न राजा जिसके साथ पहिलेसे किसी भी प्रकार संधि नहीं हुई है—के अपने ही समान प्रबल शक्तिशाली किसी दूसरे राजासे मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लेनेपर, तृतीयामात्य चित्रसेनने जिन-जिन अनर्थोंकी संभावना बतायी है उनपर यदि नीतिशास्त्रके अनुसार गम्भीरतासे विचार किया जाय, तो वे सबके सबही कपोल कल्पित सिद्ध होते हैं ॥ २७ ॥

मित्रशक्ति

नीति कहती है कि इस संसारमें किसी भी व्यक्तिको अपनी माता या पितापर, धर्मपत्नी या औरस पुत्रपर, अत्यन्त घनिष्ठ बन्धु-बान्धव या अनुरक्त आज्ञाकारी सेवकोंपर उतना विश्वास नहीं करना चाहिये जितना कि एक दृढ़ मित्रपर करना चाहिये; यदि वह मित्र विवेकी और विशालहृदय हो तो ॥ २८ ॥

वास्तवमें इस संसारमें किसीको भी ऐसा सच्चा मित्र मिलता ही नहीं है, जो सब तरह शक्तिसम्पन्न होते हुए भी उसे हृदयसे स्नेह और आदर करता हो। पूर्व पुण्यके प्रतापसे किसी सौभाग्यशाली प्रबल व्यक्तिको ऐसा (उक्त प्रकारका) मित्र

विरक्तभृत्यान्यतिदीर्घसूत्राण्यल्पानि मित्राण्यतिदूरगानि ।
संबन्धमात्राभिनिविष्टबुद्धेः कियच्चिरं[1] तस्य नृपस्य राज्यम् ॥ ३० ॥
अष्टाविमे भूपतयः प्रधाना धर्मार्थषड्भागभुजः पृथिव्याम् ।
यैर्भ्राजते संनिहितैर्धरित्री द्यौरष्टभिस्तैरिव दिग्गजेन्द्रैः ॥ ३१ ॥
महीमहेन्द्रोऽथ महेन्द्रदत्तो द्विषंतपश्चापि यथार्थनामा ।
सनत्कुमारो मकरध्वजोऽपि समुद्रगुप्तो विनयंधरश्च[3] ॥ ३२ ॥
वज्रायुधश्चक्रभृता समानः पराक्रमैश्वर्यवपुर्गुणेन ।
मित्रंसहश्चापि हि देवसेनार्त्कि वाधिकास्ते न भवेयुरीशाः ॥ ३३ ॥

हाथ लग जाय, तो समझिये कि सारी पृथ्वी उसके हाथ लग गयी है ॥ २९ ॥

यदि किसी राजाके अनुगामी और सेवक उससे संतुष्ट नहीं फलतः हर एक कामको धीरे-धीरे अन्यमनस्क होकर करते हैं। यदि उसके मित्र राजाओंकी संख्या बहुत थोड़ी है और जो हैं, वे भी इधर-उधर बिखरे (बहुत दूर) देशोंमें हैं। और वह राजा स्वयं भी यदि हर समय अपने सम्बन्धियोंके सहारे रहता है तो आपही बताइये उसका राज कितने दिन तक टिकेगा ॥ ३० ॥

आदर्श नृप

आगे कहे गये आठ राजा ही इस पृथ्वीके राजाओंमें प्रधान हैं क्योंकि वे आगमके अनुकूल नीतिसे अपनी प्रजाओंका पालन करके उनके धर्म और अर्थ पुरुषार्थके षष्ठांशको ग्रहण करते हैं। सब सम्पत्तियोंका भण्डार होनेपर भी यह पृथ्वी इसीलिये सुशोभित है कि इसपर उन राजसिंहोंकी चरण रज पड़ती है, जैसे कि आकाश विश्वविख्यात आठ दिग्गजोंकी उपस्थितिके ही कारण धन्य है ॥ ३१ ॥

ऊपर निर्दिष्ट आठ प्रसिद्ध राजाओंमें महाराज महेन्द्रदत्तका नाम सबसे पहिले आता है क्योंकि वे इस पृथ्वीपर बिराजमान इन्द्र ही हैं, दूसरे महाराज द्विषंतप तो 'यथा नाम तथा गुणः' हैं क्योंकि उन्होंने अपने शत्रुओंको पराजित करके नष्ट ही कर दिया है, इसके बाद महाराज सनत्कुमार, मकरध्वज, समुद्रगुप्त और विनयंधरके नाम आते हैं ॥ ३२ ॥

इनके बाद महाराज वज्रायुधका स्थान है जो अपने पराक्रम, प्रभुत्व, विभव, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सदाचार, आदि गुणोंके कारण चक्रवर्तीके समान हैं, अन्तमें महाराज मित्रंसह हैं जो अपने बन्धुबान्धवोंके ही उत्कर्षको सह सकते हैं। हे महाराज ? आप ही बताइये कि ये सब प्रचण्ड पृथ्वीपति क्या महाराज देवसेनसे बढ़कर न होंगे ॥ ३३ ॥

---

१. म कियच्चरं । २. म धर्मार्थि° । ३. म विनयंधरश्च ।

वचांसि तेषां स निशम्य राजा स्वतर्काताक्रान्तविजृम्भितानि ।
प्रशस्य तान् राज्यधुरंधरांश्च वैदेहकोक्तं पुनराचचक्षे ॥ ३४ ॥
ते चापि राज्ञां समुदीरितार्थां गिरं निशम्यानुमतिं प्रकृत्य[1] ।
विवाहतन्त्राविकृतान्सलेखान्प्रत्येकशो दूतवरान्ससर्ज (?) ॥ ३५ ॥
तेषामथैको गुणवांस्तु दूतः पतिं समासाद्य समृद्धपुर्याः ।
प्रदर्श्य लेखं प्रियवाक्यगर्भं व्यजिज्ञपद्वाचिकमर्थयुतम् ॥ ३६ ॥
निशाम्य लेखं च वचो निशम्य मुदाब्रवीत्तच्च तथेति राजा ।
विज्ञाय वागिङ्गितदानमानैः स्वकार्यसिद्धौ मतिमादधे सः । ३७ ॥

नृप अभिमत

अपनी-अपनी तर्कणाशक्तिके अनुसार ऊहापोह करके कहे गये सबही मंत्रियोंके विस्तृत वक्तव्योंको राजाने ध्यानपूर्वक सुना और उन सबकी नीतिज्ञता तथा राज्यभक्तिकी प्रशंसा की क्योंकि वे अपने सबही राजकीय कर्त्तव्यों और दायित्वोंको योग्यतापूर्वक निबाहते थे। और अन्तमें विदेह देशसे लौटे सेठकी बातको भी उन लोगोंसे कहा ॥ ३४ ॥

और अन्तमें विवाह शास्त्रके प्रधान आचार्योंके मतोंको फिरसे मंत्रियोंको समझाया। महाराज धर्मसेनका यह अन्तिम वक्तव्य प्रकृत विषयपर प्रकाश ही नहीं डालता था अपितु उसकी सब ही गुत्थियोंको सुलझा देता था, इसीलिए मंत्रियोंने उसे सावधानीसे सुना और उससे अपनी पूर्ण सहमति प्रकट की थी। फलतः इसके बाद ही पत्रों के साथ अत्यन्त कुशल दूत प्रत्येक दिशामें भेजे गये थे। इन्हें विवाह-सम्बन्ध करने या न करनेके पूर्ण अधिकार प्राप्त थे ॥ ३५ ॥

कन्या अन्वेषण

उक्त प्रकारसे भेजे गये दूतोंमेंसे एक अत्यन्त गुणी और नीतिमान् राजदूत समृद्धिपुरीके महाराज धृतिषेणकी राजसभामें जाकर उपस्थित हुआ। पहुँचते ही उसने अपनी विश्वासपात्रता सिद्ध करनेके लिये महाराज धर्मसेनकी नाममुद्रासे अंकित नियुक्तिपत्र दिखाकर अपनी यात्राके प्रधान प्रयोजनको मौखिकरूपसे ही हित-मित भाषामें राजाके सामने उपस्थित किया ॥३६॥

महाराज धृतिषेणने दूतके द्वारा दिये गये पत्रको सावधानीसे देखा और उसके वचनोंको भी ध्यानपूर्वक सुना। इसके बाद प्रसन्नतापूर्वक बोले 'क्या महाराज धर्मसेनका ऐसा विचार है ?' किन्तु निपुण राजदूतको उनके बात करनेके ढंग, मुख और

१. म प्रकृत्वा।

ततो नृपेणाप्रतिपौरुषेण वचोहरः सामयुतैर्वचोभिः ।
विसर्जितः साधु कृतात्मकृत्यो येनागतस्तेन पथा निवृत्तः ॥ ३८ ॥
दूताः परे तेऽपि च संनिवृत्ताः पतिः स्वमारोपितकार्यभाराः[1] ।
राज्ञे समूचुः स्वमतप्रसिद्धिं[2] प्रमोदपूर्वां गमनप्रतीक्ष्णाम्[3] ॥ ३९ ॥
प्रत्यागतानां स वचोहराणां निशम्य वाणीं च समीक्ष्य लेखम् ।
स्वान्मन्त्रिणो मन्त्रविनिश्चयज्ञान् शशास राजा धृतिषेणपार्श्वम् ॥ ४० ॥
तैः संव्रजद्भिर्बहुबन्धुमित्रैः सहैव याता नरदेवसेना ।
बभौ चतुर्भिर्नृपमन्त्रिमुख्यैः सुरेन्द्रसेनेव च लोकपालैः ॥ ४१ ॥

आँखोंके आकार तथा रंग, अपना स्वागत, सत्कार तथा भेंट आदिसे यह विश्वास हो गया था कि उसका उद्योग सफल हुए बिना रह ही नहीं सकता है ॥ ३७ ॥

इसके उपरान्त अनुपम पराक्रमी महाराज धृतिषेणने आदर और प्रीतिसे मधुर तथा शान्त बातें करके उस राजदूतको भलीभाँति विदा कर दिया। वह भी अपने कर्त्तव्यको योग्यतापूर्वक पूरा करके उत्तमपुरको उसी मार्गसे लौट गया जिससे आया था ॥ ३८ ॥

दूसरे दूत लोग जो कि स्वामीके कार्यको करनेका भार अपने ऊपर लेकर बाहर गये थे वे भी क्रमशः उत्तमपुरको लौटे, और अपने-अपने कार्यमें उन्होंने कहाँतक सफलता प्राप्त की थी यह राजाको विगतवार सुनाया, जिसे सुनकर पहिले तो परम आनन्द होता था और पीछेसे वरयात्राकी प्रेरणा मिलती थी ॥ ३९ ॥

महाराज धर्मसेनने सबही लौटकर आये दूतोंके उत्तर लेखोंको पढ़ा और उससे अधिक ध्यानपूर्वक उनके यात्रा विवरणोंको सुना। अन्तमें अपने मंत्रियोंको, जो कि सब परिस्थितियों को सावधानीसे समझकर प्रत्येक समस्याका उपयुक्त ही निकार करते थे, महाराज धृतिषेणकी राजधानीको जानेकी आज्ञा दी ॥ ४० ॥

मंत्री प्रस्थान

जब मंत्रियोंने प्रस्थान किया तो उनके साथ केवल उनके अनेक मित्र और बन्धु-बान्धव ही नहीं गये थे अपितु महाराज धर्मसेनकी सुविशाल चतुरंग (हाथी, घोड़ा, रथ और पदाति) सेनाने भी प्रयाण किया था। राजाके चारों प्रधान मंत्रियोंके साथ प्रस्थान करती हुई वह सेना लगती थी मानो यम, वरुण, कुबेरादि चारों दिक्पालोंके नेतृत्वमें देवराज इन्द्रकी विजयवाहिनी ही चली जा रही थी ॥ ४१ ॥

---

१. [[पत्या समारोपित°] । २. म स्वमतप्रसिद्धे । ३. [गमनप्रतीक्षाम्] ।

व्यतीत्य देशान्बहुरत्नकोशं पुरं समासाद्य गुणप्रकाशम् ।
विलोकमाना विविशुर्विभूत्या विलोक्यमानास्त्वथ पौरवर्गैः ॥ ४२ ॥
संप्राप्य राजालयमुत्तमर्द्धौ सामन्तसेनानिचितान्तरालम् ।
तद्द्वारपालैरुपनीयमानाः सिंहासनस्थं ददृशुर्नरेन्द्रम्[1] ॥ ४३ ॥
अभ्यागतानाप्ततमान्विलोक्य वाग्दानमानैरभिपूज्य सम्यक् ।
नराधिपः प्रश्नकुतूहलेन पप्रच्छ तान्प्राग्विदितार्थतत्त्वः ॥ ४४ ॥
श्रीधर्मसेनेन यथोपदिष्टाः पृष्टाः पुनस्ते धृतिषेणनाम्ना ।
सामप्रयोगैरुपनीतमर्थं स्वकार्यसिद्ध्यर्थममुं समूचुः ॥ ४५ ॥

अनेक देशोंको पार करती हुई वह सेना अपनी यात्राके अन्तमें उस नगरके निकट पहुँची जो अपनी सम्पत्ति, सुव्यवस्था, आदि विशेषताओंके लिए विख्यात थी और जिसमें रत्नभण्डार और कोशोंकी प्रचुरता थी। अपनी सम्पत्ति और सजावटसे जगमगाती हुई उस सेनाने जब समृद्धिपुरीमें प्रवेश किया तब नगरके सबही स्त्री पुरुष टकटकी लगाये उसकी ओर ताक रहे थे ॥ ४२ ॥

इस प्रकार सेनाके साथ चारों मंत्री उस राजभवनपर पहुँचे, जो अपनी साज-सज्जा और ऋद्धिमें अनुपम था। जिसके विशाल आंगनोंके कोने कोनेमें सामन्त राजाओंकी सेना ठसाठस भरी थी। ऐसे राजभवनके प्रवेश द्वारपर ही उनकी अगवानी हुई और द्वारपालके द्वारा भीतर ले जाये जानेपर उन्होंने सिंहासनपर विराजमान महाराज धृतिषेणके दर्शन किये ॥ ४३ ॥

महाराज धर्मसेनके अत्यन्त विश्वस्त और अन्तरंग व्यक्ति महामात्योंको ही अतिथियोंके रूपमें पाकर महाराज धृतिषेणने उनकी मर्यादाके अनुकूल स्वयं ही उनकी 'आइये' कहकर अगवानी की तथा कुशल समाचार पूंछनेसे लेकर अन्य सब ही स्वागत सत्कार करके उनका सम्मान किया। यद्यपि उनके इस प्रकार आनेके प्रयोजन (कुमार वराङ्गका विवाह) पहिलेसे ही जानते थे तो भी कुछ न कुछ पूछनेके ही लिए उनसे आगमनका कारण पूछा ॥ ४४ ॥

विवाह प्रस्ताव

समृद्धिपुरीके अधिपति द्वारा उक्त प्रकारसे पूछे जानेपर मंत्रियोंने देखा कि उनका काम साम, दाम, दण्डादि छह उपायोंमेंसे, सामके प्रयोगसे ही अधिक सुन्दरतासे सिद्ध हो सकता है। फलतः उन्होंने महाराज धर्मसेनके उपदेशके अनुसार ही अपनी विवाह वार्ताको सफल करनेके लिये निम्न प्रकारसे महाराज धृतिषेणसे निवेदन किया था ॥ ४५ ॥

१. क नृपेन्द्रम् ।

नृपोत्तमः शान्तरिपुर्जितात्मा वयोऽधिकस्तुल्यतमः कुलेन ।
श्रीधर्मसेनो धृतराजवृत्तः स सादरः कौशलमाचचक्षे ॥ ४६ ॥
तस्यात्मजः कान्ततमः प्रजानामुदारवृत्तः शुचिमान्नयज्ञः ।
जामातृतां प्राप्तुमनाः कुमारो महीपते ते चरणौ ननाम ॥ ४७ ॥
तेषां वचो वाक्यविदां निशम्य समर्थ्य[1] सम्यङ्नृपतिस्तदानीम् ।
संचिन्त्य कन्यावयसस्समाप्तिं तेभ्योऽनुमत्यैवं[2] मवोचदित्थम् ॥ ४८ ॥
कन्यापि तेनैव समानकल्पा कलागुणैश्चापि वयोवपुर्भ्याम् ।
स चापि तस्या यदि युक्तरूपः किमन्यदिष्येत तयोर्नृलोके ॥ ४९ ॥

हे महाराज ? आप जानते ही हैं कि महाराज धर्मसेन राजाओंके मुकुटमणि हैं। उनके शत्रु सदाके लिए शान्त हो गये हैं। उनके आत्मनिग्रहका तो कहना ही क्या है। वे राजाके आचरणको किस खूबीसे पालते हैं इसके अतिरिक्त आपके समान कुलीन होनेपर भी आपसे अवस्थामें बड़े हैं। उन्हींने हम लोगोंके द्वारा आपसे सस्नेह और सादर कुशल क्षेम कहा है ॥ ४८ ॥

महाराज धर्मसेनके पुत्र कुमार वराङ्ग अत्यन्त कान्तिमान हैं। जनताके सुख दुखमें बड़ी उदारतासे व्यवहार करते हैं, उनकी आचार विचार विषयक पवित्रताका तो कहना ही क्या है ? और नीतिशास्त्रके तो वे परम पण्डित ही हैं। उन्होंने भी हे राजन् आपके चरणोंमें प्रणाम भेजा है क्योंकि वे आपके दामाद होनेकी इच्छा करते हैं ॥ ४७ ॥

कन्याके पिताकी स्वीकृति

भाषणशैलीके पंडित उन मंत्रियोंके वचनोंको सुनकर राजा धृतिषेणने उसी समय सब बातोंपर भली भांति विचार किया, तथा अपनी पुत्रीकी कन्या-अवस्थाकी समाप्ति तथा युवतीअवस्थाका प्रारम्भ विचारकर उन्होंने मंत्रियोंसे कहा कि ऐसा ही हो'। और अपनी पुत्रीका परिचय देनेके लिए निम्नप्रकारसे बोले ॥ ४८ ॥

आपकी राजकुमारी भी ललितकला, सद्गुण, रूप, आकार, स्वास्थ्य अवस्था आदि सबही विशेषताओंमें कुमार वराङ्गके ही समान है। और वह भी यदि सब प्रकारसे उसके (सुनन्दाके) उपयुक्त वर है तो फिर इस मनुष्यलोकमें उन दोनोंके लिए इससे अधिक और चाहिये ही क्या है ॥ ४९ ॥

---

१. [संमथ्य]। २. क अनुमित्येवम् ।

इत्येवमुक्त्वा नृपतिः सहर्षो दित्सुः सुतामुत्पलपत्रनेत्राम् ।
पुरोहितामात्यसमान्विबन्धानाह्वाययाह्वार्यविदो[1] बभूव ॥ ५० ॥
समेत्य तैर्मन्त्रितमन्त्रिभिश्च कन्याप्रदानं प्रति निश्चितार्थः ।
यथाधिकाराधिकृतान्स भृत्यान् शशास कल्याणमहोत्सवाय ॥ ५१ ॥
कृत्वा स कल्याणविधिं विधिज्ञो दरिद्रदीनेषु धनं विसृज्य ।
स्वया विभूत्या परया नरेन्द्रः कन्यां पुरस्कृत्य मुदा प्रतस्थे ॥ ५२ ॥
जलप्रभाभिः कृतभूमिभागां प्राचीनदेशोपहितप्रवालाम् ।
सर्वार्जनोपात्तकपोतपालीं वैडूर्यसव्यानवतीं परार्घ्याम् ॥ ५३ ॥
हेमोत्तमस्तम्भवृतां विशालां महेन्द्रनीलप्रतिबद्धकुम्भाम् ।
तां पद्मरागोपगृहीतकण्ठां विशुद्धरूपोन्नतचारुकूटाम् ॥ ५४ ॥

इस प्रकार कमलकी पंखुड़ियोंके समान ललित नेत्रवती पुत्रीके कन्यादान करनेके निश्चयको प्रकट करके राजाने अपने पुरोहित तथा इन्हींके समान अन्य सच्चे हितैषी और विश्वस्त सम्बन्धियोंको बुलाया तथा उन सबको अपनी अपनी सम्मति देनेके लिए ही उक्त अभिलाषा उनके सामने उपस्थित कर दी थी ॥ ५० ॥

उक्त विश्वस्त सम्बन्धियों तथा मंत्रियोंके साथ बैठकर विचारकर चुकनेपर जब राजाने यही निर्णय किया कि राजकुमारीका विवाह कुमार वराङ्गके साथ ही करना है, तो उनसे तुरन्त ही सब राजकर्मचारियोंको उनके पद और योग्यताका ध्यान रखते हुए विवाहके कल्याणमय महोत्सवकी तैयारियां करनेकी आज्ञा दी ॥ ५१ ॥

वरनगर-प्रस्थान

समस्त धार्मिक और सामाजिक विधि-विधानोंके विशेषज्ञ तथा अनुयायी राजाने पिताके घरकी सबही रीतियों और संस्कारोंको पूरा करके निर्धन और दीनदुखियोंको मनभर दान दिया। इसके बाद अपार सम्पत्ति और ठाटबाट के साथ राजकुमारीको लेकर उसने उत्तमपुर को प्रस्थान किया ॥ ५२ ॥

महाराज धृतिषेणने जिस पालकीपर राजकुमारीको बैठाया था उसका धरातल पानीके समान रंगोंके द्वारा बनाया गया था, फलतः देखते ही जलकुण्डका धोखा लगता था, उसकी वन्दनवारमें लगे हुए मूंगे प्राचीन तथा दूर देशोंसे लाये गये थे, उसके कबूतरों युक्त छज्जेके बनानेमें तो सारे संसारकी कमाई ही खर्च हो गयी थी, उसकी छत वैडूर्यमणियों से ही बनायी गयी थी॥५३॥

उस विशाल पालकीके सब ही खम्भे उत्तम थे क्योंकि वे शुद्ध सोनेसे ढाले गये थे। और उनपर महेन्द्र नील मणिके

---

१. [आह्वाय्य (आहूय वा) बन्धुर्विदो]।

द्विजातिवक्त्रोद्गलितप्रलब्धां[1] मुक्ताकलापच्छुरितान्तरालाम् ।
मन्दानिलाकम्पितचलत्पताकामात्मप्रभाह्रेपितसूर्यभासम् ॥ ५५ ॥
नानाप्रकारोज्ज्वलरत्नदण्डां विलासिनीधारितचामराढ्याम्[2] ।
आरुह्य[3] कन्यां शिबिकां पृथुश्रीः पुरीं विवेशोत्तमनामधेयाम् ॥ ५६ ॥
श्रीधर्मसेनप्रहितैश्च दूतैर्निवेदिताः प्रागवनीन्द्रचन्द्राः ।
आकृष्यमाणास्तु वराङ्गपुण्यैः प्रतस्थिरे स्वाभिरमा सुताभिः ॥ ५७ ॥
सुवर्णकक्षोपहितान् गजेन्द्रान् रथांश्च नानाकृतिचित्रवर्णान्[4] ।
सचामरापीलधरांस्तुरङ्गान्नृपाः समारुह्य पथि प्रजग्मुः ॥ ५८ ॥

कलश रखे गये थे, ऊपरका भाग पद्मराग मणियोंसे खचित था, ऊपर रखे गये जगमग कलश सर्वथा निर्दुष्ठ चांदीके बनाये गये थे ॥ ५४ ॥

उसके ऊपरी भागमें मणियोंके पक्षी बने थे, जिनके मुखसे गिरते हुए मुक्ताफल भी उसमें चित्रित थे फलतः पालकीका मध्यभाग ऐसे मुक्ताफलोंसे व्याप्त था। उसके ऊपर लगे पताका धीरे धीरे बहती हुई हवाके झोंकोंसे लहरा रहे थे, उसकी कान्ति और जगमगाहटके सामने सूर्यकी कान्ति भी लजा जाती थी ॥ ५५ ॥

उसे उठानेके दण्डोंमें भी भांति-भांतिके जगमगाते हुए रत्न जड़े गये थे। उसके आसपास युवती सुन्दरियां चमर ढोरती चलती थीं। इस प्रकारकी महामूल्यवान पालकीपर अपनी पुत्रीको बैठाकर विपुल सम्पत्ति और कान्तिके अधिपति महाराज धृतिषेणने उत्तमपुरमें प्रवेश किया जो कि 'यथानाम तथा गुणः' था ॥ ५६ ॥

अन्यराजा-आगमन

महाराज धर्मसेनने पहिले जिन राजदूतोंको सब तरफ भेजा था उनसे ही कुमार वराङ्गके व्याहका समाचार जानकर, चन्द्रमाके समान सर्वप्रिय तथा प्रजाके हितैषी बड़े, बड़े अन्य राजा लोग भी मानो वराङ्गके पुण्यसे प्रेरित होकर ही अपनी अपनी अत्यन्त गुणवती तथा सुन्दरी कन्याओंको लेकर उत्तमपुरके लिए चल दिये थे। उनमेंसे कई सोनेकी झूल और हौदेसे सजे विशालकाय श्रेष्ठ हाथियोंपर सवार थे ॥ ५७ ॥

तो दूसरे नाना रंगोंको चित्रकारोंसे भूषित अनेक प्रकारके रथोंपर विराजमान थे और अन्य राजा लोग चामर, मुकुट आदिसे सुशोभित उत्तम घोड़ीपर चढ़कर उत्तमपुरके रास्तेपर चले जा रहे थे ॥ ५८ ॥

---

१. [°गलितप्रलम्ब°]। २. [°चामराढ्याम्°]। ३. [आरोह्य]। ४. म नागाकृति° ।

वपुष्मती विन्ध्यपुरेश्वरस्य महेन्द्रदत्तस्य सुता बभूव ।
द्विषंतपः सिंहपुराधिपस्तु यशोवती तस्य सुतेन्दुवक्त्रा ॥ ५९ ॥
सनत्कुमारस्य मनोज्ञरूपा वसुन्धरापीष्टपुराधिपस्य ।
अनङ्गसेना मकरध्वजस्य राज्ञः सुता श्रीमलयेश्वरस्य ॥ ६० ॥
प्रियव्रता चक्रपुराधिपस्य समुद्रदत्तस्य समग्ररूपा ।
वज्रायुधो नाम गिरिव्रजेशस्तस्य प्रियायामभवत्सुकेशी ॥ ६१ ॥
मित्रंसह[1]कोशलराजकन्यापतिः स्मृता तस्य हि विश्वसेना ।
अङ्गाधिपस्य प्रियकारिणीति बभूव पुत्री विनयंधरस्य[2] ॥ ६२ ॥
नरेन्द्रकन्या धृतिषेणपुत्र्या सहैव रूपादिगुणैः समानाः ।
दिग्भ्यस्तथाष्टाभ्य उदारवृत्ता आजग्मुरष्टाविव दिक्कुमार्यः ॥ ६३ ॥

विन्ध्यपुरके महाराज महेन्द्रदत्तकी पुत्रीका नाम वपुष्मती था, जो कि उसके स्वास्थ्य और सौन्दर्यके कारण सार्थक था। सिंहपुरके महाराज जिन्होंने अपने शत्रुओंको नष्ट कर दिया था उनकी चन्द्रमुखी राजपुत्रीका नाम यशोवती था ॥ ५९ ॥

इष्टपुरके अधिपति सनत्कुमार महाराजकी राजदुलारी वसुन्धरा भी आयीं थीं, इनका रूप और गुण हठात् मनको मोह लेते थे। श्रीमलय देशके एकच्छत्र महाराज मकरध्वजकी पुत्री तो साक्षात् शरीरधारिणी कामदेवकी सेना ही थी इसीलिये उसका नाम अनङ्गसेना पड़ा था ॥ ६० ॥

चक्रपुरके प्रभु श्रीसमुद्रदत्त महाराजकी कन्या प्रियव्रताका तो कहना ही क्या था; संसारके अविकल सौन्दर्यकी मानो निदर्शन ही थी। गिरिव्रज (राजगृह) के सम्राट् वज्रायुधकी राजदुलारी सुकेशीका तो वर्णन ही क्या किया जाय। कारण वह महाराजकी प्राणप्यारी पट्टरानीकी ही कुक्षिसे उत्पन्न हुई थी ॥ ६१ ॥

कोशलदेशकी विपुल राज्य-सम्पत्तिके एकमात्र अधिपति 'यथा नाम तथा गुणः' महाराज मित्रंसहकी राजकन्याका नाम विश्वसेना था। सामाजिक विनय (नियम, धर्म और व्यवहार) के रक्षक महाराज विनयंधर उस समय अंगदेशके शासक थे। प्राणिमात्रका उपकार करनेके कारण ही उनकी कन्याका नाम प्रियकारिणी पड़ा था ॥ ६२ ॥

इस प्रकार उक्त राज ललनाएँ; जो कि अपने-अपने सदाचार, स्वास्थ्य, सुशिक्षा आदि गुणोंके द्वारा हर प्रकारसे महाराज धृतिषेणकी राजपुत्री सुनन्दाके ही समान थी। तथा उसीके समान ही उनका चरित्र भी उज्ज्वल और उदार था। यह सब आठों दिक्पालोंकी पुत्रियोंके समान आठों दिशाओंसे उस समय उत्तमपुरमें आ पहुँची थी ॥ ६३ ॥

१. क मित्रंसहा, [मित्रंसहः]। २. म विनयंवरस्य।

नृपाज्ञया राजगृहस्य मध्ये नरेन्द्रसूनोरभिषेचनाय ।
श्रीमण्डपं कामकरण्डकाख्यं सत् कारितं नेत्रमनोऽभिरामम् ॥ ६४ ॥
महेन्द्रनीलैर्मणिभिर्विनद्धं[1] महीतलं हेममयी च भित्तिः ।
कपोतपाली रजतैरुपेता सौवर्णमन्तःफलकं प्रकल्पम् ॥ ६५ ॥
स्तम्भास्तु सर्वे तपनीयगर्भा बहिर्बृहद्रत्नमणिप्रकल्प्याः[2] ।
द्वारं सुबद्धं खलु सर्वरत्नैर्जाम्बूनदाविष्कृतमिन्द्रकूटम् ॥ ६६ ॥
क्वचित्क्वचिल्लम्बितहेममालं प्रवालरत्नद्युतिमिश्रजालम् ।
मुक्ताकलापाञ्चितदामलोलं रराज पर्यन्तविचित्रसालम् ॥ ६७ ॥

यौवराज्य-अभिषेक

महाराज धर्मसेनने इसी अवसरपर वराङ्गका युवराज पदपर अभिषेक भी करनेका निर्णय किया था। अतएव उनकी आज्ञासे राजभवनके विशाल आंगनमें 'कामकरण्डक' नामका श्रीमंडप अत्यंत कलापूर्वक बनाया गया था। उसे देखते ही आंखें शीतल हो जाती थीं और मन मुग्ध हो जाता था ॥ ६४ ॥

उस 'कामकरण्डक' मण्डपका धरातल महेन्द्रनील आदि भाँति, भाँतिके मणियोंको जड़कर बनाया गया था, पूरी की पूरी भित्तियाँ सोनेसे बनायी गयी थीं, कपोतवाली (छज्जा) शुद्ध चाँदीसे बनी थी और भीतरकी पूरीकी पूरी छत शुद्ध सुवर्णसे गढ़ी गयी थी ॥ ६५ ॥

श्रीमण्डपके सबही खम्भोंका भीतरी भाग तपाये गये सोनेसे ढाला गया था और उसका बाहरी भाग बड़े-बड़े रत्नों और मणियोंसे बनाया गया था। गोपुर या प्रधानद्वार; संसारके सबही मणि और रत्नोंसे उनके रंग तथा कान्तिका विचार करके अत्यन्त उचित रूपसे बनाया गया था और मध्याह्नके सूर्यके समान जगमगाता उन्नत शिखर जाम्बूनद सोनेसे बना था ॥ ६६ ॥

उस मण्डपके चारों ओर अत्यन्त सुन्दर तथा दृढ़ परकोटा बना था, उसपर चारों ओर सोनेकी बन्दनवार लटक रही थी तथा इस बन्दनवारमें भी बीच-बीचमें मूंगा, मोती और मणि पिरोये गये थे। फलतः इनकी कान्ति सोनेकी कान्तिसे मिलकर सम्पूर्ण दृश्यको अद्भुत बना देती थी। इन्हीं विशेषताओंके कारण वह परकोटा श्रीमण्डपकी मोतियों से बनी माला समान मालूम देता था ॥ ६७ ॥

१. म विनन्दं । २. [प्रकल्पाः] ।

प्रवालमुक्तामणिभिर्विचित्रैर्विन्यस्तनानाविधभक्तिचित्रा ।
भ्रमद्द्विरेफाहृतकेसरेण पुष्पोपहारेण रराज भूमिः ॥ ६८ ॥
स्वाभाविकश्चाप्रतिकान्तरूपो माङ्गल्यकर्मण्यभिसंस्कृताङ्गः ।
सिंहासनस्योपरि संनिषण्णो बभौ शशीवोदयपर्वतस्थः[1] ॥ ६९ ॥
अष्टाभिराभिर्भुवि सुन्दरीभिर्मनोहराङ्ग्या सुतया सदृश्या ।
श्रेष्ठ्यग्रपुत्र्या धनदत्तया च समं कुमारो दशभिर्वराङ्गः[2] ॥ ७० ॥
हैमैर्घटैर्गन्धविमिश्रतोयैर्वीवाभिसद्वेष्टितदामलीलैः ।
पद्मोत्पलाच्छादितवक्त्रशोभैर्वसुन्धरेन्द्राः स्नपयांबभूवुः[3] ॥ ७१ ॥

उसके स्वच्छ सुन्दर धरातलपर नाना प्रकारके चित्र-विचित्र मूँगे, मोती और मणियोंके द्वारा अनेक आकारके सुन्दर, सुन्दर चौक पुरे थे। इसके अतिरिक्त सब ओर रखे गये गमलों, लटकती हुई पुष्पमालाओं और चारों ओर लगे पुष्पवृक्षोंपर इधर से उधर उड़ते हुए भौंरे सब ओर पराग उड़ाते थे। पराग ऐसा मालूम देता था मानों फूलोंकी भेंट है और उसके कारण धरातलकी शोभा अनेक गुनी हो गयी थी ॥ ६८ ॥

अभिषेक तथा पुण्यपाप फल चर्चा

कुमार वराङ्ग स्वभावसे ही इतने अधिक सुन्दर थे कि कोई भी व्यक्ति रूप और कान्तिमें उनकी बराबरी न कर सकता था, तो भी अभिषेक, विवाह आदि मांगलिक कार्योंके कारण उस समय उनको लेप, उवटन आदि लगाये गये थे फलतः पूरा शरीर सौन्दर्य और स्वास्थ्यसे दैदीप्यमान हो उठा था। अतएव जब वे मंगलविधिके लिए सिंहासनपर बैठाये गये तो ऐसे शोभित हुये मानो उदयाचलपर चन्द्रोदय हुआ हो ॥ ६९ ॥

कुमार वराङ्गके साथ-साथ संसारकी परम सुन्दरियाँ उपरिलिखित महाराज महेन्द्रदत्त आदिकी वपुष्मती प्रभृति राजकुमारियाँ, महाराज धृतिषेणकी कुलीन कन्या सुनन्दा तथा नगरसेठ धनदत्तकी ज्येष्ठ पुत्री भी उस विशाल सिंहासनपर विराजमान थी ॥ ७० ॥

सिंहासनके आसपास ही सोनेके बड़े-बड़े अभिषेक कलश रखे थे। कलशोंके निर्मल जलमें अनेक सुगन्धित पदार्थ घोले गये थे, उनके गलोंपर सुन्दर सुगन्धित मालाएँ लिपटी थी, और मुख श्वेत, रक्त और नील कमलोंसे ढके हुए थे ॥ ७१ ॥

---

१. म शरीरोदय°। २. [समं कुमारं दशभिर्वराङ्गम्]। ३. [युग्मम्]।

अन्ये च तेषां नृपमन्त्रिमुख्या अनन्तचित्राजितदेवसाह्वाः[1] ।
कुम्भैर्ज्वलद्रत्नमयैरनेकैः शुद्धाम्बुपूर्णैश्च समभ्यषिञ्चन् ॥ ७२ ॥
पौरप्रधाना नरदेवभक्त्या ते पार्थिवैः फुल्लफलाक्षमिश्रैः ।
घटैश्च नानाविधवर्णतोयैः पदाभिषेकं सुतनोः प्रचक्रुः ॥ ७३ ॥
समेत्य सम्यग्बहुबन्धुवर्गा रागोद्धता मङ्गलजातहर्षाः ।
यन्त्रैरनेकैर्वरवर्णपूर्णैरन्योन्यगात्राण्यभिचिक्किदुस्ते[2] ॥ ७४ ॥
केचिच्छशंसुर्नृवरं वराङ्गं महीपतीनां तनयाश्च केचित् ।
अन्योन्ययोग्या इति केचिदूचुराश्चर्यमन्ये परमं प्रजग्मुः ॥ ७५ ॥

अभिषेक क्रम

इन्हीं कलशोंको उठाकर पृथ्वीके प्रधान रक्षक महाराजाओंने सबसे पहिले कुमार वराङ्गका अभिषेक किया, इसके उपरान्त उन सब राजाओंके प्रधान सामन्तों और अनन्तसेन, चित्रसेन, अजितसेन, देवसेन आदि प्रधानमन्त्रियोंने क्रमशः जाज्वल्यमान रत्नोंसे जटित, शुद्ध, सुगन्धित तीर्थोदकसे पूर्ण विशाल कलशोंको लेकर विधिपूर्वक युवराजका अभिषेक किया ॥ ७२ ॥

तदुपरान्त राजभक्तिसे प्रेरित नगरके प्रधान, प्रधान सभ्योंने अपने मिट्टीके कलश, उठाये—जिनमें नाना प्रकारका सुगन्धित रंग-बिरंगा जल भरा हुआ था और उसमें विकसित फूल, फल, अक्षत आदि मंगल द्रव्यें मिली हुई थीं—और सुन्दर राजकुमारके केवल चरणोंका अभिषेक किया ॥ ७३ ॥

कुमारके प्रेम और भक्तिसे उद्धत तथा अभिषेक होनेसे परम प्रसन्न सबही सगे सम्बन्धियों तथा बन्धुबान्धवोंके झुण्डोंने सब तरफसे घेरकर अनेक गंधों और रंगोंसे पूर्ण यन्त्रों (पिचकारियों) द्वारा कुमारपर जल छोड़ना प्रारम्भ कर दिया था। इससे उन्होंने परस्परमें एक-दूसरेके शरीरको भी खूब भिगो दिया था ॥ ७४ ॥

युवराजभक्ति

कोई लोग श्रेष्ठ युवराज वराङ्गका गुणगान करनेमें ही मस्त थे। दूसरे राजपुत्रियोंकी प्रशंसा करते-करते न अघाते थे। कुछ ऐसे लोग भी थे जो यही कहते फिरते थे कि भाई यह कुमार और कुमारियाँ वास्तवमें एक-दूसरेके योग्य हैं और शेष लोग उनको देखकर आश्चर्य समुद्रमें डूबते और उतराते थे ॥ ७५ ॥

१. [°जीवराह्वाः]। २. [अभिचिक्किदुस्ते]।

वराङ्गनामानमनङ्गलोलं क्षितीन्द्रपुत्र्यश्च मनोज्ञरूपाः ।
समीक्ष्य बन्धूनपि हर्षपूर्णान्पौरान्समेतान् कथयांबभूवुः ॥ ७६ ॥
इमे वयं चापि हि जीवलोके समाननेत्रोदरपाणिपादाः ।
ऐश्वर्यकान्तिद्युतिवीर्यरूपैः कथं विशिष्टा इति केचिदूचुः ॥ ७७ ॥
किं न श्रुतं वाक्यमिदं भवद्भिर्जगत्यसाधारणहेतुभूतम् ।
स्वकर्मनिष्पत्तिफलप्रपञ्चं दुःखं सुखं वेति च लोकसिद्धम् ॥ ७८ ॥
धर्मात्सुखं पापफलाच्च दुःखं सुखं स्वपञ्चेन्द्रियकामलब्धिः ।
दुःखं पुनस्तद्विपरीतमुक्तमितीह सर्वैरपि किं न वेद्यम् ॥ ७९ ॥
पूर्वं त्वकृत्वा सुकृतं नरा ये परश्रियं प्राप्तुमटन्ति[1] मूढाः ।
तेषां श्रमं केवलमेव लोके हास्यं महत्तच्च विपाकतिक्तम् ॥ ८० ॥

कामदेवके समान सुन्दर, सुकुमार और सुभग युवराज वराङ्गको, हृदयमें घर कर लेनेवाली रूपराशिसे युक्त भरतखण्डके प्रधान राजाओंकी पुत्रियोंको, शरीर और मनमें न समानेवाले हर्षसे परिपूर्ण बन्धु-बान्धवोंको तथा अभिषेक मण्डपमें एकत्रित नागरिकोंको देखकर लोगोंके मुखसे अधोलिखित उद्गार निकल पड़े थे ॥ ७६ ॥

पुण्यफल

यद्यपि इस संसारमें उत्पन्न हम साधारण स्त्री पुरुषों, युवराज वराङ्ग, राजकुमारियों, राजपुरुषों आदिके आँख, कान, पेट, हाथ, पैर प्रभृति सर्वथा समान हैं, तो भी इनके ऐश्वर्य, कान्ति, ओज, प्रताप, पराक्रम, सौन्दर्य, आदि सब ही गुण हमलोगोंसे सर्वथा विशिष्ट क्यों हैं ? ऐसा कुछ आपसमें पूछते थे ॥ ७७ ॥

तब दूसरे कहते थे 'क्या आपने संसारमें होनेवाले समस्त कार्योंके असाधारण (उपादान) कारणको स्पष्ट बतानेवाला यह वाक्य नहीं सुना है—"सांसारिक समस्त सुख अथवा दुख अपने-अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुए फलका विस्तार मात्र है।" संसारकी प्रत्येक घटना इसी सिद्धान्तको पुष्ट करती है ॥ ७८ ॥

सर्वसाधारणको इतना ज्ञान तो होना ही चाहिये कि धर्माचरणसे सुखप्राप्ति होती है तथा पापकर्मोंके फलका उदय होनेपर दुख होता है। स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियोंको प्रिय विषयोंकी प्राप्तिसे सुख होता है और उसके उल्टे अर्थात् पाँचों इन्द्रियोंको अप्रिय विषयोंकी प्राप्तिको ही दुख कहते हैं ॥ ७९ ॥

इस संसारमें जिन मूर्ख प्राणियोंने पूर्व भवमें कोई शुभकर्म नहीं किये हैं तो भी दूसरे भाग्यशालियों की सम्पत्तिके समान

---

१. म अशन्ति ।

तथापि कर्माणि बहूनि तानि शुभप्रदानान्यशुभप्रदानि ।
ऐकान्तिकं यन्निरुपद्रवं च सुखं लभन्ते कथमत्र जीवाः ॥ ८१ ॥
दानं तपः संयमदर्शनानि शौचं दमो भूतदया च मैत्री ।
क्षान्तिश्च सत्यं समता ह्यसंग इत्येवमाद्यं सुखहेतुभूतम् ॥ ८२ ॥
जन्मान्तरे तप्ततपःप्रभावात्सत्पात्रदानाज्जिनपूजनाच्च ।
प्रणानुकम्पोद्भवभावनाया जन्मन्यथास्मिन्सुखिनो भवन्ति ॥ ८३ ॥
किमत्र चित्रैर्बहुभिः प्रलापैः सुखार्थिभिः पापरतिर्विहेया ।
पापं पुनर्जीवविहिंसनेन तन्मूलतो दुःखमवाप्नुवन्ति ॥ ८४ ॥

सुख, सौभाग्यको प्राप्त करनेके लिए मारे-मारे फिरते हैं, उनका सम्पूर्ण प्रयत्न सारे संसारके सामने केवल हास्यास्पद होता है और परिणाम तो अन्तमें अत्यन्त कडुवा (दुखदायी) होता ही है ॥ ८० ॥

तोभी सांसारिक समस्त कर्मोंमें बहुत कुछ कर्म ऐसे हैं जो शुभफल ही देते हैं, और अत्यधिक ऐसे भी हैं जो अशुभ ही फल देते हैं। इस संसारमें रहते हुए भी जीव विघ्नबाधा रहित ऐकान्तिक शुद्ध सुखको ही प्राप्त करें, ऐसा कैसे हो सकता है ॥ ८१ ॥

सत्पात्रको दान देना, अन्तरंग, बहिरंग तप करना, मन, इन्द्रियादिका संयम, सात तत्त्वोंका सच्चा श्रद्धालु होना, द्रव्य और भाव शौचका पालन, इन्द्रिय वृत्तियोंका निग्रह, प्राणिमात्रकी दया, जीवमात्रसे मैत्री (मित्र समान हितैषिता) भाव, प्रतिशोध लेनेमें समर्थ होते हुए भी क्षमा, सत्यवादिता, समता, परिमित-परिग्रह या परिग्रहहीनता, आदि ऐसे कर्म हैं जिनका फल सुख ही होता है ॥ ८२ ॥

जन्म-जन्मान्तरोंमें प्रमाद त्यागकर तपे गये तपके प्रभावसे, सत्पात्रोंको दिये गये दानके परिपाकसे, भावपूर्वक की गयी जिनेन्द्रदेवकी पूजनके प्रसादसे अथवा प्राणिमात्रपर किये गये दयाभावकी सतत भावनासे उत्पन्न सुफलका उदय होनेपर ही लोग इस जन्ममें सुखी होते हैं ॥ ८३ ॥

इस समय नाना प्रकारकी अद्भुत् दार्शनिक चर्चाओंको बढ़ा चढ़ाकर कहनेसे क्या लाभ है ? जो इस भव और परभवमें सुखके इच्छुक हैं उन्हें पापमयकर्म करनेके चावको छोड़ देना चाहिये। पाप भी प्राणियोंकी द्रव्य या भाव हिंसा करनेसे होता है और इस पापरूपी मूलसे ही दुखरूपी फलोंको जीव प्राप्त करते हैं ॥ ८४ ॥

श्रुत्वा वचो धर्मपथा[1]नपेतं निरुत्तरं सर्वजगावगम्यम् ।
तं श्रद्दधुर्धर्मफलं मनुष्याः प्रत्यक्षसद्दर्शनजातरागाः ॥ ८५ ॥
प्रशस्तनक्षत्रमुहूर्तयोगे ग्रहेषु सर्वेषु समन्वितेषु ।
स्वोच्चस्थिते[2] चन्द्रमसोष्टपक्षे चकार पाणिग्रहणं वधूनाम् ॥ ८६ ॥
श्रीधर्मसेनः सकलत्रपुत्रः सन्मानदानैरभिसंप्रपूज्य ।
लोकोपचारग्रहणानुवृत्त्या विसर्जयामास वसुंधरेन्द्रान् ॥ ८७ ॥
संप्राप्य[3] कल्याणमहाविभूत्या विराजमाना दुहितॄर्निरीक्ष्य ।
जामातरं चायितराजलक्ष्म्या[4] वसुन्धरेन्द्राः प्रययुः स्वदेशान् ॥ ८८ ॥

धर्म मार्गके सर्वथा अनुकूल इन वचनोंको सुनते ही समस्त स्त्री पुरुषोंको धर्मके आचरण तथा उसके शुभ फलपर तुरन्त अडिग श्रद्धा हो गयी थी, क्योंकि जन्मान्तरोंमें किये गये शुभकर्मोंके सुफलोंके भोक्ता कुमार वराङ्ग तथा उसकी पत्नी राजकुमारियाँ उनके चर्मचक्षुओंके सामने थे। इसके अतिरिक्त यह वचन इतने सरल थे कि अति सरलतासे सबकी समझमें आ गये थे, और कुशंका करनेवालोंको निरुत्तर कर देते थे ॥ ८५ ॥

जिस शुभ मुहूर्तमें समस्त मंगलकारी नक्षत्रोंका उदय था, सबके सब ग्रह अपने-अपने अतिउच्च स्थानपर थे तथा चन्द्रमा भी अत्यनुकूल उन्नत स्थानपर था, उसी शुक्लपक्षके परम श्रेयस्कर मुहूर्तमें महाराज धर्मसेनने दशों बहुओंका पाणिग्रहण संस्कार कराया था ॥ ८६ ॥

विवाह मंगल

लोकाचर और गृहस्थाश्रमकी मर्यादाओं तथा विधियोंको अक्षुण्ण बनाये रखनेकी इच्छासे ही महाराज धर्मसेनने अपनी पट्टरानी तथा पुत्रको साथ लेकर अभ्यागत राजा, महाराजाओंका परिपूर्ण स्वागत किया था तथा प्रचुर भेंट दी थी और अन्तमें विधिपूर्वक विदायी की थी ॥ ८७ ॥

पृथ्वी पर इन्द्रके समान प्रतापी तथा वैभवशाली वे राजा लोग भी, सुयोग्यवररूपी महाकल्याण तथा अन्य विपुल विभूतियोंकी प्राप्तिसे परम शोभायमान अपनी राजदुलारियों तथा उसी समय विशाल राज्य सम्पत्तिको प्राप्त करनेवाले श्रेष्ठ दामादसे भेंट करके अपने-अपने देशोंको लौट गये थे ॥ ८८ ॥

---

१. म धर्मपथा न भीतं । २. क सोच्चस्थिते, [सूच्च स्थिते] । ३. [संप्राप्त°] । ४. [चागत°] ।

निवर्तमानान्स्वपुरान्कुमारः प्रीत्या महेन्द्रप्रतिमान्विधिज्ञः ।
प्रयाप्य[1] दूरं त्रिदितत्रिवर्गः स्वच्छन्ददृस्यानुबभूव भोगान्[2] ॥ ८९ ॥
प्रियाङ्गनाभिर्वरवर्णिनीभिः प्रफुल्लनीलोत्पललोचनाभिः ।
चन्द्राननाभिः सह राजपुत्रो रेमे चिरं पीनपयोधराभिः ॥ ९० ॥
तासां वधूनां रमणप्रियाणां क्रीडानुषङ्गक्रमकोविदानाम् ।
आलापसल्लापविलासभावैः कालो व्यतीतो धरणीन्द्रसूनोः ॥ ९१ ॥
ताश्चापि भास्वद्रमणीयवेषाः स्वाम्येकभावप्रतिबद्धरागाः ।
मनोज्ञरूपद्युतिकान्तिमत्यः[3] सर्वास्तु सर्वेन्द्रियरत्यधिष्ठाः ॥ ९२ ॥

धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंके सम्बन्ध और अनुपातके विशेषज्ञ तथा लोकाचारके पंडित युवराज वराङ्गको जब यह समाचार मिला कि महेन्द्रके समान विभव और प्रतापके स्वामी उसके ससुर लोग अपने देशोंको लौट रहे हैं तो वह उन्हें बहुत दूरतक भेजने गया। उन्हें भेजकर लौटनेके बाद ही उसने समस्त गार्हस्थिक भोग, उपभोगोंका यथेच्छ सेवन किया था ॥ ८९ ॥

पति-पत्नी अनुराग

राजकुमारकी नवोढ़ा सबही पत्नियाँ परम प्यारी थीं, सबही लोकोत्तर सुन्दरियाँ थीं, उन सबके नेत्र पूर्ण विकसित नीले कमलोंके समान सुन्दर और मदपूर्ण थे, मुख पूर्ण चन्द्रके समान मोहक और उत्तेजक था और स्तनादि भोग्य अंग पूर्ण विकसित थे। फलतः वह उनके साथ चिरकाल तक रतिकेलिमें लीन रहा था ॥ ९० ॥

धरिणाके इन्द्र महाराज धर्मसेनके पुत्र वराङ्गका सारा समय अपनी प्रेयसियोंके साथ प्रेमालाप, हास्य-प्रहसन, हाव भाव, आदि प्रेम लीलाएं करते करते ही बीत जाता था, क्योंकि वे सब ही पतिको प्यारी थीं और पतिपर प्रगाढ़ प्रेम करती थीं, और प्रेम लीलाओंकी शृंखलाको चालू रखनेमें बड़ी कुशल थीं ॥ ९१ ॥

उन सबही बहुओंकी वेशभूषा उज्ज्वल और उद्दीपक थी, वे दिन रात पति और उसके साथ हुई प्रेमलीलाके विचारोंमें ही मस्त रहती थीं, उनका रूप, ओज और कान्ति हृदयमें स्थायी स्थान कर लेते थे सबको सब समस्त इन्द्रियोंसे रति करनेमें दक्ष थीं ॥ ९२ ॥

---

१. [प्रस्थाप्य]। २. म लोकान्। ३. म कान्तमत्यः।

सत्यार्जवक्षान्तिदयोपपन्नाः पैशून्यमायानृतलोभहीनाः ।
व्यपेतमात्सर्यमदाभ्यसूया महीन्द्रपुत्रस्य मनोऽपि जह्रुः ॥ ९३ ॥
देवेन्द्रो गगनचरीभिरप्सरोभिः शैलेन्द्रे स्फुटमणिभासुरे यथैव ।
कान्ताभिर्भवनवरे परार्घ्यसारे भूमीन्द्रप्रियतनयस्तथाभिरेमे ॥ ९४ ॥
इत्येवं नृपतनयस्य पुण्यमूर्तेः कल्याणं कथितमिदं सपासतस्तु ।
कः शक्तः सुकृतफलं समासहस्रैः संस्तोतुं मतिरहितः पुमानशेषम् ॥ ९५ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
विवाहवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ।

सबकी सब सत्यभाषिणी, सरल-प्रकृति, शान्त-स्वभाव और दयाशीला थीं, चाटुकारिता, छल कपट, असत्य-वचन, लोभ आदि दुर्गुणोंसे कोसों दूर थीं, पारस्परिक ईर्ष्या, रूपादिका अहंकार, पक्षपात आदि दोष उनके निकट भी न फटकते थे, फलतः उन्होंने युवराजके मनको पूर्णरूपसे चुरा लिया था ॥ ९३ ॥

देवताओंके अधिपति इन्द्र जाज्वल्यमान महामणियोंकी ज्योतिसे प्रकाशमान पर्वतराज सुमेरुपर जिस प्रकार आकाश-चारिणी अद्भुत रूपवती अप्सराओंके साथ रमण करते हैं उसी प्रकार पृथ्वीके इन्द्र महाराज धर्मसेनके सुपुत्र कुमार वराङ्ग अपनी प्राण प्यारियोंके साथ,महामूल्यवान मणियों आदिसे परिपूर्ण उत्तम उद्यानों और केलिवनोंमें मनचाहा रति विहार करते थे ॥ ९४ ॥

इस प्रकार पुण्यकी साक्षात् मूर्ति समान राजपुत्रके कल्याणकारी शुभ विवाहका यह वर्णन ऊपर अति संक्षेपसे किया है, कारण; कोई बुद्धिहीन व्यक्ति महापुण्यके सुफलको, हजारों वर्ष कहकर भी क्या निःशेष स्तुति कर सकता है ॥ ९५ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ रचनामय वराङ्गचरित नामक धर्मकथामें
विवाह वर्णन नामक द्वितीय सर्ग समाप्त ।

●

तृतीयः सर्गः

अरिष्टनेमिर्वरधर्मभूमिः[1] प्रणष्टकर्माष्टकभूरिबन्धः ।
विशिष्टनामाष्टसहस्रकीर्तिर्द्वाविंशतीर्थाधिपतिर्बभूव ॥ १ ॥
तस्याग्रशिष्यो वरदत्तनामा सद्दृष्टिविज्ञानतपःप्रभावात् ।
कर्माणि चत्वारि पुरातनानि विभिद्य कैवल्यमतुल्यमापत् ॥ २ ॥
उदारवृत्तैरुरुकसत्तपस्कैर्नानर्द्धिभिः साधुगणैरनेकैः ।
महात्मभिस्तैर्विजहार देशान् धर्माम्बुवर्षं जगते च वर्षन् ॥ ३ ॥
पुराकरग्राममडम्बखेडान्विहृत्य भव्याम्बुजबालभानुः ।
धर्मप्रभावं व्यपदेष्टुकामः पुरं क्रमेणोत्तममाजगाम ॥ ४ ॥

तृतीय सर्ग

श्रीवरदत्तकेवली

इस युगमें बाइसवीं वार श्रीअरिष्टनेमि प्रभुने सद्धर्म तीर्थका प्रवर्तन किया था। संसारके सम्पूर्ण धर्मोंके मुकुटमणि समान जिन धर्मरूपी महातरुके लिए वे नेमिनाथ भगवान भूमिके समान थे, उन्होंने अनादिकालसे बँधे आठों कर्मोंके जटिल बन्धनोंको समूल नष्ट कर दिया था इसीलिये लोकोत्तर एक हजार आठ नामों (सहस्रनाम स्तवन) द्वारा गणधर, इन्द्रादि महापुरुषोंने उनके यशकी स्तुति की थी ॥ १ ॥

श्रीनेमिप्रभुके सर्वप्रधान शिष्य वरदत्त महाराजने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और प्रशस्त तप (सम्यक्चारित्र) की दुर्धर-सफल साधनाके प्रभाव द्वारा अनादिकालसे बँधे अत्यन्त प्राचीन चारों घातिया (ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय) कर्मोंकी पाशको छिन्न-भिन्न करके अनुपम केवल (पूर्ण, अनन्त) ज्ञानको प्राप्त किया था ॥ २ ॥

वही वरदत्तकेवली संसारके कल्याणकी भावनासे जिनधर्मरूपी अमृतकी मूसलाधार वृष्टि (उपदेश) करते हुए अनेक महात्मा मुनियोंके साथ नाना देशोंमें विहार कर रहे थे। उनके संघके सब ही मुनिराजोंका सर्वांग सुन्दर चारित्र, अतिक्रम आदि दोषोंसे रहित था, तपस्या अत्यन्त दुर्द्धर और शास्त्रानुकूल थी, तथा वे सब ही नाना ऋद्धियोंके स्वामी थे ॥ ३ ॥

भव्यजीवोंरूपी कमलोंके अन्तरंग और बहिरंग विकासके लिये प्रातःकालके सूर्यके समान मुनिराज वरदत्तकेवली अपने

१. क °वरदत्तभूमिः ।

तस्मिन्पुरे सर्वजनाभिगम्यं उद्यानमत्यन्तसुखप्रदेशम् ।
मनोहरं नाम मनोऽभिरामं कृतानुनादं मधुकृद्विरेफैः ॥ ५ ॥
तस्यैकदेशे रमणीयरूपे शिलातले जन्तुविवर्जिते च ।
दयापरैर्दान्तमदेन्द्रियाश्वैः सहोपविष्टो मुनिभिर्मुनीन्द्रः ॥ ६ ॥
एकैकशः केचन पिण्डिताश्च केचित्स्थिताः केचन संनिषण्णाः ।
स्वाध्यायमन्द्रध्वनिरक्तकण्ठा वाचंयमाः केचन साधुवर्याः ॥ ७ ॥
तेषां यतीनां हि तपोधनानां जाज्वल्यमानोत्तमशीलभासाम् ।
मध्ये बभासे वरदत्तनामा ज्योतिर्गणानामिव पूर्णचन्द्रः ॥ ८ ॥

संघके साथ अनेक नगरों, खनिकोंकी बस्तियों (आकर) ग्रामों, अडम्बों और खेड़ोंमें विहार करते हुए जिनधर्म और उसके परम प्रभावका उपदेश देनेके लिए ही क्रमशः उत्तमपुरमें जा पहुँचे थे ॥ ४ ॥

मनोहर उद्यान

महाराज धर्मसेनकी राजधानीमें सर्वसाधारणके विहारके लिए खुला हुआ 'मनोहर' नामका विशाल उद्यान था। उसके कुंज, लतामण्डप, दूर्वाप्रदेश, वीथि आदि सब ही स्थान लोगोंके लिए अत्यन्त सुखद थे, फलतः वह दर्शकोंके मनको अपनी ओर आकृष्ट करता था तथा पुष्पोंके परागका संचय करनेमें लीन भौंरोंके शब्दसे वह उद्यान सदा गूँजता ही रहता था ॥ ५ ॥

इस उद्यानके अत्यन्त रमणीय भागमें एक परम सुन्दर तथा कीड़ा-मकोड़ोंसे रहित पूर्ण स्वच्छ विशाल शिला पड़ी थी। इसी शिलापर मुनिराज वरदत्तकेवली उन सब महामुनियोंके साथ विराजे थे; जिन्होंने अपने उद्धत मन और इन्द्रियरूपी अश्वोंको पूर्णरूपसे आज्ञाकारी बना लिया था और जिनकी प्रत्येक चेष्टा दयाभावसे ओत-प्रोत थी ॥ ६ ॥

कोई, कोई साधु अलग-अलग बैठकर आत्मचिन्तवन कर रहे थे, दूसरे कितने साधु इकट्ठे बैठकर शास्त्र चर्चा कर रहे थे, अन्य लोग पूर्ण ध्यानमें लीन थे, कुछ मुनियोंके मुखसे शास्त्र पाठकी धीर, गम्भीर और मधुरध्वनि निकल रही थी तथा शेष परम योगी मौन धारण किये थे ॥ ७ ॥

निरतिचार पूर्ण चारित्रकी कान्ति और ओजसे जाज्वल्यमान तपके धनी उन सब ऋद्धिधारी मुनियोंके बीचमें विराजमान श्रीवरदत्तकेवली ऐसे शोभित हो रहे थे, जैसा कि पूर्णिमाका चन्द्रमा समस्त ग्रहों, नक्षत्रों और तारिकाओंके बीचमें होता है ॥ ८ ॥

उद्यानपालः प्रविलोक्य साधूंस्तपोभिरुद्भासितपुण्यमूर्तीन् ।
प्रहृष्टचेतास्त्वरयाभिगम्य विज्ञापयामास वसुंधरेन्द्रम् ॥ ९ ॥
पुरे वने वापि गृहे सभायां तिष्ठन्स्वयं जाग्रदपि व्रजंश्च ।
दिवा निशायामथ सन्ध्ययोश्च यान्भावतश्चिन्तयति क्षितीन्द्रः ॥ १० ॥
तान् साधुवर्गान्स्वगुणोपपन्नान्प्रशान्तरूपान्विदितत्रिलोकान् ।
मनोहरोद्यानशिलातलेषु सुखोपविष्टानहमभ्यपश्यम् ॥ ११ ॥
उद्यानपालस्य वचो निशम्य प्रोत्थाय सिंहासनतः पृथुश्रीः ।
पदानि सप्त प्रतिगम्य राजा ननाम मूर्ध्ना विनतारिपक्षः ॥ १२ ॥
आनन्दिनी नाम महाभ्रनादा माङ्गल्यकर्मण्यभिसंप्रताडया ।
जनस्य सर्वस्य विबोधनार्थं प्रताडिता भूपतिशासनेन ॥ १३ ॥

उग्र तपश्चरणसे उत्पन्न उद्योतसे कान्तिमान परम पुण्यात्मा मुनियोंके दर्शन करते ही 'मनोहर' उद्यानके मालीका चित्त आनन्दसे गद्गद हो उठा था फलतः उसने विना विलम्ब किये ही शीघ्रतासे राजप्रासादमें पहुँचकर पृथ्वीपर इन्द्रके समान प्रतापी महाराज धर्मसेनको मुनिसंघके आगमनकी सूचना (निम्न प्रकारसे) दी थी ॥ ९ ॥

माली द्वारा संदेश

हे महाराज ? नगर या वनमें रहते हुए, भवन या राजसभामें विराजे हुए, चलते फिरते हुये, स्वयं सोते या जाग्रत अवस्थामें, दिनको या रात्रिमें, प्रातःकाल या सन्ध्या समय जिन मुनिवरोंका आप मन ही मन चिन्तन किया करते हैं ॥१०॥

उन्हीं साधु परिमेष्ठीके समस्त गुणोंसे विभूषित, परम शान्त स्वभाव युक्त तथा अपने ज्ञानसे तीनों लोकोंके चराचर पदार्थोंके ज्ञाता, महामुनियोंके संघको मैंने 'मनोहर' उद्यानके स्वच्छ सुन्दर विशाल शिलापर आनन्द और निश्चिन्तताके साथ विराजमान देखा है ॥ ११ ॥

धर्म-यात्राकी सूचना

अपने प्रचण्ड शत्रुओंके भी मस्तकोंको झुका देनेवाले तथा परम प्रभुताशाली महाराज धर्मसेन उद्यानपालके वचनोंको सुनते ही सिंहासनसे नीचे उतर आये थे और जिस दिशामें मुनिसंघ विराजमान था उधर ही सात पग आगे जाकर उन्होंने भूमि-पर मस्तक झुकाकर भक्तिभाव पूर्वक प्रणाम किया था ॥ १२ ॥

आनन्दिनी नामकी महाभेरी जिससे प्रचण्ड बादलोंकी घनघोर गर्जनाके समान दूरतक सुनायी देनेवाला शब्द निकलता

१. म प्रशान्तरूपान् ।

अमात्यसेनापतिमन्त्रिणश्च पुरोहितश्रेणिगणप्रधानाः ।
तस्याः पुनर्मेघनिनादकल्पं रवं निशम्याशु समाययुस्ते ॥ १४ ॥
प्रहृष्टरोमः परितुष्टभावो दत्त्वा दरिद्रार्थिजनाय दानम् ।
सान्तःपुरः सर्वसमृद्धियुक्तो जगाम साधूनभिवन्दितुं सः ॥ १५ ॥
बहुप्रकारान्पुरवासिनोऽर्थान् विचिन्तयन्तः स्वमनोऽनुनीतान् ।
अनेकवेषाकृतिदेशभाषा निरीयुरुर्वीपतिना सहैव ॥ १६ ॥
नृपाज्ञया केचिदभिप्रजग्मुर्गन्तुं प्रवृत्तानपरे समीयुः ।
निश्चक्रतुः[1] केचिदुदारशोभाः स्वां स्वां च संदर्शयितुं विभूतिम् ॥ १७ ॥

था और जो केवल मांगलिक धर्मकृत्योंकी सूचना देनेके लिए ही बजायी जाती थी। वही महाभेरी महाराज धर्मसेनकी आज्ञासे सर्वसाधारणको मुनिसंघके आगमनकी सूचना देनेके लिए जोर-जोरसे पीटी गयी थी ॥ १३ ॥

अमात्य, परामर्शदाता, सेनापति, धर्ममहामात्य, शिल्पियों आदिकी श्रेणियोंके मुखिया तथा गणोंके अध्यक्ष मेघोंकी महा गर्जनातुल्य आनन्दिनी भेरीके तीव्र और गम्भीर शब्दको सुनते ही बिना बिलम्ब राजभवनमें आकर इकट्ठे हो गये थे ॥ १४ ॥

धर्मयात्रा

मुनिदर्शनकी कल्पनासे महाराज इतने प्रसन्न थे कि उन्हें बार-बार रोमाञ्च हो आता था, नेत्रों और मुखके भाव उनकी आन्तरिक तुष्टिको व्यक्त करते थे, इसलिए निर्धन और अभावग्रस्त याचकोंको दान देनेके बाद वह पूरे ठाट-बाट तथा साज-सज्जाके साथ अपने अन्तःपुरको साथ लेकर मुनियोंकी वन्दना करने गये थे ॥ १५ ॥

अनेक देश-देशान्तरोंके रहनेवाले फलतः नाना प्रकार के वेश भूषाको धारण किये हुए तथा पृथक्-पृथक् लघु भाषाओंमें बोलते हुए सब ही नागरिक महाराजके साथ ही मुनिसंघके दर्शन करनेके लिए निकल पड़े थे। वे सब रास्ता चलते-चलते मनमें उठनेवाले नाना प्रकारके विषयोंको भी सोचते जाते थे ॥ १६ ॥

यात्रा का उद्देश्य तथा यात्री

मुनि-वन्दनाको निकले नागरिकोंमें कुछ ऐसे थे जो राजाकी सूचना सुनकर चले थे, दूसरे ऐसे थे जो अन्य लोगोंको जाते देखकर उनके पीछे-पीछे चल दिये थे तथा अन्य लोग अपनी उदार शोभा और सम्पत्तिके साथ निकले थे मानो उनकी यात्राका चरम लक्ष्य अपनी सम्पत्ति और सजावटका प्रदर्शन ही था ॥ १७ ॥

१. [निश्चक्रमुः]।

निर्जग्मुरेके नरदेवभक्त्या समीयुरेके मुनिदेवभक्त्या ।
उत्तस्थुरेके गुरुलोकभक्त्या उपेयुरेके वरधर्मभक्त्या ॥ १८ ॥
प्रदित्सवः केचन पात्रदानं निनंसवः केचन संयतेन्द्रान् ।
शुश्रूषवः केचन धर्मसारं सुराङ्गनाभिस्तु रिरंसवोऽन्ये ॥ १९ ॥
रुरुत्सवः केचन मोहसेनां जिघांसवः केचन मोहराजम् ।
युयुत्सवोऽन्ये च कषायमल्लैर्विभङ्क्षवः केचन कामदर्पम् ॥ २० ॥
मुमुक्षवः केचन कर्मपाशांस्तितीर्षवोऽज्ञानमहासमुद्रम् ।
तुष्टूषवः साधुगुणानुदारांश्चिचित्सवः[1] संशयजातमर्थम् ॥ २१ ॥
पुपूषवः पापरजांसि केचिच्चिचीषवः[2] पुण्यजलानि केचित् ।
चिकीर्षवो[3] घोरतपांसि केचित्तिष्ठासवः सूत्रपथे च केचित् ॥ २२ ॥

कुछ लोगोंके गमनका कारण राजभक्ति थी, बहुतसे लोगोंकी धर्मयात्राका प्रधान प्रेरक वीतराग मुनियोंकी शुद्धभक्ति थी, दूसरे अधिकांश जनोंको अपने गुरुजनोंका ख्याल करके ही उस यात्राके लिए उठना पड़ा था, तथा अन्य लोग इस लोक और परलोकके साधक श्रेष्ठ जिनधर्मकी श्रद्धाके कारण ही मनोहर उद्यानकी तरफ दोड़े जा रहे थे ॥ १८ ॥

उन यात्रियोंमें काफी लोगोंको सत्पात्रोंको आहारादि दान देनेकी उत्कट अभिलाषा थी, कुछ लोग यही चाहते थे कि इन्द्रिय विजेता मुनियोंके चरणोंमें जाकर धोक दें, दूसरे लोग जिनधर्मके मर्मको गुरुओंके श्रीमुखसे सुननेके लिए व्याकुल थे, अन्य लोगोंकी यही कामना थी कि मुनिदर्शनके पुण्यका संचय करके स्वर्गमें सुरांगनाओंके साथ रमण करें ॥ १९ ॥

ऐसे भी लोग थे जो मोहनीय कर्मकी क्रोधादि-मय सेनाकी प्रगतिको सर्वथा रोक देना चाहते थे, दूसरे इनसे भी एक कदम आगे थे वे कर्मोंके राजा मोहनीयको मारकर फेंक देना चाहते थे, अन्य लोगोंकी यही अभिलाषा थी कि कषाय, नोकषाय रूपी मल्लोंसे जमके लोहा लिया जाय, कतिपय लोगोंको केवल इतनी ही तृष्णा थी कि एकबार कामदेवके अहंकारको चूर-चूर कर दें, ॥ २० ॥

ऐसे पुरुष सिंह भी थे जो आठों कर्मोंकी पाशको खोलकर फेंक देना चाहते थे, दूसरे श्रावक अज्ञानरूपी महासमुद्रको पार करनेके इच्छुक थे, मुनियोंके विशाल चारित्र और निर्दोष गुणोंकी स्तुति करनेके लिए ही अनेक लोग आतुर थे ॥ २१ ॥

अन्य लोग अपने संशयापन्न विषयोंका स्पष्ट समाधान पानेके लिए ही उत्सुक थे, ऐसे भी लोग थे जो पापकर्मों रूपी धूलको साफ करनेकी हार्दिक इच्छा करते थे, अन्य लोगोंको पुण्यरूपी जल राशिके प्रचुर संचय करनेकी लालसा थी, कुछ लोगोंकी

१. [चिकित्सवः] । २. क चिचीर्षवः । ३. चिचीषवो ।

चिकित्सवः केचन दुःखजालं विभित्सवः केचन दुःखबीजम् ।
सिशंसवः[1] केचन दुःखवह्निं जिज्ञासवो द्रव्यगुणस्वभावान् ॥ २३ ॥
आधित्सवः[2] केचन पुण्यकीर्तिं विवप्सवः केचन पुण्यबीजम् ।
सिष्ठाषवः केचन पुण्यतीर्थे लोकोत्तरं सौख्यमभीप्सवश्च ॥ २४ ॥
गृहस्थधर्मं प्रतिपित्सवश्च गृहस्थधर्मं प्रजिहासवश्च ।
तित्यक्षवो लोककुधर्ममार्गं मुनीन्द्रधर्मं प्रजिघृक्षवश्च ॥ २५ ॥
व्रतातिपातप्रतिबोधनाय गृहीतपूर्वव्रतवर्धनाय ।
महाव्रतानुग्रहकारणाय केचिद्ययुः प्राग्विदितार्थतत्त्वाः ॥ २६ ॥

यही कामना थी कि महाराजसे दीक्षा लेकर घोर तप करें, दूसरे लोग यही भावना भाते थे कि उनका आचरण पूर्ण रूपसे आगमके अनुकूल हो ॥ २२ ॥

कतिपय मुनि दर्शनार्थी संसारिक दुखरूपी रोगोंका प्रतीकार करनेके लिए ही व्यग्र थे, अन्य मुनिभक्त लौकिक दुखोंके बीज (मोह) को ही मसल देना चाहते थे, ऐसे भी यात्री थे; जिन्हें संसारके दुखीरूपी दावानलको बुझा देना ही अभीष्ट था, अधिकांश गुरुभक्तों को जीवादि षड्द्रव्य, उनके गुण तथा स्वभावकी वास्तविक जिज्ञासा ही प्रबल थी ॥ २३ ॥

कुछ लोग पुण्य और यशका संचय करना चाहते थे, दूसरे पुण्यरूपी बीजको बोनेकी अभिलाषा करते थे अन्य लोगोंकी यही लालसा थी कि पवित्र जिनधर्मरूपी तीर्थमें खूब गोते लगावें, अन्य लोग अलौकिक (मोक्ष) सुखकी प्राप्ति कामना कर के चले थे ॥ २४ ॥

उन नागरिकोंमें ऐसे सज्जनोंकी भी पर्याप्त संख्या थी जो गृहस्थ-धर्मको विधिपूर्वक धारण करना चाहते थे दूसरे ऐसे भी थे जो श्रावकाचारसे बढ़कर महाव्रतोंको लेना चाहते थे। जहाँ कुछ लोग संसारके मिथ्या धर्मोंको सर्वथा त्यागनेके इच्छुक थे, वहीं अन्य लोग मुनिदीक्षा ग्रहण करनेके लिए कटिबद्ध थे ॥ २५ ॥

मुनि बन्दनाको निकले जनसमूह में ऐसे लोगोंकी भी कमी न थी जो स्वयं जीवादि तत्त्वों और नौ पदार्थोंके विशेषज्ञ होते हुए भी सिर्फ इसीलिए जा रहे थे कि गुरुचरणोंमें बैठकर वे व्रतोंके अतिचारोंके रहस्योंको अच्छी तरह समझ सकें और पूर्व गृहीत व्रतोंको निर्दोष रूपसे बढ़ा सकें, इतना ही नहीं, बल्कि इस प्रकारके आचरणसे अपने आपको महाव्रतोंका पात्र बना सकें ॥ २६ ॥

---

१. [शमिष्णवः] । २. [सिस्नासवः] ।

अन्ये पुनः प्राक्तनुकर्मबन्धाः संसारनिःसारविकारदोषान् ।
अवेत्य निर्वेदपरायणास्ते दीक्षाभिलाषाः प्रययुर्गृहेभ्यः ॥ २७ ॥
मदप्रभिन्नार्द्रकटद्विपानामन्तर्ननादै[1] रथनेमिघोषैः ।
तुरङ्गमानामपि हेषितैश्च पदातिवृन्दप्रतिबद्धवाक्यैः ॥ २८ ॥
नानाविधैस्तैः पटहैर्बृंहद्भिः शङ्खस्वनैर्बन्दिमुखप्रलापैः ।
प्रावृट्पयोदध्वनिमादधाना नरेन्द्रसेना विबभौ प्रयान्ती ॥ २९ ॥
आरुह्य रत्नोज्ज्वलमौलयस्ते हस्त्यश्वयानानि पृथग्विधानि ।
वरा वराङ्गप्रमुखाः कुमारा वसुंधरेशस्य ययुः पुरस्तात् ॥ ३० ॥

अनेक ऐसे भव्यजीव थे जिनका पुरातन कर्मबन्ध शुभाचरण द्वारा यों ही काफी कम हो गया था, वे संसार और शरीरकी निस्सारता, विकारों और दोषोंको भलीभाँति जानते थे फलतः उनका मन वैराग्यसे ओत-प्रोत हो रहा था इसीलिए वे मुनिदीक्षा ग्रहण करनेका पक्का निश्चय करके ही घरसे निकले थे ॥ २७ ॥

यात्रावर्णन

मदजलके सतत प्रवाहसे गीले गण्डस्थल युक्त मस्त हाथियोंकी बीच, बीचमें होनेवाली चिंघाड़े, जोरसे दौड़े जानेवाले रथोंकी घुराकी चेंचाहट, चपल घोड़ोंकी अत्यधिक हिनहिनाहट, आपसमें गपशप करनेमें लीन पैदल सैनिकोंके शोरगुल, जोर-जोरसे पीटे गये अनेक तरहके पटह आदि बाजों ॥ २८ ॥

जोरसे फूके गये शंखोंकी ध्वनि, तथा आगे आगे चलकर महाराजका विरुद उच्चारन करनेमें मस्त भाटोंके शोर आदिकी ध्वनियोंके मिल जानेसे वर्षाकालीन मेघोंके समान दारुण गर्जना करती हुई चली जानेवाली राजाकी सेनाकी शोभा अद्भुत ही थी ॥ २९ ॥

यात्रा राजवंश

महामूल्यवान विविध प्रकारके रत्नोंसे जड़े हुए जगमगाते हुए उत्तम मुकुट आदि पहिनकर अलग अलग हाथी, घोड़ा आदि सवारियोंपर आसीन हुए युवराज वरांग आदि सब ही श्रेष्ठ राजकुमार महाराजकी सवारीके आगे-आगे मुनिसंघकी वन्दनाको चले जा रहे थे ॥ ३० ॥

---

१. क मन्त्रनिनादैः, [मन्द्रैर्निनादैः] ।

मत्तद्विपस्यायतपीनबाहुः स्कन्धाधिरूढः ससितातपत्रः ।
अष्टार्धसच्चामरवीज्यमानो व्रजन् बभौ शक्र इव द्वितीयः ॥ ३१ ॥
यथैव पूर्वं भरतेश्वरस्तु हिरण्यनाभाय नमस्क्रियायै ।
व्रजन् बभासे वरदत्तपार्श्वं श्रीधर्मसेनो वसुधाधिपश्च ॥ ३२ ॥
अदूरतः साधुगणान्विलोक्य मत्तद्विपेन्द्रादवतीर्य सद्यः ।
अपोह्य बालव्यजनातपत्रं मुदाश्रितो वन्दितुमायतश्रीः ॥ ३३ ॥
ज्योतिर्गणैरिन्दुरिवाचलेन्द्रं[1] प्रदक्षिणीकृत्य वसुंधरेन्द्रः ।
सपुत्रदारः सहमित्रबन्धुर्ननाम पादावृषिसत्तमस्य ॥ ३४ ॥

विशालबाहु महाराज धर्मसेन स्वयं भी मदोन्मत हाथीके ऊपर विराजमान थ । उनके ऊपर चान्द्रिकाके समान धवल छाता लगा था और (आठके आधे अर्थात्) चार बढ़िया चमर उनके ऊपर डुर रहे थे । इस ठाटके साथ मुनिवन्दनाको निकले महाराज दूसरे इन्द्रके समान मालूम देते थे ॥ ३१ ॥

श्रीवरदत्तकेवलीकी चरण चर्चाके लिए उक्त रूपसे जाते हुए महाराजाधिराज धर्मसेनको देखकर आपाततः उस यात्राका स्मरण हो आता था जो प्रथम चक्रवर्ती भरतने इस युगमें सर्व प्रथम धर्मके उपदेशक भगवान हिरण्यगर्भ [जिनके गर्भमें आते ही सोनेकी वृष्टि (पूर्ण सुकाल) होने लगी थी] पुरुदेवके समवशरणकी बन्दनाके लिए की थी ॥ ३२ ॥

गुरु विनय

विपुल वैभवके स्वामी महाराज धर्मसेन जब चलकर मुनिसंघके निकट पहुँचे तो विशाल शिलापर विराजमान तपोधनोंको वहींसे देखकर तुरन्त ही अपने मदोन्मत्त हाथीपरसे नीचे उतर आये और आनन्द विभोर हो गये थे तथा छत्र, चमर आदि सब ही राजचिह्नोंको वहीं छोड़कर पैदल ही मुनिवन्दनाको गये थे ॥ ३३ ॥

मुनिवन्दना

जिस प्रकार ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक ज्योतिषी देवोंके साथ चन्द्रमा पर्वतोंके राजा सुमेरुकी परिक्रमा करता है उसी प्रकार पृथ्वीके इन्द्र महाराज धर्मसेनने अपनी पत्नियों, पुत्रों, पुत्र-वधुओं, मित्रों और कुटुम्बियोंके साथ मुनियोंके भी मुकुटमणि महर्षि वरदत्तकेवलीकी प्रदक्षिणा करके चरणों में धोक दी थी ॥ ३४ ॥

---

१. [अचलेन्द्रं] ।

ज्वलत्किरीटः प्रविलम्बिहारो विचित्ररत्नाङ्गदघृष्टबाहुः ।
रराज राजा मुनिपुङ्गवस्य पादौ पतन् भानुरिवोदयस्य ॥ ३५ ॥
आपृच्छ्य भूपः कुशलं यतीनामविघ्नतां ज्ञानतपोव्रतेषु ।
स्वनामगोत्रं चरणं निवेद्य स्तोत्रैश्च मन्त्रैर्विविधैः प्रणुत्य ॥ ३६ ॥
शेषांश्च सर्वान्मुनिपुङ्गवांस्तांस्त्रिभिर्विशुद्धः क्रमशोऽभिवन्द्य ।
एत्यादरात्केवलिपादमूलं सुखं निषद्येममपृच्छदर्थम् ॥ ३७ ॥
सर्वप्रजाभ्यो ह्यभयप्रदाता सर्वप्रजानां शरणं गतिश्च ।
सर्वप्रजानां हितदेशकस्त्वं धर्मामृतं मे दिश वीतमोह ॥ ३८ ॥
त्वं केवलज्ञानविशुद्धनेत्रः सर्वार्थवित्सर्वगुणोपपन्नः ।
सर्वेन्द्रवन्द्यः प्रविधूतपाप्मा आचक्ष्व जीवादिपदार्थभेदान् ॥ ३९ ॥

ऋषिराज वरदत्तकेवलीके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए महाराज धर्मसेन जगमगाते हुए मुकुट, घुटनोंतक लटकते लम्बे मणि मुक्ताओंके हार तथा भुजाओंमें नीचे ऊपर सरकते हुए विचित्र रत्नोंसे निर्मित अंगदकी कान्तिके कारण वैसे शोभित हो रहे थे जैसा कि उदयाचलपर उदित होता सूर्य लगता है ॥ ३५ ॥

राजाने अपने नाम, गोत्र और वनादिका निवेदन करके अनेक मन्त्रों तथा विविध स्तोत्रों द्वारा केवली महाराजकी विनती की थी तथा 'संघका ज्ञान, चरित तथा नियम निरन्तराय बढ़ रहे हैं ?' कहकर समस्त ऋषियोंकी कुशल क्षेम पूछी थी ॥ ३६ ॥

इसके उपरान्त मन, वचन और कायसे शुद्ध राजाने संघके शेष समस्त चरित्र चक्रवर्ती ऋषियोंको क्रमशः भक्ति भावसहित वन्दना करके लौटकर अत्यन्त विनयके साथ श्रीकेवली महाराजके चरणोंमें शान्ति और प्रसन्नता पूर्वक बैठ गये थे तथा निम्न प्रकारसे तत्त्वार्थकी जिज्ञासा की थी ॥ ३७ ॥

गुरुस्तुति तथा धर्म प्रश्न

हे मोहजेता ऋषिवर ? अहिंसा महाव्रतका साँग पालन करके आपने संसारके प्राणिमात्रको अभयदान दिया है, अतीन्द्रिय बल और ज्ञानके स्वामी होनेके कारण आप ही संसारकी शरण है और आपके आश्रयसे ही तो उसका उद्धार हो सकता है। पूर्ण ज्ञानके भण्डार होनेके कारण आप ही सत्य और हितकारी उपदेश दे सकते हैं अतएव महाराज ! मुझे धर्मरूपी अमृतका पान कराइये ॥ ३८ ॥

हे महाराज ! देश, काल, पर्याय आदि बन्धनहीन परमपवित्र केवलज्ञान ही आपकी आँखें हैं। आप समस्त द्रव्य

जीवाश्च केचिन्नरकेषु तीव्रं केनाप्नुवन्त्यप्रतिमं हि दुःखम् ।
तिर्यक्षु नानाविधवेदनां वा मनुष्यलोकस्य च कारणं किम् ॥ ४० ॥
सुराधिवासस्य चतुर्विधस्य सौख्यं कथं वाष्टगुणादियुक्तम् ।
वलेशक्षयोद्भूतमनन्तकालनिर्वाणसौख्यं कथयस्व केन ॥ ४१ ॥
कर्माणि वा कानि सुखप्रदानि दुःखप्रदानान्यथ कानि नाथ ।
सुखासुखोन्मिश्रफलानि कानि कर्मान्तक ब्रूहि च संशयो मे ॥ ४२ ॥
एवं स पृष्टो भगवान्यतीन्द्रः श्रीधर्मसेनेन नराधिपेन ।
हितोपदेशं व्यपदेष्टुकामः प्रारब्धवान्वक्तुमनुग्रहाय ॥ ४३ ॥

और पर्यायोंको साक्षात् जानते हैं, आप क्षायिक आदि समस्त गुणोंके भण्डार हैं सब ही स्वर्गोंके इन्द्रों के लिए भी आप परमपूज्य हैं, पाप तो आप से दूर-दूर भागता फिरता है। इसलिए हे गुरुवर मुझे जीवादि नौ पदार्थोंको समझाइये ॥ ३९ ॥

गतिकारण जिज्ञासा

हे प्रभो ! कुछ जीव किन कारणोंसे नरकोंमें उन भयंकर दुःखोंको भरते हैं; जिनकी तुलना मध्यलोकके दारुण से दारुण दुःखसे भी नहीं की जा सकती है। वे कौनसे कर्म हैं जिनके फलस्वरूप तिर्यंच योनिमें बध, बन्धादि विविध वेदनाएँ सहनी पड़ती हैं ? वे कौन-सी क्रियाएँ हैं जो जीवको मनुष्य गतिमें ले जाती हैं ॥ ४० ॥

अणिमा, महिमा आदि आठ गुणोंसे युक्त–भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी–चारों प्रकारकी देवगतिके निरन्तराय सुखोंका स्वामी यह जीव क्यों होता है ? तथा वह कौनसी साधना है जो इस आत्माको समस्त कर्मोंके नाशसे होने-वाले उस चरम मोक्षसुखको दिलाती है जहाँसे फिर कभी लौटना नहीं होता है ॥ ४१ ॥

हे आठों कर्मोंके काल ? बताइये कौनसे कर्मोंके फलस्वरूप सुखप्राप्ति होती है ? वे कर्म कौनसे हैं जिनके परिपाक होने-पर दुःख भरने पड़ते हैं ? तथा वे कोनसी कर्मप्रकृतियाँ हैं जिनका विपाक मिले हुए सुख और दुःख दोनोंमय होता है ? हे केवली ! मेरे संशयको दूर करिये ॥ ४२ ॥

कर्मफल जिज्ञासा

मनुष्योंके अधिपति श्रीधर्मसेनके द्वारा उक्त प्रकारसे पूछे जाने पर, संसार दुःखोंसे तप्त प्राणियोंको कल्याणमार्गका उपदेश देनेके इच्छुक ऋषियोंके राजा श्रीवरदत्तकेवलीने श्रोताओंपर अनुग्रह करनेके लिए ही निम्न प्रकारसे कहना प्रारम्भ किया था ॥ ४३ ॥

येऽर्थास्त्वया प्रश्नविदा नरेन्द्र चतुर्गतीनां सुखदुःखमूलाः ।
पृष्टा यथावद्विनयोपचारैरेकाग्रबुद्धया शृणु ते ब्रवीमि ॥ ४४ ॥
संभाव्य सम्य'ङ्मतिभाजनेन सद्धर्ममार्गश्रुतितोयधाराम् ।
श्रद्धान्विताः साधु पिबन्ति ये तु ते यान्ति जन्मार्णवदूरपारम् ॥ ४५ ॥
धर्मश्रुतेः पापमुपैति नाशं धर्मश्रुतेः पुण्यमुपैति वृद्धिम् ।
स्वर्गापवर्गप्रवरोरुसौख्यं धर्मश्रुतेरेव न चान्यतस्तु ॥ ४६ ॥
तस्माद्धि धर्मश्रवणानुरागा भवन्तु सर्वे शुभमाप्तुकामाः ।
जित्वा जरारातिरुजश्च मृत्युं भवन्ति वन्द्या भुवनत्रयस्य ॥ ४७ ॥
धर्मानुबन्धा दुरितानुबन्धा मिश्रानुबन्धाश्च यथाक्रमेण ।
त्रिधा त्रिभिन्नाः श्रुतयश्च लोके तासां फलं त्रैधमुदाहरन्ति ॥ ४८ ॥

हे नरेन्द्र ! प्रश्नकलामें पारंगत आपने उपयुक्त विनय तथा शिष्टाचारपूर्वक जो नरकादि चारों गतियों, वहाँ होनेवाले सुखों दुःखोंके मूल कारणभूत कर्मोंके तथा समस्त पदार्थोंके रहस्यको अलग-अलग पूछा है वह सब मैं आपके ज्ञानके लिए कहता हूँ, आप अपने चित्तको एकाग्र करके सुनिये ॥ ४४ ॥

जो भव्यजीव समीचीन जैनधर्म-शास्त्ररूपी धाराके जलको मत्सर आदि दोषहीन सद्बुद्धिरूपी पात्रमें आदरपूर्वक भर लेते हैं और परम श्रद्धाके साथ भलीभाँति पीते हैं (अर्थात् समझते हैं) वे जन्म मरणरूप संसार महार्णवको सरलतासे पार करके बहुत दूर (सर्वार्थसिद्धि, मुक्ति) निकल जाते हैं ॥ ४५ ॥

धर्मशास्त्रके श्रवण और मननसे पापका समूल नाश होता है, धर्मके तत्त्वोंको सुननेसे ही पुण्य दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता है, और तो क्या स्वर्ग और मोक्षके सर्वदा स्थायी, अनुपम और अपरिमित सुख और सम्पत्तियाँ भी केवल धर्मचर्चाके अनुशीलनसे ही प्राप्त होते हैं; इनका कोई दूसरा कारण नहीं है ॥ ४६ ॥

शास्त्र-ज्ञान महिमा

अतएव जो प्राणी अपने उद्धारके लिये व्याकुल हैं उन सबको धार्मिक चर्चाओंके श्रवण और मननको ओर अपनी रुचिको प्रयत्नपूर्वक बढ़ाना चाहिये, क्योंकि धर्मके तत्त्वोंका सतत अनुशीलन करके ही ये प्राणी जन्म, रोग, जरामरण आदि समस्त सांसारिक उत्पातोंको जीतकर तीनों लोकोंके वन्दनीय होते हैं ॥ ४७ ॥

शास्त्र-स्वरूप

इस संसारमें उपलब्ध शास्त्र भी तीन प्रकारके होते हैं जिनका श्रवण और मनन धार्मिक प्रवृत्तिको आगे बढ़ाता है,

१. म सम्यग्गति°

धर्मानुबन्धात्सुखमेव नित्यं पापानुबन्धादथ दुःखमेव ।
मिश्रानुबन्धात्सुखदुःखयोगः संक्षेपतस्ते त्रिविधं मयोक्तम् ॥ ४९ ॥
क्षीराणि वर्णेन समानि लोके रसेन नानागुणवन्ति तानि ।
एकानि[2] निघ्नन्ति निपीतमात्रमन्यान्यथारोग्यवपुःकराणि ॥ ५० ॥
एवं हि धर्माश्च बहुप्रकारा नाम्ना समाना गुणतो विशिष्टाः ।
दुःखार्णवे केचन मज्जयन्ति सुखार्णवे केचन निक्षिपन्ति ॥ ५१ ॥
केचित्पुनस्ते नरकं नयन्ति नयन्ति तिर्यग्गतिमेव केचित् ।
मनुष्यलोकं गमयन्ति केचित्स्वर्गापवर्गौ च नयन्ति केचित् ॥ ५२ ॥

दूसरे कुछ शास्त्रोंपर आस्था करनेसे आत्माकी पाप प्रवृत्तियोंको ही प्रोत्साहन मिलता है और अन्य कुछ शास्त्रोंके पठन-पाठनसे मनुष्यको पाप-पुण्यमय मिश्र चेष्टाएँ करनेका चाव होता है। फलतः क्रमशः इनके फल भी सुख, दुःख और सुख-दुख होते हैं ॥ ४८ ॥

संक्षेपमें यों समझिये कि धर्मानुबन्धी शास्त्रोंके श्रवण और पठनसे शुद्ध सुखकी ही प्राप्ति होती है, पापानुबन्धी शास्त्रोंके पठन पाठनका फल केवल दुखसंगम ही होता है और मिश्रानुबन्धी शास्त्रोंके अभ्यास करनेसे मनुष्य मिले हुए सुख और दुःख दोनों को भरता है। थोड़ेमें शास्त्रोंका यही वर्गीकरण है ॥ ४९ ॥

धर्म-दूधरूपक

जहाँतक रंगका सम्बन्ध है संसारके सबही धर्म एक श्वेत रंगके ही होते हैं लेकिन उनकी रासायनिक शक्तियोंका विचार करनेपर प्रत्येकमें अलग-अलग अनेक गुण पाये जाते हैं। कारण, कुछ ऐसे दूध हैं जिन्हें पीते ही जीव और पुद्गलका सम्बन्ध तुरन्त टूट जाता है और दूसरे ऐसे हैं जिनके उपयोगसे मृततुल्य शरीर भी लहलहा उठते हैं। संसारमें प्रचलित नाना-प्रकारके अनेक धर्मोंकी भी यही अवस्था है ॥ ५० ॥

नामके लिए सबही धर्म हैं, पर उनके तत्त्व, आचरण आदि गुणोंमें बड़ा अन्तर है। जबकि कुछ धर्मोंको अंगीकार करनेसे जीव अथाह दुखसागरमें डूब जाते हैं तब दूसरे धर्मोंका सहारा पाते ही प्राणी आनन्दके साथ सुखसागरमें गोते लगाता है ॥ ५१ ॥

किन्हीं धार्मिक सिद्धान्तोंके आचरण जीवको नरकमें ढकेल देते हैं, दूसरी धार्मिक मान्यताएँ प्राणियोंको तिर्यंच गतिकी वेदनाएँ भरवाती हैं, अन्य धार्मिक तत्त्वोंका श्रद्धान और आचरण जीवोंको मनुष्य गतिमें आनेका अवसर देता है तथा शेष शुभ और शुद्ध उपयोगकी प्रेरणा देनेवाले धर्म इस जीवको क्रमशः स्वर्ग और अपवर्ग पदोंपर स्थापित करते हैं ॥ ५२ ॥

---

१. म एतानि ।

एकान्ततो निम्बरसश्च तिक्त इक्षोर्विकारो मधुरस्वभावः ।
यश्चाधिको येन विमिश्रितः स्यादाधिक्यतः सन्स्वरसं ददाति ॥ ५३ ॥
तत्रैव पापाधिकतोऽतिदुःखं पुण्याधिकात्सौख्यमुदाहरन्ति ।
सुखासुखे ते च समे समत्वान्निम्बेक्षुहेतुप्रतिदर्शनेन ॥ ५४ ॥
अज्ञानमूढा[1] दुरनुष्ठिता ये धर्माशयात्क्लेशगणान्भजन्ते[2] ।
विपन्नमार्गाः परितप्य पश्चात्ते तीव्रदुःखं नरकं व्रजन्ति ॥ ५५ ॥
नाज्ञानतोऽन्यद्भयमस्ति किंचिन्नाज्ञानतोऽन्यच्च तमोऽस्ति किंचित् ।
नाज्ञानतोऽन्यो रिपुरस्ति कश्चिन्नाज्ञानतोऽन्योऽस्ति हि दुःखहेतुः ॥ ५६ ॥

पाप-पुण्यफल

यदि केवल नीमका रस ही लिया जाये तो वह अत्यन्त कड़ुवा होता है इसी प्रकार केवल शुद्ध ईख रस देखा जाये तो वह परम मधुर होता है। लेकिन यदि यह दोनों मिलाये जाँय, तो जो रस परिमाणमें अधिक लिया जायेगा वही अधिकताके कारण अपने रसका स्वाद देगा ॥ ५३ ॥

इसी प्रकार यदि जीवका पाप अधिक है तो उसे दारुणसे दारुण दुःख भोगने पड़ेंगे, और यदि उसके कर्मोंमें अधिकांश पुण्यानुबन्धी कर्म रहे हैं तो उसे सुखोंका स्वाद मिलेगा। यदि पाप-पुण्य बराबर हैं तो उनके परिपाक दुःख-सुखकी मात्रा भी समान रहेगी। फलतः नीम और ईखके रसोंके दृष्टान्तसे यह कथन स्पष्ट हो जाता है ॥ ५४ ॥

अज्ञानके वशीभूत होकर जो प्राणी कर्तव्य और अकर्तव्यका भेद भूल जाते हैं और धर्मके नामसे खूब दुराचार करते हैं, वे यहींपर अनेक कष्ट भरते हैं, और पथभ्रष्ट होकर सांसारिक कष्टोंकी ज्वालाओंमें झुलसते हुए अन्तमें घोरातिघोर दुःखोंके कुण्ड रौरव नरकमें जा गिरते हैं ॥ ५५ ॥

अज्ञान शत्रु

समस्त प्रकारके भयोंके भण्डार, इस संसारमें अज्ञानसे बड़ा कोई दूसरा भय नहीं है। अज्ञानसे बढ़कर अभेद्य कोई दूसरा अन्धकार (सन्मार्गके दर्शनका विरोधी) इस पृथ्वीपर नहीं है। जीवके सबही शत्रुओंका यह अज्ञान महाराजा है फलतः सम्पत्ति, प्रियजन और जीवन अपहरण करनेवाले शत्रु भी इसके सामने कुछ भी नहीं हैं। कोई भी कारण हजारों प्रयत्न करके भी अज्ञानसे अधिक दुःख नहीं दे सकता ॥ ५६ ॥

---

१ क अज्ञानमूर्खा । २. क क्लेशगुणान् ।

निरङ्कुशो मत्त इव द्विपेन्द्रो यथा प्रविश्य प्रतिशत्रुसेनाम् ।
नेत्रा सहैवाशु विनाशमेति जीवस्तथा ज्ञानविहीनचेताः ॥ ५७ ॥
यथैव तीक्ष्णाङ्कुशवान् गजेन्द्रो मद्गात्यरीणां पृतनाः प्रसह्य ।
तथैव मोहारिमहोग्रसेनां ज्ञानाङ्कुशो निर्जयति क्षणेन ॥ ५८ ॥
यथा दवाग्नेरपसर्तुकामो धावंस्तु तत्रैव पतत्यचक्षुः ।
अज्ञाननीलोवृतलोचनस्तु तथैव दुःखानलमभ्युपैति ॥ ५९ ॥
यथा दवाग्नेरपसृत्य पङ्गुः स्वदेशमाप्नोति शनैरुपायैः ।
सज्ञानचक्षुश्च तपांसि कृत्वा तथा बुधो निर्वृतिमभ्युपैति ॥ ६० ॥
इत्येवमादीनि निदर्शनानि जगत्प्रवृत्तान्यवलोक्य बुद्धया ।
अल्पश्रमादेव विशुद्धदृष्टिः स मोक्षसौख्यं लभते च विद्वान् ॥ ६१ ॥

महावतके अंकुशका संकेत न माननेवाला उद्दण्ड, मदोन्मत्त हाथी जिस प्रकार प्राणके ग्राहक शत्रुओंकी सेनामें घुसकर सहसा ही अपने ऊपर बैठे योद्धाओंके साथ व्यर्थ प्राण गँवाता है उसी प्रकार ज्ञानरूपी अंकुशसे हीन चित्तवाला जीव व्यर्थ ही जन्म मरणके दुःख भरता है ॥ ५७ ॥

ज्ञानांकुश का उदाहरण

किन्तु जो हाथी हस्तिपकके संकेतको शीघ्र ही समझता है और उसके ही अनुसार चलता है वह श्रेष्ठ हाथी शत्रुसेनाको घेर-घेरकर जैसे पैरोंसे रौंदता है वैसे ही ज्ञानपूर्वक आचरण करनेवाला जीव मोहनीयकर्मरूपी भयंकर शत्रुकी उग्रसेनाको भी देखते-देखते सर्वथा पराजित कर देता है ॥ ५८ ॥

अंधपंगु का निदर्शन

जंगलमें लगी सर्वतोमुखी दावाग्निसे बचकर निकल भागनेका प्रयत्न करता हुआ अंधा पुरुष जिस प्रकार घूम फिरके फिर उसीमें जा पड़ता है, आँखोंपर अज्ञानरूपी कालिमाका मोटा परदा पड़ जानेपर यह जीव भी उसी प्रकार दुख ज्वालाओंमें जा पड़ता है और भस्मसात् हो जाता है ॥ ५९ ॥

सूझता लंगड़ा आदमी भी अनेक उपयुक्त उपायोंके सहारेसे धीरे-धीरे दावाग्निसे बाहर निकलकर जिस प्रकार अपने स्थानपर पहुँच जाता है, उसी प्रकार ज्ञानोपुरुष अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंसे सुपंथको पहिचान लेता है और आगमके अनुरूप तप करके सरलतासे परम निर्वाणको प्राप्त कर लेता है ॥ ६० ॥

विवेक माहात्म्य

संसारमें अत्यन्त प्रचलित इन सब दृष्टान्तोंको अपनी बुद्धिरूपी आँखसे भलीभाँति परखकर सत्य श्रद्धासे युक्त सम्यक्-

कुमतिदुरुपदेशाद्धर्मसद्भावकृत्ये
जगति न हि विदन्ति क्षीणपुण्या नरा ये ।
अविदितपरमार्थास्ते पुनर्जन्मवासे
चिरतरमपि कालं दुःखभाजो भवन्ति ॥ ६२ ॥
अत इह मतिमन्तो धर्ममग्र्यं जनानां
त्रिभुवनसुखसारप्रापकं संभजध्वम् ।
त्यजत[1] वितथशून्यं श्यामलं लोकधर्मं
शृणुत तदुपरिष्टात्कर्मणां च प्रभेदम् ॥ ६३ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
धर्मप्रश्नो नाम तृतीयः सर्गः ।

ज्ञानी पुरुषार्थी जीव (भरत चक्रवर्तीके समान) दुर्द्धर तप तपे विना ही साधारण तपस्या द्वारा ही अपने चरमलक्ष्य क्षायिक सुखोंके सागर मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ ६१ ॥

कुमति

संसारमें जिन प्राणियोंका पुण्य क्षीण हो जाता है उनपर कुमतिका एकाधिकार हो जाता है और उन्हें मिथ्यात्वका उपदेश ही रुचता है फलतः वे धर्माचरण और उत्तमभावोंके रहस्यको समझते ही नहीं हैं। परिणाम यह होता है कि वे तत्त्वज्ञान और अर्थरहस्यसे अनभिज्ञ ही रह जाते हैं और बार-बार जन्ममरणके चक्रमें पड़कर अनन्तकालतक दुख भरते हैं ॥ ६२ ॥

अतएव जिन पुरुषोंकी सद्बुद्धि नष्ट नहीं हुई है वे मनुष्य धर्मोंमें सर्वश्रेष्ठ उस सत्यधर्मका आश्रय लें जो तीनों लोकोंके सुखोंके सारभूत मोक्षसुखकी प्राप्ति कराता है और दुराचारपूर्ण उन लौकिक वाममार्गोंको छोड़ दें जिनमें सत्यका नाम भी नहीं है ॥ ६३ ॥

अब समस्त कर्मोंके भेद और प्रभेदोंको सावधानीसे सुनें।

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरित नामक धर्मकथामें
धर्मप्रश्न नामक तृतीय सर्ग समाप्त ।

---

१. क त्यजथ, म त्यजतथ (?)।

चतुर्थः सर्गः[1]

संसारे प्राणिनः सर्वे सुखदुःखानुवर्तिनः ।
इष्यते कारणं कर्म तयोश्च सुखदुःखयोः ॥ १ ॥
तदेकं कर्म सामान्याद्भेदादष्टकमुच्यते ।
चतुर्धा भिद्यते बन्धान्निमित्ताच्च चतुर्विधम् ॥ २ ॥
ज्ञानावरणमाद्यं हि द्वितीयं दर्शनावृतम् ।
तृतीयं वेदनीयाख्यं चतुर्थो मोह उच्यते ॥ ३ ॥
आयुश्च पञ्चमं प्रोक्तं नाम षष्ठमुदाहृतम् ।
सप्तमं गोत्रमित्युक्तमन्तरायोऽष्टमः स्मृतः ॥ ४ ॥

चतुर्थ सर्ग

जगत्सृष्टा-कर्म

देव, आदि चार गतियोंमें विभक्त इस संसारमें कृमिसे लेकर सर्वार्थसिद्धिके देव पर्यन्त सब ही प्राणी दुख-सुखके अनादि चक्रोंमें परिवर्तन कर रहे हैं। इन संसारी जीवोंके द्रव्य और भाव सब ही सुख-दुखोंके कारण उनके निजार्जित शुभ और अशुभ-कर्म ही हैं, ईश्वरकी इच्छा, माया या प्रकृति आदि नहीं हैं ॥ १ ॥

सामान्य दृष्टिसे देखनेपर सांसारिक सुख-दुखोंका प्रधान कारण कर्म एक ही प्रकारका है, किन्तु परिपाककी अपेक्षासे भेद करनेपर उसीके आठ भेद हो जाते हैं। कर्म अपने बन्धके पंचविध कारणों मिथ्यादर्शन जो अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के भेदसे तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश प्रकारोंकी अपेक्षासे चार प्रकारका कहा गया है ॥ २ ॥

ज्ञानस्वरूप जीवके ज्ञानको रोकनेवाला ज्ञानावरणी प्रथम कर्म है, पदार्थोंके साक्षात्कारका बाधक दर्शनावरणी दूसरा कर्म है, सुख दुखमें साता और असाताके अनुभवका द्योतक वेदनीय तीसरा कर्म है, जीवके स्वभावको अन्यथा करनेवाला मोहनीय चौथा कर्म है ॥ ३ ॥

अष्ट कर्म देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गतियोंमें वासका कारण आयु कर्म पाँचवां है, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके अलग-अलग, शरीरोंका निर्माता छठा नाम कर्म है।

उच्च और नीच विभागोंका कारण सातवां कर्म गोत्र है और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, भोग आदिकी प्राप्तिका प्रधान साधक-बाधक अन्तिम (आठवाँ अन्तराय) कर्म है ॥ ४ ॥

---

१. क श्रीमदभिनवचारुकीर्तिपण्डिताचार्यमुनये नमः ।

मूलप्रकृतयस्त्वेता नामतः परिकीर्तिताः ।
आद्ये कर्मणि पञ्चैव द्वितीये नवधा स्मृतम् ॥ ५ ॥
तृतीये द्विप्रकारं तु चतुर्थेऽष्टौ च विंशतिः ।
चतुष्प्रकारमायुष्कं द्विचत्वारिंशन्नामनि ॥ ६ ॥
गोत्रे तु द्विविधं प्रोक्तमन्तरायस्तु पञ्चधा ।
उत्तरप्रकृतयः सर्वाः संख्याता हि समासतः ॥ ७ ॥
आद्ये द्वे मोहनीयं च दुःखदान्यन्तरायिकम् ।
वेद्यायुर्नामगोत्राणि सुखदुःखानि नित्यशः ॥ ८ ॥
मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययकेवलम् ।
अभिभूय स्ववीर्येण तमः समवतिष्ठते ॥ ९ ॥

उत्तर-प्रकृति

इस प्रकारसे कर्म सामान्यके आठ प्रधान भेदों (मूल प्रकृतियों) के नाममात्र आपको बताये हैं। इन्हीं मूल प्रकृतियोंको विस्तृत रूपसे देखनेपर प्रथम कर्म ज्ञानावरणीके पांच भेद होते हैं, दूसरे दर्शनावरणीके नौभेद हैं ॥ ५ ॥

तृतीयकर्म वेदनीयके दो ही भेद हैं, कर्मोंके मुखिया मोहनीय नामके चौथे कर्मके सम्यक्त्व मोहनीय और चारित्र मोहनीय दो प्रधान भेद हैं तथा इनके ही अवान्तर भेद अट्ठाइस होते हैं। योनि विशेषमें रोक रख नेवाले आयुकर्मके भी चार भेद हैं, नाना प्रकारके आकार और प्रकारोंके जनक षष्ठकर्म नामके प्रधानभेद बयालीस हैं ॥ ६ ॥

शक्तिको अपेक्षा समान एक ही योनिके जीवोंको भी उच्च और नीच वर्गोंमें विभाजक गोत्रकर्म प्रधान रूपसे दो ही प्रकारका है और अन्तिम कर्म अन्तरायकी उत्तर प्रकृतियाँ पाँच हैं। इस प्रकारसे संक्षेपमें आठों कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंको गिना दिया है ॥ ८ ॥

विपाक भेद

पहिले दो कर्म अर्थात् ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी तथा चौथा कर्म मोहनीय ये तीनों जीवको एकान्तरूपसे दुख ही देते हैं। तथा वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन पाँचों कर्मोंका फल सदा ही सुख और दुखमय होता है ॥ ८ ॥

ज्ञानावरणी

ज्ञानावरणीकर्म अपनी अन्धकारमय प्रकृतिकी अपार सामर्थ्यके द्वारा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान (परोक्षप्रमाण), अवधिज्ञान,

चतुर्विधं मतिज्ञानं तदेवाष्टौ च विंशतिः ।
द्वात्रिंशत्पुनरन्येन स्मृतिमावृत्य तिष्ठति ॥ १० ॥
अवग्रहेहावायानां धारणानां च संततिः ।
शुश्रूषामार्गणापेक्षाधारणानि[1] रुणद्धि सा ॥ ११ ॥
पर्यायाक्षरसंघातः पदं संघात एव च ।
प्रतिपत्तिश्च योगश्चानियोगद्वारमेव[2] च ॥ १२ ॥

मनःपर्ययज्ञान (विकल प्रत्यक्ष प्रमाण) और केवलज्ञान (सकल प्रत्यक्ष) इन पाँचों ज्ञानोंको ढककर जीवको अज्ञान अन्धकारमें डाल देता है ॥ ९ ॥

मतिज्ञानावरणी

स्थूलरूपसे मतिज्ञान चार (अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा) प्रकारका ही है इन चार प्रकारोंको ज्ञानके साधनोंसे मिलानेपर मतिज्ञानके अट्ठाइस भेद हो जाते हैं। अर्थात् पाँचों इन्द्रियों और मनसे अर्थके पृथक्-पृथक् अवग्रह आदि (६ × ४ = २४) होनेसे इन चौबीस चार प्रकारका व्यञ्जन-अवग्रह और (कारण मन और चक्षुसे व्यजनावग्रह नहीं होता) इस प्रकार (२४ में ४) जोड़नेपर कुल २८ भेद होते हैं। उक्त अट्ठाइस भेदोंमें मूल चार भेद जोड़ देनेसे (२८ + ४ = ३२) यही मतिज्ञान बत्तीस प्रकारका हो जाता है ॥ १० ॥

स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध मतिके ही नाम हैं। मतिज्ञानावरणी कर्म इन स्मृति आदिको रोक देता है। अवग्रह मतिज्ञानावरणीकर्म पदार्थके साधारण ज्ञानको भी रोक देता है, अर्थकी विशेषताओंकी जिज्ञासा मात्रका मूलोच्छेद करना ईहा मतिज्ञानावरणीका काम है, विषयके निर्णयात्मकज्ञानमें अवाय-मतिज्ञानावरणी ही बाधक होता है और धारणा मतिज्ञानावरणी कर्म उक्त प्रकारसे जाने हुए भी पदार्थज्ञानके दृढ़ संस्कारको नहीं होने देता है ॥ ११ ॥

श्रुतज्ञानावरणी

विशेषरूपसे देखनेपर श्रुतज्ञानावरणीके भी अधोलिखित बीस भेद होते हैं—पर्याय (निगोदिया जीवके जन्मके प्रथम समयमें रहनेवाला श्रुतज्ञान, जो कभी आवृत नहीं होता), पर्याय समास (पर्याय ज्ञानसे अक्षर ज्ञानतकके ज्ञानके भेद), अक्षर (पर्याय समास ज्ञानसे अनन्तगुना ज्ञान) अक्षर समास (पद ज्ञान तकके ज्ञानभेद), पद (अक्षरज्ञानसे संख्यातगुना), पदसमास (संघात तकके सब भेद), संघात (पदसे संख्यातगुना एक गतिका ज्ञान), संघातसमास, प्रतिपत्तिक (संघातसे संख्यात हजार-गुना चारों गतियोंका ज्ञान), प्रतिपत्तिक समास, अनुयोग (प्रतिपतिसे संख्यात हजारगुना चौदह मार्गणाओंका ज्ञान) ॥ १२ ॥

---

१. म °मार्गणोपेक्षा° । २. म योगश्च नियोग°, [योगश्चानुयोग°] ।

प्राभृतं प्राभृतं चैव प्राभृतं वस्तुपूर्वकम् ।
श्रुतज्ञानावृतिस्तत्र समासेन च विंशतिः ॥ १३ ॥
ग्रन्थार्थौ च न जानाति ज्ञात्वा चोपदिशन्पुनः ।
अशक्तः प्रतिपादयितुं श्रुतज्ञानावृतेः फलम् ॥ १४ ॥
द्विभेदमवधिज्ञानं गुणतो जन्मतश्च यत् ।
तज्ज्ञानं ह्रियते येन सावधिज्ञानसंवृतिः ॥ १५ ॥
तद्विनाशोऽवधिज्ञानं[1] प्राणिषूत्पद्यते पुनः ।
देवानां नारकाणां च भवप्रत्ययकं स्मृतम् ॥ १६ ॥

अनुयोगसमास, प्राभृत (एक-एक अक्षर करके चतुरादि अनुयोग वृद्धियुक्त अनुयोगज्ञान), प्राभृत-प्राभृत समास, प्राभृत (चौबीस बार सविधि बढ़ा प्राभृत प्राभृत ज्ञान), प्राभृत समास, वस्तु (प्राभृत ज्ञानसे सविधि बीसगुना ज्ञान), वस्तुसमास, पूर्व (वस्तुसे क्रमशः दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दशगुने उत्पाद आदि चौदह पूर्व) तथा पूर्वसमास संक्षेपमें श्रुतज्ञानावरण बीस प्रकारका है ॥ १३ ॥

प्रकट रूपमें श्रुतज्ञानावरणीका यही फल होता है कि उससे आक्रान्त जीव न तो शास्त्रको समझता ही है और न उसके प्रतिपाद्य अर्थको ही । तीसरी अवस्था भी होती है, जब प्राणी ग्रन्थ और विषयार्थ दोनोंको स्वयं जानकर भी जब दूसरोंको उपदेश देता है तो उनको भलीभाँति नहीं समझा सकता है ॥ १४ ॥

अवधिज्ञानावरणी

साधारणतया अवधिज्ञान दो (भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय) प्रकारका होता है; साधना आदिसे उत्पन्न आत्मीक गुणके (क्षयोपशम) के कारण गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है तथा योनिविशेष (देव नारक) में जन्म लेनेसे ही क्षयोपशम पूर्वक होनेवाला भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंको जो कर्म ढँक देते हैं .उन्हें क्रमशः भवप्रत्यय-अवधिज्ञानवरणी और क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञानावरणी कहते हैं ॥ १५ ॥

इस अवधिज्ञानावरणी कर्मका नाश हो जानेपर ही संसारके जीवोंमें अवधिज्ञानका उदय होता है । उक्त दो प्रकारके अवधिज्ञानोंमें भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकियोंके ही कहा गया है ॥ १६ ॥

१. [तद्विनाशेऽवधिज्ञानं] ।

तिरश्चो मानुषाणां च गुणप्रत्ययः इष्यते ।
अवधिः परमो नृणां नेतरेषां प्रकल्प्यते ॥ १७ ॥
क्षयोपशम एवास्मिन्नवधिज्ञानकारणम् ।
संक्लेशपरिणामेन तद्द्वयं च विनश्यति ॥ १८ ॥
ऋजुमतिश्च विज्ञेया विपुला तदनन्तरा ।
तयोरावरणवत्स्यान्मनःपर्ययसंवृतिः ॥ १९ ॥
यद्योजनपृथक्त्वे च प्राणिनां चेतसि स्थितम् ।
न शक्तो येन विज्ञातुमृजुमत्यावृतेर्बलात् ॥ २० ॥
अर्धतृतीयद्वीपस्य प्राणिनां हृदि वर्ति[1] तत् ।
नास्ति शक्तिः परिज्ञातुं विपुलावृतिवीर्यतः ॥ २१ ॥

गुणप्रत्यय अर्थात् साधना—क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाला अवधिज्ञान तिर्यंचों और मनुष्योंको होता है ऐसा आगम बतलाते हैं ! किन्तु उत्कृष्ट देशावधिसे भी बड़ा परमावधिज्ञान मनुष्य गतिमें ही हो सकता है। मनुष्योंसे बचे नारकों और तिर्यंचोंकी तो बात ही क्या है। देवोंके भी परमावधिज्ञान नहीं होता है ॥ १७ ॥

वास्तवमें कर्मोंका (सर्वघातीका क्षय और उपशम) क्षयोपशम ही अवधिज्ञानका प्रधान कारण है और लेकिन जब जब जीवके परिणाम क्रोधादि कुभावोंसे संक्लिष्ट होते हैं तब ही कर्मोंका क्षय उपशम दोनों विलीन हो जाते हैं फलतः अवधिज्ञानका भी लोप हो जाता है ॥ १८ ॥

मनःपर्ययज्ञानावरणी

जीवोंकी मानसिक वृत्ति एक तो अत्यन्त ऋजु अर्थात् सरल निर्वर्तित (सुलझी) होती है और दूसरी अत्यन्त कुटिल या विपुल अनिर्वर्तित (उलझी) होती है। इन दोनों प्रकारकी मानसिक चेष्टाओंको जाननेमें समर्थ चेतना शक्तिको ढँकनेवाला कारण ही चौथा ज्ञानावरणी (मनःपर्ययज्ञानावरणी) है ॥ २० ॥

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानावरणी कर्मका यही फल होता है कि ज्ञाता योजन पृथक्त्व (दो, तीन योजनसे ७, ८ योजन तक) में बैठे हुए प्राणियोंके मनोंमें उठनेवाले संकल्प-विकल्पोंको भी जाननेमें समर्थ नहीं होता है। ढाई, (अर्थात् जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड द्वीप और आधे पुष्कर) द्वीपमें रहनेवाले प्राणियोंके हृदयोंमें उठनेवाले विचारों और भावोंको भी जो ज्ञाता नहीं जान सकता है वह सब विपुलमति-मनःपर्ययज्ञानावरणीका ही फल है ॥ २१ ॥

१. [हृद्विवर्ति]।

उत्कृष्टादप्यसंख्येयान् द्वित्रान्नाथ जघन्यतः ।
मनःपर्ययावरणाद्भवान् ज्ञातुं न शक्तवान् । २२ ॥
सर्वद्रव्यस्वभावानां विज्ञात्रीं सर्वदा पुनः ।
संवृणोत्यात्मविज्ञप्तिं केवलज्ञानसंवृतिः ॥ २३ ॥
निद्रानिद्रा च निद्रा च प्रचलाप्रचला चला ।
स्त्यानगृद्धिश्च चक्षुश्च अनेत्रावधिदर्शनम् ॥ २४ ॥
केवलेन समाख्यातो दर्शनावृतिकर्मणः ।
सातासाते पुनर्द्वे च वेदनीयस्य ते स्मृते ॥ २५ ॥

यह तो हुआ क्षेत्रकी अपेक्षा किन्तु कालकी अपेक्षासे भी कम से कम दो, तीन भवोंकी बातोंको और अधिकसे अधिक असंख्यात भवोंमें घटी बातोंको जाननेमें असमर्थ होना भी, जीव पर मनःपर्ययज्ञानावरणी कर्मका आवरण पड़ जानेसे ही होता है ॥ २२ ॥

केवलज्ञानावरणी

आत्माकी वह विशेष योग्यता जिसके द्वारा यह जीव आदि छहों द्रव्योंके सांगोपांग स्वभाव और पर्यायोंका तीनों लोकों और तीनों कालोंमें युगपत् जानता है, उसी असाधारण पूर्ण चैतन्य स्वरूपको केवलज्ञानावरणी कर्मपूर्ण रूपसे ढंक देता है ॥ २३ ॥

दर्शनावरणी

पदार्थोंका दर्शन (सामान्य प्रतिभास), निद्रा (सोना), निद्रानिद्रा (अत्यधिक सोना), प्रचला (बैठे-बैठे सावधि शयन), प्रचला—प्रचला (बक झक सहितप्रचला), स्त्यान-गृद्धि (सोते-सोते उठकर रुद्रकर्म करना) चक्षुदर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण (अवधिज्ञानके द्वारा ज्ञात पदार्थोंका सामान्य प्रतिभास न होना) ॥ २४ ॥

तथा केवल दर्शनावरण (केवल ज्ञानके द्वारा जानने योग्य पदार्थोंका साधारण प्रतिभास न होना) के कारण नहीं होता । फलतः दर्शनावरणी कर्मके यही नौ भेद होते हैं ।

वेदनीय

संसारके संयोगोंका अनुभव (वेदन) दो ही प्रकारका होता है; सुखरूप (साता वेदनीय) या दुःखरूप (असाता वेदनीय ॥ २५ ॥

असातवेदनीयेन नरके तीव्रवेदना ।
तिर्यङ्मानुषयोर्मिश्रा[1] सुखं सातात्सुरालये ॥ २६ ॥
द्विविधं मोहनीयं स्याद्दृष्टेश्च चरितस्य च ।
दर्शनं त्रिविधं प्रोक्तं सम्यङ्मिथ्यात्वमिश्रकम् ॥ २७ ॥
नोकषायः कषायश्च चारित्रावरणं द्विधा ।
नोकषायो नवविधः कषायः षोडशात्मकः ॥ २८ ॥
हास्यरत्यरतिशोका जुगुप्सा भयमेव च ।
स्त्रीपुंनपुंसवेदाश्च नोकषाया नव स्मृताः ॥ २९ ॥
क्रोधो मानश्च माया च लोभोऽनन्तानुबन्धिनः ।
विघातयन्ति सम्यक्त्वं चारित्रं च विशेषतः ॥ ३० ॥

असाता वेदनीय कर्मका उदय होनेसे यह जीव नरकमें दारुणसे दारुण दुःखोंको एकान्तरूपसे सहता है। तिर्यंच और मनुष्य गतिमें साता और असाता वेदनीय दोनोंका उदय रहता है फलतः सुख दुःख दोनों प्राणीको प्राप्त होते हैं और देवगतिमें केवल साता वेदनीयका उदय रहनेसे केवल सुख भोग प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

मोहनीय

मोहनीय कर्म भी दो प्रकारका होता है, जो जीवकी सामान्य श्रद्धानशक्तिको भ्रान्त कर देता है उसे दर्शन मोहनीय कहते हैं तथा जीवके चरित्रको अन्यथा करनेवालेका नाम चारित्र मोहनीय है। दर्शन मोहनीयके भी सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) मोहनीय ये तीन भेद हैं ॥ २७ ॥

चारित्र मोहनीयके कषाय और नोकषाय प्रधान रूपसे दो ही प्रकार हैं, लेकिन नोकषाय (साधारण कषाय) नौ प्रकार की हैं। इसी प्रकार कषाय के भी अवान्तर भेद सोलह हैं ॥ २८ ॥

हास्य (हँसना), रति (प्रेम या प्रीतिभाव), अरति (द्वेष, इर्षा आदि), शोक (अनुताप, विलाप आदि), जुगुप्सा (घृणा ग्लानि आदि), भय, स्त्रीवेद (पुरुषसे रमण करनेकी इच्छा), पुंवेद (स्त्रीसे रमण करनेकी प्रकृति), और नपुंसकवेद (स्त्री और पुरुष दोनोंकी द्रव्य तथा भाव शक्तिकी विकलता) इन नौ परिणतियोंको केवली भगवानने नोकषाय कहा है ॥ २९ ॥

कषायके मुख्यभेद क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार ही हैं, किन्तु, आत्माके चारित्रको नाश करनेके क्रमकी अपेक्षा इनकी भी निम्न चार श्रेणियाँ होती हैं—(१) अनन्तानुबन्धी (महा संसार बंधके कारण) क्रोध, मान, माया और लोभ वे हैं

१. क तिर्यग्मानुषयोर्मिश्रं ।

क्रोधो मानश्च मया[1] लोभः प्रत्याख्याननामकाः ।
गृहीतव्रतशीलस्य दयासंयमघातिनः ॥ ३१ ॥
क्रोधो मानश्च माया च लोभः संज्वलनात्मकाः ।
ते यथाख्यातचारित्रं नाशयन्ति न संशयः ॥ ३२ ॥
चतुष्प्रकारमायुष्कं नारकं दैवमेव च ।
तिर्यग्योनिं च मानुष्यं स्थितिसत्कारणं[2] स्मृतम् ॥ ३३ ॥
आयुष्कं नारकं दुःखं तिर्यग्योनिं च मानुषम् ।
सुखदुःखविमिश्रं तं दैवमैकान्तिकं सुखम् ॥ ३४ ॥

जो आत्मामें सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण चारित्रको भी प्रकट नहीं होने देते हैं। [(२) अप्रत्याख्यान (अल्पत्याग अर्थात् देश संयम भी न करनेकी प्रवृत्ति) नामके क्रोध, मान, माया और लोभ आत्माकी संयमासंयम अर्थात् अणुव्रतमय प्रारम्भिक चारित्र पालन करनेकी भावनाको भी बलपूर्वक दबा देते हैं ॥ ३० ॥

(३) जो क्रोध मान, माया और लोभ पांचों महाव्रतोंके पालनसे होनेवाले पूर्ण संयमको विकसित नहीं होने देते हैं, महाव्रती होनेसे रोकते हैं उन्हें शास्त्रमें प्रत्याख्यानावरणी कषाय कहा है ॥ ३१ ॥

संज्वलन (संयमके साथ धीरे किन्तु स्पष्टरूपसे चलनेवाले) क्रोध, मान, माया और लोभ, यद्यपि अपने सूक्ष्मरूपके कारण सम्यक्त्व, विकल और सकलचारित्रमें बाधक तो नहीं होते हैं तो भी यथाख्यात (स्वाभाविक परिपूर्ण) चारित्रका विकास नहीं होने देते हैं ऐसा निश्चय है ॥ ३२ ॥

आयुकर्म

चतुर्थकर्म आयुके मुख्यभेद चार ही हैं—नरकयोनि, तिर्यञ्जयोनि, मनुष्ययोनि और देवयोनि। इन चारों योनियोंमें रोक रखनेमें समर्थ प्रधान कारणको ही शास्त्रोंमें आयुकर्म नाम दिया है ॥ ३३ ॥

नरक आयुमें बिना विराम सदा ही दुख भरने पड़ते हैं, तिर्यञ्च आयु और मनुष्य आयुमें सुख तथा दुख दोनोंके मिश्रणका जीवको अनुभव करना पड़ता है—तथा यहींपर जीव अपना अधिक विकास भी कर सकता है—तथा देव आयुका फल दुखकी मिलावटसे हीन शुद्ध सुख ही होता है ॥ ३४ ॥

---

१. क माया च लोभः । २. क स्थितेस्तत्कारणं ।

द्विविधं नाम तत्प्राहुः शुभाशुभसमन्वितम् ।
द्विचत्वारिंशदन्येन नवतिस्त्र्युत्तराण्यथ ॥ ३५ ॥
उच्चनीचद्वयं गोत्रमुच्चनीचं च मानुषम् ।
तिर्यङ्नारकयोर्नीचमुच्चमेवामरं स्मृतम् ॥ ३६ ॥
दानलोभौ च भोगश्चोपभोगो वीर्यमेव च ।
पञ्च प्रकृतयस्तस्य अन्तरायस्य कर्मणः ॥ ३७ ॥
उत्तरप्रकृतयः प्रोक्ता अष्टानामपि कर्मणाम् ।
शतमष्टोत्तरं चैव चत्वारिंशत्प्रमाणतः ॥ ३८ ॥
आदितस्तु त्रयाणां च अन्तरायस्य कर्मणः ।
कोटीकोट्यस्तथा त्रिंशन्मोहनीयस्य सप्ततिः ॥ ३९ ॥

नामकर्म

जीवके शारीरिक आकार प्रकारोंका निर्माता नामकर्म शुभ (शुभ नामकर्म) और अशुभ (अशुभ नामकर्म) विशेषणोंसे युक्त होकर प्रधानरूपसे दो ही प्रकारका होता है। मुख्य भेदोंकी अपेक्षासे विभक्त करनेपर इसके व्यालीस भेद होते हैं तथा अवान्तर भेदोंकी अपेक्षासे देखनेपर इसीके तेरानवे भेद हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

गोत्रकर्म

गोत्रकर्मके दो ही भेद हैं:—प्रथम उच्चगोत्र और द्वितीय नीचगोत्र। मनुष्य गतिमें उच्चगोत्र और नीचगोत्र दोनों होते हैं, तिर्यञ्चगति और नरकगतिमें एकमात्र नीचगोत्र ही होता है और इसी प्रकार देवगतिमें भी केवल उच्चगोत्र ही शास्त्रमें कहा है ॥ ३६ ॥

जीवकी स्वभाव प्राप्तिमें बाधक अन्तिमकर्म (अन्तरायकर्म) जीवकी दान देने, भोग, उपभोग और लाभ प्राप्ति तथा वीर्य वर्द्धनमें अड़ंगा डालता है फलतः उसकी दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पाँच ही प्रकृतियाँ होती हैं ॥ ३७ ॥

अन्तरायकर्म

इस प्रकार कर्मकी आठों मूल प्रकृतियोंकी उत्तर प्रकृतियोंका प्रमाण, उक्त उत्तर प्रकृतियोंको जोड़नेपर एक सौ अड़तालीस केवली भगवानने कहा है ॥ ३८ ॥

आदिके तीन अर्थात् ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और वेदनीय तथा अन्तरायकर्म इन चारों कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस

चत्वारिंशच्चरित्रस्य गोत्रनाम्नस्तु[1] विंशतिः ।
आयुष्कस्य त्रयस्त्रिंशत्सागराश्च परा स्थितिः ॥ ४० ॥
द्विषण्मुहूर्ता वेद्यस्य तथाष्टौ नामगोत्रयोः ।
अन्तर्मुहूर्तिकी शेषे जघन्या स्थितिरिष्यते ॥ ४१ ॥
तेषामथ दुरन्तानामष्टानां घोरकर्मणाम् ।
मिथ्यात्वासंयमौ योगाः कषाया बन्धहेतवः ॥ ४२ ॥
ज्ञानविद्वेषिणो ये च प्रतिपक्षप्रशंसिनः ।
असादेन[2] रता भूयो ज्ञानविघ्नकराश्च ये ॥ ४३ ॥

कोड़ाकोड़ी सागर बतायो है । किन्तु कर्मोंके राजा मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है ॥ ३९ ॥

कर्म-स्थिति

किन्तु उसीके अवान्तरभेद चारित्र मोहनीयकी चालीस कोड़ाकोड़ी सागर ही है। गोत्रकर्म और नामकर्मकी उत्कृट आयु बीस कोड़ाकोड़ी सागर ही है और आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है ॥ ४० ॥

इन्हीं कर्मोंकी जघन्य स्थितिपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि वेदनीय कर्म कमसे कम (दो छह अर्थात्) बारह मुहूर्त रहता है, नामकर्म और गोत्रकर्म आठ मुहूर्त पर्यन्त ही जघन्य रूपसे टिकते हैं और बाकी ज्ञानावरणी, मोहनीय, आयु और अन्तरायकी न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त (एक मुहूर्त अर्थात् अड़तालीस मिनटसे भी कम) है ॥ ४१ ॥

कर्मबन्धके कारण

बुरेसे बुरे फल देनेवाले अतएव जीवके लिए अत्यन्त भयंकर इन आठों कर्मोंके बन्धके प्रधान कारण मिथ्यात्व, (भ्रान्त श्रद्धा) असंयम, (अनुचित आचार-विचार) योग (मन, वचन और कायकी सब ही चेष्टाएँ) और कषाय ही हैं ॥४२॥

ज्ञानावरणीका बन्ध

जिन प्राणियोंको सम्यक् ज्ञानसे द्वेष है (प्रदोष), जो (प्रतिपक्ष) मिथ्या मार्गोंकी प्रशंसा करते हैं दूसरोंके सम्यक् ज्ञानकी विनय तथा प्रशंसा नहीं करते उसके प्रचारको रोकनेमें जिन्हें आनन्द आता है, ज्ञान अर्जन करनेवालोंकी सिद्धिमें जो बार-बार अनेक विघ्न बाधाएं डालते हैं (अन्तराय) किसी विषयके विशेषज्ञ होते हुए भी दूसरे न जान सकें इसीलिए अपने ज्ञानको जो व्यक्ति छिपाते हैं (निन्हव), सम्यक् ज्ञान और सम्यक् ज्ञानियोंका जो अहंकारी निरादर करते हैं, जिन्हें अपने

१. [गोत्रनाम्नोस्तु] । २. [आसादने] ।

निह्नवं ये कुर्वन्ति अवज्ञामप्यविस्मयाः ।
ज्ञानावृतिकरं कर्म बध्नन्ति नियमेन ते ॥ ४४ ॥
उत्सूत्रं ये च कुर्वन्ति अकालेऽधीयते च ये ।
विनयादिक्रियाहीनास्ते श्रुत्यावृतिबन्धकाः ॥ ४५ ॥
यथा नभसि संपूर्णं शशाङ्कं प्रावृडम्बुदः ।
संवृणोति क्षणेनैव जीवं ज्ञानावृतिस्तथा ॥ ४६ ॥
हस्तविक्षोभविक्षिप्तः सचलः[1] क्षणतः पुनः ।
प्रावृणोत्युदकं यद्वत्तद्वद् ज्ञानावृतं स्मृतम् ॥ ४७ ॥
द्रव्याण्यशक्तः पुरुषो द्रष्टुं तिमिरलोचनः ।
अशक्तस्त्वावृतज्ञानः सत्स्वभावान्परीक्षितुम् ॥ ४८ ॥

ज्ञानका अहंकार तथा अन्य ज्ञानियोंसे अकारण बैर होता है (मात्सर्य), ऐसे लोग निश्चयसे ज्ञानावरणीका बन्ध करते हैं ॥ ४३-४४ ॥

जो सत्य आगमकी सूत्र परम्पराका उल्लंघन करके पढ़ते हैं, जिन्हें वर्जित समय (अकाल) में ही पढ़नेकी इच्छा होती है अथवा जो गुरू, शास्त्र आदिकी विनय और भक्तिको यथाविधि नहीं करते हैं वे ही प्राणी श्रुत ज्ञानावरणी कर्मका निःसन्देह बन्ध करते हैं ॥ ४५ ॥

वर्षा ऋतुके काले-काले घने मेघ आकाशमें धवल चन्द्रिकाको फैला देनेवाले पूर्णिमाके षोडसकला युक्त चन्द्रमाको जैसे अकस्मात् ही कहींसे आकर ढँक लेते हैं उसी प्रकार ज्ञानवारणी कर्म भी ज्ञान गुण युक्त आत्माको एक क्षण भरमें ही आवृत कर लेता है ॥ ४६ ॥

किसी एक ओर इकट्ठी हुई काई जिस प्रकार हाथके आघातसे हिलाये डुलाये जानेपर क्षणभरमें ही पूरी स्वच्छ जल-राशिके ऊपर फैल जाती है बिल्कुल इसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्मका स्वभाव होता है ॥ ४७ ॥

जिसकी आँखोंकी ज्योति नष्ट हो गयी फलतः आँखोंमें अन्धकार छा गया है ऐसा व्यक्ति सामने पड़े हुए द्रव्योंको देखनेमें असमर्थ हो जाता, ठीक इसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्मने जिस जीवके ज्ञानपर पर्दा डाल दिया है वह पदार्थोंके सत्य लक्षणोंका विवेचन नहीं कर सकता है ॥ ४८ ॥

---

१. म स च लक्षणतः, [शैवलः]।

नव प्रकृतयः प्रोक्ता दृष्टयावरणकर्मणः ।
ज्ञानावृतिनिमित्तानि तान्येवोक्तानि तस्य च ॥ ४९ ॥
वृक्षाग्रे वाथ रथ्यायां तथा जागरणेऽपि वा ।
निद्रानिद्राप्रभावेन न दृष्टयुद्घाटनं भवेत् ॥ ५० ॥
स्यन्दते[1] मुखतो लाला[2] तनुं चालयते मुहुः ।
शिरो नमयतेऽत्यर्थं प्रचलाप्रचलाक्रमः ॥ ५१ ॥
स्वपित्युत्थापितो भूयः स्वपत्कर्म करोति च ।
अबद्धं लभते[3] किंचित्स्त्यानगृद्धिक्रमो मतः ॥ ५२ ॥
यान्तं संस्थापयत्याशु स्थितमासयते शनैः ।
आसीनं शाययत्येव निद्रायाः शक्तिरीदृशी ॥ ५३ ॥

दर्शनावरणी-बन्धकारण

दर्शनावरणी कर्मकी निद्रा, प्रचला आदि नौ उत्तर प्रकृतियाँ पहिले कह चुके हैं। जो प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन आदि ज्ञानावरणी कर्मके बन्धमें कारण होते हैं यही सबके सब दर्शनावरणी कर्मके बन्धमें भी प्रधान निमित्त हैं ॥ ४९ ॥

निद्रानिद्रा दर्शनावरणीके प्रभावसे आदमी वृक्षकी शाखाओं और शिखरोंपर भी सो जाता है, चौराहे या बीच सड़क-पर भी मौजसे खुर्राटे भरता है तथा बार-बार जगाये जानेपर तथा स्वयं भी जागनेका भरपूर प्रयत्न करके भी वह आँख नहीं खोल पाता है ॥ ५० ॥

यह सब प्रचलाप्रचलाका ही प्रतिफल है जो सोते व्यक्तिके मुखसे लार बहती है, सोनेवाला शरीरको बार-बार इधर-उधर चलाता है तथा शिरको इतना अधिक मोड़ देता है मानो टूट जायेगा ॥ ५१ ॥

स्त्यानगृद्धि दर्शनावरणीके उदय होनेसे व्यक्ति जगाकर खड़ा कर देनेके तुरन्त बाद ही फिर सो जाता है, सोते-सोते ही उठकर कोई काम कर डालता है और नींद नहीं टूटती है, तथा सोते-सोते कुछ ऐसा बोलता है जिसमें पूर्वापर सम्बन्ध ही नहीं होता है ॥ ५२ ॥

निद्रा दर्शनावरणीमें वह शक्ति है कि वह चले जाते हुए जीवको तुरन्त कहीं रोक देती है, रुककर खड़े हुए व्यक्तिको बिना बिलम्ब बैठा देती है, बैठे हुए पुरुषको उसके बाद ही लिटा देती है और लेटेको तुरन्त निद्रामग्न कर देती है ॥ ५३ ॥

---

१. क स्पन्दते । २. म लोला । ३. [लपते] ।

किंचिदुन्मिषितो[1] जीवः स्वपित्येव मुहुर्मुहुः ।
ईषदीषद्विजानाति प्रचलालक्षणं हि तत् ॥ ५४ ॥
चक्षुर्दर्शनावरणं दृष्टिवीर्यं हिनस्ति तत् ।
शेषेन्द्रियाणां वीर्याणि हन्त्यचक्षुः स्ववीर्यतः ॥ ५५ ॥
अवधिः परमाह्वश्च स्वनामावरणावृतौ[2] ।
केवलप्रेक्षणावृत्त्यावृतं केवलदर्शनम् ॥ ५६ ॥
दुःखशोकवधाक्रन्दबन्धनाहाररोधनम् ।
असातवेदनीयस्य कर्मणः कारणं ध्रुवम् ॥ ५७ ॥
दानधर्मदयाक्षान्तिशौचव्रततपोन्विताः ।
शीलसंयमगुप्ताश्च सातं बध्नन्ति जन्तवः ॥ ५८ ॥

यह सब प्रचला दर्शनावरणीके ही लक्षण हैं कि आदमी आँखोंको थोड़ा-सा खोले रहता है अर्थात् पलक पूरे नहीं ढपते है तो भी फिर-फिर कर सो जाता है और बीच बीचमें कभी-कभी आँख भी खोल देता है इतना ही नहीं सोते हुए भी उसे अपने आस पासकी घटनाओंका थोड़ा-थोड़ा ज्ञान रहता है ॥ ५४ ॥

चक्षु दर्शनावरणी कर्म आँखोंकी पदार्थ देखनेकी सामर्थ्यको सर्वथा नष्ट कर देता है और शेष स्पर्श, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मनकी प्रतिभास करनेकी शक्तिको अचक्षु दर्शनावरणी कर्म नष्ट कर देता है ॥ ५५ ॥

पहिले अवधिज्ञानका वर्णन कर चुके हैं उसके द्वारा जानने योग्य उत्कृष्ट और जघन्य पदार्थोंके साधारण प्रतिभासको जो आवरण अपनी शक्तिसे रोक देता है उसे अवधिदर्शनावरणी कहते हैं केवलज्ञानके ज्ञेय त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों और उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंके सामान्य प्रतिभासमें जो बाधक है उसे केवलदर्शनावरणी कहते हैं ॥ ५६ ॥

वेदनीय बन्ध विचार

प्राणियोंको दुख देना, शोक सागरमें ढकेलना, वध करना, रोना, विलाप करना, प्राणियोंको बन्धनमें डालना और उनको शास्ति (शिक्षा = दंड) देनेके लिए भोजन पान रोक देना इस प्रकारकी सबही चेष्टाएँ निश्चयसे असातावेदनीय कर्मके बन्धका कारणहोती हैं ॥ ५७ ॥

सत्पात्रों तथा अभावग्रस्त व्यक्तियोंको दान देना, कर्त्तव्यपालन, प्राणिमात्र पर दयाभाव, चंचलताके कारणोंकी

१. म किंचिदुन्मितो, क किंचिदु (न्वि) न्मितो । २. क स्वनामावरणं वृतौ ।

यद्दुःखं त्रिषु लोकेषु शारीरं वाथ मानसम् ।
समस्तं तदसातस्य कर्मणः पाक उच्यते ॥ ५९ ॥
यत्सुखं त्रिषु लोकेषु शारीरं वाथ मानसम् ।
तत्सर्वं सातवेद्यस्य कर्मणः पाक उच्यते ॥ ६० ॥
केवलिश्रुतधर्माणां[1] गुरूणामर्हतां सदा ।
चातुर्वर्णस्य संघस्य अवर्णाबद्धवादिनः ॥ ६१ ॥
मार्गसंदूषणं कृत्वा अमार्गं देशयन्ति ये ।
दृष्टिमोहं प्रबध्नन्ति जीवाः संसारभागिनः[2] ॥ ६२ ॥

उपस्थितिमें भी शान्त रहना, भीतर बाहर पवित्र रहना, तपस्याके अभ्यासके साथ व्रतोंका आचरण, ब्रह्मचर्य, शीलधारण, संयम पालन और मन, वचन तथा कायपर नियन्त्रण रखना जीवको सातावेदनीयका बन्ध कराते हैं ॥ ५८ ॥

ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और नरकलोकमें जितने भी ताड़न, भेदन आदि शारीरिक और शोक, चिन्ता आदि मानसिक दुःख होते हैं वे सबके सब जीवके साथ बँधे असातावेदनीय कर्मके ही परिपाक हैं ॥ ५९ ॥

इसी प्रकार तीनों लोकोंमें प्राप्त होनेवाले स्वास्थ्य, सेवकादि शारीरिक सुख अथवा प्रेम, प्रसन्नता आदि मानसिक सुख भी उक्त दान, आदि शुभकर्मोंके द्वारा बाँधे गये सातावेदनीयके फलोन्मुख होनेपर ही प्राप्त होते हैं ॥ ६० ॥

दर्शनमोहनीय बन्धविमर्ष

जो लोग कवलाहारी, आदि कहकर केवली भगवानकी (केवली-अवर्णवाद), 'है भी नहीं भी है इसलिए सब संशयात्मक है' रूपसे स्याद्वादमय सत्य शास्त्रकी (श्रुत अवर्णवाद), 'अहिंसापर ही जोर देकर राष्ट्रको सण्ढ बना दिया है' आदि मिथ्या लाँछनों द्वारा धर्मकी (धर्मावर्णवाद), 'कमंडलुमें रुपया पैसा भरे रहते हैं' आदि भ्रांतियोंसे सद्गुरुओंको (गुरु अवर्णवाद)' 'प्रथम अर्हन्त ऋषभदेव मलमें पड़े रहते थे' इत्यादि लिखकर वीतराग प्रभुकी (देवावर्णवाद), श्रावक, श्राविका, मुनि और आर्यिकाओंके चतुर्विध संघका, नग्नमुनि तथा आर्यिकाओंका आमने सामने आना भी वासनाको जाग्रत कर देता होगा' के समान अपने मानसिक पतनको प्रकट करके जो बिना सिर-पैरकी निन्दा करते (संघअवर्णवाद) हैं ॥ ६१ ॥

वीतराग केवली प्रभुके द्वारा उपदिष्ट स्वैराचार विरोधी सन्मार्गका विरोध करके जो धर्माचरणकी आड़में वासना पूर्तिमें सहायक मिथ्यामार्गका उपदेश देते हैं उन लोगोंका संसार भ्रमण बढ़ता ही जाता है, कारण वे जीव निश्चयसे दर्शन-मोहनीय कर्मका बन्ध करते हैं ॥ ६२ ॥

---

१. म श्रुति । २. क संसारभोगिनः ।

दृष्टिमोहवृता जीवाः सद्भावं न च जानते ।
अलब्धकर्मसद्भावा लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥ ६३ ॥
तीव्रक्रोधाहिसंदष्टा मानस्तम्भितचेतसः ।
मायाविष्टान्तकलुषा लोभरागान्धदृष्टयः ॥ ६४ ॥
चारित्रमोहं बध्नन्ति जीवा दुरितबुद्धयः ।
तेन कर्मविपाकेन क्लिश्यन्ते भववर्त्मसु ॥ ६५ ॥
आद्यः क्रोधोदयस्तीव्रः शिलाभेदसमो मतः ।
नोपैत्युपशमं तेन जीवो जन्मान्तरेष्वपि ॥ ६६ ॥

जिन जीवोंकी चेतनाको दर्शनमोहनीयने चाँप रखा है वे लोग शुभ भाव कैसे होते हैं ? इसका उन्हें आभास भी नहीं होता है। न तो उन्हें लब्धि (सम्यक्त्व प्राप्त करनेका अवसर) ही प्राप्त होती है और न उन्हें शुभकर्म करने तथा भला चेतनेकी प्रवृत्ति ही होती है। परिणाम यह होता है कि उन्हें कभी भी संसार शरीरसे वैराग्य नहीं होता है; मुक्तिकी तो बात ही क्या है ? ॥ ६३ ॥

चारित्रमोहनीय

जिन्हें तीव्रतम क्रोधरूपी कृष्णसर्पने डस लिया है, जिनके मनको मानको बाढ़ने हेय, उपादेयके विवेकसे वंचित करके निश्चेतन कर दिया है, जिनका अन्तःकरण मायारूपी मैलसे सर्वथा मलीन हो गया है और लोभरूपी कालिमाने जिनकी आँखोंको अन्धा कर दिया है ॥ ६४ ॥

इस प्रकारसे सदा ही पाप चिन्तामें मग्न रहनेवाले लोग ही चारित्रमोहनीय कर्मका दृढ़ बन्ध करते हैं। और यही चारित्रमोहनीय परिपक्व होकर अपनी लीला दिखाता है जिसके कारण उक्त प्रकारके जीव संसारमार्गमें नाना प्रकारके क्लेश उठाते हैं ॥ ६५ ॥

क्रोध निदर्शन

प्रथम प्रकारके अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोधका जो संस्कार आत्मापर पड़ता है वह इतना तीव्र होता है कि उसकी उपमा पत्थरपर खोदी गयी रेखासे दी जाती है। यही कारण है कि ये क्रोधादि जन्म-जन्मान्तरोंमें भी जाकर शान्त नहीं होते हैं और निमित्त सामने आते ही भड़क उठते हैं ॥ ६६ ॥

क्रोधोदयो द्वितीयस्तु मध्यक्षेत्रदरोसमः ।
उपैत्युपशमं कालाच्छ्रुतितोयार्द्रचेतसः ॥ ६७ ॥
क्रोधोत्थानस्तृतीयस्तु सिकतालेखसंनिभः ।
ज्ञानानिलेन संस्पृष्टो गतावेकीकरोत्यसौ[1] ॥ ६८ ॥
क्रोधोदयश्चतुर्थो यो जललेखा[2]समो मतः ।
स पुनः कारणाज्जातः क्षिप्रमेवोपशाम्यति ॥ ६९ ॥
आद्यो मानोदयस्तीव्रः शैलस्तम्भनिभो मतः ।
नोपैति मार्दवं यस्माज्जीवः कालान्तरादपि ॥ ७० ॥
मानोदयो द्वितीयस्तु समोऽस्थ्नेत्यभिधीयते ।
उपैति मार्दवं तस्माज्ज्ञानाग्निपरितापितः ॥ ७१ ॥

दूसरे प्रकार अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध कषायकी जो छाप आत्मापर पड़ती है उसे वैसी ही समझिये जैसी कि गोली पृथ्वीके सूखनेपर उसमें पड़ी दरार होती है। यह संस्कार काफी समय बीतनेपर अथवा शास्त्ररूपी ज्ञान = जलवृष्टिसे चित्त स्नेहार्द्र हो जानेपर उपशमको प्राप्त हो जाता है ॥ ६७ ॥

तीसरे अर्थात् प्रत्याख्यान क्रोधके उद्धार वैसे ही होते हैं जैसा कि बालूके ऊपर लिखा गया लेख, क्योंकि ज्यों ही उस पर ज्ञानरूपी तीव्र वायुके झोंके लगते हैं त्यों ही लेखकी समस्त रेखाएँ (कषायोंके उभार) पुरकर एक-सी हो जाती हैं ॥ ६८ ॥

अन्तिम प्रकार अर्थात् संज्वलन क्रोधकी आत्मामें पड़नेवाली झलककी पानीपर खींची गयी रेखासे तुलना की गयी है अतएव जिस कारणसे वह उत्पन्न होता है उसके दूर होते ही तुरन्त विलीन हो जाता है ॥ ६९ ॥

मान निदर्शन

प्रथम प्रकारका (अनन्तानुबन्धी) मान इतना तीव्र और विवेकहीन होता है कि शास्त्रकारोंने उसे पत्थरके स्तम्भके समान माना है इसीलिए अनन्तकाल बीत जानेपर भी उससे आक्रान्त जीवमें तनिक भी मृदुता या विनम्रता नहीं आती है ॥ ७० ॥

पुराण पुरुष कहते हैं कि दूसरा मान (अप्रत्याख्यान मान) का उदय आत्मामें हड्डीके समान कर्कशता ला देता है, परिणाम यह होता है कि जब जीव ज्ञानरूपी आगमें काफी तपाया जाता है तो उसमें कुछ-कुछ विनम्रता आ जाती है ॥ ७१ ॥

१. क गतावेरिकरोत्यसौ, [गर्तामेकी°]। २. म जले लेखा°।

मानोत्थानस्तृतीयस्तु आर्द्रकाष्ठसमो मतः ।
ज्ञानस्नेहसमाभ्यक्तस्ततो याति हि मार्दवम् ॥ ७२ ॥
मानोदयश्चतुर्थो यो वालवल्लीनिभो मतः ।
श्रुतिहस्तसमास्पृष्टो मृदुत्वं याति तत्क्षणात् ॥ ७३ ॥
आद्यो मायोदयस्तीव्रो वेणुमूलसमो मतः ।
वक्रशीलो भवेत्तेन नोपयात्यार्जवं सदा ॥ ७४ ॥
मायोदयो द्वितीयस्तु मेषशृङ्गसमो मतः ।
हृद्यन्यच्च समादाय तेनान्यत्प्रकरोति सः ॥ ७५ ॥
मायोत्थानस्तृतीयस्तु गोमूत्रि[1]कसमो मतः ।
अर्धमर्धमृजुत्वं च अर्धं मायाकृतं भवेत् ॥ ७६ ॥

तृतीय अर्थात् प्रत्याख्यान मानका उभार होनेपर जीवमें उतनी ही कठोरता आ जाती है जितनी कि गीली लकड़ीमें होती है, फलतः जब ऐसा जीवरूपी काष्ठ ज्ञानरूपी तैलसे सराबोर कर दिया जाता है तो उसके उपरान्त ही वह सरलतासे झुक जाता है ॥ ७२ ॥

अन्तिम संज्वलन मानके संस्कारकी बालोंकी घुंघराली लटसे तुलना की है, आपाततः ज्यों ही उसे शास्त्रज्ञानरूपी हाथसे स्पर्श करिये त्योंही वह क्षणभरमें ही सीधा और सरल हो जाता है ॥ ७३ ॥

माया-उपमा

प्रथम अनन्तानुबन्धी मायाके उदय होनेपर जीवकी चित्तवृत्ति बिल्कुल बाँसकी जड़ोंके समान हो जाती है। इसी कारण उसका चाल-चलन और स्वभाव अत्यन्त उलझे तथा कुटिल हो जाते हैं और उनमें कभी भी सीधापन नहीं आता है ॥ ७४ ॥

अप्रत्याख्यानावरणी मायाका आत्मापर पड़नेवाला संस्कार मेढ़ेके सींगके समान गुड़ीदार होता है। फलतः इस कषाय-से आक्रान्त व्यक्ति मनमें कुछ सोचता है और जो करता है वह इससे बिल्कुल भिन्न होता है ॥ ७५ ॥

प्रत्याख्यानावरणी मायाके उभारकी तुलना चलते बैलके मूत्रसे बनी टेढ़ी मेढ़ी रेखासे होती है, परिणाम यह होता है कि उसकी सब ही चेष्टाएँ बैलके मूत्रके समान आधी सीधी और आधी कुटिल एवं कपटपूर्ण होती है ॥ ७६ ॥

---

१. [°मूत्रित]।

मायोदयश्चतुर्थो यश्चमरीरोमसंनिभः ।
प्रत्येति प्रकृतिस्तेन ज्ञानयन्त्रप्रपीडितः ॥ ७७ ॥
आद्यो लोभोदयस्तीव्रः क्रि[1]मिरागसमो मतः ।
श्रुतानलप्रदग्धोऽपि लोभो न परिहीयते ॥ ७८ ॥
लोभोदयो द्वितीयस्तु नीलीवर्णसमो मतः ।
ज्ञानपानीयसंधौतस्तेनात्मा[2] कल्मषायते ॥ ७९ ॥
लोभोत्थानस्तृतीयस्तु आर्द्रपङ्कसमो मतः ।
श्रुततोयविनिर्धौतस्तेन वैमल्यमृच्छति ॥ ८० ॥
लोभोदयश्चतुर्थो यो हरिद्रारागसंनिभः ।
श्रुतिसूर्यांशुसंतप्तः क्षणाद्रागः प्रणश्यति ॥ ८१ ॥

अन्तिम प्रकारकी (संज्वलन) मायाका उभार आत्माको चमरी मृगके रोमके समान कर देता है। अतएव ज्यों ही आत्मारूपी रोमको जीव ज्ञानरूपी यन्त्रमें रखकर दबाते हैं त्यों ही वह बिना विलम्ब अपने शुद्ध स्वभावको प्राप्त कर लेता है ॥ ७७ ॥

लोभोदाहरण

प्रथम लोभ (अनन्तानुबन्धी) के उदय होनेपर आत्मापर वैसा ही अमिट संस्कार पड़ जाता है जैसा कि कीड़ोंके खूनसे बनाये गये लाल रंग (रक्तिमा) का होता है। अतएव ऐसे आत्माको जब शास्त्रज्ञानरूपी ज्वालामें जलाया जाता है तब भी वह लोभका संस्कार (लालिमा) उसे नहीं छोड़ता है ॥ ७८ ॥

अप्रत्याख्यानावरणी लोभसे आत्मापर वैसा ही रंग चढ़ जाता है जैसा कि नीले रंगका किसी धवल वस्तुपर आता है, परिणाम यह होता है कि ज्यों ही जीव अपने आपको ज्ञानरूपी जलमें धोता है त्यों ही आत्मा तुरन्त ही शुचि और स्वच्छ हो जाता है ॥ ७९ ॥

प्रत्याख्यानावरणी लोभके उभारकी गीले कीचड़के साथ तुलना की गयी है फलतः ज्योंही प्राणी आत्माको शास्त्राभ्यासरूपी जलसे भलीभाँति धोता है त्योंही इस लोभका नामो-निशां भी आत्मासे गायब हो जाता है ॥ ८० ॥

अन्तिम संज्वलन लोभके उदय होनेपर उसका जो प्रतिबिम्ब आत्मापर पड़ता है वह हल्दीके रंगकी लालीके समान होता है। उसपर शास्त्ररूपी सूर्यकी किरणें पड़ी नहीं कि वह क्षणभरमें ही लुप्त हुआ ॥ ८१ ॥

१. क कृमि। २. क तेनात्माऽकस्मात्कषायते।

चारित्रमोहनीयेन चारित्रं न च लभ्यते ।
अचारित्रः पुनर्घोरे नरके पच्यते चिरम् ॥ ८२ ॥
हर्षे रोषे त्ववज्ञायामेकाको वान्यसंश्रितः ।
निष्कारणं च लपते हास्यकर्मोदयावृतः ॥ ८३ ॥
पापक्रियाभियुक्तेषु अफलेष्वहितेषु च ।
रतिकर्मोदयान्नित्यं रमते दुर्जनेषु सः ॥ ८४ ॥
ज्ञानं व्रतं तपः शीलं दैन्यान्यसुखकारणम् (?)[1] ।
लब्ध्वा न रमते तत्र अरतेः कर्मणः फलात् ॥ ८५ ॥
एकं भयं समासृत्य भयस्थानेषु सप्तसु ।
वेपिताङ्गः स्खलद्वाक्यो भयकर्मोदयाद्भवेत्[2] ॥ ८६ ॥

यह चारित्रमोहनीयकी ही महिमा है जो जीव चाहनेपर भी किसी प्रकारके चारित्रका पालन नहीं कर पाता है। तथा जो जीव किसी भी प्रकारके चारित्रको धारण नहीं कर सका है उसका तो कहना ही क्या है, विचारा अनन्तकालतक घोर नरकमें सड़ता है ॥ ८२ ॥

नोकषाय-अनुभाव

हास्य नोकषायके उदय होनेपर यह जीव प्रसन्नताके अवसरपर, साकूत क्रोधमें तथा कहींपर अपमान होनेके बाद अकेले ही या अन्य लोगोंके सामने भी प्रकट कारणके बिना ही हँसता है अथवा अपने आप ही कुछ बड़बड़ाता जाता है ॥ ८३ ॥

जब किसी जीवके रति नोकषायका उदय होता है तो उसे उन दुष्ट लोगोंसे ही अधिक प्रीति होती है जो पापमय कर्मोंके करनेमें ही सदा लगे रहते हैं, जिनके कर्मोंका परिणाम कुफल प्राप्ति ही होता है तथा निष्कर्ष शुद्ध अहित ही होता है ॥ ८४ ॥

यह अरति नोकषायका ही फल है जो जीव ज्ञानार्जनके साधन, व्रतपालनका शुभ अवसर, तप तपनेकी सुविधाएँ, ज्ञानाभाव मार्जनकी सामग्री, लौकिक और पारलौकिक सम्पत्ति (द्रव्य) तथा अन्य सुखोंके कारणोंकी प्राप्ति हो जानेपर भी अपने आपको उनमें नहीं लगा सकता है ॥ ८५ ॥

श्मशान, राजद्वार, अन्धकार आदि सात भयके स्थानोंपर किसी साधारणसे साधारण भयके कारणके उपस्थित होते ही

---

१. क शीलञ्चैन्योन्य°, [शीलाद्यन्मोन्यसुख°], [शीलं धन्योऽन्यसुखकारणम्], २. म भयः,

निर्विण्णो दीर्घनिश्वासः सर्वत्रगतमानसः ।
क्षीण[1]बुद्धीन्द्रियबलः शोककर्मोदयाद्भवेत् ॥ ८७ ॥
इन्द्रियाणां च पञ्चानां योऽर्थांल्लब्ध्वा मनोरमान् ।
जुगुप्सते विपुण्यात्मा जुगुप्साकर्मपीडितः ॥ ८८ ॥
स्त्री चेव[2] पुंस्त्वसंदर्शात्पुमांसमभिलष्यति ।
लाक्षेवानलसंस्पर्शात्क्षणेनैव विलीयते ॥ ८९ ॥
पुंवेदः स्त्र्यभिसंदर्शात्स्त्रियं समभिलष्यति ।
यथाग्नेर्घृतकुम्भस्तु क्षणेनैव विलीयते ॥ ९० ॥
इष्टकापाकसंदर्शं विफलं मदनाश्रितम् (?) ।
दौरूप्यं गर्हितं याति स नपुंसकवेदतः ॥ ९१ ॥

जो प्राणी एकदम काँपने लगता है तथा बोली बन्द हो जाती है या हकला-हकला कर बोलने लगता है यह सब भय नोकषायका ही प्रभाव है ॥ ८६ ॥

जब प्राणी हरएक बातसे उदासीन हो जाता है, लम्बी-लम्बी साँस छोड़ता है, मनको नियन्त्रित नहीं कर पाता है फलतः मन सब तरफ अव्यवस्थित होकर चक्कर काटता है, इन्द्रियाँ इतनी दुर्बल हो जाती हैं कि वे अपना कार्य भी नहीं कर पाती हैं तथा बुद्धि विचार नहीं सकती है, तब समझिये कि उसके शोक नोकषायका उदय है ॥ ८७ ॥

जो पुण्यहीन व्यक्ति पाँचों इन्द्रियोंके परमप्रिय भोगों और उपभोगोंकी प्राप्ति करके भी उनसे घृणा करता है या ग्लानिका अनुभव करता है, समझिये उसे जुगुप्सा नोकषायने जोरोंसे दबा रखा है ॥ ८८ ॥

पुरुषत्वके दर्शन होते ही जो जीव पुरुषको प्राप्त करनेके लिए आतुर हो उठता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। स्त्रीवेदधारी जीव पुरुषको देखते ही ऐसा द्रवित हो उठता है जैसे कि लाख आग छुआते ही बह पड़ती है ॥ ८९ ॥

स्त्रीका साक्षात्कार होते ही जो जीव स्त्रीको पानेके लिए आकाश पाताल एक कर देता है यह पुंवेदका ही कार्य है। पुरुषवेद युक्त प्राणी स्त्रीको देखते ही वैसा पिघल जाता है जैसे कि जमे घीका घड़ा अग्नि स्पर्श होते क्षणभरमें ही पानी-पानी हो जाता है ॥ ९० ॥

ईंटोंके अवेके समान (बाहर आगका नाम नहीं और भीतर भयंकर दाह) किसी प्राणीमें जब काम उपभोग सम्बन्धी भयंकर विकलता होती है, तथा अत्यन्त निन्दनीय कुरूपपना होती है। समझिये यह सब नपुंसकवेदका ही परिपाक है ॥ ९१ ॥

---

१. म क्षण°, २. [स्त्रीवेदः],

नवभिर्नोकषायैस्तु स्वकर्मफलवर्तिभिः ।
आत्मा चरत्यनाचारं स तेन क्लेशमृच्छति ॥ ९२ ॥
व्रतशीलगुणैः शून्या बह्वारम्भपरिग्रहाः ।
बध्नन्ति नरकायुस्ते मिथ्यामोहितदृष्टयः ॥ ९३ ॥
मायातिवञ्चनप्रायाः कूटमानतुलारताः ।
बध्नन्त्यायुस्तिरश्चां ते रसभेदश्चकारिणः[1] ॥ ९४ ॥
शीलसंयमहीना ये मार्दवार्जवदानिनः ।
बध्नन्ति मानुषायुस्ते प्रकृत्याल्पकषायिणः ॥ ९५ ॥
सरागसंयमोऽकामसंयमासंयमव्रताः ।
सद्दृष्टिज्ञानचारित्रा[3] बध्नन्त्यायुर्दिवौकसाम् ॥ ९६ ॥

अपने-अपने विशेष कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली हास्यादि नोकषायोंके कारण यह जीव बड़े-बड़े अनाचार और अत्याचार करता है। परिणाम यह होता है कि आत्माकी संसारमें स्थिति क्लेशपूर्ण हो जाती है ॥ ९२ ॥

नरकायुबन्ध कारण

जिन लोगोंकी विवेकरूपी दृष्टिपर मिथ्यात्व मोहनीयका पर्दा पड़ गया है, जो अहिंसादि व्रत और शिक्षा तथा गुणव्रतमय शीलसे हीन हैं, साथ ही साथ संसार-कारण अत्यधिक आरम्भ और परिग्रह करते हैं वे नरकायुका बन्ध करते हैं ॥ ९३ ॥

तिर्यञ्चायुका बन्ध

जो अत्यन्त मायावी हैं, दूसरोंको सदा सर्वथा ठगते हैं, जिनके बाँट और तराजू झूठे हैं तथा जो एकरसमें दूसरे रसको मिला देते हैं जैसे दूधमें पानी, घीमें चर्बी आदि ऐसे ही लोग तिर्यंच आयुका बन्ध करते हैं ॥ ९४ ॥

मनुष्यायुका बन्ध

जिनकी क्रोधादि कषाय स्वभावसे ही मन्द हैं, जो यद्यपि सामायिक आदि शील तथा कायक्लेश आदि इन्द्रिय संयमका पालन नहीं करते हैं तो भी दान देते हैं, व्यवहारमें सरल और कोमल हैं, ऐसे ही प्राणी मनुष्य आयुको प्राप्त करते हैं ॥ ९५ ॥

देवायु बन्ध

स्वर्गवासियोंकी आयुको वे ही पाते हैं जो आसक्ति या फलेच्छापूर्वक संयम पालते (सराग संयम) हैं, जो बिना

१. [रसभेदस्य कारिणः], [रसभेदप्रकारिणः], २. [सरागसंयमाकाम°], ३. [°चारित्राद्]।

मनोवाक्कायकुटिला विसंवादपरायणाः ।
बध्नन्त्यशुभनामानि दुर्वर्णादीनि देहिनः ॥ ९७ ॥

ऋजवो वाङ्मनःकायैरविसंवादतत्पराः ।
सौरूप्यादिविपाकानि बध्नन्ति शुभनामतः ॥ ९८ ॥

ये जात्यादिमदोन्मत्ताः परनिन्दापरायणाः ।
नीचगोत्रं निबध्नन्ति जीवाः परमदारुणम् ॥ ९९ ॥

ज्ञानधर्मार्हतां भक्ताः परनिन्दाविवर्जिताः ।
उच्चैर्गोत्रं निबध्नन्ति जीवाः परमदुर्लभम् ॥ १०० ॥

दानविघ्नकरा ये ते निःस्वा जन्मसु जन्मसु ।
लाभविघ्नकराश्चापि निराशा धनलब्धिषु ॥ १०१ ॥

उद्देश्यके ही ऐसे कार्य करते हैं जिनसे कर्मोंकी निर्जरा हो सकती है (अकाम निर्जरा) संयमासंयममय (देशचारित्र) आचरण करते हैं या जो कि सम्यक्दृष्टि सम्यक्चारित्री होते हैं ॥ ९६ ॥

नामकर्म बन्ध

जिन प्राणियोंकी मानसिक, वाचनिक तथा शारीरिक चेष्टाएं छल और कपटसे भरी रहती हैं, जिन्हें विरोध, मतभेद या सन्देह करनेमें ही आनन्द आता है वे प्राणी ही दुर्वर्ण अयशःकीर्ति आदि बुरे नामकर्मका बन्ध करते हैं ॥ ९७ ॥

जो कुछ मनसे सोचते हैं वही मुखसे बोलते हैं, वचनोंके अनुकूल ही चेष्टा करते हैं तथा जो कहते हैं उसे ही मनसे सोचते हैं, विरोध, सन्देह वैमनस्यके बिल्कुल खिलाफ रहते हैं ऐसे ही जीव शुभ, सुस्वर आदि शुभनामकर्मकी प्रकृतियोंको बाँधते हैं ॥ ९८ ॥

गोत्रकर्म बन्ध

जिन प्राणियोंको अपनी जाति, कुल, शरीर, बल, ऋद्धि, ज्ञान, तप और पूजाका अभिमान या उन्माद हो जाता है, सर्वदा दूसरोंकी निन्दा और दोषोद्घाटनमें लीन रहते हैं, ऐसे ही प्राणी नीच-गोत्रका बन्ध करते हैं जिसका परिपाक अत्यन्त दुखदायी होता है ॥ ९९ ॥

अर्हन्त प्रभुके द्वारा प्राप्त सम्यक्ज्ञान तथा उन्हींके द्वारा उपदिष्ट वीतराग धर्ममें जिनकी अटूट भक्ति होती है। दूसरेकी निन्दा तथा पैशुन्य आदिमें जो कोसों दूर रहते हैं, वे ही प्राणी उच्चगोत्र-कर्मका बन्ध करते हैं, जो कि इस संसारमें भरपूर प्रयत्न करनेपर भी कष्टसे ही प्राप्त होता है ॥ १०० ॥

अन्तराय बन्धकारण

जो प्राणी दूसरोंके दान देने और पानेमें बाधक होते हैं वे भव-भवमें दरिद्र ही होते हैं। जो किसीको होते हुए लाभमें

भोगविघ्नकरा जीवा भोगहीना भवन्ति ते ।
नालं भोक्तुं सति द्रव्ये उपभोगविघातिनः ॥ १०२ ॥
वीर्यविघ्नकरा नित्यं वीर्यहीना भवाध्वसु ।
धर्मविघ्नकरा ये ते सर्वविघ्नकरा मताः ॥ १०३ ॥
अष्टानां कर्मणां राजन्फलमेतदुदाहृतम् ।
एतैर्विमुच्य[1]ते जीवः संसारे कर्मभिश्चिरम् ॥ १०४ ॥
बध्नात्यष्टविधं कर्म एकप्राणिविहिंसनात् ।
नानायोनिषु तेनात्मा दुःखान्याप्नोत्यनन्तशः ॥ १०५ ॥
एकेन मुच्यते जीवः कर्मणान्येन बध्यते ।
घटीयन्त्रस्य घटवद्दाहोऽस्मिन्मन्थरज्जुवत् ॥ १०६ ॥

अकारण ही अडंगा लगा देते हैं उनकी सम्पत्ति कमानेकी इच्छा असफल ही रहती है ॥ १०१ ॥

अपने-अपने पुण्यके फलस्वरूप भोगोंका रस लेनेवालोंके मार्गमें जो बाधक होते हैं वे स्वयं भी सब ही भोगोंसे वञ्चित रह जाते हैं। जिन्होंने दूसरोंके उपभोग भोगनेके मार्गमें रोड़े अटकाये हैं वे सम्पत्ति आदि साधनोंको पाकर भी उपभोगोंके आनन्दसे वञ्चित ही रह जाते हैं ॥ १०२ ॥

दूसरोंकी शक्ति और वीर्यके विकास-मार्गमें जो काँटे बोते हैं वे भी इस संसारमें शक्तिहीन और अक्षम होते हैं। इसी प्रकार जो अन्य लोगोंके धर्माचरणमें विघ्नबाधाएं डालते हैं उन्हें तो दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य सबका ही अन्तराय मानना चाहिये ॥ १०३ ॥

हे राजन् ! उक्त प्रकारसे क्रमशः आठों कर्मोंका स्वरूप, उनके बन्धके कारण और विशद परिणामको आपको समझाया है। क्योंकि इस संसारमें जीव इन आठों कर्मोंके द्वारा ही सदा लुभाया जाता है और पथभ्रष्ट किया जाता है ॥ १०४ ॥

एक साधारणसे जीवकी हिंसा कर देनेसे ही यह जीव आठों प्रकारके कर्मोंका बन्ध करता है। तथा यह सब उस बन्धका ही माहात्म्य है जो यह जीव नाना योनियोंमें अनेक प्रकारके दारुण अनन्त दुखोंको भरता है ॥ १०५ ॥

कर्म महिमा

संसारचक्रमें ज्यों ही जीव किसी एक कर्मकी पाशसे छूटता है त्यों ही दूसरेका फन्दा उसपर कस जाता है फलतः बन्ध

---

१. [विमुह्यते]।

बीजादिव परं बीजं वर्धयत्कर्म कर्मणा ।
जीवो भ्रमति संसारे क्लेशाननुभवंश्चिरम् ॥ १०७ ॥
अथाष्टौ तानि कर्माणि अनादीनि महीपते ।
विनिपातसहस्राणि प्राणिनां प्रापयन्ति च ॥ १०८ ॥
एतान्येव नरके घोरे तिर्यङ्मानुषयोः सदा ।
देव दुर्गतिदुःखाब्धौ मज्जयन्ति पुनःपुनः ॥ १०९ ॥
तान्येव प्रियसंयोगं विप्रयोगं प्रियाज्जनात् ।
जाति मृत्युं जरां चैव कुर्वन्ति प्राणिनां सदा ॥ ११० ॥
दुःखबीजानि तान्येव तान्येवोग्राश्च शत्रवः ।
शोककर्तृणि तान्येव तान्येव सुखहेतवः ॥ १११ ॥

परम्परा रेंहटकी घड़ियोंके समान आत्माको घेरता रहता है अथवा यों कहिये कि मथानीकी डोरीके समान एक तरफसे खुलता है और दूसरी तरफसे बँध (लिपट) जाता है ॥ १०६ ॥

जिस प्रकार एक बीजसे दूसरे बीज उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार पूर्वोपार्जित कर्मके द्वारा उत्तरकालीन (अगले) कर्मोंके बोझको बढ़ाता हुआ यह जीव संसारमें मारा-मारा फिरता है और बहुत समय पर्यन्त अनेक क्लेशोंको भोगता है ॥ १०७ ॥

हे राजन् ! ये ज्ञानावरणी आदि आठों कर्म इस जीवके पीछे अनादि (जिसका प्रारम्भ नहीं खोजा जा सकता है) कालसे चिपके हैं और इस जीवके एक दो नहीं हजारों पतनोंको करते आये हैं ॥ १०८ ॥

यही कर्म दारुण और भयंकर नरकोंमें जीवको पटकते हैं, ये ही तिर्यञ्च और मनुष्य गतियोंमें दौड़ाते हैं और ये ही कभी-कभी स्वर्गगतिमें बैठा देते हैं । यह इनकी ही सामर्थ्य है जो जीवको पुनः-पुनः दुखोंके समुद्रमें डुबा देते हैं ॥ १०९ ॥

प्रियजनोंकी सत्संगतिकी प्राप्ति (विरोधी प्रकृतिके अप्रिय लोगोंकी कुसंगतिका भरना) तथा प्राणप्रियजनोंके समागमसे सदाके लिए वियुक्त होना, जन्म और मरण, यौवन और वृद्धावस्था जो जीवोंको प्राप्त होती है यह सब भी इन्हीं कर्मोंकी लीला है ॥ ११० ॥

ये कर्म ही सब दुःखोंके मूल बीज हैं, प्राणियोंके उद्धत और निर्दय शत्रु कोई हैं, तो ये ही हैं, यदि कोई शोक-दुखका कर्त्ता है; तो ये ही हैं, इसी प्रकार सांसारिक सुखोंके प्रधान उत्पादक भी ये ही हैं ॥ १११ ॥

तान्येव कर्मभाण्डानि समादायात्र जन्तवः ।
सुखदुःखानि विक्रेतुं प्रयान्ति गतिपत्तनम् ॥ ११२ ॥
इति बहुविधकर्मदोषजालं समुदयसंग्रहकारणं सबन्धम् ।
जननमरणरोगशोकमूलं यतिपतिना कथितं यथार्थतत्त्वम् ॥ ११३ ॥
पुनरपि यतिराडधःप्रयातां दुरितवशेन समश्नुतां फलानि ।
कथयितुमुरुधीश्चकार बुद्धि तरतमदुःखयुतानि तानि राज्ञे ॥ ११४ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
पापफलप्रकथनो नाम चतुर्थः सर्गः ।

•

इस संसारमें आठों कर्मोंरूपी पण्य या विक्रेय वस्तुओंको लेकर यह जीव सुख दुःखको ही बेचने और खरीदनेके लिए ही नरक आदि गतिरूपी नगर और पत्तनोंमें घूमता फिरता है ॥ ११२ ॥

उपसंहार

इस प्रकारसे तपस्वियोंके मुकुटमणि महाराज वरदत्त केवलीने जन्म, मरण, रोग और शोकके मूल कारण अनेक प्रकारके कर्मों तथा उनसे उपजे दोषोंके स्वरूप, उनके संग्रह या बन्धके कारणों, फल देनेके समय या उदय कालको तथा अबाधा आदिको समझाया था जो कि सत्य तत्त्वज्ञानका रहस्य था ॥ ११३ ॥

तो भी केवलज्ञानरूपी विशाल बुद्धिके स्वामी मुनिराजने राजाके कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर ही पापोंके उदयके कारण ही अधोगतिको प्राप्त करनेवालों तथा वहाँपर कम-बढ़ दुःखरूपमें अपने कर्मोंके फलोंको भरनेवालोंके विषयमें और भी कहनेके लिए निश्चय किया था ॥ ११४ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरित नामक धर्मकथामें
'पापफल प्रकथन' नाम चतुर्थ सर्ग समाप्त ।

•

पञ्चमः सर्गः

अनन्तसर्वमाकाशं[1] मध्ये तस्य प्रतिष्ठितः । सुप्रतिष्ठितसंस्थानो लोकोऽयं वर्णितो जिनैः ॥ १ ॥
वेत्रासनाकृतिरधो मध्यमो झल्लरीनिभः । ऊर्ध्वो मृदङ्गसंस्थानो लोकानामियमाकृतिः ॥ २ ॥
तिर्यग्लोकप्रमाणेन रज्जुरेका प्रमीयते । तया चतुर्दश प्रोक्तास्त्रिलोकायामरज्जवः ॥ ३ ॥
अचलेन्द्रादधः सप्त ऊर्ध्वं सप्त विभाजिताः । ऊर्ध्वाधोलोकयोराहुर्मध्यमष्टप्रदेशिकम् ॥ ४ ॥
घनोदधिर्घनवातस्तनुवातश्च ते त्रयः । वायवो घनसंघाता लोकमावेष्टय धिष्ठिताः ॥ ५ ॥

पंचम सर्ग

लोक पुरुष

दुर्धर तप करके केवली पदको प्राप्त सब ही कर्मजेता तीर्थंकरोंने कहा है कि आकाश द्रव्य सब जगह व्याप्त है और अनन्त है। इसी व्यापक आकाशके मध्यमें यह जीवलोक स्थित है। जीवलोकका आकार और स्थिति दोनों अत्यधिक सुव्यवस्थित हैं॥ १ ॥

जीवलोकका नीचेका भाग जिसे पाताललोक या अधोलोक नामसे पुकारते हैं, वह बेतसे बनाये गये मूढ़े (स्टूल) के समान है अर्थात् नीचे काफी चौड़ा और ऊपर अत्यन्त संकीर्ण, बीचका भाग या मध्यलोक झांजके आकारका है। यों समझिये उथला और गोल तथा ऊपरका भाग स्वर्गलोक या ऊर्ध्वलोककी बनावट खड़े मृदङ्गके समान है। संक्षेपमें यही तीनों लोकोंके आकार हैं॥ २ ॥

लोक प्रमाण

तिर्यंचलोक या मध्यलोकके विस्तारको माप मानकर, उसे एक राजु प्रमाण माना है। इस राजु प्रमाणके अनुसार तीनों लोकोंकी सम्मिलित ऊँचाईको चौदह राजु प्रमाण कहा है॥ ३ ॥

मध्यलोकके केन्द्र बिन्दुपर स्थित गिरिराज सुमेरुसे नीचेकी तरफके लोककी ऊँचाई सात राजु प्रमाण है, इसी प्रकार ऊपरके भागका प्रमाण भी सात ही राजु है। फलतः सुमेरुके मूलमें स्थित आठ प्रदेश ही ऊर्ध्व और अधोलोकके बीचका ठीक केन्द्र स्थल है॥ ४ ॥

लोक-अवलम्ब

इस सम्पूर्ण जीवलोकको घनोदधि ,वातवलय, घन वातवलय और तनुवातवलय इन तीनों वातवलयोंने हर तरफसे भलीभाँति घेर रखा है। यह वायुसमूह भी स्वयं अत्यन्त भारी और घनाकार ठोस है॥ ५ ॥

१. [अनन्तं सर्वमाकाशं]।

मूले षोडश संख्याता मध्ये द्वादश संमिताः । दशोनयोजनास्त्वेते तयोर्बाहुल्यतः स्थिताः ॥ ६ ॥
घनोदधेस्तु सप्तैव घनवातस्य पञ्च वै । तनुवातस्य चत्वारि योजनान्याहुरादितः ॥ ७ ॥
पञ्च चत्वारि च त्रीणि योजनान्यथ मध्यमे । योजनार्धं च गव्यूतिं गव्यूत्यर्धं[1] च मस्तके ॥ ८ ॥
नारकी वाथ तैरश्ची मर्ती दैवी च निर्वृतिः । गतयः पञ्च निर्दिष्टा मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ९ ॥
तासां गतीनां पञ्चानां नारको प्रथमा गतिः । हिंसाद्यभिरता जीवास्तां विशन्त्यशुभप्रदाम् ॥ १० ॥
अधोगतिश्च सामान्यात्सैव[2] सप्तप्रभेदतः । सप्तानां सप्त नामानि वर्णितान्यृषिसत्तमैः ॥ ११ ॥
घर्मा वंशा शिलाख्या च अञ्जनारिष्टका तथा । मघवी माघवी चेति यथाख्यातमुदाहृताः ॥ १२ ॥

लोकके मूलभाग या नीचे इन वातवलयोंका विस्तार सोलह योजन है, लोकके मध्यमें केवल बारह योजन प्रमाण है तथा ऊपर जाकर दश योजन कम एवं अर्थात् (दो के लगभग) रह जाता है। पहिले कहे गये इन वातवलयोंके विस्तारके ही कारण तीनों लोकोंकी स्थिति है ॥ ६ ॥

जीवलोकके आदिमें अर्थात् नीचे सब वातवलयोंका विस्तार जो सोलह कहा है उसमें घनोदधि वातवलयका विस्तार सात योजन है, घन वातवलयका केवल पाँच योजन है और तनुवातवलयका चार योजन प्रमाण कहा है ॥ ७ ॥

लोकके मध्यमें बताये गये वातवलयोंके बारह योजन प्रमाण विस्तारमें घनोदधि वातवलयका विचार पाँच योजन प्रमाण है, घनवातवलयका विस्तार चार योजन प्रमाण है और तनुवातवलयका केवल तीन योजन ही है। लोकके शिखरपर घनोदधिका विस्तार आधा योजन प्रमाण है, घन वातवलयका एक गव्यूति (कोश) है और अन्तिम वातवलयका एक कोशसे आधामात्र है ॥ ८ ॥

चतुर्गति-पंचमगति

केवलज्ञानरूपी दृष्टिसे तत्त्वोंका साक्षात्कार करनेवाले मुनियोंने समस्त जीवोंको पाँच गतियोंमें विभक्त किया है—नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति, देव गति तथा अन्तिम गति या मोक्ष उनके नाम हैं ॥ ९ ॥

इन पाँचों गतियोंमेंसे लोकके नीचेकी ओरसे प्रारम्भ करनेपर नरक-गति सबसे पहिले आती है। हर प्रकारसे जीवका अकल्याण करनेवाली इस गतिमें वे जीव ही जाते हैं जो हिंसा आदि पाप कर्मोंमें ही लगे रहते हैं ॥ १० ॥

नरक गति

सामान्य दृष्टिसे देखनेपर यह अधोगति एक है लेकिन दुख, आयु आदिकी अपेक्षासे विचार करनेपर इसीके सात भेद हो जाते हैं। ऋषियोंके अग्रणी केवलियोंने इन सातों नामोंको निम्न प्रकारसे कहा है ॥ ११ ॥

प्रथम नरकका नाम है घर्मा उसके नीचेके पृथ्वीका नाम वंशा है, इसके बादकी पृथ्वीको शिला कहते हैं इसके नीचे

१. क गव्युतोर्ध्वं । २. [सामान्या] ।

अन्तयुक्तप्रभाशब्दा रत्नशर्करवालुकाः । पङ्को धूमस्तमश्चैव सप्तमश्च तमस्तमः ॥ १३ ॥
प्रस्तारैः कुतपश्चाशादिन्द्रका(?) नरकालये । त्रयोदशैव घर्मायां द्वौ द्वावूनतरावधा ॥ १४ ॥
त्रिंशत्पञ्चकवर्गश्च पञ्चदश दशत्रयः । पञ्चोनं शतसहस्रं पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥ १५ ॥
चतुःशतसहस्राणि अशीत्यभ्यधिकानि च । नरकाणां तु सप्तानां प्रभेदा वर्णिता जिनैः ॥१६॥
तेषामत्यल्पनरका जम्बूद्वीपसमा मताः । सर्वेभ्योऽभ्यधिका ये तु ते त्वसंख्येययोजनाः ॥१७॥
नरकाः पुरसंस्थाना इन्द्रकाख्या नराधिप । श्रेणीबद्धास्तथाष्टासु दिक्ष्वथात्र प्रकीर्णकाः[1] ॥१८॥

क्रमसे अञ्जना और अरिष्टा पृथिवियाँ हैं, छठें नरकका नाम मघवी है और अन्तिमको माधवी संज्ञा दी है। मैं इन नामोंको उसी क्रमसे कह रहा हूँ जैसा कि पूर्वाचार्योंने कहा है ॥ १२ ॥

पहिले कहे गये नाम-शब्दोंके अन्तमें 'प्रभा' शब्द जोड़ देनेसे इन्हीं सातों नरकोंके क्रमशः रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा तथा सातवींका तमस्तमा या महातमाप्रभा नाम हो जाते हैं। ये नाम इन पृथिवियोंके रंग तथा वातावरण स्वरूपपर भी प्रकाश डालते हैं ॥ १३ ॥

नरक पटल

अत्यन्त तापयुक्त इन्द्रक, (केन्द्रका बिल) दिशाओंमें फैले तथा इधर-उधर फैले (प्रकीर्णक) नारकियोंके वास स्थानों (बिलों) से पूर्ण पटल प्रथम पृथ्वी घर्मामें एकके नीचे एक करके तेरह होते हैं। इसके आगे प्रत्येक पृथ्वीमें दो-दो घटते जाते हैं। अर्थात् वंशामें ग्यारह, शिलामें नौ, अञ्जनामें सात, अरिष्टामें पाँच, मघवीमें तीन और माधवीमें केवल एक ॥ १४ ॥

इन सातों नरकों में बने निवासों (बिलों) की संख्या भी रत्नप्रभामें तीस लाख, शर्कराप्रभामें पाँचका वर्ग (पच्चीस) लाख, बालुका प्रभामें पन्द्रह लाख, पंकप्रभामें दश लाख, धूमप्रभामें तीन लाख, तमःप्रभामें पाँच कम एक लाख और महातमः प्रभामें केवल पाँच ही है ॥ १५ ॥

आठों कर्मोंके मानमर्दक जिनेन्द्र प्रभुने इस प्रकारसे इन सातों नरकोंके पटलोंके भेदोंको कुल मिला चार लाख अधिक अस्सी लाख अर्थात् चौरासी लाख प्रमाण कहा है ॥ १६ ॥

इन चौरासी लाख बिलोंमेंसे जो बिल सबसे छोटे हैं वे भी अपने विस्तार आदिमें हमारे जम्बूद्वीपके समान हैं। तथा जो बिल सबसे बड़े हैं उनका तो कहना ही क्या है उनका प्रमाण असंख्यात योजन है ॥ १७ ॥

बिल विस्तार

इन्द्रक या केन्द्र स्थानपर स्थित नरकों (बिलों) की लम्बाई, चौड़ाई और अन्य बातों को हे राजन्! बिल्कुल मध्यलोकके नगरोंके आकारका ही समझिये, इन्द्रककी आठों दिशाओंमें बने बिलोंको श्रेणीबद्ध कहते हैं तथा श्रेणीबद्ध बिलोंकी

१. म प्रकीर्णताः, [प्रकीर्तिताः]।

अधोऽधो नरका रुन्द्रा[1] अधोऽधस्तीव्रवेदनाः । अधोऽधोऽभ्यधिकायुष्का अधोऽधस्तु घनं तमः ॥१९॥
षष्ठसप्तमयोः शीतं शीतोष्णं पञ्चमे स्मृतम् । चतुर्थेऽत्युष्णमुद्दिष्टं तेषामेव महीगुणाः ॥२०॥
नारकाणां च दुःखस्य तेषां शीतोष्णयोः पुनः । वर्णगन्धकृतीनां च उपमान्या न विद्यते ॥२१॥
मेरुप्रमाणोऽयःपिण्ड उष्णे क्षिप्तो[2] यदृच्छया । विलीयते क्षणेनैव एवं तस्योष्णता मता ॥२२॥
तावत्प्रमाणोऽयःपिण्डः शीते क्षिप्तो यदृच्छया । सहसैव हिमीभावमुपयाति न संशयः ॥२३॥
जम्बूद्वीपं निमेषेण यो गन्तुं शक्तिमान्सुरः । षड्भिर्मासैर्व्रजेदन्तं महतो नरकस्य सः ॥२४॥

पंक्तियोंके अन्तरालमें इधर-उधर खुदे विलोंको ही प्रकीर्णक कहते हैं। ऊपरके नरकोंकी अपेक्षा नीचेके नरक अधिक निर्दय और भयंकर हैं ॥ १८ ॥

नारकी वातावरण

ज्यों-ज्यों नीचे जाईयेगा त्यों-त्यों कष्ट और वेदनाको दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता पाइयेगा, अवस्थाका भी यही हाल है क्योंकि नीचेके नरकोंमें ऊपरकी अपेक्षा बहुत बड़ी आयु है। नरकोंमें व्याप्त अन्धकार भी नीचे-नीचे घनतर और घनतम होता जाता है ॥ १९ ॥

सातवें और छठे नरकमें भयंकर शीत वातावरण है, पाँचमें नरक धूमप्रभामें क्रमशः अत्यन्त प्रखर शीत और उष्ण वातावरण है और चतुर्थ पृथ्वी अञ्जनापर दारुण गर्मीका ही साम्राज्य है। यह शीत और ताप किन्हीं बाह्य कारणोंसे नहीं है बल्कि वहाँकी पृथ्वीकी प्रकृति ही उस प्रकार की है ॥ २० ॥

इन नारकियोंपर बीतनेवाले दुखोंकी, भयंकर शीत और दारुण ताप-बाधाओंको, उनके रंग-रूप, गन्ध और आकृतियोंकी हजार प्रयत्न करनेपर भी दूसरी उपमा नहीं मिल सकती है ॥ २१ ॥

उन नरकोंकी गर्मी ऐसी होती है कि यदि उसमें सुमेरु पर्वतके समान लम्बे, चौड़े और घने लोहेके पिण्डको यदि यों ही फेंक दिया जाय तो वह भी एक, दो मुहूर्तमें नहीं अपितु क्षणभरमें पानी होकर बह जायेगा ॥ २२ ॥

शीतोष्ण बाधा

इसी लाखों योजन लम्बे, चौड़े और घने द्रवीभूत लोहेके महापिण्डको यदि शीतबाधायुक्त नरकमें उठाकर डाल दीजिये तो निश्चित समझिये कि वह बिना किसी प्रयत्नके ही बिल्कुल हिमशिलाके समान हो जायेगा ऐसी भयंकर वहाँकी ठंड होती है ॥ २३ ॥

दैवी शक्ति सम्पन्न जो देव सम्पूर्ण जम्बूद्वीपको पलक मारनेके समयमें ही पार कर जाता है, वही देव यदि सबसे बड़े नारकियोंके बिलमें घुस जाय तो लगातार चलते-चलते हुए भी उसे बिलके दूसरे किनारेतक पहुँचनेमें ही छह माह लग जायेंगे। इसीसे उनके क्षेत्रफलका पता लग जाता है ॥ २४ ॥

---

१. [रौद्राः]। २. क उष्णक्षिप्तो।

या गतिर्दुःखभूयिष्ठा वर्णिता मुनिपुङ्गवैः । तां गतिं ये प्रपद्यन्ते तान् वक्ष्यामि विशेषतः ॥२५॥
हिंसायां निरता नित्यं मृषावचनतत्पराः । परद्रव्यस्य हर्तारः परदाराभिलङ्घनः ॥२६॥
मिथ्यातिमिरसंछन्ना बह्वारम्भपरिग्रहाः । कृष्णलेश्यापरिणताः[1] श्वाभ्रीमधिवसन्ति ते ॥२७॥
पञ्चानामिन्द्रियाणां हि पञ्चार्था रतिहेतवः । तेषां प्राप्तिनिमित्ताय कर्म चिन्वन्ति दारुणम् ॥२८॥
अयःपिण्डो जले क्षिप्तो नादं[2] प्राप्य न तिष्ठति । कर्मभारसमाक्रान्ता जीवाश्च नरकालये ॥२९॥
पिष्टपाकमुखेष्टिके(?) उष्ट्रिकास्वपरे पुनः । उत्पद्यन्ते ह्यधोवक्त्राः पापिष्ठा वेदनातुराः ॥३०॥
उत्पद्य हि दुराचारा अत्युष्णात्परिपीडिताः । पतन्त्युत्पत्य तत्रैव तप्तभ्राष्ट्रे तिला इव ॥३१॥

मुनियोंके अग्रणी केवली आदि ऋषियोंने जिस गतिको भयंकर रुद्र दुःखोंसे व्याप्त कहा है, उसी गतिमें कौनसे जीव मर कर पहुँचते हैं उन्हींके विषयमें अब मैं विस्तारपूर्वक कहता हूँ ॥ २५ ॥

नरक गतिके कारण

जो हर समय दूसरोंकी द्रव्य वा भाव हिंसामें लगे रहते है, जिन्हें झूठ वचन बोलनेमें कभी कोई हिचकिचाहट ही नहीं होती है, दूसरे की सम्पत्तिका चुराना जिनकी आजीविका हो जाती है, दूसरेकी स्त्रियोंकी लज्जा और सतीत्वको ले लेना जिनका स्वभाव हो जाता है ॥ २६ ॥

विपरीत या भ्रान्त श्रद्धा जिनके विवेकको ढक लेती है, अत्यधिक आरम्भ और परिग्रहको करना जिनका व्यापार हो जाता है और जिनकी लेश्या (विचार और चेष्टा) अत्यन्त कृष्ण (कलुषित) हो जाती है, ये ही लोग नरकगतिमें जाकर बहुत समयतक दुःख भरते हैं ॥ २७ ॥

स्पर्शन, रसना आदि पाँचों इन्द्रियोंका अत्यन्त आकर्षक और सुखदायी जो स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द, पाँच भोग्य विषय हैं इनको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही जो लोग निर्दय और नीच काम करते हैं ॥ २८ ॥

वे लोग अपने दुष्कर्मों और अकर्मोंके भारसे इतने दब जाते हैं कि वे धड़ामसे नरकमें वैसे ही जा गिरते हैं जैसे लोहेका भारी गोला पानीमें फेंके जानेपर जोरकी आवाज करता है और रसातलको चला जाता है ऊपर नहीं ठहरता है ॥ २९ ॥

इस प्रकार नरकमें पहुँचकर कुछ जीव तो भट्ठियोंके समान अत्युष्ण स्थानोंमें पैदा होते हैं तथा दूसरे उन स्थानोंपर उत्पन्न होते हैं जिनकी तुलना ऊँटकी आकृतिके बने भाड़ोंसे की जा सकती है। वे वहाँपर नीचे मुख किये हुए उत्पन्न होते हैं ॥ ३० ॥

नारकी-जन्म

और जन्मके क्षणसे असह्य वेदनासे व्याकुल रहते हैं वे दुराचारी उत्पन्न होते ही वहाँके प्रखर तापसे असह्य कष्ट पाते

---

१. क कृष्णलेश्याः परिणता । २. [नादः] ।

नारका भीमरूपास्ते दुर्बलाः पूतिगन्धिनः । अव्यक्तहुण्डसंस्थानाः षण्डका[1]श्चण्डभाषिणः ॥३२॥
उत्पन्नान्सहसा दृष्ट्वा विभङ्गज्ञानदृष्टयः । स्मरन्तः पूर्ववैराणि आधावन्ति समन्ततः ॥३३॥
त्रासयन्तोऽथ गर्जन्त आक्रोशन्तोऽस्त्रपाणयः । जन्मान्तरे कृतान् दोषान् ख्यापयन्तः श्रयन्ति तान् ॥३४॥
पूर्वापराधानात्मीयान् ज्ञात्वा तु दुरनुष्ठितान् । भयत्रस्तविषण्णाङ्गा आरभन्ते पलायितुम् ॥३५॥
दृष्ट्वा पलायमानांस्तान्नोद्युक्तामास्त्वरान्विताः । भीषयन्तः प्रचण्डाश्च अनुधावन्ति धावतः ॥३६॥
संप्राप्य भयवित्रस्तानना[2]थान् शरणागतान् । मुसलैर्मुद्गरैः शूलैस्ताडयन्तोऽथ मर्मसु ॥३७॥

हैं और उसीसे अशान्त होकर जन्मके स्थानपरसे ऊपरको उचकते हैं और बार-बार वहीं ऐसे गिरते हैं जैसे जलते भाड़में तिल उचट-उचट कर गिरते हैं ॥ ३१ ॥

सबही नारकियोंके रंग रूप भयावने होते हैं, वे सब अत्यन्त दुष्ट-बली होते हैं और आवेशमें आकर अपने बलका दुरुपयोग ही करते हैं, शरीरोंसे असह्य सड़ाँद आती रहती है, उनका संस्थान (शरीर गठन) ऐसा ऊबड़-खाबड़ होता है कि उन्हें कुब्जक भी नहीं कह सकते, सबही नपुंसक होते हैं और अत्यन्त कटु तथा कठोर बातें करते हैं ॥ ३२ ॥

उन सबको विभंग (कुत्सित) अवधिज्ञान होता है फलतः नये नारकियोंको उत्पन्न हुआ देखकर ही उन्हें उनके (अपने) प्रति अपने पूर्वभवके वैर याद आ जाते हैं, फलतः वे सब नये नारकीयपर हर तरफसे हमला करते हैं ॥ ३३ ॥

उनके हाथ ही शस्त्रोंके समान तेज होते हैं, वे हाथ उठाकर नये नारकियोंको धमकाते हैं, उनपर जोर-जोरसे गरजते हैं, गालियाँ देते हैं और निन्दा करते हैं और दूसरे जन्मोंमें (नूतन नारकियों द्वारा) किये गये दोषों और अपकारोंको बकते हुए उनपर टूट पड़ते हैं ॥ ३४ ॥

वे नारकी पूर्व जन्मोंमें किये गये अपने अपराधों और दोषोंको याद आते ही भयसे काँपने लगते हैं, शरीर ढीला पड़ जाता है और अपने विरोधीको आता देखकर भागना प्रारम्भ कर देते हैं ॥ ३५ ॥

दूसरे नारकी ज्योंही उन्हें भयसे भागता देखते हैं त्योंही वे जल्दीसे आगे बढ़कर उनको रोक लेना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि वे और उग्र होकर उनको डराते हैं तथा जिधर-जिधर वे भागते हैं उनके पीछे-पीछे दौड़ते जाते हैं ॥ ३६ ॥

भयसे भीत होकर भागते हुए उन असहाय तथा सब प्रकारसे उनके आश्रित नारकियोंको जब अन्तमें वे पकड़ ही लेते हैं तो उनके मर्म स्थलोंपर मूसलों, मुद्गरों और भालोंकी निर्दय बौछार प्रारम्भ कर देते हैं ॥ ३७ ॥

---

१. क षण्ढकाः ।

विलपन्तो रुवन्तश्च[1] ताड्यमाना दुरात्मभिः । पतन्ति भिन्नमूर्धानो धरण्यां वेदनार्दिताः ॥ ३८ ॥
सिंहव्याघ्रमृगद्वीपा(?) गृध्रोलूकाश्च वायसाः । अयस्तुण्डैर्नखैर्दन्तैः पतितान्भक्षयन्ति तान् ॥ ३९ ॥
केचिल्लोहेषु निक्षिप्य दुदन्तो लोहयष्टिभिः । मांसमृष्टरसासक्तान्मांसवत्खादयन्ति तान् ॥ ४० ॥
जिह्वान्त्राणि[2] च नेत्राणि केचिदुत्कृत्य[3] निर्दयाः । ग्रथित्वाथ शिरासूत्रैः शोषयन्ति शिलातले ॥ ४१ ॥
छित्त्वा ये परगात्राणि प्रादुर्व्यूषितका[4](?) मुहुः । तेषां वक्त्राण्यधःकृत्वा धूपयन्ति मुहुर्मुहुः ॥ ४२ ॥
हस्तापादमथ च्छित्त्वा कर्णनासापुटानि च । रुधिरार्द्राणि संगृह्य क्रूराः कुर्वन्ति दिग्वलिम् ॥ ४३ ॥
केचिच्छूलेषु निक्षिप्य भ्रामयन्त्यभिधावतः । निक्षिप्योलूखले कांश्चिच्चूर्णयन्त्यधमा भृशम् ॥ ४४ ॥

नारकी व्यवहार

उन पापियोंके द्वारा निर्दय रूपसे पीटे गये वे नूतन नारकी रोते हैं, विलाप करते हैं और शिर आदि अंगोंके फट जाने-पर वेदनासे विह्वल हो जाते हैं तथा मरेसे होकर पृथ्वीपर गिर जाते हैं ॥ ३८ ॥

घायल और बेहोश होकर जमीनपर गिरे उन नारकियोंको तब सिंह, बाघ, हिरण, हाथी, गिद्ध, उल्लू, कौआ आदि पशु पक्षी अपने-अपने लोहेके समान नखों, दाँतों और चोंचोंसे उन्हें खाते हैं ॥ ३९ ।

नारकी दुःख

दूसरे नारकी उन्हें लोहेके कड़ाहोंमें डाल देते हैं और लोहेकी सीकोंसे उन्हें खूब कोंचते हैं । अन्तमें जब वे मांस, मिट्टी, मज्जा और अन्य रसोंसे लथपथ हो जाते हैं तो उन्हें माँसकी तरह काट काटकर खाते हैं ॥ ४० ॥

अन्य निर्दय नारकी उनकी जीभ, नाक, कान और आँख आदि अंगोंको बलपूर्वक नोच लेते हैं । फिर इन सबको शिरा-रूपी तागोंमें गूंथ देते हैं और उष्ण शिलाओंपर फैलाकर इन्हें सुखाते हैं ॥ ४१ ॥

जो जीव बार-बार दूसरोंके हाथ, पैर आदि अंग काट देते थे तथा मांसादि खूब खाते थे उन्हें नारकी, नीचेको मुख करके पटक देते हैं और पुनः-पुनः बिना बिलम्बके उनको खूब घुमाते हैं ॥ ४२ ॥

इसके बाद उनके हाथ, पैर, नाक, कान आदि अंगोंको काट लेते हैं और जबकि उनसे रक्त बहता ही रहता है तभी उन्हें इकट्ठा कर लेते हैं । इसके बाद अपने मिथ्यात्व जन्य संस्कारोंसे प्रेरित होकर उन सब अंगोंको बलिरूपमें दिशाओंको चढ़ा देते हैं ॥ ४३ ॥

दूसरे नारकी अंगोंको काटकर अपने भालोंमें फँसा देते हैं; फिर जोरोंसे दौड़ते जाते हैं और उन अंगोंको चक्करकी तरह घुमाते जाते हैं । अन्य महापतित नारकी उन्हें खोखलीमें फेंक देते हैं और बादमें लगातार मूसल मारकर बिल्कुल चूर्ण कर

१. [रुदन्तश्च] । २. [द्विषाः] । ६. म जिह्वां घ्राणे । ४. क उद्धृत्य । ५. क प्राधल्वूंषितका (?) ।

पिबन्ति गन्धवत्कांश्चिन्मृद्नन्ति निर्दयाः । क्रकचैर्दारयन्त्यन्यानक्षीण्युत्पाटयन्ति च ॥ ४५ ॥
पिबन्ति रुधिराण्यन्ये शस्त्रैर्बिद्ध[1] शिरः पुनः । ग्रसन्ति मुखतः कांश्चित्पादतस्त्वपरे परान् ॥ ४६ ॥
छिन्दन्त्यसिभिरङ्गानि क्षुरिकाभिर्द्रुणन्ति च । टङ्कैः शिरःकपालानि वासिभिर्वदनानि च ॥ ४७ ॥
तृणैरावेष्ट्य सर्वाङ्गं ज्वालयन्त्यग्निना भृशम् । शङ्कूर्ध्वं स्वथोत्खन्य तुदन्त्यक्षीणि चोल्मुकैः ॥ ४८ ॥
मक्षिका मशकाश्चैव वृश्चिकाश्च पिपीलिकाः । खादयन्ति व्रणान्यन्ये स्रवद्रुधिरपूतिनः ॥ ४९ ॥
ये हत्वा प्राणिनः पूर्वं मांसभक्षणतत्पराः । तान्मुहुर्यातनाभिश्च दण्डयन्ति परस्परम् ॥ ५० ॥
लोभाद्रागात्प्रमादाद्वा राजवाक् लभ्यते मदात् । प्रभुत्वाच्च कुसामर्थ्यादसदुक्त्वार्ग्यहिंसकान् (?) ॥ ५१ ॥

देते हैं ॥ ४४ ॥

नरक कैलि

वे इतने दयाहीन होते हैं कि नरकियोंको सगन्धि द्रव्य (लेप) की तरह पीस डालते हैं अथवा धान्यके समान दलते हैं। तीक्ष्ण शूलोंके द्वारा आँखोंको बेध देते हैं तथा काँटोंमें फँसाकर आँखे उपार लेते हैं ॥ ४५ ॥

कुछ नारकी दूसरोंके रक्तको पानीकी तरह पी जाते हैं जबकि शस्त्रोंकी मारसे उनका शिर फूट जाता है, ऐसी हालतमें कोई उसे मुखको तरफसे खाना शुरू करता है, दूसरा उसे पैरोंकी तरफसे चखने लगता है। वे एक दूसरेके अंगोंको तलवारसे काट देते हैं ॥ ४६ ॥

इसके उपरान्त छुरियोंसे उनकी बोटी-बोटी बना देते हैं। टाँकिया चला-चलाकर शिरके कपालको फोड़ देते हैं, और तलवारोंसे मुखोंको क्षत-विक्षत कर डालते हैं ॥ ४७ ॥

पहिले सम्पूर्ण शरीरको घासमें लपेट देते हैं फिर आग लगाकर बिल्कुल जला डालते हैं। शिरमें नुकीली कीलोंको गाड़ देते हैं और टेढ़ी-टेढ़ी सीखोंसे आंखें उखाड़ लेते है ॥ ४८ ॥

जब खण्डित अंगोंसे रक्त और पीप बहने लगती है तब ही मक्खियाँ, मच्छर, बिच्छू, चीटियां, आदि कृमि घावोंपर लग जाते हैं और उन्हें लगातार काटते हैं ॥ ४९ ॥

जो प्राणी अपने पूर्वजन्ममें दूसरे जन्तुओंको मारते थे और आनन्दसे उनका मांस खानेके लिए तैयार रहते थे, उन्हें ही नरकमें पहुँचने पर वे नारकी बड़ी-बड़ी यातनाएँ देते हैं और इसी प्रकार आपसमें दण्ड व्यवस्था करते हैं ॥ ५० ॥

नारकी दुःख तथा कारण

जिन लोगोंने अपने पूर्वजन्मोंमें लोभसे प्रेरित होकर, राग द्वेषके कारण, प्रमादसे अथवा राजाकी आज्ञाको पाकर,

---

१. क शस्त्रैर्विद्धं ।

इदानीं तव सामर्थ्यान्[1] पश्याम इति नारकाः । उत्कोटबन्धनं कृत्वा तोदयन्ति मुहुर्मुहुः ॥ ५२ ॥
दन्तानुत्पाट्य यन्त्रेण विच्छेद्य दशनच्छदान् । प्रवेशयन्ति वक्त्रेषु श्वसद्भीमभुजङ्गमान् ॥ ५३ ॥
जिह्वाश्चोत्पाटयन्त्यन्ये भवसंबन्धिवैरिणः । मूषातप्ततरं ताम्रं पाययन्त्यनृतप्रियान् ॥ ५४ ॥
शूलैस्तीक्ष्णतरैर्घोरैः क्रोधविभ्रान्तदृष्टयः । चरणेषु प्रविध्यन्ति रुदन्तान्करुणस्वनैः[2] ॥ ५५ ॥
[3]रुदन्त्याक्रन्दतामन्ये अयस्सूचिभिरङ्गुलीः । अपरानतिवैरेण खण्डशः कल्पयन्ति च ॥ ५६ ॥
ऊरू परशुभिश्छित्त्वा खादयन्ति परे परान् । बध्वान्ये पाणिपादं च क्षिपन्ति चितकाग्निषु[4] ॥ ५७ ॥
एवंबहुविधैर्दण्डैःखण्डयन्त्यकृतात्मनः । वैभङ्गज्ञा[5]नाविज्ञानांस्तेयान्दपरायणान् ॥ ५८ ॥

अभिमानमें चूर होकर या अपने प्रभुत्वको जमानेके लिए अथवा दूषित शक्तिके भरोसे झूठ बोलकर दूसरों के प्राण लिये थे, उनको नारकी कहते है ॥ ५१ ॥

कि आओ, अब तुम्हारे उस उद्दण्ड बल और सामर्थ्यको देखें ? यह कहकर वे उन्हें नोचते है इतना ही नहीं बार-बार शस्त्रोंसे कोचते हैं ॥ ५२ ॥

पहिले हथियारोंसे ये उनके दाँत उखाड़ डालते है और फिर (दातों के आवरण) ओठोंको किसी यंत्रसे काट लेते है इसके बाद उनके मुखोंमें बलपूर्वक ऐसे भयंकर सांपोंको ठूँस देते हैं जिनकी फुंकारसे ही प्राण निकलते हैं ॥ ५३ ॥

जन्म-जन्मान्तरोंके संबंधोंके कारण शत्रुभावको प्राप्त नारकी दूसरे नारकियोंकी जीभ ही उखाड़ लेते हैं और अग्निसे भी अत्यधिक दाहक गर्म ताँबेको उन जीवोंको पिलाते हैं जिन्हें अन्य भवोंमें झूठ बोलनेका अभ्यास था ॥ ५५ ॥

उनका क्रोध इतना संहारक होता है कि उनकी आँखें क्रोधसे फड़कती रहती हैं, तीखे भालोंको लेकर निर्दयरूपसे दूसरे नारकियोंके पैरोंको छेद देते हैं, यद्यपि मारे गये नारकी अत्यन्त करुण स्वरसे रोते रहते थे ॥ ५५ ॥

कुछ नारकी ऐसे होते हैं जो विलाप कर रोते हुए नारकियोंकी भी अंगुलियोंको लोहेकी तेज कीलोंसे छेद देते हैं। वे इतने नृशंस होते हैं कि दूसरे नारकियोंसे गाढ़ शत्रुता कर लेते हैं उसके आवेशमें आकर उनके शरीरके टुकडे-टुकड़े कर डालते हैं ॥ ५६ ॥

वे तीक्ष्ण फरसा उठाकर दूसरोंकी जाँघोंको छीलने लगते हैं और बादमें काट काटकर खाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो पहिले मारते हैं उसके उपरान्त उनके हाथ पैर काटते हैं और अन्तमें इन्हें उठाकर जलती हुई चिताकी ज्वालाओंमें झोंक देते हैं ॥ ५७ ॥

विभंग अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंसे ही अपने पूर्वभव और कामोंको देखनेवाले वे कुकर्मी और पापात्मा नारकी ऊपर कही गयी रीतियोंसे तथा नाना प्रकारके अनेक दण्डोंके द्वारा उनके खण्ड-खण्ड करते हैं जो इस लोकमें चोरी करनेको आनन्द मानते थे ॥ ५८ ॥

---

१. क सामर्थ्यात्, [सामर्थ्यं] । २. रुदतः करुणस्वनैः] । ३. [रदन्ति] । ४. [चितिकाग्निषु] । ५. क °विज्ञाना(:)स्तेयानन्द° ।

आर्द्रचन्दनकल्कानि विषाक्तानि ससंभ्रमात् । लिम्पन्त्यन्तर्विदाहीनि परस्त्रीसुरतप्रियान् ॥ ५९ ॥
माल्याभरणवस्त्राणि तप्तताम्रमयानि च । धारयन्ति परस्त्रीणां रतिसंगमकर्कशाः ॥ ६० ॥
सोपचारैरुपासृत्य सुरताहवकोविदान् । हावभावविलासिन्यो ब्रुवन्त्यः स्वागतक्रियाः ॥ ६१ ॥
पूर्वजन्मकृतस्नेहात्संबन्धाच्च विशेषतः । भावयन्ति स्त्रियः पुंस आश्लिष्यन्ति प्रिया इव ॥ ६२ ॥
ताभिराश्लिष्यमाणाश्च दग्धसर्वाङ्गयष्टयः । घृतवत्प्रविलीयन्तेऽन्याङ्गनाङ्गप्रसङ्गिनः ॥ ६३ ॥
तस्मिन् देशे तथा विद्धि आवयो रतिविभ्रमः । इति ब्रुवन्तः पापिष्ठा बाधन्ते बाधितान्पुरा ॥ ६४ ॥
स्त्रीणां पुरुषरूपाणि स्त्रीरूपाणि नृणां पुनः । सुतप्तैरायसैस्ताम्रैर्विकुर्वन्ति परस्परम् ॥ ६५ ॥

पर स्त्री-गमनका फल

जो लोक इस संसारमें दूसरोंकी पत्नियोंसे या अन्य स्त्रियोंसे संगम करनेके लिए लालायित रहते थे या करते थे वे ही मरकर जब नरकोंमें पहुँचते हैं, तब वहाँ उपस्थित नारकी तुरन्त ही दौड़ दौड़कर विषसे मिली हुई चन्दनकी गीली गीली कीचड़ शरीरपर लेपकर उनका स्वागत करते हैं। इस लेपके लगते ही उनका सारा शरीर भीतरसे जलने लगता है ॥ ५९ ॥

दूसरी स्त्रियोंमें रतिकेलि करनेवालोंको, अथवा परस्त्रीसे निर्दयतापूर्वक संभोग करनेवालोंको नारकी गरमागरम लोहेसे या ताँबेसे बनाये गये गहने,मालायें तथा कपड़े आदि जबरदस्ती ही पहिना देते हैं। संभोगरूपी युद्धके परम ज्ञाता जीवोंके पास नारकी स्त्रियाँ बड़े हावभाव और शृंगारके साथ आती हैं ॥ ६० ॥

उनकी श्राङ्गारिक चेष्टाएं, भाव, संकेत तथा प्रेमसे कहे गये वचन ऐसे होते हैं जो कि स्वागतका काम देते हैं। इतना ही नहीं ॥ ६१ ॥

वे स्त्रियां पूर्वजन्ममें किये गये अनैतिक प्रेम, और सम्बन्धों आदिकी प्रेरणा पाकर उन नारकियोंके मनको विशेष रूपसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं तब वे उन्हें अपनी प्राण प्यारियाँ समझकर जोरसे आलिंगन करते हैं ॥ ६२ ॥

उनका आलिंगन करते ही उन्हें ऐसा अनुभव होता है, मानो सारा शरीर ही किसी ज्वालासे चिपटकर जल गया है, इतना ही नहीं दूसरेकी स्त्रियोंको बहकाकर उनका स्त्रीत्व दूषित करनेवाले वे नारकी, उन स्त्रियोंसे चिपकनेपर घीकी तरह पिघल जाते हैं और उनका संपूर्ण शरीर ही बह जाता है ॥ ६३ ॥

'उस स्थानपर उस भवमें हम दोनोंने उस, उस तरहसे प्रेमलीला और संभोग किया था' इत्यादि बातें वे पापी नारकी जीव कहते हैं। और इसके बाद उन्हें ही फिर नाना तरहके कष्ट देते हैं जिन्हें पूर्वभवमें भी अनेक कष्ट दिये थे ॥ ६४ ॥

कष्ट देनेके लिए ही नारकी परपुरुषोंसे प्रेम करनेवाली स्त्रियोंके सामने वे खूब गर्म लोहे या ताँबेके पुरुष बना देते हैं तथा परस्त्रीगामी पुरुषोंके आगे स्त्रियाँ बनाकर खड़ी कर देते हैं। इस तरह आपसमें आलिंगन आदि कराके वे उन्हें दुख देते हैं ॥ ६५ ॥

कुक्कुटान्मेषमार्जारान्नकुलाँल्लावकाञ्शुनः । उपभोगे त्वकर्मण्याननयोर्थान्घोषयन्ति ये ॥ ६६ ॥
सर्वेषां भोगिनां यास्तु सर्वा द्रविणसंपदः । ता ममैव न चान्येभ्यो भवन्त्वत्यर्थमित्यतिश्रद्धय[1]ः ॥ ६७ ॥
आसामनर्थमूलान्ये कुर्वन्ति स्पृहया नराः । दुःखस्यान्तं न पश्यन्ति चिरं श्वाभ्रयां वसन्ति ते ॥ ६८ ॥
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते केचिदत्युष्णभस्मसु । भृज्यन्ते तिलवत्केचिच्चूर्ण्यन्ते तुषवत्परे ॥ ६९ ॥
क्रकचैस्तुल्यनिर्भिन्ना[2] खण्ड्यन्ते मर्मसन्धिषु । निस्तुद्यन्ते पुनः शूलैस्ताड्यन्ते मुसलैः परे ॥ ७० ॥
पीड्यन्ते तिलयन्त्रेषु इक्षुयन्त्रे तथापरे । चक्रयन्त्रैरथोद्भ्राम्य पातयन्ति रसातले ॥ ७१ ॥
शतधा खण्डखण्डानि भूत्वान्ते[3] क्लेशभागिनः । पतन्ति चण्डवेगेन पातालेष्वथ मूर्च्छिताः ॥ ७२ ॥

जो मनुष्य भोग उपभोगके किसी भी काममें न आनेवाले मुर्गा-मुर्गी, मेढे, बिल्ला-बिल्ली, नेवली-नेवला, लावक, कुत्ता-कुत्ती आदि ऐसे पशु पक्षियोंको पालते हैं, जो कि मानसिक या शारीरिक जीवनके लिए सर्वथा निरर्थक हैं ॥ ६६ ॥

व्यर्थ परिग्रहका फल

जिनकी संसार भरके सम्पत्ति और विभव शालियोंका जितना धन और सामग्री है वह सबकी सब मुझे ही प्राप्त हो जाय, किसी दूसरेके पास थोड़ी सी भी शेष न रह जाय ऐसी उत्कट इच्छा होती है ॥ ६७ ॥

सांसारिक सम्पत्ति और भोग उपभोग सामग्रीको प्राप्त करनेके लिए आवश्यक सबही कुकर्मोंको जो मनुष्य बड़े चाव और तत्परतासे करते हैं, वे जन्म-जन्मान्तरोंमें प्राप्त होनेवाले दुखोंका पार नहीं पाते है और बहुत लम्बे अरसेतक नरक-गतिमें ही सड़ते हैं ॥ ६८ ॥

इनमेंसे कुछ लोगोंको नारकी घड़ेमें बन्द करके पकाते है, दूसरोंको अत्यन्त तपी बालू और राखमें उसी तरह भूँजते हैं जैसे धान्य भाड़में भुजते हैं तथा अन्य लोगोंको पीट पीटकर भूसेके समान चूर्ण कर देते हैं ॥ ६९ ॥

कुछ नारकी आरियोंसे चीरकर दो बराबर टुकड़े कर डालते हैं अथवा शरीरके मर्म (कोमल तथा जिनको पीटनेसे मौत हो सकती है) स्थलों तथा जोड़ोंको किसी यन्त्रसे काटते हैं। अन्य नारकियोंकी गति और भी बुरी होती है क्योंकि वे भालोंसे कोंचे जाते हैं और बादमें मूसलोंसे कूटे जाते हैं ॥ ७० ॥

कुछ नारकी कोल्हुओंमें पेले जाते हैं तथा दूसरोंका दुर्दैव उन्हें गन्नेकी चरखीमें डाल देता है। अन्य लोग सदा घूमते हुए चक्रयन्त्रोंपर बैठा दिये जाते हैं, वहाँपर वे काफी देरतक तेजीसे घुमाये जाते हैं और अन्तमें वेगसे रसातलमें फेंक दिये जाते हैं ॥ ७१ ॥

शरीरके सैकड़ों टुकड़े हो जानेपर वे वेदनासे मूर्च्छितसे हो जाते हैं। इन अवस्थाओंको भरनेमें उन्हें दारुणसे दारुण समस्त क्लेश सहने पड़ते हैं। यह सब हो जानेपर अन्तमें वे प्रचण्ड वेगसे खिसककर एक गर्तमें गिर जाते हैं ॥ ७२ ॥

---

१. [अतिश्रद्धया]। २. म कृतजैस्तुल्य°, [°शूल°]। ३. म भूत्वा ते।

पुनः पर्याप्तसर्वाङ्गाः सहसैव समुत्थिताः । विह्वलन्तो भयत्रस्ताः समारोहन्ति पर्वतान् ॥ ७३ ॥
ते शैलाच्छीर्यमाणाङ्गाश्चूर्णयन्त्यभिधावतः(?) । खादन्ति व्याघ्रसिंहर्क्षा गुहाभ्यस्तु विनिर्गताः ॥ ७४ ॥
ततोऽवतीर्य पश्यन्तो भुञ्जानान्पिबतो जनान् । याचमानाः शनैर्यान्ति क्षुत्तृष्णापरिमर्दिताः ॥ ७५ ॥
तेऽभ्युत्थाय सुसंभ्रान्ताः पाद्यार्घ्यादैर्यथाविधि । उपचारान्बहून्कृत्वा प्रयच्छन्त्युष्णपीठिकाः ॥ ७६ ॥
सुतप्तकृष्णलोहस्य गुलिकाः खण्डशः कृताः । यन्त्रैर्विदार्य वक्त्रेषु क्षिपन्ति त्रस्तचेतसाम् ॥ ७७ ॥
शुष्कतालोष्ठजिह्वास्यान्निष्कृपास्तृषयार्दितान् । प्रतप्तताम्रमापात्य क्रन्दतः पाययन्ति तान् ॥ ७८ ॥
केचिदुष्णप्रतीकारं कुर्वन्त इव निर्दयाः । गलग्रहेण संगृह्य मज्जयन्त्युष्णवारिषु ॥ ७९ ॥

वहाँ गिरते ही थोड़ी देरमें उनके शरीरके सब आंगोपांग फिरसे ठीक हो जाते हैं, तब वे अकस्मात् ही उठकर खड़े हो जाते हैं लेकिन चारों ओरकी परिस्थितियोंको देखकर भय विह्वल हो जाते है और आत्मरक्षाके लिए भागते, भागते पर्वतोंपर चढ़ जाते हैं। पर्वतोंपरसे फेंके जानेके कारण पत्थरोंसे घिसकर उनके सबही अंग गलने लगते हैं फलतः वे दौड़ते जाते हैं और चिल्लाते रोते जाते हैं ॥ ७३ ॥

इसके बाद क्या होता है ? पर्वतकी गुफाओंसे सिंह, बाघ और रीछ निकलते हैं जो कि उन्हें खाना ही प्रारम्भ कर देते हैं ॥ ७४ ॥

अन्य दुःख साधन

तब वे पहाड़ोंसे भी भागते हैं और नीचे आकर देखते हैं कि कुछ लोग सुन्दर भोजन कर रहे हैं और दूसरे लोग बढ़िया शरबत आदि पी रहे हैं। वे स्वयं भी भूख और प्याससे चकनाचूर रहते हैं इसलिए धीरे-धीरे चलने लगते हैं और उन लोगोंसे भोजन-पान माँगते हैं ॥ ७५ ॥

वे लोग (भोक्ता) भी बड़ी त्वरा और आदरसे उठते हैं और माँगनेवालोंको विधिपूर्वक पैर धोनेको जल देते हैं। अर्घ अर्पण करके स्वागत करते हैं, इसके उपरान्त अनेक शिष्टाचार और आवभगतोंको करते है तथा अन्तमें अत्यन्त जलता हुआ आसन बैठनेको दे देते हैं ॥ ७६ ॥

उसपर बैठते ही उनके हृदय भयसे कांप उठते हैं किन्तु दुर्गति होती ही रहती है क्यों अन्य नारकी खूब गरम किये गये लोहेके गोलोंको अनेक टुकड़ोंमें बांट देनेके बाद, भूखोंके मुखोंको यन्त्रोंके द्वारा फाड़कर उनमें ठूस देते हैं। यह होनेपर उनके तालु, जिह्वा और मुख बिल्कुल सूख जाते हैं ॥ ७७ ॥

वे प्याससे दुखी होकर चिल्लाने लगते हैं, तब दूसरे निर्दय नारकी उनकी विनय, विलाप और पुकारकी परवाह न करके खूब तपाये गये ताम्बेके द्रव (पानी) को उनके मुखमें भर देते हैं और बलपूर्वक पिलाते हैं ॥ ७८ ॥

वे नारकी कितने हृदयहीन और निर्दय होते हैं इसका पता इसीसे लग जायगा कि वे गर्मीके प्रतीकार करनेका

अनेकोपद्रवाकीर्णां विषक्षारजलाविलाम् । नदीं वैतरणीं घोरां तारयन्ति समन्ततः ॥ ८० ॥
तां नदीं क्लेशतस्तीर्त्वा वनं पश्यन्ति पुष्पितम् । तद्वनान्तेषु यातेषु वायुरेकः प्रकुप्यति ॥ ८१ ॥
प्रपतन्त्यसिपत्राणि अयःपिण्डफलानि च । विषमिश्राणि पुष्पाणि सद्यः प्राणहराणि च ॥ ८२ ॥
विशीर्णच्छिन्नभिन्नाङ्गा अधिरुह्योग्रवेदनाः । पतन्ति कण्टकाकीर्णे दिषदग्धे[1] महीतले ॥ ८३ ॥
विषैर्निर्दह्यमानाङ्गा रसन्तः[2] करुणस्वनैः । भिन्दन्ति क्रियमोऽङ्गानि दशन्ति च पिपीलिकाः ॥ ८४ ॥
कृष्णाः श्वानो विलुम्पन्ति कर्षन्त्यसितवायसाः[3] । दशन्ति कृष्णसर्पाश्च चूषयन्त्यथ मक्षिकाः ॥ ८५ ॥

बहाना बनाकर तड़पते नारकियोंकी गर्दन सावधानीसे पकड़ लेते हैं और तुरन्त ही जलते हुए पानीमें शिरसे पैरतक डुबा देते हैं ॥ ७९ ॥

इतना ही नहीं वे चारों ओरसे रास्ता घेर लेते है और गरम जलमें तड़पते हुए नारकियोंको अत्यन्त घोर वैतरणी नदी पार करनेके लिये वाध्य करते हैं। यह वैतरणी भीषण जलजर, भंवर आदि अनेक उपद्रवोंसे भरी है, इसका पानी भी विषमय हैं और इतना खारी है कि शरीरमें जहाँ लगता है वहीं काट देता है ॥ ८० ॥

जब कोई अन्य गति ही नहीं रह जाती है तो नदीमें पड़े नारकी बड़े कष्टोंसे नदीके उस पार पहुँचते हैं। वहाँपर फले-फूले बगीचेको देखते हैं तो शान्ति पानेके लिए वनमें घुस जाते है। किन्तु ज्योंही वनके बीचमें पहुँचते है त्योंही हवा क्रुद्ध (तीव्रतम) हो जाती है और भीषण आंधीका रूप ले लेती है ॥ ८१ ॥

वृक्षोंसे पत्ते गिरते हैं जो तलवारके समान काटते हैं, फल इतने भारी होते हैं मानों लोहेके गोले हो हैं और फूलोंमें तो विष ही भरा रहता है जो कि तुरन्त ही प्राण ले लेता है ॥ ८२ ॥

वृक्षोंकी उक्त मारसे उनका सारा शरीर क्षत-विक्षत हो जाता है अंग-उपांग कट छट जाते हैं ॥ ८३ ॥

सब दुःखमय

तब वे प्राणरक्षाके लिए ही क्योंकि वेदना असह्य हो जाती है—उन पेड़ोंपर चढ़ जाते हैं। लेकिन चढ़कर बैठे नहीं कि धड़ामसे धधकती रहती है भूमि पर आ पहुँचे। भूमिके विषके संचारसे उनका समस्त शरीर जलने सा लगता है तब वे अत्यन्त करुण स्वरसे बुरी तरह रोते हैं। पर सब व्यर्थ क्योंकि वहाँपर दीमक-आदि कृमि उनके शरीरको नष्ट करती है और चींटियाँ जोरसे काटती हैं ॥ ८४ ॥

इतना ही नहीं काले-काले कुत्ते आकर उनको चीड़ना फाड़ना शुरू कर देते है। अशुभ कृष्ण काक उनके अगोंको चोंचोंसे खींचते हैं, काले, कालकूट विषपूर्ण भीषण सर्प डसते हैं और विचित्र मक्खियां उनका रक्त पीती हैं ॥ ८५ ॥

---

१. म विसदग्धे । २. रुशन्तः करुणास्वरैः । ३. म हर्षन्त्यसितवायसाः ।

पुनरन्तर्मुहूर्तेन सर्वपर्याप्तविग्रहाः । असातवेदनीयस्य पाकतः संभवन्ति ते ॥ ८६ ॥
नेत्रैः पश्यन्त्यनिष्टानि श्रोत्रैः शृण्वन्ति दुःस्वरान् । घ्राणैर्जिघ्रन्ति दुर्गन्धान् स्पृशन्त्यङ्गैश्च कर्कशान् ॥८७॥
आस्वादन्ते[1] निरास्वादान् जिह्वाभिर्गतसत्क्रियाः । इन्द्रियार्थैरकल्याणैर्व्याकुलीकृतचेतसः ॥ ८८ ॥
नोदासीना न मित्राणि न प्रिया न च बान्धवाः । सर्वत्र नरकावासे सर्व एवापकारिणः ॥ ८९ ॥
विनिपातसहस्राणि प्रापयन्तः कृतागसः । बाधन्ते क्रोधसंरब्धा आचतुर्थ्यादितोऽसुराः ॥ ९० ॥
आसुरं भावमाश्रित्य रागविष्टब्धचेतसः । एकत्र स्थापयित्वा तान्योधयन्ति परस्परम् ॥ ९१ ॥

यह सब हो जानेपर भी एक मुहूर्तसे भी कम (अन्तर्मुहूर्त) समयमें उनके शरीरके सब अंग जुड़ जाते हैं तथा शरीर पूरा हो जाता है। यह भी इसीलिए होता है कि उनके असातावेदनीय कर्मका परिपाक उक्त वेदनाएं सहनेपर भी पूरा नहीं होता है अतएव और वेदनाएं सहनेके लिए ही वे जीवित रहते हैं ॥ ८६ ॥

कृतसे मुक्ति नहीं

उनकी आंखें यदि कुछ देखती हैं तो वह सब अनिष्ट ही होता है, कानोंके द्वारा सुने गये स्वर भी अत्यन्त कर्णकटु और बुरे होते हैं नाकसे जो कुछ सूँघते, वह सब दुर्गन्धमय हो जाता है, हाथ पैर आदिसे जो जो वस्तु छूते हैं वही कठोर और कष्टप्रद मालूम देती है ॥ ८७ ॥

और जिह्वाके द्वारा जिस किसी पदार्थको चखते हैं वही सर्वथा बेस्वाद हो जाती है। मानों कोई अच्छा इन्द्रिय-व्यापार करनेकी शक्ति ही उनमें नहीं रह जाती है इसीलिए सब इन्द्रियोंके द्वारा अकल्याण करनेवाले विषयोंको पाकर उनका चित्त अत्यन्त खिन्न और व्याकुल हो उठता है ॥ ८८ ॥

नरकलोकमें मध्यलोककी भाँति न तो ऐसे लोग मिलते हैं जिन्हें किसीके भले बुरेमें कोई रुचि हो, न हो और न ऐसे ही सज्जन होते हैं जो मित्रता करें। हितैषी, प्रियजन तथा बन्धुबान्धवकी तो संभावना ही क्या है ॥ ८९ ॥

असुरकुमार

वहाँपर जिससे भी पाला पड़ता है वही अपकार करता है फलतः सब ही शत्रु होते हैं। और तो कहना ही क्या है असुर जातिके देवता तक प्रथम नरकसे चौथे पर्यन्तके नारकियोंको तरह तरहसे कष्ट देते हैं। वे स्वयं क्रोधके आवेशमें आकर उन्हें हजारों पतनोंकी ओर ले जाते हैं और इस प्रकार स्वयं भी पाप ही कमाते हैं ॥ ९० ॥

इन असुरकुमार देवोंके चित्त रागके द्वारा जड़ ही हो जाते हैं इसीलिए उनके भावोंमें असुरों ऐसी निर्दयता, क्रोध आदि आ जाते हैं। परिणाम यह होता है कि उन्हें एक जगह बैठा लेते हैं और आपसमें एक दूसरेके विरुद्ध समझाते है ॥ ९१ ॥

---

१. क आस्वादन्ति, [आस्वादन्ते]।

कांश्चिच्छाल्मलिमारोप्य जन्मसंबन्धवैरिणः । अधश्चोर्ध्वं च कर्षन्तः पातयन्ति भृशं मुहुः ॥ ९२ ॥
उदारा रुरुवक्षांसि तेषां भिन्दन्ति कण्टकाः । अधस्ताज्ज्वालयन्त्यग्नि ग्रसन्त्युपरि राक्षसाः ॥ ९३ ॥
कङ्कैः काकैश्च तुद्यन्ते मशकाश्च दशन्ति तान् । भीषयन्ते पिशाचाश्च भर्त्सयन्त्यसुराः पुनः ॥ ९४ ॥
एवं पापविपाकेन दुःखान्येषां समश्नुताम् । नारकाणां पुनस्तत्र शीतोष्णमतिदुस्सहम् ॥ ९५ ॥
नरकादुष्णबाहुल्यान्नारकश्चेद्विनिर्गतः । प्रावेक्ष्य(?) ग्रीष्ममध्याह्ने वह्निं सुखमलप्स्यतः[1] ॥ ९६ ॥
तथैव शीतबाहुल्यात्प्रावेक्ष्य चेद्विनिर्गतः । तुषारराशिहेमन्ते वरं सुखमलप्स्यतः[1] ॥ ९७ ॥
लभेत जलधीन्सर्वान्पिबेदत्युष्णतृष्णया । उदरं यदि गृह्णीयान्नोपशाम्यति तत्तृषा ॥ ९८ ॥

तब वे अपने पूर्वभवोंके कुछ वैरियों या अहितुओंको भीषण सेमरके पेड़ोंपर बैठा देते हैं। इसके बाद खूब जोरसे नीचे ऊपर खींचते हैं और बिना किसी विचारके पुनः-पुनः नीचे गिरा देते हैं ॥ ९२ ॥

इस खींचातानीमें उन नारकियोंके प्रबल और खुले वक्षस्थलोंको बड़े लम्बे और नुकीले काँटे छिन्न-भिन्न कर देते हैं। वे नीचे भी नहीं आ सकते हैं क्योंकि उनके वैरी नीचे आग जला देते है। यदि ऊपर जाते हैं तो भी कुशल नहीं क्योंकि वहाँ राक्षस खा जाते हैं ॥ ९३ ॥

गीध और कौए चोचें मार-मार कर ही नोच डालते हैं, डाँस और मच्छर काट-काटकर सारे शरीरको फुला देते हैं, पिशाचों से भी बढ़कर भीषण नारकी चारों ओरसे डराते हैं और यदि आपसी युद्धसे विरत हों तो असुरकुमार देवता डाटते हैं ॥ ९४ ॥

इस प्रकारसे नारकी अपने पूर्व जन्मोंमें किये पापोंके फलस्वरूप नाना प्रकारके दारुण दुःख भरते हैं। किन्तु इतनेसे ही उनके कष्टोंका अन्त नहीं हो जाता है? कारण नरकोंका शीत और उष्ण वातावरण ही उन्हें दुःख देनेके लिए आवश्यकतासे अधिक है ॥ ९५ ॥

वातावरण जन्य महादुःख

वहाँकी गर्मी और ठंड दोनों ही असह्य होती है। यदि कोई नारकी किसी तरह उस नरकसे निकल सके जिसमें गर्मी बहुत पड़ती है तथा इसके बाद मध्यलोककी ग्रीष्म ऋतुकी तीक्ष्ण दुपहरीमें उसे जलती ज्वालामें घुसेड़ दिया जावे, तो भी निश्चित है कि वह अपनेको सुखी समझेगा ॥ ९६ ॥

जिस बरफमें पूर्ण शीत पड़ता है, यदि उसमेंसे किसी नारकीको निकाला जाय और हेमन्त ऋतुमें उसे बरफके ढेरमें तोप दिया जाय तो, इतना निश्चित है कि वह उस अवस्थामें भी अपनेको सुखी पायेगा ॥ ९७ ॥

उनकी प्यास इतनी दाहक होती है कि यदि वे किसी तरह सब समुद्रोंको पी जाँय तो उस प्यासमें गटागट पी जांयगे। इतना पानी पीनेपर संभव है कि उनका पेट भर जाय पर पिपासाकी वह दाह तो शान्त होती ही नहीं है ॥ ९८ ॥

१. [अलप्स्यथ]।

यानि लोकेषु सर्वेषु फलपर्णतृणानि च। भक्ष्यन्ते चेत्तथा चापि क्षुदग्निर्नोपशाम्यति ॥ ९९ ॥
एवं बहुप्रकारैस्तु दुःखान्याप्नुवतां भृशम्। सुखनामापि भूपाल नारकाणां न विद्यते ॥ १०० ॥
पालयित्वा महीं कृत्स्नामुपभुञ्ज्यात्मनः श्रियम्। चक्रवर्ती प्रयातीति नरकं कोऽत्र विस्मयः ॥ १०१ ॥
मनसैव विचिन्त्यात्र विविधा भोगसंपदः। मनश्चक्रधर[1] इवाभ्रीं प्रयातीत्येष विस्मयः ॥ १०२ ॥
क्षुद्रमत्स्यः किलैकस्तु स्वयंभुरमणोदधौ[2]। महामत्स्यस्य कर्णस्थः स्मृतिदोषादधोगतः ॥ १०३ ॥
सप्तम्यां तु त्रयस्त्रिंशत् षष्ठ्यां द्वाविंशतिः स्मृताः। पञ्चम्यां दशसप्तैव चतुर्थ्यां दश वर्णिताः ॥ १०४ ॥
तृतीयायां तु सप्तैव द्वितीयायां त्रयः स्मृताः। प्रथमायां भवत्येकः सागरः संख्ययायुषः ॥ १०५ ॥

तीनों लोकोंमें जो अपरिमित फल फूल हैं, पत्ते हैं और घास है वह सब यदि किसी तरह कोई नारकी पा जाय और खा जाय तो भी उसकी भूखकी ज्वाला जरा भी शान्त न होगी ॥ ९९ ॥

हे राजन् ! आपने देखा कि उक्त प्रकारसे नारकी जीव अनन्त प्रकारके दारुणसे दारुण दुःख भरते हैं और वह भी; बिना अन्तरालके सहते हैं क्योंकि नरकोंमें सुखकी तो बात ही क्या है, विचारे नारकी सुखके नामको भी नहीं जानते हैं ॥ १०० ॥

परिग्रह नरकका कारण है

जो चक्रवर्ती सम्पूर्ण पृथ्वीका न्याय और शासन द्वारा पालन करता है तथा अपने पुरुषार्थ और पराक्रमसे प्राप्त संसारकी समस्त विभूतियोंका भोग करता है। वही पापकर्मोंके विपाकसे नरक जाता है इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ १०१ ॥

जो पुरुष इस भवमें मनके द्वारा संसारकी समस्त विभूतियों तथा भोगोपभोग सामग्रीको सोचता रहता है और मानसिक परिग्रह बढ़ाता है, वह मानसिक (कल्पनाका) चक्रवर्ती भी सीधा नरक जाता है। यही आश्चर्यका विषय है ॥ १०२ ॥

पुराण बतलाते हैं कि स्वयंभूरमण महासमुद्रमें एक इतनी बड़ी मछली है जो एक द्वीपके समान है। इस महामत्स्यके कानमें एक छोटा-सा मच्छ रहता है जिसका यही ध्यान रहता है कि यदि वह बड़ा मत्स्य होता तो सब जल-जन्तुओंको खा जाता। इस दूषित कल्पनाके कारण ही वह घोर नरक गया है ॥१०३॥

सप्तम नरक महातमाप्रभा पृथ्वीमें तेतीस सागर उत्कृष्ट आयु है, छठे नरकमें बाईस सागर आयुका प्रमाण है, पाँचवें नरकमें नारकियोंकी लम्बीसे लम्बी आयु सत्तरह सागर ही है, जो कि चौथे पंकप्रभा नरकमें दशसागर ही उत्कृष्ट है ॥ १०४ ॥

नरकायु

बालुका प्रभा नरकमें अधिकसे अधिक आयु सात सागर ही है, दूसरी पृथ्वी वंशापर पैदा होने वाले नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु तीन सागर होती है और प्रथम धर्मा पृथ्वीपर जन्मे नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु एक सागर है ॥ १०५ ॥

---

१. म चक्रधरः। २. [स्वयंभूरमणोदधौ]।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायां जघन्यतः । उपर्युपरि योत्कृष्टा सैवाधोऽधो जघन्यकः ॥ १०६ ॥
चिरकालं तु दुःखानि नारका नरकालये । अपवर्त्यायुषो यस्मात्प्राप्नुवन्ति ततो भृशम् ॥ १०७ ॥
सुखं निमेषतन्मात्रं नास्ति तत्र कदाचन । दुःखमेवानुसंबन्धं[1] नारकाणां दिवानिशम् ॥ १०८ ॥

इत्येवं नरकगतिः समासतस्ते संप्रोक्ता बहुविधयातनामिदानीम् ।
तैरश्चीं गतिमत उत्तरं प्रवक्ष्ये निर्व्यग्रः शृणु नरदेव सत्त्वबुद्ध्या ॥ १०९ ॥

श्वाभ्रीणां तिमिरगुहासु तासु दुःखं पापिष्ठाश्चिरमनुभूय कर्मशेषात् ।
तैरश्चीं पुनरथ संभजन्त्ययद्रास्तत्रापि प्रतिभवदुःखमेव शश्वत् ॥ ११० ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
नरकगतिभागो नाम पञ्चमः सर्गः ।

प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वीपर जघन्य आयुका प्रमाण केवल दस हजार वर्ष है। इसके आगे अगले नरकोंमें (यथाक्रमसे) उससे पहिले नरक (धर्माकी) की उत्कृष्ट आयु (एक सागर) ही जघन्य होती है ॥ १०६ ॥

नरकमें अकाल मृत्यु नहीं

कुकर्मोंके पाशमें पड़े विचारे नारकी बड़े-बड़े, लम्बे अरसे तक उक्त प्रकारके दारुण दुःखोंको वहाँ जन्म लेकर भरते हैं उन्हें अकाल मृत्यु द्वारा आयुके बीचमें भी छुट्टी नहीं मिलती है क्योंकि उनकी आयु किसी भी तरह कम नहीं होती है, फलतः अपवर्त्य (अकाल मृत्यु) की संभावना न होनेसे उन्हें दारुण दुःख भरने पड़ते हैं ॥ १०७ ॥

पलक मारनेके समयमें जितना सुख हो सकता है उतना सुख भी नहीं होता है उन्हें तो दिन रात बिना अन्तराल या व्यवधानके लगातार दुःख ही दुःख मिलता है ॥ १०८ ॥

हे नरदेव ? इस समय मैंने उक्त प्रकारसे अत्यन्त संक्षेपमें आपको नरकगति तथा वहाँ होनेवाली नानाप्रकारकी यातनाओंको समझाया है। इसके उपरान्तमें आपको तिर्यञ्चगतिके विषयमें कहता हूँ इसलिये दुविधाको मनसे निकालकर शुद्ध बुद्धिसे उसे सुनो ॥ १०९ ॥

महापापी जीव नरक गतिके घोर अन्धकार पूर्ण गुफा समान बिलोंमें चिरकालतक उक्त विविध दुःखोंको सहकर भी जब सब पापकर्मोंका क्षय नहीं कर पाते हैं तब वे अभागे जीव मरकर तिर्यञ्चगतिमें उत्पन्न होते हैं। वहाँपर भी वे भव-भवमें लगातार दुःख ही दुःख भरते हैं ॥ ११० ॥

चारों वर्ग समन्वित सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरित नामक धर्मकथामें
नरकगति भागनाम पञ्चम सर्ग समाप्त

●

१. [°संबद्धं]।

अथैवमुर्वीपतये मुनीन्द्रः प्रारब्धवान्वक्तुमतस्तिरश्चाम् ।
गतेर्विभागं बहुदुःखघोरमीषल्लघुत्वं नरकादसह्यात् ॥ १ ॥
तिर्यक्त्वसामान्यत एकमेव स्थानप्रभेदाच्च[1] चतुर्दशाहुः ।
कायात्षडेवेन्द्रियतश्च पञ्च गुणाश्च[2] पञ्चैव वदन्ति तज्ज्ञाः ॥ २ ॥
एकेन्द्रियाः स्थूलतमाश्च सूक्ष्माः पर्याप्तकास्तद्विपरीतकाश्च ।
द्वित्रीन्द्रियास्ते चतुरिन्द्रियाश्च पर्याप्त्यपर्याप्तियुतास्त्रयस्तु ॥ ३ ॥

षष्ठ सर्ग

तिर्यञ्चप योनि

इसके उपरान्त तपोधन मुनियोंके गुरु श्रीवरदत्तकेवलीने पृथ्वीके पालक राजा धर्मसेनको निम्न प्रकारसे तिर्यञ्च-गति[1] और उसके भेदोंको कहना प्रारम्भ किया था। तिर्यञ्चगति भी विविध प्रकारके अनेक दुःखोंके कारण अत्यन्त भयानक हैं तथा उन असह्य दुःखोंके आयतन (घर) नरकोंसे प्राणियोंको पीड़ा देनेमें थोड़ी ही कम है ॥ १ ॥

सामान्यरूपसे केवल तिर्यञ्चपने (तिर्यक्त्व) की अपेक्षासे विचार करनेपर तिर्यग्गतिका एक ही भेद होता है, जहाँ तिर्यञ्चोंका निवास या जन्म है उन स्थानोंकी अपेक्षा चौदह भेद होते हैं, कायकी अपेक्षा तिर्यञ्च छह प्रकारके हैं, इन्द्रियोंको प्रधानता देनेसे तिर्यञ्चोंके पाँच ही भेद हैं। इस प्रकार तिर्यग्गतिके विशेषज्ञ गुणोंकी अपेक्षा भी तिर्यञ्चोंको पाँच ही राशियोंमें विभक्त करते हैं ॥ २ ॥

स्थान भेद

स्थानकी प्रधानतासे चौदह भेद ये हैं :—एकेन्द्रिय तिर्यञ्च, इसके भी दो भेद, स्थूल-एकेन्द्रिय और सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, यह दोनों भी दो प्रकारके होते हैं पर्याप्त और इसका उल्टा अर्थात् अपर्याप्त। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय धारी ये तीनों प्रकारके तिर्यञ्च भी, पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते हैं ॥ ३ ॥

---

१. क °प्रभेदश्च। २. [गुणाश्च]।

१. नारकी, मनुष्य तथा देवोंको छोड़कर शेष प्राणिजगत मोटे तौरसे पशुपक्षी योनि।

पर्याप्त्यपर्याप्तकसंज्ञ्यसंज्ञाः पञ्चेन्द्रियास्ते च चतुष्प्रकाराः ।
भूम्यम्बुवाय्वग्निवनत्रसानां कायश्च षड्जीवनिकायमाहुः ॥ ४ ॥
भूयम्बुवाय्वग्निमयास्तु जीवा भवन्ति लोके गणनाव्यतीताः ।
वनस्पतीनामसवस्त्वनन्ताः स्पर्शात्सुखं दुःखमथो विदन्ति ॥ ५ ॥
शङ्खाक्षकुक्षिक्रिमिशुक्तिकाद्यास्ते द्वीन्द्रियाः स्पर्शरसौ विदन्ति ।
पिपीलिकामत्कुणवृश्चिकाद्यास्ते त्रीन्द्रियाः स्पर्शरसौ च गन्धम् ॥ ६ ॥
पतङ्गषट्पाद्मधुमक्षिकाद्याः स्पर्शं रसं गन्धमथापि रूपम् ।
मृगोरगाण्डोद्भवतोयजाद्याः शब्देन पञ्चेन्द्रियजातयस्ते ॥ ७ ॥

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके दो भेद होते हैं संज्ञी (मन सहित) और असंज्ञी, ये दोनों भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक, फलतः पंचेन्द्रियके भी चार भेद होते हैं। इस प्रकार सब (एकेन्द्रिय चार, दो, तीन, चार इन्द्रिय प्रत्येक दो छः और पंचेन्द्रिय ४) मिलाकर चौदह होते हैं।

षट्काय

जीवोंके समुदायका निवास पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति और (दो इन्द्रिय आदिके) त्रस शरीरमें होता है, अतएव इन्हीं छहको षड् जीवनिकाय कहते हैं ॥ ४ ॥

स्थावर तिर्यञ्च

इस संसारमें पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक और अग्निकायिक स्थावरजीव[२] असंख्यात हैं, उन्हें लौकिक गणनाके उपायों द्वारा गिना नहीं जा सकता है किन्तु वनस्पतिकायिक जीवोंका परिमाण अनन्त हैं। पृथ्वी आदि पाँचों शरीरोंके धारक जीवोंके सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। फलतः छुये जानेपर या छूकर ही वे सुख और दुःखका अनुभव करते हैं ॥५॥

त्रस तिर्यञ्च

नदी आदि स्थलोंपर पाये जानेवाले शंख, घोंघे, सीप, कुक्षि, केंचुआ आदि कृमि इत्यादि प्रकारके प्राणियोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं अतएव वे स्पर्श और रस इन दो विषयोंको ही भोगते हैं। चींटी, खटमल, बिच्छू आदिके वर्गके जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होते हैं। ये स्पर्श, रस और गन्धका अनुभव करते हैं ॥ ६ ॥

पतंग, भ्रमर, मधुमक्खी ततैया आदिकी जातिके जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। ये स्पर्श रस, गन्ध और रूपका साक्षात्कार करती हैं। हिरण, साँप, अण्डोंसे जन्म लेनेवाले पक्षी तथा जन्तु, जलमें उत्पन्न हुए

१. जो जीव चल नहीं सकते। २. जो चलते-फिरते हैं, पृथ्वी, अप्, वायु, अग्नि तथा वनस्पतिके अतिरिक्त प्राणिमात्र।

एकेन्द्रियत्वं प्रतिपद्य जीवा नानाविधाश्छेदनभेदनानि ।
विमर्दनोत्तापनहिंसनानि सवेदनादीन्यवशाः सहन्ते ॥ ८ ॥
प्रपिष्यमाणाश्च विदार्यमाणा विशीर्यमाणा विविधप्रकारैः ।
प्रपीड्यमाना बहुशोऽपि जीवा द्वित्रीन्द्रियाद्या वधमाप्नुवन्ति ॥ ९ ॥
ज्वलन्महादीपशिखां प्रविश्य प्रदह्यते नेत्रवशात्पतङ्गः ।
घ्राणेन्द्रियेष्टान्विषपुष्पगन्धानाघ्राय नाशं भ्रमराः प्रयान्ति ॥ १० ॥
क्रव्यादगीतध्वनिनावकृष्टा मृगा वराकाः खलु वागुरासु ।
निपात्य घोरैरुपहन्यमानास्त्यजन्ति सद्यः प्रियजीवितानि ॥ ११ ॥

जन्तु आदिके सजातीय जीवोंके पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं। तथा वे पूर्वोक्त चारों विषयोंके सिवा शब्दका भी साक्षात्कार करते हैं ॥ ७ ॥

स्थावर दुःख

जो जीव एकेन्द्रियत्वको प्राप्त करके एकेन्द्रिययुक्त जीवोंके वर्गोंमें उत्पन्न होते हैं, बिचारे अपनी रक्षा करनेमें भी असमर्थ हो जाते हैं। वे नाना तरहसे छेदे जाते हैं, उनको विविध प्रकारसे भेदा जाता है, वे पीसे जाते हैं और जलाये जाते हैं, तो भी दारुण वेदनामय यह सब अत्याचार उन्हें सहने ही पड़ते हैं। दो, तीन आदि इन्द्रियधारी जीवोंकी भी पूरे जोरसे पिसाई होती है ॥ ८ ॥

त्रसपर्याय दुःख

वे भी तरह-तरहसे काटे जाते हैं, उनको भी विविध प्रकारसे सड़ाया गलाया जाता है तथा उन्हें उत्कटसे उत्कट पीड़ा देनेके ढंग भी एक दो नहीं बहुत अधिक हैं। यह जीव भी इन सब दुःखोंको भरते हुए तरह-तरहसे मौतके मुखमें जा पड़ते हैं ॥ ९ ॥

नेत्रेन्द्रियका कुपरिणाम, नासिका कुपरिणाम

चार इन्द्रियधारी पतंग नेत्र इन्द्रियका विषय अधिक प्रिय होनेके कारण जोरोंसे जलते हुए बड़े दीपककी शिखापर दौड़ता है और उसमें घुसकर बिल्कुल भस्म हो जाता है चार इन्द्रियधारी जीवोंमें भौंरेकी घ्राण इन्द्रिय प्रधान होती है। इस इन्द्रियको प्रिय फूलोंपर विचरता हुआ वह विषैले फूलों को भी सूंघता है और इस प्रकार अपने नाशके साधनोंको जुटाता है ॥ १० ॥

कर्णेन्द्रियका कुफल

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हिरणकी कर्ण इन्द्रिय प्रबल होती है। वे मांसाहारी व्याध्र, (शिकारी) आदिके मधुर गीतकी ध्वनिपर आकृष्ट होकर अपने आपको उसके जालके फंदोंमें डाल देते हैं। उसके बाद निर्दय बहेलियोंके द्वारा मारे जानेपर बिचारे

प्रसन्नतोयेषु सरस्सु मत्स्याः संक्रीडमाना रसनप्रसक्ताः ।
ग्रस्तामिषास्त्रस्तशरीरचित्रास्सवेदनास्ते सहसा म्रियन्ते ॥ १२ ॥
वन्याः करीन्द्राः सुखमाप्तुकामाः करेणुगात्राभिरतिप्रसक्ताः ।
तोदप्रकारैरभिहन्यमाना विचेतसोऽरण्यसुखं स्मरन्ति ॥ १३ ॥
एते त्वथैकेन्द्रियसंगदोषादलब्धकामाः प्रलयं प्रयान्ति ।
सर्वेन्द्रियाणां वशमभ्युपेता नश्यन्ति जीवा इति कः प्रवादः ॥ १४ ॥
खरोष्ट्रहस्त्यश्वतराश्च गोणा भूमीश्वराणामिह वाहनार्थम् ।
अत्यर्थभारातिनिरोधखिन्नाः क्षुत्तृट्श्रमाः क्लेशवधं[1] भजन्ते ॥ १५ ॥

अपने प्रिय जीवनोंसे भी सहसा हाथ धो बैठते हैं ॥ ११ ॥

जिह्वालौल्यका फल

नदी, तालाब आदि जलाशयोंके निर्मल जलमें आनन्द विहार करनेवाले मछली, मगर आदि जलचर रसना इन्द्रियके वशमें होकर धीवरके जालमें बँधे मांसपर मुँह मारते हैं, किन्तु उसे मुखमें देते ही उनका रंग बिरंगा सुन्दर शरीर ही ढीला पड़ जाता है क्योंकि माँसकी जगह लोहेका काँटा उनके मुखमें फँस जाता है, तब वे असह्य वेदनाको सहते हुए अपनी जीवनलीला समाप्त करते हैं ॥ १२ ॥

कामपरायणताका कुफल

जंगलमें विचरते मस्त हाथियोंको हथिनियोंके साथ कामलीला करनेकी उत्कट अभिलाषा रहती है अतएव काठ कपड़ेसे बनी हथिनीसे कामसुख प्राप्त करनेके प्रयत्नमें वे बन्धको प्राप्त होते हैं। किन्तु जब उनको नाना प्रकारसे अंकुश आदि शस्त्रों द्वारा कोंचा जाता है तब उनका चित्त दुखी हो उठता है और वे मन ही मन जंगलकी स्वतन्त्रता आदि सुखोंका ध्यान करते हैं ॥ १३ ॥

इन्द्रिय विषय लोलुपताका फल

पहिले कहे गये सब ही जीव केवल अपनी एक ही इन्द्रियके विषयमें अत्यन्त लम्पट होते हैं तो भी परिणाम यह होता है कि अपने परम प्रिय विषयको बिना पाये ही वे नष्ट हो जाते हैं। सब इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होनेपर जीवोंका समूल नाश हो जाता है। इसमें कौन-सी अतिशयोक्ति है, क्योंकि उक्त प्रकारकी सर्व-आसक्तिका नाश अवश्यंभावी फल है ॥ १४ ॥

वाहन तिर्यञ्च

पृथ्वीके पालक, राजा महाराजाओंकी सवारीके लिए पकड़े गये हाथी घोड़ा, ऊँट, गधे, खच्चर आदि पशुओंपर बेशु-

१. [°श्रमक्लेशवधान्]।

विचित्रसंकल्पिततीव्रबन्धैर्दण्डाङ्कुशैस्तोत्त्रकशाप्रहारैः ।
प्रपीडनोत्ताडनवाहबन्धैर्दुःखान्यनेकानि समश्नुवन्ति ॥ १६ ॥
केचित्पुनः पाशनिबद्धकण्ठाः केचिन्महापञ्जररुद्धकायाः ।
पदेषु केचिद्दृढरज्जुबद्धा विनष्टसौख्या गमयन्ति कालम् ॥ १७ ॥
कपिञ्जला लावकवर्तकाश्च मयूरपारावतटिट्टिभाद्याः ।
नभश्चराः पादविलग्नपाशा नश्यन्ति पापैरभिहन्यमानाः ॥ १८ ॥
बका बलाका जलकुक्कुटाश्च क्रौञ्चाः सकोरण्डवचक्रवाकाः[1] ।
जलाश्रयोपाश्रयजीविनस्ते [2]भृशं सहस्तेषु वधं प्रयान्ति ॥ १९ ॥

–मार वजन लादा जाता है, उनको खाने, पीने आदि कष्टों के सिवा सब तरहसे बड़ी कड़ाईसे रोका जाता है। उन्हें यदि इन्हीं क्लेशों और परिश्रमोंको सहना पड़ता तब भी दुर्दशा अन्तिम मर्यादा तक न पहुँचती। लेकिन उन्हें तो भूख प्यास और अन्तमें अकाल मृत्यु भी सहनी पड़ती है ॥ १५ ॥

वे विचित्र, विचित्र प्रकारके कड़े बन्धनोंसे कसे जाते हैं, उन पर डंडों, अंकुशों, चाबुकों, रस्सियों आदिकी धड़ाधड़ मार पड़ती है, तरह-तरहसे उन्हें पीड़ा दी जाती है, उन्हें मारने पीटनेके ढंग भी निराले ही होते हैं, भार लादते समय उनकी शक्तिका ख्याल भी नहीं किया जाता है और बन्धनके दुखोंको तो बात ही क्या है, इस प्रकार विचारे अनेक दुःख भरते हैं ॥ १६ ॥

किन्हीं भोले भाले तिर्यञ्चोंके गले में मोटी रस्सीकी फांस बाँध दी जाती है, दूसरे निरपराध पशु-पक्षी अत्यन्त दृढ़ और विशाल पिंजड़ोंके भीतर डाल दिये जाते हैं और अन्य अनेक पशुओंके पैरोंको अकाट्य रज्जुसे बाँध दिया जाता है। तब ये सबके सब प्राणी अपने इन्द्रिय सुखोंसे वञ्चित होकर किसी तरह जीवनके दिन व्यतीत करते हैं ॥ १७ ॥

नभचर तिर्यञ्च

आकाशमें स्वैर विहार करनेवाले कबूतर, लावक, वर्तक, मोर, कपिञ्जल, टिट्टिभ आदि पक्षी कुछ दानोंके लोभसे जालपर बैठते हैं और अपने पैरोंमें पाश लगने देते हैं, अन्तमें ये सब निर्दोष तिर्यञ्च पापाचारी आखेटकोंसे निर्दयतापूर्वक मारे जाते हैं और जीवनसे हाथ धोते हैं ॥ १८ ॥

नदी, नाला, तालाब आदि जलाशयों या उनके आस-पासके स्थानोंमें सुखसे जीनेवाले बगुला, सारस, पानीकी मुर्गियां, क्रौञ्च, कारण्डव तथा चक्रवाक पक्षी भी किसी अपराध या इन्द्रिय लोलुपताके बिना ही निर्दय पापाचारी लोगोंके हाथ मारे जाते हैं ॥ १९ ॥

---

१. म °कोरण्डक°, [कारण्डव°] । २. [नृशंस°] ।

क्षुधाभिभूतास्तु तिमिङ्गिलाद्या ग्रसन्त्यथान्योन्यमनल्पकायाः ।
खगा खगांश्चापि मृगा मृगांश्च परस्परं घ्नन्त्यबलान्बलस्थाः[1] ॥ २० ॥
अहो वराका हरिणाः शशाश्च वृका वराहा रुरवः कुरङ्गाः ।
[3]न्यह्व्रीलिकाद्याः(?) परिपुष्टकाया त्वङ्मांसहेतोर्विलयं प्रयान्ति ॥ २१ ॥
केचित्पुनः शुष्कगलोष्ठजिह्वास्तृषाग्निनान्ताः प्रविदह्यमानाः ।
संशुष्कपर्णोपनिपातभीता विश्वस्तचित्ता न तृणं चरन्ति ॥ २२ ॥
निपातदेशेष्वभिलीनकायैर्व्याधैः समुत्त्रासितचेतसोऽन्ये ।
छायां विदेहस्य[3] विशङ्कमानाः सुखेन पातुं न पयो लभन्ते ॥ २३ ॥

जीवो जीवस्य भक्षणम्

भूखसे आकुल हो कर मछली, मगर आदि जलचर जीव अपनेसे छोटे मछली, कच्छप आदिको आपसमें ही निगल जाते हैं। आकाशचारी प्रबल पक्षी भी अपनेसे कमजोर पक्षियोंको मार डालते हैं। वनविहारी अधिक बलिष्ठ हिरण दुर्बल हिरणोंकी भी इहलीला समाप्त कर देते हैं ॥ २० ॥

कितने दुःखका विषय है कि विचारे हिरण, सियार, सुअर, वृक, रूरुव, हिरण, न्यह, व्रीलक आदिके वर्गके कितने ही पशु जिनके शरीर अत्यन्त स्वस्थ और सुन्दर होते हैं, वे केवल खानेके लिए उत्तम मांस और सुन्दर चमड़ेके लिए ही इस पृथ्वी-परसे लुप्त कर दिये जाते हैं ॥ २१ ॥

भयपूर्ण तिर्यञ्च योनि

यहाँ पशु, पक्षी इतने भयभीत हो जाते हैं कि प्यासरूपी अग्निसे उनका शरीर भीतरसे जलने-सा लगता है, बाहर भी उनके गले, जीभ और ओठ सूखकर लकड़ीसे हो जाते हैं, तो भी वे शान्त चित्तसे न पानी ही पीते हैं और न घास चरते हैं। वृक्षपरसे गिरते हुए सूखे पत्तेका शब्द भी उन्हें डरा देता है ॥ २२ ॥

पहाड़ी झरनों या अन्य जलाशयोंके आसपास अपने शरीरको पूर्णरूपसे छिपाकर शिकारी बैठ जाते हैं तथा पानी पीने आये पशु पक्षियोंको अचानक मार डालते हैं, इन बहेलियोंसे वन्य पशु इतने डर जाते हैं कि वे अपनी परछांयीको भी बहेलिया समझ लेते हैं इसीलिए निश्चिन्त होकर वे पानी भी नहीं पी सकते हैं ॥ २३ ॥

१. [बलिष्ठाः]। २. क न्यहेलिकाद्याः। ३. [स्वदेहस्य]।

क्रव्यादवर्गैरनुवाच्यमानाः केचित्प्रधावन्त्यनवेक्ष्य शावान् ।
वित्रस्तनेत्राः प्रतिनष्टचेष्टाः केचिद्भयार्ताश्च मुखे पतन्ति ॥ २४ ॥
बृहत्पृषत्कैः प्रविदारिताङ्गाः प्रविध्य केविद्गिरिगह्वराणि ।
सवेदनानिष्प्रतिकाररूपाः प्राणान्विषण्णा जहति क्षणेन ॥ २५ ॥
व्याघ्रान्विनिघ्नन्त्यथ चर्महेतोर्वालापदेशाच्चमरीं वराकाम् ।
मांसापदेशाच्छशसूकरादीन् विषाणमुक्तासु करीन्द्रवर्गान् ॥ २६ ॥
अकारणक्रोधकषायिताक्षाः स्वभावनिर्वृत्तनिबद्धवैराः ।
नखैर्विषाणैर्दशनैः सुतीक्ष्णैरन्योन्यमर्मस्वभिताडयन्ति ॥ २७ ॥

मांसाहारियोंके द्वारा जंगलमें शोर गुल मचाकर हकाई होनेपर (अथवा हिंसक पशुओंकी आवाज सुनकर ही) कुछ पशु भयसे इतने विह्वल हो जाते हैं कि अपने बच्चोंका ख्याल न करके प्राणरक्षाके लिए तेजीसे भागते हैं तथा दूसरोंकी चेतना ही नष्ट हो जाती है फलतः उनमें कोई क्रिया ही नहीं नजर आती है, उनकी आँखों से भय टपकता रहता है और वे भयभीत होकर हिंसक पशुओंके मुखमें या शिकारीके सामने ही आ जाते हैं ॥ २४ ॥

थोड़ेके लिए महापाप

बड़े-बड़े बाणोंकी मारसे किन्हीं-किन्हीं पशुओंके अंग-अंग कट जाते हैं तो भी प्राणोंका मोह उन्हें पर्वतोंकी गुफाओंमें ले जाता है। वहाँपर उनकी वेदना बढ़ती ही जाती है क्योंकि उसका वे कोई उपचार नहीं कर सकते हैं फलतः अत्यन्त दुखी होकर वे तुरन्त ही प्राण छोड़ देते हैं ॥ २५ ॥

बिचारे सिंह, बाघ केवल चितकबरे चमड़ेके लिए ही मारे जाते हैं, घास फूस खानेवाले भोले-भाले चमरी मृगोंको शिकारी उनकी पूँछके बालोंके बहानेसे मार डालते हैं, सियार, सुअर आदि स्वादिष्ट माँसको प्राप्त करनेके लिए नष्ट किये जाते हैं मदोन्मत्त विशालकाय हाथियोंके शरीरसे प्राण अलग किये जाते हैं सिर्फ उसके दाँतों और मस्तकमें पड़े मोतियोंके लिए ॥२६॥

अकारण कोप

तिर्यञ्च योनिमें जन्मे जीवोंको बिना किसी कारणके ही क्रोध आ जाता है और उनकी आँखें कोपके आवेशसे तमतमा (लाल) उठती हैं। उनका स्वभाव ऐसा विचित्र होता है कि किसी प्रकारके अपकारके बिना ही वे दूसरोंसे गाढ़ वैर बाँध लेते हैं। परिणाम यह होता है कि वे अपने अपने तीक्ष्ण नखों, दाँतों और सींघोंसे आपसमें एक दूसरेके मर्मस्थलोंपर प्रहार करते हैं ॥ २७ ॥

---

६. [अनुव्रज्यमानाः] ।

केचित्पुनर्मानकषायदोषात्संभूय नागाश्वखरोष्ट्रयोनौ ।
आरुह्यमाणाः परिपोड्ममाना भारातिखिन्ना विवशीक्रियन्ते ॥ २८ ॥
मानात्पुनः केचन सूकरत्वं मानातिमानात्कुकुलं प्रयान्ति ।
परावमानप्रसवं च दुःखं तिर्यग्गतौ नैकविधं श्रयन्ते ॥ २९ ॥
मायादिभिर्ये परिवञ्च्य जीवान् संपोषयामासुरथ स्वदेहान् ।
तेषां शरीराणि गतौ तिरश्चां मांसाशिनां तान्यशनीभवन्ति ॥ ३० ॥
केचित्पुनर्लोभकषायदोषाद्द्रव्यं परेषां मुमुर्षुविमूढाः ।
तिर्यक्कुयोनौ प्रतिबद्धकायान् तान्व्याधवर्गाः[1] परिभक्षयन्ति ॥ ३१ ॥

मानका कुफल

कुछ प्राणी पूर्वजन्म में आचरित प्रबल मान कषायके पापसे तिर्यञ्च गतिको प्राप्त करके हाथी, ऊँट घोड़े और गधोंमें उत्पन्न होते हैं। तब उनपर सतत सवारी की जाती है, थोड़ी सी अवज्ञा करनेपर ही खूब पीड़ा दी जाती है और अत्यधिक भार लादा जाता है। यह सब उन्हें अनाथ और पराधीन बना देते हैं ॥ २८ ॥

पूर्वभवमें मान करनेका ही यह परिणाम है कि जीव सुअरोंमें पैदा होता है और अत्यधिक मान करनेपर तो पशुओंमें भी अत्यन्त दूषित और कष्टमय श्रेणीमें जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार तिर्यञ्चगतिमें दूसरोंके द्वारा अपमानित होनेसे उत्पन्न दुखोंको यह जीव एक दो नहीं अनन्त प्रकारसे पाता है ॥ २९ ॥

ठगनेका कुपरिणाम

जो जीव पूर्व भवमें छल कपट करके दूसरोंको ठगते हैं और वंचनासे प्राप्त धनसम्पत्तिके द्वारा अपने ही देहको दिन रात पोषते हैं वे मरकर तिर्यञ्च गतिमें जाते हैं, जहाँपर यत्नपूर्वक पाले पोषे उनके ही पुष्ट शरीर, माँसाहारियोंकी उदर दरीमें समा जाते हैं ॥ ३० ॥

लोभका परिपाक

कुछ विवेक विकल प्राणी मनुष्यभवमें लोभ कषायकी प्रबलताके कारण अपने स्वार्थसाधनके लिए दूसरोंकी श्रमसाध्य सम्पत्तिको चुराते हैं वे भी मरकर जब तिर्यञ्च गतिमें पदार्पण करते हैं तो बहेलिये आदि मृगया विहारी लोग पहिले तो उनके शरीरोंको अपने जालोंमें फँसाकर अच्छी तरह बाँध लेते हैं और बादमें मार-मारकर उनके माँससे अपनी भूखको शान्त करते हैं ॥ ३१ ॥

१. म व्याधि°।

तिर्यग्गतेर्दुःखमनन्तपारं वक्तुं न शक्यं चिरकालतोऽपि ।
तामेव घोरामिह ये प्रयान्ति संक्षेपतस्तान्प्रथमं प्रवक्ष्ये ॥ ३२ ॥
ये वञ्चकाः कूटतुलातिमानैः परोपतापं जनयन्ति नित्यम् ।
वाचान्यदुक्त्वा क्रिययान्यदेव कुर्वन्ति कृत्यं विफलं परेषाम् ॥ ३३ ॥
हस्तार्पितं ये परकीयमर्थमादाय कस्माद्व्यपलोपयन्ति ।
ऐश्वर्यदर्पाद्बलवीर्यतो वा परानवज्ञाय मृषा ब्रुवन्ति ॥ ३४ ॥
तक्रं दधि क्षीरघृतं गुडं वा रसैस्तथान्यैः प्रतिमिश्रयन्ति ।
ते हीनसत्त्वाः कृपणा विपुण्याः पतन्ति तिर्यग्वडवामुखेषु ॥ ३५ ॥
प्रवालमुक्तामणिकाञ्चनानि विकृत्य तद्रूपसमानि ये तु ।
नृन्वञ्चकास्ते[1] रतिमाप्नुवन्ति तिर्यग्गतिं वै विवशा वसन्ति ॥ ३६ ॥

तिर्यञ्चगतिके हेतु

तिर्यञ्च गतिमें मिलनेवाले दुःख और शोक अनन्त और असंख्य हैं अतएव यदि चिरकालतक भी उनका वर्णन किया जाय तो भी वह अपूर्ण ही रह जायगा। फलतः उसे यहीं छोड़कर सबसे पहिले उन्हीं लोगोंके विषयमें संक्षेपसे कहता हूँ जो उस भयावनी और दारुण गतिको जाते हैं ॥ ३२ ॥

जो जीव झूठे माप, कम या बड़े बटखरे और तुला आदिके द्वारा दूसरोंको ठगते हैं, बिला नागा दूसरोंको तरह-तरहका कष्ट और दुःख देना जिनका स्वभाव है, वचनसे कुछ कहते हैं पर शरीरसे कुछ दूसरा ही काम करके जो दूसरोंकी सुविचारित योजनाओंको सदा ही विफल करते रहते हैं ॥ ३३ ॥

हाथमें देकर सौंपी गयी दूसरोंकी सम्पत्तिको लेकर भी एकाएक चट कर जाते हैं और माँगनेपर लेना ही स्वीकार नहीं करते हैं, अथवा सम्पत्तिके मदमें चूर होकर या, अहंकारके कारण, या पराक्रम और शक्तिकी अधिकता होनेसे जो दूसरोंका तिरस्कार करते हैं और मनचाहा झूठ बोलते हैं। जो मठेमें पानी, दधिमें काँजी, दूधमें पानी या आरारोट, घीमें चर्बी या आलू आदि तथा गुड़ शक्करमें मिट्टी मिला देते हैं ॥ ३४ ॥

इस प्रकार एक रसको दूसरे रससे मिलाकर नष्ट करते वे पुण्यहीन, कृपण और पतित आत्मा ही तिर्यञ्च गतिरूपी वड़वानलके मुखमें गिरते हैं ॥ ३५ ॥

जो लोग मूंगा, मोती, मणि और सोनेको अपवित्र करते हैं अथवा दूसरी वस्तुओंसे वैसे ही नकली मूंगा आदि बनाते

१. [नृवञ्चकास्ते]।

कूटाक्षवृत्ते कुटिलस्वभावाः स्तेनप्रयोगैश्च दुरीहिता ये ।
परोपघातं जनयन्ति ये तु ते यान्ति जीवास्तु गतिं तिरश्चाम् ॥ ३७ ॥
सुसंयता वाग्भिरधिक्षिपन्तो ह्यसंयतेभ्यो ददते सुखाय (?) ।
तिर्यङ्मुखास्ते च मनुष्यकल्पा द्वीपान्तरेषु प्रभवन्त्यभद्राः ॥ ३८ ॥
केचित्पुनर्वानरतुल्यवक्त्राः केचिद्गजेन्द्रप्रतिमाननाश्च ।
अश्वानना मेण्ढ्रमुखाश्च केचिदजोष्ट्रवक्त्रा महिषोमुखाश्च ॥ ३९ ॥
द्वाविंशतिर्वर्षसहस्रमायुर्वदन्ति तज्ज्ञा वसुधाश्रितानाम् ।
ज[1]लाश्रितां(?) सप्तसहस्रमात्रं दिनत्रयं विद्धचनलाश्रितानाम् ॥ ४० ॥

हैं और भोले लोगोंको अकारण ही ठगते हैं, समझिये वे तिर्यञ्च गतिसे ही प्रेम करते हैं जहाँपर विवश होकर उन्हें जाना पड़ता है और अनन्त कष्टोंको सहते हुए भी चिरकालतक रहना पड़ता है ॥ ३६ ॥

जिन प्राणियोंके स्वभाव महा कुटिल हैं तथा जिन्हें छल कपट या जुआ आदि खेलनेके अतिरिक्त अन्य कार्य रुचता ही नहीं है, चोरी कराकर अथवा चोरीका माल खरीदकर जो अपनी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेकी दुराशा करते हैं, जो दूसरोंके वध या नाशके लिए प्रेरणा देते हैं वे सबके सब कर्मोंके आधीन होकर तिर्यञ्च गतिकी सैर करते हैं ॥ ३७ ॥

कुभोगभूमि जन्मकारण

सर्वसाधारणके हितैषी संयमी पुरुषोंका जो लोग व्यंग वचन बोलकर तिरस्कार करते हैं तथा दुराचारी असंयमी पतितोंको आश्रय देकर सुख देनेमें जो गौरव समझते हैं वे ही प्राणी महाद्वीपोंकी दिशाओं और विदिशाओंमें स्थित छोटे-छोटे द्वीपोंमें अशुभरूप लेकर उत्पन्न होते हैं। वहाँपर देखनेसे वे मनुष्यसे ही लगते हैं लेकिन उनके मुख पशुओंके होते हैं ॥ ३८ ॥

इन लोगोंमेंसे कुछ लोगोंके मुख वैसे ही होते हैं जैसा कि बन्दरका मुख, दूसरे लोगोंको मोटे ताजे स्वस्थ हाथीका सा सूंडदार मुख प्राप्त होता है, अन्य लोगोंकी गर्दनपर घोड़ेका मुख शोभा देता है तो कुछ लोगोंकी मुखाकृति मेढ़ेकी होती है। इतना ही नहीं उनमें ऊँट समान मुखों और भैंसा मुखोंकी भी कमी नहीं होती है ॥ ३९ ॥

स्थावर आयु

तिर्यञ्च गतिके विशेषज्ञोंका मत है कि पृथ्वी शरीरवाले तिर्यञ्चोंकी अधिकसे अधिक आयु बाईस हजार वर्ष है, जलकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्ष प्रमाण है, अग्निमय रहनेवाले (अग्निकायिक) जीवोंकी आयु केवल तीन दिन प्रमाण है ॥ ४० ॥

---

३. क जलाश्रितां ।

वाय्वाश्रितानां त्रिसहस्रमुक्तं वनस्पतीनां दश वर्णयन्ति ।
द्वित्रेन्द्रियाणां द्विषडेव वर्षा[1] आयुःप्रमाणं परमं प्रकर्षात् ॥ ४१ ॥
त्रिकेन्द्रियाणां दिनमेकहीनं पञ्चाशदुक्तं परिमाणमायुः ।
षण्मासमायुश्चतुरिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणां पृथगेव वक्ष्ये ॥ ४२ ॥
चतुष्पदानामथ कर्मभूमौ जलाश्रितानां च हि पूर्वकोटिः ।
त्रिशून्यसप्ताहुरथाण्डजानां[2] त्र्यष्टौ सहस्राणि सरीसृपाणाम्[3] ॥ ४३ ॥
अन्तर्मुहूर्तं कथितं तिरश्चां जघन्यमायुर्मुनिपुङ्गवेन ।
कुलप्रसंख्यामथ योनिसंख्यां समासतस्ते कथयामि राजन् ॥ ४४ ॥
आदित्यसंख्या खलु शून्ययुक्तात्कोट्यः कुलानामथ वेदितव्याः (?) ।
द्वाविंशतिस्तत्र महीमयानां प्रभञ्जनाप्वात्मकयोश्च सप्त ॥ ४५ ॥

वायुमय देहधारी तिर्यञ्चोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण तीन हजार वर्ष है, और वनस्पतिकायिक जीवोंकी अधिकसे अधिक दश हजार वर्ष है दो इन्द्रिय जीव अपने पूरे जीवन भर यदि जियें तो वे अधिकसे अधिक (दो छह) बारह वर्ष ही जीवित रहेंगे ॥ ४१ ॥

त्रस आयु

एक दिन कम पचास वर्षतक तीन इन्द्रिय जीव अधिकसे अधिक जिन्दा रह सकते हैं यदि उनका जीवन किसी विघ्न बाधासे अकालमें ही नष्ट न कर दिया जाय। चार इन्द्रिय जीवोंकी बड़ीसे बड़ी आयु छह मास हो सकती है और पञ्चेन्द्रियोंकी आयुको अलग-अलग वर्गकी अपेक्षा कहता हूँ ॥ ४२ ॥

कर्मभूमिज तिर्यञ्च

कर्मभूमिमें उत्पन्न चोपायों तथा जलमें रहनेवालों (जलचरों) की उत्कृष्ट आयुका प्रमाण एक पूर्वकोटि वर्ष है। अण्डज जीवोंकी उत्कृष्ट वयका प्रमाण भी (तीन शून्य सहित सात अर्थात्) सात सौ वर्ष है तथा पृथ्वीपर छातीके बल रेंगनेवालों (सरीसृपों) की अधिकसे अधिक आयु [त्रिगुणित आठ अर्थात्] चौबीस हजार वर्ष प्रमाण है ॥ ४३ ॥

तपस्वियोंके मुकुटमणि केवली भगवान्ने तिर्यञ्चोंकी जघन्य आयुका प्रमाण केवल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा है, हे राजन् ? पूर्वोक्त प्रकारसे तिर्यञ्चोंकी आयुको गिनाकर अब आपको उनके कुलों तथा योनियों (जन्मस्थानों की संख्या भी अति संक्षेपमें बतलाता हूँ ॥ ४४ ॥

कुलयोनि

तिर्यञ्चोंके समस्त कुलों या श्रेणियोंकी संख्या (१९७५९००० कोटि), सूर्योंकी संख्यामें शून्ययुक्त कोटिसे गुणित होने-

१. क वर्षान् । २. म °सप्तद्विकमण्ड° । ३. म भुजङ्गमे षड्गुणिताश्च सप्त ।

तिस्रस्तु वेद्यस्त्वनलाश्रितानामष्टोत्तरा विंशतिरङ्घ्रिपानाम् ।
द्वित्रेन्द्रियाणां विहिताश्च सप्त अष्टौ पुनस्त्रीन्द्रियदेहिनां च ॥ ४६ ॥
नव प्रदिष्टाश्चतुरिन्द्रियाणां सरीसृपाणां च नव प्रणीताः ।
अर्धत्रयोक्ता दश तोयकानां विहङ्गमानां खलु षड्विकल्पाः[1] ॥ ४७ ॥
चतुष्पदानां दश संप्रदिष्टाः पञ्चोत्तरा विंशतिराद्यगत्याम् ।
षड्विंशतिर्देवनिकायजानां चतुर्दशोक्तास्त्वथ[2] मानुषाणाम् ॥ ४८ ॥
चतुर्गतीनां च निगोदजीवा अवस्थिता ये च निगोदतायाम् ।
भूवायुतोयाग्निमतां च सप्त योनीसहस्राणि शताहतानि ॥ ४९ ॥

है पर आती] उनमेंसे पृथ्वीकायिक जीवोंके कुलकोंकी संख्याका प्रमाण बाईसलाख कोटि प्रमाण है, जलमय और वायुमय शरीर-धारियोंके कुलोंका प्रमाण सात लाख कोटि है ॥ ४५ ॥

अग्निमय शरीरधारी जीवोंकी कुल संख्या तीन लाख कोटि है तथा वनस्पतिकायिक समस्त जीवोंके कुलोंकी संख्या आठ अधिक बीस अर्थात् अट्ठाईस लाख कोटि प्रमाण है, दो इन्द्रियधारी जीवोंके कुलोंकी गणना सात लाख कोटि है, इसी प्रकार तीन इन्द्रिय युक्त जीवोंके कुलोंका प्रमाण आठ लाख कोटि है ॥ ४६ ॥

और चार इन्द्रिय जीवोंकी कुल-संख्या भी नौ लाख कोटि प्रमाण है, पञ्च इन्द्रिय जीवोंमें सरीसृपोंके समस्त कुलोंको नौ लाख कोटि गिनाया है, जलचरोंके कुलोंका प्रमाण अर्ध हीन तीनके अर्थात् ढाईयुक्त दश (साढ़े बारह) लाख कोटि है, आकाशचारियों (नभचरों) के कुलोंकी संख्या [द्विगुणित छह] बारह लाख कोटि है ॥ ४७ ॥

और चोपायोंकी कुल संख्याका आगमोंमें दश लाख कोटि प्रमाण दी है, प्रथम गति (नरक गति) में उत्पन्न तिर्यञ्चों-की कुल संख्या पाँच अधिक बीस लाख कोटि है, देवोंके विमानोंमें जन्म लेनेवालोंके कुलोंकी संख्या छब्बीस लाख कोटि है तथा मनुष्योंमें होनेवालोंके कुलोंकी संख्या केवल (द्विगुणित छह) बारह लाख कोटि है ॥ ४८ ॥

चारों गतियों अर्थात् नरक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकमें भरे हुए निगोदिया जीवों तथा अनन्त निगोदतामें पड़े हुओंकी तथा पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक जीवोंकी योनियोंकी संख्या [सात गुनी सौ हजार अर्थात्] सात-सात लाख है ॥ ४९ ॥

---

१. [षड्द्विकल्पः] । २. म पदिभ (षड्भि ?) द्विकल्पास्त्वथ ।

वनस्पतीनां दश वर्णयन्ति द्वे द्वे पुनस्ते विकलेन्द्रियाणाम् ।
चत्वारि तिर्यक्सुरनारकाणां मनुष्यवर्गस्य चतुर्दशाहुः ॥ ५० ॥
अनेकयोनिष्वतिदीर्घकालं परिभ्रमन्तः परिहीनसौख्याः ।
अहो वराका दुरितानुबन्धा दुःखस्य नान्तं बत यान्ति जीवाः ॥ ५१ ॥
क्रमेण यान्तः कुलकोटिजालान् जातिं [1]जरा मृत्युमनेकरोगान् ।
समश्नुवानाः कुटिलस्वभावास्तिर्यग्गतौ नैव सुखं लभन्ते ॥ ५२ ॥
शारीरदुःखं त्वपरैरवाप्य तन्मानसं कैश्चिदवाप्यते च ।
तथोभयं प्राप्यत एव कैश्चिद्दुःखं परं जन्तुभिरप्रमेयम् ॥ ५३ ॥
अथैवं तिरश्चां महादुःखकालं कुलं जीवितं चेन्द्रियाणां [2][˘ - -] ।
गतिं कायभेदं फलं कारणं च बभाषे यतीशो यथावन्नृपाय ॥ ५४ ॥

वनस्पतिकायिक जीवोंकी योनियोंका प्रमाण दशलाख केवली प्रभुने कहा है तथा विकलेन्द्रिय [दो, तीन और चार इन्द्रियधारी जीव] जीवोंमें प्रत्येकको योनियाँ दो, दो लाख प्रमाण हैं। तिर्यञ्च, देव और नारकियोंकी गणना चार लाख प्रमाण है तथा मनुष्यवर्गकी योनियोंका प्रमाण चौदह लाख आगममें कहा है ॥ ५० ॥

बड़े शोकका विषय है कि बिचारे पापबन्ध करनेवाले संसारी जीव सुखोंसे सदाके लिए बिछुड़कर अनेक योनियोंमें लम्बे-लम्बे अरसे तक चक्कर काटते हैं। वे जितना अधिक दुःख भरते हैं उसका अन्त भी उतना अधिक दूर चला जाता है और उन्हें दुःखक्षयकी कभी प्राप्ति नहीं होती है ॥ ५१ ॥

दुःख-उपसंहार

क्रमशः सबही कुलों और योनियोंके करोड़ों भेदोंमें वे जन्म लेते हैं और वहाँपर भी जन्म, जरा, मृत्यु आदि अनेक रोगों-को भरते हैं। कुटिल स्वभावयुक्त संसारी यह सब दुःख सहकर भी तिर्यञ्च गतिमें तनिकसा भी सुख नहीं पाते हैं। कुछ जीवोंको दूसरोंके उपद्रवोंके कारण शारीरिक दुःख प्राप्त होता है ॥५२॥

दूसरोंको अपने आप या दूसरों द्वारा मानसिक दुःखका संयोग पड़ता है तथा अन्य लोगोंके द्वारा शारीरिक और मानसिक दोनों दुःख सहे जाते हैं। यह सब ही दुःख इतने अधिक होते है कि कोई जीव इनका अनुमान नहीं कर सकता है ॥५३॥

इस प्रकार मुनिराज वरदत्तकेवलीने महाराज धर्मसेनको तिर्यञ्च गतिका स्वरूप, भेद, कायभेद, तिर्यञ्चगतिके कारण,

---

१. म जरामृत्यु°। २. [संख्याः]।

पुनर्मानुषीं तां गतिं संप्रवक्तुं मुनीन्द्रे प्रवृत्ते सुनिर्वेदमुक्ता ।
सभा चापि कर्णौ निधायात्मचित्तं तुतोषातिमात्रं नरेन्द्रेण सार्धम् ॥ ५५ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
तिर्यग्गतिविभागो नाम षष्ठः सर्गः ।

●

उनका विशेष फल, वहाँ प्राप्त होनेवाले महादुःख और उनकी स्थितिका समय, तिर्यञ्चोंके कुल, जीवन तथा इन्द्रियों [के विभागों] की अपेक्षासे विशेषतया वर्णन किया था ॥ ५४ ॥

इसके उपरान्त महामुनिराजने मनुष्यगतिका उपदेश देनेकी इच्छासे जब सावधानीसे बोलना प्रारम्भ किया, तो वैराग्यको उद्दीपन करनेवाली शैलीसे सम्बोधित उस सारीकी सारी सभाने राजाके समान ही अपने मनको कानमें स्थापित कर दिया अर्थात् उसके मन और कान एक हो गये थे और राजा सहित पूर्ण सभा, अत्यन्त संतुष्ट रूपको प्राप्त हुई थी ॥ ५५ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्ग-चरित नामक धर्मकथामें
तिर्यग्गतिविभाग नाम षष्ठ सर्ग समाप्त

सप्तमः सर्गः

गतिं तृतीयां शृणु संप्रवक्ष्ये समासतो मानुषजातिरेका ।
तामेव भूयो द्विविधां वदन्ति भोगप्रतिष्ठामथ कर्मसंस्थाम् ॥ १ ॥
पञ्चोत्तरास्ते कुरवः प्रदिष्टा यथैव राजन्नथ देवसंज्ञाः ।
हैरण्यका हेमवताश्च रम्या हयाह्ववर्षा अपि पञ्च पञ्च ॥ २ ॥
क्षेत्रस्वभावप्रतिबद्धसौख्या संख्यानतस्त्रिंशदधो भवन्ति ।
तासां पुनर्भोगभुवां विशेषान्पृथग्लक्षणतोऽभिधास्ये ॥ ३ ॥
जाज्वल्यमानोत्तमरत्नचित्रा सुवर्णधातुप्रविकीर्णशोभाः[२] ।
वैडूर्यमुक्तावरवज्रसारैरलङ्कृता स्त्रीरिव भूर्विभाति ॥ ४ ॥

सप्तम सर्ग

हे राजन् ! तीसरी गति (मनुष्यगति) के विषयमें सावधानीसे सुनिये अब मैं कहता हूँ। मनुष्यत्व सामान्यकी दृष्टिसे विचार करनेपर मनुष्य जाति एक ही प्रकारकी है, तो भी सुखप्राप्तिके द्वारोंकी अपेक्षासे विचार करनेपर इसी मनुष्य जातिके दो भेद हो जाते हैं; जहाँपर मनुष्य साक्षात् श्रमके विना भोगोंको प्राप्त करता है वह भोगभूमि है और कर्मभूमि वह है; जहाँ मनुष्यको पुरुषार्थपर ही विश्वास करना पड़ता है ॥ १ ॥

भोगभूमि

मध्यलोकका विभाग बताते समय आगममें पाँच उत्तरकुरु (जम्बूद्वीपमें एक, धातकीखण्डद्वीपमें दो और पुष्करार्द्धमें भी दो) तथा इसी प्रकार हे राजन् ! सुमेरुकी दूसरी ओर स्थित देवकुरुओंकी संख्या भी पाँच है। इनके साथ-साथ हैरण्यक, हैमवत, रम्यक और हरि नामके देशोंका प्रमाण भी उक्त प्रकारसे पाँच, पाँच ही है ॥ २ ॥

इन सब देशोंकी रचना और वातावरण ही ऐसा है कि यहाँ उत्पन्न हुये जीवोंको एक निश्चित मात्रामें बिना परिश्रमके ही सुख प्राप्त होगा, इन सब सुखोंका प्रमाण गिननेपर तीस प्रकारका होता है। इन भोगभूमियोंके विशेष वर्णनको अब मैं अलग-अलग लक्षण, आदि बताकर कहता हूँ ॥ ३ ॥

भोगभूमिकी भूमि

भोगभूमियोंका धरातल सोने आदि धातुओंसे बना है अतएव इसकी छटा चारों ओर फैली रहती है। जाज्वल्यमान एकसे एक बढ़िया रत्नोंसे व्याप्त होनेके कारण वह चित्र-विचित्र होती है और भोगभूमियोंमें अत्यन्त सुलभ नीलम, मोती, उत्तम

१. क संख्यावत°। २. [°शोभा]।

महेन्द्र[1]नीलै रुचकप्रभैश्च कर्केतनैर्भास्वरसूर्यकान्तैः ।
रुजाहरैः शीतलचन्द्रकान्तैस्तता महो भात्यतिसर्वकालम् ॥ ५ ॥
क्वचिच्च बन्धूकमनश्शिलाभा क्वचिच्च जात्यञ्जनहेमवर्णा ।
क्वचिच्च सारङ्गविहङ्गतुल्या क्वचिच्छशाङ्काङ्कुरसप्रभा च ॥ ६ ॥
तृणानि यस्यां चतुरङ्गलानि मृदूनि सौगन्धिकगन्धवन्ति ।
दशार्धवर्णान्यतिकोमलानि नित्यप्रवृत्तानि मनोहराणि ॥ ७ ॥
मन्दप्रवाताभिहतानि तानि परस्परस्पर्शजनिस्वनानि ।
मृष्टानुनादश्रवणक्षमानि गन्धर्वगीतान्यतिशेरते च ॥ ८ ॥
तुरुष्ककालागरुचन्दनानां लवङ्गकङ्कोलककुङ्कुमानाम् ।
एलातमालोत्पलचम्पकानां गन्धान्स्वगन्धैश्च विशेषयन्ति ॥ ९ ॥

वज्रमणि आदिका सद्भाव तो वहाँके पृथ्वी तलको ऐसा सजा देता है कि वहाँकी भूमि सुसज्जित सुन्दर स्त्रीके समान आकर्षक लगती है ॥ ४ ॥

महामहेन्द्र नीलमणियोंसे, रुचकप्रभ रत्नोंसे, कर्कतनों द्वारा, अत्यन्त जगमगाते हुए सूर्यकान्तमणियों द्वारा तथा आतप-को शान्त करनेवाले चन्द्रकान्तमणियोंसे पुरी हुई पृथ्वी सब ऋतुओं और सब ही वेलाओंमें अत्यधिक शोभित होती है ॥ ५ ॥

किसी स्थानपर भूमिका रंग बन्धूक पुष्प या मनःशिला (गेरू) के समान लाल है, दूसरे स्थलोंकी छटा जाति पुष्प, अञ्जन और सोनेके रंगकी है, अन्य स्थलोंकी कान्ति सारङ्ग (बगुला) पक्षियोंके पंखोंके समान है तथा कुछ अन्य स्थलोंकी छवि चन्द्रमाके अंकुरों (किरणों) के समान मोहक धवल है ॥ ६ ॥

चारों तरफ उगी हुई भोगभूमिकी दूबके प्रधान गुण चार हैं—वह अत्यन्त सुकुमार होती है, उसकी गन्ध उत्तम सुगन्ध से व्याप्त है, अत्यन्त कोमल होते हुए भी उसके रंगोंकी संख्या [दशकी आधी] पाँच है और वह मनमोहक दूब प्रतिदिन ऐसी मालूम देती है मानो नयी ही उगी हो ॥ ७ ॥

मन्द-मन्द पवनके झोंके जब दूबको झकोरे देते हैं तो उसके कोमल सुकुमार पौधे एक दूसरेको छूने लगते हैं उससे जो ध्वनि निकलती वह गन्धर्व देवोंके उन गीतोंको भी मात कर देती है जो मधुर स्निग्ध स्वर तथा उसकी प्रतिध्वनिके कारण अत्यन्त कर्णप्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

वहाँपर व्याप्त सुगन्धियाँ अपनी गन्धके द्वारा तुरुष्क (लोवान), कालागरु चन्दन, साधारण चन्दन, लवङ्ग, कंकोल

१. म माहेन्द्र° ।

शीतोष्णवातोरुतुषारवर्षा मेघर्तुकालाशनिविद्युदुल्काः ।
क्षुद्रोगशोकव्यसनेतयश्च न सन्ति यस्यामुपभोगभूमौ ॥ १० ॥
नृपाश्च भृत्याः कृपणा दरिद्राः स्तेनान्यदाराभिहता[1] नृशंसाः ।
पङ्ग्वांधमूकाः कुणिकुब्जखञ्जाः षट्कर्मधर्माभिरता न यस्याम् ॥ ११ ॥
तृणं जलं गुल्मलताङ्घ्रिपाश्च विहङ्गमा वा विषकीटसर्पाः ।
परस्पराबाधकरा मृगा वा न सन्ति दुःखोद्भवहेतवस्ते ॥ १२ ॥
पर्यन्तवैडूर्यशिलाद्युतीनि प्रफुल्लपद्मोप्पलसंकटानि ।
प्रकृष्टकारण्डवहं वसन्ति[2] प्रसन्नतोयानि सरांसि भान्ति ॥ १३ ॥ १३ ॥

(गुग्गुल) कुंकुम, इलायची, तमाल, सब प्रकारके कमल तथा चम्पक पुष्पोंकी सुगन्धियोंको; जो कि इस लोकमें सर्वोपरि मानी जाती हैं, भी पछाड़ देती हैं ॥ ९ ॥

समशीतोष्ण

वहाँपर शीतके कारण ठिठुरना नहीं होता है और न गर्मीमें हाय-हाय करनी पड़ती है, न आँधियोंके आनेकी शंका है और न हिमपातका आतंक है, न वर्षा ऋतुकी चिन्ता है और न उसके सहगामी बादलोंके अन्धकार, वज्रपात, बिजलीकी चमक और घड़घड़ाहटका ही भय है, वे भोगभूमियाँ ऐसी हैं जहाँपर दुर्भिक्षोंका भय नहीं है, न रोगोंका आक्रमण है, अकाल मृत्यु, आदि न होनेसे शोकके कारणोंका भी अभाव है, चोरी, परस्त्रीगमन, आदि व्यसनोंका तो नाम भी नहीं है और सबको सम सुख होनेके कारण आततायी आदिके उत्थान रूपसे ईतियोंका होना तो असंभव ही है ॥ १० ॥

समान समाज

भोगभूमिमें न कोई राजा है और न कोई सेवक है। कृपणों और निर्धनोंका तो नाम ही नहीं सुनायी देता है। चोरी करनेवालों और परस्त्री प्रेमियोंकी तो कल्पना ही असंभव है, तब निर्दयी और हिंसकोंकी संभावना ही कैसे हो सकती है ? न तो वहाँ कोई लंगड़ा, अन्धा तथा गूंगा है और न कोई कुणि, कुबड़ा और हाथ-टूटा है। इसी प्रकार वहाँ ऐसा एक भी मनुष्य न मिलेगा जो असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, गो(भूमि)रक्षा और सेवा इन छह कर्मोंको करता हो ॥ ११ ॥

वहाँ ऐसी जलराशि, घास, झाड़ियों, लतामण्डपों और वृक्षोंका अभाव है जो किसी भी प्रकारसे दुःखके निमित्त हो सकते हों। पक्षी, पशु, विषैले कीड़े और साँप आदिसे होनेवाले दुःखोंकी तो चर्चा ही नहीं सुन पड़ती है। भोगभूमिमें उत्पन्न हुए मृग आदि पशु आपसमें भी मारपीट (घात-उपघात) नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

निर्मल जलसे पूर्ण भोगाभूमिके जलाशयोंकी छटा निराली ही होती है। उनके चारों और वैडूर्यमणिकी शिलाओंसे बने

---

१. [स्तेयान्यदाराभिरता]। २. [°कारण्डवहंसवन्ति]।

मद्याङ्गतूर्याङ्गविभूषणाङ्गा ज्योतिर्गृहा भाजनभोजनाङ्गाः ।
प्रदीपवस्त्राङ्गवरप्रसंगा दशप्रकारास्तरवस्तु तत्र ॥ १४ ॥
अरिष्टमैरेयसुरामधूनि कादम्बरीमद्यवरप्रसन्नाः[1] ।
मदावहानासवनातियोग्यान्मद्याङ्गवृक्षाः सततं फलन्ति ॥ १५ ॥
मृदङ्गवीणावरशङ्खतालान्मुकुन्दसंगां व्रजदुन्दुभिश्च[2] ।
सुखानुनादानुरुमर्दलांश्च तूर्याङ्गवृक्षा विसृजन्ति तत्र ॥ १६ ॥
किरीटहाराङ्गदकुण्डलानि ग्रीवोरुबाहूदरबन्धनानि ।
स्त्रीपुंसयोग्यानि विभूषणानि विभूषणाङ्गा विसृजन्ति शश्वत् ॥ १७ ॥

घाटोंकी प्रभा सुशोभित है, उनका मध्यभाग पूर्ण विकसित कमलों और नीलकमलोंसे भरा रहता है और उत्तम कारण्डवों और हँसों की जोड़ियां उनमें विहार करती हैं ॥१३॥

मद्यांङ्ग (मदिरांग), तूर्याङ्ग, विभूषणांग ज्योत्यंग, गृहांग, भाजनांग, भोजनांग, प्रदीपांग, वस्त्रांग और वरप्रसंगांग अथवा माल्यांग ये दश प्रकारके श्रेष्ठ कल्प = वृक्ष होते हैं अर्थात् वृक्ष-कल्प-बिना लिये देने वाले, स्वाभाविक संघटन होते हैं ॥१४॥

दश कल्पवृक्ष

मद्यांग वृक्ष सदा ही अरिष्ट (सविधि निकाला गया सार) मैरेय (रासायनिक क्रियासे निकाला गया फल फूलोंका सत्) सुरा (सड़ाकर निकाला गया फलोंका रस) मधु (मधुमक्खियों द्वारा संचित पुष्प पराग आदि) कादम्बरी (निर्मल प्रकारकी मदिरा), आदि मदको लानेवाले पदार्थोंको तथा अत्यन्त उत्तम आसवोंको अत्यन्त निर्मल और उत्तम मात्रामें उक्त कल्पवृक्ष देते हैं ॥ १५ ॥

भोगभूमिमें उत्पन्न तूर्यांग कल्पवृक्ष बढ़िया-बढ़िया मृदंगों, वीणाओं तथा शंखतालोंको, आजकल न दिखनेवाले मुकुन्द संग और ग्वालोंकी बस्तियोंमें बजनेवाली दुन्दुभियोंको तथा आसानीसे बजाने योग्य बड़े-बड़े मर्दलों (ढोलों) को वहाँपर यथेच्छ-रूपमें देते हैं ॥ १६ ॥

भूषणांग वृक्ष वहाँपर स्त्रियों और पुरुषोंके योग्य मुकुट, हार, अंगद (बाजूबन्द), कुण्डल, गले, वक्षस्थल, भुजाओं, पेट आदिपर पहिनने योग्य मनोहर व सुन्दर आभूषणों आदि विविध प्रकारके मण्डनोंको सतत और सदा वितरण करते रहते हैं ॥ १७ ॥

---

१. [प्रसन्नान्] । २. [°संज्ञा व्रजदुन्दुभिश्च] ।

नष्टान्धकारा वसुधाप्रदेशा येषोंतिता भानुशशिप्रकाशैः ।
ते ज्योतिषाङ्गा विपुलप्रकाशा विभान्ति नित्यं नयनाभिरामाः ॥ १८ ॥
श्रीमण्डपान्मण्डितहर्म्यमालान् डोलागृहान्प्रेक्षणकाञ्जनाङ्गाः ।
[..... ॥ १९ ॥] (?)
शाखोपशाखास्वतिभासुरासु प्रवालपत्राङ्कुरपल्लवानि ।
प्रदीपतुल्यानि सृजन्ति नित्यं ते दीपिताङ्गा[1]: सुखदर्शनीयाः ॥ २० ॥
दुकूलकौशेयकवालजानि सच्चीनपट्टांशुककम्बलानि ।
वस्त्राणि नानाकृतिवर्णवन्ति वस्त्राङ्गवृक्षा ददते सदैव ॥ २१ ॥
सुगन्धिसच्चम्पकमालतीनां पुन्नागजात्युत्पलकेतकीनाम् ।
पञ्चप्रकारा रचिताग्र्यमाला माल्याङ्गवृक्षा विसृजन्त्यजस्रम् ॥ २२ ॥

भोगभूमिके समस्त भूखण्डोंपर व्याप्त अन्धकारको नष्ट करके जो सूर्यके उद्योत और चन्द्रमाकी कान्तिसे उन्हें प्रकाशित कर देते हैं वे ही ज्योतिषांग कल्पवृक्ष हैं। इस जातिके वृक्ष विशाल प्रकाशपुञ्जके समान है इसीलिए उन्हें देखते ही नेत्र परम मुदित हो उठते हैं तथा उनकी कान्ति सदा ही चित्तको आकर्षित करती है ॥ १८ ॥

सुखी जीवनके लिए उपयोगी समस्त उपकरण तथा सर्वांग सजावटसे युक्त निवास गृहों, उनके आगे बने विशाल श्री-मण्डपों, स्वास्थ्य तथा विनोदके साधन दोला ग्रहों तथा प्रेक्षण गृहोंको गृहांग कल्पवृक्ष देते हैं। उपयोगी तथा सुन्दर भाजन एवं स्वादु तथा स्वास्थ्यकर भोजन, भाजन-भोजनांग कल्पवृक्ष प्रदान करते हैं[1] ॥ १९ ॥

जिनकी अत्यन्त जगमगाती और कान्तिमान प्रधान शाखा और उपशाखाओंपर निकली कोंपलें, पत्ते, अंकुर और पल्लव ऐसे मालूम देते हैं मानो प्रकाशमान प्रदीप हैं उन्हें प्रदीपांग कल्पवृक्ष बताया है। इन्हें देखते ही नेत्रों तथा मनको बड़े सुखका अनुभव होता है ॥ २० ॥

वस्त्रांग वृक्षोंका यही कार्य है कि वे सर्वदा कपाससे बने उत्तरीय-अधरीय आदि वस्त्र, कोशाके वस्त्र, केशों (ऊन) से निर्मित उत्तम वस्त्र, चीनमें बने रेशमी वस्त्र, पाटके रेशोंसे निर्मित सूक्ष्म और लघुवस्त्र, कम्बल आदि नाना रंगों तथा विविध आकार और प्रकारोंके वस्त्रोंको भोगभूमियाँ मनुष्योंको अर्पित करते रहें ॥ २१ ॥

माल्यांग वृक्षोंके अग्रभागमें परम सुगन्धियुक्त उत्तम चम्पा, मालती, पुन्नाग, चम्पा, जाति, (चमेली), नीलकमल,

१. इस श्लोकका उत्तरार्ध पुस्तकमें नहीं है।
१. [दीपिकाङ्गाः]।

ते कल्पवृक्षाश्च दशप्रकारा व्यालिङ्गिताः कामलतावतानैः ।
स्वभावशुद्धाः प्रतिभान्ति शश्वत्प्रियाङ्कनाङ्के रमणा यथैव ॥ २३ ॥
भुवां तृणानां सरसां तरूणां विभुक्तिरुक्ता खलु भोगभूषु ।
ये तत्र गन्तुं प्रभवन्ति सन्तः समासतस्तानिह कीर्तयिष्ये ॥ २४ ॥
भद्राः प्रकृत्या विनयान्विता ये मायामदक्रोधवधेषु मन्दाः ।
सत्यार्जवक्षान्त्यतिदानशूरास्ते संभवन्त्युत्तमभोगभूमौ ॥ २५ ॥
दानेन भोगाः सुलभा नराणां दानेन तिष्ठन्ति यशांसि लोके ।
दानेन वश्या रिपवो भवन्ति तस्मात्सुदानं सततं प्रदेयम् ॥ २६ ॥
दानं च दाता प्रतिसंग्रहीता देयं ह्युपायं च फलप्रपञ्चम्[1] ।
एतानि दानेऽधिकृतानि राजंस्ते यान्ति जीवाः खलु भोगभूमिम् ॥ २७ ॥

केतकी आदिके सुविकसित पुष्पोंकी पाँच प्रकारकी माला अपने आप निकलती हैं, जिन्हें वे वृक्ष 'वरप्रसंग' करनेके इच्छुक भोग-भूमियोंको लगातार देते रहते हैं ॥ २२ ॥

ये दशों प्रकारके कल्पवृक्ष चारों ओर उगी सुन्दर लताओंके समूहसे पूर्ण रूपसे घिरे हुए हैं। लताओंसे युक्त और अपने आप पवित्र और स्वच्छ वे कल्पवृक्ष ऐसे मालूम देते हैं जैसे कि सदा ही प्रेमिकाओं के बाहुपाशसे वेष्टित प्रेमी लगते हैं ॥२३॥

इत प्रकार भोगभूमिमें उत्पन्न दूब, जलाशय, वृक्ष तथा भूमिकी शोभा और विभूतिको मैंने आपको बताया है। अब संक्षेपमें उनके विषयमें कहूँगा जो भले मानुष मर करके वहाँ उत्पन्न हो सकते हैं ॥ २४ ॥

भोगभूमिके कारण

जो स्वभावसे ही सर्वसाधारणके हितैषी होते हैं, जिनकी प्रकृतिमें विनम्रता समायी रहती है, छलकपट, अहंकार, क्रोध और हिंसा करनेकी जिन्हें कभी इच्छा नहीं होती है, सत्यबोलने, सीधेपन, क्षमाशीलता तथा प्रचुर दान देनेके समय ही जिनकी वीरता प्रकट होती है, ऐसे सज्जन उत्तम भोगभूमि (विदेहोंमें) में उत्पन्न होते हैं ॥ २५ ॥

दान देनेसे मनुष्यको यहाँ और परलोकमें समस्त भोग सरलतासे स्वयं प्राप्त होते हैं। संसारमें उन्हींकी कीर्ति चिरकाल तक रहती है जो निस्वार्थ भावसे दान देते हैं। और तो और दान (क्षमा, आदि का दान) के द्वारा; रिपु भी वशमें हो जाते हैं, अतएव प्रत्येक मनुष्यको विधिपूर्वक सुपात्रको दान देना ही चाहिये ॥ २६ ॥

हे राजन् ! दानके प्रसंगमें जिन भद्रपुरुषोंने निरतिचार दानक्रिया, दाताकी योग्यता, ग्रहण करनेवालेकी सत्पात्रता, देय

१. म ह्युपायस्य फलप्रदं च ।

दानं पुनस्तद्विविधप्रकारमपात्रपात्रप्रविभागमाहुः ।
मिथ्यादृशोऽपात्रमसंयताश्च पात्रं तु सद्दृष्टिसुसंयता ये ॥ २८ ॥
अपात्रदानेन कुमानुषेषु सुपात्रदानेन च भोगभूमौ ।
फलं लभन्ते खलु दानशीलास्तस्मादपात्रं परिवर्जनीयम् ॥ २९ ॥
श्रद्धान्वितो भक्तियुतः समर्थो विज्ञानवाँल्लोभविवर्जितश्च ।
क्षान्त्यान्वितः[1] सत्त्वगुणोपपन्नस्तादृग्विधो दानपतिः प्रशस्तः ॥ ३० ॥
सुदृष्टयस्तप्तमहातपस्का[2] ध्यानोपवासव्रतभूषिताङ्गाः[3] ।
ज्ञानाम्बुभिः संशमितोरुतृष्णाः प्रतिग्रहीतार उदाहियन्ते ॥ ३१ ॥

वस्तुकी शुद्धि और उपयोग, देय वस्तुको जुटानेके उपाय तथा ग्रहीता पर उसका फल इतनी बातोंको भलीभाँति जान लिया है। तथा विवेकपूर्वक जो दान देते हैं वे जीव निस्सन्देह भोगभूमिको जाते हैं ॥ २७ ॥

पात्र-अपात्र

यहाँ दान ग्रहण करनेवालेकी सत्पात्रता और अपात्रताकी अपेक्षा से ग्रहीता प्रधान दो विभागोंमें बँट जाता है। मिथ्यादृष्टी और असंयमी जीवोंको अपात्र कहा, है तथा सत्यदेव, गुरु और शास्त्रमें श्रद्धा करनेवाले सम्यग्दृष्टी सत्पात्र हैं ॥२८॥

जो मिथ्यादृष्टी अर्थात् असंयमी और भ्रान्तलोगोंको दान देते हैं वे मनुष्य गतिकी कुत्सित योनियोंमें उत्पन्न होते हैं। सम्यक्ज्ञानी, संयमी, सद्धर्मी आदिको दान देनेसे भोगभूमिकी प्राप्ति होती है और वहाँके सुखोंके रूपमें वे अपने दानका फल पाते हैं, अतएव जिनका स्वभाव दान देनेका है उन्हें प्रयन्न करके अपात्रोंसे बचना चाहिये ॥ २९ ॥

दाताका स्वरूप

दाताओंकी सर्वप्रथम योग्यता है उसकी गाढ़ श्रद्धा, श्रद्धा होनेपर भी यदि उपेक्षासे दिया तो वह निरर्थक ही होगा इसलिए दाताको भक्तियुक्त होना चाहिये। दान देनेकी सामर्थ्य भी अनिवार्य योग्यता है। दानविधिके ज्ञाता होनेके साथ दाताका निर्लोभी होना भी आवश्यक है। उसके स्वभावमें शान्तिके साथ-साथ सात्त्विकता होना भी अनिवार्य है। फलतः जिसमें ये सब गुण हैं वही श्रेष्ठ दाता है ॥ ३० ॥

उत्तम पात्र

सम्यक्दृष्टी, दुर्द्धर तपस्याओंको तपनेवाले तपस्वी, जिनके शरीरपर उत्कृष्ट ध्यान, उपवास, यम, नियम आदीक आभा चमकती है तथा सत्य ज्ञानरूपी जलसे जिन्होंने भोग और उपभोगोंकी उत्कट अभिलाषारूपी प्यासको पूर्ण शान्त कर दिया है, वे ही आदर्श प्रतिग्रहीता कहे गये हैं ॥ ३१ ॥

१. क क्षान्त्याश्रितः । २. ब सुदृष्ट वस्सप्त° । ३. क ° व्रतभूरिसाराः ।

शास्त्राणि निःश्रेयसकारणानि आहारदानाभयभेषजानि ।
चत्वारि तान्यप्रतिमानि लोके देयानि विद्वद्भिरुदाहृतानि ॥ ३२ ॥
शास्त्रेण [1]सर्वज्ञमुपैति दाता आहारदानादुपभोगवान्स्यात् ।
दयाप्रदानान्न भयं परेभ्यो व्यपेतरोगस्त्वथ भैषजेन ॥ ३३ ॥
कन्यासुभूहेमगवादिकानि केचित्प्रशंसन्त्यनुदारवृत्ताः ।
स्वदोषतस्तानि विवर्जितानि व्यपेतदोषैर्ऋषिभिर्विशेषात् ॥ ३४ ॥
कन्याप्रदानादिह रागवृद्धिर्द्वेषश्च रागाद्भवति क्रमेण ।
ताभ्यां तु मोहः परिवृद्धिमेति मोहप्रवृत्तौ नियतो विनाशः ॥ ३५ ॥

दान शास्त्रके पंडितोंने मोक्षप्राप्तिके प्रधान कारण शास्त्र, शरीर स्थितिका निमित्त आहार, निर्विघ्न रूपसे तपस्यामें साधक औषधि तथा संसारमात्रको सुखी बनानेका अमोघ उपाय, अभय ये चारों अनुपम वस्तुएँ ही इस संसारमें देने योग्य बतायी हैं ॥ ३२ ॥

दान-भेद

शास्त्रदानमें वह शक्ति है, जो एक दिन दाताको भी सर्वज्ञ पदपर बैठा देती है, सत्पात्रमें दिये गये आहार दानके ही प्रतापसे लोग प्रचुर भोगोपभोगोंको प्राप्त करते हैं। जो दूसरोंको अभय देते हैं वे स्वयं भी दूसरोंके भयसे मुक्त हो जाते हैं। औषध दान देनेका ही फल है, जो लोग पूर्ण स्वस्थ होते हैं ॥ ३३ ॥

कन्यादान

कुछ संकुचित मनोवृत्तिके लोगोंका कहना है कि कन्याको भूमि, गृह, स्वर्ण, गाय, भैंस, घोड़ा आदि गृहस्थीमें आवश्यक वस्तुएँ देना भी सुदान है और प्रशंसनीय है। किन्तु उक्त प्रकारके दानसे हुए दोषोंके कारण, वह छोड़ने योग्य ही है; विशेषरूपसे उन साधुओंके द्वारा जिन्होंने गृहस्थी आदिके दोषमय आचरणको छोड़ दिया है ॥ ३४ ॥

जब किसीको लड़की दी जायेगी तो उससे उन दोनोंमें राग ही बढ़ेगा, उस रागभावको कार्यान्वित करनेमें नाना प्रकारकी परिस्थितियोंके कारण क्रमशः द्वेष उत्पन्न होगा। रागद्वेषसे मोहनीय दिन दूना और रात चौगुना बढ़ेगा और जब मोह-का आत्मापर पूर्ण अधिकार हुआ तो विनाश निश्चित ही है ॥ ३५ ॥

---

१. [सार्वज्ञ्य]।

दुःखाय शस्त्राग्निविषं परेषां भयावहं हेममुदाहरन्ति ।
संताडनोद्बन्धनवाहनैश्च दुःखान्यवाप्नोति गवादिदेयम् ॥ ३६ ॥
भूमिः पुनर्गर्भवती च नारी कृष्यादिभिर्याति वधं महान्तम् ।
तदाश्रयाः प्राणिगणाश्च यस्माद्भूदानमस्मान्न विशिष्टमाहुः ॥ ३७ ॥
देशे च काले गुणवत्प्रदत्तं फलावहं तद्भवतीति विद्धि ।
लोकप्रसिद्धं व्यवहारमात्रा[1]द्दृष्टान्तमेकं शृणु कथ्यमानम् ॥ ३८ ॥
कूपात्प्रसन्नैकरसं जलं यद्विसृज्यमानं सरणीमुखेन ।
तदेव नानारसतां प्रयाति द्रव्याण्युपाश्रित्य पृथग्विधानि ॥ ३९ ॥
पयो भवेद्धेनुनिपीतमम्भः शुण्ठ्या कटुत्वं मधुरं कदल्या ।
तथेक्षुणा तैर्गुडशर्कराद्यैः कषायसारः क्रमुकाभयाभ्याम् ॥ ४० ॥

विवाहके समय कन्याके साथ यौतक (दहेज) रूपसे दिये गये खड्ग आदि शस्त्र, अग्नि तथा अग्निके साधन, विषादि परम्परया दूसरोंके दुःखके कारण होते हैं, दहेजमें दिया गया सोना और धन उक्त उपायोंका साधन होनेके कारण तथा चोरादिके कारण भयको उत्पन्न करता है तथा जामाताको दिये गये गाय, बैल आदि पशु तो साक्षात् ही पिटना, बँधना, जलाया जाना आदि अनेक दुःखोंको भरते हैं ॥ ३६ ॥

गर्भवती स्त्री तथा खेती आदिके उपयोगमें आनेवाली भूमि ये दोनों ही अपनी जनन शक्तिके कारण महान संहारका कारण होती हैं, क्योंकि इनके उत्पादक स्थलोंपर रहनेवाले अनेक प्राणी हल आदि चलाते ही मर जाते हैं फलतः इन दोनोंके दानमें कोई विशेषता नहीं है ॥ ३७ ॥

वही देय वस्तु ठीक समयसे उपयुक्त क्षेत्रमें यदि किसी गुणवान व्यक्तिको दी जाती है तो निश्चयसे उसका परिणाम उत्तम होता है। इसे ही समझनेके लिए व्यवहारकी प्रधानताको बतलानेवाला संसारमें अत्यधिक चालू एक उदाहरण सुनिये मैं कहता हूँ ॥ ३८ ॥

दान कथा

कुएँका एक ही रसयुक्त निर्मल जल जब किसी नालीसे निकाला जाता है और अलग-अलग स्थानों पर सींच दिया जाता है तो वही एकरस जल नाना प्रकारकी वस्तुओंसे मिलकर अनेक प्रकारके रसों और गुणोंको प्रकट करता है ॥ ३९ ॥

गायके द्वारा पिया गया वही कूप-जल कुछ प्रक्रियाके बाद दूध हो जाता है। सोंठकी जड़में पहुँचकर उसका स्वाद

१. क °मात्राः ।

सर्पेण पीतं विषमादधाति तिक्तत्वमायाति च निम्बपीतम् ।
आम्लो रसस्तिन्त्रिणिकाकपित्थैः काम्लो भवेदामलकेन पीतम् ॥ ४१ ॥
देयं तथैकं ह्यनवद्यरूपं दाता च भक्त्या द्विगुणोपपन्नः ।
प्रतिग्रहीतुर्गुणतः फलानि फलन्त्यनेकानि सुखासुखानि ॥ ४२ ॥
भुक्तान्नवीर्येण हि केचिदत्र स्त्रीद्यूतहिंसामदिराभिरक्ताः ।
परापवादाभिरता नृशंसाश्चिन्वन्ति पापान्यसुखप्रदानि ॥ ४३ ॥
केचित्पुनर्ज्ञानविशुद्धचित्ता दृढव्रताः शान्तकषायदोषाः ।
जितेन्द्रिया न्यायपथानुपेताः पुण्यानि कर्माणि समर्जयन्ति ॥ ४४ ॥

कटु-तिक्त हो जाता है, कदलीमें जाकर वह मीठे केले उत्पन्न करता है, ईखमें प्रवेश करके वही जल सबसे मीठे गुड़ और शक्करको उत्पन्न करता है, सुपारी और हर्रमें पहुँचकर वह कषाय (कसैले] रसका कारण होता है ॥ ४० ॥

उसी मधुर-निर्मल जलको पीकर साँपका विष बढ़ता है, नीमकी जड़ोंसे खींचा गया वही रस उसके कड़वे स्वादका कारण होता है, इमली और कैंथकी जड़ोंमें पड़ा वही जल खट्टे रसमें बदल जाता है और आँमडे तथा आँवलेके द्वारा पिया गया वही जल अम्ल रसका जन्मदाता होता है ॥ ४१ ॥

इसी प्रकार देय पदार्थ है, वह अपने आप सर्वथा दोषोंसे रहित है । किन्तु दाताकी योग्यताओं और भक्तिके द्वारा उसकी विशेषताएँ दूनी हो जाती हैं तथा ग्रहण करनेवालेकी योग्यताओंके अनुसार वह सुख-दुःखमय विविध प्रकारके फलोंको उत्पन्न करता है ॥ ४२ ॥

दान परिपाक निदर्शन

भोजनमें खाये गये अन्नसे प्राप्त शक्तिके द्वारा इस संसारमें बहुतसे लोग स्त्रियोंसे कामरति, जुआ, शिकार, हिंसा, शराब, गांजा आदि मादक द्रव्योंका सेवन करते हैं, दूसरे लोग उस शक्तिको दूसरोंकी अपकीर्ति करनेमें व्यय करते हैं और अन्य लोग निर्दयतामय कार्य करके भयंकर दुःखोंके दाता पापोंको ही कमाते हैं ॥ ४३ ॥

किन्तु दूसरे कुछ लोग जिनके हृदय ज्ञानरूपी निर्मल जलधारसे धुलकर रागद्वेषादि दोषोंसे निर्मल हो गये हैं, जो सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रहत्याग व्रतोंके पालनमें दृढ़ हैं, क्रोधादि कषाय तथा अन्य दोषोंको नष्ट कर दिया है, इन्द्रियाँ जिनकी आज्ञाकारिणी हैं तथा जो सदा न्यायमार्ग पर ही चलते हैं वे अपने भोजनसे प्राप्त शक्तिके द्वारा पुण्य कर्मोंका ही संचय करते हैं ॥ ४४ ॥

कुर्वन्ति ये ये न च पुण्यपापमवश्यमाहारबलेन दातुः ।
तांस्तांश्च राजन्स्वविपाककाले[1] ध्रुवं पुनस्तद्वयमभ्युपैति ॥ ४५ ॥
असंयतेभ्यो वसतिप्रदानादाहारदानात्सहवासतस्तु ।
यथैव दण्डचाः सह तैर्गृहेशा आदातृभिर्दानपरास्तथैव ॥ ४६ ॥
सुसंयतेभ्यो वसतिप्रदानादाहारदानात्सहवासतस्तु ।
यथैव पूज्याः सह तैर्गृहेशा आदातृभिर्दानपरास्तथैव ॥ ४७ ॥
अपात्रदानाच्च कुमानुषाणामनिष्टगात्रेन्द्रियसौख्यभोगाः ।
कुज्ञानसत्त्वद्युतिधीर्यशांसि भवन्त्ययत्नात्स्वयमेव तानि ॥ ४८ ॥

जिन दाताओंके भोजनसे प्राप्त शक्तिके द्वारा पुण्यकर्म किये जाते हैं और पाप नहीं किये जाते हैं उन्हें फलप्राप्तिके अवसरपर पुण्य ही मिलता है तथा जिनके भोजनसे प्राप्त शक्तिके द्वारा पाप किया जाता है और पुण्य नहीं किया जाता है उन्हें फल प्राप्तिके अवसर पर निश्चयसे पाप ही मिलता है ॥ ४५ ॥

असंयमी व्यक्तियोंको शरण देनेसे, उनका भरणपोषण करनेसे अथवा उनकी संगति करनेसे जिस प्रकार निर्दोष गृहस्थ उन अपराधियोंके साथ नाना प्रकारके दण्ड पाते हैं उसी प्रकार दानविमुख, कुकर्मरत लोगोंको दान देनेसे दाता लोग भी उनके कुकर्मोंमें हाथ बँटाते हैं ॥ ४६ ॥

संयमी शिष्ट पुरुषोंको अपने घर पर ठहरानेसे, भोजनपान व्यवस्था द्वारा उनका स्वागत करनेसे तथा उनकी सुसंगतिमें रहनेके कारण ही साधारण गृहस्थ जिस प्रकार पूजा और सम्मानको पाता है उसी प्रकार स्वयं दानकर्मसे होने योग्य प्रतिग्रहीताके साथ उदार दानी भी पुण्य कमाते हैं ॥ ४७ ॥

अपात्र सुपात्र दानफल

अपात्रोंको दान देनेसे यह जीव कुत्सित मनुष्योंके समान अशुभ और अवगुणमय देहको पाते हैं फलतः उनकी इन्द्रियों-की प्रवृत्तियाँ भी अकल्याणकी तरफ होती हैं, सुख और भोग भी पतनकी दिशामें ले जाते हैं। बिना किसी प्रयत्नके ही उनका ज्ञान दूषित हो जाता है, शक्ति और बुद्धिका झुकाव भी अनिष्ट कर होता है तथा उनकी शारीरिक और मानसिक शोभा तथा कीर्ति भी कलंकित हो जाती है ॥ ४८ ॥

---

१. म °स विपाक°।

सुपात्रदानात्सुरमानुषाणां विशिष्टगात्रेन्द्रियसौख्यभोगाः ।
सज्ज्ञानसत्त्वद्युतिधीर्यशांसि भवन्त्ययत्नात्स्वयमेव तानि ॥ ४९ ॥
व्यपेतमात्सर्यमदाभ्यसूयाः सत्यव्रताः क्षान्तिदयोपपन्नाः ।
संतुष्टशीलाः शुचयो विनीता निर्ग्रन्थशूरा इह पात्रभूताः ॥ ५० ॥
ज्ञानं तु येषां हि तपोधनानां त्रिकालभावार्थसमग्रदर्शि ।
त्रिलोकधर्मक्षपणप्रतिज्ञो[1] यान् दग्धुमीशो न च कामवह्निः ॥ ५१ ॥
येषां तु चारित्रमखण्डनीयं मोहान्धकारश्च विनाशितो यैः ।
परीषहेभ्यो न चलन्ति ये च ते पात्रभूता यतयो जिताशाः ॥ ५२ ॥

सुपात्रको दिये गये दानके फलका अवसर आते ही देवों ओर विशिष्ट मनुष्यों तुल्य अनेक सद्गुणोंका आगार शुभ शरीर प्राप्त होता है, इन्द्रियोंकी विषय प्रवृत्ति भी कल्याणकारी होती है, सुख और भोग भी शुभबन्धके ही कारण होते हैं, स्वभावसे ही उनका ज्ञान सत्यमय होता है बिना प्रयत्नके ही, उवकी शक्ति और बुद्धि इष्ट कार्योंमें लगी रहती है तथा उनकी शारीरिक कान्ति और सुयश दिनों दिन बढ़ता ही जाता है ॥ ४९ ॥

पाणिपात्र ही उत्तमपात्र

सांसारिक प्रलोभनों और बाधाओंके सम्मुख अकेले ही जूझनेवाले निग्रन्थ मुनि ही सर्वोत्तम पात्र हैं, क्योंकि उन्हें दूसरोंका अभ्युदय देखकर बुरा नहीं लगता है अहंकार और ईर्ष्या तो उनके पास भी नहीं फटकते हैं, वे सत्यकी मूर्ति होते हैं, क्षमा, तथा दया गुणोंके तो वे भण्डार होते हैं, उनका स्वभाव संतोषसे ओतप्रोत होता है, हृदय और शरीर दोनों ही परम पवित्र होते हैं तथा ज्ञानवीर्यके पुञ्ज होते हुये भी वे विनम्रताकी खान होते हैं ॥ ५० ॥

जिन तपोधन ऋषियोंका ज्ञान तीनों कालों और लोकोंके समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायोंको हथेलीपर रखे हुये आंवलेके समान देखता है, जो तीनों लोकोंमें धर्मका प्रचार करनेके लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं, जिन्हें कामदेवकी ज्वाला जलाना तो कहे कौन आंच भी नहीं पहुँचा सकती है ॥ ५१ ॥

जिनका चरित्र किसी भी प्रकारके प्रलोभन, भय और बाधाओंसे खण्डित नहीं किया जा सकता है, मोहरूपी आध्यात्मिक अन्धकारको जिन्होंने समूल नष्ट कर दिया है तथा क्षुधा, तृषा आदि अठारह परीषह भी जिन्हें आत्म-साधनासे विचलित नहीं कर सकते हैं तथा आशारूपी नदीके उस पार पहुँचे हुये वे ऋषिराज ही सत्पात्र हैं ॥ ५२ ॥

---

१. म त्रिलोककर्म° ।

सद्दृष्टिसज्ज्ञानचरित्रवद्भ्यो भक्त्या प्रयच्छन्ति सुदृष्टयो ये ।
भुक्त्वा सुखं ते सुरमानुषाणां क्रमेण निर्वाणमवाप्नुवन्ति ॥ ५३ ॥
मिथ्यादृशः सद्व्रतदर्शनेभ्यः असंयतः केवलभोगकाङ्क्षाः ।
दत्त्वेह दानं परया विशुद्ध्या ते भोगभूमौ खलु संभवन्ति ॥ ५४ ॥
निर्गत्य गर्भाद्दिवसांस्तु सप्त वसन्त्यधाङ्गुष्ठमुपालिहन्तः ।
द्विसप्ततिस्तैस्तु[1] दिनैरथान्यैर्भवन्ति ते षोडशवर्षलीलाः ॥ ५५ ॥
स्त्रीपुंसयुग्मप्रसवात्मकास्ते सर्वे विशुद्धेन्द्रियबुद्धिसत्त्वाः ।
सर्वे च सल्लक्षणलक्षिताङ्गाः सर्वे कलाज्ञानगुणोपपन्नाः ॥ ५६ ॥

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रधारी मुनियोंको जो भव्यजीव भक्तिपूर्वक उक्त चार दान देते हैं वे सम्यक्दृष्टी देवगतिके समस्त सुखोंको भोगकर उत्तम मनुष्योंमें जन्म लेते हैं, और मनुष्यगतिके अभ्युदयकी चरम सीमापर पहुँचकर क्रमशः अन्तमें मोक्ष-लक्ष्मीको वरण करते हैं ॥ ५३ ॥

मिथ्यादृष्टी जीव, जो किसी प्रकारके आचरणका पालन नहीं करते हैं तथा सदा ही भोगों और उपभोगोंकी इच्छा किया करते हैं वे भी सत्य श्रद्धायुक्त व्रतधारी ऋषियोंको चार प्रकारके दानमेंसे कोई भी दान यदि परम शुद्धि और भक्तिके साथ इस भवमें देते हैं, तो निश्चयसे भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं ॥ ५४ ॥

भोगभूमि-जन्मादि

वे ज्योंही गर्भसे निकलते हैं त्योंही उनके माता पिताकी मृत्यु हो जाती है, अतः जन्मके बाद वे एक सप्ताह पर्यन्त ऊपरको मुख किये जन्म स्थलपर पड़े रहते हैं और अपने पैरके अंगूठेको चूसते हैं। और दो सप्ताह बीतते-बीतते ही उनका शारीरिक विकास इतना हो जाता है कि उनका शरीर और स्वभाव सोलह वर्षके किशोर और किशोरीके समान हो जाता है ॥ ५५ ॥

भोग-भूमियाँ जीव अपनी माताके उदरसे युगलरूपमें उत्पन्न होते हैं और युगल भी स्त्री और पुरुषका होता है। जन्मसे ही उनकी इन्द्रियाँ, बुद्धि और शक्ति निर्दोष होती हैं। किसी भोगभूमियाका शरीर ऐसा नहीं होता है जिसपर शुभलक्षण न पाये जांय तथा उन सबमें जन्मसे ही ललित कलाओंका प्रेम, ज्ञान तथा शुभ गुण होते हैं ॥ ५६ ॥

१. [द्विसप्तभि°]।

द्वीपः समुद्रो भवनं विमानं सरः पुरं गोपुरमिन्द्रकेतुः ।
शङ्खः पताका मुसलं च भानुः पद्मं शशिस्वस्तिकदामकूर्माः ॥ ५७ ॥
आदर्शसिंहेभगजेन्द्रमत्स्याश्छत्रासिशय्यासनवर्धमानम् ।
श्रीवत्सचक्रानलवज्रकुम्भा हस्ताग्रपादेषु भवन्ति तेषाम् ॥ ५८ ॥
नराश्च सर्वे सुरतुल्यरूपा नार्यः सुरस्त्रीप्रतिमानभासः ।
विचित्रवस्त्रोज्ज्वलभूषणाङ्गाः सयौवनाः सस्मितमृष्टवाक्याः ॥ ५९ ॥
अन्योन्यगीतश्रवणानुरक्ता अन्योन्यवेषैरवितृप्तकामाः ।
चिरं रमन्ते वनिता नरासु परस्परप्रीतिमुखाः[1] सदैव ॥ ६० ॥
परस्पराक्रीडनसक्तचित्ताः परस्परालङ्कृतकान्तरूपाः ।
परस्परालोकनतत्पराक्षा उदक्कुरौ[2] देवकुरौ च जाताः ॥ ६१ ॥

भोगभूमिज शरीर

उनकी हथेलियों और पैरोंके तलुओंमें द्वीप, समुद्र, भवन, विमान, जलाशय, नगर, गोपुर, (प्रवेश द्वार) इन्द्रकी ध्वजा, शंख, पताका, मूसल, सूर्य, कमल, चन्द्रमा, स्वस्तिक, माला, कच्छप, दर्पण । सिंह, हाथी, ऐरावत, मछली, छत्र, शय्या (पलंग), सिंहासन, वर्धमानक ( ) श्रीवत्स, (पुष्पाकार चिह्न) चक्र, अग्निज्वाला, वज्र, कलशके चिह्न होते हैं, जो कि लौकिक सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार विभूतियोंके द्योतक हैं ॥ ५७-५८ ॥

भोगभूमिके सबही पुरुषोंके स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा कान्ति देवोंके समान होती है और समस्त नारियाँ तो साक्षात् देवियाँ ही होती हैं क्योंकि उनके अद्भुत वस्त्र, आभूषण और शृङ्गार सर्वथा मनोहर होते हैं, वे सब सदा युवतियाँ ही रहती हैं वे मन्द मुस्कानके साथ जब बोलती हैं तो उनके शब्द कानमें अमृतकी तरह लगते हैं ॥ ५९ ॥

भोगभूमिया जुगलिया (एक साथ उत्पन्न पुरुष और स्त्री) एक-दूसरेके गीत और प्रेमालाप सुननेमें ही मस्त रहते हैं । परस्परमें पुरुष स्त्रीका और स्त्री पुरुषका वेशभूषा देखते-देखते तृप्त ही नहीं होते हैं । वे सदा ही एक-दूसरेके प्रेमको पानेके लिए उन्मुख रहते हैं । इस प्रकार वे चिरकाल एक-दूसरेके साथ रमण करते हैं ॥ ६० ॥

उनकी आँखें एक-दूसरेका सौन्दर्य पान करनेमें ही व्यस्त रहती हैं । आपसमें पति-पत्नीका और पत्नी-पतिका शृंगार करके एक-दूसरेके रूपको और अधिक मोहक बना देते हैं । वे एक-दूसरेको प्रिय क्रीड़ाको करनेमें ही अपना शरीर और मन दोनों लगा देते हैं ॥ ६१ ॥

१. [नरेषु परस्परप्रीतिसुखाः] । २. [उदक्कुरौ] ।

राजंस्त्रिपल्योपमजीविनस्ते हर्याह्वका रम्यकवासिनश्च ।
तान्द्विद्विपल्यद्वयजीविनश्च सुवेषयुक्तास्सुखवार्धिमग्नाः ॥ ६२ ॥
हैरण्यका हैमवता नरा ये तेषां तु पल्योपममेकमाहुः ।
सर्वे च भोगाननुभूय पश्चाद्दिवं प्रयान्ति क्षुतजृम्भमात्रात् ॥ ६३ ॥
नात्मप्रशंसा न परापवादा मात्सर्यमायामदलोभहीनाः ।
स्वभावतस्ते सुविशुद्धलेश्या यस्मादतस्ते दिवमेव यान्ति ॥ ६४ ॥
चक्रायुधस्याप्रतिशासनस्य दशाङ्गभोगप्रभवाच्च सौख्यात् ।
यद्भोगभूमिप्रभवं त्वनन्तं तत्सौख्यमित्येवमुदाहरन्ति ॥ ६५ ॥

भोगभूमि-स्थिति (आयु)

जो उत्तरकुरु और देवकुरुमें जन्म लेते हैं, हे राजन् ! उनकी अवस्था तीन पल्य प्रमाण होती है । मध्यम भोगभूमि अर्थात् हरि और रम्यक क्षेत्रोंके निवासी जीवोंकी आयुका प्रयाण दो, दो पल्य है । यह सब भी उक्त प्रकारसे उत्तम वेशभूषाको धारण करते हैं और समस्त सुखोंके समुद्रमें डूबे रहते हैं ॥ ६२ ॥

जो जीव हैरण्यक और हैमवतक क्षेत्रों में व्याप्त जघन्य भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं वे सब वहाँपर एक पल्य लम्बा जीवन व्यतीत करते हैं । यह सब भोगभूमिया जीवन भर समस्त प्रकारके सुखों और भोगोंका रस लेते हैं और आयु पूर्ण होने पर एक छींक या जमायी लेकर ही अपनी जीवन लीला समाप्त कर देते हैं और जाकर स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं ॥ ६३ ॥

भोगभूमियोंकी विशेषताएँ

भोगभूमिया जीव न तो अपनी प्रशंसा स्वयं करते हैं और न दूसरोंकी निन्दा ही करते हैं, न उन्हें दूसरेके अभ्युदयसे संक्लेश होता है न वे किसीकी वंचनाके लिए कपट ही करते हैं, न उन्हें अहंकार होता है और न किसी प्रकारका लोभ, स्वभावसे ही उनका शरीर और भाव प्रशस्त होते है फलतः दोनों लेश्याएँ (द्रव्य-भाव) शुभ ही होती हैं ॥ ६४ ॥

ये ही सब कारण हैं कि वे मरकर स्वर्ग ही जाते हैं हैं । जिस चक्रवर्तीकी आज्ञाके विरुद्ध कोई शिर नहीं उठा सकता है उसको चौदह रत्नों और दश ऋद्धियोंके कारण जो सुख और भोग प्राप्त होते हैं, तुलना करनेपर भोगभूमिमें प्राप्त भोग और सुख उनकी अपेक्षा अनन्तगुणे होते हैं ऐसा आगम कहता है ॥ ६५ ॥

इति कथितमुदारदानपुण्यं प्रभवसुखं निरुपद्रवं विशालम् ।
दशविधतरुभिर्विसृज्यमानं ललिततरं नृपते समासतस्ते ॥ ६६ ॥
अशुभशुभफलस्य साक्षिभूतामवनिमथो गदितुं मुनौ प्रवृत्ते ।
अतिहृषिततनूरुहो नरेन्द्रः श्रवणनिबद्धमना भृशं बभूव ॥ ६७ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
देवकुरूत्तरकुरुवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः ।

हे राजन् ! दाता दान आदिकी विशेषताओं पूर्वक दिये गये विशाल दानके पुण्यसे प्राप्त होनेवाले भोगभूमिके अत्यन्त ललित सुखको आपको संक्षेपसे समझाया है। दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त इस सुखमें न तो कोई बाधा ही आ सकती है और न इसकी सीमा ही है ॥ ६६ ॥

जब मुनिराज श्रीवरदत्तकेवलीने पुण्य और पापके मिश्रित शुभ और अशुभ फलकी रंगस्थली भूत गति (मनुष्यगति) के विषयमें उपदेश प्रारम्भ किया तो राजाको इतना आनन्द हुआ कि उसे रोमाञ्च हो आया और उसने अपने मनको पूर्णरूपसे कर्णेन्द्रियमें केन्द्रित कर दिया ॥ ६७ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरित नामक धर्मकथामें
देवोत्तर-कुरु वर्णन नाम सप्तम सर्ग समाप्त ।

षट्कर्मधर्माभिरताः सुवेशा द्वात्रिंशदेवात्र विदेहसंज्ञाः ।
ऐरावतो भारतवर्षसाह्वस्ताभ्यां चतुस्त्रिंशदुदाहरन्ति ॥ १ ॥
ते पञ्चभिः संगुणिता नरेश शतोत्तरा सप्ततिरेव वा स्युः ।
आर्यास्त्वनार्या द्विविधा मनुष्यास्तत्रोद्भवन्तीत्यृषयो वदन्ति ॥ २ ॥
ये सिंहला बर्बरकाः किराता गान्धारकाश्मीरपुलिन्दकाश्च ।
काम्बोजवाह्लीकरसौद्रकाद्यास्तेऽनार्यवर्गे[1] निपतन्ति सर्वे ॥ ३ ॥
इक्ष्वाकुहर्यु ग्रकुरुप्रधानाः सेनापतिश्चेति पुरोहिताद्याः ।
धर्मप्रियास्ते नृपते त एव आर्यास्त्वनार्या विपरीतवृत्ताः ॥ ४ ॥

अष्टम सर्ग

कर्मभूमि संख्या

इन जम्बूद्वीपके ही विदेह खण्डमें सुमेरुकी पूर्व और पश्चिमदिशामें सोलह-सोलह सुन्दर देश ऐसे हैं जहाँके निवासी असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और सेवा इन छहों कर्मोंको करके जीवन व्यतीत करते हैं, इनके अतिरिक्त उक्त द्वीपके उत्तर और दक्षिणमें स्थित ऐरावत और भरतक्षेत्रके निवासियोंका भी यही हाल है फलतः उक्त बत्तीसमें यह दो जोड़ देनेपर जम्बूदीपमें ही चौंतीस कर्मभूमियाँ हो जाती हैं ॥ १ ॥

हे नरेश ! इस संख्यामें पाँचका गुणा (क्योंकि 'धातकीखण्ड' और 'पुष्करार्द्ध'में जम्बूद्वीपसे दुगुने क्षेत्र, पर्वत आदि हैं) करने पर कुल कर्मभूमियोंकी संख्या (सौ) अधिक सत्तर अर्थात् एक सौ सत्तर हो जाती है। केवली भगवानने कहा है कि इन कर्मभूमियोंमें जन्म लेनेवाले लोग आर्य और अनार्यके भेदसे दो प्रकारके होते हैं ॥ २ ॥

आर्य-अनार्य देश

सिंहल (लंका) में जन्मे लोग, साधारणतया जंगलोंके निवासी बर्बर या आटविक किरात (भील, गोंड़ आदि), गान्धार, काश्मीरमें उत्पन्न हुए लोग, पुलिन्द (संथाल, आदि) कम्बोज, वलख (वाल्हीक), खस, औद्रक (उण्ड्र निवासी) आदि मनुष्योंकी गणना अनार्योंके समूहमें की गई है ॥ ३ ॥

इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, उग्रवंश (यादव आदि) कुरुवंश आदि अग्रगण्य कुलोंमें उत्पन्न हुए राजा आदि, उनके मंत्री,

१. क चार्यवर्गे ।

अनेकजात्यन्तरसंकटत्वादज्ञानतः कर्मगुरुत्वदोषात् ।
संसर्गतो दुःश्रुतिदुर्जनानां न लभ्यते मानुषजातिराशु ॥ ५ ॥
सामान्यभूते च मनुष्यलोके काम्बोजकाश्मीरकबर्बराणाम् ।
म्लेच्छाद्वहुत्वादतिदुर्लभं तं सुमानुषत्वं विबुधा निराहुः ॥ ६ ॥
तत्रापि भोज्यं हि कुलं न लभ्यं पुलिन्दचाण्डालकुलाकुलत्वात् ।
तथैव रूपं मतिरिन्द्रियाणि आरोग्यमर्थित्वमुदारधर्मम् ॥ ७ ॥
लब्ध्वापि[1] सद्धर्ममतो च कृच्छ्रात्सुदुर्धरं घोरतपोविधानम् ।
कषायघोरा विषयारयश्च कुर्वन्ति विघ्नं बहुभिः प्रकारैः ॥ ८ ॥

पुरोहित, सेनापति, दण्डनायकादि सब ही आर्य थे, क्योंकि इन्हें सत्धर्म अत्यन्त प्रिय है फलतः इनका आचरण भी अनार्योंके असंयममय चरित्रसे सर्वथा विपरीत (संयत) होता है ॥ ४ ॥

मनुष्य तथा आर्यत्व

मनुष्यगतिकी कर्मभूमियाँ अनेक वर्गोंके पुरुषोंसे ठसाठस भरी हैं, मनुष्यको आर्यत्व और अनार्यत्वके साधनों तथा स्वरूपका शुद्ध ज्ञान नहीं है, आर्योंका आचरण और विचार दोनों ही विशाल हैं अतः उसका निर्दोष पालन दुष्कर है, मनुष्यको दुर्जनोंकी संगति, कुशास्त्र और कुज्ञान सरलतासे प्राप्त हो जाते हैं, यही कारण है जो आर्यकुल सरलतासे प्राप्त ही नहीं होता है ॥ ५ ॥

सामान्यरूपसे आकृति तथा वेश, भूषा देखनेसे सब ही मनुष्य एक समान प्रतीत होते हैं इसके अतिरिक्त साधारणतया काम्बोज, काश्मीरकी ओरये आये ऋषिक, तुखा [षा] र, शक, हूण आदि म्लेच्छ वर्गके लोगोंकी संख्या अत्यधिक है कि इन कारणोंका विचार करके ही विद्वानोंने कहा था कि शुद्ध आर्यत्व इस पृथ्वीपर अत्यन्त कठिन हैं ॥ ६ ॥

भोज कुल

इसी प्रकार आर्योंमें भी शुद्ध भोजकुलको पाना तो एक प्रकारसे असंभव ही समझिये, क्योंकि समय-समय पर आक्रमण करनेवाले पुलिन्द, चाण्डाल, आदिके कुत्सित कुलोंके लोग भी उसमें समा गये हैं। शुद्ध और कल्याणकारिणी बुद्धि, शुभ कर्मरत इन्द्रियों, घृणित रोगहीन स्वास्थ्य, न्यायसे अर्जित संपत्ति और वीतराग प्रभुसे उपदिष्ट जिनधर्मकी भी यही (दुर्लभतम) अवस्था है ॥ ७ ॥

यदि किसी प्रकार कल्याणपथकी ओर चलनेवाली सुमति प्राप्त हो जाय तथा अनेक कष्ट झेलनेके बाद शुद्ध तपस्याकी

---

१. क बुद्ध्वापि ।

स्वप्नश्च भृत्यो युगचक्रकूर्मा द्यूतं च दास्यं[1] परमाणवश्च ।
रत्नं तथाक्षश्च निदर्शनानि[2] दशोपदिष्टानि मनुष्यलोके ॥ ९ ॥
यथैव मेरुः प्रवरो गिरीणां जलाश्रयानामुदधिर्विशिष्टः ।
गोशीर्षवृक्षस्तरुषु प्रधानस्तथा भवानां मनुजत्वमाहुः ॥ १० ॥
ग्रहेषु चन्द्रो मृगराड्मृगेषु नरेषु राजा गरुडोऽण्डजेषु ।
रत्नेषु वज्रं जलजेषु पद्मं यथा तथा सर्वभवेषु नृत्वम् ॥ ११ ॥
मनुष्यजातिर्व्रतशीलहीना तिर्यङ्नराणामशुभं ददाति ।
दुःखान्यमेयानि च नारकाणा[3]मनन्तशः प्रापयतीति विद्धि ॥ १२ ॥

विधिका पता लग भी जाता है तो क्रोधादि कषायोंकी सहायताके कारण भयंकर विषयरूपी शत्रु नाना प्रकारसे उस आचरण और ज्ञानकी उपासनामें विघ्न करते हैं ॥ ८ ॥

इस मनुष्यलोकमें जीवोंका विभाग समझानेके लिए स्वप्न, सेवक, युग, चक्र, कच्छप, जुआ, धन, धान्य, परमाणु, रत्न और पांसे यह दश उदाहरण दिये हैं ॥ ९ ॥

मनुष्यगतिकी प्रधानता

समस्त पर्वतोंमें जिस प्रकार सुमेरु उन्नत और विशाल है, नदी, तालाब, झील, कूप आदि सब प्रकारके जलाशयोंमें जैसे समुद्र श्रेष्ठ है, संसारके नीम, अश्वत्थ, वर, पीपल, चन्दन आदि सब वृक्षोंमें गोशीर्ष (गोरोचन) के पेड़को जैसी प्रधानता है उसी प्रकार नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगतियोंमें उत्तम कर्मभूमियाँ मनुष्य ही सर्वोपरि हैं ॥ १० ॥

गुरु, भौम, रवि, शुक्र आदि ग्रहों, नक्षत्रों तथा तारोंमें जैसा चन्द्रमा है, मृग आदि वन्य पशुओंमें जैसी स्थिति मृगोंके राजा सिंहकी है, मनुष्योंमें जिस प्रकार राजा सबसे श्रेष्ठ, अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले पक्षियोंमें जो स्थिति गरुड़को है, रत्नोंमें जो माहात्म्य वज्रका है, जलसे उत्पन्न पदार्थोंमें जैसी कमलकी प्रधानता है, ठीक इसी प्रकार सब भवोंमें मनुष्यभवकी प्रधानता है ॥ ११ ॥

ऐसा मनुष्य भव ही अहिंसादि व्रत और सामायिक आदि शीलोंसे हीन होकर इस जीवको तिर्यञ्चगति और कुमानुष जन्मके पतनोंकी ओर ले जाता है। इतना ही नहीं नरक गतिके उन दुःखोंमें झोंक देता है जिनका कोई आदि अन्त नहीं है तथा जिन्हें यह जीव संयम प्राप्त न होनेसे एक, दो बार नहीं अनन्त बार भरता है ॥ १२ ॥

---

१. क धार्य । २. म तथा चक्षुनिदर्शनानि । ३. म कारकाणां ।

मनुष्यजातिस्त्रितशीलयुक्ता तिर्यङ्नराणामशुभं निहन्ति ।
दुःखान्यमेयानि च नारकाणामुन्मूल्य सिद्धिं नयति क्रमेण ॥ १३ ॥
सैवेह दानेन समायुता चेद्विशिष्टभोगान् कुरुषूपभोज्य ।
देवत्वमापादयति क्रमेण अतो विशिष्टा नृपतेऽद्वितीया ॥ १४ ॥
सद्दृष्टिसज्ज्ञानतपोन्विता चेच्चक्रेश्वरत्वं च सुरेश्वरत्वम् ।
प्रकृष्टसौख्यामहमिन्द्रतां च संपादयत्येव न संशयोऽस्ति ॥ १५ ॥
सैकावधौ [1]नारकविंशतिस्तु एकास्य जन्तोरबुधैर्मतोऽर्थः ।
मनुष्यलोकं ह्यपरैर्निराहुः[2] केचित्समर्थं न जगत्त्रये च (?) ॥ १६ ॥

यही मनुष्य पर्याय यदि अहिंसा, सत्य आदि व्रतोंको धारण कर सकी और सामायिक, अतिथिसंविभाग आदि शीलोंसे सम्पन्न हुई तो तिर्यञ्चगति और कुमानुष योनिकी सब ही विपत्तियोंको समूल नष्ट कर देती है और तो कहना ही क्या है नरकगतिके अपरिमित अनन्त दुःखोंका विध्वंस करके वह क्रमशः मोक्ष महापदकी ही प्राप्ति करा देती है ॥ १३ ॥

इसी मनुष्यपर्यायका यदि किसी तरह दानकी प्रवृत्तिसे गठबंध हो गया तो यह उत्तम भोगभूमि, देवकुरु और उत्तरकुरुके लोकोत्तर भोगोंका भरपूर रस पिलाकर वहींसे देवपदकी ओर ले जाती है। अतएव, हे नरेश! मनुष्य पर्याय सब पर्यायोंसे बढ़कर है; इतना ही नहीं अपितु कहना चाहिये कि अन्य भवों और उसमें कोई तुलना ही असम्भव है ॥ १४ ॥

यदि मनुष्य जन्मको सम्यक्दर्शन, ज्ञान और तपका सहारा मिल गया तो फिर कहना ही क्या है? क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसका परिणाम या तो चक्रवर्ती पदकी प्राप्ति होता है अथवा देवोंकी प्रभुता इन्द्रपना होता है, नहीं तो संसारके सुखोंको चरम अवस्था अहमिन्द्र पद होता है ऐसा आप निश्चित समझिये ॥ १५ ॥

यही मनुष्य पर्याय एक मात्र ऐसी योनि है जो मानवको सृष्टिका उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकारी बनाती है ऐसा अज्ञ (जगत्कर्तृत्ववादी) लोग मानते हैं। किन्तु सार यह है कि मनुष्यजन्म तीनों लोकोंमें सबसे अधिक समर्थ है ऐसा (उनमेंसे) भी कितने ही लोग मानते हैं[1] ॥ १६ ॥

---

१. क °धीस्त्रक्°। २. ह्यपरैर्निराहुः।

१. मूलमें यह पद्य अत्यन्त अशुद्ध है।

तादृङ् महासारवतीमवाप्य मनुष्यजातिं त्रिजगत्प्रजानाम्[1] ।
अल्पार्थमन्याः स्वमतिं निवेश्य[2] भवन्ति भृत्या हि पुनः परेषाम् ॥ १७ ॥
त्रिलोकमूल्यं नरदेववृत्तमवाप्य ये कोद्रवतण्डुलार्थम् ।
विक्रीय च[3] स्वाननभिज्ञतत्त्वा मूर्खाः परप्रेष्यकरा भवन्ति ॥ १८ ॥
मनुष्यभूमौ व्रतशीलदानमुप्त्वा कषायादितृणान्यपोह्य ।
स्वर्गादिसंप्रापकसौख्यबीजं चिन्वन्ति केचिन्नरजातिलब्धाः[4] ॥ १९ ॥
धर्मान्विताः सर्वसुखालयाः स्युः पापान्विता दुःखसहस्रभाजः ।
धर्मालसाः सर्वजनस्य भृत्या धर्मोद्यताः सर्वजनस्य नाथाः ॥ २० ॥

मनुष्यको भ्रान्ति

इस प्रकार तीनों लोकोंकी समस्त पर्यायोंमें अत्यन्त कल्याणकारक महासार युक्त मनुष्य पर्यायको भी प्राप्त करके बहुतसे लोग अपनी मतिको साधारण तथा तुच्छ फलके ऊपर लगा देते हैं और दूसरोंकी सेवावृत्ति स्वीकार करके चक्रवर्तीकी योग्यताओंयुक्त जीवनको दास रहकर व्यतीत करते हैं ॥ १७ ॥

मनुष्योंके अधिपति चक्रवर्तीके समान आचरण और ज्ञानकी सम्पत्ति रूप नरपर्याय-रत्न को पाकर, जिसके द्वारा तीनों लोकोंका प्रभुत्व भी मोल लिया जा सकता है, उसे—पाकर भी जो लोहा, कोदों, चावल-दालके लिए अपने आपको (नरपर्याय) बेच देते हैं, वे यथार्थको नहीं जानते है परिणाम यह होता है कि वे दूसरोंकी आज्ञाके अनुसार नाचते-फिरते हैं ॥ १८ ॥

मनुष्य[5] योनिमें जन्मे दूसरे जीव मनुष्यभवरूपी खेतमें व्रत, शील और दानरूपी बीज वोते हैं, व्रतादिके पौधोंकी वृद्धिके बाधक क्रोध, मान आदि कषायरूपी घास फूसको उखाड़ कर फेक देते हैं तब इस खेतीमें से उस बीजको संचित करते हैं जो उन्हें स्वर्ग आदि सद्गतिरूपी फल देता है ॥ १९ ॥

धर्माचरण

जो प्राणी धर्मका पालन करते हैं उनको समस्त सुख अपने आप ही आ घेरते हैं तथा जिनका आचरण इसके विपरीत है अर्थात् पापामय है वे सब दुःखोंके घर हो जाते हैं। जो धार्मिक कृत्योंके करनेमें प्रमाद करते हैं उन्हें सबका दास होना पड़ता है तथा जिन्हें धार्मिक कर्मोंमें गाढ़ अनुराग और उत्साह होता है वे सब संसारके प्रभु होते हैं ॥ २० ॥

---

१. [प्रधानम्] । २. [निवेश्य] । ३. क °ज्ञान, म °स्थान । ४. म °जाति लब्ध्वा, [°जातिलुब्धाः] ।

स्वामिन्प्रभो नाथ तवास्मि भृत्य आज्ञाप्यतां किं करवाणि तेऽद्य ।
इति ब्रुवाणा बहवः पुमांसो व्रजन्ति भृत्यत्वमपेतपुण्याः ॥ २१ ॥
केचित्परेषां धनजीवितानि लेखप्रयोगैरथ वञ्चयित्वा ।
[1]गत्यापपाकाद्द्रविणं परैस्तु (?) हृत्वा स्वयं ते निधनं व्रजन्ति ॥ २२ ॥
प्रचण्डवातोद्धततुङ्गचञ्चत्तरङ्गभङ्गस्फुरदुग्रमत्स्यम् ।
अगाधमम्भोनिधिमर्थलोभात्प्रविश्य केचिन्मरणं प्रयान्ति ॥ २३ ॥
अधीत्य विद्याश्च महाप्रभावाः संभूत्य तत्त्वार्थगुणानवेत्य ।
स्वेष्टावता न्यायकृता फलेन भिक्षां भ्रमन्तोऽपि न तां लभन्ते ॥ २४ ॥
आजीवशास्त्राणि बहून्यधीत्य ज्ञात्वा क्रियायोगविभागतां च ।
दुराशया जोर्णमठेष्वपुण्या व्यपेतसौख्या गमयन्ति कालम् ॥ २५ ॥

'हे स्वामि ! हे प्रभो ! हे नाथ ! मैं आपका किंकर हूँ, आज्ञा दीजिये, मुझे आज क्या करना है ?' इत्यादि वचन कहते हुए अनेक पुण्य हीन पुरुष उन लोगोंकी दासताको स्वयं स्वीकार करते हैं जिनका उत्साह धार्मिक कार्योंमें दिन-दूना और रात चौगुना बढ़ता है ॥ २१ ॥

पापमूल परिग्रह

कुछ व्यक्ति झूठे साँचे लेख लिखकर दूसरोंकी सम्पत्ति और कभी-कभी जीवनको भी ले लेते हैं, अथवा किसी और कूट-क्रियासे दूसरेकी सम्पत्ति छीनते हैं। किन्तु समय बीतनेपर जब इन कर्मोंके फलका उदय आता है तो वे स्वयं अत्यन्त निर्धन होते हैं ॥ २२ ॥

अन्य कुछ लोग धनके लोभसे प्रचण्ड आँधीके कारण फुंकारते हुये समुद्रमें घुस जाते हैं; (यात्रा करते) जिसमें उठती हुई लहरें थपेड़े मारती है और बड़े भयंकर मगरमच्छ हरते रहते हैं तथा जिसकी गहरायी अपरिमित होती है। फल यह होता है कि वहीं मर जाते हैं ॥ २३ ॥

समस्त विद्याओंका अध्ययन करनेके कारण जिनका प्रभाव अत्यधिक बढ़ जाता है तथा सातों तत्त्वों और पदार्थोंकी चर्चा सुनकर जो उनके विशेषज्ञ बन जाते हैं वे लोग भी अपने परम इष्टके रक्षक और समुचित न्याय करनेवाली फल व्यवस्थाके कारण काफी घूमते हैं तो भी शरीर यात्राके लिये आवश्यक कुछ ग्रास भिक्षाको भी नहीं पाते ॥ २४ ॥

जीव शास्त्र पर्यन्त अनेक शास्त्रोंमें पारगंत हो जाने तथा विविध प्रकारकी क्रियाओं, विधियों और समयकी उपयोगिता

१. [गत्या विपाकात्] ।

शिल्पैरनल्पैः परिकर्मशुद्धैरपुण्यवन्तो बहुदुःखभाजः ।
परान्वराकाः परितोषयन्तो धनाशयात्क्लेशगणान्भजन्ते ॥ २६ ॥
संसर्गतो ये च निसर्गतो वा लोभाद्भयाद्वा दुरिताञ्चितानि ।
कर्माण्यकुर्वंस्त्वपरा मनुष्या जीवन्ति ते प्रेष्यकराः क्रियार्ताः ॥ २७ ॥
पुण्यान्यकृत्वा स्फुटिताग्रपादाः क्षुत्पीडिताः कार्पटिनः कृशाङ्गाः ।
भूमौ शयानाः खरकर्कशायां दीना ह्यभीक्ष्णं[1] खलु भिक्षयन्ति ॥ २८ ॥
धर्मे मतिं यन्न करोति धीमान्विद्वाञ्जनो यद्वसुना विहीनः ।
रूपान्वितो दुर्भगतामुपैति तत्कर्मणां पापवतां विपाकः ॥ २९ ॥

आदि विशेष विभागोंको भलीभाँति जान लेनेके बाद भी अनेक मलीनमन मनुष्य प्राचीन मठोंमें पड़े रहते हैं और सुखोंसे वंचित होकर किसी प्रकारसे समय काटते हैं ॥ २५ ॥

धन पानेके प्रलोभनसे ही कितने ही पुण्यहीन तथा दुःख सागरमें पड़े व्यक्ति दूसरोंको प्रसन्न करनेके प्रयत्नमें लगे रहते हैं। उनकी अनेक विशाल कलाएँ जो कि प्रयोग द्वारा निर्दुष्ट और लाभप्रद सिद्ध होती हैं, वे भी दूसरोंके उपयोगमें आती हैं और उनके भाग्यमें अनेक क्लेश ही पड़ते हैं ॥ २६ ॥

जो व्यक्ति अपनी रुचिसे, अथवा संगति और सहवासके कारण, किसी प्रबल प्रलोभनकी प्रेरणासे, या किसी भीषणताके आतंकसे पापमय कार्योंको करते हैं वे ही निकृष्ट मनुष्य दूसरोंके आज्ञाकारी दास होकर व्यर्थ ही अनेक आरम्भोंमें व्यस्त रहते हैं ॥ २७ ॥

पुण्यहीन जीवन

पुण्यकर्म न करनेके कारण मनुष्योंके पैरोंके अग्रभाग रोगोंके आक्रमणसे फूट जाते हैं, तब वे पंगु होकर अत्यन्त कठोर कंकरीली भूमिपर पड़े रहते हैं, भूखके मारे चिल्लाते हैं, वस्त्रके अभावके कारण एक टुकड़ेसे अपनी लाज ढकते हैं। इन कष्टोंके कारण उनका शरीर सूख जाता है, यह विपत्तियाँ उन्हें इतना दीन कर देती हैं कि बिचारे दिन-रात भीख माँगते रहते हैं ॥२८॥

विद्वान् और शास्त्रज्ञ होनेपर भी मनुष्य जो धर्मकार्योंमें रुचि नहीं करता है, अनेक शास्त्रोंका पंडित होनेपर भी निर्धन होता है तथा कामदेवके समान सुन्दर होनेपर भी लोग उसे अपशकुन मानते हैं यह सब पापमय कर्मोंका ही विपाक है ॥ २९ ॥

---

१. म दीनान्यभीक्ष्णं ।

क्षुद्व्याधिदारिद्र्यवधोग्रबन्धैराक्रोशभीभर्त्सनताडनाद्यैः ।
दुःखैर्विबाधामुपयान्ति सत्त्वा यत्तत्फलं पापकृतं निराहुः ॥ ३० ॥
अनागसामप्यपराधभावं नृणां समारोप्य समाश्रितानाम् ।
यत्स्वामिभिर्दण्डवधाः क्रियन्ते तद्दुष्कृतानां फलमामनन्ति ॥ ३१ ॥
विबान्धवास्त्यक्तकलत्रपुत्रा विलेपनस्रक्परिवर्जिताश्च ।
मलीमसाः क्षामकपोलनेत्रा दुःखेन जीवन्ति जना विपुण्याः ॥ ३२ ॥
दरिद्रतां नीचकुले प्रसूतिं मौर्ख्यं विरूपत्वमभद्रतां च ।
अकल्पतां वापि समाप्नुवन्ति प्रायः पुमांसः सुकृतेरभावात् ॥ ३३ ॥
निराशयास्ते विभवैर्विहीनाः संश्लाघयन्तः परगेहभोगान् ।
पुण्यैरपेताः[1] स्वकराग्रपात्रा देशाद्विदेशं परिसंचरन्ति ॥ ३४ ॥

मनुष्यको भूख-प्यास और रोगोंके कारण जो पीड़ा होती है, निर्धनताके कारण जो आपत्तियाँ सहनी पड़ती हैं, वध, बन्धन आदि जो अनेक कष्ट भरने पड़ते हैं, गाली, अभिशाप, भर्त्सना और मारपीटके जो दुःख और अपमान सहने पड़ते हैं यह सब भी पूर्वकृत पापोंकी करतूत हैं ॥ ३० ॥

पूर्णरूपसे निर्दोष आश्रित व्यक्तियों पर बलपूर्वक झूठे अभियोग लगाकर स्वामियोंके द्वारा जो उन्हें कठिन-कठिन कारावास आदि दण्ड तथा शूली आदि पर चढ़ाकर जो वध किया जाता है, इन समस्त यातनाओंको विद्वान् आचार्य कुकर्मोंका ही फल कहते हैं ॥ ३१ ॥

पुण्यहीन मनुष्य अपने जीवनको दुःखपूर्वक व्यतीत करते हैं, उनके कुटुम्बी भी उनका साथ नहीं देते हैं, और तो क्या, पत्नी औरस पुत्र-पुत्रियाँ भी उन्हें छोड़ देते हैं। इतना ही नहीं, उनकी शारीरिक आवश्यकतायें भी पूर्ण नहीं होती हैं—यथा, न तो वे कभी उबटन ही पाते हैं और न माला आदि सुरभि शृंगार फलतः शरीर मलिन हो जाता है तथा गाल और आँखें धँस जाती हैं ॥ ३२ ॥

पुण्य संचय न करनेके ही कारण अधिकतर मनुष्य निर्धन होते हैं, लोक निन्द्य नीच कुलोंमें उत्पन्न होते हैं, कुरूपता और अशिष्टताको वरण करते हैं, तथा ऐसी अवस्थाको प्राप्त होते हैं जिसमें न तो दूसरे ही उन्हें कुछ समझते हैं और न स्वयं उनमें बढ़नेकी सामर्थ्य रह जाती है ॥ ३३ ॥

इन अवस्थाओंमें पड़कर वे सर्वथा निराश और निर्णयहीन हो जाते हैं, परिणाम यह होता है कि सदाके लिये निर्धन

१. म पुण्यैरुपेता ।

नक्तंदिवं क्लेशसमाश्रितानि कर्माण्यनिष्टानि समाचरन्तः ।
दुःखार्दिताः स्रस्तविषण्णचित्ताः स्वेष्टान्यलब्ध्वा मरणं प्रयान्ति ॥ ३५ ॥
बाधिर्यमान्ध्यं कुणिकुब्जभावं क्लीबत्वमूकत्वजडग्रहांश्च ।
आजन्मनस्ते तदवाप्नुवन्ति प्रायो जना दुष्कृतिनो वराकाः ॥ ३६ ॥
दुर्गन्धनासामुखकक्षदेशा नपुंसकाः श्मश्रुविहीनवक्त्राः ।
सत्त्वास्तु यत्पुंस्त्वगुणैर्विहीना भवन्ति मन्दा बत दुष्कृतेन ॥ ३७ ॥
प्रियाणि कुर्वन्प्रवदन् हितानि ददंस्तथार्थानपि संश्रयांश्च ।
यद्द्वेष्यतां सर्वजनस्य याति तदाहुरार्या दुरितप्रभावम् ॥ ३८ ॥
नेच्छाफलाप्तिर्न च इष्टसंपत्प्रियैर्वियोगोऽप्रियसंप्रयोगः ।
सर्वाधिकाराश्च फलैर्विहीना अपुण्यभाजां हि नृणां भवन्ति ॥ ३९ ॥

होकर दूसरोंके घरोंमें सुलभ भोगोंकी आश्चर्यपूर्वक प्रशंसा ही करते हैं, प्राप्तिके लिए पुरुषार्थ नहीं करते हैं तथा अकिंचन होकर अपनी हथेलियोंको ही पात्र बनाकर माँगते हुये एक देशसे दूसरे देशमें चक्कर काटते हैं ॥ ३४ ॥

वे रात-दिन ऐसे घोर अकल्याणकारी कार्योंको करते हैं जिनके फलस्वरूप उनके क्लेश और अनुताप बढ़ते ही जाते हैं, फलतः वे दिन-रात दुःखोंकी ज्वालासे जलते हैं, उनका चित्त खिन्न हो जाता है तथा वे अपने मनोरथोंको पूरा किये बिना ही मौतके घाट उतर आते हैं ॥ ३५ ॥

पाप कर्मोंके चंगुलमें फँसे विचारे पुण्यहीन पुरुष प्रायः (अधिकता) अन्धे और बहिरे होते हैं, शरीर भी उनका एंचकताना और कुबड़ा होता है, गूंगे और नपुंसक भी वही होते हैं। वे इतने मूर्ख होते हैं कि जिस गलत बातपर अड़ जायेंगे हजार समझाने-पर भी उसे न छोड़ेंगे। ऐसा भी नहीं है कि उक्त दोष उनमें संगति आदिके कारण आते हों, वे तो उनमें जन्मसे ही होते हैं ॥३६॥

लोगोंके मुख, नाक, काँख आदिसे दुर्गन्ध क्यों आती है, कितने ही पुरुष आकारसे मनुष्य होते हुए भी नपुंसक क्यों होते हैं ? बहुतसे युवकोंके चेहरेपर डाढ़ी-मूँछ क्यों नहीं आती है ? तथा आकृति आदिसे पुरुष होते हुये भी लोगोंमें पुरुषके समान साहस, वीर्य और विवेक क्यों नहीं होता है ? उत्तर एक ही है, यह सब भी कुकर्मोंका ही फल है ॥ ३७ ॥

सबका उपकार करते हुए भी, सर्वसाधारणसे प्रिय वचन बोलते हुए भी, आवश्यकताके समय दूसरोंको धन और आश्रय देते हुए भी, जिस मनुष्यसे सारा संसार शत्रुता करता है और उसका अहित चाहता है इसे भी पूज्य आचार्य पूर्वकृत महाकुत्सित कर्मोंका प्रभाव ही मानते हैं ॥ ३८ ॥

जिन लोगोंने प्रयत्नपूर्वक पुण्य नहीं कमाया है उन्हें अपनी इच्छाके अनुकूल सफलता नहीं मिलती है, उनको सम्पत्ति

वर्णोत्तरे पुण्यगुणाभिरम्ये लक्ष्मीमति व्याप्तयशोदिगन्ते ।
यदुद्धवंशे[1] लभते प्रसूतिं सन्तस्तदाहुः सुकृतानुभावम् ॥ ४० ॥
मन्नाथवत्सप्रियपुत्र[2]केति प्रलाल्यमानो[3] नियतं पितृभ्याम् ।
यद्बालभावाद्युवतामुपैति निर्वाच्यरूपः सुकृतं तदूचुः ॥ ४१ ॥
यूना वरिष्ठस्तु समस्समेषु मान्यः प्रियस्तत्पितृबान्धवानाम् ।
भोगैर्विचित्रैरुपगूढवेषश्चेक्रीडते पुण्यविभूतिदृप्तः[4] ॥ ४२ ॥
श्लक्ष्णानि वासांसि महाधनानि विचित्ररागाणि च संवसानि(?) ।
गन्धान्सुगन्धीकुसुमस्रजश्च संसेवमानो रमते स पुण्यः ॥ ४३ ॥

भी उनका भला नहीं कर पाती है, बेचारोंका प्रियजनोंसे विरह होता है और अहितु अप्रियजनोंका चिर समागम होता है। यदि किसी तरह कुल अधिकार प्राप्त हो ही जाते हैं तो उन सबसे भी कोई लाभ नहीं होता है ॥ ३९ ॥

समृद्धिशाली उन्नत वंशोंसे जो श्रेष्ठ पुरुष जन्म लेते हैं, उत्तम वर्ण (ब्राह्मण आदि) को पाते हैं, पुण्यकर्म और सत्य आदि सुगुण जो उनके वंशकी शोभा बढ़ाते हैं तथा सम्पत्ति, ज्ञान, सुगति आदिसे उत्पन्न उनके कुलका यश जो दिशाओं और विदिशाओंमें फैल जाता है इस सबको आचार्योंने पुण्य कर्मोंका फल ही कहा है ॥ ४० ॥

पुण्य परिपाक

मेरे स्वामी ? बेटा ? प्राण प्यारे पुत्र ? आदि प्रेम सम्बोधन कहकर जिसका लालन-पालन माता-पिताके द्वारा अत्यन्त यत्नपूर्वक किया जाता है, बिना किसी कष्ट या शोकसे ही जो शैशवसे यौवनमें प्रविष्ट होकर ऐसे सुन्दर और रूपवान हो जाते हैं कि उसका वर्णन शब्दों द्वारा करना अशक्य हो जाता है यह सब पुण्यका फल है ऐसा पूज्य आचार्योंने कहा है ॥ ४१ ॥

जो व्यक्ति पुण्यरूपी सम्पत्तिसे सम्पन्न है वह युवकोंका अग्रणी होता है, अपने समकक्षोंमें समानता ही नहीं पाता, अपितु उन सबका मान्य भी होता है। अपने माता-पिता, बन्धु-बान्धव, मित्रों आदिको परमप्रिय होता है। उसके वेशभूषा ही उसकी समृद्धि और पूर्णताको प्रकट करते हैं तथा वह नानाप्रकारके भोगों और उपभोगोंके साथ यथेच्छ क्रीड़ा करता है ॥ ४२ ॥

उसके सबही वस्त्र कोमल और चिकने (तैलाक्त नहीं) होते हैं, निवास स्थान विपुल सम्पत्ति व्यय करके बनाये जाते हैं तथा उसके रंग ही चित्र विचित्र नहीं होते हैं अपितु उनमें सदा ही अलौकिक रागकी गूँज उठती रहती है। ऐसे महलोंमें पड़े हुए पुण्यात्मा जीव सुगन्धित पदार्थों, फूल मालाओं आदिसे मौज लेते रहते हैं ॥ ४३ ॥

---

१. [यदुद्धवंशे]। २. म पुत्रिकेति। ३. म प्रलाप्यमानो। ४. क °विभूतिदृष्टः।

शय्यासु मृद्वीषु सुखं शयानो भोगानुरक्ताभिरमा प्रियाभिः ।
विमानपृष्ठेषु रतैर्विचित्रं पुण्यानुभावाद्वलसन्त्यभीक्ष्णम् ॥ ४४ ॥
वीणामृदङ्गप्रतिबोधितानि वंशानुनादक्रमरञ्जितानि ।
गेयानि शृण्वन्नतिवल्लभानि रात्रंदिवं क्रीडति पुण्यकारी ॥ ४५ ॥
सभ्रूविभङ्गाभिनयोपपन्नं वादित्रयालापलयानुकारि[1] ।
नृत्यं प्रपश्यन्नयनातिकान्तं सुकृत्प्रियाभिर्मुदमभ्युपैति ॥ ४६ ॥
अपक्वजम्बूफलरागकान्तं कान्तोपनीतं मणिभाजनस्थम् ।
मध्वासवं सत्सुरतोत्सवाढ्यं पिबन्सपुण्यो[2] रमते सुखेन ॥ ४७ ॥
भोगान्विताः शास्त्रसनाथवाचो गोष्ठीषु सत्काव्यकलाविदग्धाः ।
मान्याश्च पूज्याश्च नरा नराणां पुण्यैरुपेताः सततं भवन्ति ॥ ४८ ॥

पुण्यके प्रतापसे ही लोग मकानोंकी उत्तम छतोंसे ऊपर कोमलसे कोमल रमणीय शय्याओंपर सोते हैं तथा अत्यन्त अनुरक्त, मनवाञ्छित भोगोंके लिये सदैव उद्यत प्रिय नायिकाओंके साथ दिन-रात अद्भुतसे अद्भुत प्रेम-लीलायें करते हैं ॥ ४४ ॥

पूर्वभवोंमें पुण्यकर्म करनेवाले व्यक्ति अगले जन्मोंमें वीणा और मृदङ्ग आदि बाजे बजाकर नींदसे जगाये जाते हैं, बाँसुरी आदि मनोहर यन्त्र बजाकर सदा ही उनका मनोरञ्जन किया जाता है तथा अत्यन्त मधुर हृदयहारी गाने आदि सुनते हुए वे दिन-रात क्रीड़ा करके अपना जीवन व्यतीत करते हैं ॥ ४५ ॥

पुण्यात्मा जीव अपनी प्राण प्यारियोंके साथ, आनन्द सागरमें आलोड़न करते हैं जिसमें गायकके आलाप और लयके अनुसार समस्त बाजोंकी ध्वनि रहती है तथा नर्तकी या नर्तकके नेत्र भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि अभिनयोंके कारण वे राग अत्यन्त सुन्दर हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

ऐसे नृत्योंको देखते हुये, न हरे और न पके जामुनके फलकी लालिमाके समान लाल तथा कान्ताओंके द्वारा मणियोंके प्यालोंमें भरकर लायी गयी मधु मदिराको, जो कि कामाचाररूपी उत्सवमें सबसे श्रेष्ठ समझी जाती है, पीते हुए, केवल भोगों-की इच्छासे पुण्य करनेवाला जीव सुखसे रमण करते हैं ॥ ४७ ॥

पुण्यरूपी निधिके स्वामी सदा ही यथेच्छ भोगोंसे घिरे रहते हैं। उनका अध्ययन इतना गम्भीर होता है कि गोष्ठियोंमें आगम प्रमाण सहित वार्तालाप करते हैं, काव्य, संगीत आदि ललित कलाओंमें भी पारंगत होते हैं तथा समस्त मनुष्योंके मान्य और पूज्य होते हैं ॥ ४८ ॥

१. क वादित्रयोल्लाप,° [वादित्रमालाप°]। २. क सुपुण्यो।

मत्तद्विपस्कन्धगताः सुवेषाः सितातपत्रोच्छ्रितकान्तिकान्ताः ।
पत्तिद्विपाश्वैरनुगम्यमानाः[1] प्रयान्ति केचिन्नृवराः सभाग्याः ॥ ४९ ॥
नाथोऽयमस्माकमसौ क्षितीशो भुवनकृत्ययं ग्रामसहस्रमेकम् ।
संश्लाघ्यमाना इति भृत्यमुख्यैर्व्रजन्ति धीराः सुकृतैस्तु केचित् ॥ ५० ॥
कलत्रपुत्रप्रियबन्धुमित्रैः सार्धं सुखानीष्टतमानि हृष्टाः ।
रात्रौ दिवा चानुभवन्ति केचिद्धर्मप्रसादाः[2] सुखिनः पुमांसः ॥ ५१ ॥
शय्यान्नपानाशनवित्तदानैः सन्मानयन्तोऽर्थिजनान्प्रहृष्टाः ।
जीवन्ति केचित्सुखमक्षयार्था धर्मानुभावेन मनुष्यवर्याः ॥ ५२ ॥
सौभाग्ययुक्ता खलु रूपसंपद्रूपत्वमारोग्यगुणैरुपेतम् ।
आरोग्यताभोगपरीतमुख्या भवन्ति पुंसां बहुपुण्यभाजाम् ॥ ५३ ॥

कुछ पुण्यात्मा जीव उत्तम राजा होते हैं वे जब कहीं जाते हैं तो भाग्योदयके कारण वे मदोन्मत्त हाथीकी पीठपर सुन्दर वेशभूषाके साथ बैठते हैं। उनके ऊपर धवल छत्र लगाया जाता है जिसकी उन्नत कान्तिके कारण वे और अधिक सुन्दर प्रतीत होते हैं तथा उनके पीछे-पीछे पैदल, घुड़सवार और हाथियोंपर सवार सेना चलती है ॥ ४९ ॥

'यह हमारे भरण पोषण करनेवाले प्रभु हैं, ये साक्षात् सारी पृथ्वीके राजा हैं, इनको हजारों ग्रामोंसे राजस्व प्राप्त होता है, इत्यादि चाटु वचन कहकर अपने प्रधान सेवकोंके द्वारा प्रशंसित होते हुये अनेक धीर वीर पुरुष चलते हैं। यह सब भी उनके पुण्योंके प्रतापसे ही सम्भव होता है ॥ ५१ ॥

अन्य सुखी पुरुष पुण्य कर्मोंके फलोन्मुख होनेके ही कारण अपनी पत्नी, बाल बच्चों, मित्रों, कुटुम्बियों तथा अन्य प्रियजनोंके साथ मनचाहे प्रियसे प्रिय सुखों को दिन रात भोगते हैं और दुःखोंके अनुभवसे मुक्त होकर दिन रात प्रफुल्ल रहते हैं ॥ ५१ ॥

दूसरे नरपुंगव धर्मके प्रभावसे इतनी अधिक सम्पत्ति पाते हैं कि अत्यन्त प्रसन्नता और उल्लासके साथ याचकोंके झुंडोंके झुंडोंको भोजन, पान, अन्न, बिछौना, धन आदि देकर खूब संतुष्ट करते हैं तो भी उनकी सम्पत्ति घटती नहीं है और उनका जीवन सुख और सम्पन्नतासे ही बीतता है ॥ ५२ ॥

जो पुरुष अत्यधिक पुण्यात्मा हैं उन्हें केवल सौन्दर्य ही नहीं प्राप्त होता अपितु वे सबको प्रिय होते हैं, उनके सौन्दर्यका सहचारी स्वास्थ्य गुण होता है तथा उनका स्वास्थ्य भी नानाप्रकारकी भोग-उपभोग सामग्रीसे घिरा रहता है ॥ ५३ ॥

---

१. क आचगम्य°। २. [°प्रसादात्]।

त्वग्घ्राणजिह्वाश्रुतिलोचनानामर्थेन्द्रियाणां प्रियमाचरन्तः ।
प्रत्येकमर्थैर्विविधप्रकारै रूपादिभिर्धर्मपरा रमन्ते ॥ ५४ ॥
एको हि पुण्यार्जितदीप्रकीर्तिरुद्वी[1]क्ष्यते[2] पुंभिरुदारशौर्यैः ।
एकश्च धर्मप्रतिबद्धवीर्यः शत्रूननेकान्समरे विजेता ॥ ५५ ॥
मनुष्यजातौ भगवत्प्रणीतो धर्माभिलाषो मनसश्च शान्तिः ।
निर्वाणभक्तिश्च दया च दानं प्रकृष्टपुण्यस्य भवन्ति पुंसः ॥ ५६ ॥
नानाविधक्षत्रियवंशजाता वसुंधरेन्द्रा ऋषभादिवर्याः ।
आर्हन्त्यमा[3]युर्वरधर्मभक्त्या पूज्याश्च वन्द्याश्च जगत्त्रयस्य ॥ ५७ ॥
केचित्पुनः शान्तकषायदोषा बुधा जिताशाः सुखिनस्त्विहैव ।
परत्र च प्राप्तिकामभोगा भवन्ति नाथा भुवनत्रयस्य ॥ ५८ ॥

धर्म परायण मनुष्य स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र तथा कर्ण इन पांचों इन्द्रियों को हित-मित समस्त विषयों का यथेच्छ तथा अनेक प्रकारों से एवं विधि प्रसंगों के रूप में जो रस लेते है यह सब धर्म को पुट का ही फल है जो अर्थ और काम को भी उपयोगी बनाती है ॥ ५४ ॥

पुण्यकार्योंके द्वारा कोई माताका लाल इतना अधिक यश और तेज कमाता है कि बड़ेसे बड़े पराक्रमी पुरुष भी उसके सामने आनेपर शिर उठा करके उसको आश्चर्यसे देखते हैं। इसी प्रकार कोई दूसरा सपूत धार्मिक कार्योंमें ही अपनी सारी शक्तिको लगाकर अवसर आते ही अनेक शत्रुओंको युद्धमें परास्त कर देता है ॥ ५५ ॥

प्रशस्त नरजीवनके कारण

मनुष्य जन्म प्राप्त हो जानेपर भी वीतराग प्रभु द्वारा उपदिष्ट धर्मके ज्ञान और आचरणकी अभिलाषा, मानसिक शान्ति, मुक्त जीवों और मुक्तिके साधनोंके प्रति अनुराग, दयामय स्वभाव तथा दान देनेकी इच्छा केवल उन्हीं पुरुषोंको होती है जिन्होंने पूर्व जन्मोंमें अत्यधिक पुण्य किया है ॥ ५६ ॥

इक्ष्वाकु आदि विविध उत्तम क्षत्रिय वंशोंमें उत्पन्न सारी (गन्तव्य = आयतन) पृथ्वीके एक-छत्र अधिपति आर्य ऋषभदेव आदि परम पवित्र धर्मकी प्रगाढ भक्तिके ही कारण अर्हन्तकेवली पदको पा सके थे। इतना ही नहीं बल्कि तीनों लोकोंके वन्दनीय और पूज्य हो सके थे ॥ ५७ ॥

दूसरे कुछ लोग क्रोधादि कषायरूपी समस्त दोषोंको नष्ट करके आशाओंपर भी विजय पाते हैं इसीलिए वे ज्ञानी लोग

१. क °दीप्ति° । २. म उदीक्षते । ३. [आर्हन्त्यमापु°]।

धर्मेण देवासुरमानुषाणां स्थानानि नानर्द्धिविशेषवन्ति ।
संप्राप्य सार्वज्ञ्यमनन्तरेण ततो ध्रुवं निर्वृतिमेव यान्ति ॥ ५९ ॥
मनुष्यजातिस्तु सुदुर्लभापि न वर्ण्यते संसृतिकारणत्वात् ।
शीलोपवासव्रतभावहीना[1] संसारयत्येव चिरं हि जीवान् ॥ ६० ॥
इदं हि मानुष्यमतीव कष्टं जरारुजाक्लेशशताकुलत्वात् ।
तस्माद्भृशं[2] कष्टतमं त्वशौचमनित्यता कष्टतमा ततः स्यात् ॥ ६१ ॥
शुक्लार्तवोद्भूतममेध्यपूर्णं स्रवन्नवद्वारमनिष्टगन्धम् ।
जन्त्वाकरं व्याधिसहस्रकीर्णं तदा[3] शरीरं शुचिविप्रहीणम् ॥ ६२ ॥

अपने इसी जन्ममें ही अन्तरंग और बहिरंगरूपसे पूर्ण सुखी होते हैं। इसी सुखी जीवनको समाप्त करके जब परलोकमें पहुँचते हैं तो वहाँपर भी उन्हें मन चाहे भोगोंकी प्राप्ति होती है तथा अन्तमें वे तीनों लोकोंके कल्याणकर्त्ता होते हैं ॥ ५८ ॥

सद्धर्मका ही यह प्रभाव है जो जीव देवता, असुर और मनुष्य पर्यायके उन स्थानोंको प्राप्त करते हैं जो ऋद्धि, सिद्धि आदिके कारण तीनों लोकोंमें सर्वोत्तम माने गये हैं। इसके उपरान्त वे सर्वज्ञ पदको प्राप्त करत हैं और अन्तमें तीनों लोकोंको हितोपदेश देकर मोक्ष धामको चले जाते हैं जहाँसे लौटकर आना नहीं होता है ॥ ५९ ॥

मानवजन्म-अतिदुर्लभ

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य जन्म पाना अत्यन्त दुर्लभ है तो भी इसको ही प्रधानता नहीं दी जाती है क्योंकि साधारणतया यह संसार भ्रमणको बढ़ाता ही है। होता यह है कि जीव मनुष्य जन्म पाकर भी जब अहिंसादि व्रत, सामायिक, उपवास, आदि शीलोंका पालन नहीं करते हैं, और असंयत होकर ऐसे ही कार्य अधिक करते हैं, जिनका परिणाम चिरकाल तक संसार-भ्रमण ही होता है ॥ ६० ॥

शारीरिक तथा मानसिक सैकड़ों क्लेशों, रोगों, बुढ़ापा आदि अनेक बाधाओंसे परिपूर्ण होनेके कारण मनुष्य पर्याय यों ही अत्यन्त कष्टकर है। इससे भी अधिक कष्टकी बात यह है कि इसमें दूषित मन और अपवित्र शरीर प्राप्त होता है। तथा सबसे बढ़कर कष्ट यह है कि उक्त त्रुटियोंके अतिरिक्त यह सर्वथा अनित्य ही है ॥ ६१ ॥

अनर्थका मूल शरीर

इस शरीरके कारण वीर्य और रज कोई पवित्र पदार्थ नहीं है, यह स्वयं भी मल, मूत्र, कफ आदि अपवित्र पदार्थोंसे परिपूर्ण है। यह पदार्थ भीतर ही हों ऐसी बात भी नहीं है अपितु दुर्गन्ध फैलाते हुये आँख, नाक, कान आदि नौ द्वारोंसे बहते हैं।

१. क °हीनान। २. [कष्टतरं]। ३. [तथा]।

तादृग्विधं कश्मलमुद्वहंस्तु बीभत्सचर्मास्थिशिराप्रणद्धम् ।
पित्तानिलश्लेष्मजराधिवासं को नाम विद्वान्वहतोह गर्वम् ॥ ६३ ॥
विज्ञानरूपद्युतिकान्तिसत्त्वं सौभाग्यबुद्धीन्द्रियबन्धुवित्तम् ।
आयुर्वपुर्मित्रसमागमाश्च क्षणे क्षणेऽन्यत्वमुपैति सर्वम्[1] ॥ ६४ ॥
सन्ध्याभ्ररागस्तनयित्नुविद्युत्फेनोर्मिफुल्लद्रुमबुद्बुदाभम् ।
तृणाग्रलग्नोदकबिन्दुतुल्यं मायोपमं मानुषजन्म शश्वत् ॥ ६५ ॥
गर्भेऽथ जातावथ बाल्यकाले[2] तथा युवत्वे स्थविरत्वयोगे ।
अशौचताप्यध्रुवता रुजात्वं सर्वत्र सर्वस्य हि कर्मभूमौ ॥ ६६ ॥

इसमें अनेक प्रकारके कीटाणु व्याप्त हैं, इसीलिए सैकड़ों रोग इसे घेरे रहते हैं। फलतः यह शरीर अपने प्रारम्भसे लेकर अन्ततक अशुचि ही है ॥ ६२ ॥

इस तरहके मलिन पदार्थोंको ढोते हुए जो कि अत्यन्त तीव्र घृणाको उत्पन्न करनेमें समर्थ हड्डी, शिरा, तथा चमड़ेसे ढके हुये हैं, इतना ही नहीं, इन सबके साथ दूषित वात, पित्त, कफ, बुढ़ापा आदि भी लगे हैं, तो कौन ऐसा पुरुष है जो इस शरीरके कारण किसी भी प्रकारका अभिमान करेगा ॥ ६३ ॥

मानव पर्यायकी अनित्यता

इस मनुष्यका विज्ञान, रूप, कान्ति, तेज, सामर्थ्य, दूसरोंसे किया गया स्नेह, सम्मान आदि बुद्धि, पदार्थोंके ग्रहणमें तीव्र इन्द्रियाँ, सगे सम्बन्धी, सम्पत्ति, आयु, आदर्श शरीर मित्र तथा उनकी सत्संगति सबही क्षायोपशमिक होनेके कारण क्षण-क्षणमें बदलते रहते है ॥ ६४ ॥

यह मनुष्यभव सन्ध्या समय मेघों पर चमकती लालिमा, गरजते और बरसते बादलोंमें कौंधनेवाली बिजलीकी चमक, जलपर तैरते फेन या उठती हुई लहरों. वृक्षोंके फूल, पानीके ऊपर तैरते बुदबुद तथा शरत समयमें दूबके ऊपर अटकी ओसकी बूँद अथवा इन्द्रजालियेकी मायाके समान क्षण भर ठहरने वाला है ॥ ६५ ॥

इसके सिवाय कर्मभूमिमें जन्मे जीवको माताके गर्भमें, जन्मके समय या बादमें ज्ञान हीन बाल्य अवस्थामें, प्रमाद बहुल युवा अवस्थामें तथा शारीरिक और मानसिक दुर्बलताके भण्डार बुढ़ापेमें सब स्थानोंपर सब प्रकारके रोगोंकी संभावना है, अपवित्रता और अनित्यता तो पीछा छोड़ती ही नहीं है ॥ ६६ ॥

---

१. [सर्वम्]। २. म बाल ।

आयुर्नराणामथ पूर्वकोटिः प्रकीर्तितोत्कर्षविशेषभावात् ।
अन्तर्मुहूर्तं हि जघन्यतस्तु तत्कर्मभूमौ कथितं प्रमाणम् ॥ ६७ ॥
इति धर्मफलं सुखादिलिङ्गं यतिना वर्णितमर्थवद्विशालम् ।
दुरितस्य फलं समक्षभूतं तदपि प्रोक्तमनेकखेदभिन्नम्[1] ॥ ६८ ॥
सुखदुःखविमिश्रितं तु नृत्वं कथयित्वार्थंगवेषिणे नृपाय ।
सुरलोककथां कथाविधिज्ञो गदितुं स्पष्टाक्षरां प्रवृत्तः ॥ ६९ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
कर्मभूमिविभागो नाम अष्टमः सर्गः ।

स्थिति प्रमाण

यदि कर्मभूमिमें मनुष्य आयुका उत्कर्ष अपनी अन्तिम सीमातक जाये तो मनुष्य अधिकसे अधिक एक पूर्वकोटि वर्षोंतक जीवित रहेगा। इसी प्रकार यदि कमसे कम समय तक ही मनुष्य जी सके तो उसकी आयुका प्रमाण एक मुहूर्तकी सीमा न लाँघेगा अर्थात् अन्तर्मुहूर्त होगा ॥ ६७ ॥

इस प्रकारसे यतिराज वरदत्तकेवलीने सुख, भोगप्राप्तिके द्वारा जानने योग्य, सार्थक तथा विशालतम धर्माचरणके फल-का वर्णन किया था। संसारमें सर्वसाधारणके अनुभवमें प्रतिक्षण आनेवाले पापकर्मोंके फलोंको भी कहा था जो विविध प्रकारके शोक और दुःखोंसे आत्माको आकुल कर देते हैं ॥ ६८ ॥

तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त उत्सुक राजा धर्मसेनको सुख और दुःखकी रंगस्थली मनुष्य गतिका व्याख्यान देनेके पश्चात्, उपदेश कलाके मर्मज्ञ मुनिराजने स्पष्ट वचनों द्वारा देवताओंके लोककी कथा कहना प्रारम्भ किया था ॥ ६९ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरितनामक धर्मकथामें
कर्मभूमि वर्णन नाम अष्टम सर्ग समाप्त

---

१. क °भेदभिन्नम् ।

ततः प्रवक्ष्ये नृप देवलोकांश्चतुर्विधान्सत्कृतिनां निवासान् ।
वैमानिकानां भवनाधिपानां ज्योतिर्गणव्यन्तरसंज्ञकानाम् ॥ १ ॥
दश प्रकारा भवनाधिपानां ते व्यन्तरास्त्वष्टविधा भवन्ति ।
ज्योतिर्गणाश्चापि दशार्धभेदा द्विषट्प्रकाराः खलु कल्पवासाः ॥ २ ॥
ये कल्पवासा गणनाव्यतीतास्तेभ्यो प्रसंख्या[1] भवनाधिवासाः ।
तेभ्योऽधिका व्यन्तरदेवसंज्ञा ज्योतिर्गणास्त्वभ्यधिकाश्च तेभ्यः ॥ ३ ॥
सुपर्णनागोदधिदिक्कुमारा दीपा[2]ग्निविद्युत्स्तनितानिलाश्च ।
दशोपदिष्टास्त्वसुरैः सहैते द्वौ द्वावथेन्द्रास्तु भवन्ति तेषाम् ॥ ४ ॥

नवम सर्ग

देव भेद

हे राजन् ! मनुष्यगतिके बाद अब आपको मैं साधारणदृष्टिसे चार प्रकारके देवलोकका वर्णन कहता हूँ, जहाँपर पूर्व-जन्ममें पुण्य करनेवाले, वैमानिक अथवा सोलह कल्पवासी, भवनोंके अधिपति (भवनवासी), जोतिर्गण (ज्योतिषी) तथा व्यन्तर नामधारी देवोंका निवास है ॥ १ ॥

भवनवासी देवोंके विशेषभेद असुरकुमार आदि दश हैं, किंपुरुष, किन्नर, आदि व्यन्तर देवोंके अवान्तरभेद कुल आठ ही हैं। ज्योतिषी देवोंके भेद सूर्य, चन्द्र आदि पाँच हैं और कल्पवासी देवके विशेषभेद इन्द्रोंकी अपेक्षा दोगुने छह अर्थात् बारह हैं ॥ २ ॥

वैमानिक देवोंका प्रमाण गणनासे परे है अर्थात् वे असंख्यात हैं, भवनवासी देवोंकी संख्या कल्पवासियोंसे भी बहुत अधिक है, व्यन्तर देवोंकी संख्या भवनवासियोंसे भी अधिक है और ज्योतिषी देवोंकी संख्या तो व्यन्तरोंसे भी अधिक है ॥ ३ ॥

भवनवासी

सुपर्णकुमार, नागकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, द्वीपकुमार, अग्निकुमार, विद्युत्कुमार, स्तनितकुमार, अनिलकुमार तथा इनमें असुरकुमारको जोड़ देनेपर भवनवासी देवोंके दश भेद होते हैं। इनके एक-एक वर्ग असुरकुमार आदिमें दो-दो इन्द्र होते हैं ॥ ४ ॥

१. [तेभ्योऽतिसंख्या]। २. [द्वीपाग्नि°]।

भूताः पिशाचा गरुडाश्च यक्षा गन्धर्वकाः किन्नरराक्षसाश्च ।
संख्यानतः किंपुरुषैः सहाष्टौ तिर्यग्जगत्येव निवास एषाम् ॥ ५ ॥
सूर्याश्च चन्द्रास्त्वथ तारकाश्च ग्रहाश्च नक्षत्रगणास्तथैव ।
ज्योतिर्गणाः पञ्चविधाः प्रदिष्टाः प्रभाप्रभास्थानगतिस्वभावाः ॥ ६ ॥
सौधर्मकल्पः प्रथमोपदिष्ट ऐशानकल्पश्च पुनर्द्वितीयः ।
सनत्कुमारो द्युतिमांस्तृतीयो माहेन्द्रकल्पश्च चतुर्थ उक्तः ॥ ७ ॥
ब्राह्मयं पुनः पञ्चममाहुरार्यास्ते लान्तवं षष्ठमुदाहरन्ति ।
स सप्तमः शुक्र इति प्ररूढः कल्पः सहस्रार इतोऽष्टमस्तु ॥ ८ ॥

व्यन्तरदेव

भूत, पिशाच, गरुड (महोरग), यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, राक्षस तथा इनमें किंपुरुषको मिला देनेपर संख्याकी अपेक्षासे व्यन्तरोंके आठ भेद हो जाते हैं। इनका निवास भवनवासियोंकी तरह वंशा (?) पृथ्वीमें या वैमानिकोंकी तरह ऊर्ध्वलोकमें नहीं है बल्कि ये तिर्यग्लोक या मध्यलोकमें ही रहते हैं ॥ ५ ॥

ज्योतिष्कदेव

सूर्य, चन्द्रमा, तारका-समूह, ग्रह तथा नक्षत्रोंके गण ये पाँचों ज्योतिषी देवोंके प्रधान भेद हैं। इनकी गति और स्थानके ही कारण प्रकाश और अप्रकाश होता है तथा अपनी अपेक्षा भी यह हमारे लिए योग्य स्थानपर होनेसे चमकते हैं और अन्तरालमें चले जानेसे छिप जाते हैं ॥ ६ ॥

वैमानिकोंमें प्रथम कल्पका नाम सौधर्म है, दूसरे कल्प या स्वर्गकी ऐशान संज्ञा है, सब प्रकारकी ऋद्धियोंसे जाज्वल्यमान सानत्कुमार तीसरा कल्प है, चौथे स्वर्गको माहेन्द्र कल्प कहते हैं ॥ ७ ॥

वैमानिकदेव

पुरातन आचार्योंने पञ्चम कल्पका नाम ब्रह्म (ब्राह्म) कहा है; (यह भी इन्द्रकी अपेक्षा है क्योंकि ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरका एक ही इन्द्र होता है)। उन्हीं श्रेष्ठ आचार्यने छठे कल्पकी लान्तव संज्ञा दी है (यहाँ भी लान्तव और कापिष्ट दोनोंका एक ही इन्द्र होता है), सातवां कल्प शुक्र नामसे समस्त संसारमें प्रसिद्ध है इसीमें महाशुक्र भी अन्तर्हित है, इसमें आगेके आठवें कल्पका नाम सहस्रार है जिसमें शतारको भी समझना चाहिये ॥ ८ ॥

यमानतं तन्नवमं[1] वदन्ति स प्राणतो यो दशमस्तु वर्ण्यः ।
एकादशं त्वारणमामनन्ति तमारणं द्वादशमच्युतान्तम् ॥ ९ ॥
कल्पोपरिष्टादहमिन्द्रलोका ग्रैवेयकास्ते नवधा विभक्ताः[2] ।
त्रयस्त्वधस्तात्त्रय एव मध्या ऊर्ध्वं त्रयश्चोत्तरवृद्धसौख्याः ॥ १० ॥
ग्रैवेयकेभ्यस्तु महाद्युतिभ्यः पञ्चोपरिष्टाद्विजयं जयन्तम् ।
तं वैजयन्तं ह्यपराजितं च सर्वार्थसिद्धिं च विमानमाहुः ॥ ११ ॥
मध्ये भवन्तीन्द्रकसंज्ञकानि श्रेणीगतान्यप्रतिभासुराणि ।
प्रकीर्णकानि प्रततानि राजन् विमानमुख्यानि विभान्त्यजस्रम् ॥ १२ ॥
दूर्वाङ्कुरश्यामलविग्रहाणि शुकच्छदाभान्यपराणि तानि ।
शिरीषपुष्पप्रतिमप्रभाणि सन्तीन्द्रगोपप्रतिमद्युतीनि ॥ १३ ॥

आनत स्वर्गको नौवाँ कल्प कहा है, प्रानत स्वर्गको दशम स्वर्ग रूपसे वर्णन किया है, ग्यारहवें कल्पको आरण नामसे समझाया है तथा आरणके बाद बारहवें स्वर्गका नाम अच्युत है। यह अन्तिम कल्प है क्योंकि इसके बादका देवलोक कल्पातीत है। सौधर्म आदि सोलह कल्पोंके ऊपर सारस्वत, आदित्य आदि अहमिन्द्र वर्गके देवोंका लोक है ॥ ९ ॥

अहमिन्द्रलोकसे ऊपर लोककी ग्रीवाके समान ग्रैवेयक लोक है इसके निवासी नौ वर्गोंमें बँटे हैं। इन नौमें तीनको अधो-ग्रैवेयक कहते हैं, मध्यमें पड़े तीनोंका नाम मध्य-ग्रैवेयक है और ऊपरके तीनोंकी संज्ञा ऊर्ध्व-ग्रैवेयक है इनमें नीचेकी ओरसे आरम्भ करके आगे-आगे (ऊपर) सुख बढ़ता ही जाता है ॥ १० ॥

अपने विमानोंकी सम्पत्ति तथा कान्तिसे अत्यन्त भासुर नव ग्रैवेयकोंके ऊपर परमपुण्यमात्माओंके जन्मस्थान विजय, जयन्त, वैजयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि नामके पाँच विमान एक दूसरेके ऊपर-ऊपर हैं ॥ ११ ॥

स्वर्ग पटलोंका विन्यास

इन स्वर्गोंमें विमानोंकी रचना इस प्रकार है—मध्यमें 'इन्द्रक' या प्रधान विमान होता है, फिर उसकी दिशाओं और विदिशाओंमें (आग्नेय, नैऋत, वायव्य, ईशान) श्रेणीबद्ध विमानोंकी पंक्तियाँ होती हैं। इन श्रेणीबद्ध विमानोंकी ज्योति अनुपम होती है, इन पंक्तियोंके आसपास जो विमान बिना क्रमके फैले हैं वे 'प्रकीर्णक' विमान हैं। इनमें जो इन्द्रक या प्रधान हैं उनकी शोभा चिरस्थायी तथा अलौकिक है ॥ १२ ॥

कुछ विमानोंका रंग नूतन निकले दूबके अंकुरोंके समान हरा है, दूसरे कुछ विमानोंकी छटा तोतेके पंखोंके रंग सदृश

---

१. क यमामनन्तं नवमं । २. म पुस्तक एवाधिकं पाठान्तरम् 'नवोपरिष्टादहमिन्द्रकल्पास्तेभ्यो महाकान्तिसमन्वितेभ्यः' ।

मयूरपारापतकण्ठशङ्खप्रवालजात्यञ्जनकुन्दवर्णैः ।
व्याभिन्नपद्मैर्हरितालभेदैः समानवर्णान्यपराणि भान्ति ॥ १४ ॥
आदित्यतेजोऽधिकदीप्तिमन्ति कान्त्या पुनश्चन्द्रमसोऽधिकानि ।
दशार्धवर्णानि मनोहराणि मणिप्रभापल्लवितध्वजानि ॥ १५ ॥
ज्वलद्बृहद्रत्नमयैर्विचित्रैर्वैडूर्यनद्धैस्तपनीयकुम्भैः ।
वज्रोपधानैः स्फटिकोपलस्थैस्तम्भैर्मृगाङ्कैः सततं वृतानि ॥ १६ ॥
पृथग्विधैर्यैर्गजवाजिरूपैर्भूतैः शकुन्तैर्मकरैर्लताभिः ।
भित्त्याश्रितैस्तैर्मनसाप्यचिन्त्यैः प्रकल्पितान्येव[1] च सर्वकालम् ॥ १७ ॥

है, अन्य विमानोंकी प्रभा शिरीषके पुष्पोंके तुल्य है दूसरे विमानोंकी कान्ति इन्द्रधनुषके समान अनेक रंगकी है, शेष अनेक बिमानोंकी छटा भी अद्भुत है ॥ १३ ॥

कुछ विमानोंका रंग मोर और कबूतरके गलेके समान है, कुछ शंखके समान श्वेत हैं, दूसरे मूँगेके तुल्य लाल हैं, कुछ जातिके पुष्प और दुग्धके समान धवल हैं, कितनोंका रंग अंजनका-सम है, कितने ही नीले, लाल और श्वेत कमलोंके रंगसे भुषित हैं तथा अन्य कितनोंका ही हरिताल सदृश रंग है ॥ १४ ॥

विमान शोभा

उन सब विमानोंकी दीप्ति मध्याह्नके सूर्यके तेजसे भी बढ़कर है, यदि उनकी कान्तिपर दृष्टिपात करिये तो उसे चन्द्रमासे भी बढ़कर पाइयेगा। उनके रंग यद्यपि दशके आधे पाँच रंगोंमेंसे ही कोई न कोई हैं तो भी वे अत्यन्त मनमोहक हैं, दूरतक फैली हुई मणियोंकी प्रभा ही उनके ऊपर फहरायी गयी ध्वजाओंका कार्य करती है ॥ १५ ॥

जगमगाते हुए बड़े-बड़े रत्नोंसे परि र्ण तथा बीच बीचमें वैडूर्य मणियोंसे खचित (चन्द्रमाके विविध रूपों की नक्कासी) सुन्दर स्वर्णमय कलशों, वज्रसे निर्मित आसन (कुर्सी) युक्त तथा बृहत् स्फटिक मणिकी शिला पर खड़े किये विशाल मृगाङ्कयुक्त स्तम्भोंसे सदा सब ओरसे घिरे हुए हैं ॥ १६ ॥

विमानोंकी भित्तियोंपर पृथक्-पृथक् आकार और प्रकारके बनाये गये हाथी, घोड़ा आदिके चित्र, पक्षी, जलजन्तु मकर, आदि तथा लता कुंज आदिको चित्रकारी सदा ही उन्हें सुशोभित करती है, वह इतनी अद्भुत है कि उसके रूप रंगकी मनके द्वारा कल्पना भी नहीं की जा सकती है ॥ १७ ॥

१. म प्रकल्प्य तान्येव ।

प्रवालमुक्तामणिहेमजालैर्घण्टारवोन्मिश्रितकिङ्किणीकैः ।
विचित्ररत्नस्तवकावलोभिः पर्यन्तलम्बैरतिशोभितानि ॥ १८ ॥
माहेन्द्ररत्नोज्ज्वलमालिकानि[1] विशुद्धरूप्यच्छदपाण्डुराणि ।
विशिष्टजाम्बूनदभित्तिकानि महार्घ्यरत्नार्चितभूतलानि ॥ १९ ॥
स्वभावशुभ्राणि महाद्युतीनि समीक्ष्य नृणां नयनामृतानि ।
अकृत्रिमाण्यप्रतिमानि नित्यं विमानमुख्यानि विभान्ति तत्र ॥ २० ॥
द्वारैश्च जाम्बूनदबद्धमूलैः स्फुरत्प्रभैर्वज्रमयैः कवाटैः ।
सोपानदेशैस्तपनीयबद्धैर्भिन्नान्धकाराणि महागृहाणि ॥ २१ ॥
सूर्यप्रभैः सूर्यगभस्तितुल्यैश्चन्द्रांशुजालाधिकचन्द्रकान्तैः ।
शुक्रप्रभैः शुक्रसमानभाभिर्ज्वलत्प्रभैः प्रज्वलदग्निकल्पैः ॥ २२ ॥

विमानोंके चारों ओर मूँगा, मोती, मणि और सोनेकी मालाएँ तथा जालियाँ लटकती हैं, उनमें लटके हुए घण्टोंके गम्भीर घोषके साथ छोटी घंटियों की टुनटुन ध्वनि अति मनोहर होती है, चारों ओर फैले हुए अद्भुत रत्नोंके गुच्छोंकी पंक्तियोंके द्वारा उनकी शोभा अत्यधिक बढ़ जाती है ॥ १८ ॥

विमानोंके चारों ओर लटकती झालरें महेन्द्रनील मणियोंसे बनायी गयी हैं, ऊपरकी छत अथवा चन्दोवे अत्यन्त शुभ्र (निर्दोष) चाँदीसे बने हैं, समस्त भित्तियाँ भी विशेष प्रकारके सोनेकी बनी हैं तथा धरातल भी महामूल्यवान रत्नोंको जड़कर बनाया गया है ॥ १९ ॥

बिना किसी प्रकारके प्रयत्नके ही विमान निर्मल और भासुर रहते हैं, उनकी चमक कभी घटती नहीं है, देखनेपर ऐसे लगते हैं मानों आँखोंके लिए अमृत ही हैं, उन्हें कोई शिल्पकार नहीं बनाता है वे अकृत्रिम हैं, उनका उपमान खोजना भी कठिन है। ऐसे इन्द्रक विमान स्वर्गोंमें सदा ही सुशोभित होते हैं ॥ २० ॥

उनके द्वार जाम्बुनद सोनेके द्वारा ही नीचेसे ऊपर तक बने हैं, किवाड़ वज्रके हैं जिनकी प्रभा चारों ओर दूर-दूर तक फैली है, दरवाजोंके आगेकी तथा अन्य सीढ़ियाँ तपनीय स्वर्णसे बनायी गयी हैं। इस प्रकार प्रकाशमय पदार्थोंसे निर्मित होनेके कारण उन विशाल विमानोंमें कहींपर हल्का सा अन्धकार भी नहीं ठहरता ॥ २१ ॥

विमानोंका विशेष वर्णन

सूर्यके उद्योतके समान जाज्वल्यमान सूर्यकान्त मणियों द्वारा, चन्द्रमाकी किरणोंसे भी अधिक कान्तिमान चन्द्रकान्त

---

१. म ० चूलितानि ।

सुगन्धिनानावरधूपवासैः पुष्पप्रकारैर्बहुवर्णकैश्च ।
पृथग्विधैर्न्यस्तबलिप्रकारैरतुल्यकान्तीन्यनिशं विभान्ति ॥ २३ ॥
सोद्यानवापी ह्रददीर्घिकाश्च पर्यन्तकान्तस्थितकल्पवृक्षाः ।
सौवर्णशैला रमणीयरूपास्तेषां गृहाणां तु बहिःप्रदेशाः ॥ २४ ॥
सुरेन्द्रलोकस्य विभूतिमेतां को ना[1] वदेद्वर्षसहस्रतोऽपि ।
ये तत्र गच्छन्ति पृथक्पृथक्तान् नराधिप त्वं शृणु संप्रवक्ष्ये ॥ २५ ॥
दयापरा ये गुरुदेवभक्ताः सत्यव्रताः स्तेयनिवृत्तशीलाः ।
स्वदारतुष्टाः परदारभीताः संतोषरक्तास्त्रिदिवं प्रयान्ति ॥ २६ ॥

मणियोंसे, शुक्र ग्रह तेज चमक समान कान्तियुक्त शुक्रप्रभ मणियोंसे, जाज्वल्मान और अग्निकी लपटके समान अरुण दीप्तियुक्त अग्निप्रभ मणियोंके कारण विमानों की शोभा है ॥ २२ ॥

विविध प्रकारकी उत्तमसे उत्तम सुगन्धयुक्त धूप आदि सुगन्धित पदार्थोंकी उत्कट (गंध) से, विविध वर्णके तथा अनेक आकार और गन्धयुक्त फूलोंसे तथा नाना विधियोंसे अलग-अलग रखी गयी बलि सामग्री (फूल, चौक, आदि) के द्वारा उन विमानोंकी कान्ति ऐसी लगती है कि उसे कोई भी उपमा देकर समझाना असंभव ही है। यह कान्ति अस्थायी या परिवर्तनशील नहीं होती है अपितु चिरस्थायी होती है ॥ २३ ॥

विमानोंके बाहर चारों ओर छूटे हुए प्रदेशोंकी रमणीयता भी अलौकिक ही होती है, उनमें स्थान-स्थानपर छोटे-छोटे उद्यान, बावड़ी, जलाशय, झील आदि बने रहते हैं, इनकी सब दिशाओंमें अत्यन्त मनोहर कल्पवृक्षोंकी पंक्तियाँ खड़ी रहती हैं, बीच-बीचमें सोने आदिके सुन्दर रंगके मनमोहक क्रीड़ा-पर्वत बने रहते हैं ॥ २४ ॥

देवलोककी संक्षेपसे कही गयी उक्त समस्त विभूतियोंको कौन ऐसा व्यक्ति है जो हजार वर्ष कहकर भी समाप्त कर सके ? अतएव हे भूपते ! जो पुण्यात्मा वहाँ जाते हैं उनको विशेष विगत बार मैं कहता हूँ; आप ध्यानसे सुनें ॥ २५ ॥

देवगतिका कारण

जो दयामय व्यवहार करनेके लिए कमर कसे हैं तथा सत्य गुरु, देव और शास्त्रके भक्त हैं, जो सत्यव्रतको दृढ़तापूर्वक पालते हैं, जिन्होंने पूर्णरूपसे चोरीको छोड़ दिया है, जो अपनी पत्नीपर परम अनुरक्त हैं और संतुष्ट हैं तथा परकामिनीको देखकर पापमयसे त्रस्त हो जाते हैं, तथा संपत्तिको नियमित करके संतोषकी आराधना करते हैं, वे दृढ़ साधु पुरुष निश्चयसे स्वर्ग जाते हैं ॥ २६ ॥

---

१. क को न्वा (वा ?)।

पाषण्डिनो ये जलवायुभक्षा व्रतोपवासैरकृशाः कृशाङ्गाः ।
बालाः स्वयं बालतपोभिरुग्रैः पञ्चाग्निमध्ये च तपश्चरन्ति ॥ २७ ॥
येऽकामतो ब्रह्म चरन्ति लोके बद्धाश्च रुद्धाः[1] खलु चारकस्थाः ।
परार्दिताः क्लेशगणान्सहन्ते ते सर्व एवामरतां लभन्ते ॥ २८ ॥
जलप्रवेशादनलप्रवेशान्मरुत्प्रपाताद्विषभक्षणाद्वा[2] ।
शस्त्रेण रज्ज्वात्मवधाभिकामा अल्पर्द्धिकास्ते दिविजा भवन्ति ॥ २९ ॥
अणुव्रतानां च गुणव्रतानां शिक्षाव्रतानां परिपालका ये ।
संभूय सर्वर्द्धिमतीन्द्रलोके महर्द्धिकास्ते त्रिदशा भवन्ति ॥ ३० ॥

सत्यज्ञान और आचरणसे अनभिज्ञ होते हुए भी जो तपस्याका स्वांग रचते हैं, महिनों केवल वायु और पानी पर ही रहकर 'कायक्लेश' करते हैं, सतत व्रत और उपवास करनेपर भी जिनका मन विषयोंसे विरक्त नहीं होता है यद्यपि शरीर कृश हो जाता है, ज्ञानहीन होनेके कारण जो अज्ञानियोंकी विधिसे उग्र तप करते हैं जैसे कि चारों तरफ चार ज्वालाएँ जलाकर ग्रीष्मके मध्याह्नमें सूर्यकी तरफ देखते हुये पंचाग्नि तप करना आदि ॥ २७ ॥

जो बिना किसी अभिलाषा या आसक्तिके ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं अथवा अन्य संयम करते हैं, सांसारिक कारणोंसे बन्धनको प्राप्त होनेपर, किसी स्थान विशेषपर ही रोके जानेपर, चरों (खुफिया) या अन्य राज्यकर्मचारियोंके द्वारा विविध प्रकारसे वेदना दिये जानेपर जो अनेक कष्टोंको साहसपूर्वक सहते हैं वे सबके सब अमरता (देवगति) को प्राप्त करते हैं ॥ २८ ॥

पानीमें डूबकर, जलती आगमें कूदकर, पर्वतसे गिरकर, घातक विष पान करके, किसी शस्त्रके द्वारा तथा रस्सीमें गला फंसाकर, जो लोग आत्महत्या करनेका प्रयत्न करते हैं उन्हें भी देवगति प्राप्त होती है। हाँ इतना निश्चित है उनकी ऋद्धियाँ बहुत ही कम होती हैं ॥ २९ ॥

उत्तम देवगतिके कारण

अहिंसा आदि पाँचों व्रतोंका आंशिक-स्थूल (अणुव्रतों) पालन तथा दिग्व्रत आदि गुणव्रतों तथा सामायिक आदि चारों शिक्षाव्रतोंका निरतिचार रूपसे पालन करनेवाले पुरुष उन स्वर्गोंमें जन्म लेते हैं जहाँपर सब ऋद्धियाँ सुलभ ही नहीं हैं अपितु अपने चरम विकासको प्राप्त हैं। इस प्रकार वे महर्द्धिक देव होते हैं ॥ ३० ॥

---

१. म रुद्राः । २. क नरुत्प्रतापाद्, [तरुप्रपाताद्] ।

सम्यक्त्वमेकं मनुजस्य यस्य हृदि स्थितं मेरुवदप्रकम्प्यम् ।
शङ्कादिदोषापहृतं नरेन्द्र न तस्य तिर्यङ्नरके भयं स्यात् ॥ ३१ ॥
नाचारवन्तो विकृता विशीला गुणैर्व्यपेता व्रतदानहीनाः ।
असंयताः केवलभोगकाङ्क्षाः सद्दृष्टिशुद्धास्त्रिदिवं प्रयान्ति ॥ ३२ ॥
ये मार्दवाः शान्तिदयोपपन्नाः[1] शमात्मकाः शुद्धशुभप्रयोगाः ।
ऋजुस्वभावा रतिरागहीनास्ते स्वर्गलोकं मुनयो व्रजन्ति ॥ ३३ ॥
परीषहाणां क्षणमप्यकम्प्या द्विषट्प्रकारे तपसि स्थिताश्च ।
ये चाप्रमत्ताः समितौ सदा ते त्रिगुप्तिगुप्तास्त्रिदिवं प्रयान्ति ॥ ३४ ॥

हे नरेन्द्र ! जिस व्यक्तिको जीव आदि सात तत्त्वोंपर ऐसी हार्दिक आस्था है कि जो सुमेरुकी भाँति अडोल और अकम्प है, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, आदि आठ दोष जिसे छू तक नहीं गये हैं यदि ऐसे सम्यक्दृष्टीने किसी भी प्रकारका चरित्र धारण नहीं किया है उस शुद्ध सम्यक्त्वीको तिर्यंच और नरक गतिका भय कभी हो हो नहीं सकता है ॥ ३१ ॥

चित्त विकृत है और स्वभावतः कुमार्गगामी है। अन्य कोई भी गुण उसके पास नहीं फटका है, व्रत, दान, आदिका नाम भी नहीं जानता है, असंयमी है तथा भोग और उपभोगोंकी प्राप्तिके लिए लालायित रहता है वह भी स्वर्गगतिको जाता है ॥ ३२ ॥

स्वभाव मार्दव

जो प्रकृतिसे ही शान्ति और दयासे परिपूर्ण हैं, सबके साथ कोमलतापूर्ण व्यवहार करते हैं, किन्हीं परिस्थितियोंमें उद्वेजित नहीं होते हैं, जिनकी समस्त चेष्टाएँ शुभावह और निर्दोष होती हैं, कपटहीन सरल स्वभावी तथा प्रेम, स्नेह आदिसे जो परे हैं वे मुनिवर निश्चयसे स्वर्गकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ३३ ॥

भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि बाईस परीषहोंके उपस्थित रहनेपर भी जो तपस्यासे क्षणभरके लिए भी नहीं डिगते हैं, जो अनशन, आदि छह बाह्यतपों तथा प्रायश्चित्त आदि छह आभ्यन्तरतपोंके आचरणमें दृढ़ हैं, जो ईर्या, भाषा, आदि पाँचों समितियोंको सावधानीसे पालते हैं तथा जो सर्वदा ही मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति इन तीनोंका पालन करते है, वे अवश्य ही स्वर्गमें पदार्पण करते ॥ ३४ ॥

१. [मार्दवक्षान्ति°]

जितेन्द्रिया जीवदयाप्रवृत्ता वर्षावकाशातपवासयोगाः ।
जितोपसर्गास्तु विचूर्णिताशाः कल्पेश्वरास्ते पतयो भवन्ति ॥ ३५ ॥
येषां च सज्ज्ञानमुदारवृत्तं सद्दर्शनं चापि तपो विशुद्धम् ।
ग्रैवेयकादावहमिन्द्रलोके ते संभवन्तीति नरेन्द्र विद्धि ॥ ३६ ॥
यथैव मेघा शनिशक्रचापविद्युत्तडित्केतुहिमाम्बुवर्षाः ।
नभस्तलेऽस्मिन्सहसा भवन्ति तथा सुराणामपि जन्म वेद्यम् ॥ ३७ ॥
उत्पद्यमानाः शयनीयपृष्ठे अन्तर्मुहूर्तात्परिनिष्ठिताङ्गाः ।
व्याभासमानाश्च दिशो दशापि तपःफलं तेऽनुभवन्ति हृष्टाः ॥ ३८ ॥

प्राणिमात्रकी रक्षा करनेके लिए जो प्रमाद त्याग कर प्रयत्न करते हैं, स्पर्श आदि पाँचों इन्द्रियोंको जो जीत लेते हैं, वर्षाऋतुमें खुले प्रदेशमें (वर्षावास आदि) तथा ग्रीष्म ऋतुमें उष्ण प्रदेशमें जो ध्यान लगाते हैं, भूख, प्यास आदि समस्त परीषहोंपर जो पूर्ण विजय पा लेते हैं तथा आशारूपी बंधनको जो चूर-चूर कर देते हैं वे ही जीव मरकर कल्पोंके अधिपति इन्द्र होते हैं ॥ ३५ ॥

जिन्होंने निर्दोष सम्यक् ज्ञानकी उपासना की है, अतिचाररहित विशाल सम्यक्चारित्रके जो अधिपति हैं तथा शंका आदि आठ दोषोंसे रहित परम पवित्र सम्यक्दर्शन भी जिनको सिद्ध हो गया है, वे रत्नत्रय विभूषित जीव हे भूपते ! नव ग्रैवेयकोंसे प्रारम्भ करके अहमिन्द्र आदि लोकपर्यन्त जन्म ग्रहण करते हैं आप ऐसा समझें ॥ ३६ ॥

देवजन्म

हमारे नभस्तलमें घनघटा, वज्रपात, इन्द्रधनुष, विद्युतप्रकाश, मेघोंकी गर्जना, धूमकेतु या पुच्छलतारेका उदय, वृष्टि तथा हिमवृष्टि जिस प्रकार अकस्मात् होते हैं उसी प्रकार स्वर्गलोकमें देवोंका जन्म भी पहिलेसे कोई चिह्न न होते हुये भी सहसा होता है ॥ ३७ ॥

वे अत्यन्त रमणीय शय्या (जिसको इसी कारणसे उत्पाद शय्या कहा है) पर जन्म लेते हैं तथा जन्म लेते ही एक मुहूर्तके भीतर ही उनका संपूर्ण शरीर परिपूर्ण हो जाता है तथा उसके सब संस्कार भी हो लेते हैं। इसके बाद जब वे उठते हैं तो उनकी कान्तिसे दशों दिशाएँ जगमगा उठती हैं, वे परम प्रसन्न रहते हैं और आनन्दसे अपने पूर्वकृत तपका फल भोगते हैं ॥ ३८ ॥

प्रजायमानान्सहसा समीक्ष्य सुमङ्गलाविष्कृतपुण्यघोषाः ।
प्रस्फोटिताः क्ष्वेणितमुष्टिनादाः[२](?)कुर्वन्ति देवा मुदिता नमन्तः ॥ ३९ ॥
नृत्यन्ति तत्राप्सरसो वराङ्ग्यो वीणाः सलीलं परिवादयन्ति ।
गायन्ति गीतानि मनोहराणि चित्राणि पुष्पाण्यभितः किरन्ति ॥ ४० ॥
ते दिव्यमाल्याम्बरचारुभूषा मनोऽभिनिर्वर्तितसर्वसौख्याः ।
ऐश्वर्ययोगर्द्धिविशेषयुक्ताः प्रियासहाया विहरन्ति नित्यम् ॥ ४१ ॥
दयातपोदानदमार्जवस्य सद्ब्रह्मचर्यव्रतपालनस्य ।
जिनेन्द्रपूजाभिरतेर्विपाकोऽप्ययं स इत्येव विबोधयन्ति ॥ ४२ ॥
स्वभावतो बालदिवाकराभाः स्वभावतः पूर्णशशाङ्कसौम्याः ।
स्वभावतश्चारुविभूषणाङ्गाः स्वभावतो दिव्यसुगन्धिगन्धाः ॥ ४३ ॥

जब अन्यदेव अकस्मात् ही नूतन देवोंको जन्मते देखते हैं तब वे अत्यन्त मंगलमय स्तुतियों तथा उनके पुण्यात्मापनको प्रकट करनेवाले 'जय' आदि घोषोंको करते हैं। इतना ही नहीं अपितु वे उनके जन्मकी सूचना देनेके लिए तालियाँ बजाते हैं, फटाके आदि स्फोटक पदार्थोंको फोड़ते हैं, तोपों आदिकी सी क्ष्वेणित (धड़ाका) ध्वनि करते हैं तथा बड़े उल्लासके साथ निकट आकर उन्हें प्रणाम करते हैं ॥ ३९ ॥

अति आकर्षक श्रेष्ठ सुन्दर शरीर धारिणी वरांगी अप्सराएँ उनके सामने नृत्य करती हैं, वे बड़े हावभावके साथ वीणाको विविध प्रकारसे बजाती हैं, मनको मुग्ध कर देनेवाले मधुर गीत गाती हैं, तथा रंग विरंगे फूलोंको हर तरफसे उनके ऊपर बरसाती हैं ॥ ४० ॥

अतीव सुन्दर अलौकिक वस्त्र, माला तथा सुललित भूषणोंको धारण किये हुए वे देवलोक सी परिपूर्ण प्रभुता, असाधारण तथा अविकल सम्पत्तिको प्राप्त करते हैं। उनकी सुख सामग्री विषयक समस्त अभिलाषाएँ मनसे सोचते ही पूर्ण हो जाती हैं तथा उनके लिए ही प्रतीक्षामें बैठी अनेक देवाङ्गनाओंके साथ वे दिन रात विहार करते हैं ॥ ४१ ॥

दयामय भाव, निरतिचार तप, सत्पात्र दान, इन्द्रिय दमन, मानसिक सरलता, उत्तम ब्रह्मचर्यव्रतका प्रयत्नपूर्वक पालन, श्री एक हजार आठ देवाधिदेव वीतराग प्रभुकी अष्ट द्रव्य द्वारा भाव और द्रव्य पूजा करनेकी प्रवृत्ति तथा उत्कट इच्छा आदिके परिपाकका ही यह सब फल है, ऐसा सज्ज्ञान भी उन्हें होता है ॥ ४२ ॥

देवशरीर

स्वभावसे ही उनका तेज अरुणाचलपर विराजमान सूर्यके समान होता है। किसी बाह्य प्रयत्न अथवा संस्कारके बिना

१. म °पुण्यपापाः । २. [प्रस्फोटितक्ष्वेडितमुष्टिनादान्] ।

आ जन्मनोऽवस्थितकान्तरूपा आ जन्मनोऽम्लानसुगन्धिमालाः ।
आ जन्मनस्ते स्थिरयौवनाश्च आ जन्मनः प्राप्तमनोऽभिरामाः ॥ ४४ ॥
नित्यप्रवृत्तातिशयर्द्धियुक्ता नित्यप्रवृत्तामलचारुहासाः ।
नित्यप्रवृत्ताधिकदीप्तिमन्तो नित्यप्रवृत्तोरुसुखालयास्ते ॥ ४५ ॥
समुल्लसत्कुञ्चितनीलकेशाः जरारुजाक्लेशशतैर्विहीनाः ।
अनस्थिकायास्त्वरजोऽम्बराश्च सर्वे सुराः स्वेदरजोविहीनाः ॥ ४६ ॥
अपेतनिद्राक्षिनिमेषशोका महीतलस्पर्शविमुक्तचाराः ।
नभश्चरा यानविमानयाना अनूनभोगा दिविजा रमन्ते ॥ ४७ ॥

ही वे पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान शीतल और कान्तिमान् होते हैं। उनके स्वभावतः सुन्दर अंगोंपर किसी अन्य व्यक्तिकी सहायता के बिना ही सुन्दर अलंकार दिखायी देते हैं इसी प्रकार बाहरी सामग्री जुटाये बिना ही उनकी देहसे अद्भुत सुगन्धयुक्त गन्ध आती है ॥ ४३ ॥

जन्मके क्षणसे ही उनका रूप अत्यन्त कमनीय और कान्त होता है तथा पूरे जीवन भर उसमें न ह्रास होता है और न वृद्धि, जो सुगन्धित मालाएँ जन्मके समय उनके गलेमें पड़ती हैं वे जीवन भर उनका साथ नहीं छोड़ती हैं। जन्मके क्षणमें ही वह युवा अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं। जो कि स्थायी होता है तथा जीवनके प्रथमक्षणसे आरम्भ करके जीवन भर उन्हें इष्ट पदार्थोंकी निर्बाध प्राप्ति होती है ॥ ४४ ॥

उनकी परम पूर्ण असाधारण ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ सर्वदा उनकी सेवा करती हैं, उनकी हृदयाकर्षक तथा निर्मल मुस्कान भी कभी रुकती नहीं है, कभी भी म्लान न होनेवाली उनकी द्युति भी निरन्तर जगमगाती ही रहती है तथा उन्हें प्राप्त महासुख भी बिना अन्तरालके हर समय उनका रंजन करते हैं ॥ ४५ ॥

देव-वैशिष्ट्य

उनके लहराते तथा घुँघराले सुन्दर बालोंका रंग नीलिमा लिये होता है, बुढ़ापा, रोग तथा वहाँ सुलभ सैकड़ों रोगोंसे वे सब प्रकार बचे हैं, उनकी देहोंमें हड्डी नहीं होती है, न उनके कपड़ोंपर कभी धूल ही बैठती है इसी प्रकार किसी भी देवको न पसीना आता है और न रज-शुक्रका स्राव ही होता है ॥ ४६ ॥

न तो उन्हें नींद आती है, न उनकी आँखें कभी पलक झपाती हैं और न उन्हें कभी किसी कारणसे शोक ही होता है। वे चलते अवश्य हैं पर उनके पैर पृथ्वी नहीं छूते हैं, आकाशमें भी वे अपने-अपने वाहन विमानोंपर आरूढ़ होकर चलते हैं तथा उनके समग्र भोग समस्त प्रकारकी त्रुटियोंसे रहित होते हैं ॥ ४७ ॥

उत्पाटयेयुः स्वभुजेन मेरुं महीं कराग्रेण समुद्धरेयुः ।
आदित्यचन्द्रावपि पातयेयुर्महोदधिं चापि विशोषयेयुः ॥ ४८ ॥
व्याप्याशु तिष्ठेयुरथो जगन्ति अदृश्यरूपाः क्षणवद्भवेयुः ।
ईयुर्निमेषाद्वसुधातलान्तं ते कामरूपाश्च भवेयुरीशाः ॥ ४९ ॥
इन्द्राश्च सामानिकलोकपालास्तथा त्रयस्त्रिंशदनीकिनश्च ।
प्रकीर्णकाः किल्विषिकात्मरक्षा अथाभियोग्याः परिषत्त्रयं च ॥ ५० ॥
सौधर्मकल्पप्रभृतिष्वमीषु दशप्रकारा नृप देववर्गाः ।
ज्योतिर्गणा व्यन्तरदेववर्गा न च त्रयस्त्रिंशकलोकपालाः ॥ ५१ ॥
सुराङ्गना वैक्रियचारुवेषाः सुविभ्रमाः सर्वकलाप्रगल्भाः ।
विशिष्टनानर्द्धिगुणोपपन्ना गुणैरनेकै रमयन्ति देवान् ॥ ५२ ॥

देव अपने भुजबलसे सुमेरु पर्वतको भी उखाड़ कर फेंक सकते हैं, सारी पृथ्वीको एक हाथसे उठा सकना भी उनके सामर्थ्यके बाहर नहीं है, एक झटकेमें वे सूर्य चन्द्रको पृथ्वीपर गिरा सकते हैं। वे अपनी शक्तिसे समुद्रको भी सुखाकर चौरस स्थल बना सकते हैं, यदि एक क्षणमें तीनों लोकोंको अपने आकारसे व्याप्त करके बैठ सकते हैं ॥ ४८ ॥

तो दूसरे ही क्षणमें वे ऐसे अन्तर्धान (विलीन) हो सकते हैं कि उनके रूपका पता लगाना ही असम्भव हो जाता है। एक बार पलक मारने भरके समयमें वे पृथ्वीके एकसे दूसरे छोरतक चल सकते हैं, वे सर्वशक्तिशाली संसारी अपने आकार इच्छानुसार बदल सकते हैं ॥ ४९ ॥

देव-वर्ग

प्रत्येक स्वर्गके देव साधारणतया इन्द्र (प्रधान) सामानिक (इन्द्रकी बराबरीके देव) लोकपाल (दण्डनायक आदि) त्रायस्त्रिंश (मंत्री, पुरोहित आदि) अनीक (सेनाके समान देव) प्रकीर्णक (प्रजाके समान) किल्विषक (नीच देव) आत्मरक्ष (अंग रक्षक) अभियोग्य (सेवक स्थानीय जो सवारी आदिके काम आते हैं) तथा परिषत् (सभासद) ये दशों प्रकारके देव सौधर्म आदि सोलह कल्पोंमें पाये जाते हैं। सूर्यादि ज्योतिषी देवों तथा किन्नर आदि व्यन्तर देवोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपालके सिवा आठ ही वर्गके देव होते हैं ॥ ५०-५१ ॥

देवोंकी स्त्रियाँ अपनी विक्रिया ऋद्धिके द्वारा वेशभूषाको अत्यन्त ललित बनाती हैं, इनके हावभाव भी अतीव मनमोहक होते हैं, कोई ऐसी ललित कला नहीं है जिसमें वे दक्ष न हों, वे एकसे एक उत्तम ऋद्धियों और गुणोंकी खान होती हैं। इस प्रकार अपनी बहुमुखी विविध विशेषताओंके कारण वे देवोंके मनको हरण करती हैं ॥ ५२ ॥

स्वनाथकायानुविकाररूपाः स्वनाथभावप्रियचारुवाक्याः ।
स्वनाथदृष्टिक्षमचारुवेषाः स्वनाथसच्छासनसक्तचित्ताः ॥ ५३ ॥
द्युसुन्दरीणाममितद्युतीनां मनोहरश्रोणिपयोधराणाम् ।
तासां वपुर्वेषविलासभावान् कथं पुमान्वर्णयितुं हि शक्तः ॥ ५४ ॥
एकः समुद्रो भवनाधिपानां पल्योपमं व्यन्तरकेषु विद्धि ।
ज्योतिर्गणेष्वभ्यधिकं तदेव सौधर्मकल्पे[1] द्विसमुद्रमाहुः ॥ ५५ ॥
सप्तैव माहेन्द्रमहाविमाने ब्रह्मोन्द्रकल्पे दश वर्णयन्ति ।
ते लान्तवे चापि चतुर्दशैव समुद्रसंख्या यतिराडवोचत् ॥ ५६ ॥
शुक्रे पुनः षोडश ते समुद्राः कल्पेऽष्टमेऽष्टादश सागरास्ते ।
ततः परं विंशतिरानते च द्वाविंशतिस्त्वारणसंज्ञकल्पे ॥ ५७ ॥

उनका रूप ऐसा होता है कि उसे देखकर उनके पतियोंके शरीरमें ही विकार होता है, वे अपने-अपने प्राणनाथोंके भावोंके अनुकूल ही प्रिय वचन बोलती हैं, उनका वेश और शृंगार ऐसा होता है जो कि उनके पतियोंकी आँखोंमें समा जाता है तथा उनका मन सदा ही अपने पतियोंकी आज्ञाका पालन करनेके लिए उद्यत रहता है ॥ ५३ ॥

देवियां

अपरिमित सौन्दर्य और कान्तिकी स्वामिनी स्वर्गीय अंगनाओंकी शारीरिक रचना, वेशभूषा, प्रेमलीला, हाव-भाव आदिका मनुष्य कैसे अविकलरूपसे वर्णन कर सकता है क्योंकि नितम्ब, स्तन आदि प्रत्येक अंगकी कान्तिकी कोई सीमा नहीं है तथा प्रत्येक अंग ही मनोहर होता है ॥ ५४ ॥

देवोंकी स्थिति

भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण एक सागर प्रमाण है। व्यन्तरोंकी आयुका प्रमाण पल्यकी उपमा देकर समझाया गया है। ज्योतिषी देवोंकी आयुका प्रमाण कुछ अधिक एक पल्य ही है, प्रथम स्वर्ग सौधर्ममें देवोंकी उत्कृष्ट आयु दो सागर प्रमाण है, ऐशान कल्पमें भी आयुका यही प्रमाण है ॥ ५५ ॥

सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्पमें सात सागर उत्कृष्ट आयु है, ब्रह्म तथा ब्रह्मोत्तर कल्पोंमें उत्कृष्ट आयुको दश सागर गिनाया है, यतियोंके राजा केवली प्रभुने लांतव तथा कापिष्ठ स्वर्गोंमें अधिकसे अधिक चौदह सागर प्रमाण आयु कही है ॥५६॥

शुक्र, महाशुक्र स्वर्गोंमें ऐसी ही (उत्कृष्ट) अवस्थाका प्रमाण सोलह सागर है, अष्टम कल्प शतार तथा सहस्रारमें

१. म °कल्पाद्वि° ।

एकैकवृद्धिर्नवसु क्रमेण ग्रैवेयकेषु क्षितिपोपदिष्टा ।
सर्वार्थसिद्धेः खलु लोकमूर्ध्नि त्रिंशस्त्रयश्चैव समुद्रसंख्याः ॥ ५८ ॥
त्रिशून्यपूर्वास्तु दशैव वर्षा जघन्यतस्ते भवनेषु तेषु ।
तथैव ते व्यन्तरदेववर्गे परावरज्ञाः परिमाणमाहुः ॥ ५९ ॥
ज्योतिष्मति ज्योतिषदेवलोके पल्योपमस्याष्टमभागमाहुः ।
एकं च पल्यं प्रथमे च कल्पे उत्कृष्टमेवोपरि तज्जघन्यम् ॥ ६० ॥
इत्येवं सुरनिलयांश्चतुष्प्रभेदानादित्यस्फुरितमयूखजालभासः ।
सद्धर्मप्रभवसुखाश्रयान्विचित्रान्संक्षेपाद्यतिपतिरेवमाचचक्षे ॥ ६१ ॥

उत्तम आयु अठारह सागर है, इसके ऊपर आनत-प्राणत कल्पोंमें बीस सागर है तथा आरण और अच्युत नामके स्वर्गोंमें बाईस सागर प्रमाण है ॥ ५७ ॥

हे पृथ्वीपालक ? इसके ऊपर प्रत्येक ग्रैवेयकमें क्रमशः एक-एक सागर आयु बढ़ती जाती है अर्थात् अन्तिम ग्रैवेयकमें उत्कृष्ट आयुका प्रमाण इकतीस सागर गिनाया है, विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित कल्पोंमें बत्तीस सागर है तथा लोकके शिखरपर स्थित सर्वार्थसिद्धि विमानमें उत्पन्न देवोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण तैंतीस सागर है ॥ ५८ ॥

जघन्य आयु

पूर्वोक्त भवनवासी देवोंकी जघन्य आयुका प्रमाण (तीन शून्योंके पहिले दश वर्ष (१०,०००) लिखनेसे) अर्थात् उनकी जघन्य आयु दश हजार वर्ष है। उत्कृष्ट और जघन्य आयुके प्रमाणके विशेषज्ञोंने इसी प्रकार व्यन्तरों की भी जघन्य आयुको गिनाया है, अर्थात् दश हजार वर्ष बताया है ॥ ५९ ॥

जाज्वल्यमान उद्योतके पुंज ज्योतिषी देवोंके लोकमें उत्पन्न हुये देवोंकी कमसे कम अवस्थाका प्रमाण एक पल्यका आठवाँ भाग होता है। प्रथम सौधर्म और ऐशान कल्पमें जघन्य आयुका प्रमाण एक पल्य है इसके आगे पहिलेकी उत्कृष्ट आयु ही उसके अगले कल्पमें जघन्य हो जाती है। यथा-सौधर्म-ऐशानकल्पकी उत्कृष्ट आयु दो सागर हो सानत्कुमार-माहेन्द्रकल्पमें जघन्य हो जाती है ॥ ६० ॥

मुनियोंके अग्रणी श्रीवरदत्तकेवलीने समीचीन धर्मके पालन करनेसे प्राप्त होनेवाले सुखोंके स्थान तथा अपनी छटाके द्वारा सूर्यके किरण जालके समान चारों प्रकारके देवलोकोंका उक्त प्रकारसे अत्यन्त संक्षेपमें वर्णन किया था ॥ ६१ ॥

१. [त्रिंशत्त्रय°] ।

देवानां सुकृतफलान्यथाभिधाय सिद्धानां त्रिभुवनमस्तकस्थितानाम् ।
तत्सौख्यं परमपदे च शाश्वतं यत्प्रारेभे क्षितिपतयेऽभिधातुमीशः ॥ ६२½॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
देवलोकवर्णनो नाम नवमः सर्गः ।

पुण्यके परिपाक होनेपर स्वयं समागत स्वर्गीय सुखोंका व्याख्यान करनेके उपरान्त, तीनों लोकोंके ऊपर विराजमान, मोक्ष महापदको प्राप्त तथा अनन्तकाल पर्यन्त स्थायी अतीन्द्रिय सुखों स्वरूप सिद्धोंका स्वरूप राजा धर्मसेनको समझानेकी इच्छासे केवली प्रभुने मोक्षके विषयमें कहना प्रारम्भ किया था ॥ ६२ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरितनामक धर्मकथामें
देवलोक वर्णन नाम नवम सर्ग समाप्त ।

दशमः सर्गः

ऐकान्तिकात्यन्तिकनित्ययुक्तं[1] कर्मक्षयोद्भूतमनन्तसौख्यम् ।
शृणु त्वमेकाग्रमना नरेन्द्र समासतो मोक्षमुदाहरिष्ये ॥ १ ॥
सर्वार्थसिद्धेस्तु विशालकीर्तेर्गत्वोपरि द्वादश योजनानि ।
प्राग्भारभूमिर्नरलोकमात्रा श्वेतातपत्राकृतिरुद्विभाति[2] ॥ २ ॥
बाहुल्यमष्टौ किल योजनानि मध्यप्रदेशे नरदेव विद्धि ।
अङ्गुल्यसंख्येयविभागतोऽन्ते प्रहीयते सा खलु सर्वदिग्भ्यः ॥ ३ ॥
संख्यानतस्तत्त्रिगुणाधिकश्च तस्याः परिक्षेपविभाग उक्तः ।
यत्रासतेऽनिन्द्रियसौख्ययुक्ताः सिद्धा विशुद्धा इति शब्दमानाः ॥ ४ ॥

दशम सर्ग

ज्ञानावरणी आदि आठों कर्मोंका सांगोपांग क्षय हो जानेसे प्रकट हुआ अनन्त सुख ऐकान्तिक (अद्वितीय) है उसमें कभी भी दुःख लेशका समावेश नहीं होता है, वह सुखकी चरमसीमा और परम विकास है तथा वह अपने पूर्णरूपमें सदा ही विद्यमान रहता है। अतएव हे नरेन्द्र ! आप इसे ध्यान लगाकर सुनिये मैं संक्षेपसे कहता हूँ ॥ १ ॥

मोक्ष स्थान

जिस सर्वार्थसिद्धि विमानकी कीर्तिको आगम में विस्तारपूर्वक गाया है, उसके भी ऊपर बारह योजन जाकर 'प्राग्भार' नामकी भूमि है जिसका व्यास तथा परिधि मनुष्यलोक (ढाई द्वीप प्रमाण) के समान है। उसका आकार भी दुग्ध-धवल छातेके समान है ॥ २ ॥

हे नरदेव ! इस प्राग्भार पृथ्वीकी मोटायी मध्यमें आठ योजन प्रमाण समझिये, इसके बाद मध्य या केन्द्रसे आरम्भ करके सब दिशाओंकी ओर उसकी मोटायी घटती गयी है और अन्तमें अंगुलके असंख्येय भागसे भी कम रह गयी है ॥ ३ ॥

गणित शास्त्रकी विधिके अनुसार उसकी परिधिका विस्तार उसके व्यास (ढाई द्वीपके व्यास) के तिगुनेसे भी कुछ अधिक है ऐसा लोकविभाग प्रकरणमें कहा है। इस क्षेत्रके ऊपर ही सिद्धलोग विराजते हैं जो कर्ममलसे रहित हैं तथा अतीन्द्रिय सुखके भण्डार हैं अतएव वे 'विशुद्ध सिद्ध' शब्दसे पुकारे जाते हैं ॥ ४ ॥

---

१. [°नित्यमुक्तं]। २. [°विभाति]।

पूतं च पुण्यं सुगतिप्रधानं कल्याणकं मङ्गलमुत्तमं च ।
लोकोत्तमं तत्परमं पवित्रं परं शुभं शाश्वतमव्ययं च ॥ ५ ॥
अनामयं क्लेशजराविहीनमदैन्यमव्याकुलमप्रमेयम् ।
अनिन्द्यमक्षोभ्यमपारमग्र्यं सुखास्पदं तुष्टिकपुष्टिकं च ॥ ६ ॥
अचञ्चलं रागविरागवर्ज्यमभेद्यमद्रोहमबाधसंगम् ।
अपात्यमक्षीणमतुल्यमुद्धमनभ्यसूयं श्रवणीयमेव ॥ ७ ॥
अशङ्कमित्रं[1] ह्यविनाश्यशङ्कं निर्हेतुकं निर्वृति निष्कषायम् ।
अवस्थितं योगवियोगहीनमलेश्यमक्षुत्तृषमप्रचिन्त्यम् ॥ ८ ॥

मोक्ष माहात्म्य

यह सिद्धलोक स्वयं पवित्र है, पुण्य कर्मों द्वारा प्राप्य है, शुभगतियोंका मुकुटमणि है, कल्याण अवस्थाका प्रतीक है, सर्वश्रेष्ठ तथा शुभ ही शुभ है। हमारी व्याख्यानशैली अथवा शब्दनयके अनुसार वह उत्तम लोक है, संसारके समस्त पदार्थोंसे अत्यधिक पवित्र है, चरम श्रेय है, सतत स्थायी है और कभी नष्ट नहीं होता है ॥ ५ ॥

व्यतिरेक दृष्टिसे देखनेपर वह समस्त रोगोंसे परे हैं, क्लेश, बुढ़ापा आदिका वहाँ प्रवेश नहीं है, दीनता वहाँसे बहुत दूर है, आकुलताका अभाव है, उसके परिमाणका अनुमान करते समय प्रमाणकी प्रगति रुक जाती है, निन्दा उसकी हो ही नहीं सकती, क्षोभकी वहाँ कल्पना भी शक्य नहीं है, वह सीमाओंमें नहीं समाता है, सबका अग्रणी है, आत्माके स्वाभाविक सुखका भण्डार है तथा जीवके शुद्ध स्वरूपका तोषक और पोषक है ॥ ६ ॥

चंचलताका वहाँ संचार नहीं है, राग-विरागसे रहित है, उसके खण्ड नहीं हो सकते, वहाँ द्रोह-विद्रोहका पूर्ण अभाव है, बाधाओंके समागमकी सम्भावना भी नहीं है। उसे गिराया नहीं जा सकता, गलता भी नहीं है, उसका उपमान खोजना अशक्य है। वह भासमान है, अभ्यसूयासे परे है, हर प्रकार श्रवण और मनन योग्य है ॥ ७ ॥

शत्रु-मित्रके विभागसे रहित है, विनाश और शंकाकी संभावना भी नहीं है, किसी हेतुसे उत्पन्न नहीं है, समस्त प्रवृत्तियाँ और कषायोंसे कलुषित नहीं है, वृद्धि-हानिसे हीन है, योग-वियोगसे सर्वथा दूर है, कृष्ण आदि लेश्या, क्षुधा-तृषासे अछूता है तथा कल्पनाके भी परे है ॥ ८ ॥

---

१. [अशत्रुमित्रं]।

अभेद्यमच्छेद्यमना[1]हृदाहमदुःखमद्वेष्यमुदारसौख्यम् ।
अनन्त्यमग्राह्यमजात्यमृत्युं सुनिर्मलं तद्धचपुनर्भवं च ॥ ९ ॥
अभव्यसत्त्वैर्मनसाप्यगम्यं गम्यं पुनर्भव्यजनैः सुखेन ।
महामुनीनामभिकाङ्क्षणीयं शिवालयं मोक्षमुदाहरन्ति ॥ १० ॥
काङ्क्षन्ति शक्रप्रमुखा नरेन्द्रा नराः प्रशंसन्ति च शुद्धिमन्तः ।
पाषण्डिनो यं हि परीक्षयन्ति ये तत्र गच्छन्त्यथ तान्प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥
क्षमाविभूषाः पृथुशीलवस्त्रा गुणावतंसा दममाल्यलीलाः ।
निर्ग्रन्थशूरा धृतिबद्धकक्षास्ते मोक्षमक्षीणमभिव्रजन्ति ॥ १२ ॥
आ जीवितान्ताद्दृढबद्धसत्त्वा गृहीतयोगव्रतभूरिसाराः ।
ये शीलभारं निरवद्यरूपं सुदुर्धरं बिभ्रति भक्तिभाजः ॥ १३ ॥

उसका छेदन-भेदन नहीं हो सकता, न वहाँ दिन है और न दिनका आतप ही है, दुःख और द्वेषसे कोशों दूर है, विशालतम सुखोंकी भी वहाँ कोई गिनती नहीं है, न उसका अन्त है। वह इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण भी नहीं किया जा सकता है, जन्म-मरणसे परे है, अत्यन्त निर्मल है तथा वहाँ पहुँचनेपर फिर जन्मग्रहण नहीं करना पड़ता है ॥ ९ ॥

भव्य जीवोंके द्वारा वह बिना आयासके ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु अभव्यजीव मनसे उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते साक्षात् गमनकी तो बात ही क्या है ? श्रेष्ठसे श्रेष्ठ उग्र तपस्वी यतिराज भी जिसे पानेकी अभिलाषा करते हैं उसे ही शिवालय (कल्याणोंका घर) या मोक्ष कहते हैं ॥ १० ॥

इन्द्र आदि प्रधान देव तथा चक्रवर्ती आदि प्रधान राजा भी उसको आकांक्षा करते हैं, अन्तरंग बहिरंग शुद्धियुक्त श्रेष्ठ पुरुष भी उसका गुणगान करते हैं तथा संसारके समस्त पाखण्डी (दार्शनिक) जिसकी तर्ककी कसौटीपर कसके परीक्षा (युक्तियों द्वारा सिद्ध) करते हैं। अब जो जीव उसे प्राप्त करते हैं उनका वर्णन करता हूँ ॥ ११ ॥

मोक्ष गामी

क्षमा ही जिनका प्रधान अलंकार है, विपुल (उत्तम) चरित्र ही जिनका वस्त्र है, शान्ति आदि गुण ही जिनका मुकुट हैं, इन्द्रिय-मनका दमन ही जिनकी सुन्दर माला है, तथा धैर्यरूपी कांछ जिन्होंने बाँध ली है ऐसे दिगम्बर मुनिरूपी वीर ही मनुष्य जीवनकी समाधिपर अनन्तकाल पर्यन्त स्थायी मोक्षको गमन करते हैं ॥ १२ ॥

जीवनका अन्त उपस्थित होनेपर भी जिनकी सामर्थ्य और दृढ़ता बिखरती नहीं है, अनेक प्रकारके योगों और समस्त

१. क °मनंहदाह° ।

पिधाय पापास्रवमिन्द्रियाणां सुसंयता गुप्तिमहाकपाटैः ।
तपोऽग्निना संचितकर्मकक्षं दहन्त्यशेषं हि शमार्चिषा ये ॥ १४ ॥
अतन्द्रिताः संपरिगृह्य योगं जिनेन्द्रवक्त्राभिविनिस्मृतार्थम्[1] ।
ये द्वादशाङ्गं हि तदङ्गपूर्वमधीयते ये गणदेवदृष्टम् ॥ १५ ॥
आर्तं च रौद्रं प्रविहाय धीरा धर्म्यं तथा शुक्लमपि प्रशस्तम् ।
शुभान्वितं ध्यानमनन्तभेदं ध्यायन्ति ये ध्यानरता विनीताः ॥ १६ ॥
लोष्टेष्टकाकाञ्चनवज्रसारे मानापमाने स्वजने जने वा ।
लाभे त्वलाभे सुखदुःखयोर्वा समानभावाः शिवमाप्नुवन्ति ॥ १७ ॥
अभ्यन्तरं बाह्यमपि प्रशस्तं द्विषट्प्रकारं हि तपोविधानम् ।
चरन्ति ये कर्मविनाशनाय ते सर्व एवाक्षयमोक्षभाजः ॥ १८ ॥

व्रतोंके विशाल सारको जो खींचकर आत्मसात् कर लेते हैं, जो अडिग भक्तिपूर्वक निर्दोष तथा परिपूर्ण शीलके उस भारको वहन करते हैं जिसे थोड़ी दूर ले जाना भी अतिकठिन है ॥ १३ ॥

जो परमसंयमी त्रिगुप्तिरूपी विशाल किवाड़ोंको इन्द्रियोंरूपी द्वारोंपर लगाकर पाप कर्मोंके आस्रवको रोक देते हैं तथा पहिलेसे संचित कर्मोंरूपी गहन वनको तपरूपी अग्निकी समभावरूपी ज्वालाके द्वारा समूल भस्म कर देते हैं ॥ १४ ॥

आसनादि योग लगानेपर जो आलसको दूर भगा देते हैं, साक्षात् श्री एकहजार आठ तीर्थंकर केवलीके मुखसे विनिर्गत तथा गणधर स्वामी द्वारा गृहीत द्वादश-अंगरूप आगमको जो चौदह पूर्वों सहित मनन करते हैं ॥ १५ ॥

जो ध्यानवीर आर्त्त और रौद्र अशुभ ध्यानोंको छोड़कर शुभ धर्म और शुक्ल ध्यानमें ही लवलीन रहते हैं तथा अत्यन्त विनम्रताके साथ अनन्त प्रकारके शुभ भाव तथा ध्येययुक्त ध्यानोंको ही लगाते हैं ॥ १६ ॥

पत्थर-ईंटमें तथा सोनेमें, वज्रके समान सारमय पदार्थमें, आदर निरादरमें, अपने सगे सम्बन्धियों तथा जनसाधारणमें, लाभ और हानिमें, सुख तथा दुःखमें जिन योगियोंके समभाव रहते हैं वे मोक्ष लक्ष्मीका वरण करते हैं ॥ १७ ॥

मोक्षसाधक तप

कर्मोंको समूल नष्ट करनेके लिए जो महर्षि अनशन, अवमौदर्य, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन

---

१. [°निस्मृतार्थम्]।

क्रोधादयोऽभ्यन्तरशल्यदोषा बाह्याश्च योषिद्धनवाहनाद्याः ।
त्यक्ताश्च[1] यैर्निर्जितमोहसेना तेषां ध्रुवं मोक्षमुदाहरन्ति ॥ १९ ॥
यथोदयादुत्थितबालसूर्यो दिने च[2] तस्मिन्परिवर्तते सः ।
तथैव संपूर्णतपोविधाना अखण्डवृत्ताः परमाश्रयन्ति ॥ २० ॥
कषायशाखं स्थिरमोहमूलमज्ञानपुष्पं बहुदुःखपाकम् ।
प्रज्ञाबलाः कर्मतरुं प्रभज्य मुनिद्विषास्तत्र सुखं वसन्ति ॥ २१ ॥
मोहक्षयाज्ज्ञानदृतिक्षयाच्च दृष्टेश्चावृतेः संक्षयतः क्रमेण ।
तथान्तरायक्षयतश्च सर्वान् कैवल्यमुत्पाद्य विदन्ति भावान् ॥ २२ ॥

तथा कायक्लेश इन छह प्रकारके बाह्य तपों तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान इन छह प्रकारके अन्तरंग तपोंको सदा करते हैं वे निश्चयसे अक्षय मोक्षपदको पाते हैं ॥ १८ ॥

क्रोध आदि अभ्यन्तर शल्योंको तथा स्त्री, धन, वाहन आदि बाह्य शल्योंके दोषोंको जिन्होंने 'मनसा वाचा कर्मणा' छोड़ दिया है तथा मोहरूपी महाशत्रुकी कषायादि बहुल महासेनाको पूर्णरूपसे पराजित कर दिया है उनके लिये मोक्षप्राप्ति ध्रुव है ॥ १९ ॥

उदयाचल से उदित होकर तथा मध्याह्नको तप करके उसी दिनके भीतर ही फिर बदलकर जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रारम्भिक प्रकृतिको प्राप्त होता है उसी प्रकार समस्त तपस्याके विविध विधानोंको पूर्ण करके भी सम्यक्चारित्रकी निर्दोषताके रक्षक महामुनि आत्माकी परम स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त करते हैं ॥ २० ॥

विवेकरूपी महाशक्तिसे सम्पन्न मुनिरूपी मदोन्मत्त गज अनादिकालसे बँधे (सुस्थिर) मोहरूपी जड़ोंपर खड़े, कषाय-रूपी शाखायुक्त, अज्ञान कुज्ञानरूपी फूलोंसे पूर्ण तथा दुःखरूपी पके फलोंसे लदे कर्मरूपी विषवृक्षको उखाड़ कर फेंक देते हैं तथा मोक्षमें सहज सुखमय जीवन बिताते हैं ॥ २१ ॥

कर्म-क्षय क्रम

मोहनीय कर्मके नष्ट होनेसे ज्ञानके रोधक ज्ञानावरणी कर्मका नाश होनेपर, दर्शनावरणीके सर्वथा लुप्त हो जानेके कारण तथा क्रमशः अन्तराय कर्मके गल जानेपर यह आत्मा केवलज्ञानको प्रकट करता है तब समस्त द्रव्योंको उनकी पर्यायोंके साथ जानता है ॥ २२ ॥

---

१. क रिक्ताश्च । २. क दिनेन ।

गोत्रायुषी नाम च वेदनीयं चत्वारि तान्यप्रतिवीर्यवन्ति ।
कर्माणि संचूर्ण्य विधूतदोषा लोकोत्तरेऽनन्तसुखं लभन्ते ॥ २३ ॥
तुम्बीफलं मृत्प्रविलेपमुक्तं यथोदकस्योपरि तिष्ठतोह ।
कृतो तथा कर्मविलेपमुक्तस्त्रिलोकमूर्धानमुपैति सद्यः ॥ २४ ॥
यथैव बीजं हुतभुक्प्रतप्तं न कल्पते तत्पुनरङ्कुराय ।
तपोऽग्निभस्मीकृतकर्मबीजं तथैव नालं पुनरुद्भवाय ॥ २५ ॥
तालद्रुमश्च प्रतिलूनमूर्धा नासंभवादङ्कुरमादधाति ।
स्नेहक्षयादर्चिरुपैति शान्तिं तथैव कर्मक्षयतस्तु सौख्यम् ॥ २६ ॥
यथैव लोके नलवर्तितैलं प्रभातकाले युगपत्प्रयाति ।
तथैव कर्माणि समानि येषां ते निर्वृतिं तत्क्षणतो व्रजन्ति ॥ २७ ॥

गोत्रकर्म, नामकर्म, वेदनीयकर्म तथा आयुकर्म इन अनुपम शक्तिशाली चारों अघातिया पापकर्मोंको भी आत्मशक्तिके प्रहारसे चकनाचूर करके समस्त दोषोंको हवा कर देता है। अन्तमें यह आत्मा इस संसारके परेके अतीन्द्रिय सुखको प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

मुक्तजीवका ऊर्ध्वगमन

मिट्टीका लेप लगाकर जलमें फेंका गया तुम्बीफल लेप गल जानेपर जिस प्रकार तुरन्त ही पानीके ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार तपस्या करके कर्मबन्धको नष्ट करनेमें सफल जीव भी संसारसे मुक्त होकर तीनों लोकोंके मस्तक समान प्राग्भार पृथ्वीपर सीधे चले जाते हैं ॥ २४ ॥

आगके ऊपर तपाया गया अथवा आगकी लपटोंसे झुलसा हुआ बीज उर्वराभूमिमें बोये जानेपर भी जिस प्रकार अंकुरको उत्पन्न नहीं करता है उसी प्रकार उग्र तपरूपी ज्वालासे झुलसा गया कर्मरूपी बीज फिर कभी भी पुनर्जन्मरूपी अंकुरको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता है ॥ २५ ॥

यदि तालवृक्षके ऊपरके पत्ते एक बार पूरे काट दिये जाँय तो उसमें नूतन अंकुरकी उत्पत्ति असम्भव हो जाती है फलतः उसमें फिर डालपात नहीं ही आते हैं यही अवस्था एक बार पूर्णरूपसे क्षय हुए कर्मोंकी है। स्वाभाविक सुखादिको आत्मा उसी तरह प्राप्त होता है जिस प्रकार तैलके नष्ट हो जानेपर दीपककी लौ शान्त हो जाती है ॥ २६ ॥

दीपककी वर्ती या नलीमें चढ़नेवाला तेल जैसे प्रभात समयमें अकस्मात् समाप्त हो जाता है और दीपक शान्त हो

केचित्समुद्घातमुपैतुकामा[1] आत्मप्रदेशात्समयैश्चतुर्भिः ।
लोकत्रयं व्याप्य समी[2]प्रकृत्य कर्माणि निर्वान्ति विनष्टबन्धाः ॥ २८ ॥
एकाधिकास्त्वष्टशतान्तसंख्याः सिध्यन्ति सिद्धाः समयेन राजन् ।
जघन्यकालः समयस्त्वथैकः[3] षडेव मासा यदि सोऽधिकः स्यात् ॥ २९ ॥
आरोहकाः षट् समये जिनेन्द्राः प्रत्येकबुद्धान्दशधा वदन्ति ।
बोध्यान्पुनस्त्वष्टशतप्रसंख्यान् स्वर्गच्युतास्तेऽष्टशता भवन्ति ॥ ३० ॥
द्वावेव सोत्कर्षशरीरसंस्थौ ह्रस्वान्पुनस्तांश्चतुरो वदन्ति ।
मध्या तथाष्टौ समये प्रसिद्धाः समानदेहाः सुगतिं प्रयान्ति ॥ ३१ ॥

जाता है, उसी प्रकार जिन जीवोंके अघातियाकर्म एक ही अनुपातमें शेष रह जाते हैं, वे सब जीवनके अन्तिम क्षणमें एक साथ समाप्त हो जाते हैं और जीव शुद्ध स्वरूपको पा जाता है ॥ २७ ॥

समुद्घात

जिन जीवोंके शेष आयुकर्म तथा अन्य कर्मोंमें विषमता होती है वे समुद्घात करनेके प्रयोजनसे अपने आत्म प्रदेशोंको चार समयके भीतर ही सारे लोकमें फैला देते हैं। इस प्रकार अन्य कर्मोंकी स्थिति भी आयुकर्मके अनुपातमें हो जाती है। फलतः वे अन्त समयमें सब कर्मोंको नष्ट करके निर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥

निर्वाण संख्या

हे राजन् ! किसी भी एक समयमें इस संसारसे यदि अधिकसे अधिक जीव मुक्ति पावें तो उनकी संख्या आठ अधिक एक सौ अर्थात् एक सौ आठ ही होगी। इस संसारके जीवोंको मुक्ति जानेमें कमसे कम अन्तराल एक 'समय' पड़ता है और यदि अधिकसे अधिक लगा तो छह महीना भी हो सकता है ॥ २९ ॥

एक समयमें अधिकसे अधिक छह तीर्थंकर क्षपकश्रेणी चढ़ सकते हैं। इसी प्रकार यदि 'प्रत्येकबुद्ध' केवल एक साथ श्रेणी आरोहण करें तो एक समयमें उनकी संख्या दशसे अधिक न होगी। तथा बोधित-बुद्ध क्षपकश्रेणी आरोहकोंकी संख्या भी एक समयमें एक साथ श्रेण्यारोहणकी दृष्टिसे एक सौ आठसे अधिक न होगी क्योंकि इस प्रकारके चरम-शरीरी जीव स्वर्गसे एक समयमें अधिकसे अधिक एक सौ आठ ही च्यवन (आ सकते) करते हैं ॥ ३० ॥

सोत्कर्ष शरीर धारी अधिकसे अधिक दो ही एक समयमें सिद्ध हो सकते हैं तथा जिनके शरीर उत्कर्षादिसे हीन हैं ऐसे

---

१. म °समुद्घ°। २. [समं प्रकृत्य]। ३. क समयस्तथैकः।

यथैव ताड्यङ्घ्रिपबीजमोक्ष एरण्डबीजप्रविसर्जनं वा ।
वह्नेः शिखा चोर्ध्वमतोनि[1] तानि तथैव चात्मोर्ध्वगतिस्वभावः ॥ ३२ ॥
असंगता[2] त्पूर्वनियोगतश्च बन्धप्रणाशाद्गमनस्वभावात् ।
विनष्टकर्माष्टकलब्धसौख्या लोकान्तमाश्रित्य वसन्ति सिद्धाः ॥ ३३ ॥
शब्दादयो ये सुखदुःखमूला नश्यन्ति यस्मान्नृपते शरीरात् ।
तदाकृतिस्तत्परिमाणमात्राच्छायावदाभाति च सर्वकालम् ॥ ३४ ॥
यथा मधूच्छिष्टकृतं तु छिद्रं चाश्रित्य[3] मूषापतितं सुवर्णम् ।
समं तदङ्गावयवानुपैति तथैव पूर्वाकृतिरेव तत्र ॥ ३५ ॥

एक समयमें मुक्त होनेवाले मानवोंकी संख्या चार ही कही गयी है, मध्यम उत्कर्षयुक्त शरीरधारियों अथवा सामान्य देह युक्त जीवोंके विषयमें यही प्रसिद्ध है कि एक समयमें अधिकसे अधिक आठ ही उनमेंसे सुगति (मुक्ति) को प्राप्त करते हैं ॥ ३१ ॥

मुक्ति-उदाहरण

जिस प्रकार ताड़ी वृक्षके बीज परिपाकके पूर्ण होते ही बन्धन मुक्त हो इधर-उधरको उचट जाते हैं, अथवा जैसे अरण्डके बीजोंके आवरणके फटते ही वे चिटक कर ऊपर चले जाते हैं, अथवा जलती आगकी ज्वालाओंकी जैसी ऊपरको गति होती हैं उसी प्रकार बन्धन मुक्त जोवका गमन भी ऊपरकी ओर होता है ॥ ३२ ॥

अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहके छूट जानेसे, शुद्ध प्रकृति होनेके कारण, कर्मोंके निखिल बन्धनोंके नष्ट हो जानेके कारण तथा ऊर्ध्व-गमन स्वभाव होनेके कारण आठों कर्मोंके समूल क्षय होने पर उदित अतीन्द्रिय अनन्त सुखका स्वामी होकर सिद्धजीव लोकके ऊपर पहुँचकर सिद्धशिला (प्राग्भार) पर ही ठहरता है ॥ ३३ ॥

मुक्त-आकार

हे भूपते ! सुखों और दुःखोंके प्रधान हेतु शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि शरीरमेंसे विलीन हो जाते हैं फलतः शरीरका पौद्गलिक (स्थूल) रूप नष्ट हो जाता है, फलतः उसी उत्सेध आदिके मापका सूक्ष्म आकार मात्र शेष रह जाता है, जो कि मुक्ति पानेके बाद सदा ही प्रतिबिम्बके समान शोभित होता है ॥ ३४ ॥

मधु मक्खियोंके छिद्रोंमें वमन किया गया मधु जिस प्रकार छिद्रका आकार धारण कर लेता है, अथवा साँचे में ढाला गया सोना जिस प्रकार उसके आकारको ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार मुक्त जीव भी अपनी पहिलेकी आकृतिको उसके आंगोपांगके आकारके साथ केवल छाया रूपसे धारण करता है ॥ ३५ ॥

१. [°ध्वंगतीनि] । २. क असंगताः । ३. क तु चिन्वं नाश्रित्य ।

आदित्यचन्द्रग्रहतारकाश्च विमाननक्षत्रगणप्रमाणाः ।
यथैव तिष्ठन्ति नभस्तलेऽस्मिंस्तिष्ठन्त्यनाश्रित्य तथैव सिद्धाः ॥ ३६ ॥
विभाति सूर्यस्तु यथाभ्रमुक्तो यथैव खड्गश्च विमुक्तकोशः ।
यथा शिलागर्भविमुक्तहेम कृती तथा कर्मरजोविहीनः ॥ ३७ ॥
दीपाश्च दीपाश्च यथैव गेहे नान्योन्यबाधां जनयन्ति भान्तः ।
परस्परावाधनविप्रमुक्तास्तथैव सिद्धा निवसन्ति तस्मिन् ॥ ३८ ॥
अनेकदीपावलिभासमूहः संतिष्ठतेऽन्योन्यमबाधमानः ।
एवंगुणो रूपिषु विद्यते चेदरूपिणां तत्र किमस्ति वाच्यम् ॥ ३९ ॥
ज्योत्स्नातपौ तौ शशिनो रवेश्च मणेश्च दीप्तिर्गुणिनां गुणा हि ।
सद्दृष्टिसज्ज्ञानगुणैर्विशिष्टैः कर्मक्षयादात्मनि संभवेताम्[1] ॥ ४० ॥

मुक्तोंकी स्थिति

सूर्य, चन्द्रमा, तारका, ग्रह, नक्षत्र आदिके विमानोंकी एक बड़ी भारी संख्या जिस प्रकार इस आकाशमें बिना किसी आधारके स्थित है उसी प्रकार मुक्त जीव भी किसी अन्य पदार्थका सहारा लिये बिना ही आधार रूपसे इस आकाशमें विराजमान हैं ॥ ३६ ॥

बादलोंको चीर कर ऊपर आया सूर्य जिस प्रकार चमकता है, म्यानसे बाहर खींची गयी प्रखर तलवार जैसी चमचमाती है, मिट्टी तथा पत्थरोंके बीचमेंसे निकालकर शुद्ध किया गया सोना जैसा अनुपम आभासे भासित होता है उसी प्रकार कर्मरूपी शत्रुओंकी विजयमें कृतकृत्य जीव भी कर्ममैलसे मुक्त होकर शोभता है ॥ ३७ ॥

यदि एक ही गृहमें अनेक दीपक जलाये जायें तो उन सबका प्रकाश जिस तरह एक दूसरेको नहीं रोकता है इसी तरह अनन्त सिद्ध जीव सिद्ध लोकमें रहते हैं पर किसी प्रकारसे आपसमें एक दूसरे से टकराते नहीं हैं ॥ ३८ ॥

एक साथ अनेक दीप पंक्तियोंको प्रज्वलित करने पर उनका प्रकाशपुञ्ज आपसमें बिना टकराये ही अन्धकार दूर करता है। यदि रूपी प्रकाश (क्योंकि प्रकाश की पौद्गलिक है) में ऐसी विशेषता है तो अरूपी सिद्ध जीवोंकी तो कहना ही क्या है ॥ ३९ ॥

सिद्ध स्वरूप

सूर्यका प्रखर आतप-उद्योत, चन्द्रमाकी हृदयहारिणी तथा नेत्रसुधा समान चन्द्रिका, अन्य अनेक प्रकारके मणियोंकी

---

१. [संभवेयुः] ।

व्यवस्थितानेव शशाङ्कसूर्यौ स्वान्स्वान्प्रदेशानवभासयेते ।
लोकं ह्यलोकं युगपत्समस्तं ते ज्ञानभासा प्रतिभासयन्ति ॥ ४१ ॥
सम्यक्त्वसज्ज्ञानचरित्रवीर्या निर्बाधता चाप्यवगाहनं च ।
अगौरवालाघवसूक्ष्मता च सिद्धेष्वथाष्टौ हि गुणा विशिष्टाः ॥ ४२ ॥
मध्वक्ततीक्ष्णास्यवलेहनेन समानमुक्तं सुखमिन्द्रियाणाम् ।
दशाङ्गभोगप्रभवं सुखं यद्विषाक्तमृष्टाशनभुक्तितुल्यम् ॥ ४३ ॥
सुरेश्वराणामसकृद्दृतीनां मनोज्ञनानातनुविक्रियाणाम् ।
यदिन्द्रियार्थप्रभवं हि सौख्यं दग्धव्रणे चन्दनलेपतुल्यम् ॥ ४४ ॥
विच्छिन्नकर्माष्टकबन्धनानां त्रिलोकचूडामणिधिष्ठितानाम् ।
न चास्ति राजन्नुपमा सुखस्य तथापि किंचिच्छृणु संप्रवक्ष्ये ॥ ४५ ॥

दीप्ति तथा गुणियोंके समस्त असाधारण गुण भी, लोकोत्तर सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, आदि गुणोंके द्वारा कर्मोंका क्षय हो जाने पर प्रकट हुए आत्माके शुद्ध स्वरूप सामने न जाने आसानी से कहाँ छिप जाते हैं ॥ ४० ॥

चन्द्रमा और सूर्य उपयुक्त आकारमें व्यवस्थित; अपने-अपने प्रदेशोंको ही प्रकाशित करते हैं किन्तु ज्ञानको पदार्थों के ज्योतिसे भासमान सिद्ध जीव एक ही साथ लोक और अलोकमें स्थित समस्त पदार्थोंको स्पष्ट रूपसे प्रकट कर देते हैं ॥ ४१ ॥

सम्यक्त्व, (अनन्त दर्शन) सम्यक्ज्ञान, (अनन्त ज्ञान) सम्यक्चारित्र (अनन्त सुख) वीर्य (अनन्त शक्ति) निर्बाधता, (किसी वस्तुसे न रुकना और न अन्य किसीको रोकना) अवगाहना, (शरार की छाया) अगुरुलघु (गौरव और लघुतासे हीनता) तथा सूक्ष्म ये आठ लोकोत्तर गुण सिद्धोंमें होते हैं ।

संसार-मुक्त सुख तुलना

इन्द्रियोंके द्वारा पदार्थोंका भोग करनेसे जो सुख प्राप्त होता है उसकी तुलना मधुसे लिपटी तलवारके चाटनेके साथ की जाती है । दश प्रकारके कल्पवृक्षोंके कारण भोगभूमिमें जो ऐकान्तिक सुख प्राप्त होते हैं उन्हें भी विष मिले मधुर पक्वान्नोंके भोजनके समान आचार्योंने कहा है ॥ ४३ ॥

विकिया ऋद्धिके द्वारा मन चाहे शरीर धारण करनेमें जो आनन्द आता है, सतत सर्वदा स्थायी कान्ति और दीप्तिके अधिपति इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवोंके सुख भोग तथा अन्य समस्त भोगोंको इन्द्रियों द्वारा भोगनेमें जो रस आता है वह भी वैसा है जैसा कि जलनेसे हुए घाव पर चन्दनका लेप ॥ ४४ ॥

किन्तु अनादिकालसे बँधे आठों कर्मोंके बन्धनोंको खण्ड-खण्ड कर देनेके कारण तीनों लोकोंके चूडामणिके समान उन्नत

तिर्यग्भ्य उत्कृष्टसुखा नराश्च तेभ्यो नरेभ्यः सुखिनो नरेन्द्राः ।
तेभ्योऽधिका भोगभुवो मनुष्याः सिद्धास्ततोऽनन्तसुखा भवन्ति ॥ ४६ ॥
ज्योतिर्गणा व्यन्तरदेवताभ्यस्तेभ्योऽधिकास्ते भवनाधिवासाः ।
सौधर्मजाताः सुखिनस्तु तेभ्यस्तेभ्यश्च तत्सौख्यतमास्ततोर्ध्वम् ॥ ४७ ॥
ग्रैवेयकाद्याः सुखिनस्तु तेभ्यस्तेभ्यौ विशिष्टा विजयेश्वराद्याः ।
तेभ्यस्तु सिद्धार्थनिवासिदेवास्तेभ्योऽतुलात्यन्तसुखास्तु सिद्धाः ॥ ४८ ॥
किमम्बरैः रागविवर्जितानां किं भोजनैः संशमितक्षुधानाम् ।
जलेन वा किं त्वपिपासितानां किमौषधैः कार्यमरोगिणां च ॥ ४९ ॥

स्थान पर जा कर विराजनेवाले सिद्ध जीवोंके अतीन्द्रिय सुखकी हे राजन् ! कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती है। उस सुखके विषयमें मैं कुछ कहता हूँ आप सुनें ॥ ४५ ॥

सिद्ध-सुख

तिर्यञ्च जीवोंको जो कुछ सुख प्राप्त होता है, मनुष्योंका सुख उससे बहुत बढ़कर है। साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा आप राजालोग अधिक सुखी होते हैं। कर्मभूमिके चक्रवर्ती आदिसे भी भोगभूमिके मनुष्य बहुत अधिक सुखी होते हैं, किन्तु सिद्ध-जीव भोगभूमियोंसे भीअनन्त गुने सुखी होते हैं ॥ ४६ ॥

देवगतिमें व्यन्तर सबसे कम सुखी हैं। ज्योतिषी देव उनसे भी अधिक सुखी होते हैं, भवनवासी देवोंके सुखका परिमाण ज्योतिषियों से बहुत आगे है, किन्तु सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न देवोंका सुख भवनवासियोंसे भी बढ़कर है इस प्रकार कल्पवासियोंमें ज्यों-ज्यों ऊपर जाइयेगा त्यों-त्यों सुखकी मात्रा बढ़ती ही जायगी ॥ ४७ ॥

अच्युत कल्पके देवोंसे ग्रैवेयकवासी देव अधिक सुखी हैं। विजय, जयन्त, वैजयन्त तथा अपराजितवासी देवों का सुख इनसे भी बढ़कर है तथा इनसे बहुत बढ़कर सर्वार्थसिद्धिवासियोंका सुख है किन्तु सिद्ध जीवोंके चरम और परम सुखको तो उक्त सांसारिक सुखसे कोई तुलना ही नहीं की जा सकती है ॥ ४८ ॥

जिन्होंने राग आदि भावोंको नष्ट कर दिया है उन्हें कपड़ोंसे क्या प्रयोजन ? जिनका क्षुधा वेदनीय कर्म सदाके लिये शान्त हो गया है, भोजन उनके किस काम आयेगा ? प्यासकी ज्वाला जिनमें बुझ गयी है पानी उनपर क्या प्रभाव करेगा ? समस्त रोगोंको जिन्होंने दूर भगा दिया है औषध उनके किस काम आयेगी ॥ ४९ ॥

किं वाहनाद्यैरगतिक्रियाणां किमासनाद्यैरपरिश्रमाणाम् ।
किमीक्षणैर्वा सकलार्थभाजां[1] प्रश्नादिभिः किं सदसद्विदां च ॥ ५० ॥
स्नानादिभिः किं मलवर्जितानां तेजोमयानामथ तेजसा किम् ।
किं युक्तिभिर्निष्ठितकर्मकाणां रागादिभिः किं विगतस्पृहाणाम् ॥ ५१ ॥
किं वा गृहाद्यैः परिकर्ममुक्तैर्व्यपेतशीतातपबाधनानाम् ।
शब्दादिभिः किं नरदेव बाह्यैरलेपकानां जगदुत्तमानाम् ॥ ५२ ॥
यथैव चन्द्रोदधिभास्कराणां न चास्ति काचिद्वपुषमा नृलोके[2] ।
तथैव तेषां परिनिष्ठितानां न विद्यतेऽन्या ह्युपमा नृलोके[2] ॥ ५३ ॥
वर्णैश्च वर्णस्य रसै रसस्य स्वरैः स्वरस्याप्युपमात्र यद्वत् ।
अतीन्द्रियाणामपि निर्वृतानामौपम्यसिद्धेर्न हि संभवोऽस्ति ॥ ५४ ॥

जिन्होंने गमन को क्रियाको छोड़ दिया है वाहनसे उन्हें क्या प्रयोजन ? जिन्हें किसी प्रकारकी थकान ही नहीं होती है आसन उन्हें क्या सुख देगा ? समस्त पदार्थोंको हाथपर रखे आँवलेके समान देखने वालोंको क्या आँखोंकी आवश्यकता है ? भले तथा बुरेके विवेकके जो भण्डार हैं वे शंका, प्रश्न आदि करनेका कष्ट क्यों करेंगे ॥ ५० ॥

जो सब प्रकारके मैलसे हीन हैं वे स्नान क्यों करेंगे ? जो स्वयं तेजपुञ्ज हो गये हैं वे बाह्य ओज और प्रकाशकी अपेक्षा क्यों करेंगे ? अपने समस्त कर्त्तव्योंको पूर्ण कर देनेवाले, योजनाएँ क्यों बनायेंगे ? इच्छाओंके विजेता राग आदि भावोंको क्यों अपनेमें आने देंगे ॥ ५१ ॥

जो समस्त प्रकारके परिकरसे मुक्त हो चुके हैं, जिन्हें शीत, उष्ण, धूप आदिकी बाधा कष्ट नहीं दे सकती है वे किसलिए गृह आदि आश्रयकी चाह करेंगे ? इसी प्रकार हे राजन् ! संसारके सर्वश्रेष्ठ सिद्ध जीवोंको, जो कि सब प्रकारसे अलिप्त हैं उन्हें शब्द, स्पर्श आदि बाह्य विषयोंकी इच्छा क्यों होगी ? ॥ ५२ ॥

सिद्ध-सुखके निदर्शन

इस संसारमें चन्द्रमा, समुद्र, सूर्य आदि पदार्थोंकी किसी अन्य पदार्थके साथ तुलना नहीं की जा सकती है क्योंकि उनके लिये कोई उपमान (जिसकी उपमा दी जाती है) ही नहीं मिलता है, इसी प्रकार परमपदमें स्थित सिद्धोंकी उपमा भी इस संसारके किसी पदार्थसे नहीं दी जा सकती है ॥ ५३ ॥

इस संसारमें किसी एक रंगकी उपमा दूसरे रंगोंसे दी जाती है इसी प्रकार एक रसको अन्य रसोंसे, तथा एक स्वरकी

१. म सकलोर्मिलोकात् । २. म त्रिलोके ।

ये निर्वृतानामुपमां वदन्ति हीनोपमास्ते नृपतेऽनभिज्ञाः ।
तुल्योपमानं भुवि नास्ति किंचित्त एव तेषामुपमा भवेयुः ॥ ५५ ॥
आदित्यतोऽन्यो भुवि नास्ति भास्वान् समुद्रतोऽन्यो न जलाश्रयश्च ।
न चोच्छ्रितोऽन्याऽस्ति गिरिर्गिरीन्द्रान्न मोक्षतोऽन्योऽस्ति[1] सुखप्रतिष्ठा ॥५६ ॥
तुलां विना तुल्यमशक्यमिष्टं मातुं न शक्यं खलु मानहीनम् ।
सहेतुकैर्हेतुपथव्यतीतं न शक्यते बोधयितुं वचोभिः ॥ ५७ ॥
संसारघोरार्णवपारगाणां द्रव्यादितत्त्वार्थसुदर्शनानाम् ।
महौजसां क्षायिकसत्सुखं यन्न तत्समस्तं गदितुं हि शक्यम् ॥ ५८ ॥

किन्हीं दूसरे स्वरोंसे किसी प्रकार तुलना की जाती है किन्तु संसारसे पूर्ण छुटकारा पाकर अतीन्द्रिय सुखोंके भोक्ता सिद्धोंकी उक्त प्रकारकी (एक सिद्धकी दूसरे सिद्धके साथ) तुलना भी संभव नहीं है ॥ ५४ ॥

हे भूपते ! जो लोग सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त सिद्धोंकी कोई उपमा देते हैं वे उपमाके रहस्यको नहीं समझते हैं, वे अज्ञ क्योंकि उनका सादृश्य हीनोपमा (उत्तम पदार्थकी निकृष्टसे तुलना यथा सफेद दाढ़ी युक्त मुखको पूर्णिमाके चन्द्रमाके साथ) हैं। उनके समान दूसरा उपमान पृथ्वी पर है ही नहीं। यदि कोई उनका उपमान हो सकता है तो वह स्वयं ही है ॥ ५५ ॥

इस लोकमें कोई भी पदार्थ सूर्यसे अधिक आतप और उद्योत युक्त नहीं है, समुद्रसे बढ़कर कोई जलका आश्रय नहीं है तथा पर्वतोंके राजा सुमेरुकी अपेक्षा पृथ्वीतल पर कोई भी पर्वत अधिक ऊँचा नहीं है इसी प्रकार यों समझिये कि कोई भी सुखों-का आश्रय मोक्षकी अपेक्षा बड़ा नहीं है ॥ ५६ ॥

किसी भी इच्छित पदार्थको तुला (तराजू) के बिना तौलना असाध्य है, यदि कोई माप न हो तो पदार्थोंका प्रमाण बतलाना असंभव है इसी प्रकार जो पदार्थ अनुमान और तर्कके क्षेत्रसे बाहर है उसे हेतु युक्त वचनोंके द्वारा समझाना भी असंभव है ॥ ५७ ॥

समस्त दुःखोंसे व्याकुल संसाररूपी घोर समुद्रके जो उस पार चले गये हैं, जीव, धर्म, अधर्म आदि छहों द्रव्यों तथा सातों तत्त्वोंको जो साक्षात् देखते हैं तथा महा प्रतापी सिद्धोंमें जिस क्षायिक अनन्त-सुखका उदय होता है उसका अविकल वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ ५८ ॥

---

१. [मोक्षतोऽन्यास्ति] ।

तिर्यग्नराणां नरकामराणां महीपते क्षीणपुनर्भवानाम् ।
पृष्टा त्वया संसदि ते मयोक्ता यथानुपूर्व्या गतयश्च पञ्च ॥ ५९ ॥
तासां चतस्रो गतयो गतीनां संसारसंज्ञाः कथिताः सुधीभिः ।
जरारुजामृत्युविवर्जिता ये निःश्रेयसायैव यतस्व राजन् ॥ ६० ॥
घर्माभितप्तां वसुधां यथैव सुरेश्वरः प्रावृषि तोयसेकैः ।
प्राह्लादयत्साधुपतिः सभां तां क्लेशार्दितां धर्मजलैस्तथैव ॥ ६१ ॥
यतौ ब्रुवाणे जिनधर्मसारं राज्ञः प्रसन्नं वदनं सरागम् ।
दिवाकरांशुप्रतिबोधितस्य पद्मस्य कान्ति सकलां दधार ॥ ६२ ॥
निशम्याशु धर्मं बुधा मुक्तकामा यतीन्द्रस्य पार्श्वे तपस्था बभूवुः ।
गृहीत्वार्थसंकल्पमल्पे[1] विजुः परे गेहधर्मे मतिं संनिदध्युः ॥ ६३ ॥

संसार एवं मोक्ष

हे पृथ्वीपालक ! नारकियों, तिर्यञ्चों, मनुष्यों, अमरों तथा पुनर्भवको नष्टकर देनेवाले सिद्धोंके विषयमें जो आपने इस सभामें प्रश्न किये थे उनको उसी क्रमसे मैंने पाँचों गतियोंमें विभक्त करके आपको कहा है ॥ ५९ ॥

इन पाँचों गतियोंमेंसे प्रथम चार अर्थात् नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देवगतिको ही विद्वान् आचार्य संसार कहते हैं, किन्तु, जन्म, रोग, बुढ़ापा और मृत्युसे परे होनेके ही कारण पंचमगतिको परम कल्याण (निःश्रेयस) कहा है, अतएव हे राजन् ! आप भी इसीकी प्राप्तिके लिए सतत प्रयत्न करें ॥ ६० ॥

ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यके प्रखर आतपसे तपायी गयी धरिणीको देवताओंका प्रभु (इन्द्र काव्य जगतकी मान्यताके अनुसार) वर्षा ऋतुमें मूसलाधार पानी वर्षा कर जैसे शान्त कर देता है । उसी प्रकार मुनियोंके स्वामी श्रीवरदत्त केवलीने सांसारिक क्लेशोंसे झुलसी गयी उस सभाको धर्मोपदेशरूपी जलकी वृष्टि करके भलीभाँति प्रमुदित कर दिया था ॥ ६१ ॥

केवली महराजके धर्मोपदेश देते समय उनकी ओर उन्मुख रागयुक्त राजाका विकसित मुख ऐसा कान्त मालूम देता था मानो प्रातःकालके सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे कमल खिल गया हो ॥ ६२ ॥

उपदेश-परिणाम

श्रोताओंमें जो पुरुष विशेष ज्ञानी थे उन्होंने धर्मके सारको सुनकर तुरन्त ही समस्त सांसारिक अभिलाषाओंको छोड़-

१. [°संकल्पमन्ये] ।

अथोत्थाय साध्विन्द्रमिन्द्रः पृथुव्यः[1] परीत्य प्रणम्य प्रणुत्यात्मशक्त्या ।
द्विपेन्द्राधिरूढो नृपश्छत्रमध्ये महत्या विभूत्या पुरं संप्रविष्टः ॥ ६४ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
मोक्षाधिकारो नाम दशमः सर्गः ।

कर ऋषिराज वरदत्तके चरणोंमें रहकर तपस्या करनेका निश्चय किया था, दूसरे सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिका संकल्प करके चले गये थे तथा शेष लोगोंने गृहस्थके आचारको निरतिचाररूपसे पालनेका निर्णय किया था ॥ ६३ ॥

इसके उपरान्त ही पृथ्वीके इन्द्र (धर्मसेन) ने उठकर साधुओंके इन्द्र (केवली) की तीन प्रदक्षिणाएँ कीं अपनी योग्यताके अनुसार स्तुति की तथा प्रणाम किया । तथा हाथियोंके इन्द्रकी पीठपर चढकर श्वेत छत्रके नीचे बैठ कर उसने अपनी विशाल राजसंपत्तिके साथ नगरमें प्रवेश किया था ॥ ६४ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरितनामक कर्मकथामें
मोक्षाधिकार नाम दशम सर्ग समाप्त ।

१. क °मिन्द्रोत्कटान्यः, [पृथिव्याः] ।

एकादशः सर्गः

गते नरेन्द्रे हितसंकथाभिः स्वयं वराङ्गो मुनिमभ्युपेत्य ।
कृताञ्जलिर्निर्जितकामशत्रुं संदिग्धबुद्धिः पुनरभ्यपृच्छत् ॥ १ ॥
जीवस्य मिथ्यात्वमनादिबद्धं संसारिणस्तच्च कतिप्रकारम् ।
कथं तु सम्यक्त्वमुपैति जीवः संचक्ष्व मिथ्यात्वपथादपायम् ॥ २ ॥
एवं स पृष्टो भगवान्यतीशो गुणाकरः शान्तमनाः प्रवक्तुम् ।
मिथ्यात्वसम्यक्त्वविकल्पतत्त्वं प्रारब्धवान्प्रश्नविनिर्णयार्थम् ॥ ३ ॥
ऐकान्तिकं सांशयिकं च मूढं स्वाभाविकं वैनयिकं तथैव ।
व्युद्ग्राहितं यद्विपरीतसंज्ञं मिथ्यात्वभेदानवबोध सप्त ॥ ४ ॥

एकादश सर्ग

वरांग प्रश्न

पूर्वोक्त प्रकारसे आत्मकल्याणके लिए अत्यन्त उपयोगी धर्मकथा सुन करके जब महाराज धर्मसेन लौट गये, तब कामदेवरूपी महाशत्रु के मान मर्दक श्रीवरदत्तकेवलीके पास कुमार वरांग हाथ जोड़कर बैठ गये और उनसे कुछ प्रश्न किये, क्योंकि उनके मनमें कुछ शंकाएँ उठ रही थीं ॥ १ ॥

हे गुरुदेव ! संसार चक्रमें पड़े हुए जीवके साथ यह मिथ्यात्व अनादि-कालसे बँधा हुआ है ऐसा श्रीमुखसे सुना, किन्तु वह कितने प्रकारका है ? इस मिथ्यामार्गसे कैसे मुक्ति मिलती है. इसके कारण क्या-क्या अनर्थ होते हैं तथा किस आचार-विचारसे जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। इन सबके उत्तर स्पष्ट रूपसे कहनेका अनुग्रह करिये ॥ २ ॥

मिथ्यात्त्व-वर्णन

यतिराज वरदत्तकेवली गुणोंकी खान थे। तथा उनका चित्त परम करुणा भावसे भासमान था। अतएव उक्त प्रकारसे प्रश्न किये जानेपर उसके शुद्ध समाधान करनेकी भावनासे ही उन्होंने मिथ्यात्त्व और सम्यक्त्वके विकल्पों तथा उसके सारभूत तत्त्वका व्याख्यान करना प्रारम्भ किया था ॥ ३ ॥

हे युवराज ! मोटे रूपसे ऐकान्तिक, (किसी पदार्थको एक अवस्थापर ही पूरा जोर देना यथा 'संसार नित्य ही है') सांशयिक, (पदार्थके विषयमें विकल्प करते रहना यथा ('स्त्री मुक्ति हो सकती है या नहीं') मूढ, (किसी पदार्थको जानता ही

जीवादितत्त्वं न च वेत्ति किंचिदेकान्तमिथ्यात्वविमोहितात्मा ।
जात्यन्धमर्त्यः खलु चित्रकर्म द्रष्टुं विबोद्धुं च यथा न शक्तः ॥ ५ ॥
हिंसानुधर्मस्त्वथ वेत्त्यहिंसां संदेहमिथ्यात्वविमूढचित्तः ।
संदिग्धबुद्धिर्न च निश्चिनोति गोऽश्वान्तरं दूरगतं यथैव ॥ ६ ॥
श्रेयो यदज्ञानमिति ब्रवीति संमूढमिथ्यात्वनिरस्तबुद्धिः ।
विषामृतज्ञो विषमेव पीत्वा यथा विनाशं ह्यवशं प्रयाति ॥ ७ ॥
आहोस्विदज्ञानतया विबुद्धिर्हिंसामहिंसेति मतिं विधत्ते ।
सुवर्णमिच्छन्नसुवर्णधातुं धमत्ययाज्ञः श्रममभ्युपैति ॥ ८ ॥

नहीं) स्वाभाविक, (प्रकृतिसे विपरीत या अशुद्ध श्रद्धानकी रुचि) वैनयिक, (राम भी ठीक, रावण भी, वीर भी शुद्ध, बुद्ध, भी सत्य) व्युद्ग्राहित (अज्ञान मूलक कुछ भी हठ) तथा विपरीत (सांसारिक पदार्थोंके ज्ञानमें अपेक्षावाद अनावश्यक है) ये सात मिथ्यात्वके भेद कहे हैं ॥ ४ ॥

मिथ्यात्वोंके लक्षण तथा दृष्टान्त

एकान्त मिथ्यात्वने जिस जीवके आत्माको अपने अन्धकारसे ग्रस लिया है वह जीव, अजीव आदिके क्रमसे इन तत्त्वों-को समझ ही नहीं सकता है। ऐसा समझिये कि वह 'जन्मसे अंधे' व्यक्तिके समान चित्र, मूर्त्ति, आदि सुन्दर कार्योंको न तो देख सकता है और न जान ही सकता है ॥ ५ ॥

जिस व्यक्तिका चित्त संदेह मिथ्यात्वके रंगसे सराबोर है वह यह भी नहीं निश्चित कर पाता है कि हिंसा करना धर्म है अथवा अहिंसा पालन श्रेयस्कर है। जिस किसी विषयको सोचता है वहीं उसकी बुद्धि संदेहमें पड़ जाती है। वह उस दृष्टाके समान होता है जो बहुत दूर खड़े पशुको देखकर यह निर्णय नहीं कर पाता कि वह कुत्ता है या गाय ॥ ६ ॥

जिसका विवेक सम्मूढ़ मिथ्यात्वके द्वारा पराजित कर दिया गया है वह यही कहता फिरता है कि 'ज्ञानसे लाभ ! व्यर्थकी आकुलता बढ़ती है, अतएव अज्ञान ही सबसे अधिक आनन्दमय है।' जिस व्यक्तिको विष और अमृतकी पहचान नहीं है, वह विषको पीकर नष्ट होनेके लिए विवश होता है, यही गति सम्मूढ़ मिथ्यात्वीकी होती है ॥ ७ ॥

अज्ञान-मिथ्यात्वी जीवकी बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है, फलतः वह हिंसाको ही अहिंसा समझता है अथवा यों समझिये कि यह सब अज्ञानका ही प्रभाव है कि वह सोना बनानेकी इच्छासे ऐसी मूल धातु को भट्टीमें जलाता है जिससे सोना बन ही नहीं सकता है। परिणाम यह होता है कि उसका समस्त परिश्रम व्यर्थ ही होता है ॥ ८ ॥

श्रुतं तदर्थं कलुषीकरोति स्वभावमिथ्यात्वविदूषितात्मा[1] ।
सशर्करं क्षीरमहिः प्रपाय विपाककाले विषमादधाति ॥ ९ ॥
चन्द्रार्कनक्षत्रमहीजलाद्या विनीतमिथ्यात्वविमोहितस्य ।
देवा दिवि स्वर्गतिभिः पताका मतिर्मरुद्भिः समुदीरिते[2] च ॥ १० ॥
कुदृष्टिदृष्टान्तविनष्टमार्गै[3]र्यद्ग्राहिताख्यो[4] हतधीर्मनुष्यः ।
चौरेण नीतो गहनान्तराणि यथैव जात्यन्धगणः प्रणष्टः ॥ ११ ॥
सतः पदार्थान्विपरीतदृष्टिर्विपर्ययं पश्यति बुद्धिदोषात् ।
जवेन नावो जलमध्ययायी यथा महीपर्वतकाननानि ॥ १२ ॥
अभव्यमिथ्यात्वमनाद्यनन्तमनाद्यनन्तश्च यथैव कालः ।
भव्यात्मनां सान्तमनादि तच्च तेष्वेव केषामपि सादि सान्तम् ॥ १३ ॥

स्वाभाविक मिथ्यात्वसे जिसका अन्तःकरण कलुषित हो चुका है वह जिस किसी सत्य शास्त्रको सुनता या पढ़ता है उसे ही अपनी मतिके अनुसार कुमार्गके समर्थनमें लगाकर दूषित करता है। उसकी अवस्था साँपके समान होती है जिसे शक्कर मिला मिष्ट दूध पिलाया जाता है, किन्तु वह विष ही उगलता है ॥ ९ ॥

विनीत मिथ्यात्वके नशेके कारण जिसका हृदय मूर्च्छित हो गया है वह सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी, नदी तथा अन्य जलाशय आदिको देवता मानता है। इतना ही नहीं उसकी समझके अनुसार स्वर्गमें रहनेवाले देवताओंके द्वारा आकाशमें पताका भी फहरायी जाती है ॥ १० ॥

मिथ्यामार्गियोंके भ्रान्त दृष्टान्तोंपर श्रद्धा करनेके कारण व्युद्ग्राहित मिथ्यादृष्टीको सन्मार्ग स्पष्ट होनेपर भी सूझता नहीं है क्योंकि उसकी सद्बुद्धि उक्त संस्कारोंके कारण पंगु हो जाती है फलतः उसकी वही दुर्दशा होती है जो कि उन लोगोंकी होती है जो जन्मांध चोरोंके कहनेमें आकर घने जंगलमें चले जाते हैं और वहीं विनाश के मुखमें जा पड़ते हैं ॥ ११ ॥

विपरीत मिथ्यादृष्टी जीव संसारके प्रत्येक पदार्थको उल्टा ही समझता है। उसकी मति इतनी दूषित हो जाती है कि वह किसी पदार्थके वास्तविकरूपको परख ही नहीं सकता है। जैसे कि पानीकी धारापर जोरसे बहती नौकापर बैठा नाविक आसपासके पर्वत, वन और भूमिको जोरसे दौड़ता हुआ देखता है अपने आपको नहीं ॥ १२ ॥

भव्याभव्य तथा मिथ्यात्व

अभव्य जीवके मिथ्यात्वका न तो प्रारम्भ है (अनादि) और न कभी समाप्ति ही होगी (अनन्त) अर्थात् वह काल-

---

१. क °विरूक्षितात्मा । २. म समधीरिते, [समुदीरते] । ३. [° मार्गो] । ४. म व्यद्ग्राहिताभ्यो, [व्युद्ग्राहिताख्यो] ।

मिथ्यात्वतो मोहविवृद्धिमाहुर्मोहात्प्रवृत्त्युद्भवमामनन्ति ।
प्रवृत्तितोऽनेकविधं हि जन्म दुःखं ततो जन्मवशादवश्यम् ॥ १४ ॥
मिथ्याविनाशात्क्षयमेति मोहो मोहक्षयान्नश्यति सा प्रवृत्तिः ।
प्रवृत्तिनाशान्न च जन्म तस्यात्तन्नाशतो नाशमियर्ति दुःखम् ॥ १५ ॥
दुःखप्रणाशात्सुखमभ्युपैति नृदेवविद्याधरभोगभूषु ।
तपोऽग्निना दग्धमलः क्रमेण निर्वाणसत्सौख्य[1]मुपैति जीवः ॥ १६ ॥
स्पृष्टं यदा दर्शनमात्रमेतद्येनेह जीवेन मुहूर्तमेकम् ।
संसारवासे बृहदुग्रदुःखे स पुद्गलानां परिवर्ततेऽर्धम् ॥ १७ ॥

द्रव्यके समान अनादि-अनन्त है। किन्तु भव्यजीवका मिथ्यात्व अनादि होते हुए भी सान्त (समाप्तियुक्त) होता है। तथा किन्हीं-किन्हीं भव्यजीवोंका तो सान्त ही नहीं सादि (निश्चित समय पहिले बँधा) भी होता है ॥ १३ ॥

मिथ्यात्वकी संसार कारणता

मिथ्यात्वके कारण आत्मामें मोहरूपी अन्धकार बढ़ता है। उचित तथा अनुचित आरम्भ तथा प्रवृत्तियोंका प्रधान उद्गमस्थान मोह ही है। आरम्भ परिग्रहका अवश्यंभावी फल नाना योनियोंमें जन्म-ग्रहण करना है और जब जन्म परम्परा है तब समस्त प्रकारके दुःखोंसे कौन बचा सकता है ॥ १४ ॥

मिथ्यात्वका नाश होते ही मोह न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। मोहरूपी उद्गमस्थानके न रहनेपर प्रवृत्तिरूपी धार भी सूख जाती है। प्रवृत्तिके रुकनेका फल होता है जन्मचक्रका रुकना तथा जन्ममरण परम्पराके टूटते ही उसके कारण होनेवाले समस्त दुःखोंका भी आत्यन्तिक क्षय हो जाता है ॥ १५ ॥

दुःखोंके नाश होते ही उनके विरोधी-सुखोंका उदय होता है, फलतः जीव उत्तम कर्मभूमि या मनुष्यों, भोगभूमि, विद्याधर और देवगतिके, दुःखकी छायारहित सुखोंको ही प्राप्त करता है। इसके बाद उग्र तपरूपी अग्निके द्वारा वह कर्मोरूपी कूड़ाकर्कटको जला देता है और इस क्रमसे अन्तमें निर्वाणके सुखको प्राप्त कर लेता है ॥ १६ ॥

सम्यक्दर्शन

जिस समय किसी जीवके द्वारा केवल एक मुहूर्त भरके लिए भी सम्यक्दर्शन धारण किया जाता है उसी समय भयंकर तथा भारी दुःखोंसे परिपूर्ण संसारमें उसका भ्रमण बहुत घट जाता है। उसके बाद वह अधिकसे अधिक आधे पुद्गल परिवर्तनके बराबर समय पर्यन्त ही जन्ममरण करता है तदुपरान्त उसकी मुक्ति अवश्यंभाविनी है ॥ १७ ॥

१. क निर्वाणतत्सौख्य० ।

गृहीतसम्यक्त्वमतिः स्थिरात्मा षट्षष्टिकालं जलधिप्रसंख्यम् ।
स्वर्गावनिक्षेमसुखं निषेव्य पश्चादवाप्नोति च मोक्षसौख्यम् ॥ १८ ॥
सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्नं सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम् ।
सम्यक्त्वबन्धोर्न परोऽस्ति बन्धुः सम्यक्त्वलाभान्न परोऽस्ति लाभः ॥ १९ ॥
त्रिकालविद्भिस्त्रिजगच्छरण्यैर्जीवादयो येऽभिहिताः पदार्थाः ।
श्रद्धानमेषां परया विशुद्धया सद्दर्शनं सम्यगुदाहरन्ति ॥ २० ॥
नैसर्गिकं तद्ध्युपदेशजं च सद्दर्शनं तद्द्विविधं जिनोक्तम् ।
तत्क्षायिकं ह्यौपशमं च मिश्रं तदेव भूयस्त्रिविधं वदन्ति ॥ २१ ॥
यथैव चक्षुः पटलावृतं यन्न पश्यति द्रव्यगुणादितत्त्वम् ।
तदेव भूयः पटलादपेतं समीक्षते द्रव्यगुणादिभावान् ॥ २२ ॥

किन्तु जब कोई दृढ़-श्रद्धानयुक्त आत्मा वास्तव सम्यक्त्वको धारण कर लेता है तब उसका संसार भ्रमण उंगलियोंपर गिना जा सकता है। क्योंकि इसके बाद वह छ्यासठ सागर प्रमाण समयतक स्वर्गलोकके सुखों और भोगोंका आनन्द लेता है और अन्तमें निश्चयसे मोक्ष जाता है ॥ १८ ॥

संसारमें अनेक स्पृहणीय रत्न हैं किन्तु उनमेंसे कोई भी सम्यक्त्वरूपी रत्नसे बढ़कर नहीं है, सम्यक्त्व श्रेष्ठतम मित्रोंसे भी बड़ा मित्र है, कोई भी भाई सम्यक्त्वसे बढ़कर हितैषी नहीं हो सकता है तथा कोई भी लाभ ऐसा नहीं है जो सम्यक्त्वलाभ-की आंशिक समता भी कर सके ॥ १९ ॥

सम्यक्त्व स्वरूप

तीर्थंकर भगवान केवलज्ञान द्वारा तीनों लोकोंके समस्त द्रव्यों और पर्यायोंको जानते थे। फलतः वे तीनों लोकोंके प्राणियोंके एकमात्र सहारा थे, उन्होंने ही जो जीव, अजीव आदि सात तत्त्व कहे हैं उन पर परम शुद्धिके साथ श्रद्धा करना ही सम्यक्दर्शन है ऐसा आगम कहता है ॥ २० ॥

कभी जीवको अपने आपही जीवादि सात तत्त्वोंका श्रद्धान हो जाता है और कभी-कभी सद्गुरुका उपदेश सुननेपर ऐसा होता है। इसीलिए सर्वज्ञ प्रभुने सम्यक्त्वके नैसर्गिक और अधिगमज ये दो भेद किये हैं। कारणभूत आवरणके लोपको अपेक्षा इसके क्षायिक, (क्षयसे उत्पन्न) औपशमिक (रोधक कर्मके उपशम या दब जानेसे उत्पन्न) तथा मिश्र (क्षायोपशमिक, क्षय तथा उपशम दोनोंसे उत्पन्न) ये तीन भेद होते हैं ॥ २१ ॥

सम्यक्त्व उदय

जब आँखमें जाली पड़ जाती है तो उसके द्वारा सामने पड़े हुए पदार्थ तथा उनके वर्ण आदि गुण देखना संभव नहीं

तथैव [मिथ्यापटलावृतं यत्सम्यक्त्वचक्षुर्न च वीक्षतेऽर्थान् ।
तदेव सज्ज्ञानशलाकयाशु[1] समञ्जितं पश्यति सर्वभावान् ॥ २३ ॥
प्रसन्नमिथ्यामलकर्दमेषु जीवेषु जीवादिरथावगम्य[2] ।
यथैव भूशैलवनप्रदेशः संदृश्यते शान्तमलास्वथाप्सु[3] ॥ २४ ॥
मिथ्यान्धकारोदयमन्दभावे सवेदकः पश्यति जीवतत्त्वम् ।
यथैव " वैडूर्यमणिप्रदीपो गृहे घटादीनवलोकतेऽर्थान् ॥ २५ ॥
व्यपेतदुर्दर्शनमोहनीयो यक्षोऽपि कः पश्यति सर्वभावान् ।
यथैव मेघादपनीतमूर्तिर्लोकं विवस्वानिव दीप्तरश्मिः ॥ २६ ॥

होता है, लेकिन जब उपयुक्त चिकित्साके द्वारा वह जाली दूर कर दी जाती है तो वह आँख पदार्थों और गुणोंको स्पष्ट देखने लगती है ॥ २२ ॥

इसी प्रकार जब आत्माकी स्वाभाविक दर्शनशक्ति मिथ्यात्वरूपी जालीसे ढक जाती है तो वह जीव, आदि पदार्थोंकी श्रद्धा कर ही नहीं सकता है, किन्तु सम्यक् ज्ञानरूपी शलाकाके द्वारा जब मिथ्यात्वरूपी जाली काट दी जाती है तो वही आत्मा समस्त तत्त्वोंका आत्म साक्षात्कार करता है ॥ २३ ॥

जब जीवका मिथ्यात्वरूपी कीचड़ नीचे बैठकर दूर हो जाता है तो वह शरत्कालीन जलकी धाराके समान निर्मल हो जाता है। तब उसमें जीवादि पदार्थोंका उसी प्रकार साक्षात्कार होता है जिस प्रकार पानीका मैल साफ हो जाने पर उसमें आसपासके वन, पर्वत और भूमिके प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी देते हैं ॥ २४ ॥

मिथ्यात्वरूपी अन्धकारके प्रसारके करनेपर वेदक-सम्यक्दृष्टी जीव, जीव तत्त्वके रहस्यको उसी प्रकार अति स्पष्ट रूपसे साक्षात्कार करता है। जैसे कि वैडूर्यमणिरूपी दीपक के विशद प्रकाश हो जानेपर घरमें रखे हुए घट, पट आदि पदार्थ साफ-साफ दिखने लगते हैं ॥ २५ ॥

मिथ्यात्व मोहनीय नामक दर्शनमोहनीयकी प्रकृतिके नाश हो जानेपर और तो कहना ही क्या है, साधारण यक्ष भी समस्त पदार्थोंका वैसे ही साक्षात्कार करता है, जैसे कि बादलोंके फट जानेपर जगमगाती हजारों किरणोंका स्वामी सूर्य संसार-के समस्त पदार्थोंको दिखाता है ॥ २६ ॥

---

१. क °शलाकया सु° । २. क °गम्याः, [°गम्यः] । ३. म °मलास्त्विवाप्सु ।

प्रशान्तपङ्कोदकतुल्यमाद्यं वैडूर्यरत्नप्रतिमं द्वितीयम् ।
तत्क्षायिकं बालदिवाकराभं तिस्रस्त्रयाणामुपमा भवन्ति ॥ २७ ॥
मिथ्यानिवृत्तिं लभतेऽन्तरात्मा सम्यक्त्वलाभादपरिश्रमेण ।
ज्ञानं ततो ज्ञेयविशेषदर्शि ज्ञानेन सद्भावगुणोपलब्धिः ॥ २८ ॥
सद्भावविज्ञप्तिफलोदयेन ध्रुवं विजानाति हिताहितानि ।
हिताहितज्ञो मतिमानवश्यं संसारवासे न रतिं करोति ॥ २९ ॥
विभक्तसंसारनिवासरागो बिभेति जात्याद्यसुखावहेभ्यः ।
भयार्दितः प्राणिगणेषु नित्यं दयापरः स्यान्निरवद्यभावः ॥ ३० ॥

सम्यक्त्वदृष्टान्त

प्रथम अर्थात् औपशमिक सम्यक्दर्शन उस जलाधारके समान होता है जिसमें कीचड़ नीचे बैठ भर गया है (नष्ट नहीं हुआ है, पानीके हिलते ही ऊपर आ जायगा) क्षायोपशमिक सम्यक्दर्शनकी तुलना वैडूर्यरत्नको ज्योतिके साथ की गयी है (रंगयुक्त प्रकाश) तथा तृतीय क्षायिक सम्यक्दर्शन तो उदीयमान सूर्यके ही समान होता है। इस प्रकार तीनों दर्शनोंकी यह तीन उपमाएँ हैं ॥ २७ ॥

रत्नयत्र का उदयक्रम

जब आत्मामें सम्यक्त्वका उदय हो जाता है तो बिना किसी परिश्रमके ही आत्मा में से समस्त मिथ्यात्व अपने आप ही विलीन हो जाता है। यह सब होते ही उसका ज्ञान सम्यक्ज्ञान हो जाता है जो कि समस्त द्रव्यों और पर्यायों को युगपत् जानता है तथा सम्यक्-ज्ञानकी प्राप्ति होते ही आत्मा के उत्तम भाव और गुण भी अपने आप चमक उठते हैं ॥ २८ ॥

सम्यक्ज्ञान और अच्छे भावों का फल होता है कि आत्माको अपने हित और अहितका निश्चित विवेक हो जाता है। जिस ज्ञानी पुरुषको अपने कल्याणमार्ग और पतन मार्गका ज्ञान हो गया है वह पुरुष अपने संसारी कर्मों में सर्वथा फँस नहीं सकता यह निश्चित है ॥ २९ ॥

जिस जीव को संसारिक सुख, अभ्युदय आदि से वैराग्य हो गया है वह जन्म, मरण आदि के दुःखों का ध्यान आते ही काँप उठता है। जो जीव पापसे भयभीत है वह दुख के कारण बुरे भावोंसे बचता है, सदा शुभ भाव करता है तथा प्राणीमात्र पर दयावृत्ति रखता है ॥ ३० ॥

---

१. क द्रुतं ।

तया पुनः स्थापयते मनस्त्वं मनः प्रसादाज्जयतीन्द्रियाणि ।
जितेन्द्रियस्त्यक्तपरिग्रहः स्याद्विरक्तसंगो विहरत्यथैकः ॥ २१ ॥
ईर्यापथादिष्वपि चाप्रमत्तो निर्वेदसंवेगविशुद्धभावः ।
परीषहान्दुर्विषहान्विजित्य तपस्क्रियां तां यतते यथोक्ताम् ॥ ३२ ॥
संप्राप्य सार्वज्ञ्यमनुत्तम[1]श्रीर्विधूय कर्माणि निरस्तदोषः ।
निःश्रेयसां शान्तिमुदारसौख्यां लब्ध्वा चिरं तिष्ठति निष्ठितार्थः ॥ ३३ ॥
इत्येवमुर्वीश्वरसत्सुताय धर्माभिरागोद्यतसत्क्रियाय ।
सम्यक्त्वमिथ्यात्वफलप्रपञ्चं सविस्तरं साधुपतिर्जगाद ॥ ३४ ॥

चारित्र प्राप्ति

पापचिन्ता नष्ट हो जाने के कारण मन स्थिरता को प्राप्त होता है। मन निर्मल होते ही इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं उसे परिग्रह छोड़ते कितनी देर लगती है ? और जब परिग्रह से पल्ला छूट जाता है तो वह एकाविहारी हो जाता है अर्थात् महाव्रतों को धारण कर लेता है ॥ ३१ ॥

वैराग्य भावना से उत्पन्न तीव्र तितिक्षामय भावोंके प्रवाहसे जब मनोभाव अधिकतर निर्मल हो जाते हैं तो आत्मा ईर्या, भाषा आदि पाँचों समितियों का प्रमाद त्यागकर पालन करता है। इतना ही नहीं भूख, प्यास आदि उन बाइसों परीषहों को भी जीतता है जिनका सहन अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार वह आगममें कही गयी विधि के अनुसार तपस्या करने का पूर्ण प्रयत्न करता है ॥ ३२ ॥

इस विधि से समस्त क्षुधा, तृषा आदि दोषों और चारों घातिया कर्मोंका नाश करके वह संसार की सर्वश्रेष्ठ लक्ष्मी और शोभाका अधिपति होकर सर्वज्ञ हो जाता है तथा अन्तमें सबही कर्मोंका सर्वथा क्षय करनेके उपरान्त मोक्षकी विशाल शान्ति और सुखको वरण करता है। वह कृतकृत्य हो जाता है फलतः मोक्ष में जाकर अनन्त कालतक वहीं विराजता है ॥३३॥

पृथ्वीपालक महाराजा धर्मसेन के सुपुत्र कुमार वरांगको धर्मसे प्रेम था और और सत्कार्य करने का वास्तविक उत्साह था इसीलिए साधुओंके स्वामी श्रीवरदत्तकेवलीने उसके लिए उक्त प्रकारसे मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वके भेद और फलोंको विस्तारपूर्वक समझाया था ॥ ३४ ॥

---

१. म अमुत्तमा, श्रीः ।

मुनीन्द्रवाक्यादवबुद्ध्य तत्त्वं विहाय मिथ्यात्वमनादिबद्धम् ।
प्रहृष्टरोमाङ्कुरिताङ्गयष्टिः कृताञ्जलिर्वाक्यमिदं बभाषे ॥ ३५ ॥
अणुव्रतानां परिपालका ये ते मङ्गलं ये च तपश्चरन्ते ।
स्थातुं तपस्युग्रतमे न शक्तो व्रतानि देष्टुं कुरु मे प्रसादम् ॥ ३६ ॥
भवत्प्रसादोदयलब्धदृष्टिः कुतीर्थदुर्मार्गनिवृत्तदृष्टिः ।
नरामरैरप्यविकम्प्यदृष्टिर्व्रतानि गृह्णाम्यहमात्मशक्त्या ॥ ३७ ॥
मदोद्धतैः क्षत्रियपुङ्गवैस्तैः परस्पराघातनिमित्तजातम् ।
विहाय तद्युद्धमुखं तदेकं[1] मुने परप्राणिदया ममाशु[2] ॥ ३८ ॥
परोपघातान्मृतदुर्वचांसि परस्वहारित्वमपार्थरोषः ।
पराङ्गनालिङ्गनसंगसौख्यमाजीवितान्तादमुचं यतीश ॥ ३९ ॥

वरांगकी भव्यता

मुनिराज वरदत्तकेवली के वचन सुनते ही जीव, आदि तत्त्वों का कुमार वरांगको सत्य ज्ञान हो गया था, अपाततः अनादिकाल से बँधा हुआ उसका मिथ्यात्व वहीं नष्ट हो गया था। इससे उसे इतना आनन्द हुआ था कि पूरे शरीरमें रोमाञ्च हो आया था, तब उसने हाथ जोड़कर गुरुवरसे ये वाक्य कहे थे ॥ ३५ ॥

हे प्रभो ! जो जीव केवल अहिंसा आदि पांचों अणुव्रतोंका निरतिचार रूप से पालन करते हैं वे तथा जो और उठकर तपस्या करते हैं, वे भी कल्याणमार्गको प्राप्त होते हैं, किन्तु मैं अपने में इतनी शक्ति नहीं पाता हूँ जो मुझे उग्र तपस्यामें भी अडिग बनाये रखें इसीलिए मुझे व्रतों की दीक्षा देने का अनुग्रह करिये ॥ ३६ ॥

आपकी असीम अनुकम्पासे मेरी अन्तरङ्ग दृष्टि खुल गयी है अतएव कुमतों और जीवनके पापमय मार्गोंसे मुझे पूर्ण घृणा हो गयी है। आज मुझे वह दृष्टि (सम्यक्त्व) प्राप्त हुई है जिसे मनुष्य क्या देव भी नहीं दूषित कर सकते हैं इसीलिए मैं अपनी शक्तिके अनुसार व्रतोंको ग्रहण करता हूँ ॥ ३७ ॥

महत्त्वाकांक्षी श्रेष्ठ क्षत्रिय अपने पराक्रमके अभिमानसे उद्दण्ड हो जाते हैं फलतः अपनी प्रभुता बढ़ानेके लिए आपस-में आक्रमण करते हैं जिसके निमित्तसे पर्याप्त हिंसा होती है अतएव मर्यादा रक्षाके लिए किये गये युद्धकी एक हिंसाको छोड़कर हे मुनिराज ? शेष सब प्राणियोंपर मेरा दयामय भाव हो गया है ॥ ३८ ॥

हे यतिराज ! दूसरेकी हिंसा, असत्य या कटुवचन, दूसरेकी सम्पत्तिका हरण, निष्प्रयोजन परिग्रह संचय तथा दूसरेकी

१. [तथैकं]। २. [ममास्तु]।

निशम्य भव्यस्य वचो मुनीन्द्रः प्रसन्नभावस्य समाहितस्य ।
कृताभ्यनुज्ञः[1] स्वयमेव तस्मै चकार सम्यग्व्रतरोपणानि ॥ ४० ॥
तेषां व्रतानां बहुभिः प्रकारैः फलान्यभिप्रेतफलप्रदानि ।
इहाप्यमुत्रापि यशस्कराणि प्रदर्शयामास नृपात्मजाय ॥ ४१ ॥
अन्धो यथा तुष्यति नेत्रलाभान्निधेः प्रलाभाच्च यथा दरिद्रः ।
तथा गृहीतव्रतभारसारो ह्यभूतपूर्वां मुदमाससाद ॥ ४२ ॥
महर्षिपादावभिनूय भूयस्तपोऽधिकाञ्शीलनिधींश्च साधून् ।
प्रदक्षिणीकृत्य पुनः प्रवन्द्य विसर्जयामास यथानुपूर्व्या ॥ ४३ ॥

पत्नीके आलिंगन और सुरतके सुखको मैं जीवनपर्यन्तके लिए छोड़ता हूँ ॥ ३९ ॥

व्रतदीक्षा

कुमार वरांग भव्य थे इसीलिये वे अपनेको धर्ममार्गपर लगा सके थे। तथा वे वास्तवमें अत्यन्त प्रसन्न थे। यही कारण था कि जब आचार्य प्रवरने उनके वचन सुने तो उन्हें व्रत ग्रहण करनेकी अनुमति दी थी तथा स्वयं ही विधिपूर्वक उनको व्रतोंकी दीक्षा दी थी ॥ ४० ॥

इसके अतिरिक्त उनको यह भी तरह-तरहसे समझाया था कि उक्त पाँचों व्रत किस तरह व्रतीको मनवाञ्छित फल देते हैं। व्रतोंको पालन करनेसे जीव इस लोकमें यश-पूजाको कैसे प्राप्त करता है तथा परलोकमें सुख भोगोंका अधिपति होता है यह सब उसे स्पष्ट करके समझाया था ॥ ४१ ॥

अन्धेको यदि आँखें मिल जाय तो जैसा वह प्रसन्न होता है, अथवा किसी अत्यन्त दरिद्र व्यक्तिको यदि विशाल कोश मिल जाय तो जिस प्रकार वह आनन्दविभोर होकर नाचता है उसी प्रकार व्रतोंके सारभूत नियमोंको ग्रहण करके राजपुत्र भी आनन्दसे फूला न समाता था क्योंकि यह सुख ऐसा था जिसे इसके पहिले उसने कभी जाना हो न था ॥ ४२ ॥

इसके उपरान्त उसने ऋषिराजके चरणोंमें पुनः साष्टांग प्रणाम किया था तथा विशाल तपरूपी निधिके अधिपति गुणोंकी राशि समस्त मुनियोंकी भक्ति-भावसे वन्दना तथा प्रदक्षिणा करके उसने परम्परा और क्रमके अनुसार उनसे बिदा ली थी ॥ ४३ ॥

---

१. म कृताभिनुज्ञः ।

गृहीतसम्यक्त्वदृढव्रतात्मा आत्मर्षिदेवैः कृतसाक्षिकस्तु ।
मुनेर्गुणांस्तान् हृदि संविधाय[1] लब्धाभ्यनुज्ञः पुरमभ्यगच्छत् ॥ ४४ ॥
पुरं विशालं प्रविभक्तशालं चन्द्रांशुजालामलकीर्तिमालम् ।
अरातिसैन्यक्षपणातिकालं विवेश वृद्धैः क्रमशः सलीलम् ॥ ४५ ॥
नरेन्द्रपुत्रो नगरं प्रविश्य वयोपचारं[2] पितरौ समीक्ष्य ।
प्रणम्य पादं प्रणिपातनार्हं सुखं निविष्टो मुनिसंकथाभिः ॥ ४६ ॥
तथा[3] तपस्को विजहार यत्र ततश्चकार स्वशिरः शयानः ।
बालस्वभावं प्रविहाय विद्वान्प्रज्ञानुवृत्तिं प्रचचार धीरः ॥ ४७ ॥

गुरुवर, सच्चे देव और आत्माकी साक्षीपूर्वक लिये गये व्रतों और सम्यक्त्वके पालनमें राजकुमार अडिग और अकम्प था। मुनियों के दम, शम, त्याग आदि गुणोंकी उसके हृदयपर गहरी छाप पड़ी थी फलतः उनसे चलनेकी अनुमति प्राप्त करके उन्हीं के गुणोंको विचारता हुआ अपने नगरको चला गया था ॥ ४४ ॥

संयत राजकुमार

वह विशाल नगर भी अपने उन्नत और दृढ़ परकोटाके कारण दूरसे ही अलग दिखता था, गृहों और अन्य स्थानों पर लटकती वन्दनवार और मालाएँ चन्द्रमाकी किरणोंके जालके समान निर्मल और मोहक थीं, अपनी दृढ़ता तथा अन्य सुरक्षाओंके कारण शत्रुसेनाको नष्ट करनेके लिए यह यमसे भी भीषण था। ऐसी राजधानीमें कुमारने बड़ों के साथ धीरे-धीरे प्रवेश किया था ॥ ४५ ॥

राजपुत्रने नगरमें वापिस आते ही घर पहुँचकर शिष्टाचारके अनुसार सबसे पहिले अपने माता-पिताके दर्शन किये थे, तथा पूजा और नमन करने योग्य उनके चरणोंमें प्रणाम करके वहीं शान्तिपूर्वक बैठ गया था। इसके बाद भी वह मुनिराजकी ही पुण्य कथा करता रहा था ॥ ४६ ॥

उसपर मुनिराजका इतना गम्भीर प्रभाव था कि उनके चले जानेपर भी वे जिस दिशामें विहार करते थे वह सोते समय उसी दिशाकी ओर शिर करता था। सबसे बड़ा परिवर्तन तो यह हुआ था कि अब उसने बालकों ऐसी खिलवाड़ी प्रकृति-को छोड़ दिया था। अब वह विद्वान् विशेषज्ञ पुरुषोंके समान गम्भीरतापूर्वक व्यवहार करता था ॥ ४७ ॥

---

१. [संनिधाय]। २. [नयोपचारं]। ३. [तदा तपस्वी]।

प्रातः कुमारः कृतमङ्गलार्थो जिनेन्द्रबिम्बार्चनतत्परोऽभूत् ।
ततो गुरून्साधुतमान्यप्रपूज्य पश्यत्युपस्थानगतः स्वकार्यम् ॥ ४८ ॥
तत्रोपविष्टो जिनदेवमार्गं प्रकाशयन्संकथयन्परेभ्यः ।
विचारयन् हेतुभिरप्रदृष्टैः पुरोत्तमेऽरंस्त सदा वराङ्गः ॥ ४९ ॥
स्थानासने निष्क्रमणे सभासु शय्याधिरोहे क्षुतजृम्भणेषु ।
सदा नमस्कारपदानि पञ्च करोति सद्भावपुरस्सराणि ॥ ५० ॥
प्रजेष्टकारी[1] मितमृष्टभाषी विशिष्टशास्त्रार्थनिविष्टबुद्धिः ।
अशिष्टशासी खलु शिष्टपाली कुदृष्टिदृष्टान्तपथैरपेतः[2] ॥ ५१ ॥
ग्लानातिबालस्थविराङ्गनानां मर्यादया पश्यति कार्यजातम् ।
दयापरान्धर्मरुचीन्विनीतान्प्राज्ञांश्च सन्मानयते यथावत् ॥ ५२ ॥

कु० वरांगकी दिनचर्या

राजकुमार बहुत सवेरे उठ जाता था और सूर्योदयके पहिले ही स्नानादि मांगलिक कृत्योंको समाप्त करके अष्टद्रव्यसे श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवकी पूजामें लग जाता था। इसके उपरान्त गुरुओं तथा साधुओंकी यथायोग्य विनय करके उपस्थान (स्वाध्यायशाला) चला जाता था। वहाँपर भी वह स्वके आत्माके उत्थान को प्रयत्न करता था ॥ ४८ ॥

वहाँपर बैठकर भी वह केवली प्रणीत धर्मकी ही प्रभावना करता था, स्वयं समझता था तथा दूसरोंके साथ भी उसीकी चर्चा करता था। प्रत्येक बातको शास्त्रोक्त हेतुओंसे ही नहीं अपितु नूतन तर्कोंसे भी सोचता था। उत्तमपुरमें अब उसका मनोविनोद सदैव इस प्रकार होता था ॥ ४९ ॥

किसी स्थानपर बैठते समय, घरसे बाहर निकलनेके अवसरपर, सभामें जाते हुए, शय्यापर लेटते समय, छींक या जभायी लेनेके प्रसंग आदि सभी अवसरोंपर वह सद्भावपूर्वक पंच-नमस्कार मंत्रका उच्चारण करता था। वह इतना जागरूक था कि सदा प्रजाका भला करता था ॥ ५० ॥

जब बोलता था तो परिमित और मधुर, उसका मन शास्त्रोंके गूढ़ तत्त्व समझनेमें ही उलझा रहता था, असंयमी दुर्जनोंको दण्ड देता था, शिष्ट साधु पुरुषोंका पालन करता था और मिथ्यात्व मार्गपर ले जानेवालों तथा उनके आदर्शोंसे दूर रहता था ॥ ५१ ॥

विविध प्रकारके रोगोंसे पीड़ित, अत्यन्त भोले अथवा मूर्ख अभिभावक हीन शिशु, अत्यन्त वृद्ध तथा महिलाओंके कामों-

१. क प्रचेष्टकारी । २. क पंथेरुपेतः ।

नृपस्तु पुत्रस्य गुणानुदाराञ्जनेरितान्संसदि संनिशम्य ।
प्रहृष्टचेताः प्रियकृत्प्रजानां कृतार्थमात्मानममंस्त सद्यः ॥ ५३ ॥
स्वपुत्रसत्कृत्यनुरक्तबुद्धेर्नृपस्य चित्तानुगतं विदित्वा ।
अनन्तचित्राजितदेवसाह्वा[1] विज्ञापय[2]न्मन्त्रिवरा नरेन्द्रम् ॥ ५४ ॥
प्रकृत्यनुज्ञातगुणो विनीतो दक्षः कृतज्ञश्च कृती सुशास्त्रः ।
एतेषु सर्वेषु भवत्सुतेषु योग्यः प्रजाः पालयितुं वराङ्गः ॥ ५५ ॥
तेषां हितप्रीतिनिवेदकानां स्वराज्यसंवर्धनतत्पराणाम् ।
निशम्य वाक्यान्यनुमन्य राजा राज्याभिषेकाय शशास सर्वान् ॥ ५६ ॥

की मर्यादापूर्वक छानबीन करता था। जो दयामय कार्योंमें व्यस्त रहते थे, धर्माचरणके विशेष प्रेमी थे, स्वभावसे ही विनम्र थे तथा विशेष ज्ञानी थे ऐसे सब लोगोंका मर्यादाके अनुकूल सन्मान करता था ॥ ५२ ॥

सुपुत्रानुराग तथा संतोष

महाराज धर्मसेन राजसभामें जब लोगोंको कुमार वरांगके सेवापरायणता, न्याय-निपुणता, आदि उदार गुणोंकी प्रशंसा करते सुनते थे तो उनका हृदय प्रसन्नताके पूरसे आप्लावित हो उठता था। ऐसे योग्य पुत्रके कारण वह तुरन्त ही अपने आपको कृतकृत्य समझते थे, क्योंकि प्रजाओंको सुखी बनाना उन्हें भी परमप्रिय था ॥ ५३ ॥

अपने पुत्रके सुकर्मोंको देखकर राजाका मन और मस्तिष्क दोनों ही उसपर दिनों-दिन अधिक अनुरक्त होते जाते थे, मंत्रियोंने राजाके मनकी इस बातको भाँप लिया था अतएव अनन्तसेन, चित्रसेन, अजितसेन तथा देवसेन चारों प्रधान मंत्रियोंने राजाके पास जाकर निम्न प्रकारसे निवेदन किया था ॥ ५४ ॥

राज्याभिषेक प्रस्ताव

महाराज ! कुमार वरांग स्वभावसे ही विनम्र और मर्यादापालक हैं, प्रत्येक कार्यको करनेमें कुशल हैं, आश्रितों तथा हितुओंकी कार्य क्षमताको परखते हैं (फलतः लोग अनुरक्त हैं) सब प्रकारसे योग्य हैं, समस्त शास्त्रोंके पंडित हैं तथा प्रजा उनकी इन सब विशेषताओंको समझती है इसीलिए उनपर परम अनुरक्त है। इन सब कारणोंसे महाराजके सब पुत्रोंमेंसे कुमार वरांग ही प्रजाका भली-भाँति पालन करनेमें समर्थ हैं ॥ ५५ ॥

महाराज धर्मसेनके राज्यको सब प्रकारसे सम्पन्न बनानेमें उन मंत्रियोंका काफी हाथ था, तथा उनकी सम्मति हित-

---

१. [धीवराह्वा]। २. [व्यज्ञापयन्]।

आज्ञापितास्ते वसुधेश्वरेण अमात्यसेनापतिमन्त्रिवर्गाः ।
श्रेष्ठिप्रधानाः पुरवासिनश्च संपादयांचक्रुरभीप्सितानि ॥ ५७ ॥
वीथिप्रवेशोद्धृतकेतुमाला विन्यस्तनानाबलिभक्तिचित्राः ।
पर्णापिधानोज्ज्वलपूर्णकुम्भाः सतोरणालम्बितलोलमालाः ॥ ५८ ॥
सुगन्धिसच्चन्दनकुङ्कुमार्द्रा महार्घ्यवस्त्राभरणा युवानः ।
गृहीतचित्रध्वजपाणयस्ते आजग्मुरत्युज्ज्वलचारुवेषाः ॥ ५९ ॥
पुराङ्गना मङ्गलयोग्यलीलाः सलज्जिकाः सज्जितभूषणाढ्याः ।
अलङ्कृताङ्गयः समदाः सलीलं समन्ततो निर्ययुरम्बुजास्याः ॥ ६० ॥

कर और प्रिय होती थी अतएव जब राजाने उनके उक्त वचनोंको सुना तो उनसे सहर्ष सहमत होकर कुमारके राज्याभिषेककी तैयारी करनेकी आज्ञा दी थी ॥ ५६ ॥

पृथ्वीके प्रभु धर्मसेन द्वारा आज्ञा दिये जानेपर ही राज्यके आमात्यों, विभागीय मंत्रियों, सेनापतियों, सेठों तथा सेठों की श्रेणियोंने तथा समस्त पुरवासियोंने थोड़ा सा भी समय व्यर्थ नष्ट किये बिना, राजाके मनके अनुकूल प्रत्येक कार्यको सुसज्जित कर दिया था ॥ ५७ ॥

नगर सज्जा

प्रत्येक मार्ग या गलीके प्रारम्भ होनेके स्थान (मोड़) पर तोरण खड़े किये थे उनपर मालाएँ और ध्वजाएँ लहराती थीं तथा उनके सामने सुन्दर मांगलिक चौक पूरकर उनपर पुष्प, फल आदि पूजाकी सामग्री चढ़ायी गयी थी। स्वागत द्वारके दोनों तरफ अत्यन्त उज्ज्वल मंगल कलश रखे थे जो कि निर्मल जलसे भरे थे और उनके मुख सुन्दर हरे पत्तोंसे भली-भाँति ढके थे। तोरणकी प्रत्येक ओर चंचल मालाएँ लहरा रही थी ॥ ५८ ॥

नगर के सब ही युवक बहुमूल्य कपड़े और गहने आदि को पहिनकर सुगन्धित चन्दन, कुंकुम, आदि मांगलिक पदार्थों को उपयोग करते थे फलतः उनका वेशभूषा सर्वथा स्वाभाविक, अत्यन्त उज्ज्वल आकर्षक लगता था। इस प्रकार सजकर वे उत्सव की तैयारी में रंग विरंगे तथा सचित्र ध्वजाएं लेकर घूमते थे ॥ ५९ ॥

नगर की नायिकाओं की वेशभूषा तथा चेष्टाएं भी उत्सव के समयके अनुकूल थी। वे स्वभाव से ही लजीली थीं तो भी उन्होंने उत्सव के लिए अंग, अंग का शृङ्गार किया था उनके भूषणों से मनोहर 'झुन-झुन' ध्वनि निकलती थी। सबके मुख कमलोंके समान विकसित और आकर्षक थे। ऐसी युवतियां यौवनके मद और विलासके साथ नगरमें इधर-उधर आती-जाती रहती थी ॥ ६० ॥

शुभे मुहूर्ते करणे तिथौ च सौम्यग्रहेषूपचयस्थितेषु ।
सिंहासने श्रीमति राजपुत्रं निवेशयां पूर्वमुखं बभूवुः ॥ ६१ ॥
आनन्दितप्रीतिमुखे हताशाः[1] पुरप्रवेशं सकलं ननाद (?) ।
वंशा मृदङ्गाः पणवाः स्वरैस्स्वैरापूरयां सर्वदिशां बभूवुः ॥ ६२ ॥
अष्टादशश्रेणिगणप्रधाना बहुप्रकारैर्मणिरत्नमिश्रैः ।
गन्धोदकैश्चन्दनवारिभिश्च पादाभिषेकं प्रथमं प्रचक्रुः ॥ ६३ ॥
सामन्तभूमीश्वरभोजमुख्या आमात्यसांवत्सरमन्त्रिणश्च ।
ते रत्नकुम्भैर्वरवारिपूर्णैर्मूर्धाभिषेकं मुदिताः प्रचक्रुः ॥ ६४ ॥
स्वयं नरेन्द्रो युवराजपट्टं पुरस्कृतश्रीयशसे बबन्ध ।
नृपाज्ञयाष्टौ वरचामराणि संचिक्षिपुस्तान्यभितस्तरुण्यः ॥ ६५ ॥

राज्याभिषेक

जिस शुभ तिथि, करण और मुहुर्तमें रवि, शशि आदि नवग्रह सौम्य अवस्थाको प्राप्त करके अपने-अपने उच्च स्थानों में पहुँच गये थे उसी कल्याणप्रद मुहुर्तमें राजाने कुमार वरांगको अत्यन्त शोभायमान महार्ध्य सिंहासन पर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठाया था ॥ ६१ ॥

उस आनन्द और प्रीतिके अवसर पर नगर के प्रत्येक प्रवेश द्वारपर, बांसुरी, मृदंग, पटह आदि बाजे जोर-जोर से बजाये जा रहे थे, उनकी ध्वनि आकाशको चीरती हुई दूरतक चली गयी थी और उनके स्वरसे सब दिशाएं गूँज उठीं थीं ॥६२॥

सबसे पहिले शिल्पी, व्यवसायी आदि अठारह श्रेणियों के मुखियोंने वरांगके चरणों का अभिषेक सुगन्धित उत्तम जलसे किया था । उस जलमें चन्दन घुला हुआ था तथा विविध प्रकारके मणि और रत्न भी छोड़ दिये थे ॥ ६३ ॥

इसके उपरान्त सामन्त राजाओं, सम्बन्धी श्रेष्ठ भूपतियों, भुक्तियोंके अधिपतियों, आमात्यों, मन्त्रियों सांवत्सरों (ज्योतिषी, पुरोहित आदि) ने आनन्द के साथ रत्नोंके कलशोंको उठाकर कुमारका मस्तकाभिषेक किया था। उनके रत्न-कुम्भों में भी पवित्र तीर्थोदक भरा हुआ था ॥ ६४ ॥

अन्तमें महाराज धर्मसेनने अपने आप उठकर कुमार को युवराज पदका द्योतक पदक (मुकुट तथा दुपट्टा) बाँधा था जो कि लक्ष्मी और यशको बढ़ाता है । तथा महराज की आज्ञासे आठ युवती चमरधारिणियोंने कुमार के ऊपर सब तरफ से चमर ढोरना प्रारम्भ कर दिये थे ॥ ६५ ॥

---

१. क हताशा ।

चलत्पताकोज्ज्वलकेतुमाला प्राकारकाञ्ची स्तुतितूर्यनादा ।
प्रपूर्णकुम्भोरुपयोधरा सा पुराङ्गना लब्धपतिस्तुतोष ॥ ६६ ॥
सबालवृद्धं जनमात्मनीनं पुराणि राष्ट्राणि च पत्तनानि ।
यानानि रत्नानि च वाहनानि समर्पयद्भूमिपतिः सुताय ॥ ६७ ॥
यथा मयि स्नेहनिबद्धचित्ताः सर्वे भवन्तो मम शासनस्थाः ।
तथावनीन्द्रास्तनयस्य नित्यं भवन्तु[1] वश्या इति तानुवाच ॥ ६८ ॥
जगज्जना बालनराधिपं तं श्रियोज्ज्वलन्तं नयनाभिरामम् ।
किरीट[2]सत्कुण्डलहारभारं प्रोचुः समीक्ष्यात्ममनोगतानि ॥ ६९ ॥

नगर में चारों ओर पताकाएँ लहरा रहीं थी, निर्मल केतु और मालाएं हर तरफ दिखायी देती थीं, नगर को परकोटा, रूपी करधनी ने घेर रखा था, स्तुति पाठक और बाजों का शोर गूंज रहा था, तथा हर स्थान पर जलपूर्ण कलशोंरूपी स्तनों को भरमार थी। इन सब सादृश्यों के कारण नगर-लक्ष्मी एक स्त्री के समान शोभाको प्राप्त थी तथा ऐसा मालूम देता था कि नगर रूपी स्त्री युवराज रूपी वरको पाकर सन्तोष से रास-लीला कर रही है ॥ ६६ ॥

इसके उपरान्त महाराज धर्मसेन ने बच्चे से लेकर वृद्धपर्यन्त अपने कुटुम्बी और परिचारकोंको, राज्य के सब नगरों पत्तनों (सामुद्रिक नगर) आश्रित राष्ट्रों, समस्त वाहनों, रथ आदि यानों तथा रत्नों को विधिपूर्वक अपने पुत्रको सौंप दिया था ॥ ६७ ॥

अधिकारार्पण

उसने उपस्थित नागरिकों, कर्मचारियों, सामन्तों आदिसे यह भी कहा था कि आप लोग जिस प्रकार मुझपर प्रेम करते थे, मेरे अनुगत थे तथा मेरी आज्ञाओं और शासन का पालन करते थे उसी प्रकार आप लोग मेरे पुत्रपर सदा प्रेम करें और उसके शासन को मानें ॥ ६८ ॥

राजा वरांग

बाल नृपति वरांग अपनी शोभा और लक्ष्मीके द्वारा चमक रहे थे, दर्शकों की आँखें उन्हें देखकर शीतल हो जाती थीं, शिर पर बँधे मुकुट, कानों में लटकते कुण्डलों तथा गलेमें खेलती मणिमाला, आदि के कारण वह और अधिक आकर्षक हो गये थे। उनको देखते ही दर्शकों के मनमें अनेक भाव उठने लगते थे जिन्हें उन लोगों ने निम्न प्रकारसे प्रकट किया था ॥ ६९ ॥

---

१. म भजन्तु । २. क तिरीट° ।

सर्वान्नरेन्द्रानभिभूय भासा रराज सम्यग्युवराज एषः ।
प्रणष्टमेघे गगने निशायां ग्रहानिवैकः परिपूर्णचन्द्रः ॥ ७० ॥
एतस्य पूर्वार्जितपुण्यबीजं विद्मो वयं चेदमितप्रभस्य ।
विसृज्य पूर्वापरयोगतारं[1] समर्चयिष्याम इति व्यवोचत्[2] ॥ ७१ ॥
दायादकानां च नृपात्मजानां चेतांसि तान्याकुलितान्यभूवन् ।
कुलं बलं रूपमपीह लब्ध्वा स्थानं च यन्न ह्यलभामहीति ॥ ७२ ॥
ग्रहाश्च तारा निशि मन्दमन्दं प्रकाशमानाः पुनरर्कभासा ।
[3]आदर्शनं यान्ति यथैव लोके तथा वयं बालनृपार्कभासा ॥ ७३ ॥
बाल्यात्प्रभृत्येव हि मल्लयुद्धे प्रधावने वा हयवारणानाम्[4] ।
पञ्चायुधे शास्त्रपरीक्षणे वा नास्मत्समो बालनृपः कदाचित् ॥ ७४ ॥

यह युवक राजा अपनी कान्ति और तेजके द्वारा समस्त राजाओं को जीत लेता है, इसकी शोभा निर्दोष और अनुकरणीय है। यह यहाँपर वैसा ही शोभित हो रहा है जैसा कि पूर्णिमाका चन्द्रमा मेघमाला के फट जानेपर आकाशके समस्त ग्रहों और नक्षत्रोंके बीच चमकता है ॥ ७० ॥

इसकी प्रभा अपरिमित है, यदि हम किसी तरह पूर्वभवमें संचित किये गये इसके पुण्यकर्मों रूपी बीज को जान पाते तो आगा पीछा सोचना छोड़कर तथा छोटे बड़ेके भेदभावको भुलाकर भक्तिभावपूर्वक इसकी पूजा ही करते, इस प्रकारसे अनेक लोग कह रहे थे ॥ ७१ ॥

राजाके दूसरे पुत्र जो कि पूर्ण राज्य पानेके अधिकारी हो सकते थे, किन्तु पा न सके थे, उनके चित्त युवराज वरांग का पूर्वोक्त अभ्युदय देखकर दुखी हो गये थे। वे सोचते थे 'हम भी उत्तम कुलमें उत्पन्न हुये हैं, हम भी रूपवान हैं तथा हमारी भुजाओं में भी पराक्रम है तो भी हम राज्यलक्ष्मी के द्वारा वरण न किये गये ॥ ७२ ॥

रात्रिके अन्धकार में चन्द्रमा,शनि आदि ग्रह तथा रोहिणी आदि तारे मन्द प्रकाश करते हैं, किन्तु प्रातःकाल जब सूर्य उदित होता है तो उसके तीक्ष्ण उद्योतमें सब न जाने कहाँ लुप्त हो जाते हैं, हमारी भी यही अवस्था है, आजतक हम भी राज के भागी थे किन्तु आज से युवक राजा के प्रतापमें हम लुप्त हो गये हैं ॥ ७३ ॥

आजका युवक राजा बचपन से ही मल्ल युद्धमें, दौड़में, हाथी घोड़े की सवारीमें, तलवार, भाला आदि पाँच मुख्य हथियार चलानेमें तथा शास्त्रों की सूक्ष्म गुत्थियाँ सुलझानेमें कभी भी हम लोगों की समानता न कर सका था ॥ ७४ ॥

---

१. [°योग्यतां च]। २. [व्यवोचन्]। ३. [अदर्शनं]। ४. क हयवारणेषु ।

संसेव्य तादृग्विधमल्पसत्त्वं संजीवमानो[1] मरणं वरं तत् ।
देशातिथित्वं ज्वलनप्रवेशो विषाशनं वा क्षममित्यवोचन्[2] ॥ ७५ ॥
तेषां पुनर्मानमदोद्धतानां नृपात्मजानां वचनं निशम्य ।
प्रत्यूचुरन्ये क्षितिपालपुत्रा [3]औदार्यतो रागविनोदनाय ॥ ७६ ॥
सत्त्वाधिकः शिल्पकलाविदग्धो विपश्चिदप्युन्नतवंशजो वा ।
रूपान्विता वा कृतिनः पुरस्तात्प्रधावतीत्येष विनिश्चयो नः ॥ ७७ ॥
पुष्पाणि ताम्बूलविलेपनानि चित्राणि वस्त्राणि विभूषणानि ।
आ बाल्यतो वः प्रविभज्य भुङ्क्ते न तस्य हानिर्भवतां विनाशः ॥ ७८ ॥

इस प्रकारके साधारण शक्तिशाली व्यक्तिको—जो कि आज राजा बन बैठा है सेवा करके तथा उसे अपना प्रभु मानकर जीवित रहने से तो हम लोगों का मर जाना ही अच्छा है, यदि शस्त्रसे मरना कष्टकर है तो विष खाकर या आगकी ज्वाला में कूंदकर प्राण गंवाना चाहिये। यदि यह भी शक्य नहीं है तो इस देश को छोड़कर देश देश मारा फिरना भी उपयुक्त होगा ॥ ७५ ॥

गुणज्ञता का उपदेश

मिथ्या अहंकार के नशेमें आकर उक्त प्रकार से अशिष्ट व्यवहार करनेवाले उन राजपुत्रों की उक्त ईर्ष्यामय उक्तियों को सुनकर दूसरे राजपुत्रोंने जो कि बड़े राजाओं के पुत्र थे तथा अधिक विशाल हृदय ही नहीं गम्भीर भी थे—उनके निराशाजन्य क्रोधसे मनोविनोद करनेकी इच्छा से निम्न वचन कहे थे ॥ ७६ ॥

माना कि तुम अधिक पराक्रमी हो, शिल्प आदि समस्त कलाओंका पंडित हो इतना ही नहीं विद्वान् भी हो और उच्च कुल में उत्पन्न भी हुये हो, सुन्दर और आकर्षक रूपवान अथवा रूपोत्तम हो, तो भी हम लोगों का दृढ़ निश्चय है कि ऐसे सुयोग्य व्यक्तिको भी पुण्यात्माके आगे-आगे दौड़ना पड़ता है। यतः राजकुमार वरांग समस्त पुण्यात्मा लोगोंके अगुआ हैं इसीलिए राजा होने योग्य हैं ॥ ७७ ॥

इसीलिए बालकपनसे ही आप लोग उसके सौभाग्यके कारण सुलभ सुन्दर वस्त्र, अद्भुत आभूषण, फूल मालाएँ पान पत्ता, सुगन्धित तेल, उबटन, आदिको उससे बाँट बांटकर भोगते थे। किन्तु इससे उसकी कोई हानि नहीं हुई क्योंकि यह सब भोग उसके भाग्यमें लिखे हैं, हां, आप लोगोंका सत्यानाश अवश्य हो गया है क्योंकि आज आप लोग किसी काम के नहीं हैं।

१. [संजीवतां नो]। २. म अवोचत्। ३. म चौदार्यतो।

केनाभिषिक्तः करिराड्वनेषु तत्तुल्यरूपास्त्वितरे गजाश्च ।
वन्या गजास्तेऽपि वशानुगाश्चेत्कथं न वश्यः परपोषजीवी[1] ॥ ७९ ॥
न शक्यतेऽर्कः स्थगितुं करेण नासूयता[2] नश्यति या परस्त्रीः[3] ।
अपुण्यवद्भिः कृतपूर्वपुण्याः संसेवनीया इति लोकसिद्धम् ॥ ८० ॥
अथेतरे मानमदान्धनेत्रा भृशं स्वरोषस्फुरिताधरोष्ठाः ।
सगद्गदासक्तनिधृष्टवाक्या नृपात्मजोक्ताश्चुकुपुस्तदानीम् ॥ ८१ ॥
राजात्मजा किं न भवाम सर्वे किं मातरोऽन्येनुमताः[4] कुलीनाः ।
किं शौर्यवीर्यद्युतिधैर्यहीनाः किं वाथ लोके व्यवहारबाह्याः ॥ ८२ ॥
स किं विसोढुं युवराज्यभारं स्थितेषु चास्मासु विगृह्य सक्तः[5] ।
सुवर्णसारो निकषोपलेन भविष्यति व्यक्तिर[6]वश्यमाशु ॥ ८३ ॥

हाथियोंके राजाको जंगलमें सब हाथियों का (गजराज) मुखिया कौन बनाता है उसका कोई अभिषेक नहीं होता है। तथा दूसरे अनुचर हाथी भी रूप, आकार आदिमें उसके ही समान होते हैं। अपने आप अपना भरणपोषण करनेवाले जंगली हाथी भी यदि कारणान्तरसे दूसरोंके वशमें हो जाते हैं तो दूसरेकी कृपाकर पलापुषा व्यक्ति क्यों अपने पालकका अनुगामी न होगा ? आप लोग विवेकसे काम लें ॥ ७८-७९ ॥

क्या सूर्यका प्रकाश हाथकी आड़से रोका जा सकता है ? तथा दूसरेकी सम्पत्ति ईर्षा करनेसे नष्ट नहीं होती है। यह संसारका सुविख्यात नियम है कि विशेष पुण्याधिकारी पुरुषोंकी सेवा और भक्ति उन लोगोंको करना ही चाहिये जिन्होंने पूर्व-जन्ममें कोई पुण्यकर्म नहीं किया है ॥ ८० ॥

वहाँपर कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जिनको विवेकरूपी आँखें अहंकाररूपी मद (नशे) के कारण मुँद गयी थी। यही कारण था कि योग्य राजपुत्रोंके पूर्वोक्त वचनोंको सुनकर वे उस समय अत्यन्त कुपित हो उठे थे। उनका क्रोध इतना बढ़ गया था कि उनके ओठ फड़कने लगे थे, गला रुंध भारी हो गया था तो भी वे कुत्सित और अश्लील वाक्य बक रहे थे ॥८१॥

क्या हम लोग राजाके पुत्र नहीं हैं, क्या हमारी माताका कुल (जाति) शुद्ध नहीं है, हम लोग पराक्रम, बाहुबल, तेज, कान्ति, धैर्य आदि किस गुणमें वरांगसे कम हैं ? ऐसी कौन-सी लौकिक व्यवस्था अथवा व्यवहार है जिसे हम लोग नहीं समझते हैं ॥ ८२ ॥

मत्सरी पुरुष-कर्म

क्या आपका विशेष पुण्याधिकारी राजकुमार हम लोगोंके होते हुए भी युद्ध करके युवराज पदको धारण कर सकता

---

१. क परमोपजीवी । २. [नासूयया] । ३. [परस्त्रीः] । ४. [मातरो नो न मताः] । ५. [शक्तः] । ६. [व्यक्तम°] ।

इत्येवमाभाष्य नरेन्द्रपुत्राः परस्पराकूतविनिश्चयार्थाः ।
ततः सुषेणप्रमुखा नृशंसा उत्तस्थुरत्र व्यवहारबुद्ध्या ॥ ८४ ॥
ते मन्त्रिणस्तान्सहसा समीक्ष्य विजृम्भितक्रोधविरूढदर्पान् ।
निष्केवलं वाक्कलहप्रवृत्तान्निवारयां राजसुतान् बभूवुः ॥ ८५ ॥
युवनृपतिमुदीक्ष्य राजपुत्रास्तुतुषुरुदारधियः स्वभावभद्राः ।
सकलुषहृदयाः प्रवृद्धरागा रुरुषुरनुष्ठितमत्सरास्तथान्ये ॥ ८६ ॥
अथ युवनृपतिर्विशालपुण्यः सकलदिगन्तविसर्पिकीर्तिमालः ।
अवनिमुदधिमेखलाकलापां मुदितजनां स बभूव जेतुकामः ॥ ८७ ॥

इतिधर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
युवराज्यलाभो नाम एकादशमः[1] सर्गः ।

●

है ? कसौटीपर कसनेके बाद ही सोनेकी शुद्धि और मंचाई शीघ्र ही प्रकट हो जाती है ऐसा आप लोग निश्चित समझें ॥ ८३ ॥

इस प्रकारसे बक-झक करनेके बाद उन अशिष्ट राजपुत्रोंने एक दूसरेको ओर देखा और संकेत द्वारा अपने कुकर्त्तव्यका निश्चय कर लिया था। इसके उपरान्त वे सब निर्दय राजकुमार सुषेणके नेतृत्वमें प्रहारोंका आदान-प्रदान (युद्ध) करनेको इच्छासे उठ खड़े हुए थे ॥ ८४ ॥

इसी समय अनन्तसेन, आदि मंत्रियोंने देखा कि सुषेण, आदि राजकुमार सहसा ही अत्यन्त कुपित हो उठे हैं उनका अहंकार तथा हठ भी रौद्रताका रूप धारण कर रहा है, तथा व्यर्थ ही में मुखसे वाचनिक कलह कर रहे हैं। तब उन्होंने जाकर उन्हें समझा बुझाकर मूर्खता करनेसे रोक दिया था ॥ ८५ ॥

जो राजा तथा राजपुत्र स्वभावसे ही शान्त और भले थे तथा जिनका विवेक विशाल था वे युवक राजाको देखकर उनकी योग्यताओंके कारण हृदयसे संतुष्ट हुए थे। तथा अन्य राजकुमार जिनके मन मलीन थे, स्वार्थबुद्धि और पक्ष-पात बढ़ा था तथा जो दूसरेका अभ्युदय देखकर जलते थे वे वरांगको राजसिंहासनपर देखकर आपाततः कुपित हुए थे ॥ ८६ ॥

युवक राजा वरांगका पुण्य विशाल था, उनकी कीर्ति दशों दिशाओंके सुदूर ओर-छोर तक फैली थी अतएव उन्होंने पिताके द्वारा जीती गयी उस पृथ्वीको दिग्विजय करनेका निर्णय किया जिसकी करधनी उसे चारों ओरसे घेरनेवाले समुद्र हैं और जिसपर सुखी और सम्पन्न लोग निवास करते हैं ॥ ८७ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
युवराज्यलाभ नाम एकादश सर्ग समाप्त ।

१. [एकादशः] ।

द्वादशः सर्गः

नृपाङ्गनाभिर्वररूपिणीभिः सहोपविष्टा नरदेवदेवी ।
तुतोष पुत्रस्य हि राज्यलाभं संश्रुत्य राजप्रहितान्मनुष्यात् ॥ १ ॥
अभ्यागतं प्रीतिनिवेदनाय संपूज्य वस्त्राभरणप्रदानैः ।
नरेन्द्रपत्नी स्वजनस्य मध्ये अद्यास्मि देवीति मुदाभ्यवोचत् ॥ २ ॥
श्रुत्वा वराङ्गस्य हि यौवराज्यं सर्वाः सपत्न्यो गिरमित्थमूचुः ।
अस्माकमस्मत्सुतबान्धवानां पुरापि नाथासि विशेषतोऽद्य ॥ ३ ॥
तासां समाजे नृपसुन्दरीणां काचिन्नृपेष्टा मृगपूर्वसेना ।
अमर्षसंक्षोभितमानसा सा अधोमुखी स्वं भवनं जगाम ॥ ४ ॥

द्वादश सर्ग

मातृ-स्नेह तथा विमाता-असूया

अन्तःपुरके सौन्दर्य-गुणोंकी खान महाराजा धर्मसेनकी पट्टरानी अन्य रानियों तथा एकसे एक रूपसियोंके साथ अन्तःपुरमें विराजमान थीं कि उसी समय नृपतिवरके द्वारा भेजे गये किसी संदेशवाहकने महारानीको उनके पुत्र वरांगके यौवराज्याभिषेककी सूचना दी। पुत्रकी राज्यप्राप्तिका समाचार पाते ही वे आनन्दविभोर हो उठीं थीं ॥ १ ॥

जो व्यक्ति इस प्रिय तथा सुखद समाचारको लेकर आया था उसका महारानीने वस्त्र, आभूषण आदि भेंट करके स्वागत सन्मान किया था। हर्षसे प्रसन्न होकर उसने अपने सगे सम्बन्धियोंसे भी उसी समय यह कहा था कि 'मैं आज वास्तवसे देवी हुई हूँ ॥ २ ॥

किन्तु वरांगके युवराजपद पानेकी सूचना सुनकर ही महारानीकी सौतोंने ये वाक्य कहे थे 'हे महारानी आप हम लोगों, हमारे पुत्रों तथा सगे सम्बन्धियोंकी पहिलेसे पालक पोषक थीं और आजसे तो विशेषकर आप हम लोगोंकी रक्षक हैं ॥३॥

राजाकी इन अनुपम सुन्दरी रानियोंके समूहमें एक रानी राजाको बहुत प्यारी थी, उनका नाम (सेना शब्दके पहिले मृग शब्द जोड़नेसे बनता) मृगसेना था। उक्त समाचार सुनकर उनका चित्त क्रोधसे इतना अधिक खिन्न हो उठा था कि उन्होंने अपना मुख नीचा कर लिया और वहाँसे उठकर अपने प्रासादमें चली गयी थी ॥ ४ ॥

तत्रोपविश्य स्रवदश्रुनेत्रा करापसंधारितवामगण्डा ।
विचिन्तयन्ती कृतमीश्वरेण निनिन्द सा दुःकृत[1]पाकमित्थम् ॥ ५ ॥
न स्यात्सुतः किं नृपतेः प्रियो वा के वा गुणा मत्तनये न सन्ति ।
ज्येष्ठे सुते राज्यधुरः समर्थे पराभिषेकं तु कथं सहिष्ये ॥ ६ ॥
इत्येवमात्मन्यविचार्यं कार्यं मुहुर्मुहुः कोपवशाज्ज्वलन्ती ।
सुषेणमाहूय विविक्तदेशे प्रोवाच राज्ञी सुतमात्मनस्तम् ॥ ७ ॥
नो वत्स कार्यं विदितं त्वयैव वराङ्गनाम्नो युवराज्यलाभम् ।
ज्ञात्वा[2] यतः क्षीणनृपात्मशक्तिः स्थितोऽसि तूष्णीं धिग्पौरुषत्वम्[3] ॥८॥
नीचानुवृत्तेः प्रियजीवितस्य निरस्तसत्त्वस्य हि मन्दशक्तेः ।
परावधूतार्थपराक्रमस्य का जन्मवत्ता[4] भुवि पुत्र पुंसः ॥ ९ ॥

वहाँ जाकर बैठते ही उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धार बह पड़ी थी। शोक और अनुतापके कारण उसने अपने बाँये गालको हथेलीपर रख लिया था। रह रहकर वह यही सोचती थी कि सर्वशक्तिमान दैवने यह क्या किया ? तथा अन्तमें पूर्व-कृत पापोंके परिणामकी निन्दा करती थी ॥ ५ ॥

क्या मेरा पुत्र, राजपुत्र नहीं है, वह राजाको प्यारा क्यों नहीं है ! ऐसे कौनसे गुण हैं; जो मेरे लाड़लेमें न हों। संसारमें सुयोग्य बड़े लड़केपर ही पिता राज्यभार देता है, किन्तु उक्त गुणयुक्त मेरे बड़े बेटेको छोड़कर दूसरेका राज्याभिषेक कैसे सह्य होगा ॥ ६ ॥

रानी मृगसेना निराशाजन्य क्रोधकी लपटोंसे रह-रहकर झुलस उठती थी अतएव वह उक्त प्रकारकी द्विविधाओंके कारण मन ही मन अपना कर्त्तव्य निश्चित नहीं कर पाती थी। फलतः उसने अपने प्रियपुत्र सुषेणको एकान्तमें बुलाया और उसको निम्न प्रकारसे कहना (भरना) प्रारम्भ किया था ॥ ७ ॥

कुमाताकी भर्त्सना

हे बेटा ! वरांग नामके राजपुत्रको युवराज पद प्राप्त हो रहा है इस बातका तुम्हें स्वयं ही पता लगाना चाहिये था न ? यदि तुम्हें यह बात पहिलेसे ज्ञात थी और इसे जानकर भी अपने आपकी या राजाकी शक्तिको कम समझकर तुम चुप रहे, तो तुम्हारे पुरुषार्थ और पुरुषत्व दोनोंको धिक्कार है ॥ ८ ॥

जीवनके मोहमें पड़कर जो व्यक्ति हीन पुरुषों के समान आचरण करने लगता है, शक्तिके कम होनेके कारण जो पुरुष

१. क साधुः कृत°। २. [ज्ञात्वा च यत्क्षीण°]। ३. [धिगपौरुष त्वम्]। ४. म वा जन्मवर्ता (?)।

समीक्षमाणा गुणदेविकायास्तस्याः सुतस्यापि वरां विभूतिम् ।
प्राणान्विसोढुं न सहेऽतिमात्रं शिरस्तु मे विस्फुटतीव कोपात् ॥ १ ॥
मात्रैवमुक्तो निजगौ सुषेणो नैवाम्ब नाज्ञायि न चानशक्तेः (?) ।
राज्ञा कृतं वेत्त्यनवेक्ष्य सर्वमथाशिषं युद्धमति विगृह्य ॥ ११ ॥
तदैव कैश्चिन्नृपजैः सहायैरुद्यम्य खड्गं स्फुरदंशुजालम् ।
त्वं वा महीं पाह्यथवा वयं वा इति स्थितं मान्यरुचत्स[3] मन्त्री ॥ १२ ॥
वचो निशम्यात्मसुतस्य राज्ञो आहूय तं मन्त्रिणमात्मनीनम् ।
पूर्वोपचारैरभिसंप्रपूज्य वचः प्रसह्येदमवोचदित्थम् ॥ १३ ॥

पराक्रम करना छोड़ देता है तथा जिसके बल और पराक्रमको दूसरे लोग नष्ट कर देते हैं, उस मनुष्यके इस पृथ्वी पर जन्म लेनेसे क्या लाभ ? ॥ ९ ॥

मैं जब गुणदेवीके सौभाग्यका सोचती हूँ और उसके पुत्रको उत्कृष्ट विभूति और वैभवका विचार करती हूँ, तब, क्रोधकी अधिकताके कारण मेरा माथा फटने लगता है, तथा इन गर्हित प्राणोंको तो मैं अब बिल्कुल धारण कर ही नहीं सकती हूँ ॥ १० ॥

सुषेणकी दुरभिसंधि

माताके द्वारा पूर्वोक्त प्रकारसे लांछित किये जानेपर सुषेणने निर्वेदपूर्वक कहा 'हे माता ! मुझे इसका पता नहीं था ऐसी बात नहीं है, और न मैं कम शक्तिशाली होनेके कारण ही चुप रह गया हूँ, अथवा यह सब राजा (मेरे पिता) के द्वारा ही किया गया है इस बातकी भी उपेक्षा करके मैं तो युद्ध करनेका निर्णय करके वहीं डट गया था ॥ ११ ॥

उसी समय कुछ और राजपुत्र मेरी सहायताके लिए कटिबद्ध हो गये थे फलतः मैंने वह तलवार उठायी थी जिसकी जाज्वल्यमान किरणों को चारों ओर चकाचौंध फैला रही थी । "हे वरांगकुमार ! तुम या हम लोग ही पृथ्वीका पालन करेंगे ?" कह-कर जब मैं मैदानमें जम गया था तब मुझे उस बुड्ढे मंत्रीने रोक दिया ॥ १२ ॥

मृगसेनाका कुचक्र

अपने पुत्रके वक्तव्यको सुनकर रानीने अपने विश्वस्त मंत्रीको बुलाया था । आते ही पहले तो उसका खूब स्वागत सन्मान किया और उसके उपरान्त साहसपूर्वक उससे यह वचन कहे थे ॥ १३ ॥

---

१. क अतिमात्रां । २. क निस्फुटति । ३. [मां न्यरुधत्] ।

यथा पितृभ्यां प्रहितोऽस्मदर्थं तयोपकारो भवता कृतश्च ।
यत्नैर्द्रुमं संपरिवर्ध्य भूयो विच्छेत्स्यसि त्वं तव का चिकीर्षा ॥ १४ ॥
वयं विशुद्धा यदि च त्वदर्थे अस्मत्सुहृद्भिः सुकृतं यदि स्यात् ।
निवर्त्य तस्याद्य हि यौवराज्यं सुषेणयास्थापय यौवराज्ये ॥ १५ ॥
न्यायादपेतं यदि युक्तिमच्च[1] निशम्य राज्ञोवचनं सुबुद्धिः ।
अपक्षरागस्त्वतिदूरदर्शी चिरं परीक्ष्यैतदवोचदर्थम् ॥ १६ ॥
वाञ्छन्ति ये नाशयितुं सपुण्यं ते यान्ति पूर्वं हि विनाशमाशु ।
मत्तद्विपेन्द्रैः सह युध्यमानाः प्रयान्ति नाशं कलभाः पुरैव ॥ १७ ॥
न शक्यते स्थापयितुं गतश्रीर्न शक्यते नाशयितुं पृथुश्रीः ।
यथात्मना पूर्वमुपाश्रितश्रीस्तथैव सा संश्रयते नरः श्रीः[2] ॥ १८ ॥

जैसा कि मेरे माता पिताने आपको हमारी सहायताके लिए यहाँ भेजा था आपने समय पड़नेपर हमारी वैसी ही रक्षा की है, किन्तु जिस वृक्षको आपने इतनी चिन्ता और यत्नसे बढ़ाया है अब फिर उसे ही क्यों काटते हैं ! क्या आपकी कर्तृव्य-शक्तिका यही रूप है ? ॥ १४ ॥

यदि हम लोग आपकी दृष्टिमें शुद्ध हैं अथवा यदि हम लोग आपके शुद्ध पक्षपाती हैं, यदि हमारे कुटुम्बियों और मित्रों-ने आपका कभी कोई उपकार किया है तो आज उस (वरांग) के युवराज पदके अभिषेकको उलट दीजिये और सुषेणको युव-राजके सिंहासनपर बैठा दीजिये ॥ १५ ॥

मंत्रीकी बुद्धि प्रखर तथा सत्पथ गामिनी थी अतएव रानीके नीति और न्यायके प्रतिकूल हो नहीं अपितु सर्वथा युक्ति-हीन वचनोंको सुनकर भी उसके मनमें किसी प्रकारके पक्षपातकी भावना तक न जगी थी। वह अत्यन्त दूरदर्शी था। फलतः रानीके पूर्वोक्त कथनपर उसने काफी देरतक मन ही मन विचार किया और अन्तमें इस प्रकारसे उत्तर दिया था ॥ १६ ॥

सन्मन्त्री-उपदेश

'जो व्यक्ति पुण्यात्मा साधुपुरुषोंका नाश करना चाहते हैं वे सबसे पहिले अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक स्वयं ही इस संसारमें निःशेष हो जाते हैं। क्या आपने नहीं सुना है कि जंगलमें जब हाथियोंके बच्चे किसी कारणसे मदोन्मत्त हाथियोंसे भिड़ जाते हैं तो वे बड़े हाथियोंका बालबांका किये बिना स्वयं ही पहिले मर जाते हैं ॥ १७ ॥

जिस व्यक्तिके भाग्यसे लक्ष्मी उतर गयी है उसे प्रयत्न करके भी उन्नत पदपर नहीं बैठाया जा सकता है। इसी प्रकार

---

१. [यदयुक्तिमच्च]। २. क नर श्रीः, [नरं श्रीः]।

अनागतं कार्यमुपस्थितं च येऽनात्मबुद्ध्या प्रविचारयन्ति[1] ।
स्वकार्यसिद्धिं ह्यनवाप्य मूढास्ते संश्रितैस्तैः सह यान्ति नाशम् ॥ १९ ॥
अबुद्धिमद्भिः प्रवितर्कितोऽर्थो विनाशमभ्येष्यति निश्चयेन ।
आश्रित्य तस्माद्युवराजमेव संजीवनं नो हितमित्युवाच ॥ २० ॥
इत्युत्तरं बुद्धिमतोपदिष्टं प्रत्युत्तरं वक्तमसावशक्ता ।
सा मन्त्रिणं प्रार्थितकार्यसिद्धौ प्रयाचमाना संसुतेन देवी ॥ २१ ॥
संचिन्त्य मन्त्री स्वशिरः प्रकम्प्य स्वस्वामिसंबन्धमवेक्षमाणः ।
संपूज्य देवीं ससुतां नताङ्गो भक्त्या क्रियाविद्गिरमित्युवाच ॥ २२ ॥

जिसकी लक्ष्मी पुण्य और पुरुषार्थके कारण बढ़ रही है उसकी प्रतिष्ठा तथा पदका नष्ट करना भी संभव नहीं है। सत्य तो यह है कि पूर्वभवोंमें जीवके द्वारा जिस विधिसे पुण्यरूपी लक्ष्मी कमायी जाती है उसी विधिसे वह लक्ष्मी उस पुरुषको उत्तर भवोंमें वरण करती है ॥ १८ ॥

आ पड़े सामने खड़े करने योग्य कार्यको तथा भविष्यके कर्त्तव्यरूपसे उपस्थित होनेवाले कार्यको स्वयं समझे बिना ही केवल दूसरोंकी बुद्धि और तर्कणासे जो व्यक्ति समझनेका प्रयत्न करते हैं, उन मूर्खोंको अपने कार्यमें सफलता नहीं मिलती है, इतना ही नहीं बल्कि उन कुमंत्रियोंकी सम्मतिको माननेके कारण वे स्वयं नष्ट होते हैं और साथमें उन अज्ञोंको भी ले डूबते हैं ॥ १९ ॥

जिनके पल्लेमें बुद्धि नहीं है उनके द्वारा सोची गयी योजनाएँ निश्चयसे विनाशके उदरमें समा जाती हैं। इसलिए हम सबका इसीमें हित तथा कल्याण है कि हम युवराज वरांगकी शरणमें रहकर अपना जीवन शान्तिसे बितावें।' यही उसकी सम्मतिका सारांश था ॥ २० ॥

अकार्यमें सफल अनुनय

हित तथा अहितके सूक्ष्मदृष्टा उस विवेकी मंत्रीसे अपनी प्रार्थनाका उक्त उत्तर पाकर रानीको कोई प्रत्युत्तर ही नहीं सूझा था इसलिए वह अपने मुखसे कुछ भी न कह सकी थी। किन्तु जिस कार्यके लिए उसने मंत्रीसे निवेदन किया था उसीकी सफलताके लिए वह अपने पुत्रके द्वारा याचना करातीं हुई केवल स्वयं चुप बैठ रही थी ॥ २१ ॥

याचनाकी पुनरावृत्तिको सुनकर मंत्रीने सम्पूर्ण घटनाक्रमको गम्भीरतापूर्वक एक बार फिरसे विचारा, उसने अपने और अपने स्वामी (रानीके पिता और माता) के बीचके सम्बन्धपर भी एक तीक्ष्ण दृष्टि डाली, विमर्ष और निश्चयसूचक ढंगसे

---

१. क प्रतिचारयन्ति ।

यद्यस्ति पुण्यं तनयस्य तेऽस्य[1] तन्मे सहायत्वमुपैति देवि ।
कालेऽभ्युपायोद्यतशस्त्रशक्तिः सिद्धयै यतिष्ये धृतिमेहि साध्वि[2] ॥ २३ ॥
अन्योन्यसंप्रत्ययकारणानि परैरवज्ञातपथस्थितानि ।
रहस्युपामन्त्र्य तदर्थजानि शनैरपेयुर्दृढगूढमन्त्राः ॥ २४ ॥
संघर्तुकामश्च सुषेणराज्यं वराङ्गराज्यं विनिहन्तुकामः ।
तिष्ठन्व्रजञ्जाग्रदपि स्वयं च रन्ध्राणि पश्यन्प्रणिनाय कालम् ॥ २५ ॥
उद्यानयाने बलदर्शने वा सभास्वरण्येषु पुरान्तरेषु ।
क्रीडासु नानाविधकल्पनासु छिद्रप्रहारी स बभूव तस्य ॥ २६ ॥

अपने शिरको हिलाया, इस प्रकार किसी निर्णयपर पहुँचकर कर्त्तव्यके विशेष ज्ञाता उस मंत्रीने पुत्र सहित रानीको भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और निम्नप्रकारसे कहा । २२ ॥

'हे देवि ! यदि आपके इस पुत्र सुषेणका वास्तवमें कुछ भी पुण्य अवशिष्ट है तो वह सब आजसे ही प्रकृत कार्यमें मेरा सहायक हो ? मैं सब प्रकारसे उपाय करके शस्त्रकी शक्ति या सैन्यबलको खड़ा कर लेनेपर समय आते ही सफलताके लिए पूर्ण प्रयत्न करूँगा, तब तक हे साध्वि ? आप धीरज धरें ॥ २३ ॥

इसके उपरान्त आपसी सन्देह दूर करने तथा विश्वास दिलानेकी इच्छासे उन्होंने प्रकृत कार्य सम्बन्धी अनेक विषयोंपर एकान्तमें गूढ़ मंत्रणा की थी, जिसको उचित स्थान, काल और व्यक्तिके साथ किये जानेके कारण दूसरोंको गंध भी न लगी थी । इस प्रकार दृढ़ और गम्भीर मंत्रणा करनेके बाद वह चला गया था ॥ २४ ॥

अब उसकी यही अभिलाषा थी कि किसी प्रकार सुषेणका राज हो तथा कुमार वरांगके राज्यकालका शीघ्रसे शीघ्र अन्त हो । अतएव वह बैठे हुए, चलते हुए, सोते-जागते हुए, आदि सब ही अवस्थाओंमें वरांगके राज्यके दुर्बल तथा दूषित अंगोंको स्वयं ही खोजनेमें सारा समय बिताता था ॥ २५ ॥

कुमार वरांगके वायु सेवनके लिए उद्यानमें जानेपर, शारीरिक शक्तिके प्रदर्शनके अवसरपर, सभामें राजकार्य करते समय, आखेट आदिके लिए वनमें जानेपर, किसी दूसरे नगरमें पहुँचनेपर, खेल कूदमें तथा नाना प्रकारकी अन्य कल्पनाओंके सहारे वह कुमार वरांगके छिद्रोंको (कमियों) खोजता था और उन सब दुर्बलताओंको अपने कामकी सिद्धिमें लगानेका प्रयत्न करता था ॥ २६ ॥

---

१. म तस्य । २. म धृतिमाह° ।

ताम्बूलधूपाञ्जनभैषजेषु वस्त्राद्यलङ्कारविलेपनेषु ।
मालासु शय्यासनवाहनेषु [1]द्रष्टं नरं प्राणि शशाक राज्ञः ॥ २७ ॥
नवान्नवांस्तानपरिश्रमेण प्राप्तानुदारान्विषयोपभोगान् ।
अभ्यर्थमानानकृतैर्मनुष्यैः समश्नुवानस्य जगाम कालः ॥ २८ ॥
ततः कदाचिद्भृगलोऽधरेण संप्रेषितौ तौ युवभूमिपाय ।
जात्या किशोरौ कमनीमरूपावावासभूमौ शुभलक्षणानाम् ॥ २९ ॥
शुभान्वयौ बालमृगेन्द्रतुल्यौ हयोत्तमौ भूमिपतिः समीक्ष्य ।
को नाम शक्तो विनिनेतुमेता[2]वित्यभ्यवोचत्सहसा सभायाम् ॥ ३० ॥
तद्वाक्यलब्धावसरः स मन्त्री उत्थाय सोऽन्तर्हृदि जातहर्षः ।
मत्तोऽस्ति कश्चित्पुरुषो विनेता द्रक्ष्यामि [3]सार्धं कतिचिद्दिनानि ॥ ३१ ॥

यह सब करके भी वह कुमार वरांगके कपड़ों, आभूषण, विलेप, पानपत्ती, धूप आदि सुगन्धित पदार्थों, माला आदि वर प्रसंग, शय्या, आसन तथा घोड़ा आदि वाहनकी व्यवस्थामें कोई दुर्बल स्थान (छिद्र) या व्यक्ति न पा सका था जिसके द्वारा वह उसके जीवनपर आक्रमण करता ॥ २७ ॥

उसका समय उन कृतघ्न नीच पुरुषोंसे मिलते जुलते बीतता था जो शारीरिक, मानसिक या अन्य किसी प्रकारका परिश्रम नहीं करते हैं। तथापि पुण्य-श्रमके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली विशाल भोग-उपभोगकी सामग्री तथा इन्द्रियोंके अन्य विषयोंको प्रतिदिन नये-नये रूप और ढंगसे पानेकी अभिलाषा करते हैं ॥ २८ ॥

षड्यन्त्र प्रारम्भ

इस प्रकार बहुत समय बीत जानेपर एक दिन भृगलोके एकच्छत्र अधिपतिने युवा राजा वरांगके लिए दो श्रेष्ठ घोड़े भेजे थे। उन दोनोंकी जाति (मातृकुल, नस्ल) तथा अन्वय (पितृकुल) उन्नत और शुभ थे, उनकी अवस्था भी उस समय किशोर थी, दोनोंका रूप अत्यन्त आकर्षक था, घोड़ोंमें जितने भी शुभ लक्षण हो सकते हैं उन सबकी तो वे दोनों निवास भूमि ही थे ॥२९॥

तथा देखनेपर वे रूढ मृगराज (नहीं) सिंह के उत्तम मृगके शावकों समान भोलेभाले लगते थे। जब राजाने इन दोनों किशोर घोड़ोंको देखा तो सहसा ही राजसभा में उसके मुखसे निकल पड़ा कि इन दोनों घोड़ोंको कौन व्यक्ति भलीभांति शिक्षा देकर निकाल सकता है ॥ ३० ॥

राजाके इस वाक्यने मंत्री को षड्यंत्र करनेका अवसर दिया फलतः आनन्दसे उसका हृदय विकसित हो उठा था

---

१. [द्रष्टुं न रन्ध्राणि]। २. क विनेतुमेता°, [शक्तो हि विनेतु°]। ३. [सार्धं]।

इत्युक्तवन्तं गतवन्तमन्तं शास्त्रार्णवस्योत्तरमन्त्रिणं तम् ।
संपूज्य राजा वरहेमरत्नैरश्वोत्तमौ तौ विससर्ज तस्मै ॥ ३२ ॥
तेनाश्वशास्त्रक्रमकोविदेन मासैश्चतुर्भिः परिपुष्टगात्रौ ।
धूपाञ्जनैर्मन्त्रपवित्रभूतैर्हयोत्तमौ तौ दमितौ यथावत् ॥ ३३ ॥
न्यायोपदेशेन च दान्त एको मायाप्रयोगेन तथा द्वितीयः ।
गृहीतशिक्षौ तपनीयभाण्डावादाय मन्त्री नृपमाससाद[1] ॥ ३४ ॥
पुराद्बहिर्मण्डलभूमिमध्ये आरुह्य सोऽश्वं जनतासमक्षम् ।
वीथीविभागैर्गमयन्सलीलं जहार सद्यो युवराजचित्तम् ॥ ३५ ॥

फलतः उसने खड़े होकर कहा था 'यदि कोई पुरुष मुझसे बढकर घोड़ा निकालनेवाला हो तो मैं उसके साथ कुछ दिनोंतक इन घोड़ों को शिक्षित करके देखूंगा कि कौन पहिले सुशिक्षित करता है ॥ ३१ ॥

यह सब ही जानते थे कि उक्त मंत्री समस्त शास्त्रोंरूपी समुद्रोंके पारंगत है अतएव जब उसने पूर्वोक्त प्रकारसे उत्सुकतापूर्वक उत्तर दिया तो राजाने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, तथा उत्तम सुवर्णके आभूषण, रत्न आदि देकर उसका सन्मान करके उसको वह दोनों बढ़िया घोड़े निकालने के लिए दे दिये थे ॥ ३२ ॥

प्रकृत मंत्री अश्वशास्त्र (लक्षण आदि से घोड़ा पहिचानना, किस बातका घोड़े पर क्या असर होता है, इत्यादि सब ही बातें) तथा घोड़े की शिक्षा के क्रमका विशेषज्ञ था। उसने धूप, अञ्जन, मंत्र तथा अन्य प्रकारसे दोनों घोड़ों को पवित्र किया था। इसके उपरान्त उन दोनों हृष्ट-पुष्ट उत्तम घोड़ों को विधिपूर्वक चार माहतक पालतू बनाकर शिक्षा दी थी ॥ ३३ ॥

एक घोड़ेको शुभ गतियों आदिकी न्याययुक्त (शुभ) शिक्षा देकर सर्वथा उपयोगी बनाया था तथा दूसरे को छल कपट करनेका अभ्यास कराके भयावह बना दिया था। निकाले जानेके बाद दोनों घोड़े ऐसे सुन्दर लगते थे मानो असीम द्रव्यसे भरे शुद्ध सोनेके कलश हैं। अन्त में इन दोनों घोड़ों को लेकर एदिकन मंत्री राजा के सामने उपस्थित हुआ था ॥ ३४ ॥

नगरके बाहर एक वृत्ताकारविशाल क्रीड़ा-क्षेत्र था, वहीं पर राजा और प्रजा नये घोड़ोंका कौशल देखनेके लिए एकत्रित हुए थे। सबके सामने मंत्री वहाँ सीधे घोड़े पर सवार होकर उसे नाना प्रकारकी सुन्दर चालें चला रहा था, जिन्हें देखते ही युवक राजाका चित्त उन घोड़ों पर मुग्ध हो गया था ॥ ३५ ॥

१. म आससार ।

अश्वक्रियास्वप्रतिकौशलस्य ज्ञात्वा कुमारस्य [1]सदर्थतोषम् ।
सर्वांश्च सभ्यानभिसंस्तुवानानुवाच मन्त्री प्रियमित्यमाशु ॥ ३६ ॥
अतो विशिष्टो ह्यय एष राजंस्तवैव योग्यस्त्विति संप्रभाष्य ।
दुःशिक्षितं वारितवा[2]गशीलं निवेदयामास युवेश्वराय ॥ ३७ ॥
प्राप्तव्यतायास्तुरगानुरागाद्युवत्वगर्वोद्धतगौरवाच्च ।
दुर्ग्राहितं तं ह्यपरीक्ष्य साक्षादारोढुमिच्छन्[3] नृपतिस्तदानीम् ॥ ३८ ॥
तुरङ्गमक्ष्णाङ्गतरङ्गवल्गं सद्रत्नविद्युत्परिणद्धगात्रम् ।
माङ्गल्यवेषः क्रियया भिरुह्य चित्रं महत्या गमयां बभूव[4] ॥ ३९ ॥
अथर्जुना तेन यथाविनीतः कशा[5]कशष्ठैरवबोध्यमानः (?) ।
क्रोधोद्धतो वायुसमानरंहा[6] धनुर्विमुक्तेषुरिव प्रयातः ॥ ४० ॥

षड्यन्त्र कार्यान्वित

कुमार वरांग घोड़ोंकी चाल, आदि क्रियाओं में इतने दक्ष थे कि इस विषयमें दूसरा उनकी बराबरी कर ही नहीं सकता था, फलतः वे घोड़ेकी शिक्षासे परम संतुष्ट हुए थे। मंत्री को जब इस बातका पता लग गया तो उसने घोड़ेकी प्रसंसा करनेवाले वहाँ उपस्थित नागरिकों का इन मधुर वाक्योंसे शीघ्र संबोधन किया था ॥ ३६ ॥

हे महाराज! यह दूसरा घोड़ा जिसकी आप तथा सब लोग प्रसंसा कर रहे हैं इस घोड़ेसे भी बहुत अधिक विशिष्ट है तथा आपके ही चढ़ने योग्य है; यह कहकर उसने दूसरे घोड़ेको जिसे छलकपट की शिक्षा दी गयी थी तथा जिसका स्वभाव और चेष्टाएँ अशुभ हो चुकी थीं उसे हो ले जाकर युवक राजाके सम्मुख उपस्थित कर दिया था ॥ ३७ ॥

भवितव्य वैसी ही थी इस कारणसे, घोड़े पर आरूढ़ होकर होने को तीव्र अभिरुचिके कारण अथवा यौवनमें सुलभ उद्धततासे उत्पन्न आत्म गौरव की भावनाके कारण ही युवराज वरांगने उस कुशिक्षित घोड़ेकी परीक्षा करना आवश्यक न समझा तथा उसी समय उसपर सवार होनेके लिये उद्यत हो गया था ॥ ३८ ॥

वह घोड़ा भी क्या था, उसका अंग-अंग चंचल और सुन्दर था, उसका शरीर उत्तम रत्नोंकी माला, आदि सज्जासे ढका हुआ था। कुमार वरांग मंगलमय अवसरोंके लिए ही उपयुक्त—साधारणतया सवारी के लिए अनुपयुक्त—वेशभूषामें ही उस घोड़े पर विधिपूर्वक चढ़ गये और आश्चर्य की बात है कि तुरन्त ही उसे महती सरपट गतिसे चलाना प्रारम्भ कर दिया ॥ ३९ ॥

इसके उपरान्त जैसी कि उसे कुटिल शिक्षा दी गयी थी उसीके अनुसार बार-बार लगाम खींचकर कशा मारकर रोके

१. [तदर्थ°]। २. [°वेग°]। ३. [आरोढ़मैच्छत्]। ४. [चित्तं....रमयां°]। ५. म शशाक शष्टं°। ६. म °रंहो।

दुःशिक्षया क्षोभितदुष्टचित्तो नरेश्वरेणाश्वमता श्रमेण ।
निवर्त्यमानोऽप्यनिवृत्तवेगः क्रोधादतिक्रम्य गतोऽतिदूरम् ॥ ४१ ॥
संज्ञानभिज्ञेन नरेश्वरेण कृतानि कर्माण्यफलान्यभूवन् ।
उन्मार्गशिक्षे हि तुरङ्गमुख्ये वक्रस्वभावे स्वकृतानि यद्वत् ॥ ४२ ॥
द्वाभ्यां भुजाभ्यामथ संनिरोद्धुं यथा यथावाञ्छदतुल्यतेजाः ।
निरुध्यमानस्तुरगो जवेन तथा तथाधावदवार्यवीर्यः ॥ ४३ ॥
ग्रामाकरांश्चापि म[1]टम्बखेटान्पुराणि राष्ट्राणि बहून्यतीत्य ।
देशान्तमाशु प्रजगाम वाजी पातो[2] यथोत्पातिकवातधूमः[3] ॥ ४४ ॥

जानेपर भी वह घोड़ा क्रोधके कारण उदण्ड होता जाता था और उसपर नियन्त्रण रखना असम्भव हो रहा था । थोड़ी ही देरमें उसका वेग वायु के समान तीव्र हो गया था फलतः वह धनुषपरसे छोड़े गये बाणकी तरह बहुत दूर निकल गया था ॥ ४० ॥

मंत्री को कुशिक्षाने घोड़ेके हृदयको इतना दुष्ट तथा क्षुब्ध कर दिया था कि अश्वचालनमें कुशल युवक राजा ज्यों-ज्यों परिश्रम करके उसे पीछेको मोड़ना चाहता था त्यों-त्यों उसका क्रोध बढ़ता था और गतिका वेग थोड़ा-सा भी नहीं घटता था, फलतः वह कितने ही स्थानोंको पार करता हुआ बहुत दूर निकल गया था ॥४१॥

अकस्मात् आये उपद्रवके कारण विचार करनेमें अक्षमर्थ राजा घोड़ेको नियन्त्रणमें लानेके लिए जो-जो प्रयत्न करता था वह वह निष्फल होता था क्योंकि उस बलिष्ठ एवं उत्तम घोड़ेको उल्टा आचरण करनेकी ही शिक्षा दी गयी थी । उसके साथ किये गये प्रयत्नोंका वही हाल हो रहा था जो कि सत्कर्मोंका नीच स्वभाववाले व्यक्ति पर होता है ॥ ४२ ॥

अनुपम पराक्रमी युवक राजा दोनों हाथोंसे लगामको खींच कर ज्यों-ज्यों उस दुष्ट घोड़ेको रोकनेका प्रयत्न करते थे, रोके जानेके कारण (उल्टा अभ्यास होनेसे इसे वह दौड़नेका संकेत समझता था) त्यों-त्यों उसकी गति बढ़ती ही जाती थी । उसकी शारीरिक शक्ति भी नियन्त्रणसे परे थी इसलिए वह और अधिक वेगसे दौड़ता था ॥ ४३ ॥

मार्गमें पड़े अनेक ग्रामों, खनिकोंकी बस्तियों मडम्बों, खेटों, नगरों, राज्यों आदिको शीघ्रतासे पार करता हुआ वह किसी अज्ञात देशमें वैसे ही जा पहुँचा था जैसे, ऊपरकी ओर फेंका गया जल नीचे आता है अथवा जिस प्रकार प्रलयकी आँधी बहती है अथवा जैसा धुआँ उड़ता है ॥ ४४ ॥

---

१. क मडम्ब° । २. क पाथो । ३. स यथोत्पातित° ।

अथेतरे वाजिगजा नराश्च महाजवास्तेऽप्यनुगन्तुकामाः ।
नाशक्नुवन्पक्षिगणाः समेताः खे संपतन्तं गरुडं यथैव ॥ ४५ ॥
क्वचित्तरूणां गहनान्तरेषु निम्नोन्नतोपान्तवनस्थलीषु ।
तुरङ्गवेगान्न्यपतच्छिरस्स्थं किरीटमङ्गा[1]च्च विभूषणानि ॥ ४६ ॥
अथोत्तरीयं निपपात भूमौ माला विशीर्णा हृदयं विषण्णम् ।
तनुश्चकम्पे वदनं शुशोष बभ्राम दृष्टिः पिदधौ श्रुतिश्च ॥ ४७ ॥
अथावनोशः क्रममन्दशक्तिर्हयप्रवेगोन्मथितप्रतापः ।
वल्लीतृणाच्छादितकूपरन्ध्रे पपात तेनैव हयेन सार्धम् ॥ ४८ ॥
निपत्य तस्मिन्स पुराकृतेन[2] हयो मृतश्चूर्णितसर्वगात्रः ।
लतां गृहीत्वा स्वयमन्तराले[3] कूपाच्छनैरूर्ध्वमथारुरोह ॥ ४९ ॥

वराङ्गकी अवस्था

इधर उसे बेरोक भागता देखकर उसका पीछा करनेके लिए कितने ही अत्यन्त वेगशाली घोड़े, हाथी तथा मनुष्य उसके पीछे दौड़कर भी उसे उसी प्रकार नहीं पा सके थे जैसे वेगसे झपट्टा मारकर उड़नेवाले गरुड़को आकाशमें समस्त पक्षी मिलकर भी नहीं रोक पाते हैं ॥ ४५ ॥

वह दुष्ट घोड़ा अत्यन्त घने और नीचे वृक्षोंके नीचेसे तथा मार्गोंके आसपासकी नीची ऊँची वनस्थलियोंमेंसे अत्यन्त वेगसे दौड़ा जा रहा था, फलतः इतस्ततः उलझकर वराङ्गके मस्तकपर बँधा मुकुट तथा अन्य अंगोंसे आभूषण गिर गये थे ॥४६॥

उत्तरीय (ऊपरका दुपट्टा) वस्त्र पृथ्वीपर गिर गया था, गलेकी माला फँसकर टुकड़े-टुकड़े होकर गिर गयी थी, हृदय विषादसे भर गया था, पूर्ण शरीर आवेगसे काँपने लगा था, अनुताप और पिपासाके मारे मुख सूख गया था, आँखें अनिष्टकी आशंकासे घूमने लगी थीं तथा कान बहरेसे हो गये थे ॥ ४७ ॥

इतनी देरतक घोड़ेकी अत्यन्त तीव्रगतिको सहनेके कारण राजाकी शक्ति धीरे-धीरे कम होने लगी थी तथा सारा पराक्रम और पुरुषार्थ ढीला पड़ चुका था। फल यह हुआ कि लताओं तथा घाससे ढके हुये एक कुएँमें वह उस दुष्ट घोड़ाके साथ जा पड़ा ॥ ४८ ॥

अपने पूर्वकृत अशुभ कर्मोंके कुफलसे कुएँमें गिरते ही उस दुशिक्षित घोड़ेका अंग-अंग चकनाचूर हो गया था और

---

१. क तिरीट° । २. क स्वपुराकृतेन । ३. म स्वयमन्तराणि ।

तत्रोपविश्याप्रतिकान्तरूपः क्षुधा तृषा श्रान्ततनुर्युवेन्द्रः ।
सशर्करापांशुखरप्रदेशे महीतले मोहमुपाजगाम ॥ ५० ॥
आप्यायितः शीतवतानिलेन शनैः समुन्मीलितचारुनेत्रः ।
उच्छ्वस्य दीर्घं स्वतनुं विलोक्य निनिन्द संसारचलस्वभावम् ॥ ५१ ॥
विचिन्त्य मातापितरौ स्वबन्धून्मित्राणि भृत्यानथ देशकोशान् ।
वधूंश्च ता देववधूसमानाः क्लेशाभिभूतो विललाप तत्र ॥ ५२ ॥
शोको भवेद्बन्धु[1]जनैर्वियोगाद्धैर्यं त्वभूद्राजसुताभिमानात् ।
कोपोऽभवन्मन्त्रिकृतावमानाद्विरागताभूदनवस्थितत्वात् ॥ ५३ ॥

वह तुरन्त मर गया था। किन्तु युवक राजाने बीचमें ही किसी बेलको पकड़ लिया था फलतः मृत्युसे बच गया और धीरे-धीरे कुएँसे बाहर निकल आया था ॥ ४९ ॥

वनवासी अशरण वरांग

बाहर आते ही युवराजने बैठकर मुक्तिकी साँस ली थी, किन्तु उसका अनुपम कान्तिमान तथा बलिष्ठ युवक शरीर भी भूख प्यासके कारण बिल्कुल थक गया था। परिणाम यह हुआ कि बालू, धूल, कंकड़ आदिके कारण अत्यन्त कठोर स्थलपर ही मूर्च्छित होकर गिर गया ॥ ५० ॥

किन्तु जंगलकी शीतल वायुने उसके ताप और थकानको दूर करके फिर उसमें चैतन्य भर दिया तब उसने धीरे-धीरे अपने सुन्दर नेत्रोंको खोला। आँखें खोलते ही उसने विषादसे दीर्घ साँस लेकर एक बार अपने पूर्ण शरीरपर दृष्टि डाली थी, जिसे देखते ही आपाततः उसके मुखसे संसारकी अस्थिरताकी निन्दा निकल पड़ी थी ॥ ५१ ॥

जब उसे अपने वृद्ध माता-पिताका ध्यान आया, बन्धु बांधवों तथा मित्रोंकी मधुर स्मृतियाँ आयीं, आज्ञाकारी सेवकों, राज्य तथा खजानेके स्मरण आये तथा स्वर्गकी अप्सराओंके समान सुन्दरी तथा गुणवती स्त्रियोंके विरहके कारण हृदयमें टीस उठी तो उसका हृदय दुःखसे भर आया और वह विलाप करने लगा था ॥ ५२ ॥

कुटुम्बी, हितैषी, प्रेमियों आदिसे विरह हो जानेके कारण उसे दुःख हुआ था, किन्तु दूसरे ही क्षण उसका यह अभिमान (आत्मविश्वास) जाग उठा कि वह राजपुत्र है। यह सोचते ही उसे धैर्य बँधा फिर क्या था; इसके उपरान्त उसे मंत्रीका कपट याद आया और वह क्रोधसे लाल हो उठा था। दूसरे ही पल संसारकी अस्थिरता पर दृष्टि पड़ते ही उसे वैराग्य हो आया था ॥ ५३ ॥

---

१. [शोकोऽभवद्बन्धु°]।

यद्यङ्गनावद्धृदि सत्त्वहीनो निरर्थमासे विजने वनेऽहम् ।
आपत्प्रतीकारमवेक्षमाणो नावश्यमाप्स्यामि पुनर्विभूतिम् ॥ ५४ ॥
अरण्यवासो न शुभावहो मे इह स्थितेनैव गुणोऽस्ति कश्चित् ।
इतो व्रजामीति मतिं निधाय धृतिं प्रतिष्ठाप्य महानुभागः ॥ ५५ ॥
प्रालम्बकाद्यानि विभूषणानि भ्रष्टावशेषाण्यवलुञ्च्य देहात् ।
विसृज्य कूपे च विचिन्त्य दूरं ततः प्रतस्थे नृवरोऽतिसत्त्वः ॥ ५६ ॥
भुजङ्गमातङ्गविहङ्गजुष्टां महाटवीं श्वापदसेवितां ताम् ।
अनेकवृक्षक्षुपगुल्मकक्षां चचार दिङ्मूढमतिः स एकः ॥ ५७ ॥
सूर्ये तदास्तंगिरिमभ्युपेते व्याघ्रं च तत्कालमनुप्रयातम् ।
समीक्ष्य चासन्नतयातितूर्णं नृपात्मजः पादपमारुरोह ॥ ५८ ॥

पुरुषार्थका उदय

यदि मैं कोमलाँगी ललनाकी तरह मनोबलको खोकर निराश होकर इस निर्जन जंगलमें पड़ा रहता हूँ, कुछ पुरुषार्थ नहीं करता हूँ और यही आशा लगाये रहता हूँ कि अपने आप ही किसी प्रकार इस विपत्तिसे मुक्ति मिल जायगी तो निश्चित है कि अब मैं पुनः राज्य सम्पदाको न पा सकूँगा ॥ ५४ ॥

यदि मैं अब बनवास करनेका ही निर्णय कर लूं तो न मेरा भला होगा और न यहाँ रहनेसे और किसीका ही कोई शुभ होगा। यह सब सोचकर उस महा-भाग्यशाली राजकुमारने धीरज बांधा और कहा, यहाँसे चलता हूँ ॥ ५५ ॥

इस निर्णयको करके प्रालम्बक (लम्बा हार आदि लटकते भूषण) आदि उत्तम भूषणोंको जो दौड़ते समय गिरनेसे बच गये थे उन्हें अपने आप शरीरपर से नोंचकर उस कुंयेमें फेंक दिया था तथा थोड़ी देर सोचकर वह महाशक्तिशाली नृपति वहाँसे किसी दूर देश को चल दिया था ॥ ५६ ॥

जिस जंगलसे वह चल रहा था वह सांपों, हाथियों, भयंकर पक्षियोंसे खचाखच भरा था विविध प्रकारके हिंस्र पशु सिंह आदिका तो घर ही था। उसमें पग-पग पर घने वृक्ष, छोटे छोटे पौधे, झाड़ियाँ और खोहों समान घना वन मिलता था, वह इन सबमें से चला जा रहा था, यद्यपि उसे दिशा तक का ज्ञान न था ॥ ५७ ॥

इस प्रकार चलते-चलते सूर्य के अस्ताचलपर जा पहुँचते ही उसने देखा कि एक बाघ उसका पीछा कर रहा था तब वह युवक राजा उसे अपने अत्यधिक निकट पाकर बड़ी शीघ्रता के साथ एक वृक्षपर जा चढ़ा था ॥ ५८ ॥

आहत्य पुच्छेन तलं धरायां दृष्ट्वोर्ध्वदृस्टिर्विटपे निविष्टम् ।
उद्वेजयन्भीमवपुस्तदानीं शार्दूलपोतः प्रसभं जगर्ज ॥ ५९ ॥
शार्दूलनिर्भर्त्सनविस्मिताक्षः शाखान्तरे भूमिपतिर्निविश्य ।
निरीक्षमाणः स च तद्विकारान् कृच्छ्रेण रात्रिं गमयां बभूव ॥ ६० ॥
वियोगचिन्ताकलुषीकृतस्य परिश्रमम्लानमुखाम्बुजस्य ।
क्षुत्तर्षतान्तस्य[1] सदुःस्थितस्य एका निशानेकनिशेव सासीत् ॥ ६१ ॥
न चामिषा[2] सा प्रतिबद्धचित्तो निर्गन्तुमिच्छ[3]न्निपतिष्यतीति ।
शार्दूलयानप्रतिलिप्समानो न राजपुत्रोऽप्यवरोहमैच्छत् ॥ ६२ ॥
इत्थंगते मत्तमहाकरीन्द्रं करेणुभिः सार्धमभिप्रयातम् ।
विलोक्य दूरान्नृपतिर्ननाद व्याघ्रं गजेन्द्रेण विमर्दयिष्यन्[4] ॥ ६३ ॥

आपत्तिमें आपत्ति

उसी समय सिंहके शावकने क्रोधसे भूमिपर अपनी पूंछ मारकर ऊपर नजर फेंकी। तथा राजकुमार को वृक्ष की शाखा पर बैठा देखकर उसने अपने भयंकर शरीरको फुलाकर उसी समय बड़े जोरसे गर्जना की थी ॥ ५९ ॥

सिंह की धमकी युक्त गर्जनाको सुनकर राजकुमारी की आँखें भय तथा आश्चर्यसे फैल गयी थीं। उस शाखातक उचक सकनेका कुछ भय था इसलिए वह दूसरी शाखापर जा बैठा और वहींसे सिंह की क्रोध, लपकने, आदि कुचेष्टाओं आदि समस्त विकारों को देखते हुए उसने किसी तरह अत्यन्त कष्ट एवं चिन्ता में रात काटी थी ॥ ६० ॥

वियोगके शोक और भविष्यकी चिन्ताओंके कारण वह उदास था, दिन रातके परिश्रमके कारण उसका सदा विकसित मुखकमल भी म्लान हो गया था, भूख और प्याससे व्याकुल था इतना ही नहीं वह अत्यन्त विषम परिस्थितियों में पड़ गया था और दुखद स्थानपर बैठा था फलतः उस एक रातको काटनेमें ही उसे ऐसा लगा था मानो कई रातें बीत गयीं हों ॥ ६१ ॥

उस सिंहका चित्त मांसकी आशामें इतना लीन हो गया था कि 'अब तब गिरेगा' यहीं सोचने के कारण वह वृक्षके नीचेसे हिलना भी नहीं चाहता था, तथा युवक राजा भी हृदयसे यही चाहता था कि वह सिंह चला जाय इसी आशा में वह नीचे उतरनेका विचार भी न करता था ॥ ६२ ।

जब यह जटिल परिस्थिति हो गयी थी तो उसी समय राजाने दूरसे देखा कि एक मदोन्मत्त जंगली हाथी हथिनीके साथ चला जा रहा है, 'उसने सोचा क्यों न सिंहको मत्त हाथीसे कुचलवाया जाय' इसी इच्छासे उसने जोर से हाथी को ललकारा था ॥ ६३ ॥

१. म क्षुत्तर्षतार्तस्य । २. [चामिषाशाप्रति°] । ३. [निर्गन्तुमैच्छत्] । ४. क निमर्दयिष्यं, [निमन्त्रयिष्यन्] ।

आकर्ण्य नादं सहसा निवृत्तः क्रोधोद्धतः[1] सोच्छ्रितकर्णपुच्छः ।
विशेषसंप्रश्नुतिदानलेखो[2] गर्जन्गजो वायुरिवाजगाम[3] ॥ ६४ ॥
गजं तमायान्तमुदग्रकोपाद्व्याघ्रः समुत्प्लुत्य तदंश[4]कुम्भे ।
दष्टोऽतिरुष्टः[5] स च दन्तकोटचा जघान शार्दूलमधो निहत्य ॥ ६५ ॥
स तस्य संप्रेक्ष्य गजेश्वरस्य जयं महान्तं रिपुमर्दनस्य ।
अन्तर्गतप्रीतिमनाः कृतज्ञो युवेश्वरो वाक्यमिदं जगाद ॥ ६६ ॥
ममाशरण्यस्य वने स्थितस्य व्याघ्रातिनिर्भर्त्सनभीषितस्य ।
व्यपेतमित्रार्थकलत्रकस्य त्वयेभ दत्ता प्रियजीविताशा ॥ ६७ ॥

मनुष्य की गर्जना सुनकर हाथी एकदम लौट पड़ा, क्रोधमें चूर होनेके कारण उसके कान और पूँछ खड़े हो गये थे उसके गण्डस्थलों से मदजल की विशेष मोटी धार बह रही थी, ऐसा वह उद्दण्ड हाथी चिंघाड़ता हुआ वायुके वेगसे उस स्थल पर आ टूटा ॥ ६४ ॥

हाथी को लपकके आता देखकर सिंहकी क्रोधाग्नि 'भभक' उठी थी फलतः उसने उछलकर सिंहके गण्डस्थल पर पंजा मारा । इस प्रकार काटे जानेपर हाथीका क्रोध अन्तिम सीमा को लांघ गया था अतएव उसने सूंडसे नीचे गिराकर दांत की नोकसे उसे मार डाला था ॥ ६५ ॥

सिंह ऐसे शत्रु को चकनाचूर कर देनेवाले उस हाथियोंके राजाकी उस महान् विजयको देखकर विपद्ग्रस्त राजकुमार का मन और हृदय प्रेमसे भर आये थे । युवराजका कृतज्ञताका भाव इतना उमड़ आया था कि सहसा उसके मुखसे यह बचन निकल पड़े थे ॥ ६६ ॥

कृतज्ञतानुभवन

हे गजराज ! मैं इस वनमें ऐसी परिस्थितिमें पड़ गया हूँ कि यहाँ मुझे कोई शरण नहीं है, भूखा बाघ क्रोधसे बारबार गरजकर मुझे धमका रहा था जिससे मैं अत्यन्त डर गया था, न मेरे पास धन है न मित्र ही हैं जो सहायता करें और न स्त्री ही है जो दुःखमें भाग बटाती ऐसे असहाय मुझमें तुमने ही परमप्रिय जीवनकी आशाका संचार किया है ॥ ६७ ॥

---

१. [क्रोधोद्धतः] । २. क संप्रश्रुति, [संप्रस्रुति] । ३. क वाजिरिवाजगाम । ४. म तदंशु°, [तदेस°] ।
५. क दष्टेतिरुष्टः ।

गजेश्वरस्त्वं मनुजेश्वरोऽहं त्रातुं भवानेव हि मामतोऽर्हः ।
आपद्गतानां हि सतां सहाया भवन्ति लोके महतां महान्तः ॥ ६८ ॥
पूर्वं महीपालसुतस्त्वभूवन्नीत[1] सुतोऽहं तव नागवर्य ।
तवोपचारप्रतिकारता हि न शक्यते जन्मशतेन कर्तुम् ॥ ६९ ॥
प्रियाभिराभिर्वरहस्तिनीभिर्वनं चिरं पालय वीतशोकः ।
इतीभमित्थं वचनैः प्रशस्य गते करीन्द्रेऽवततार वृक्षात् ॥ ७० ॥
क्षुधाभिभूतस्तृषया परीतः पानीयमिच्छंस्त्वरितं तरस्वी ।
यथा[2] गजेन्द्रानुविमर्दितेन व्रजन्सरोऽपश्यददूरदेशे ॥ ७१ ॥
सरः प्रसन्नोदकमत्यगाधं मन्दानिलोत्कम्पितरक्तमालम् ।
सच्छन्न[3]फुल्लोत्पलपुण्डरीकं मदप्रलापाण्डजमृष्टनादम् ॥ ७२ ॥

तुम हाथियोंके अधिपति हो और मैं भी मनुष्योंका शासक हूँ अतएव तुम्हारा ऐसा जीव ही मेरी सहायता कर सकता है, किसी अन्य शक्तिशालीके वशकी यह बात नहीं है। संसार का यही नियम है कि जब साधुचरित महात्मा लोग विपत्तिमें पड़ जाते हैं तो उनके समकक्ष महापुरुष ही उन्हें सहारा देते हैं ॥ ६८ ॥

मैं जन्मसे ही राजपुत्र था और विमाताके षड्यन्त्र से दुष्ट घोड़े पर सवारी करनेसे यहाँ इस दुःस्थितिमें पड़ गया था। हे गजराज ! तुमने मेरा उद्धार किया है। आपकी इस कृति (रक्षा) का प्रत्युपकार (बदला) में सैकड़ों जन्मों में नहीं कर (चुका) सकता हूँ ॥ ६९ ॥

ये श्रेष्ठ हथिनियाँ जो कि तुम्हारी प्रियतमा हैं इनके साथ चिरकाल तक जंगलकी रक्षा करो, तुम्हें कभी किसी प्रकारके शोकसे संतप्त न होना पड़े, इत्यादि प्रिय बचन कहकर उसने हाथी की प्रशंसा की थी। तथा जब हाथी भी जंगलमें दूसरी ओर चला गया था तब वह शान्तिसे वृक्षपर से उतर आया था ॥ ७० ॥

भूखने उसकी दुरवस्था कर डाली थी, प्यासने भूखसे भी अधिक व्याकुल कर रखा था अतएव वह वेगशील तथा पुरुषार्थी युवक तुरन्त ही पानीकी खोजमें निकल पड़ा था। श्रेष्ठ हाथियों के दलके पैरोंसे घास, लता, पृथ्वी आदि कुचल जानेसे जो मार्ग बन गया था उसे पकड़ कर चलते गजराजने थोड़ी दूरपर एक तालाब देखा ॥ ७१ ॥

तब वह बढ़कर उस मनोहर पर अत्यन्त गड्ढे तालाब पहुँचा था, जिसका पानीअत्यन्त निर्मल था, उसकी थाह पाना

---

१. [°सुतस्त्वभूवमितः]। २. [पथा]। ३. [संछन्न°]।

तत्तीरफुल्लद्रुममञ्जरीनां गन्धैः सुगन्धीकृतचारुतोयम् ।
मत्तभ्रमत्षट्पदगीतरम्यं मनोहरं शीतलमाससाद ॥ ७३ ॥
हंसाङ्गना बालनृपं समीक्ष्य कुलाङ्गनावद्दृशुस्तिरस्थाः[1] ।
अन्तर्दधुः काश्चन काश्चिदस्थुर्मृष्टं जगुर्वेश्यवधूवदन्याः[2] ॥ ७४ ॥
आसाद्य तत्तीरमुखप्रदेशं प्रक्षाल्य धीमानथ पाणिपादम् ।
पिपासितः[3] क्षामनयाम्बु शीतं पपौ पलाशेन पयोरुहस्य ॥ ७५ ॥
सुवर्णरूप्योत्तमभाजनेषु त्रिजातकर्पूरकवासिताम्भः ।
प्रियाकराग्रोपहृतं मनोज्ञं यः पीतवान्राजगृहे यथेष्टम् ॥ ७६ ॥

कठिन था, मन्द-मन्द बहती हवाके झोकोंसे उसका पानी हिलता था और सुन्दर लहरें एकके बाद एक करके उठती आती थी, पूर्ण विकसित पुण्डरीक (श्वेत कमल) तथा उत्पलों (नीले कमलों) से वह पटा हुआ था पुष्पों के पराग आदि को पीकर मस्त हुए हंस आदि पक्षियों की मधुर कूज से वह गूंज रहा था ॥ ७२ ॥

रोटी के लिए आकुल राजा

किनारे पर खड़े वृक्ष फूल रहे थे उनकी मंजरियों की सुगन्धि से पूरे जलाशयका मधुर जल सुगन्धित हो गया था, तथा पुष्पोंपर इधर उधर उड़नेवाले भौंरे फूलोंका मधु पीकर मत्त हो गये थे और गुञ्जार कर रहे थे, जिसके कारण उसकी सुन्दरता और भी बढ़ गयी थी ऐसे शीतल सरोवर पहुँचकर वरांगने सांस लिया ॥ ७३ ॥

उस जलाशय में किलोलें करनेवाली सुन्दरी हंसियो के सामने जब राजकुमार पहुँचा था, तो उनमें से कुछ हंसियों ने लजीली कुलीन बहुओं के समान, आंख बचाकर तिरछी नजर से उसे देखा था, दूसरी नव बधुओं के समान फूलों में छिप गयीं थीं, अन्य ज्योंकी त्यों बैठी रही थीं तथा कुछ ऐसी भी थीं जिन्होंने वेश्याओं के समान मधुर-मधुर बोलना प्रारम्भ कर दिया था ॥ ७४ ॥

विवेकी राजकुमार ज्यों ही उस सुन्दर जलाशय के किनारे पहुँचे त्यों ही सबसे पहिले उन्होंने अपने धूल धूसर हाथ पैरों को धोया । वह अत्यन्त प्यासे और दुर्बल थे इसलिए उन्होंने कमल के पत्ते के दोने से धीरे-धीरे शीतल जलको पिया था ॥७५॥

रंक राजा

एक समय था जब यही राजकुमार अपने राजमहलोंमें त्रिजात (सुगन्धि, शीतल त्रिफली आदि) कपूर आदि मिलानेसे सुगन्धित, सोने या चाँदीके निर्मल रमणीय पात्रोंमें भरे गये तथा अप्सराओंके समान युवती प्राणप्यारियोंके द्वारा दिये गये प्यासवर्द्धक जलको जितना चाहता था उतना पीता था ॥ ७६ ॥

१. क °द्दृशुस्त्विरस्थाः, [दुद्रुवुस्तिरस्थाः, °स्तटस्थाः] । २. क °वैश्य । ३. क पिपासितक्षाम° ।

शार्दूललालाविलमध्वखिन्नो वरद्विपानां मदवारितिक्तम् ।
[1]हंसांसविक्षुब्धतरङ्गमालमसंस्कृतं वारि पपौ कुमारः ॥ ७७ ॥
हस्त्यश्वयानान्यभिसंस्कृतानि आरुह्यमाणो भटसंकटेन ।
श्वेतातपत्रोज्ज्वलचामराङ्कः क्रीडार्थमुद्यानवनं ययौ यः ॥ ७८ ॥
विनष्टमार्गः स्फुटिताग्रपादो विशीर्णवासा ग्लपिताङ्गयष्टिः ।
स एव पङ्कूचामटवीप्रदेशं खरं सपाषाणमयं चचार ॥ ७९ ॥
पुरा हि सच्चन्दनकुङ्कुमाक्तः प्रदग्धकालागरुधूपितो यः ।
स एव संस्वेदमलाविदग्धो बभ्राम कक्षे मलिनाम्बरेण ॥ ८० ॥

किन्तु आज उसी राजकुमारने मार्गके परिश्रमसे थक कर ऐसे पानीको पिया था जिसमें सिंह आदि हिंस्र पशुओंकी लार घुली थी, बड़ेसे बड़े मदोन्मत्त हाथियोंके गण्डस्थलोंसे बहा मदजल भी उसमें मिलने से तीता हो गया था, तथा हंस आदि पक्षियोंने उसे इतना बिलोया था कि उसमें लहरें उठने लगी थीं इतना ही नहीं वह अनछना और अप्रासुक भी था ॥ ७७ ॥

जो राजकुमार पहिले खेल कूद अथवा मनोविनोदके लिए यदि उद्यानको जाता था तो वह हर प्रकारसे सजाये गये तथा हाथियों या घोड़ों द्वारा खींचे गये यानों (सवारियों) पर चढ़कर ही नहीं जाता था; अपितु उसके शिरपर धवल छत्र लगा रहता था, सुन्दर निर्मल चमर ढोरे जाते थे और योद्धाओंकी बड़ी भारी भीड़ उसके पीछे-पीछे चलती थी ॥ ७८ ॥

किन्तु आज वही राजकुमार पथरीली, ककरीली और अत्यन्त कठोर जंगली भूमिपर नंगे पैरों चला जा रहा था। इतना ही नहीं, वह रास्ता भूल गया था अथवा यों कहिये कि उसके सामने कोई रास्ता था ही नहीं, उसके पैरोंके तलुये और अंगुलिया ठोकर खा—खा कर फूट गये थे, काँटों और झाड़ियोंमें उलझकर कपड़े चिथड़े-चिथड़े हो गये थे तथा कोमल शरीर स्थान-स्थानपर नुच और खंरुच गया था ॥ ७९ ॥

पहिले जब वह राजा था तो उसके शरीरका प्रक्षालन करके उसपर उत्तम चन्दन और कुंकुमका लेप किया जाता था इसके बाद उसे कालागरू आदि श्रेष्ठ चन्दनोंकी धूपका धुआँ दिया जाता था, किन्तु आज वही सुकुमार शरीर अविरत बहे पसीने और मैलसे बिल्कुल पुत गया था। इतना ही नहीं अत्यन्त मैले कुचैले चिथड़ोंसे लज्जा ढके वह गहन वनमें मारा मारा फिर रहा था ॥ ८० ॥

---

१. क हस्तावलि°, [हंसावलि°]।

पञ्चेन्द्रियाणां विषयाननूनान्यः प्राप्तवान्पुण्यफलोदयेन ।
स एव पूर्वार्जितपुण्यनाशान्नैकेन्द्रियं तर्पयितुं समर्थः ॥ ८१ ॥
य एव पर्याप्तसुखार्णवस्थः श्रीमत्कुलाशीर्वचनैः प्रणूतः ।
दुर्भाष्यमाणस्त्वपि वासुकुन्तै[1]र्दुःखार्णवे स क्षणतः पपात ॥ ८२ ॥
एवंविधानां हि महर्द्धिकानां नैकाक[2]रग्रामपुराधिपानाम् ।
सूर्यत्विषामूर्च्छितपौरुषाणां यद्यावदीदृक्क्षणतोऽभ्युपैति ॥ ८३ ॥
नित्यं परप्रेषणतत्पराणां नक्तंदिवं क्लेशसहस्रभाजाम् ।
निकृष्टवृत्तित्वमुपागतानां किमस्ति वाच्यं कृमिमानुषाणाम्[3] ॥ ८४ ॥
यद्यैवं शकटमयोमयं सुबद्धं[4] तत्स्याच्चेदनिलबलेरणप्रणीतम् ।
यद्भिण्डं प्रचयकृतं प्रभञ्जनेयं किं तिष्ठेदतिलघुचञ्चलस्वभावम्[5] ॥ ८५ ॥

पुण्यकर्मोंके उदयके कारण जिस राजकुमारको पहिले पाँचों इन्द्रियोंके भोग्य विषय परिपूर्ण मात्रामें यथेच्छरूपसे प्राप्त होते थे, उसीके पुण्यकर्मोंकी फलोन्मुख शक्तिके उदयके रुक जानेके कारण वही राजकुमार आज एक इन्द्रियको भी शान्त करनेमें असमर्थ था ॥ ८१ ॥

सब प्रकारसे परिपूर्ण सुखोंके समुद्रमें आलोडन करते हुए जिस युवक राजाकी लोग मंगल गीतों और स्वस्ति-वाचन आदि आशिषमय वचनोंसे स्तुति करते थे वही सर्वगुणसम्पन्न राजकुमार जब शिवा (सेही) तथा उल्लू आदि पक्षियोंके कर्ण-कटु कुशब्दोंको सुनता था तो अपने भाग्य परिवर्तनको सोच सोचकर एक क्षणमें वही दुःखके महासमुद्रमें डूबने और तैरने लगता था ॥ ८२ ॥

युवराज वरांग ऐसे अतुल तथा असीम वैभव और प्रभुताके स्वामियोंका, जिनके राज्यमें एक, दो नहीं अपितु अनेक विशाल नगर, सम्पत्तिकी उद्गम खनिक बस्तियाँ तथा सम्पन्न ग्राम हों, इतना ही नहीं जिनका प्रताप सूर्यके समान सम्पूर्ण विश्व-को आक्रान्त कर लेता हो, पूर्व पुरुषार्थ (पुण्य) के नष्ट हो जानेपर उनकी भी जो, जितनी समस्त सम्पत्ति होती है वह, उक्त प्रकारसे क्षणभरमें लुप्त हो जाती है ॥ ८३ ॥

तब फिर उन नरकीटोंका तो कहना ही क्या है जो सर्वदा दूसरोंकी आज्ञाको कार्यान्वित करनेके लिए तत्पर रहते हैं, दिन-रात हजारों प्रकारके क्लेशोंको भरते हैं तथा जिनकी जीविकाके साधन अत्यन्त निकृष्ट हैं ॥ ८४ ॥

यदि कोई गाड़ी लोहा-लोहा हो लगाकर उत्तम प्रकारसे अत्यन्त दृढ़ बनायी जाय और यदि वह भी ऐसी हो जाय

---

१. म °स्त्वसिवासकुन्तौ°, [°स्त्वपि वा शकुन्तैः, °स्त्वशिवं शकुन्तैः]। २. म नंवाकर°। ३. म कृति°।
४. म यत्पत्रं। ५. क तिष्ठेदतिचलनस्व°।

आहोस्वित्कनकमयं शरावपात्रं तन्निष्ठां व्रजति यदोह मूषिकाभिः ।
भद्रेयः[1] किमु घृतपूरितो गुडाक्तः श्रीमोदस्थित[2] इति मूषिकाबिलेषु ॥ ८६ ॥
एवं ये धृतिबलसत्त्वसारवन्तः सेवाज्ञामतिविभवोरुधैर्यवन्तः ।
तेऽस्वास्थामतिविकृतामवाप्नुवीरन् किं वर्ष्यं मृगपशुभिः समा [3]न पुंसः ॥ ८७ ॥
निर्मुच्य स्वजनगतं मनः पृथुश्रीरात्मानं स तु[4] धृतिसंपदावलम्ब्यम् ।
पीत्वाम्भो विगततृषो युवावनीन्द्रः स्नानार्थं जलममलं शनैर्जगाहे ॥ ८८ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
युवराजसरोदर्शनो नाम द्वादशम:[5] सर्गः ।

कि वायुके झोंकेके मारे चापसे चलने (उड़ने) लगे और टुकड़ों का ढेर होकर आँधीमें उड़ जाय तो बतलाइये कि सूखे पत्तोंका बड़ा भारी ढेर भी क्या आँधीके झोंके सह सकेगा ? जो बेहद हल्का होता है स्वभावसे ही अत्यन्त चंचल होता है तथा साधारण वायुके झोंकेसे भी उड़ने लगता है ॥ ८५ ॥

विचित्रा कर्मपद्धतिः

अथवा यों समझिये कि मजबूत पक्के मिट्टीके सकोरेको सोनेसे भरा जाय और यदि वह भी चूहोंके द्वारा कुतरा जाकर सदाके लिए कुगति (नाश) पा जाता है तो क्या चहोंके बिलमें रखा गया श्रीमोदक (उत्तम लड्डू) सुरक्षित समझा जा सकेगा, जबकि उस मोदकसे घी टपकता हो और गुड़ अथवा शक्कर उसमें बड़ी मात्रामें मिलायी गयी हो ॥ ८६ ॥

जो पुरुष धैर्य, शारीरिक तथा मानसिक बल, विवेक तथा सहनशक्ति आदि गुणोंसे परिपूर्ण हैं, जिनमें सेवकों, आज्ञाकारियों, सुमति, विभव तथा परिस्थितियोंको पैदा करके उन्हें बनाये रखनेकी असीम (धृति) शक्तिकी कमी नहीं है वे भी पूर्वकृत पाप-कर्मोंके उदय होनेसे, इस प्रकार सरलतासे हुई ऐसी महाविकृत दुःखमय अवस्थामें जा पड़ते हैं । तो जो मनुष्य हिरण आदि पशुओंके समान इन्द्रियोंके दास दुर्बल और ज्ञानहीन हैं, उनको तो कहना ही क्या है ॥ ८७ ॥

आध्यात्मिक विशाल लक्ष्मीके स्वामी राजकुमारने, माता-पिता, बन्धु-मित्र, पत्नियों आदिके स्मरणमें लीन मनको 'येन केन प्रकारेण' उधरसे मोड़कर अपने आपको धैर्य और सहनरूपी महाशक्तिके सहारे खड़ा किया था—अर्थात् घरके लोगोंकी मधुर स्मृतियोंको भूलकर सामने खड़ी विपत्तियोंको धैर्यपूर्वक सहनेका निर्णय किया था। युवक राजाने पानी पीकर अपनी प्यासको शान्त कर दिया था, इसके उपरान्त उसने शारीरिक क्रान्तिको भी कम करनेकी इच्छासे स्नान करनेका निर्णय किया था। इस निर्णयको पूरा करनेके हो लिए वह उक्त जलाशयके निर्मल जलमें धीरे-धीरे घुसा था ॥ ८८ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
युवराज-सरोदर्शन नाम द्वादशम सर्ग समाप्त ।

१. क शुद्धेयुः । २. [श्रीमोदः] । ३. क समेषु । ४. समवृति°, [शमवृति°] । ५. [द्वादशः] ।

त्रयोदशः सर्गः

सरः प्रविश्योत्पलपङ्कजं प्रकृष्टकारण्डवसारसाकुलम् ।
मृदा कषायेण मलापहारिणा निघृष्य [1]सस्नावनुकूलमात्मनः ॥ १ ॥
पुनः सरोऽन्तर्गतरागमानसः स्वकर्मनिष्पत्तिफलप्रचोदितः ।
श्रमव्यपोहार्थमगाधवारिणि ततार दोर्भ्यां [2]सुतरं तरङ्गिणि ॥ २ ॥
चिरं हि तीर्त्वा कमलोत्पलान्तरे तर[3]ङ्गसंगप्रविधौतदेहिनः ।
विनिर्ययासोः महसानुसृत्य तं जग्राह नक्रश्चरणं महीपतेः ॥ ३ ॥
विबुध्य नक्रग्रसनं स दुर्धरं बलाद्बहिर्निष्पतितुं समुद्यतः ।
अशक्नुवन्क्षीणबलो निरास्पदो विचिन्तयामास विषण्णमानसः ॥ ४ ॥

त्रयोदश सर्ग

कर्मगति

जलाशयमें उत्पल और पंकज खिले हुए थे, उच्च जाति के बगुला और सारसोंके समूहसे वह परिपूर्ण था। उसमें उतरकर राजकुमारने अपने शरीर पर कशैली मिट्टी को मला जो कि मैलको छुटा सकती है तथा शरीरको खूब रगड़-रगड़कर अपनी इच्छाके अनुकूल पूर्ण स्नान किया था ॥ १ ॥

इस प्रकार राजकुमारके हृदयमें तालाबके बीचमें जाकर गोता लगानेकी रुचि उत्पन्न हो गयी थी, इस रुचिके आकर्षणसे, अथवा अपने पूर्वकृत कर्मों का फल वहाँ उस रूपमें मिलना हो था अतएव भवितव्यताकी प्रेरणा से ही उसने मार्ग की थकान तथा रात्रि जागरणकी क्लान्तिको दूर करनेके हो लिए अपने आप तालाब के लहरोंसे आकुल अगाध जलपर हाथोंसे तैरना प्रारंभ कर दिया था ॥ २ ॥

इसके बाद उत्पलों और कमलोंके बीच काफी देर तक तैरता रहा, वहाँपर लहरोंके थपेड़ोंसे उसका शरीर धुलकर स्वच्छ हो गया था अतएव निकलने की इच्छासे वह ज्यों ही मुड़ा था कि अकस्मात् पीछा करके किसी घड़ियालने युवक राजा का पैर पकड़ लिया था ॥ ३ ॥

[२१९]

यह पता लगते ही कि घड़ियालने पैर को अत्यधिक दृढ़ताके साथ दाँतोंसे दबा लिया है उसने पूरी शक्ति लगाकर बाहर निकल भागनेका प्रयत्न तत्परताके साथ प्रारम्भ किया। किन्तु उसका शारीरिक बल लगातार आयी विपत्तियोंके कारण

१. म स स्नात्यनु° । २. [सुतरं] । ३. म तरङ्गरङ्ग° ।

व्यपेतशार्दूलभयस्य मे पुनः किमेतदन्यत्समुपस्थितं महत् ।
द्रुतमाग्रपातोद्भवदुःखचेतसो बभूव भूयो मुसलैरभिघातवत् ॥ ५ ॥
पुरे च राष्ट्रे च गिरौ महीतले महोदधौ वा सुहृदां च सन्निधौ ।
नभस्स्थले वा वरगर्भवेश्मनि न मुञ्चति प्राक्कृतकर्म सर्वथा ॥ ६ ॥
अयं विधिर्निःप्रतिकारकारणः सुदुर्धरः किं करवाणि सांप्रतम् ।
विचिन्त्य कर्माणि पुरा कृतानि बभूव राजा सुविशुद्धभावनः ॥ ७ ॥
अनेकजात्यन्तरदुःखकारकान्कषायदोषान्विषमांस्तथाविधान् ।
विसृज्य जग्राह महाव्रतादिकं परं च निःश्रेयससाधनात्मकम् ॥ ८ ॥

क्षीण हो गया था, तथा आस-पास कोई सहारा भी न था फलतः नक्रसे बचनेमें असमर्थ था। तब उसका हृदय विषाससे भर गया और वह सोचने लगा था ॥ ४ ॥

आर्त्त एवं शुभ चिन्तन

किसी उपायसे सिंहका भय नष्ट होते होमुझपर यह दूसरी महा विपत्ति कहाँसे आ टूटी ? यह तो वही हुआ कि कोई मनुष्य वृक्षके उन्नत शिखरपर से गिरके उसकी चोटों के दुःख को सोच ही रहा था कि उसपर फिर मूसलों की लगातार मार पड़ने लगी ॥ ५ ॥

पूर्व जन्ममें किये गये शुभ वा अशुभ कर्मों के फल जीवको कहीं भी नहीं छोड़ते हैं। चाहे वह अपने राज्यमें रहे या अपना नगर न छोड़े, चाहे पर्वत पर चढ़ जाये या महा समुद्रकी तहमें जाकर छिपे, चाहे भूतल पर ही एक स्थानमें दूसरे स्थान पर भागता फिरे, या मित्रों और हितैषियोंसे घिरा रहे, चाहे आकाशमें उड़ जाये अथवा खूब मजबूत तलघर में छिप जाये ॥६॥

कर्मोंके फलों की अटलताकी यह विधि ऐसी है कि कसी कारण अथवा योजनासे इनका प्रतीकार नहीं किया जा सकता है। यह तो जीवको ऐसा बाँधती है कि वह हिल भी नहीं सकता है। ऐसी अवस्थामें मैं क्या करूँ ?' उसने एक बार पुनः पूर्वकृत समस्त कर्मोंकी आलोचना की और कर्मोंकी फल व्यवस्थाको निष्प्रतीकर (अपरिहार्य) सोचकर अनित्य, अशरण, एकत्व आदि विशुद्ध भावनाओं को भाना प्रारम्भ किया ॥ ७ ॥

क्रोध आदि कषाय दोष ऐसे भयंकर है कि नरकादि विषम अवस्थाओं में घसीटते हैं तथा विविध जन्म-जन्मान्तरों में सब दुःखोंको देते हैं अतएव उन्हें छोड़कर उसने अहिंसा आदि पांचों महाव्रतों को धारण किया था। क्योंकि यह महाव्रत ही मोक्ष प्राप्ति के परम शक्तिशाली साधन है ॥ ८ ॥

---

१. क मुशलाभि° ।

विशुद्धवाक्कायमनस्समाहितः कृताञ्जलिर्भक्तिजलार्द्रमानसः ।
ननाव सामान्यविशेषसत्पदैर्वचोभिरव्याकुलितार्थशोभनैः ॥ ९ ॥
गिरां पतिं सद्यशसां च संनिधिं धियामधीशं दहनं स्वकर्मणाम् ।
निसर्गशुद्धान्वयधर्मदर्शिनं जिनं नमामीष्टफलप्रदायिनम् ॥ १० ॥
विनष्टकर्माष्टकबुद्धिगोचरं समस्तबोध्येष्टहितार्थदर्शनम् ।
सुदृष्टिचारित्रपथाधिनायकं नतोऽस्मि निर्वाणसुखैधितं जिनम् ॥ ११ ॥
व्यपेतसर्वैषणधीरसद्व्रतं प्रशस्तशुक्लप्रविधूतदुर्नयम् ।
अवाप्तनिर्वाणसुखं निरामयं नतोऽस्मि तं विघ्नविनायकं जिनम् ॥ १२ ॥

उसने मन, वचन और कायको शुद्ध करके शुभ ध्यानमें लगा दिया था, भक्तिरूपी जलसे उसका हृदय द्रुत हो उठा था अतएव उसने वीतराग प्रभुके आदेश के आगे हाथ जोड़ लिए थे तथा पंच परमेष्ठीके सम्मिलित तथा पृथक्-पृथक् स्तोत्रों को पढ़कर नमस्कार कर रहा था। उसके मुखसे निकलते शब्द तथा उनके अर्थ दोनोंमें व्याकुलताकी छाया तक न थी अतएव वे बड़े मनोहर लगते थे ॥ ९ ॥

जिनभक्ति ही शरण

मैं श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करता हूँ जिनकी भक्ति आत्माको विशुद्ध करके, मनचाहे फलों को देती है। तथा जो जिनेन्द्रदेव दिव्यध्वनिके स्वामी हैं, सत्य और यशके उत्तम कोश हैं, पूर्ण ज्ञानके प्रभु हैं, अपने कर्मोरूपी ईंधन के लिए जलती ज्वाला हैं तथा 'वस्तु स्वभावमय' होने के कारण जिसकी अनादि परम्परा परम शुद्ध है; ऐसे धर्म को दिखाने वाले हैं ॥ १० ॥

आठो कर्मों के भलीभांति नष्ट हो जानेसे उत्पन्न जिनके पूर्णज्ञानमें संसारके सबही जानने योग्य पदार्थ, विशेषकर इष्ट और हितकारीपदार्थ साक्षात् झलकते हैं। जो सम्यक्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्रमय रत्नत्रयके सुपंथके चलाने वाले हैं तथा अन्तमें निर्वाणरूपी अनन्त सुखको प्राप्त करके शोभित हो रहे हैं ऐसे जिनेन्द्र प्रभु को नमस्कार करता हूँ ॥ ११ ॥

धन आदि समस्त ऐषणाओं (अभिलाषाओं) तथा मिथ्यात्वमय व्रतों की असारता को जिन्होंने प्रकट कर दिया है, परम पवित्र शुल्क-ध्यान के द्वारा जिन्होंने दुनियाँके कुनयरूपी काले बादलों को उड़ा दिया है, समस्त विघ्नको जीत लिया है, सब प्रकार के रोगोंसे परे हैं तथा निर्वाण महासुखके स्वामी हैं ऐसे जिनेन्द्र प्रभुके चरणों में प्रणाम करता हूँ ॥ १२ ॥

प्रशस्यतां दृष्टिपथानुरोधिनीं सुरूपतां चापि सुयौवनं वपुः ।
सुविभ्रतो यस्य मनो मनोभुवा न नाशितं तं प्रणतोऽस्मि यत्नतः ॥ १३ ॥
चतुर्विधामेत्य गतिं सुदुःखिताः स्मराग्निना ये निहताः शरीरिणः ।
शमाम्भसा शान्तिमिताः स यस्य वै जिनो हि मेऽद्य प्रददातु सत्सुखम् ॥ १४ ॥
शरीरि[1]कायस्थितिसंगदर्शिनं निरञ्जनं निर्दुरितं निरामयम् ।
अमोघविद्यं निरवद्ययोगिनं शरण्यतां यामि तमद्य शान्तये ॥ १५ ॥
त्रिलोकबन्धुस्त्रिजगत्प्रजाहितस्त्रिलोकचूडामणिराप्तकेवलः ।
त्रिकालदर्शी सुगतिं समेयिवान्स मां जिनो रक्षतु दुःखसंकटात् ॥ १६ ॥

शरीरमें यौवन समुद्र लहरा रहा था तथा आँखों को हठात् अपने ओर आकर्षित करनेवली मूर्तिमान सुन्दरता (रूपवती स्त्रियों) के सदा ही आँखों के सामने रहने पर जिन वीतमोह जिनेन्द्र प्रभुके मेरू समान अडिग मन को कामदेव के द्वारा थोड़ा भी; वासना दूषित न किया जा सका था उनके चरणोंमें त्रियोग-पूर्वक प्रणाम करता हूँ ॥ १३ ॥

नरक आदि चारों गतियों में जन्म मरण करके बुरे-बुरे दुखों को भरनेवाले तथा अप्रतीकार कामकी ज्वालामें भस्म किये गये संसारी जीव जिन वीतराग प्रभुकी प्रशमभावरूपी जलधारासे सिक्त होकर आत्मिक शान्तिको प्राप्त हुए हैं उन्हीं कर्म-जेता जिनेन्द्रदेव की भक्ति; इस विपत्ति कालमें, मेरे कल्याणकारक सुख का कारण हो ॥ १४ ॥

सांसारिक सुखोंकी शान्ति प्राप्त करने की अभिलाषासे मैं आज उन्हीं जिनेन्द्र देवकी शरण लेता हूँ जिन्होंने शरीरी (आत्मा) और शरीरके रहस्यको तथा सम्बन्धको आत्मदृष्टिसे साक्षात् देखा था, जो सब प्रकारकी कालिमाओं से परे हैं, पाप उनकी तरफ देख भी नहीं सका है, रोगोंकी उनतक पहुँच ही कैसे हो सकती है ? जिनका अनन्तज्ञान सत्य और सफल है तथा जो सब दोषों से रहित योगी हैं ॥ १५ ॥

प्राणिमात्र पर वात्सल्य करनेके कारण जो तीनों लोकोंके सगे भाई हैं, समस्त भुवनोंकी प्रजाका कल्याण चाहते हैं, तीनों लोकोंमें मुकुटमणिके समान श्रेष्ठ हैं, मिथ्या मार्गकी वंचनासे बचाकर सन्मार्ग दिखानेके कारण आप्त हैं, केवली हैं फलतः भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानको साक्षात् देखते हैं, तथा अन्तमें जिन्होंने सबसे बढ़कर गति (मोक्ष) को प्राप्त किया है उन्हीं कर्मजेता प्रभुका आदर्श मुझे भी दुखों और संकटोंसे पार करे ॥ १६ ॥

---

१. क शरीर°।

सजातयो रोगजरोहमृत्यवो यथाक्रमं लोकमिमं जिघांसवः ।
समुद्धृता येन चिराय निस्तुषाः स मे विमुक्तिं विदधातु नक्रतः ॥ १७ ॥
निरस्तदुर्नीतिविशेषसाधनो विशिष्टदिव्याष्टसहस्रलक्षणः ।
परीषहक्लेशविजिष्णुरद्य मां स रक्षतु ग्राहमुखाज्जिनेश्वरः ॥ १८ ॥
इति स्तुवानं प्रविशुद्धचेतसं स्थितं च सम्यग्जिनदेववर्त्मनि ।
स्तुतिप्रसादेवितपुण्यपौरुषं ददर्श यक्षो सहसा नृपात्मजम् ॥ १९ ॥
निरीक्ष्य या तं भृशमापदि स्थितं दयान्विता सा वसदारितात्मकम् ।
अदृष्टरूपा शनकैः सुदर्शना विमोचयां ग्राहभयाद्बभूव ॥ २० ॥
अपेतनक्रो बहिरेत्य तत्क्षणात्सविस्मयः सर्वदिशो निरीक्ष्य च ।
न किंचिदैक्षिष्ट विमोचकं परं जिनप्रसादादिदमित्यमन्यत ॥ २१ ॥

क्रमपूर्वक सारे संसारको अपने चक्करमें डालकर नष्ट करने वाली जन्म महाव्याधि से प्रारब्ध जीवनव्यापी रोग, बुढ़ापा और मृत्युको संसारिक विषयोंकी प्यास को सुखाकर जिन्होंने अनन्तकालके लिए उखाड़ कर फेंक दिया है, उन्हीं संसार जेता प्रभु की भक्तिके प्रसाद में मैं भी घड़ियालके मुख से मुक्ति पाऊँ ॥ १७ ॥

विशेष तर्क प्रणालीके द्वारा जिन्होंने मिथ्या न्याय शैलोका दिवाला खोल दिया है, लोकोत्तर एक हजार आठ लक्षणों-के स्वामी हैं, क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहोंको जीत लिया है तथा जो किसी भी प्रकारके क्लेशोंके आक्रमणको व्यर्थ कर देते हैं उन्हीं दोषजेता वीतराग प्रभुका स्मरण आज नक्रके मुखसे मेरी मुक्तिका कारण हो ॥ १८ ॥

शुभभावका फल

अत्यन्त सरल और शुद्ध अन्तःकरणसे जिनेन्द्र देवकी उक्त स्तुतिमें लीन, पूर्णरूपसे जिनदेव प्रणीत धर्ममार्गमें स्थित तथा निष्काम स्तुतिके प्रभावसे तत्क्षण बढ़े हुए पुण्यके स्वामी युवक राजपुत्र पर उसी समय अकस्मात् ही किसी यक्षिणीकी दृष्टि जा पड़ी ॥ १९ ॥

कठोरतम विपत्तिमें पड़े हुए तथा सब प्रकारसे विवश होकर भी अपने प्राणोंको धारण किये हुए राजपुत्रको देखते ही उसकी स्त्री हृदय-सुलभ करुणा उमड़ आयी फलतः दर्शनीय रूपराशिकी स्वामिनी उस यक्षिणीने अपने आपको प्रकट किये बिना ही राजपुत्रको धीरेसे ग्राहके मुखसे छुड़ा दिया था ॥ २० ॥

नक्रके मुखसे छुटकारा पाते ही वह सीधा तालाबके बाहर आया और उसी क्षण सब दिशाओंमें दृष्टि दौड़ायी ।

१. [व्रतधारि°] ।

इदं मनुष्यत्वमनेकजन्मतः सुलभ्य जात्यादिगुणांश्च सर्वथा ।
प्रवञ्चितो मोहबलैरितः [1]स्मृतिरितस्त्रिभिः शुद्धतमोऽस्मि नित्यशः ॥ २२ ॥
तपश्च सज्ज्ञानमनूनदर्शनं त्रिरत्नमेतत्त्रिजगद्धितप्रदम् ।
जिनप्रसादोदयतो भवे भवे तदस्तु मे संसृतिमोक्षकारणम् ॥ २३ ॥
इति ब्रुवाणस्य महीपतेः शनैर्निशम्य देवी वचनं प्रसन्नवत् ।
विसृज्य वैकारिकरूपमात्मनः स्थिता पुरस्ताद्विपरीक्षितुं पुनः ॥ २४ ॥
प्रलम्बहारोज्ज्वलहेमकुण्डला प्रफुल्लमा[2]लस्तबकावतंसिनी ।
कराग्रसंधारितमाधवीलता वराङ्गना सस्मितमब्रवीद्वचः ॥ २५ ॥

किन्तु उसके आश्चर्यका तब ठिकाना न रहा जब उसने अपने आसपास किसी भी ऐसी वस्तुको न पाया जो उसका विमोचक हो सकती थी। अन्तमें उसने समझा था कि 'जिनेन्द्रदेवकी भक्तिके प्रसादसे ही वह बच गया है' ॥ २१ ॥

नरक, तिर्यञ्च तथा देवयोनिमें अनेक जन्म धारण करनेके पश्चात् इस मनुष्य जन्मको पाकर तथा इसमें भी शुद्ध मातृ-पितृ कुल जाति, स्वास्थ्य आदि श्रेष्ठ गुणोंको प्राप्त करके भी मोहनीय कर्मसे पूर्ण प्रेरणा तथा शक्ति पानेवाले आठों कर्मोंके द्वारा मैं बुरी तरह ठगा गया हूँ यह स्मरण होते ही उसने निर्णय किया था कि 'इसी समयसे मैं अपने मन, वचन और काय तीनोंको अत्यन्त शुद्ध रखूँगा' ॥ २२ ॥

आठों दोषों रहित परिपूर्ण सम्यक्दर्शन, यथार्थदर्शी सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र लोकत्रयमें सुविख्यात ये तीनों रत्न भव-भवमें जिनेन्द्रदेवकी भक्तिके प्रसादसे मुझे प्राप्त हों और मेरी संसार यात्रा तथा मुक्ति प्राप्तिमें सहायक हों ॥ २३ ॥

जब युवक राजा अपने आपको सम्बोधन करके उक्त वाक्य कह रहा था, उसका उद्धार करनेवाली देवी यह सब सुनकर मानों प्रसन्न ही हो गयी थी। अतएव अपने विक्रिया ऋद्धिजन्य सूक्ष्मरूपको त्याग कर युवराजकी परीक्षा लेनेके लिए ही अपने स्वाभाविक सुन्दर रूपमें उसके सामने आ खड़ी हुई थी ॥ २४ ॥

उसकी शंख समान सुन्दर ग्रीवामें लम्बा हार लहरा रहा था, कानोंमें सोनेके सुन्दर कुण्डल चमक रहे थे, विकसित पुष्पोंकी माला तथा फूलोंके गुच्छोंके ही कर्णभूषणोंकी शोभा भी विचित्र थी तथा वह अपने हाथमें माधवी लताकी मंजरी लिये थी। इस स्वाभाविक अल्प शृंगारसे उस उत्तम नारीका सौन्दर्य चमक उठा था, इसपर भी उसने वरांङ्गसे स्मितपूर्वक वार्तालाप प्रारम्भ किया था ॥ २५ ॥

१. [लैरितिस्मृतीरित°]। २. [°माला]।

विबोद्धुमिच्छाम्यहमागमः कुतः इह स्थितो वा किमु ते प्रयोजनम् ।
क्व वा गमिष्यस्यमुतः प्रवेशान्न चेद्विरोधोऽस्ति वदार्य मे स्फुटम् ॥ २६ ॥
स तां निरीक्ष्याप्रतिरूपकारिणीं विचारयामास यथावदीश्वरः ।
इयं हि किं दिव्यवधूर्न मानुषी मनुष्यवेषा किमु राक्षसी स्वयम् ॥ २७ ॥
निराश्रये श्वापदसेविते वने व्यपेतशङ्का विजने विलासिनी ।
प्रवर्तितभ्रूललिताननेन्दुना समेत्य मां पृच्छसि का नु कस्य वा ॥ २८ ॥
निगूह्य भावं स्वमनोषितं हि सा ह्यथान्यदुक्ता वचसाविशङ्किनी ।
व्यपेतपुण्या वसुधेश्वरात्मजा वसामि मूढेति जगाद देवता ॥ २९ ॥

"हे आर्य ? मैं जानना चाहती हूँ कि आप किस स्थानसे आये हैं ? यहाँ निवास करनेमें आपका कौनसा प्रयोजन है ? अथवा इस वीहड़ वन प्रदेशसे आप कहाँ जायेंगे ! यदि आपके प्रारम्भ किये गये प्रकृत कार्यमें उक्त प्रश्नोंके उत्तर देनेसे कोई बाधा न आती हो तो स्पष्ट करके उत्तर दीजिये ॥ २६ ॥

जिसके निर्दोष एवं पूर्णरूपके साथ संसारका अन्य कोई सौन्दर्य समता न कर सकता था उस रूपवतीको देखते ही युवक राजा गम्भीर विचारधारामें बह गया था । उसने सोचा था 'क्या यह रूपराशि किसी देवकी प्राणप्रिया तो नहीं है ? मनुषी ही है ? अथवा किसी दारुण राक्षसीने वञ्चना करनेके लिए यह मानुषीका सुन्दर रूप धारण किया है ॥ २७ ॥

यक्षिणीकी जिज्ञासा

सिंहादि हिंस्र पशुओंसे परिपूर्ण इस निर्जन गहन वनमें आप निर्भय और निशंक होकर विचरती ही नहीं है अपितु अपनी भृकुटियोंके विलास, मुखचन्द्रकी रूपचन्द्रिकाको बिखेरती फिरती हैं । यहाँपर दूर-दूर तक कोई आश्रय स्थान भी नहीं है तो भी कहींसे टपककर मुझसे प्रश्न करती है, फलतः यह कौन है तथा किसकी पुत्री वा पत्नी है ? ॥ २८ ॥

प्रणय-प्रस्ताव

उसने उस समय अपने मनके सच्चे भावोंको छिपा लिया था, उसके मनमें कुछ था और बोलती कुछ और ही थी, उसकी एक-एक बात शंकाओंको उत्पन्न करती थी । इन परिस्थितियोंमें उसने कहा था । 'हे आर्य ! मैं एक विशाल राज्यके अधिपतिकी औरस सन्तान हूँ, मेरा पूर्वपुण्य समाप्त हो गया है अतएव सब कुछ भूलकर और खोकर इस निर्जन वनमें अकेली रहती हूँ ॥ २९ ॥

परिभ्रमन्ती कृतपूर्वधर्मतो भवन्तमद्राक्षमिहैव सांप्रतम् ।
इतः प्रभृत्येव वशानुवर्तिनी भवेयमार्तामगतिं गृहाण माम् ॥ ३० ॥
अहं सुदुःखा[1] प्रविनष्टचेतना निरास्पदा तत्प्रतिकारदुर्लभा ।
त्वमेव भर्ता शरणं गतिश्च मे किमर्थमासे प्रतिवाक्यदुर्लभः ॥ ३१ ॥
अनेकविज्ञानकलाविदग्धया तयाभिपृष्टो बहुशः प्रगल्भया ।
स्वकेशवस्त्राङ्गविरूक्षतां स्वयं समीक्ष्य तां किंचिदुवाच लज्जितः ॥ ३२ ॥
सुभाषितं खल्विदमात्मनो वचः प्रियं च तथ्यं च तथैव शोभते ।
न मे गतिः काचिदपीह विद्यते गतिस्तवार्ये कथमस्मि कथ्यताम् ॥ ३३ ॥
स्वयं प्रबुद्धः प्रतिबोधयेत्परान् [2]परान् प्रतिष्ठापयते स्वयं स्थितः ।
स्वयं न बुद्धस्त्वनवस्थितः कथं परानवस्थापनरोध[3]नक्षमः ॥ ३४ ॥

पूर्व जन्ममें कोई पुण्य किया होगा उसीके प्रतापसे इस अटवीमें भटकते हुए यहाँपर इस समय आपके दर्शन पा सकी हूँ। क्या कहूँ, आपको देखते ही मेरा मन वा शरीर आपके वशमें हो गया है। मैं सब प्रकारसे दुःखी हूँ, संसारमें मेरे लिए अन्य कोई आशा अथवा सहारा नहीं है अतएव मुझे स्वीकार करिये ॥ ३० ॥

मैंने इतने दारुण दुःख सहे हैं कि एक प्रकारसे मेरी चेतना ही नष्ट हो गयी है, अब मेरा कोई ठिकाना नहीं है, मैं अपनी विपत्तियोंका स्वयं कोई प्रतीकार नहीं कर सकती हूँ अतएव तुम ही मेरे भरण पोषण कर्ता हो, तुम्हारे सिवा मुझे और कोई शरण नहीं है, मेरा उद्धार तुम्हीं कर सकते हो, बोलो, क्या कारण है, अरे, उत्तर भी नहीं देते हो ॥ ३१ ॥

देखनेसे ऐसा प्रतीत होता था कि वह विविध ज्ञान और सकल कलाओंमें पारंगत है। साथ ही साथ वह इतनी ढीट थी कि वह उत्तर न पाकर वरांगको बार-बार हिलाती थी। उसके लगातार स्पर्शके कारण और अपने बालों तथा पूर्ण शरीरकी रूक्षता, कपड़ोंकी दुर्दशाको देखकर वह लज्जासे गड़ गया था। तो भी लजाते-लजाते कुछ बोला था ॥ ३२ ॥

स्वदारसंतोषी वरांग

'आपके प्रिय वचन निश्चयसे मेरे लिए सुभाषित हैं अतएव ग्राह्य हो सकते हैं, किन्तु आप यह भी तो जानती हैं कि प्रियवाक्यके समान ही यथार्थ सत्यवाक्य हितकर्ता सत्यवाक्य भी शोभा पाता है। आप देखतीं हैं कि वर्तमानमें यहाँ मेरे निर्वाहका भी कोई मार्ग नहीं है ॥ ३३ ॥

अतएव हे आर्य ? मैं आपका सहारा कैसे हो सकता हूँ, आपही बतावें ! जो व्यक्ति स्वयं जागता है वही दूसरोंको

१. [सदुःखा]। २. म परं। ३. [°बोधन°]।

अथैवमुक्तानुजगाद सा गिरं न युज्यते ते प्रतिवाक्यमीदृशम् ।
निगद्यते कापुरुषैरकामिभिः प्रतीच्छ मां भक्तिमतीमुपाश्रिताम् ॥ ३५ ॥
तयोदितं वाक्यमनङ्गसाधनं निशम्य सद्यौवनरूपवानपि ।
स्वदारसंतोषरतिव्रतं महद् विचिन्त्य तामित्थमुवाच भूपतिः ॥ ३६ ॥
अहं पुरा सर्वदृशस्तु पादयोः प्रणम्य मूर्ध्ना बहुमानतोऽर्हतः ।
स्वदारसंतोषसमाहितं व्रतं गृहीतवानस्मि मुनीन्द्रसाक्षिकम् ॥ ३७ ॥
न वा न काम्यस्मि न चास्म्यपौरुषो न कामिनी वापि[1] सुगात्रि चिन्त्यताम् ।
गृहीतदारव्रतभूषणस्य मे अयुक्तमेतद्व्रतलङ्घनं पुनः ॥ ३८ ॥

जगा सकता है। जो न तो स्वयं जागता है और जिसकी निजी स्थिति अत्यन्त डवाँडोल है वह कैसे दूसरोंकी नींद तोड़ सकता है अथवा उनको दूसरों को कैसे स्थिर कर सकता है ॥ ३४ ॥

कटु-कोमल परीक्षा

युवक राजा वरांगसे इस प्रकारके उत्तरको सुनकर वह फिर बोली थी,—'हे आर्य ? आपको इस प्रकारका उत्तर देना शोभा नहीं देता। ऐसी बातें तो वे करते हैं जो कापुरुष है अथवा जिनकी समस्त अभिलाषाएँ व प्रेमपिपासा शान्त हो गयी हैं। मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ और तुमपर अटूट भक्ति करती हूँ इसलिये मुझे स्वीकार करो' ॥ ३५ ॥

कुमार वरांगका यौवन चढ़ावपर था, सुन्दर-सुभग तो वह थे ही, इसके अतिरिक्त सामने खड़ी सुन्दरीके प्रिय वचन भी कामको जगानेवाले ही थे, तो भी उनको सुनते ही राजकुमारको अपनी पत्नीमें ही रतिको केन्द्रित करनेवाला स्वदारसंतोष व्रत याद आ गया था। फलतः कुछ समय तक विचार करनेके बाद युवक राजाने उससे यह वचन कहे थे ॥ ३६ ॥

लैङ्गिक सदाचार का आधार पत्नी

हे आर्ये ? अबसे कुछ समय पहिले मुझे परमपूज्य, समस्त पदार्थोंके साक्षात्—द्रष्टा केवलीके चरणोंमें अत्यन्त भक्ति-भावपूर्वक नमन करनेका अवसर प्राप्त हुआ था। उसी समय मैंने अनेक मुनिवरोंके सामने 'स्वदार संतोष' व्रतको ग्रहण किया था। यह व्रत मनुष्यके कामाचारको नियन्त्रित करके उसे समाधि की ओर ले जाता है ॥ ३७ ॥

'मैं कामी नहीं हूँ' ऐसा बात नहीं है, 'तब तुम कहोगी क्या पुंस्त्व से रहित हूँ' ऐसा भी मत समझो, आपको अपने विषयमें शंका हो सकती है सो हे सुन्दरी ! आप कमनीय युवती नहीं हैं ऐसा तो सोचा ही नहीं जा सकता है। सत्य यह है कि

---

१. क नोपि ।

दृढव्रतत्वे स्थिरबुद्धितां तदा विबुध्य[1] देवी परिहृष्टमानसा ।
स्थिता स्वरूपेण नभस्युवाच सा परीक्षणायाऽकृतमुष्यतामिति ॥ ३९ ॥
सुदर्शनेनाप्रतिमेन केवलं स्थिता वयं शीलगुणैर्विवर्जिताः ।
व्रतेन सद्दृष्टियथा[3]नुगामिना स्थितो यतस्तेन सुराधिको भवान् ॥ ४० ॥
स्वसा तवाहं नरदेव धर्मतो गुरुर्महान्नो वरदत्तसन्मुनिः ।
तवास्तु तद्भद्रमिति प्रशस्य तं नभस्स्थले सान्तरधाच्च तत्क्षणात् ॥ ४१ ॥
ततो विमुक्तो भयसंकटद्वयादितः किमु स्यात्करणीयमुत्तरम् ।
प्रयाम्यथासे किमु वा करोम्यहमितीहमानो गमनं व्यरोचत ॥ ४२ ॥

मैं स्वदार-संतोष नामके व्रतसे भूषित हूँ और आप जानती हैं कि किसी भी व्रत को लेकर उसे तोड़ डालना कितना नीच काम है, ॥ ३८ ॥

यह सुनकर देवीको विश्वास हो गया था कि उसकी बुद्धि स्थिर है और ग्रहीत व्रतका पालन करनेमें वह अत्यन्त दृढ़ है, तब उसका हृदय प्रसन्नतासे परिपूर्ण हो गया था। इसके उपरान्त उसने अपने वास्तविकरूप में आकाशमें खड़े होकर ये वाक्य कहे थे "आपकी परीक्षा लेनेके लिए मैंने जो कुछ किया है वह सब क्षमा करियेगा ॥ ३९ ॥

यक्षीपर सुप्रभाव

देवगतिको प्राप्त हम लोगोंकी स्थिति तीनों लोक में अनुपम केवल सम्यक्दर्शनके ही कारण है, अहिंसा आदि व्रतों, सप्तशीलों तथा मूलगुणों आदिका पालन करना हमारे लिए संभव नहीं है। किन्तु आपका जीवन सम्यक्त्व के सर्वथा अनुकूल पाँचों व्रतोंसे युक्त है इसीलिए हे युवराज आप देवोंसे भी बढ़कर हैं ॥ ४० ॥

हे नरदेव! जहाँतक धर्मका सम्बन्ध है मैं आपकी बहिन लगती हूँ, क्योंकि मुनियों के अग्रणी परमपूज्य वरदत्त केवली हमारे भी गुरु हैं। आपका सब प्रकारसे अभ्युदय हो' इत्यादि वाक्योंके द्वारा युवराज को भूरि-भूरि प्रशंसा करके एक क्षण भरमें ही वह आकाश में अन्तर्धान हो गयी थी ॥ ४१ ॥

भविष्य-चिन्ता

इस प्रकार युवराज वरांग दो भयों तथा संकटों से मुक्ति पा सके थे इसके उपरान्त प्रश्न यह था 'इसके आगे क्या करना चाहिये ? यहीं पड़ा रहूँ ? यहाँ से चल दूँ ? अथवा करूँ तो क्या करूँ ?' इत्यादि विचारोंमें जब वह गोते लगा रहा था तो उसे यही अधिक उपयुक्त और कल्याण कर जँचा था कि 'यहाँसे चल देना चाहिये' ॥ ४२ ॥

१. म निबुध्य । २. क °मुष्यताम्, [परीक्षणायं] । ३. [°पथा°] । ४. क सुधीगु (गुं) रुर्नो ।

शनैः समुत्थाय ततो युवाधिपो वरं वनं स्निग्धतरूपशोभितम् ।
गिरिस्रवच्छीतजलाविलान्तरे ददर्श रम्यं पनसं फलाकुलम् ॥ ४३ ॥
स तैः फलैर्हेमसमानकोशकैः पितॄन्प्रतर्प्य प्रविनीय तु क्षुधाम् ।
स्वकार्यसिद्धचै नृपतिर्वनान्तरात्ततः प्रतस्थे वरनागविक्रमः ॥ ४४ ॥
नदीरगाधा ह्रदवारिकाकुला[1] गिरींश्च निम्नोन्नतदुर्गसंकटान् ।
वनप्रदेशांस्तरुखण्डमण्डितान्भुजद्वितीयो विचचार सोद्यमः ॥ ४५ ॥
विशीर्णवस्त्राः कपिलाङ्गमूर्धजाः[2] प्रवृद्धगण्डस्थलरोमभीषणाः ।
सिताग्रदन्ता रुधिरोरुदृष्टयः पिपीलिकापङ्क्तिनिभा वनेचराः ॥ ४६ ॥
परिभ्रमन्तं गिरिकन्दरोदरे यदृच्छया तं ददृशुः पुलिन्दकाः[3] ।
गृहीतदण्डासिशरासनात्मकाः प्रतर्जयन्तः परिवव्रिरे नृपम् ॥ ४७ ॥

इसके उपरान्त युवराज वहाँसे चुपचाप उठा और चल दिया था। हरे तथा सुन्दर महातरुओंसे शोभायमान वह उत्तम वन पर्वतोंसे झरते हुए शीतल जलकी धाराओंसे परिपूर्ण था। उसीमें चलते-चलते, कुमारने एक सुन्दर पनस (कटहल) तरु देखा जो कि फलोंके भारसे पृथ्वीको चूम रहा था ॥ ४३ ॥

युवराजने उसके फल तोड़कर उनके भीतरसे सोनेके समान कान्तिमान पीले कावे निकालकर पहिले तो इष्ट देवकी उनसे पूजा की थी और फिर शेषको खाकर अपनी भूखको शान्त किया था। इसके उपरान्त अपने जीवनके उद्देश्यको सफल करनेके लिए ही श्रेष्ठ हाथीके समान पराक्रमी युवराज उस वनसे चल दिया था ॥ ४४ ॥

अथाह नदियों कमलोंसे ढके विशाल तालाबों, सघन जंगलोंसे व्याप्त नीचे ऊँचे अतएव न चलने योग्य पर्वतोंको तथा कटे टूटे वृक्षोंके ठूँठोंसे परिपूर्ण भीषण जंगली प्रदेशोंमें जीवनके लिए प्रयत्न करता हुआ वह चला जा रहा था। तथा इस अवस्थामें उसका एकमात्र साथी केवल उसकी भुजाएँ ही थीं ॥ ४५ ॥

पुलिन्द आक्रमण

उन सब ही पुलिन्दोंके कपड़े चिथड़े-चिथड़े हो रहे थे, शरीरका अंग-अंग तथा केश भूरे (धूमिल) हो रहे थे, गालों परके बाल (रोम) इतने बढ़ गये थे कि उनके मुख अत्यन्त डरावने लगते थे, आगेके सफेद, सफेद दाँत चमकते थे, बड़ी-बड़ी आँखोंमें रुधिर चमकता था तथा चोटियोंकी पंक्तिके समान वे हजारोंके झुंडोंमें चले जा रहे थे ॥ ४६ ॥

इस प्रकार किसी विशेष उद्देश्यके बिना पर्वतों तथा गुफाओंमें टक्कर मारते हुए युवराज वरांगको पुलिन्द

---

१. क ह्रदवालकाकुला, [ह्रदवारिजाकुला]। २. म कपिलाग्र°। ३. म पुलीन्द्रकाः।

परीत्य सर्वे युगपन्निगृह्यतामितः कुतो मा चल दीनजीवित ।
क्व गच्छसीति प्रतिगृह्य निर्दया बबन्धुरुद्धान्तकुलाग्रपाणयः ॥ ४८ ॥
लतां गले संपरिषज्य दुर्दमा मुहुस्तुदन्तो धनुरग्रकोटिभिः ।
अदण्डनार्हं सुकुमारमीश्वरं विनिन्युरात्मावसथाय दस्यवः ॥ ४९ ॥
पुलीन्द्रपल्लीं द्विपदन्तसंवृतां मृगास्थिमांसोरुकलेवराञ्चिताम् ।
वसान्त्रवल्लूरविकीर्णमण्डपां प्रवेशयामासुरनिष्टगन्धिनीम् ॥ ५० ॥
दुरात्मभिर्व्याधजनैरभिद्रुतः सबन्धनो वेदनया विरूक्षितः ।
जुगुप्सनीये नयनाप्रिये गृहे स्मरन्न शेते स्वपुराकृतां क्रियाम् ॥ ५१ ॥

जातिके वनवासियोंने देखा था। युवराजको देखते ही उन्होंने अपने-अपने डंडे, तलवारें, धनुषबाणोंको हाथोंमें सम्हाल लिया था और अंट संट बककर युवराजको धमकाते हुए उस पर चारों ओरसे आ टूटे थे ॥ ४७ ॥

अकस्मात् ही उन सबने चारों तरफसे घेरकर कहा था 'पकड़ लो, अरे दीन जीवनको व्यतीत करनेवाले ? यहाँसे किधर भी मत हिल, कहाँ भागता है इसके उपरान्त उन निर्दयोंने पकड़कर हाथोंमें जोरसे पकड़े गये कुठारोंको घुमाते हुए उसको बाँध दिया था ॥ ४८ ॥

उसके गलेको एक लताकी रस्सोंमें फँसा लिया था। वे निर्दय उद्दण्ड नीच दस्यु धनुषके नुकीले भागसे बार-बार उसको कुरेदते थे, यद्यपि सुकुमार युवराज वरांग ऐसे थे कि उन्हें दण्ड देना सर्वथा अनुचित था। इस प्रकार कष्ट देते हुए वे उन्हें अपनी पुलिन्द बस्तीमें ले गये थे ॥ ४९ ॥

वहाँ पहुँचते ही, वे उन्हें अपनी बस्तीके राजाकी झोपड़ी पर ले गये थे। इस झोपड़ेके चारों ओर हाथियोंके दाँतोंकी बाढ़ थी, हिरणों की हड्डियों, मांस और पूरीकी पूरी लाशोंसे वह पटी था, बैठनेके मण्डपमें भी चर्बी, आतें, नसें आदि सब तरफ फैले पड़े थे तथा उसमें ऐसी दुर्गन्ध आ रही थी जिसे क्षण भरके लिए दूरसे भी सूँघना असम्भव था ॥ ५० ॥

दुराचारी निर्दय भीलोंसे नाना प्रकारके कष्ट पाता हुआ, बन्धनमें पड़ा तथा शारीरिक वेदनाके कारण अत्यन्त व्याकुल युवराज घोर घृणाको उत्पन्न करनेवाले तथा आँखोंमें शूल समान चुभते हुए उस झोपड़ेमें पहिले किये गये अपने भोग-विलासमय जीवनको सोचता हुआ किसी प्रकार पड़ा रहता था, सोना असम्भव था ॥ ५१ ॥

कुमन्त्रिणा मन्त्रमुखेन वैरिणा समर्पितं प्राप्य तुरङ्गमाधमम् ।
इमामवस्थामनुभूय सांप्रतं क्व वा गमिष्यामि कृतान्त कथ्यताम् ॥ ५२ ॥
पुरा मया किं तु[1] कृतं ह्यजानता विपाकतिक्तं हि दुरीहितात्मना ।
अनेकदुःखार्णववीचिसंकटान्निवृत्तिरद्यापि न मेऽस्ति पापिनः ॥ ५३ ॥
वियोगचिन्तापरिखिन्नचेतसस्ततश्च शार्दूलभयाद्विनिच्युतः[2] ।
जलाशयान्निर्गमितस्य मे पुनः[3] इदं महत्कष्टतमं ततोऽभवत् ॥ ५४ ॥
अहो दुरन्ता दुरनुष्ठिताः क्रिया अवश्यभाव्यास्त्वविचार्यवीर्यकाः ।
अवन्ध्यरूपाश्च विपाकदुस्सहा इति प्रचिन्त्यात्मनि मौनमादधौ ॥ ५५ ॥
तमोगृहे पूतिकचर्मसंवृते बहुप्रकारे क्रिमितीव्रदंशके[4] ।
संमार्जनादिप्रतिकर्मवर्जिते महीतले शीतलवायुबाधने ॥ ५६ ॥

मंत्री पर क्रोध तथा आर्त्तध्यान

ऊपरसे हितैषी मंत्रीका रूप धारण करनेवाले नीच शत्रु, मंत्रीके निकालनेके बाद भेंट किये गये विपरीत गामी घोड़ेपर चढ़कर ही मैंने इन एकसे एक बुरी अवस्थाओंका अनुभव किया है। हे कृतान्त ! तुम्हीं बताओ अब मैं कहाँ जाऊँ ॥ ५२ ॥

फलको बिना जाने ही पापमय प्रवृत्तियोंमें लिप्त मेरे द्वारा पूर्व जन्ममें कौनसे अशुभ कर्म किये गये होंगे जिनका परिपाक होनेपर ये अत्यन्त कड़ुवे फल प्राप्त हो रहे हैं। इसीलिए मुझ पापी को आज भी संकटरूपी घातक तथा उन्नत लहरोंसे व्याप्त, इस दुःखरूपी समुद्रसे छुटकारा नहीं मिल रहा है ॥ ५३ ॥

मेरा हृदय माता-पिता, कलत्र आदिके वियोगजन्य दुःखसे यों ही अत्यधिक खिन्न था, उसपर भी सिंहका भय आ पड़ा था, किन्तु उससे भी छुटकारा मिला था, तालाबमें नक्रके मुखमें पड़कर भी बच गया था फिर उसके भी बाद यह महाविपत्ति कहाँसे आ टूटी ॥ ५४ ॥

कुत्सित तथा पापमय कर्मोंका आचरण कितना भयंकर और दुःखद है। कुकर्मोंका अन्त सर्वदा बुरा ही होता है। भगीरथ प्रयत्न करके भी उसे टाला नहीं जा सकती है क्योंकि उसकी शक्ति ऐसी है जिसका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता है। ऐसी भी संभावना नहीं की जा सकती है कि पापकर्मोंकी फल देनेकी शक्ति वन्ध्या हो जायगी। तथा इनका फल भी क्या होता है ? अत्यन्त असह्य।' मन ही मन इस प्रकारसे सोचकर वह चुप हो गया था ॥ ५५ ॥

भीषण कारागार

जिस भागमें वह बन्दी था वह घर केवल अन्धेरेसे ही बना-सा प्रतीत होता था, उसके प्रत्येक कोनेमें चमड़ा भरा था

१. [किं नु]। २. [विनिश्च्युतः]। ३. क पुनर्विदं, [पुनस्त्विदं]। ४. [°दंशके]।

क्षुधापमानाङ्गविबन्धपीडनैरनिष्टगन्धव्रणेऽप्रियेक्षणैः ।
अनात्मवश्यस्य सहस्रसंगुणा गता निशा सा बहुदुःखचिन्तया ॥ ५७ ॥
ततः प्रभाते च कुसुम्भभृत्यका महीपतिं तं कलुषान्तरात्मकाः ।
प्रगृह्य याता वनदेवतागृहं द्विजा ऋतुं छागमिव[1] प्रहिंसितुम् ॥ ५८ ॥
तदैव कौसुम्भिममेयवीर्यकं वनं प्रयान्तं मृगयाभिकाङ्क्षया ।
उदग्रकोपश्चरणप्रमर्दनाद्दंश दंष्ट्रोग्रविषो भुजंगमः ॥ ५९ ॥
स तेन दष्टः क्षणमात्रतः पुनः पपात भूमौ विषवेगमूर्च्छितः ।
विमोहितासुं प्रसमीक्ष्य बान्धवाः पितुः सकाशं ह्यभिनिन्युरावृताः ॥ ६० ॥

जिससे तीव्र सडांद आ रही थी। नाना प्रकारके मच्छर, चींटी आदि क्रिमियोंका वह अक्षय भंडार था; यह सब लगातार काटते थे, झाड़ू देना, लीपना, पोतना आदि संस्कार तो उस घरके कभी हुए ही नहीं थे, उसका धरातल सीलके कारणसे चिपचिपाता था तथा वायु भी वहाँ ठंडी ही मालूम होती थी ॥ ५६ ॥

इसके अतिरिक्त भूखसे देह टूट रही थी, अपमानकी ज्वाला शरीरको जला रही थी, रस्सियोंके बंधन अंग-अंगमें चुभ रहे थे, स्थानकी गंध और रक्तादिकी धारा विकट वेदनाको उत्पन्न करते थे, आँखोंके सामने जो कुछ भी आता था वह सब ही अप्रिय था तथा ऊपरसे दुःख और चिन्ता भी अपरिमित थीं। इन सब कारणोंसे विचारे सर्वथा पराधीन युवराजको एक रात बितानेमें ही ऐसा कष्ट हुआ मानों हजारों रातें बीत गयी हैं ॥ ५७ ॥

नरबलि सज्जा

किसी प्रकार सुबह होते ही पुलिन्दोंके अधिपतिके सेवक, जिनके अन्तःकरण इतने मलीन थ कि उनसे दया आदिकी संभावना करना ही अशक्य था—उस राजा वरांगको जबरदस्ती पकड़कर धनदेवीके मन्दिरको वैसे ही घसीट ले गये थे, जैसे यज्ञमें नियुक्त ब्राह्मण, यज्ञके बकरेको बलि करनेके लिए ले जा रहे हों ॥ ५८ ॥

इसी बीचमें पुलिन्दपतिके अनुपम तथा अमित पराक्रमी पुत्रको, जो कि आखेट करनेकी इच्छासे, जंगलमें जा रहा था—अत्यन्त कुपित महाविषैले साँपने काट लिया था, क्योंकि उसके पैरसे वह साँप कुचल गया था ॥ ५९ ॥

काटनेके बाद विष इतने वेगसे पूरे शरीरमें फैला कि वह भीमकाय पुलिन्द क्षणभरमें ही मूर्च्छित होकर धड़ामसे पृथ्वी-पर गिर पड़ा था। चारों तरफ घेरकर खड़े सगे सम्बन्धियोंने देखा कि उसको चेतना नष्ट हो रही है और वह मूर्च्छित हो रहा है तो वे सबके सब बड़ी तेजीसे उसे पिताके पास उठा ले गये थे ॥ ६० ॥

१. [क्रतुच्छागमिव]।

गतासुमुद्वीक्ष्य स तं वनेश्वरो यथावचार्या[1] गृहमोक्षितुं गतः ।
तमासितं तत्र नृपं सबन्धनं समीक्ष्य पप्रच्छ विषप्रणाशनम् ॥ ६१ ॥
[2]पुलीन्द्रनाथेन स चोदितो भृशं करोम्यहं निर्विषमित्यभाषत ।
तदैव तुष्टाः परिमुच्य बन्धनं कुरु प्रसादं त्वमिहात्मसूनवे ॥ ६२ ॥
ततो नृपो मन्त्रपुरस्कृतैः पदैर्महर्षियोगीश्वरसाधुसाधितैः ।
जिनेश्वराभिष्टवमिश्रिताम्बुभिः सिषेच तस्मिन्विषदोषहारिभिः ॥ ६३ ॥
यथा यथा मन्त्रितवारिबिन्दुभिः प्रसेचितः कुम्भमुखात्परिस्रुतैः ।
तथा तथा निर्विषतामुपेयु[3]वान्प्रसन्नचेताः प्रकृतिं ययौ पुनः ॥ ६४ ॥
ततः कुसुम्भप्रमुखाः पुलीन्द्रकाः कराङ्गुलिभ्रामणविस्मितेक्षणाः ।
महापराधोऽकुशलात्मभिः कृतः क्षमस्व नाथेति ययाचिरे भृशम् ॥ ६५ ॥

जंगलके राजाने जब अपने पुत्रको पूर्ण रूपसे अचेतन देखा तो विषका प्रतिकार खोजता हुआ वह वनदेवीके मन्दिरमें जा पहुँचा उसमें घुसते ही पुलिन्दपतिकी दृष्टि महाराज वरांग पर पड़ी जो अपने बन्धनोंमें जकड़े विवश पड़े थे। दुःखसे व्याकुल भीलनाथने उनसे पूछा था—"क्या तुम विषका उपचार करना जानते हो ॥ ६१ ॥

पुलिन्दोंके प्रभुसे उक्त प्रश्न पूछे जानेपर कुमार वरांगने उत्तर दिया था—"मैं निश्चयसे किसी भी आदमीका पूरा विष दूर कर सकता हूँ।" यह सुनते ही वह वनराज अत्यन्त प्रसन्न हुआ था, उसने तुरन्त ही उनके बन्धन तुड़वा दिये थे और प्रार्थना की थी कि 'आप इस समय मुझपर अनुग्रह करें ॥ ६२ ॥

'विषापहारं मणि'

पुलिन्दपतिके लड़केके पास पहुँचकर राजाने (वरांगने) (विषजन्य अचेतना आदि समस्त रोगोंको शान्त करनेसे समर्थ) परम ऋषियों, श्रेष्ठ योगियों तथा सफल साधुओंके द्वारा विधिवत् जगाये गये मंत्रोंका पाठ करनेके साथ, श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवके स्तवनोंका उच्चारण करते हुए विषवेगमें मूर्च्छित युवक पुलिन्द पर जलके छींटे देना प्रारम्भ किया था ॥६३॥

कलशके मुखसे बहते हुए मंत्रपूत जलके छींटे ज्यों-ज्यों मूर्च्छित भीलपर दिये जाते थे, त्यों-त्यों उसका विष उतरता जाता था और उसके शरीरका उतना भाग विषके विकारसे मुक्त होता जाता था। इस प्रकार थोड़ी ही देरमें वह प्राकृतिक अवस्थामें आ गया था और तन-मनसे प्रसन्न हो गया था ॥ ६४ ॥

यह देखकर पुलिन्दनाथ 'कुसुम्भ' आदि प्रधान भील बड़े आश्चर्यमें पड़ गये थे। हाथकी अंगुलियोंका मोड़ना और

१. [यथापचर्यां गृह]। २. क पुलिन्द°। ३. [°मुपेयिवान्]।

प्रहृष्य भूयः कटकादिभूषणान्विचित्रवस्त्राणि च संप्रदाय ते ।
[1]वरान्नमेतत्तव योग्यमिष्यतां श्रमं व्यपोह्य क्रमतः प्रयास्यसि ॥ ६६ ॥
तमूचिवान्नोदनकार्यमस्ति मे न माल्यगन्धाम्बरभूषणादिभिः ।
महापथं दर्शय देशगामिनं विमुच्यतां लघ्वभियाम्यविघ्नतः ॥ ६७ ॥
ततः पुलिन्दाधिपतेश्च शासनान्नरैः सुदूरं गमितो नरेश्वरः ।
प्रदर्श्य मार्गान्बहुदेशगामिनः पुनर्निवृत्ता वनगोचरास्तदा ॥ ६८ ॥
गतेषु तेषु स्वकृतानुरूपतां विचिन्त्य सम्यग्बहुशो नराधिपः ।
स्वदेशयानं प्रति किं विशेषतो[2] व्रतान्यदेशाटनमिष्यते क्षमः ॥ ६९ ॥

आँखोंका चंचलतापूर्वक घुमाना ही यह सूचित करता था कि उनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं था। अन्तमें उन्होंने बड़े आग्रह-पूर्वक यही प्रार्थना की थी "हे नाथ ! गुणोंको पहिचाननेमें असमर्थ हम जड़बुद्धियोंने आपके साथ महान अपराध किये हैं, हमारी मूर्खताका ख्याल न करके उन्हें क्षमा कर दीजिये ॥ ६५ ॥

जब कुमारने उन्हें सरलतामें यों ही क्षमा कर दिया तो वे इतने प्रसन्न हुए थे कि उन्होंने तुरन्त कटक (पैरोंका भूषण) आदि उत्तम आभूषणों तथा नाना प्रकारके अद्भुत वस्त्रोंको लाकर युवराजको भेंट किये थे। 'यह बढ़िया अन्न-पान आपके योग्य है इसे स्वीकार करिये आप अपनी थकान और घावोंके ठीक हो जानेपर ही यहाँसे जा सकेंगे' ॥ ६६ ॥

आगेके मार्गकी शोध

इस प्रकारके वाक्योंसे कृतज्ञता प्रकट करनेवाले भिल्लराजसे युवराजने केवल इतना ही कहा था—'मुझे भात, दाल आदिकी आवश्यकता नहीं है, सुगन्धिमाला, सुन्दर सुगन्धित वस्त्रों तथा कटक आदि आभूषणोंसे भी मुझे कोई सरोकार नहीं है, आप किसी देशको जानेवाले उत्तम मार्गको मुझे दिखा दीजिये और बिदा दीजिये ताकि मैं जल्दी ही किसी विघ्न बाधाके बिना वहाँ पहुँच सकूँ ॥ ६७ ॥

यह सुनते ही पुलिन्दपति कुसुम्भने तुरन्त आज्ञा दी थी। जिसके अनुसार कितने ही भील नरेश्वर वरांगको काफी दूरतक अपने साथ ले गये थे। वहाँपर कई देशोंको जानेवाले उत्तम मार्ग दिखाकर वनखण्ड निवासी वे उक्त भील लोग लौट गये थे ॥ ६८ ॥

भावी कर्त्तव्य-द्विविधा

मार्ग दिखानेके लिए साथ आये भीलोंके लौट जानेपर नराधिप वरांगने बार-बार गम्भीरतापूर्वक भलीभाँति यही सोचा

१. क वराङ्गमेतत् । २. क विशिष्यतो ।

किमत्र चिन्त्यं कुशलानुबन्धि[1] यत्तदा[2] स्वयुक्तागतिसिद्धिकारकम् ।
यथा परैर्नो परिभूयते पुनस्तथा हि कार्यं स्वहिताभिलाषिणा ॥ ७० ॥
महापदं प्राप्य नरोत्तमः पुनर्न चैच्छदात्मप्रियबन्धुदर्शनम् ।
नराधमः स्त्री[3]धनमानवर्जितः स बन्धुसंगं कृपणो हि वाञ्छति ॥ ७१ ॥
यथैव[4] राज्यादनपीय तत्क्षणाच्चकार मां निर्विभवं पुराकृतम् ।
तथैव राज्यं सुकृतं यदस्ति चेत्तदैव मां स्थापयतु स्वकालतः ॥ ७२ ॥
इमामवस्थामनुभूय यद्यहं व्रजामि चेद्बन्धुसकाशमाशया ।
भवाम्यरीणां परिहासकारणं स्वबन्धुमित्रेष्टजनातिशोचनः ॥ ७३ ॥

था कि उसके उस समय उदयको प्राप्त कर्मोंके अनुरूप कौनसा कर्त्तव्य कल्याण कर हो सकता था। विशेषकर अपने देशको लौट जाना कैसा होगा, अथवा दूसरे-दूसरे देशोंमें पर्यटन करना ही उपयुक्त होगा ॥ ६९ ॥

ऐसी परिस्थितियोंमें जो उपाय कुशल क्षेमका बढ़ानेवाला हो उसका सोचना ही क्या है, किन्तु यदि उद्देशकी सफलतामें बाधक गति असम्भव हो हो तब तो अपने हित और उत्कर्षको चाहनेवाले व्यक्तिको वही मार्ग पकड़ना चाहिये जिसपर चलकर, फिर दूसरोंके द्वारा तिरस्कृत होनेकी आशंका न हो ॥ ७० ॥

न बन्धुमध्ये श्रीहीन जीवितं

पुरुषार्थी श्रेष्ठ पुरुष लोकोत्तर महान् पदोंको पाकर भी अपने परम प्रियजनों तथा बन्धुबान्धवोंके दर्शन करनेकी अभिलाषा; क्या नहीं करते हैं ? किन्तु अपनी स्त्री-बच्चोंसे बिछुड़कर तथा सम्पत्ति, वैभव, सन्मान आदिको खोकर भी जो व्यक्ति अपने मित्रों अथवा कुटुम्बियोंके साथ रहना चाहता है वह अत्यन्त कृपण और दीनहीन नर है ॥ ७१ ॥

मेरे पूर्वकृत कुकर्मोंके विपाकने राज्य सिंहासनपरसे खींचकर एक क्षण भरमें ही जिस प्रकार मुझे अमित वैभव और प्रभुतासे वंचित कर दिया है, यदि मेरा पुण्य शेष है तो वह ही समय आनेपर मुझे उसी प्रकार राज्यसिंहासनपर स्थापित करे ऐसा स्व-संबोध किया था ॥ ७२ ॥

इस प्रकारकी दयनीय दुरवस्थामें पड़ा हुआ मैं यदि सहायता या उद्धारकी आशा लेकर अपने कुटुम्बियों और मित्रोंके पास जाऊँगा तो मेरे बन्धु-बान्धव, मित्र तथा प्रिय लोग मेरी हीन अवस्थाको देखकर खेद खिन्न होंगे और इससे भी बुरा तो यह होगा कि शत्रुओंको मेरा उपहास करनेका अवसर मिलेगा ॥ ७३ ॥

---

१. म कुशलानुबन्धे । २. म यदा त्वयुक्ता । ३. क श्रीधन° । ४. [राज्ये····चेत्तदैव] ।

न चोभयं मे परदेशदर्शने भविष्यतीति स्वमति विधाय सः ।
महापथेनाप्रतिमाभपौरुषस्ततः प्रतस्थे स्वमतानुसिद्धये ॥ ७४ ॥
खरान्प्रदेशान्स्थलनिम्ननिर्जलान् गिरीन्दरीः काननकक्षकन्दरान् ।
अतीत्य सूर्यास्तमनेऽङ्घ्रिपोपरि ह्यशेत कायोपसृति[1] विचिन्तयन् ॥ ७५ ॥
पुनः प्रभाते तरुतोऽवतीर्य तं प्रयान्तमध्वानमवेक्ष्य सार्थिकाः ।
प्रबाध्य निर्भर्त्स्य निरुध्य निर्दया उपेत्य पप्रच्छुरथागतिं गतिम् ॥ ७६ ॥
क्व यासि किं पश्यसि किं प्रयोजनं क्व वेश्वरो वा क्व च तस्य नाम किम् ।
कियद्बलं वा कतियोजने स्थितं वदेति संगृह्य बबन्धुरीश्वरम् ॥ ७७ ॥

यदि मैं विदेश चला जाता हूँ तो अपनोंके दुःख तथा शत्रुओंके उपहास इन दोनोंका कारण न होऊंगा' यह सोचकर उसने दूसरे देशोंमें भ्रमण करनेका निर्णय किया था। विविध विपत्तियाँ झेलनेपर भी उसके आत्मबलकी सीमा न थी इसलिए उक्त निर्णय करनेके उपरान्त ही वह युवराज अपने इष्टकी सिद्धिके लिए एक विस्तृत लम्बे रास्ते पर चल दिये थे ॥ ७४ ॥

वरं वनं व्याघ्र गजेन्द्र सेवितं

कंकरीले, पथरीले कठोर स्थलों, जलहीन किन्तु समुद्रतलसे भी नीचे प्रदेशों, पर्वतों, भयंकर गुफा मार्गों, जंगलों, अत्यन्त घने दुर्गम वनों तथा कन्दराओंको पार करता हुआ वह बढ़ता जाता था। ज्यों ही सूर्य अस्ताचल पर पहुँचते थे वह किसी वृक्ष पर चढ़ जाता था और कार्य तथा घटनाओंकी शृंखलाको सोचता हुआ रात काट देता था ॥ ७५ ॥

सूर्योदय होते ही वह वृक्षसे नीचे उतरकर चल देता था। एक दिन इसी प्रकार मार्गपर चलते हुए उसे व्यापारियोंके सार्थ (काफिले) ने देखा था, देखते ही वे निर्दय उसके चारों ओर जा पहुँचे और बाधा देकर उसको रोक लिया था। यद्यपि इस संसारमें युवराजका कोई चारा (गति) न था तो भी उन सबने डाँट डपटकर उससे उसका गम्य स्थान आदि पूछा था ॥ ७६ ॥

सशंक प्रश्न

"कहाँ जाते हो ! क्या जाँच पड़ताल करते फिरते हो ? इस अन्वेषणका क्या प्रयोजन है ? तुम्हारे अधिपतिका नाम क्या है ? वह इस समयपर कहाँ है ? उसका नाम क्या है ? उसके सैन्य-बलका प्रमाण कितना है ? यहाँसे कितने योजनकी दूरीपर ठहरा है ? इत्यादि सब बातोंको तुरन्त बताओ।' कहकर उन लोगोंने युवक राजाको बन्धनमें डाल दिया था ॥ ७७ ॥

---

१. क कायोनुसृति, [कायोपस्थिति]।

अथागतः सार्थपरीक्षणाय चेत्परीक्ष्यतां साधु परीक्ष्य चारिकः ।
प्रवालमुक्तामणिरूप्यकाञ्चनैरयं भृतः सार्थ इतो निगद्यताम् ॥ ७८ ॥
न चारिकोऽहं न च वित्तमार्गणो न दुष्टबुद्धिर्न च चौर्यतत्परः ।
न कस्यचित्प्रेष्यजनो भवाम्यहं भ्रमामि निःकेवल[1]मित्युवाच सः ॥ ७९ ॥
वयं न विद्मोऽर्थपतिः प्रमाणको गुणागुणान्वेषणतत्परायणः ।
स एव जानाति यदत्र युक्तिमानिति ब्रुवाणाः पतये प्रणिन्यिरे ॥ ८० ॥
सबन्धनं चारुसमग्रयौवनं सुलक्षणव्यञ्जनल[2]क्षविग्रहम् ।
समीक्ष्य सार्थाधिपतिर्न तस्करो विमुच्यतां लब्धयमित्युवाच सः ॥ ८१ ॥

'हे गुप्तचर ! यदि तुम हमारे सार्थकी सम्पत्ति आदिका पता लगाने ही आये हो तो आओ (व्यंगपूर्वक कह रहे हैं) चारों तरफ घूमकर भलीभाँति सब बातोंका अनुमान कर लो। यहाँसे जाकर अपने अधिपतिसे कह देना कि यह सार्थ मूँगा, मोती, मणि, चाँदी, सोना आदि बहुमूल्य संपत्तियोंसे परिपूर्ण है।'

सार्थका समाधान

इसके उत्तरमें युवराजने कहा था—'न तो मैं किसीका गुप्तचर हूँ, न मैं धन सम्पत्तिकी खोजमें घूम रहा हूँ, न मेरे मनमें ही किसी प्रकारका पाप है, न चोरी मेरी अजीविकाका साधन है और न मैं किसीके द्वारा भेजा गया किंकर (गुप्तचर) ही हूँ। आप इतना विश्वास करें कि भाग्यका मारा मैं केवल निरुद्देश्य भ्रमण ही कर रहा हूँ ॥ ७९ ॥

सार्थपतिके सामने

इस उत्तरसे उन्हें संतोष न हुआ था अतएव उन्होंने कहा था—'हम लोग कुछ नहीं जानते, दोषों और गुणोंका विवेक करनेमें हमारे प्रधान सार्थवाह अत्यन्त कुशल हैं, अतएव आपके विषयमें वे ही निर्णय कर सकेंगे। क्योंकि ऐसे विषयोंमें क्या कर्त्तव्य युक्तिसंगत होगा यह वही समझते हैं।' यह कहकर वे युवराजको सार्थवाहके सामने ले गये थे ॥ ८० ॥

परिपूर्ण यौवन, सुन्दर तथा बन्धनोंसे जकड़े हुए राजकुमारके शुभ लक्षणोंसे व्याप्त शरीरको देखकर ही सार्थवाहको उसकी कुलीनताका विश्वास हो गया था अतएव उसने आज्ञा दी थी कि 'इसे तुरन्त ही बन्धनोंसे मुक्त करो, यह सैकड़ों सार्थोंका स्वामी है, चोर नहीं हो सकता है ॥ ८१ ॥

---

१. क नः केवलं । २. म °लक्षम, [°लक्ष्य]।

नरेन्द्रपुत्रः स्वयमेव वा नृपः शरीरचार्वाकृतिसौम्यदर्शनः ।
कथं न्विमामापदमाप्तवानयं स सार्थनाथः परिपृच्छति स्फुटम् ॥ ८२ ॥
कुतस्त्वयातिरितः क्व गच्छसि पिता च माता च सुहृज्जनः क्व ते ।
श्रुतं च गोत्रं चरणं च नाम किं न चेद्विरोधो वद वत्स पृच्छतः ॥ ८३ ॥
स एवमुक्तः प्रविचक्षणो नृपः परीक्ष्य पूर्वापरकार्यमब्रवीत् ।
इयं त्ववस्था कथयत्ययत्नतः किमेतया संकथया विमुच्यताम् ॥ ८४ ॥
निशम्य तद्वाक्यमुदारसौष्ठवं समूचिवान्ससंदि सार्थनायकः ।
अहो विशुद्धान्वयतास्य पश्यतो[1] न विस्मयं गच्छति नैव कुप्यति ॥ ८५ ॥
इति प्रशंसन्गुणरूपसंपदं[2] निरीक्ष्य च क्षामकपोलनेत्रताम् ।
करेण हस्तं प्रतिगृह्य दक्षिणं स नीतवानात्मनिवासमादरात् ॥ ८६ ॥

यह किसी प्रबल प्रतापी राजाका पुत्र है, अथवा स्वयं ही यह कोई बड़ा राजा है, इसका शरीर और मुख आदिकी आकृति मनमोहक हैं, यह विचारा इस प्रकारकी आपत्तिमें कैसे आ फँसा है!' कहकर निम्न प्रश्नोंको सार्थपतिने स्पष्ट रूपसे पूछा था ॥ ८२ ॥

आप किधरसे आ रहे हैं ? यहाँसे कहाँ जाते हैं ? आपके पिता, माता तथा मित्र बान्धव कहाँ पर निवास करते हैं ? आपकी शिक्षा क्या है। आपका गोत्र क्या है ? तथा आप किस आचरणको पालते हैं। हे वत्स ! यदि इनका उत्तर देनेसे इष्टकार्यमें बाधा न पड़ती हो तो मेरी जिज्ञासाको पूर्ण करो ॥ ८३ ॥

गम्भीर राजकुमार

राजकुमार स्वभावसे बुद्धिमान और लोकाचारमें कुशल थे अतएव उन्होंने अपने पर बीते कर्मों तथा कर्त्तव्योंका आगा-पीछा सोचकर इन सब प्रश्नोंके उत्तरमें यही कहा था "मेरी वर्तमान अवस्था ही सब स्पष्ट बतला रही है तब बतानेका और क्या प्रयत्न किया जाय। इन सब बातोंसे क्या प्रयोजन ? कृपा करके मुझे छोड़ दीजिये" ॥ ८४ ॥

कुलीनताका भक्त सेठ सागरवृद्धि

राजकुमारके अत्यन्त सज्जनता और साधुतासे युक्त वचनोंको सुनकर सार्थपतिने अपने सब साथियोंकी गोष्ठीमें प्रसन्नता और उत्साहके साथ घोषित किया था 'अरे ! इसकी परमोत्कृष्ट कुलीनताको आप लोग देखें हमारे विभिन्न व्यवहारों-से न तो इसे आश्चर्य ही होता है और न हम लोगोंके अपमानोंके कारण यह कुपित ही है ॥ ८५ ॥

इस प्रकारसे उसके क्षमा आदि गुणों, रूप आदिको हृदयसे 'श्लाघा करते हुए उसकी दृष्टि राजकुमारके दुर्बल तथा

---

१. [पश्यत]। २. म °संमदं।

प्रदाप्य पाद्यं वणिजां पतिस्ततो हितं वचः श्रोत्रसुखं निगद्य[1] च ।
वरासने वेत्रमये निवेश्य तं सतैलसंवाहनतामकारयत् ॥ ८७ ॥
दयासंप्रयुक्तो वणिक्श्रेणिनाथः शशासात्मभृत्यं लघु स्नापयेति ।
यथेष्टं वरान्नं चतुर्भिस्त्वहोभिरभुङ्क्ताग्रतः श्रेष्ठिनः संनिविष्टः ॥ ८८ ॥
सुगन्धं सुमाल्यं वरं वस्त्रयुग्मं प्रदायात्मशक्त्या क्षमस्वेत्यवोचत् ।
भवद्भिः सहैवागमिष्यामि तावदिति प्राह सोऽप्येवमस्त्वित्युवाच ॥ ८९ ॥

इतिधर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
सागरवृद्धिसंदर्शनो नाम त्रयोदशमः[2] सर्गः ।

●

कृश' कपोलों और नेत्रों पर रुक गयी थी। यह देखकर उसने आदर और स्नेहसे युवराजका दायाँ हाथ अपने हाथमें ले लिया था और आग्रहपूर्वक उसे अपने तम्बूमें ले गया था ॥ ८६ ॥

मार्गमें वह युवराजके हितकी प्यारी-प्यारी बातें करता गया था। तम्बूमें पहुँचते ही उस सम्पत्तिशाली सार्थवाहनें स्वयं पैर धोनेके लिए पानी मँगवाया था। इसके उपरान्त यात्रामें उपयुक्त वेतोंसे बने उत्तम आसन पर बैठाकर अपने सामने ही उस वरांग के शरीर का मर्दन, लेपन, अभ्यङ्ग आदि करवाया था ॥ ८७ ॥

वणिकोंकी श्रेणीके अधिपतिके हृदयमें स्नेहमिश्रित दया कुमारके प्रति उभर आयी थी। इसकी प्रेरणा इतनी प्रबल थी कि उसने अपने सेवकोंको आज्ञा दी थी कि 'वे युवराजको सुकुमारता पूर्वक बहुत शीघ्र स्नान करावें।' इसके अतिरिक्त वह युवराजके लिए बढ़ियासे बढ़िया भोजन उनकी इच्छाके अनुकूल बनवाता था। तथा प्रारम्भके चार छह दिन पर्यन्त तो युवराजको सेठजीके साथ ही भोजन करना पड़ता था ताकि वह संकोच न कर सके ॥ ८८ ॥

यात्राकी सुविधाओंके अनुसार वह अपनी पूर्णशक्ति भर कुमारको चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ, उत्तम माला आदि वर प्रसंग, बढ़ियासे बढ़िया उतरीय तथा अधरीय वस्त्रोंकी जोड़ी देता था, तो भी कहता था 'असुविधाके लिए क्षमा करें'। यह सब देखकर युवराज कुमारने कहा था कि 'कुछ समय तकमें आप लोगोंके साथ ही चलता हूँ' इसपर सेठने कहा था 'आपकी कृपा, ऐसा ही हो' ॥ ८९ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
सागरवृद्धि-दर्शन नाम त्रयोदश सर्ग समाप्त ।

---

१. क निगद्यत । वरासने वेत्रमयावनेनसि निवेश्य संवाहनतामकारयत् ॥ २. [त्रयोदशः] ।

चतुर्दशः सर्गः

एकाकिनारण्यपथेन याता प्राप्तानि दुःखानि सुदुस्सहानि ।
इति प्रसंधार्य निवृत्तयानः सार्थाधिपेनैव सहोपविष्टः ॥ १ ॥
प्रगृह्य मानाकृतिचारुवेषान्विभूष्य माल्याम्बरभूषणानि ।
भुक्त्वा यथेष्टं वणिजस्तु गोष्ठीनिष्ठः[1] [2]समध्यासत संकथाभिः ॥ २ ॥
सार्थेन सर्वर्द्धिमतार्थिनस्ते सहागता ये नटनर्तकाद्याः ।
वागङ्गचेष्टाकृतिकौशलं स्वं प्रारेभिरे दर्शयितुं यथावत् ॥ ३ ॥
गायन्ति गीतानि मनोहराणि नृत्यन्ति नृत्यान्यपरे विधिज्ञाः ।
वाद्यानि वीणामु[3]रजादिकानि शिक्षानुपूर्वं प्रतिवादयन्ति ॥ ४ ॥

चतुर्दश सर्ग

"बुधैरण्यपथेनगम्यते"

'दुर्गम तथा भीषण जंगली मार्गोंपर एकाकी भटकते हुए मैंने कैसे-कैसे हृदय विदारक अत्यन्त असह्य सैकड़ों दुःखों को सहा है' इसको, उतने दिनोंके अनुभव का निष्कर्ष मानकर ही युवराजने अपने निरुद्देश्य भटकनेको समाप्त कर दिया था और सार्थपतिके साथ ही चलने लगा था ॥ १ ॥

सार्थपतिके द्वारा सादर समर्पित सुन्दर वस्त्रों वेशाभूषाओंको ग्रहण करके, सुगन्धित मालाओं, आभूषणों आदिसे अपने आपको आभूषित करके अपने यथार्थ कुलीन आकारको प्रकट करके यथेच्छ भोगों' उपभोगों का रस लेता हुआ वह सबका प्रिय हो गया था। उन लोगोंकी गोष्ठीमें उत्तम कथाएँ कहता हुआ बैठता था ॥ २ ॥

धन प्राप्ति करनेके परम इच्छुक जो नट, (स्वांग रचने वाले) जो नर्तक आदि अत्यन्त सम्पत्ति और समृद्धियुक्त उस सार्थके साथ चल रहे थे, उन लोगोंने भी इसे रसज्ञ समझकर अपने शरीर, वचनों तथा विशेष अंगोंकी परिष्कृत कुशलता अभिनय का विधिपूर्वक इसके सामने प्रदर्शन करना आरम्भ कर दिया था ॥ ३ ॥

संगीत विशारद लोग मनको मोहित करनेवाले मधुर गीत गाते थे, नृत्य-कलामें निपुण दूसरे लोग विधिपूर्वक विविध नृत्य करते थे तथा अन्य लोग अपनी उत्तम शिक्षाके अनुकूल वीणा,मुरज, मृदंग आदि बाजोंको सुचारु रूपसे बजाते थे ॥ ४ ॥

---

१. म गोष्ठे निष्ठः। २. [समध्यासत]। ३. म °मुरुजा°।

प्रहाससंलापविलासवन्ति रसानुविद्धानि सुकल्पितानि ।
लोकप्रवृत्तानि कथान्तरेषु [1]भाण्डाविचित्राणि विलम्बयन्ति ॥ ५ ॥
तदैव दिग्रक्षणतत्पराक्षाः पुलिन्दसंदर्शनतो विभीताः ।
अभ्येत्य तूर्णं वणिजां समूहे इत्थं पुनः सागरवृद्धिमूचुः ॥ ६ ॥
महाबलौ क्रूरतमावसह्यौ कालो महाकाल इति प्रतीतौ ।
पुलिन्दकानां त्रिचतुस्सहस्रैराजग्मतुर्नाथ हितं कुरुष्व ॥ ७ ॥
दिग्रक्षकाणां वचनं निशम्य आहूय युद्धाय नरान्सुभृत्यान् ।
वाग्दानमानैरभिसंप्रपूज्य संनह्यतेति प्रशशास तूर्णम् ॥ ८ ॥
संनह्यतस्तान्नृपतिः समीक्ष्य श्रुत्वातितूर्णं पृतनाद्वयस्य ।
सखेटकं खड्गवरिष्ठमेकं श्रेष्ठिन्ममापि [2]त्वमुपानयस्व ॥ ९ ॥

कथाओं के बीच-बीच में भांड लोग संसारमें अत्यन्त प्रचलित बातों का ही बड़ी विचित्र विधिसे स्वांग (नकल) करते थे। यह स्वांग तीव्र हँसी, नाना प्रकार की बातोंओं तथा हाव भावोंसे युक्त रहते थे, हास्य आदि नव रसोंमेंसे सने रहते थे तथा उनकी कल्पना व शृंगार भी शिष्ट होता था ॥ ५ ॥

रंगमें भंग

जिस समय इधर राव-रंग हो रहा था उसी समय सार्थ की रक्षाके लिए सब दिशाओंमें नियुक्त रक्षकोंने शीघ्रतासे वणिकों की गोष्ठीमें आकर उनके प्रधान सागरवृद्धिसे निम्न संदेश कहा था। ये अंगरक्षक अपनी अपनी दिशाका तत्परतासे निरीक्षण कर रहे थे तथा भीलों को देखकर डर गये थे ॥ ६ ॥

हे स्वामी अत्यन्त शक्तिशाली, निकृष्टतम निर्दय, संभवतः न रोके जाने योग्य, काल तथा महाकाल नामोंसे प्रसिद्ध पुलिन्दोंके नायक, भीलोंकी तीन चार हजार प्रमाण सेनाके साथ हमारे ऊपर टूटे आ रहे हैं। ऐसी अवस्थामें जो कुछ हितकारी हो उसे करनेकी आज्ञा दीजिये ॥ ७ ॥

रण आदेश

दिशाओंमें नियुक्त रक्षकोंके उक्त संदेश को सुनकर सार्थपति सागरवृद्धिने अपने विश्वस्त पुरुषों तथा स्वामीभक्त सेवकों को बुलाया था। उत्साह वर्द्धक प्रशंसामय वाक्यों, भविष्यमें उन्नतिकी आशा, आदर आदिसे उनका सत्कार करके उन्हें आज्ञा दी थी कि 'वे सब युद्धके लिए अति शीघ्र तैयार हो जाँय ॥ ८ ॥

अपनी सेनाके भटोंको युद्धके लिए सजता देखकर तथा आक्रमण करनेवाली भीलोंकी दोनों सेनाओंके रणवाद्यों की

१. [भाण्डानि चित्राणि विडम्बयन्ति । २. म श्रेष्ठिन्नयामि ।

बालः कृशाङ्गः सुकुमारकोऽसि सुदुर्धरं युद्धमुखं हि भद्र ।
किमायुधेनास्त्व मयैव सार्धमित्युक्तवान्सार्थपतिः कुमारम् ॥ १० ॥
अथानयोर्व्याधवणिग्ध्वजिन्योर्विद्युद्वपुश्चञ्चलशस्त्रवत्योः ।
भृङ्गाण्यदभ्राः पटहाश्च शङ्खा उद्वेजयन्तोऽतिभृशं विनेदुः ॥ ११ ॥
पुलिन्दनाथौ बृहदुग्रवीर्यौ द्विषट्सहस्रेण बलेन साकम् ।
शरोरुवर्षं प्रतिवर्षयन्तौ प्रत्युद्गतौ वन्यगजेन्द्रलीलौ ॥ १२ ॥
प्रत्यागतांस्तान्वणिजः समीक्ष्य पुलिन्दसेना ज्वलदग्निकल्पा ।
धनुर्धरास्तीक्ष्णमुखैः पृषत्कैरमोघपातैर्विविधुर्विचित्रैः ॥ १३ ॥

ध्वनिको सुनकर युवराज वरांगने सेठके पास पहुँचकर कहा था—'हे सार्थवाह ढालके साथ एक उत्तम खड्गको मुझे भी दिलाने की कृपा कीजिये ॥ ९ ॥

सेठ का स्नेह

'हे भद्रमुख सबसे पहिली बात तो यह है कि तुम सुकुमार युवक हो' दूसरे कष्टोंके कारण अत्यन्त दुर्बल और कृश हो गये हो, तीसरे तुम संभवतः नहीं समझते हो कि युद्धमें सामने जाना कितना कष्टकर और कठोर है। हे वत्स, हथियारका क्या करोगे, मेरे ही साथ तुम रहो।' इस प्रकार सार्थपतिने समझाने का प्रयत्न किया था ॥ १० ॥

संघर्ष समारम्भ

सार्थपति और पुलिन्दपति दोनोंकी (ध्वजिनी) सेनाएँ ऐसे तीक्ष्ण और घातक शस्त्रोंसे सज्जित थीं जैसा कि चंचला बिजलीका शरीर होता है। ज्यों ही वे एक दूसरे के सामने आयीं त्यों ही दोनों तरफसे सींगोंके बाजे, नगाड़े, पटह और शंख भीषण रूपसे बजने लगे थे। वे साधारण लोगोंको व्याकुल और भीत करने के लिये काफी थे ॥ ११ ॥

काल और महाकाल दोनों व्याधपति स्वयं भी अत्यन्त बलशाली और उग्र थे तथा उनके साथ [दो छह अर्थात्] बारह हजार निर्दय सेना थी अतएव बाणोंको अत्यन्त वेगोंसे मूसलाधार वर्षाते हुये वे दोनों जंगली हाथियोंके समान संहार करते हुए सार्थपतिकी सेना पर टूट पड़े थे ॥ १२ ॥

जलती हुई दावाग्निके समान सर्वनाशक भीलों की उस सेनाको अपने सामने प्रहार करता देखकर ही सार्थपति की सेनाके सफल धनुषधारियोंने अत्यन्त तीक्ष्ण तथा विचित्र बाणोंके द्वारा भीलोंको सेनाको भेद दिया था। क्योंकि इनके बाण अपने लक्ष्यसे थोड़ा भी इधर-उधर न होते थे ॥ १३ ॥

क्रोधोद्धता मानमदावलिप्ता लोभाभिभूता दृढबद्धवैराः ।
सुबद्धकक्षाः प्रगृहीतशस्त्राः[1] परस्परं जघ्नुरुपेत्य शूराः ॥ १४ ॥
दण्डाभिघातैः क्षणपैः प्रहारैः [2]सभिण्डमालैर्मुसलैस्त्रिशूलैः ।
कुन्तैश्च टङ्कैर्गुरुभिर्गदाभिः सतोमरैः शक्त्यसिमुद्गरैस्तु ॥ १५ ॥
विदार्य वक्त्राणि विभिद्य कायान्वितुद्य नेत्राणि विकृत्य बाहून ।
शिरांसि विच्छिद्य परस्परस्य निपातयां भूमितले बभूवुः ॥ १६ ॥
[3]शिरांसि निस्तीक्ष्णतमैर[4] कुन्तैरमर्षमाणास्तु वणिक्पुलिन्दाः ।
अन्योन्यमर्माणि विचिच्छिदुस्ते प्राणाञ्जहुः केचन मूर्च्छिताश्च ॥ १७ ॥
वक्षस्सु तेषां समरप्रियाणां स्रवन्महाशोणिततोयधाराः ।
रेजुर्भृशं क्रोधबलेक्षणानां तटे गिरीणामिव गैरिकाम्भः ॥ १८ ॥

इतनी देरमें दोनों सेनाओंके वीर योद्धाओं का क्रोध बहुत बढ़ चुका था फलतः वे अत्यन्त रुद्र और उद्दण्ड हो उठे थे, प्रत्येक अपने स्वाभिमान और अहंकारमें चूर था, दोंनों को सफलता से प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति का लोभ था, अतएव स्वार्थोंका संघर्ष होनेके कारण एक दूसरेके प्राणोंके ग्राहक बन बैठे थे, सब युद्धके लिये पूरे रूपसे सजे थे तथा हाथोंमें दृढ़तामें शस्त्र लिये थे, आपाततः एक दूसरे पर घातक प्रहार कर रहे थे ॥ १४ ॥

दारुण रण

डण्डोंके प्रचण्ड प्रहारमें, क्षणपोंके तीव्र आक्षेप द्वारा, भिन्दपालों की मारसे, मूसलोंकी चोटोंसे, त्रिशूलोंको भेदकर कुन्तों और टंकों की वर्षासे, भारी गदाओंकी मारसे, तोमर (शापल) शक्ति (सांग), खड्ग, कृपाण और मुद्गरोंके अनवरत प्रहारों से कोई किसी का मुख चीर देते थे, शरीरको फोड़ देते थे, आँखें नोच लेते थे, भुजाएँ काट देते थे तथा बल पूर्वक एक दूसरे का शिर काटकर पृथ्वीपर गिरा देते थे ॥ १५-१६ ॥

सार्थपति तथा पुलिन्दपति की सेनाके भट क्रोध और वैरसे पागल होकर तीक्ष्ण से तीक्ष्ण तलवारों और उससे भीषण भालोंसे एक दूसरे का शिर काटकर गिरा देते थे तथा परस्परमें मर्मस्थलों को निर्दयता पूर्वक छेद देते थे। इस प्रकारके प्रहारों से कितने ही योद्धा वीरगति को प्राप्त होते थे तथा अन्य कितने ही मूर्च्छित होकर धराशायी हो जाते थे ॥ १७ ॥

योद्धाओं की आँखों से क्रोध और शक्तिके भाव टपके पड़ते थे। युद्ध उन्हें परम प्रिय था अतएव वक्षस्थल पर प्रबल

१. क °वस्त्राः । २. [सभिन्दपालै°] । ३. [शरांसिभिस्तीक्ष्णतमैश्च कुन्तै°] । ४. म °तमैरकण्ठै° ।

स संप्रहारो रणकर्कशानां वीरव्रणालङ्कृतभासुराणाम् ।
मत्तद्विपेन्द्रोपमविक्रमाणां पर्यन्तसंघट्टसमो बभूव ॥ १९ ॥
एवं प्रवृत्ते समरेऽतिघोरे पादाभिघातप्रभवैः रजोभिः ।
संछादितं खं धरणीतलं च सैन्यद्वयं प्रापददृश्यरूपम् ॥ २० ॥
महाहवः शोणि[1]तचन्दनाक्तो [2]बहुप्रकाराङ्गदचारुलीलः ।
क्षरद्विलोलान्त्रनिबद्धमालः सन्ध्याम्बुदाकारवपुर्बभार ॥ २१ ॥
[3]असृक्क्रिमिश्रोणिरुजांसि[4] भूयस्तान्येव सिन्धूरवपूंषि बभ्रुः ।
ते चापि योधा द्विगुणाभिरोषाः परस्परं प्रेक्ष्य जिहिंसुरुग्राः ॥ २२ ॥
पुलिन्दकानां वणिजां च घोरं मुहूर्तमेवं समयुद्धमासीत् ।
ततः पुलिन्दैरभिभूयमानाः पराबभूवुर्वणिजो भयार्ताः ॥ २३ ॥

प्रहार होने पर उनके विशाल वक्षस्थलों से बहती मोटी तथा तीव्र रक्तधारा वैसी ही परम शोभा पाती थी जैसीकी पहाड़ों के ढालोंपर गेरू मिले पानी की धारा चमकती है ॥ १८ ॥

दोनों तरफके योद्धा रुद्र तथा कठोर भट थे। उनके शरीर वीरों के अनुरूप बड़े बड़े घावोंसे सुशोभित हो रहे थ तो भी मदोन्मत्त हाथी के समान उनके अमित बलमें कोई कमी दृष्टिगोचर न होती थी। इन्हीं कारणोंसे वह युद्ध प्रलयकालीन युद्धके समान भीषण और दारुण हो उठा था ॥ १९ ॥

रण का रूपक

उक्त प्रहारमें अत्यन्त घोर युद्ध होनेके कारण दोनों तरफके योद्धाओंके पैरोंसे उड़ायी गयी धूलके बादलोंने पृथ्वी तथा आकाश दोनोंको ढक लिया था फलतः कुछ समयके लिये दोनों सेनाएँ अदृश्य हो गयी थीं ॥ २० ॥

उस समय वर्द्धमान वह महायुद्ध, रक्तरूपी चन्दनसे भूषित (लाल) होनेके कारण, नाना प्रकारके उछलते हुऐ मणि मय अंगद भूषणों (बिजलीके समान) की चमकसे तथा लटकती हुई चंचल आँतोंरूपी मालाके पड़ जानेके कारण, संध्या समयके रक्त तथा विद्युतमय मेघके समान प्रतीत होता था ॥ २१ ॥

चारों तरफ उड़ती हुई विपुल धूल ही रक्त मिल जाने पर थोड़ी ही देरमें सिन्दूरके रंगसे विभूषित होकर भूमिकी विचित्र शोभा दिखा रही थी। उस समय योद्धा किसी प्रकार एक दूसरेको देख सकते थे। देखते ही उनका क्रोध दुगुना हो जाता था फलतः परस्परमें दारुणसे दारुण प्रहार करते थे ॥ २२ ॥

पुलिन्द भटों और सार्थपति के योद्धाओं का घोर युद्ध एक क्षणमें तो ऐसा मालूम देता था मानों दोनों बराबरी से लड़

१. क °द्विपेन्द्रोत्तम । २. म बाहु° । ३. क असृकृमि° । ४. [°श्रेणिरजांसि] ।

मृष्टान्नपानानि हि योषितश्च भोगांश्च चित्रान्समनुस्मरन्तः ।
न्यायार्जितक्षेमधना वयं तु न योद्धुमीशा इति ते प्रदुद्रुवुः ॥ २४ ॥
विज्ञाय भङ्गं वणिजां तदानीं पुलिन्दसेना प्रबला सती सा ।
सार्थं कृतार्थं विदितार्थसंख्यमितोऽमुतः प्रारभत प्रलोप्तुम् ॥ २५ ॥
विद्रावयन्ती वणिजां प्रभुत्वं समन्ततः [1]प्राय पुलिन्दसेना ।
तां राजपुत्रः प्रसमीक्ष्य शूरश्चुक्षोप[2] शार्दूल इवातिधृष्टः ॥ २६ ॥
हत्वा प्रदस्यून्समरागतांस्तान्वणिग्जनं तं परिपालयामि ।
अहोस्विदत्रैव च दस्युसंघैर्हतो मृतः स्वर्गमितः प्रयामि ॥ २७ ॥

रहे हैं। किन्तु इसके बाद दूसरे ही क्षण पुलिन्दों का वेग बढ़ा और उनसे दबाये जाने पर सार्थपतिके सैनिक भयसे आकुल होकर बुरी तरह हारने लगे थे ॥ २३ ॥

इस प्रकार प्राणोंका संकट उपस्थित होते ही उन्हें स्वादिष्ट मिष्ट-अन्न तथा मधुर पीनेकी वस्तुओंका ख्याल हो आया था, नाना प्रकारके विचित्र भोग पदार्थोंका स्मरण हो आया तथा अपनी प्राणप्यारियों के वियोगके विचारने उनमें एक सिहरन पैदा कर दी थी। इन सब विचारोंसे प्रेरणा पाकर 'हम लोग न्यायमार्ग से धन कमाकर शान्ति पूर्वक जीवन बिताने वाले हैं, इन जंगलियोंसे युद्ध में पार नहीं पा सकते।' कहते हुए उन लोगोंने बुरी तरह भागना प्रारम्भ किया था ॥ २४ ॥

सार्थसेना का पलायन

अत्यन्त शक्तिशालिनी पुलिन्दों की विजयी सेनाने सार्थवाहकी सेना को तितर-बितर होकर छिन्न-भिन्न हुआ समझ कर, व्यापार करनेमें सफल होनेके कारण असंख्य सम्पत्ति से परिपूर्ण सार्थ को 'इधरसे, इधरसे' कहकर लूटना, काटना, मारना प्रारम्भ कर दिया था ॥ २५ ॥

सम्पत्ति कमानेमें कुशल वणिकोंके वैभव और प्रभुता को चारों ओरसे आक्रमण करके पुलिन्दोंकी सेना एक एक करके नष्ट करती जा रही थी। इस लूटमारमें लीन भिल्लसेनाको देखकर प्रबल पराक्रमी राजपुत्रके क्षोभकी सीमा न रही थी। अतएव वह अत्यन्त ढीठ सिंहके समान आवेशमें आकर टूट पड़ा था ॥ २६ ॥

'युद्धमें उतरे हुए इन नीच दस्युओं को गिन गिनकर मारके विपत्तिमें पड़े वणिकोंकी रक्षा और पालन करूँगा अथवा लड़ता हुआ इन्हीं नीच दस्युओंके समूह में घुसकर इनके प्रहारों से यहीं मर कर वीर उपयुक्त गति (स्वर्ग) को यहीं से चला जाऊँगा ॥ २७ ॥

१. [प्राप]। २. [चुक्षोभ]।

एवं विनिश्चित्य पुलिन्दमेकं पादप्रहारेण निपात्य भूमौ ।
सखेटकं खड्गमवार्यवीर्यः प्रसह्य जग्राह मृगेन्द्रसत्त्वः ॥ २८ ॥
उद्भ्राम्य खड्गं विधिवत्क्रियावान् प्रविश्य मध्ये शरसंकटस्य ।
शरप्रपातान्यपि वञ्चयित्वा पुलिन्दनाथात्मजमाप तूर्णम् ॥ २९ ॥
पूर्वं त्वमेव प्रहरस्व तावत्पश्यामि पश्चाद्बलमावयोस्तु ।
इत्येवमुक्तो धृतशस्त्रपाणिस्तस्थौ पुरस्ताद्द्रुतमुग्रवीर्यः ॥ ३० ॥
निरुध्यमानः क्षितिपात्मजेन पुलिन्दनाथस्य सुतोऽतिमुग्धः ।
नरेश्वरं तं प्रजहार रोषादशिक्षितो वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥ ३१ ॥
नैष प्रहारोऽसुनिपातदक्षः क्षमस्व मे सांप्रतमेकघातम् ।
इति ब्रुवन्खेटकखड्गहस्तः क्रोधोद्धतो वल्गनमाचकार ॥ ३२ ॥

वराङ्ग का पराक्रम

राजपुत्र यह निर्णय कर पाये थे कि एक पुलिन्द उनके सामने से निकला, उन्होंने उसे जोरसे लातमार कर पृथ्वीपर गिरा दिया था क्योंकि उनके पराक्रम का न तो कोई प्रतिरोध ही कर सकता था। इसके उपरान्त शीघ्रही सिंहके समान शक्तिशाली 'युवराजने उस गिरे हुए भीलके हाथसे ढाल सहित तलवार को छीन लिया था ॥ २८ ॥

फिर क्या था ? शस्त्रचालनमें कुशल राजकुमार ढंगसे उस तलवारको चलाते हुए बाणोंकी बौछारमें घुस गये थे, किन्तु अपने रण कौशलके कारण बाणोंकी मारको व्यर्थ करते जाते थे और थोड़ी ही देरमें वे पुलिन्दपतिके पुत्रके सामने जा पहुँचे थे ॥ २९ ॥

पुलिन्दनाथके पुत्रको सम्बोधन करके उन्होंने कहा था—'पहिले तुम ही मुझ पर प्रहार करो इसके बाद दोनों का बल देखा जायेगा।' यह सुनते ही दारुण पराक्रमी पुलिन्दोंका युवराज भी हाथमें शस्त्रोंको लिये हुए बड़ी तेजीसे बढ़कर राजपुत्रके सामने आ पहुँचा था ॥ ३० ॥

पुलिन्दपुत्र और वराङ्ग

बिचारे पुलिन्दोंका युवराज रणकलामें मूर्ख था, व्यवस्थित युद्ध करनेकी शिक्षासे अछूता था अतएव युवराजने ज्योंही उसे आगे बढ़नेसे रोका त्यों ही उसने कुपित होकर अशिक्षित जंगली मस्त हाथीके समान युवराज वरांगपर आक्रमण कर दिया था ॥ ३१ ॥

प्रवीर युवराजने पुलिन्द पुत्रके इस बारको अपनी शस्त्र-शिक्षा तथा शरीर पराक्रमके द्वारा बचाकर 'तुम्हारा यह प्रहार वेध्यपर चुमाचुम (पूरा) पड़कर उसे नष्ट करनेमें समर्थ नहीं है, लो, तैयार हो जाओ, अब मेरे एक प्रहारको तो सम्हालो

शिक्षाबलेनात्मपराक्रमेण स तं प्रहारं प्रतिवार्य वीरः ।
प्रहारमेकं प्रददावमोघं येनाहतोऽसून्प्रजहौ स कालः ॥ ३३ ॥
कालस्य कालप्रतिमः पिताऽसौ लोके महाकाल इति प्रतीतः ।
हतं सुतं प्रेक्ष्य रुजा प्रदीप्तः [1]समाप्तकालः स्वयमाययौ सः ॥ ३४ ॥
हत्वा सुतं मे क्व नु गच्छसि त्वं यद्यस्ति शौर्यं तव तिष्ठ तिष्ठ ।
त्वा[2]मन्तकप्राभृतिकेऽतियुक्तो भवेयमद्यैव हि मा वरिष्व[3] ॥ ३५ ॥
वैव[4]स्वते मे न च भक्तिरस्ति न चाप्यहं त्वद्वच[5]नाद्व्रजामि ।
त्वं भक्तिमान्योग्यतमश्च तस्मै त्वां प्रापयामीति जगाद राजा ॥ ३६ ॥
किमत्र चित्रैर्वचनैर्निरर्थकैर्योत्स्ये प्रतीक्षस्व हि मा चलस्त्वम् ।
इत्याश्रितो योद्धुमना युवेन्द्रः सोऽप्यागतस्तीव्रनिबद्धवैरः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार ललकारते हुए युवराजने ढालको सम्हालते हुए और खड्गको घुमाते हुए क्रोधके आवेशमें आकर एक लम्बी फलांग ली थीं ॥ ३२ ॥

तथा अपनी शस्त्र-शिक्षा तथा पराक्रम के पुल्लिङ्ग पुत्र के वार को काटते हुए, इसी अन्तरालमें एक ऐसा सच्चा सटीक हाथ मारा था कि जिसके लगते ही पुलिन्दोंके युवराज कालके प्राण पखेरू उसका शरीर छोड़कर उड़ गये थे ॥ ३३ ॥

कालका पिता पुलिन्दनाथ तो यमकी साक्षात् प्रतिमा था इसीलिए उसको लोग महाकाल नामसे जानते थे। जब उसने अपने प्रिय पुत्रको मरा देखा तो क्रोधकी ज्वाला उसके शरीरमें भभक उठी थी। काल (उसका पुत्र) क्या समाप्त हुआ था उसका काल (आयु) ही समाप्त हो गया था अतएव बलीके बकरे के समान वह स्वयं राजपुत्रके सामने उपस्थित हुआ था ॥३४॥

पुलिन्दराज से युद्ध

'मेरे प्राणप्यारे पुत्रको मारकर तुम कहाँ भागते हो, यदि वास्तवमें कुछ पराक्रम है तो ठहरो और मुझसे लड़ो। हे सुकुमार! तुम आज मेरे हाथसे यमराजके लिये अत्यन्त उपयुक्त उपायन (भेंट या बलि) हो सकोगे ॥ ३५ ॥'

'उसके वचनोंको सुनकर युवराजने भी कहा था—मुझे यमके प्रति स्वतः कोई भक्ति नहीं है, और न मैं तुम्हारे कहने से ही यमलोक जा सकता हूँ। ऐसा मालूम होता है कि तुम्हें यमपर बड़ी भक्ति है तथा तुम सब प्रकार से योग्य भी हो अतएव मैं यमके लिये तुम्हें ही आज स्वर्गलोक भेजता हूँ ॥ ३६ ॥

इसके अतिरिक्त भांति भांति की बेढंगी बातें कहने से क्या लाभ है। अब मैं लड़ता ही हूँ, मेरे प्रहारकी प्रतीक्षा करो,

१. क समास्त°। २. [त्वमन्तकप्राभृतके°]। ३. [भवेदमर्द्यं व....वारेष्ठ]। ४. म वैवस्वतां। ५. क तद्वचनाद्।

परस्परोद्वञ्चनकुञ्चिताक्षौ परस्परच्छिद्रपरायणौ तौ ।
परस्पराघातविवृद्धरागौ परस्परं जघ्नतुरुग्रकोपौ ॥ ३८ ॥

पुलिन्द[1]नाथस्य तु शस्त्रपातं [2]प्रपञ्चयत्यात्मकलाबलेन ।
नरेन्द्रपुत्रस्य वृढप्रहारस्तस्याङ्गभङ्गं बहुशश्चकार ॥ ३९ ॥

ऊर्ध्वप्रहारेऽवनतिं प्रपेदे अधःप्रहारे पुनरुत्पपात ।
समप्रहारे वियतौ च पार्श्वं ररक्ष शिक्षागुणतः स्वगात्रम् ॥ ४० ॥

उत्कृ[3]ष्य खड्गं विधिनोपसृत्यास्थानं समास्थाय रुषा परीतः ।
वामांसमाक्रम्य जघान तस्य मत्तद्विपं सिंहशिशुर्यथैव ॥ ४१ ॥

लब्धप्रहारः क्षितिपात्मजेन विभ्रान्तदृष्टिः स पुलिन्दनाथः ।
स्फुरत्तनुर्भूमितले पपात दवाग्निनात्युच्छ्रितशालकल्पः[4] ॥ ४२ ॥

भागो मत' इतना कहकर लड़नेकी इच्छासे ही युवराज सन्नद्ध होकर खड़े हो गये थे। पुलिन्दपति महाकालको भी पुत्र घातक होनेके कारण युवराजसे दृढ़ तथा प्रबल वैर था अतएव वह भी इनके सामने जम गया था ॥ ३७ ॥

द्वन्द्व प्रारम्भ होते ही वे एक दूसरे को धोखा देनेके लिए विचित्र प्रकारसे आँखें मींचते थे, परस्पर में दुर्बल स्थान तथा क्षणकी खोजमें लगे थे. आपसी प्रहारोंसे उन दोनोंका ही क्रोध तीव्रतासे बढ़ रहा था फलतः कुपित होकर किये गये प्रहार अधिक उग्र होते जाते थे ॥ ३८ ॥

युद्ध-कला नैपुण्य

पुलिन्दनाथके अत्यन्त दृढ़ प्रहारको भी उसका शत्रु (वरांग) अपनी युद्ध कलाकी निपुणता द्वारा निरर्थक कर देता था, किन्तु राजपुत्रका सटीक शस्त्रपात उसके शत्रु महाकालके अंग-भंगको बार बार करता जा रहा था ॥ ३९ ॥

महाकाल जब राजपुत्र वरांग के ऊपरी भाग पर शस्त्र मारता था तो वे झुककर बच जाते थे' पैरों आदि अधोभाग में प्रहार होने पर उचक जाते थे, मध्य अंगपर प्रहार होते ही किसी बगलमें घूम जाते थे। इस प्रकार शस्त्र शिक्षाके सांगोपांग अभ्यासके बलपर अपनी रक्षा कर रहे थे ॥ ४० ॥

इस समय तक राजपुत्र भी क्रोधके नशेमें चूर चूर हो गया था अतएव विधिपूर्वक तलवार को महाकालके सामने फैलाकर यद्यपि वह उसके निकट ही किसी भयानक स्थान पर जा पहुँचा था, किन्तु इसी समय उसने पुलिन्दनाथ के बांयें कंधे पर आक्रमण करके, वैसा ही प्रहार किया जैसा कि सिंह-शावक मदोन्मत्त हाथी पर करता है ॥ ४१ ॥

राजपुत्र वरांग का क्रूर प्रहार पड़ते ही उसके झटकेसे पुलिन्दनाथ महाकाल की आँखें घूमने लगी थीं, पूरा शरीर

१. [इत्यास्थितो]। २. म पुलीन्द्र°। २. [प्रवञ्चयत्यात्म°]। ३. म उत्कृप्य। ४. म °शालि°।

शेषांश्च दस्यून्प्रतियोद्धुकामान् जघान तांस्तान्समरे युवेन्द्रः ।
पलायमानानपरान्निहत्य चिच्छेद तेषां करकर्णनासम् ॥ ४३ ॥
नृपात्मजेन प्रतिहन्यमानास्तमेव केचिच्छरणं प्रजग्मुः ।
विन्यस्य वक्त्रे त्वपरे तृणानि जिजीविता[1]शाः प्रययुर्भयार्ताः ॥ ४४ ॥
हते[2]श्वरे सापि पुलिन्दसेना दुद्राव शस्त्राणि विसृज्य दूरात् ।
नरेश्वरोद्भ्रादित[3]शत्रुपक्षः पुनर्निवृत्तः समराजिराय ॥ ४५ ॥
रणावनौ सिंहरवानुकारो क्षेमप्रशंसो पटहो ननर्द ।
प्रत्यागतास्ते पटहस्वनेन पप्रच्छुरन्योन्यमविक्षतां च ॥ ४६ ॥

डगमगाने लगा था और वह धड़ामसे भूमिपर उसी प्रकार जा गिरा था जिस प्रकार दावाग्निसे जलकर बहुत ऊँचा शालिमली तरु लुढ़क जाता है ॥ ४२ ॥

इसके उपरान्त जो जो पुलिन्द भट लड़नेके निश्चय से आगे बढ़ते थे उन सबके सबको एकाकी राजपुत्र ने संघर्ष में समाप्त कर दिया था, यह देखकर जब बाकी भीलोंने भागना प्रारम्भ किया तो उन्हें बीचमें ही रोककर युवराजने उनके नाक कान काट दिये थे ॥ ४३ ॥

पूर्ण विजय

इस प्रकार राजपुत्रके द्वारा घास-पात के समान मारे काटे जानेपर कितने ही पुलिन्द भट उसीकी शरणमें चले आये थे। तथा अन्य कुछ लोग मुखमें घास (दूब) दबाकर जीवित रहने के लिये ही उसके सामने भयसे काँपते हुए शरणमें आये थे ॥ ४४ ॥

सेनापति महाकालके मर जानेपर वह पुलिन्द सेना इतनी भीत हो गयी थी कि उसके सैनिक दूरसे ही युवराजको देखकर शस्त्रोंको फेंक फेंक कर भाग गये थे। इस प्रकार शत्रु तथा शत्रुसेनाका मर्दन करके राजपुत्र वरांग भी लौटकर फिर समरांगणमें आ गये थे ॥ ४५ ॥

विजयी वराङ्ग का स्वागत

विजयी युवराजके लौटकर आते ही समरभूमिमें विजय, क्षेम कुशल तथा उपद्रवकी समाप्तिकी सूचना देनेके लिये बहुत जोरसे पटह बजा था जिसकी सिंहनाद समान ध्वनिसे पूरा प्रदेश गूँज उठा था। उसे सुनते ही सार्थके सब आदमी आकर इकट्ठे हो गये थे तथा परस्परमें एक दूसरे की क्षेम कुशल, क्षतहीनता आदि को पूछने लगे थे ॥ ४६ ॥

१. [विजीविताशाः]। २. [हतेश्वरा]। ३. [नरेश्वरोद्ग्राहित°]।

विघाटिता रत्नसुवर्णपेटा भिन्नानि भास्वन्मणिभाजनानि ।
दुकूलकौशेयकचामराणां भारान्विशीर्णानथ वीक्षमाणः ॥ ४७ ॥
तत्रावनीन्द्रं परिमूर्च्छिताशं व्रणस्रवच्छोणितलिप्तगात्रम् ।
ईषच्छ्वसन्तं हि निमीलिताक्षं रणाजिरे सार्थपतिस्त्वपश्यत् ॥ ४८ ॥
शरासिपातव्रणमण्डिताङ्गः श्रमाभिभूतो विनिपत्य भूमौ ।
रराज राजा कमनीयरूपो लाक्षारसक्लिन्न इवेन्द्रकेतुः ॥ ४९ ॥
हा[1] वत्स किं जातवदार्यवर्य किं मौनमास्थाय सुखोषितोऽसि ।
उत्तिष्ठ भद्राशु कुरु प्रसादं प्रदेहि नाथ प्रतिवाक्यमेहि ॥ ५० ॥
बालोऽसहायो बलवर्जितश्च सकर्पटोऽजह्निथ शत्रुसैन्यम् ।
युवा समर्थः स्वपदे स्थितश्चेत्स शासनः शान्तवधाः प्रति स्यात् ॥ ५१ ॥

इसके तुरन्त बाद ही वे सब तोड़े गये रत्नों तथा सोनेके सन्दूकों, टुकड़े टुकड़े करके फेंक दिये गये जगमगाते हुए मणियों के भूषणों तथा फेंककर इधर उधर अस्त-व्यस्तरूपमें पड़े हुए उत्तम वस्त्र, कोशाके वस्त्र, चमर आदि की गाठोंको देखते हुए सार्थपतिने देखा था कि समरांगणमें पृथ्वीपालक युवक राजा आँखें मीचे पड़ा है ॥ ४७ ॥

निकट जाने पर पता लगा कि वह मूर्च्छासे अचेत है, यद्यपि थोड़ी थोड़ी सांस रह रहकर चल रही है, उसके सम्पूर्ण शरीरमें असंख्य घाव लगे थे तथा उनसे बहते हुए रक्तसे उसका शरीर लथपथ हो गया था ॥ ४८ ॥

बाणों और खड्गोंके प्रहार से लगे घावों द्वारा शरीरको भूषित करके, अति परिश्रमसे अचेत होकर राजपुत्र पृथ्वी पर गिर गया था। किन्तु स्वभावसे लावण्यपूर्ण उसका शरीर उस अवस्था में भी बड़ा आकर्षक था। ऐसा प्रतीत होता था मानो इन्द्रध्वज लाक्षाके रसमें भींगकर गिर गया है ॥ ४९ ॥

आहत वराङ्ग

'हाय वत्स ! तुम्हें क्या हो गया है ! हे श्रेष्ठ ! बोलो, क्यों मौनधारण करके आनन्द पूर्वक पृथ्वीपर सो गये हो ? हे भद्र ! उठो, शीघ्र ही हम सब पर कृपा करो; हे नाथ ! कृपा करके प्रतिवचन दो, उठो, चलो ॥ ५० ॥

अभी तुम बालक ही हो, अनेक कष्टोंको लगातार सहनेके कारण दुर्बल तथा कृश हो गये हो, कोई साथी अनुगामी भी नहीं है, पहिनने को कवच भी नहीं है तो भी साधारण कपड़े पहिने हुए हो तुमने अकेले ही शत्रु सेनाको मार काट करके

---

१. [हा वत्स जातं तव किं वदार्य] ।

अयस्नतस्त्वं पुनराधमर्ण्यं प्रसह्य यातः कुशलोऽस्यतीव ।
कृतोपकारः प्रतिकारहीनो गतासवे किं करवाणि ते हि ॥ ५२ ॥
नैवाब्रवीस्त्वं कुलबन्धुदेशान्स्मृत्वापि यांस्तुष्टमना ब्रुवेयम् ।
किं वा स्वदेशं न गतोऽसि भद्र इति ब्रुवन्विप्रललाप सार्थी ॥ ५३ ॥
वणिग्जनानां करमर्शनेन शीतोदकैश्चन्दनवारिभिश्च ।
आप्यायमानो व्यजनानिलैश्च उन्मील्य नेत्रद्वयमालुलोके ॥ ५४ ॥
ततो मुहूर्तात्प्रतिलब्धसंज्ञः शनैः समुत्थाय कुमारवर्यः ।
प्रभाषमाणो विगतश्रमस्सन् सुखं निषण्णः परिचारितस्तैः ॥ ५५ ॥
आश्चर्यमस्मान्न च विद्यतेऽन्यज्जीवो गतोऽस्य प्रतिसंनिवृत्तः ।
इति ब्रुवाणा वणिजां प्रधानाः सविस्मयाः संतुतुषुः समेताः ॥ ५६ ॥

समाप्त कर दिया है जब तुम पूर्ण स्वस्थ और सबल हो जाओगे, युवावस्थाके पूर्ण विकासको प्राप्त होओगे, अपने योग्य पदपर पहुँचोगे तथा तुम्हारा शासन चलेगा तब समस्त देशमें वध आदि पाप ही शान्त हो जायंगे ॥ ५१ ॥

बिना किसी हीन इच्छा और विशेष प्रयत्न के बिना ही तुम मुझे अधम-ऋणी (जो उपकार का कोई प्रत्युपकार नहीं करता है) बनाकर इस लोकसे चल गये हो, तुम अत्यन्त उदार तथा कुशल हो। तुमने मेरा अपार उपकार किया है, किन्तु मैं परिवर्तनमें कुछ भी न कर सका, इस समय तुम्हारे प्राणहीन हो जानेपर मैं अभागा क्या करूँ ॥ ५२ ॥

हाय ! तुमने अपने उन्नत वंश, कुटुम्बी तथा देशके विषयमें भी कभी एक शब्द न बताया था, जिन्हें जान करके किसी प्रकार वहाँ पहुँचकर उन्हें तुम्हारी वीरगाथा सुनाकर संतुष्ट होता। हा ! भद्र ! तुम अपने देश ही क्यों न लौट गये !' इत्यादि वाक्योंको कहकर सार्थपति अत्यन्त करुण विलाप करता था ॥ ५३ ॥

आहतोपचार

इसी अन्तरालमें अनेक वणिक उसको हाथोंसे दबा रहे थे ठण्डे पानी छींटे दे रहे थे, चन्दन-जल उसके मस्तक आदि प्रदेशों पर लगा रहे थे तथा धीरे-धीरे सुकुमारतापूर्वक पंखेसे हवा कर रहे थे। इन सबके द्वारा शरीरका श्रम दूर होनेसे उसमें शक्ति और चेतना जाग्रत हो रही थी फलतः उसने धीरेसे दोनों आँखें खोलकर अपने आस पास दृष्टि दौड़ायी थी ॥ ५४ ॥

इसके उपरान्त एक मुहूर्त भर में ही वह पूर्ण चैतन्य हो गया था तब वह आर्यकुमार धीरेसे उठकर कुछ-कुछ बोला था। धीरे धीरे थकान दूर हो जानेपर वह सुखसे बैठ सका था तब उन सब वणिकोंने उसकी पूर्ण परिचर्या की थी ॥ ५५ ॥

इससे बढ़कर कोई दूसरा आश्चर्यमय कार्य इस संसारमें हो ही नहीं सकता है कि इसके प्राण एकबार शरीर छोड़-

सार्थाधिपो तद्धृदि जातहर्षः कृतस्य स प्रत्युपकारमिच्छन् ।
सद्रत्नलक्षं च सुवर्णकोटी ददौ नृपायाप्रतिपौरुषाय ॥ ५७ ॥
आनीतमर्थं प्रविलोक्य धीमान्नैवागमद्विस्मयमाभिजातः[1] ।
तस्यानुमानं स पुनर्विदित्वा दत्स्व त्वमिष्टेभ्य इतीत्थमूचुः ॥ ५८ ॥
तद्वाक्यतः सार्थमलुब्धबुद्धः शशास सर्वं [2]क्रियते तथेति ।
आज्ञापिताः स्वाञ्जलिभिर्दरिद्रा नटा विटाश्चादधुरादरेण ॥ ५९ ॥
तं स्नापयित्वा व्रणशोणितार्द्रं [3]क्षिप्तौषधानि व्रणरोपणानि ।
शमं प्रचक्रुः कतिभिर्दिनैश्च स्वाम्याज्ञया ते भिषजां वरिष्ठाः ॥ ६० ॥

कर भी फिर लौट आये हैं।' इस प्रकार अपने आश्चर्यको प्रकट करते हुए सार्थपति तथा सार्थके लोग अब भी आश्चर्यसे मुक्ति नहीं पा रहे थे तथा उनके उत्कट संतोष की भी सीमा न थी ॥ ५६ ॥

इस घटनासे सार्थपति सागरवृद्धिके हृदयमें तो हर्षका समुद्र ही लहरें मार रहा था, रह-रहकर अपने ऊपर किये गये उपकार के परिवर्तनमें कुछ करनेकी अभिलाषा उनमें प्रबल हो उठती थी अतएव उत्तम तथा अनुपम लाखों रत्न तथा कोटियों प्रमाण सुवर्ण लाकर उसने अद्वितीय पराक्रमी राजपुत्रके सामने रख दिये थे ॥ ५७ ॥

वराङ्ग-कश्चिद्भट

भेंटरूप से सामने लायी गयी विपुल सम्पत्तिको देखकर विवेकी राजकुमारको थोड़ा भी आश्चर्य या कौतुहल न हुआ था। कारण, वह स्वयं कुलीन था और इससे अनेक गुनी सम्पत्ति का स्वामी रह चुका था। सार्थपतिकी मानसिक भावनाका अनुमान करके उसने यही कहा था—"आप इस धनराशिको अपने इष्ट तथा प्रियजनोंमें वितरण कर दीजिए ॥ ५८ ॥

उसकी सुमति, लोभके द्वारा न जीती जा सकी थी अतएव उसके कथनके अनुसार ही सार्थपतिने अन्य मुखियोंसे कहा था कि 'जैसा कश्चिद्भट कहते हैं उसके अनुसार काम कर दिया जाय।' इस आज्ञाको सुनकर सार्थके सब नट, विट तथा अन्य दरिद्र वहाँ इकट्ठे हो गये थे। उन सबने हाथ जोड़कर बड़े आदर पूर्वक उस दानको ग्रहण किया था ॥ ५९ ॥

पुनः स्वस्थ्य-लाभ

सार्थके साथ चलने वाले उत्तम वैद्योंने सबसे पहिले घावोंके रक्तसे लथ पथ उसके शरीरका सतर्कतासे अभिषेक किया था फिर क्रमशः घावोंको भर देने वाली उत्तम तथा अचूक औषधिको लगाकर सार्थपतिकी आज्ञाके अनुसार थोड़े ही दिनोंमें उसके सब घावों एवं दुर्बलताको शान्त कर दिया था ॥ ६० ॥

---

१. [°जात्यः]। २. [क्रियतां]। ३. [क्षिप्त्वौषधानि]।

ततः प्रशस्ते दिवसे तु सार्थः संप्रस्थितो राष्ट्रमभिप्रवेष्टुम् ।
नरेश्वरः सागरवृद्धिनैव शनैः प्रयातः शिबिकाधिरूढः ॥ ६१ ॥
नटा विटाः कार्पटिका भटाश्च सार्थानुयाता द्विजजातयश्च ।
देशान्तरं प्राप्य समान्तरेषु ते तस्य कीर्तिं प्रथयां बभूवुः ॥ ६२ ॥
द्विषट्सहस्रं तु पुलिन्दवृन्दं जित्वा रणे मत्तकरीन्द्रलीलः ।
कश्चिद्भटः सार्थमथैक एव वने ररक्षेति यशस्ततान ॥ ६३ ॥
ग्रामेषु राष्ट्रेषु पुरेषु चैव विश्रम्य सार्थः खलु तत्र तत्र ।
शनैः प्रपेदे स्वपुरं पुराणं निर्विघ्नसंपादितभाण्डसारः ॥ ६४ ॥
कृतार्थकार्यं प्रतिसंनिवृत्तं निशम्य ते सागरवृद्धिवृद्धम् ।
स्त्रियः पुमांसश्च सबालवृद्धाः प्रत्युद्ययुर्नागरिकाः समग्राः ॥ ६५ ॥

सार्थका ललितपुरको प्रस्थान

इसके उपरान्त अत्यन्त शुभ मुहूर्तमें सार्थने आगे आने वाले राष्ट्रमें प्रवेश करने के लिये विधिपूर्वक प्रस्थान किया था। उस समय नरेश्वर वरांग भी सार्थपति सागरवृद्धिके साथ एक पालकी पर चढ़कर धीरे-धीरे चल रहा था ॥ ६१ ॥

धनकी आशासे सार्थके पीछे पीछे चलने वाले नट, विट, कन्थाधारी याचक तथा पुरोहित आदि ब्राह्मणोंने उन सब नये नये देशोंमें—जिनमें से इस अन्तराल में वह सार्थ गया था—जाकर युवक वीर की विशाल कीर्ति को प्रसिद्ध कर दिया था ॥ ६२ ॥

"मदोन्मत्त करीन्द्रके समान दारुण प्रहार करनेवाले 'कश्चिद्भट' (किसी योद्धा) ने (द्विगुणित छह हजार) बारह हजार प्रमाण पुलिन्दोंके निर्दय समूहकी युद्धमें अकेले ही जीतकर हमारे विशाल सार्थकी गहन वन में रक्षा की थी" यह कीर्ति चारों ओर फैल गयी थी ॥ ६३ ॥

विभिन्न ग्रामों, विविध नगरों तथा पृथक्-पृथक् राष्ट्रोंमें यथा—सुविधा पड़ाव डालता हुआ सागरवृद्धिका सार्थ बिना किसी विघ्न बाधाके मार्गमें लाभप्रद तथा उपयोगी विक्रय वस्तुओंको मोल लेता हुआ धीरे-धीरे उस नगरमें जा पहुँचा था जहाँसे वह पहिले चला था ॥ ६४ ॥

'नगरका सर्वश्रेष्ठ सागरवृद्धि सेठ अपार सम्पत्तिके अर्जन रूपी कार्यमें सफल होकर फिर नगरको लौट रहा है' यह समाचार सुनते ही पूरे नगरके स्त्री-पुरुष, बच्चे, बुड्ढे आदि सब ही निवासी उसकी अगवानी करनेके लिए आ पहुँचे थे ॥ ६५ ॥

स्त्रीभिः समं सागरवृद्धपत्नी कृतार्थयात्रं स्वपतिं विदृक्षुः ।
कश्चिद्भुटं ख्यातयशोवितानं पूर्वं तमालोकितुमाजगाम ॥ ६६ ॥
तां श्रेष्ठिपत्नीं निरवद्यभावां कश्चिद्भुटो वीक्ष्य ससंभ्रमः सन् ।
प्रत्युत्थितो मातृसमासभोऽसन् [1]सा चापि मेने स्वसुताधिकं तम् ॥ ६७ ॥
ततः स्वभर्तारमुपेत्य साध्वी प्रहृष्टभावा विनयं नियुज्य ।
चिरप्रवासागतमादरेण पप्रच्छ किंचित्कुशलं प्रियस्य ॥ ६८ ॥
स्वबन्धुमित्राणि च पुत्रदारान्सनागरान्स्थानविशेषयुक्तान् ।
समानवृत्तान्वयवृत्तशीलान्समीक्ष्य तान्कौशलमभ्यपृच्छत् ॥ ६९ ॥

सार्थ-स्वागत

सार्थपति सागरवृद्धिकी श्रीमतीजो भो सफल यात्रासे लौटे अपने पतिका स्वागत करनेके लिए अन्य स्त्रियोंके साथ गयी थीं। इस समय तक कश्चिद्भुट (क्योंकि वरांगका नाम अज्ञात था) की यशोगाथा उस नगरमें भी सर्वविश्रुत हो चुकी थी, फलतः श्रीमती सागरवृद्धि भी अपनी सहेलियोंके साथ सबसे पहिले उसे देखने गयी थीं ॥ ६६ ॥

पवित्र स्नेह आदि भावोंसे परिपूर्ण सेठानीको देखकर ही कश्चिद्भुट संकोचमें पड़ गया था। अतएव उसे अपनी माताके समान पूज्य मानते हुए वह उसका आदर करनेके लिए त्वरासे उठ बैठा था। साध्वी सेठानीने भी उसे अपने पुत्रसे अधिक माना था ॥ ६७ ॥

इसके बाद उस पतिपरायणाने अत्यन्त प्रसन्न होते हुए अपने जीवितेशके पास पहुँचकर शालीनता, शिष्टाचार तथा विनयके अनुसार उसका स्वागत किया था। तथा दीर्घ काल पर्यन्त प्रवासमें रहनेके बाद लौटे हुए अपने प्राणप्रियसे उसकी कुशल-क्षेम तथा प्रिय बातें पूछी थीं ॥ ६८ ॥

पुनर्मिलन दृश्य

सार्थपति सागरवृद्धि भी बड़े उत्साहके साथ अपने बन्धु-बान्धवों, मित्रों, पुत्रों तथा पत्नियोंसे मिलकर उनकी कुशल पूछते थे। इसी प्रकार वह अपने नगर-निवासियोंसे भेंट करके उनके पुत्र-कलत्र आदिकी क्षेम-कुशल पूछता था। नगरमें विशेष पदोंपर नियुक्त लोगों तथा अपने समवयस्क, समान शील, समान कुलीन तथा आचरणवाले व्यक्तियोंके प्रति भी उसका ऐसा ही व्यवहार रहा था ॥ ६९ ॥

---

१. क सा चाभिमेने ।

पुलि[1]न्दसेनागमनिर्गमौ च कालोरुकालद्वयधर्मकालम् ।
कश्चिद्भटश्चाप्रतिपौरुषं च सर्वं तथाचष्ट यथानुवृत्तम् ॥ ७० ॥
अष्टादशश्रेणिगणप्रधानैः संपूजितः सागरवृद्धिना च ।
कश्चिद्भटश्चारुविशालवेशो महाविभूत्या नगरं विवेश ॥ ७१ ॥
श्रेष्ठी ततः स्वं भवनं प्रविश्य व्याहृत्य कश्चिद्भटमादरेण ।
पृथक्पृथग्द्रव्यमनेकरूपं तत्तत्तु तस्मै कथयांबभूव ॥ ७२ ॥
इमाः स्वसारस्त्वनुजास्तवेमे[2] इयं हि माता स्वजनस्तवायम् ।
इदं धनं पुत्रकमित्रवर्गः सर्वं त्वदा[3]यत्तमितः प्रविद्धि ॥ ७३ ॥
इत्येवमर्थाधिपतिस्तमर्थं सजीवनिर्जीवमयत्नसिद्धम् ।
संदर्श्य भूयः स्वजनैः समेतः सुखं कृतार्थः स्वगृहेऽभ्यवासीत्[4] ॥ ७४ ॥

भेंट, कुशलवार्ताके समाप्त हो जानेपर उसने क्रमशः सबको अपनी यात्राके विवरणके प्रसंगमें पुलिन्द सेनाका आक्रमण तथा पलायन, पुलिन्दपति महाकाल और युवराजकालका कालधर्म (मृत्यु) तथा कश्चिद्भटका वह तेज और पराक्रम जिसकी कोई समानता न कर सकता था, यह सब घटनाएँ लोगोंको सुनायी थीं ॥ ७० ॥

वीर (कश्चिद्भट) पूजा

यात्रा विवरण सुनते ही उस नगरके शिल्पियों, कर्मकारों, वणिकों आदिकी अठारहों श्रेणियोंके प्रधानों तथा सागरवृद्धिने सन्मानपूर्वक कश्चिद्भटका स्वागत किया था तथा भेंट दी थी। अन्तमें सुन्दर तथा महत्ताके अनुरूप बेशभूषाको धारण करके बड़े भारी ठाट-बाटके साथ उसने उस नगरमें प्रवेश किया था ॥ ७१ ॥

जब सागरवृद्धि अपने घरमें पहुँच चुके थे तो उन्होंने अत्यन्त वात्सल्य और आदरपूर्वक कश्चिद्भटको बुलाकर अपने घरमें पड़ी अनेक प्रकारकी अतुल सम्पत्तिको अलग-अलग करके दिखाकर उसे बताया था कि कहाँपर क्या पड़ा है ॥ ७२ ॥

तथा 'यह तुम्हारी बहिनें हैं, ये तुम्हारे छोटे भाई हैं, यह तुम्हारी माताजी हैं, ये तुम्हारे सेवक आदि आश्रितजन हैं। ये पुत्र-मित्र समस्त जनसमूह तथा यह समस्त सम्पत्ति तुम्हारे ही वशमें है ऐसा बिना भेदभावके समझो ॥ ७३ ॥

सागरवृद्धिका सर्वस्व समर्पण

सार्थपतिने इस प्रकार अपने आपही सदा बढ़ती हुई, अपनी स्थावर तथा जंगम संपत्ति, सजीव तथा निर्जीव विभव

---

१. म पुलीन्द्र° । २. क तनुजास्तथेमे । ३. म तदायत्तं । ४. [स्वगृहेऽभ्यवात्सोत्]।

अथान्यदा श्रेणिगणप्रधानाः संमन्त्र्य वृद्धैरनुकूलवृत्तैः ।
अभेत्य[1] पत्न्या सह सोपचारं कश्चिद्भटं कान्त[2]तयेत्थमूचुः ॥ ७५ ॥
अस्मिन्पुरे ये वणिजः प्रधाना अनेककोट्यर्थविशेषवन्तः ।
त्वद्रूपविज्ञानगुणान्समीक्ष्य प्रदातुमिच्छन्ति सुताः प्रतोच्छुः[3] ॥ ७६ ॥
अपेत[4]भाग्यस्थिरसत्त्वसारो वने भ्रमंस्त्वां कथमप्यपश्यन्[5] ।
तदेव पर्याप्तमितः किमु स्यादित्यूचिवान्सागरवृद्धये सः ॥ ७७ ॥
श्रेष्ठी पुनः सर्वमिदं तवैव निश्शङ्कितो भुङ्क्ष्व दधत्स्व[6] पुत्र ।
यथेच्छसि त्वं तु तथा भजस्व मा मैव इत्थं वद इत्यवोचत् ॥ ७८ ॥

आदिको कश्चिद्भटको दिखाकर अपने आपको कृतकृत्य माना था । तथा अपने घरमें कुटुम्बियोंके साथ उनके बीचमें रहकर सुखसे जीवन व्यतीत कर रहा था ॥ ७४ ॥

नूतन विवाह प्रस्ताव

इस प्रकार पर्याप्त समय बीत जानेपर एक दिन नगरकी श्रेणियों और गणोंके प्रधान सेठ सागरवृद्धिने शास्त्रके अनुकूल संयमी तथा विचारक अपने समवयस्क वृद्धोंसे मत विनिमय करके अपनी धर्मपत्नीके साथ कश्चिद्भटके गृहमें गया था । आवश्यक शिष्टाचारके बाद उन्होंने कश्चिद्भटके सामने अत्यन्त सुन्दर प्रकारसे यह प्रस्ताव रखा था ॥ ७५ ॥

'इस नगरमें अनेक ऐसे प्रमुख व्यवसायी हैं जिनकी सम्पत्ति अनेक करोड़ोंसे अधिक ही नहीं है, अपितु असाधारण है। तुम्हारे स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सुशिक्षा तथा सदाचार आदि गुणोंको देखकर वे सब अपनी सुशील संस्कृत तथा स्वस्थ कन्याओंको तुमसे ब्याहनेके लिए उत्सुक हैं । हमारा आग्रह है कि वत्स ! तुम भी स्वीकार कर लो' ॥ ७६ ॥

संकोच तथा संयम

'जब मेरे पूर्व जन्मोंमें अर्जित भाग्यने मुझे छोड़ दिया था, मेरी सम्पत्ति और विभव नष्ट हो चुके थे तथा शारीरिक बलकी नींव भी हिल चुकी थी, इधर-उधर टक्कर मारता जंगलमें फिर रहा था तब किसी पुण्यकर्मके उदयसे आपके साथ भेंट हो गयी, मेरे लिए इतना ही अप्रत्याशितसे भी अधिक है । इस सबसे क्या हो सकता है ।' इतना ही उत्तर युवराजने सेठजी को दिया था ॥ ७७ ॥

यह सुनकर सेठने पुनः आग्रह करके कहा था 'हे पुत्र हमारे पास जो कुछ भी है वह सब तुम्हारा ही है, संकोच छोड़-

---

१. म अभीत्य, [अभ्येत्य] । २. म कान्त नयेत्थ° । ३. [प्रतीच्छ] । ४. क अपेत्य भाग°, [°भाग्योऽस्थिर°] ।
५. [अपश्यम्] । ६. म तदत्स्व ।

इत्यू[1]चिषि श्रेष्ठिनि सोऽभ्यवोचद्यथेष्टचेष्टः सह शिष्टगोष्ठ्या ।
वसाम्यथैवं यदि रोचते ते किं दारकार्येण विमु[2]च्यतामि ॥ ७९ ॥
स तस्य चित्तानुगतं विदित्वा तथा तथास्तामिति संप्रधार्य ।
प्रियाणि सार्थाधिपतिर्निगद्य स्वधर्मकर्माभिरतो बभूव ॥ ८० ॥
अथान्यदोद्यानवनं प्रयाता वणिक्सुताः शिष्टघटाश्च सर्वाः ।
संमन्त्र्य कश्चिद्भटमादरेण श्रेष्ठी भवेत्यूचुरुदारवृत्तम् ॥ ८१ ॥
नरेन्द्रपुत्रोऽहमभूवमादौ युवावनीन्द्रस्तु युवत्वकाले ।
प्रवर्धमानो वणिजां प्रभुत्वं पर्याप्तमेतावदिहात्मवद्भ्यः ॥ ८२ ॥

कर इसका भोग करो, जिसे चाहो उसे दो तथा जिस प्रकारकी तुम्हारी अभिलाषा हो उसी तरहसे इसका उपयोग करो। किन्तु जैसा तुमने अभी कहा है वैसा मत कहो' ॥ ७८ ॥

पिता तुल्य सेठजीके द्वारा उक्त वचन कहे जानेपर विनम्रतापूर्वक कुमारने कहा था 'मनचाहे खेल, कूद आदि कार्य करता हूँ, शिक्षित शिष्ट पुरुषोंके साथ ज्ञानगोष्ठी करता हुआ आनन्दसे ही समय काट रहा हूँ। यदि मेरे जीवनका यह ढंग ही काफी रोचक है और मैं प्रसन्न हूँ तो फिर ब्याह करनेसे क्या लाभ है ? इससे मुझे छुट्टी दीजिये' ॥ ७९ ॥

इस उत्तरके आधारपर सेठ कश्चिद्भटके मनकी बातको समझ सका था अतएव उसने मन ही मन निर्णय किया कि 'जैसा चल रहा है उसी प्रकार चलने दिया जाय। फलतः सार्थपति इधर-उधरकी अनेक मनोरंजक बातें करके लौट आया था और अपने धर्म तथा कर्त्तव्य कर्मोंके पालनमें सावधानीसे लग गया था ॥ ८० ॥

राजा सेठ हुआ

इस घटनाके कुछ दिन बाद एक दिन नगरके सब ही श्रीमान् वणिकों की लड़कियाँ वनविहारके लिए उद्यानमें गयी थीं। वहाँपर उन्होंने बड़े आदर और भक्तिके साथ कश्चिद्भटको आमंत्रित किया था। जब वह उनके पास पहुँचा तो वे सब उत्तम कलशोंको लेकर उसके पास खड़ी हो गयी थीं और उससे सानुनय निवेदन करने लगी थीं कि वह भी सेठ बनना स्वीकार कर ले ॥ ८१ ॥

यह सुनते ही उसके मनमें विचारोंका ज्वार आ गया था 'जीवनके प्रभातमें सम्मान्य राजपुत्र था, धीरे-धीरे बढ़कर किशोर अवस्थाको लांघकर ज्योंही युवा अवस्थामें पदार्पण किया तो युवराज पदपर अभिषेक हुआ था, तथा धीरे-धीरे विकासको करते हुए आज वणिकोंके प्रभुत्वको प्राप्त हो रहा हूँ, क्या किसी मनस्वीके लिये इतना ही पर्याप्त है ॥ ८२ ॥

---

१. म इत्याचिषि । २. [विवञ्चयामि] ।

प्रवर्धमानः किल भूमिपालः श्रेष्ठित्वमाप्नोति च लोकवादः ।
स एष वादो मयि सत्यभूत आप्नोति नामानि बहूनि जीवः ॥ ८३ ॥
प्रीतिं त्वमीषां न निवारयामि एतच्च पश्यामि वणिक्प्रभुत्वम् ।
इति स्मरन्नात्मपुराकृतानि तेषामनुज्ञाय बभूव तूष्णीम् ॥ ८४ ॥
कश्चिद्भटस्याप्रतिपौरुषस्य विज्ञाय चित्तं ललितानगर्याम् ।
वणिक्सुताः शिष्टघटाः प्रपद्य श्रेष्ठित्वपट्टं हि बबन्धुरिष्टाः ॥ ८५ ॥
वणिक्प्रभुत्वेन विराजमानं कश्चिद्भटं कान्ततमं गुणौघैः ।
समीक्षमाणाः पुरवासिनस्ते इदं समूचुः स्वमनोऽभिलाषम् ॥ ८६ ॥

जब कोई राजा दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता है तो वह सेठ (क्योंकि उसकी सम्पत्ति-कोश-बहुत बढ जाता है) हो जाता है यह लोक प्रसिद्ध कहावत है। यह सूक्ति मुझपर पूरी-पूरी घटती है। ठीक ही है संसार-चक्रमें पड़े जीवके अनेक नाम रखे ही जाते हैं ॥ ८३ ॥

इन लड़कियोंके स्नेहमिश्रित आग्रहको न मानना अनुचित ही होगा, पर यह भी देख रहा हूँ कि वणिकोंके प्रभुत्वको ग्रहण करनेमें क्या सार है, अस्तु। इस प्रकारसे अपनेपर घटित हुए पहिले अभ्युदय, उत्कर्ष, विपत्ति, आदिका स्मरण करते हुए उसने सेठोंकी पुत्रियोंको अनुमति दे दी थी और स्वयं चुप हो गया था ॥ ८४ ॥

श्रेष्ठी अभिषेक

जब सेठोंकी लड़कियों को अनुपम पराक्रमी कश्चिद्भटकी विचारधाराका पता लग गया तो उन सबने मिलकर हाथों में मंगल कलश लिये हुये श्रेष्ठीपदकी आवश्यक रीतियोंको पूरा किया था तथा ललितनगरोके सेठोंकी प्रधानताका द्योतक पट्ट उसे बाँध दिया था ॥ ८५ ॥

कश्चिद्भट (युवराज वरांग) स्वभावसे ही बड़े सुन्दर थे, इसके साथ-साथ उनमें अनेक गुण थे जो उनकी कान्ति और तेजको और भी बड़ा देते थे। इन सबके ऊपर उन्हें वणिकों का नेतृत्व प्राप्त हो गया था। इस प्रकार उनके अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही सौन्दर्य निखर आये थे फलतः उन्हें देखनेवाले ललितपुर निवासियोंने निम्न प्रकारसे अपने हार्दिक उद्गार प्रकट किये थे ॥ ८६ ॥

---

१. म श्रेष्ठित्वमाप्तोऽपि ।

पूर्वं तु पुण्योपचितान्मनुष्यान्स्वयं धनः श्रीमुखताः श्रयन्ते ।
वियोगधीर्दुःखविपत्तिशोकाः श्रयन्ति मर्त्यानकृतः पुमांस्तु (?) ॥ ८७ ॥
कुतो गतो व्याधगणान्वभञ्ज[2] कुतो गतः श्रेष्ठिसुतत्वमाप ।
कुतो गतः सार्थपतिर्बभूव कुतो गतः सर्वजनैः प्रकथ्यः ॥ ८८ ॥
कश्चिद्भटः सार्थपतिः सदारः पुत्राश्च पौत्रा बहुबन्धुवर्गः ।
पुरोपवासव्रतपुण्य[3]पुण्यं सहार्जयित्वा तदिहागताः स्युः ॥ ८९ ॥
रूपं वपुः शौर्यमथापि शीलं शुचित्वमारोग्यमुदारबुद्धिम् ।
जगज्जनाक्षिप्रियतापटुत्वं कश्चिद्भटः केन सुलब्धवान्स्यात् ॥ ९० ॥
पुरा त्वनेनाध्युषितं पुरं यत्तस्मिन्मनुष्या न च भाग्यवन्तः ।
यस्मिन्पुरेऽनेन वसन्ति सार्धं ते भाग्यवन्तस्त्विति केचिदूचुः ॥ ९१ ॥

जिन पुरुषार्थी पुरुषोंने अपने पूर्व जन्मोंसे परिपूर्ण पुण्य कमाया है उनको धन, शोभा-शक्ति और सुख सामग्री स्वयं ही घेर लेते हैं। इसके विपरीत जो प्रमादी लोग अकरणीय कार्योंमें अपनी शक्ति नष्ट करते हैं उनको वियोग की आशंका, वियोग दुःख, विपत्ति, शोक आदि सतत कष्ट होते हैं ॥ ८७ ॥

गुणग्राही ललितपुर

'कब कहाँसे जाकर इसने पुलिन्दोंकी विशाल सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया, किस पुण्य प्रकृतिके प्रतापसे सागरवृद्धि को यह पुत्रके समान प्रिय हो गया, किस प्रकार अनायास ही इस नगरके श्रेणियों और गणोंका प्रधान सार्थपति हो गया है तथा कोई नहीं जानता है कि कैसे तथा क्यों इसीकी चर्चा सबके मुखोंपर है ॥ ८८ ॥

स्पष्ट है कि परम यशस्वी कश्चिद्भट तथा शीलवती परम अनुरक्त पत्नी, गुणी पुत्र-पौत्र, स्नेहशील तथा अनुरक्त बन्धु बान्धवों सहित हमारे सार्थपति सागरवृद्धि, आदि व्यक्ति अपने पूर्व जन्मोंमें उपवास, व्रत, आदि करनेसे उत्पन्न पवित्र पुण्य को बड़ी मात्रा में संचित करके ही इस संसार (जन्म) में आये हैं ॥ ८९ ॥

कश्चिद्भटने ऐसे कौनसे शुभ कर्म किये होंगे जिनके परिपाक होनेसे उसे इस भवमें सर्वांग सौन्दर्य, अविकल तथा स्वस्थ शरीर, अद्वितीय पराक्रम, शारीरिक तथा मानसिक शुद्धि, रोगहीनता, सर्वतोमुखी बुद्धि, संसार भरके लोगोंकी आँखोंमें समा जाने वाली सुभगता, प्रत्येक कार्यमें पटुता तथा विकार साधक सुविधाएँ होनेपर भी अडिगशील प्राप्त हुए हैं ॥ ९० ॥

पुण्यात्माका प्रेम

पहिले यह जिस नगरमें निवास करता था वहाँके लोगों का भाग्य अनुकूल नहीं था, नहीं तो इससे वियोग क्यों होता ?

---

१. [धनस्त्रीसुखदाः] । २. म °गणाद्वभञ्ज । ३. [°जन्य°] ।

गुणाधिकेनाप्रतिपौरुषेण यदुज्झितं शून्यवदेव तत्स्यात् ।
इदं पुरं भद्रगुणं प्रकृत्या सौभद्रमेवेति च केचिदूचुः ॥ ९२ ॥
नृणां प्रियोऽसौ खलु पौरुषेण रूपेण नारीनयनाभिकान्तः ।
विद्व[1]द्गुरुणां विनयोपचारैः कश्चिद्भटोऽतिप्रियतां प्रयातः ॥ ९३ ॥
एवं महात्मा प्रथितप्रणादः कश्चिद्भटाख्यां प्रतिलभ्य शूरः ।
वराङ्गनामत्वमथावसृज्य वणिग्जनैः सार्धमुवास तस्मिन् ॥ ९४ ॥
आख्यायिकाभिश्च कथाप्रपञ्चैर्नाट्यैश्च गीतैः परिवादिनीभिः ।
उद्यानयानै रहिहेतुभूतैः कश्चिद्भटेन प्रतिनीयतेऽद्धा ॥ ९५ ॥

तब दूसरे कहते थे हमें इस सबसे क्या प्रयोजन ! हम तो इतना जानते हैं जिस किसी नगरमें जिन लोगोंको इसके साथ रहनेका सौभाग्य प्राप्त होता है वे लोग निश्चयसे बड़े भाग्यशाली हैं ॥ ९१ ॥

पुरुषार्थमें जिसका कोई तुलना नहीं कर सकता है, गुणोंसे जिसे कोई लाँघ नहीं सकता है, ऐसे इस पुरुष सिंहके द्वारा जो नगर छोड़ दिया गया है वह सूना ही हो गया होगा ? यह नगर अपनी प्राकृतिक सम्पत्तियों के कारण यों ही कल्प (स्वर्ग) मय समझा जाता था किन्तु अब इसके समागमके द्वारा तो सर्वथा कल्याणकारी तथा सम्पन्न ही हो गया है ॥ ९२ ॥

अपने अनुपम पुरुषार्थ और पराक्रमके कारण यह मनुष्योंको प्रिय है, निर्दोष सौन्दर्य तथा कान्ति इसे कुल ललनाओंकी आँखोंका अमृत बना देते हैं; अपनी विनम्रता तथा शिष्टाचारके द्वारा यह विद्वानों तथा बड़ों-बूढ़ोंके हृदयमें स्थान कर लेता है। इस प्रकार यह कश्चिद्भट सबके लिए परम प्रिय हो गया है ॥ ९३ ॥

उक्त प्रकारसे उस पुण्यात्माका यश दूर-दूर तक फैल गया था अपनी वीरतासे उपार्जित कश्चिद्भट ही उस शूरका नाम हो गया था, तथा अपना प्रथम नाम वरांग उसने छोड़ ही दिया था। इस प्रकार ललितपुरमें वह वणिकोंके साथ निवास कर रहा था ॥ ९४ ॥

ललितपुरकी दिनचर्या

आख्यायिकाएँ कह सुनकर, कथाओंको बढ़ाकर कथन तथा श्रवण, नाटक आदिका दर्शन तथा अभिनय, गाना, वीणा आदि बाजे बजाकर तथा मनोविनोद तथा प्रकृति प्रेमके कारण उद्यानको जाना इत्यादि कार्योंके द्वारा कश्चिद्भटके दिन कटते थे ॥ ९५ ॥

---

१. म विद्वन्° ।

एकान्ततः संस्मरति स्वबन्धून् कदाचिदन्तर्गतदाहभावः ।
कदाचिदुन्मत्त इव ब्रवीति स्वस्थः कदाचित्परमार्थदृष्टया ॥ ९६ ॥
ललितपुरनिवासिभिर्वणिग्भिः सुखधनधर्मफलानि पृच्छ्यमानः ।
अकथयदखिलानि तानि तेभ्यो युवनृपतिः स जगत्प्रयोजनानि ॥ ९७ ॥
पुनरथ सकलान्कलान्गुणांश्च प्रतिगमयन्पुरधीवणिग्जनानाम् ।
जिनमतममलं प्रकाशयंश्च ललितपुरं ललितैः सहाध्युवास ॥ ९८ ॥

इतिधर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
ललितपुरप्रवेशो नाम चतुर्दशः सर्गः ।

●

जब कभी एकान्त मिलता था तो वह माता-पिता, पत्नी, आदि कुटुम्बियोंको याद करता था फलतः कभी-कभी उसके अन्तरंगकी दाह भभक उठती थी। इतना ही नहीं कभी-कभी वियोगके उभारके असह्य हो जाने पर वह पागलके समान स्वयं ही बोलता था और सुनता था, तथा अन्य समय जब निश्चयनयकी दृष्टि खुल जाती थी तो सर्वथा शान्त और उदासीन हो जाता था ॥ ९६ ॥

ललितपुर निवासी सेठोंके द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'सुख, धन तथा धर्मका क्या फल (उपयोग) है तथा यह किन कर्मोंके फल हैं।' उस युवक राजाने गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंके सांसारिक किन-किन प्रयोजनोंमें सुखादि कितने उपयोगी हैं यह सब उन लोगोंको पूर्णरूपसे स्पष्ट करके समझाया था ॥ ९७ ॥

इसके अतिरिक्त ललितपुर-निवासी समस्त वणिकोंको समस्त कलाओं तथा श्रेष्ठ गुणोंकी शिक्षा देता हुआ वह महा बुद्धिमान ललितपुरके स्वभाव तथा शरीरसे ललितजनोंके साथ निवास करता था तथा निर्मल जिन-मतकी प्रभावना करता था ॥ ९८ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक, धर्मकथामें
ललितपुर-प्रवेश नाम चतुर्दश सर्ग समाप्त ।

पञ्चदशः सर्गः

अथोत्तमपुरे तस्य वाजिनापहृतस्य यत् । वृत्तान्तं कथितं सर्वमिदमन्यन्निबोधत ॥ १ ॥
राजानो राजपुत्राश्च मन्त्रिणो दण्डनायकाः । भोजका भृत्यवर्गाश्च ये राज्ञा सह निर्गताः ॥ २ ॥
युवराजाधिरूढं तं वाजिनं वायुरंहसम् । [1]अनुगम्याप पश्यन्तो बभ्रमुस्ते वनान्तरे ॥ ३ ॥
अपरे संनिवृत्त्याशु तुरङ्गहृतनायकाः । [2]आक्रोशन्तो विषण्णास्ते निवेदयितुमागताः ॥ ४ ॥
पितरं तस्य संदृश्य बालादित्यसमप्रभम् । ससंभ्रमा समाश्रित्य वचनं चेदमब्रुवन् ॥ ५ ॥
वाजिनावार्यवीर्येण दुर्विनीतेन पार्थिव । वायुवेगप्रतापेन युवराजोऽपहारितः ॥ ६ ॥

पञ्चदश सर्ग

कपटी मंत्री द्वारा दुःशिक्षित घोड़ेके द्वारा उत्तमपुरसे हरण किये गये राजकुमार पर जो जो बीती, उसका पूर्ण वृतान्त हम कह चुके हैं। इसके अतिरिक्त (उत्तमपुरमें उसके कुटुम्बी पत्नी आदिको क्या अवस्था हुई) और जो हुआ उसे भी सुनिये तथा समझिये ॥ १ ॥

उत्तमपुरमें बीती

महाराज धर्मसेनके साथ-साथ जो, जो राजा लोग, शिष्ट राजपुत्र, समस्त मंत्री, सेनापति तथा अन्य सैनिक कर्मचारी, भुक्तियों (प्रान्तों) के शासक तथा अन्य सेवकोंका समूह युवराजको खोजनेके लिए निकले थे ॥ २ ॥

इन्होंने उस घोड़ेका पीछा करना चाहा था जिसपर युवराज वरांग सवार थे। किन्तु उस घोड़ेका वेग वायुकी गतिके समान तीव्र था, अतएव पूरी शक्ति लगा कर दौड़ने पर भी वे उस घोड़ेको न देख सके, कि वह किधरको भाग रहा था, फलतः इधर उधर एक जंगलसे दूसरेमें टक्कर मारते फिरते थे ॥ ३ ॥

अन्य कुछ लोगोंने जब समझा कि उनके युवराजको दुष्ट घोड़ा न जाने कहाँ ले गया है तो उन्होंने घोड़े, उसे निकालने वाले, भेंटमें भेजनेवाले तथा अपने भाग्य आदिके लिए अपशब्द कहना प्रारम्भ किया था तथा बड़े खेद खिन्न हो गये थे। वे बहुत जल्दी लौट आये थे और अपने प्रयत्न की असफलताका समाचार राजाको देने आ पहुँचे थे ॥ ४ ॥

प्रभातके सूर्यके समान क्रोध और पश्चातापसे रक्तवर्ण उसके पिताको देखकर उन लोगोंने बड़ी त्वरा और भयपूर्वक निम्न वचनोंको उनसे कहा था ॥ ५ ॥

हे महाराज ! वह घोड़ा इतना प्रबल और हठी था कि उसे वशमें रखना असंभव था, इस पर भी उसे विपरीत आच-

---

१. [अनुगम्य प्रपश्यन्ता]। २. म आक्रोशन्ते ।

केनापि हयरूपेण दवदानवरक्षसा । सर्वेषामग्रतो नीतो वराङ्गस्तु महीपते ॥ ७ ॥
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा समाहूयात्ममन्त्रिणः । मन्त्रमध्यास्त मतिमान्युवराजाय वाहने (?) ॥ ८ ॥
विचारयत केनायं द्विषता नोपवाहितः । [1]कुमारोभ्यतरस्त्वेन बत बाह्येन मण्डले ॥ ९ ॥
रूपलावण्यलोभेन विद्याबलयुवा स्त्रिया । देवरक्षःपिशाचैर्वा हृतः स्यात्पूर्ववैरिभिः ॥ १० ॥
इत्याज्ञाप्य नृपोऽमात्यान्मण्डलानि प्रतीक्षितुम् । दूतान्संप्रेषयामास मार्गनार्थमितोऽमुत[2]: ॥ ११ ॥
ते मडम्बपुरग्रामा[3]न्नद्यरण्यगिरिव्रजान् । परीत्य न च पश्यन्तो निराशाः पुनराययुः ॥ १२ ॥

रण करनेकी शिक्षा ही दी गयी थी, उसकी गतिका वेग वायुके समान तीव्र था तथा वायुके समान वह अवाध्य था यही कारण है कि वह राजपुत्रको ले भागा है ॥ ६ ॥

हे महीपते ! हमारा तो विश्वास है कि वह साधारण घोड़ा नहीं था अपितु कोई पूर्वभवका वैरी देव, दानव या राक्षस ही घोड़ा बनकर आया था । यही कारण है कि वह हम सबके देखते ही देखते युवराज वरांग ऐसे प्रबल प्रतापी कुशल अश्वारोहीको भी लेकर भाग गया है ॥ ७ ॥'

तुरन्त लौटकर आये लोगोंके उक्त वचनों को सुनकर राजाने अपने सबही बुद्धिमान तथा भक्त मंत्रियोंको बुलाया था । राजा स्वयं विपुल विवेकी थे तो भी युवराज के अपहरणके उद्देश्यों तथा उनपर क्या क्या बीत सकती है, इत्यादि बातों का स्पष्ट विचार करनेके लिए उन्होंने मंत्रियोंके साथ मतविनिमय करना प्रारंभ किया था ॥ ८ ॥

अपहरण हेतु विमर्ष

आप लोग भलिभांति सोचें की वर्तमान राजमण्डल में कौन ऐसा हमारा शत्रु है जिसने इस प्रकार कपट करके युवराजका अपहरण कर लिया है । बड़े आश्चर्य की बात है, कि क्या यह अपहरण किसी ऐसे व्यक्तिने कराया है जो हमारे बीचमें घुसा हुआ है अथवा किसी बाहरीके द्वारा ही यह सब किया गया है ॥ ९ ॥

ऐसा भी देखा गया है कि तन्त्र-मन्त्र आदि विद्याओंमें प्रवीण शक्ति तथा प्रभुता युक्त पद पर विराजमान स्त्रियोंके द्वारा उनका अपहरण कराया जाता है जिनके सौन्दर्य-स्वास्थ्य पर वे मोहित हो जाती हैं। अथवा पूर्वभवका वैरी कोई देव, राक्षस अथवा पिशाच उसे हर ले गया है ॥ १० ॥

इस शैलीसे प्रकृत विषय पर विचार करनेके लिए मंत्रियोंको आज्ञा देकर राजाने समस्त राजमण्डलोंमें युवराज का पता लगाने के लिये तथा स्वयं यह देखनेके लिए कि इस अपहरण की वहाँ पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है, अपने सुयोग्य दूतोंको राजधानीसे सब दिशाओंमें भेजा था ॥ ११ ॥

गुप्तचरों की शोध

ये दूत लोग सतर्कतापूर्वक ग्राम, मडम्ब, नगर, नदी, वन, पर्वत तथा व्रजों (पशुपालकों की बस्ती) के भीतर जाकर

---

१. [कुमारोऽभ्यन्तरत्वेन] । २. क मार्गणार्थमतोऽमुतः । ३. म °ग्रामान्मध्वयरण्य° ।

केचिदश्वानुमार्गेण गत्वा दूरं वनान्तरे। वाजिनं तु गतप्राणं कूपेऽपश्यन्तदृच्छया ॥ १३ ॥
युवराजमपश्यन्तो भ्रान्त्वा वननदीगिरीन्। कक्षवृक्षक्षुपाकीर्णान् पुरमेव गतास्ततः ॥ १४ ॥
कटकं कटिसूत्रं च केयूरं कुण्डलद्वयम्। अश्वभाण्डं च संगृह्य राज्ञे सर्वं निवेदयन्[1] ॥ १५ ॥
श्रुत्वा तेषां वचो राजा दृष्ट्वा तस्याङ्गभूषणम्। मुञ्चन्नुष्णं च निःश्वासं दुःखसंभ्रान्तलोचनः ॥ १६ ॥
गण्डस्थलं करे न्यस्य सुतं शोचन्मुहुर्मुहुः। प्रत्युवाच पुनस्तेभ्यः कम्पयन्करपल्लवम् ॥ १७ ॥
कथाकाव्यपुराणेषु अश्वेनापहृता इति। [2]अश्रूयन्तमिदं सर्वं प्रत्यक्षं समुपस्थितम् ॥ १८ ॥

एक एक स्थल को सूक्ष्मरूपसे देखते थे तथा चिह्न पानेके लिए नाना प्रकारसे परीक्षा करते थे। परन्तु जब उन्हें राजकुमारका पता देने वाली एक भी वस्तु या बात नहीं मिली तो वे निराश होकर लौट आये थे ॥ १२ ॥

जो लोग क्रीड़ास्थल से ही घोड़ेके पीछे दौड़े थे वे घोड़ेके पद-चिह्नोंके सहारे जंगलमें बहुत दूरतक चले गये थे। इस प्रकार जंगलमें भटकते हुए उन्होंने किसी वनमें खोजते हुए देखा कि एक कुँयेमें मरा घोड़ा पड़ा था ॥ १३ ॥

किन्तु वहाँ उन्हें न तो युवराज ही दिखे थे और न कोई ऐसा चिह्न ही मिला था जो उनके अशुभ की आशंका पैदा करता। आपाततः वे युवराजकी खोजमें पर्वतों, गहरी नदियों तथा विशाल-जीर्ण वृक्षों, छोटे-छोटे पौधों तथा अगम्य घने वन-खण्डोंमें व्याप्त अरण्योंमें भटकते रहे थे। अन्तमें असफल होकर वे भी नगर को लौट आये थे ॥ १४ ॥

उन्हें अरण्यमें युवराजके कटक, कटिसूत्र (करधनी) कानकी लोंगें तथा दोनों कुण्डल भी मिले थे। जिन्हें वे घोड़े के साज तथा अन्य वस्तुओंके साथ वापिस लेते आये थे तथा लौटकर यह सब वस्तुएँ राजाके सामने उपस्थित कर दी थीं तथा अपना समस्त वृत्तान्त सुना दिया था ॥ १५ ॥

पिताकी दुश्चिन्ता

घोड़े का पीछा करनेवाले इन स्वामिभक्त अनुयायियोंके वृत्तान्त को सुनकर तथा सामने पड़े युवराजके पैर, हाथ, आदिके आभूषणोंको देखकर राजा शोक सागरमें डूब गया था। उसके मुखसे उष्ण श्वास निकलती थी, दुःखके आवेगसे आँखें घूम रही थीं ॥ १६ ॥

निराशा और विवशताके कारण अपने बांये गालको हथेली पर रखकर बार-बार पुत्रके लिए शोक करता था। अरण्य से लौटे सच्चे सेवकों को उत्तर देनेके लिए जब उसने हाथ उठाया तो वह कँप रहा था तो भी उसने अपने आपको सँभालकर उन्हें उत्तर दिया था ॥ १७ ॥

कथाओं काव्य-ग्रन्थों तथा पुराणों में ही ऐसे वृत्तान्त सुने थे जिनमें घोड़ोंके द्वारा पुरुषोंके अपहरणकी घटनाएँ भी थीं। किन्तु जो कुछ अबतक सुना ही था वह सब भाग्यदोषसे आज प्रत्यक्ष हो गया है ॥ १८ ॥

१. [न्यवेदयन्]। २. म अश्रूषंतमिदं, [आश्रूयन्त इदं]।

सुतदुःखहिमाक्रान्तं मम्लौ वदनपङ्कजम् । तुषाराम्बुसमाक्रान्तं प्रफुल्लमिव पङ्कजम् ॥ १९ ॥
यद्वत्पूर्णशरच्चन्द्रो निःप्रभो राहुणावृतः । राजेन्द्रो निर्बभौ तावच्छोकग्रहसमाप्लुतः ॥ २० ॥
यथा हृतमणिर्नागो भग्नदन्तो गजोऽपि वा । तथा गतसुतो राजा न रेजे कान्तिमानपि ॥ २१ ॥
एवं दुःखार्णवे मग्ने पत्यो वर्षवरोत्तमाः[1] । गुणदेव्यै यथावृत्तमुपगम्याचचक्षिरे ॥ २२ ॥
श्रुत्वा पुत्रवियोगं सा देवी बाष्पाकुलेक्षणा । हा पुत्र केन नीतस्त्वमित्युक्त्वा न्यपतद्भुवि ॥ २३ ॥
ततः परिजनैस्तूर्णं शीतलव्यजनानिलैः । चन्दनोदकसंमिश्रैर्गात्रसन्धिषु पस्पृशे ॥ २४ ॥

राजाका विवेक-शोक

पुत्रकी विपत्ति रूपी हिमके पातने सर्वदा विकसित राजाके मुखकमलको भी म्लान कर दिया था। उसके मुखको देखकर उस कमलका स्मरण हो आता था जो थोड़े समय पहिले पूरा खिला था किन्तु तुषारपात होनेके कारण थोड़े समय बाद ही बिखर कर श्रीहीन हो गया था ॥ १९ ॥

शरद की पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्रमा जिसकी कान्ति सब दिशाओंको शान्त और धवल बना देती है। यदि उसे राहु ग्रह आकर ढक ले तो उसकी जो अवस्था होती है वैसी ही अवस्था महाराज धर्मसेन को पुत्रपर आयी महाविपत्ति की आशंकासे उत्पन्न शोकके कारण हो गयी थी ॥ २० ॥

जब नागके फण परसे मणि नोंच लिया जाता है, अथवा मदोन्मत्त गजेन्द्रका जब अग्रदन्त तोड़ दिया जाता है तो पूरा शरीर स्वस्थ बलिष्ठ रहने पर भी उनकी शोभा नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार सहज कान्तिमान राजा पुत्रके अपहरणके बाद कान्तिहीन और निस्तेज प्रतीत होता था ॥ २१ ॥

अन्तःपुर में समाचार

इस प्रकार महाराजके शोकसागरमें डूब जाने पर कोई सर्वश्रेष्ठ प्रतीहार (साहस करके) अन्तःपुर को गया था ! वहाँ पहुँचकर उसने इधर क्रीड़ास्थलीसे लेकर अबतक जो युवराज सम्बन्धी दुर्घटनाएँ हुई थीं वे सब क्रमसे महारानी गुणदेवीको सुना दी थीं ॥ २२ ॥

इस प्रकार अचानक उपस्थित पुत्रके वियोगकी दुःखमय कथा को सुनते ही माता गुणदेवी की आँखें आँसुओंके वेगसे धुँधली हो गयी थीं। शोक का आवेग इतना प्रबल था कि वे 'हा पुत्र ! तुम्हें कौन ले भागा है', कहकर कटी हुई लताके समान भूमिपर पछाड़ खाकर गिर गयी थीं ॥ २३ ॥

यह देखते ही सेवकजन तथा कुटुम्बी चारों ओरसे दौड़कर आये थे। वे ठंडे पंखोंसे हवा करते थे तथा शरीरके सुकुमार संधि-स्थलोंपर चन्दनके जलसे मिली शीतल वस्तुओंको लगा रहे थे ॥ २४ ॥

१. [वर्षवरोत्तमाः]।

शनैराप्यायिता देवी उन्मील्य नयनद्वयम् । हा वत्स क्व गतोऽसीति विविधं विललाप सा ॥ २५ ॥
तवागतात्र या पीडा सा मे किं न भविष्यति । वरं मे मरणं वत्स जीवितं किं त्वया विना ॥ २६ ॥
कुण्डलाङ्कितगण्डस्य हारशोभितवक्षसः । तव यद्दर्शनं पुत्र त्रैलोक्यैश्वर्यतोऽधिकम् ॥ २७ ॥
वत्स हित्वाऽनवद्याङ्गं विद्वज्जननिषेवितम् । कथं स्मरन्तो जीवामि विनयाचारभूषितम् ॥ २८ ॥
चलच्चामरवृन्देन ज्वलन्म[1]कुटशोभया । ज्वलन्तं यौवराज्येन कथं वा विस्मराम्यहम् ॥ २९ ॥
मया वियोजिताः पुत्रा मृगाणामन्यजन्मनि । तत्कर्मपरिणामोऽयं सादृष्टिक[2]मुपस्थितम् ॥ ३० ॥
अत्राणाशाश्वतासारा जन्मवत्ता हि देहिनाम् । सा मयाद्य परिज्ञाता जाता[3] नैवास्ति कस्यचित् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार धीरे-धीरे देवी की चेतना वापस आयी थी । तब उसने दोनों आँखोंको खोलकर 'हा वत्स ! कहाँ चले गये हो ', आदि वाक्य कहकर भाँति भाँतिका करुण विलाप करना प्रारम्भ कर दिया था ॥ ३५ ॥

माताका विलाप

'हे बेटा ! यह दुर्घटना तथा इसके कारण उत्पन्न जो पीड़ा तुम भर रहे होगे वह, हाय दैव ! मुझपर क्यों न आ टूटी । अब तो मेरा मर जाना ही कल्याणकर होगा, हे वत्स ! तुम्हारे बिना जीनेसे क्या लाभ ? ॥ २६ ॥

कुण्डलके चुभनेसे पड़े चिन्ह युक्त तुम्हारे गालका तथा मणिमय हारसे आभूषित तुम्हारे विशाल वक्षस्थलको देखना हो हे पुत्र ! मेरे लिये तीनों लोकों के राज्य की प्राप्तिसे होनेवाली प्रभुता और वैभवसे भी बड़ा सुख था ॥ २७ ॥

समस्त विद्वान् तुम्हारी सेवा करते थे तुम्हारे सुन्दर स्वस्थ शरीरमें एक भी कमी न थी तथा तुम्हारा आचरण विनय और संयमसे परिपूर्ण था, हा ! मैंने ऐसे एकमात्र सुपुत्रको खो दिया । अब तुम्हें याद करते हुए मैं कैसे जीवित रहूँ ॥२८॥

जब तुम्हारा युवराजके पदपर अभिषेक हुआ था तो तुम्हारे सुन्दर विस्तृत मस्तकपर जगमगाता मणिमय मुकुट बाँधा गया, तुम्हारे ऊपर धवल चमर ढुर रहे थे। युवराज पदकी प्राप्तिके कारण तुम्हारा वह दैदीप्यमान प्रतापी स्वरूप मैं कैसे भूलूँ ॥ २९ ॥

मैंने अन्य जन्मोंमें मृगियों और मृगोंसे उनके बच्चोंको दूर किया होगा । यह उसी पापकर्मका साक्षात् तथा समान परिणाम है जो मेरे ऊपर आ पड़ा है ॥ ३० ॥

इस संसारमें देहधारी जीवोंका जन्म ग्रहण करना कितना रक्षा हीन है, कितना अनित्य है तथा कितना भयंकर एवं सारहीन है, यह मैंने आज भलीभाँति अनुभव कर लिया है । यह दुःखमय अवस्था और किसीकी आजतक नहीं हुई होगी ॥३१॥

---

१. [°मुकुट°] । २. [सांदृष्टिक°] । ३. [ज्ञाता] ।

पुरात्मचरितं कर्म तदवश्यमवाप्यते । प्रतिषेद्धु नियन्तुं वा न शक्यं त्रिदशैरपि ॥ ३२ ॥
एवं पुत्रवियोगेन मनस्संतापकारिणा । महीपतौ च देव्यां च तद्दुःखं मूर्तितां गतम् ॥ ३३ ॥
भार्यास्त्वनुपमाद्यास्ता विबुधेन्द्राङ्गनोपमाः । वियोगं युवराजस्य श्रुतवन्त्यस्तु तत्रसुः ॥ ३४ ॥
वायुनातिप्रचण्डेन लता इव विकम्पिताः[1] । भर्तृदुःखानिलहता निपेतुर्वसुधातले ॥ ३५ ॥
ततो वामनिकाः कुब्जा धात्र्यः[2] सपरिचारिकाः । रुदन्त्यस्त्वरयाभ्येत्य सर्वास्ताः परिवव्रिरे ॥ ३६ ॥
अपराश्चेतनावन्त्यः शीतलोदकबिन्दुभिः । गोशीर्षचन्दनाक्तैस्तैः सिषिचुः परितोऽङ्गनाः ॥ ३७ ॥

पूर्वभवमें आत्मा जिन भले बुरे कर्मोंको करता है वे कर्म अपने फल-रूपमें उस जीवको अवश्य प्राप्त होते हैं। उसे न तो कोई रोक सकता है और न कोई वशमें ही कर सकता है, मनुष्यकी तो शक्ति ही क्या है, देव भी कुछ नहीं कर सकते हैं ॥ ३२ ॥

इस प्रकार होनहार पुत्रका अकस्मात् वियोग हो जानेसे उत्पन्न दुःखने राजा तथा रानीके मानसिक संतापको उसकी अन्तिम सीमासे भी आगे बढ़ा दिया था। यही कारण था कि वियोगका दुःख राजा-रानीमें साकार हो गया था—उन्हें देखते ही ऐसा प्रतीत होता था कि यह प्रौढ़ जोड़ी दुःखकी मूर्ति ही है ॥ ३३ ॥

भारतीय पत्नी

युवराज वरांगकी अनुपमा आदि धर्मपत्नियाँ शील तथा स्वभावमें देवोंके अधिपति इन्द्रकी इन्द्राणियोंके ही समान थीं। जब उन्हें समाचार मिला कि कोई दुष्ट घोड़ा युवराजको ले भागा है तो वियोगकी कल्पनासे ही वे अथाह भवशोक समुद्रमें डूब गयीं थी ॥ ३४ ॥

स्वभावसे कोमल तथा चञ्चल लताको यदि अत्यन्त प्रचण्ड आँधीके झोंके झकझोर डालें तो जो उसका जो हाल होता है, वही दीनहीन अवस्था; पतिपर पड़े दुःखरूपी आँधीके निर्दय झकोरोंके मारे उन सब सुकुमार बहुओंकी थीं, वे निढाल होकर पृथ्वीपर आ गिरी थीं ॥ ३५ ॥

इन्हें मूर्च्छित होकर गिरते देखकर अन्तःपुरमें नियुक्त बौने, कुबड़े, धात्रियाँ तथा अन्य सब ही परिचारिकाएँ, जो उस भयानक परिवर्तनके कारण घबड़ा गयी थीं और रो रही थीं, चारों तरफसे दौड़ीं और मूर्च्छित बहुओंको उन्होंने चारों ओरसे घेर लिया था ॥ ३६ ॥

इस सर्वव्याप्त हड़बड़ीमें भी जिनका विवेक काम कर रहा था उन्होंने बहुओंके शिर आदि मर्म स्थानोंपर शीतल जल-के छींटे देना प्रारम्भ किया था। गौरोचनके जलसे तथा चन्दनके जल आदि द्वारा सुकुमार स्थानोंको अत्यन्त त्वरा और तत्परता के साथ आर्द्र किया था ॥ ३७ ॥

१. म निकम्पिताः । २. म सपरिचारकाः ।

तालवृन्तानिलैर्हारैर्मणिभिः पुष्पदामभिः । सुखसंस्पर्शनं चक्रुश्चलद्वलयपाणयः ॥ ३८ ॥
अथोपलब्धसंज्ञास्ता युवराजप्रियाङ्गनाः । विलपन्त्यो रुदन्त्यश्च स्फुरन्त्यश्च समुत्थिताः ॥ ३९ ॥
निरर्था इव वाङ्माला लता निःकुसुमा इव । युवराजस्य भार्यास्ता भर्तृहीना न रेजिरे ॥ ४० ॥
काश्चिद्धेमजलास्पृष्टा विषण्णकमलाननाः । अश्रुधारां विमुञ्चन्त्यः प्रचेलुर्दुःखवायुना ॥ ४१ ॥
गण्डदेशे करं न्यस्य विकीर्णासितमूर्धजाः । काश्चिज्जगर्हिरे भोगान्दुरन्तान्विगतस्पृहाः ॥ ४२ ॥
काश्चिन्मृदुपदन्यासैः करै रक्तोत्पलोपमैः । दुःखवेगातिविभ्रान्ता ननृतुः कौशलादिव ॥ ४३ ॥

मूर्च्छित राजवधुओंकी परिचर्यामें वे इतनी लीन थीं कि उनके सुकुमार हाथ बिजलीकी तरह वेगसे चल रहे थे। कोई ताड़के पत्तोंके पंखोंसे हवा कर रही थीं, दूसरी शीतल हारों या मणियोंके द्वारा उनके शरीरको छूती थी। फूलकी मालाओंको मर्मस्थलोंपर लगा रही थी, क्योंकि इन सब वस्तुओंका स्पर्श सुखद और शान्तिप्रद होता है ॥ ३८ ॥

इस प्रकारकी परिचर्याके कुछ समय पीछे युवराजकी कुलीन प्राण-प्यारियोंको फिरसे संज्ञा (होश) वापिस आयी थी। संज्ञा आते ही उन्होंने हृदयद्रावक रुदन भर विलाप करना प्रारम्भ कर दिया था तथा लड़खड़ाती हुई उठकर बैठ गयी थीं ॥ ३९ ॥

पत्नियोंका शोक-सन्ताप

कर्णप्रिय तथा सुन्दर शब्दोंके द्वारा की गयी निर्थरक वाक्यरचना जिस प्रकार आकर्षण हीन होती है तथा जैसे वह लता व्यर्थ होती है जिसपर फूल नहीं आते हैं उसी प्रकार शरीरसे सुन्दर तथा गुणवती युवराजकी वही बहुएँ उसके बिना सर्वथा श्रीहीन ही दिखती थीं ॥ ४० ॥

कुछ बहुओंके मुखपर जब शीतल जलके छींटे दिये गये थे, तभी विषादकी तीव्रताके कारण वे विकसित तथा सुन्दर मुख कमलके समान म्लान दिखते थे, आँखोंसे आँसुओंकी धार बह रही तथा दुःखरूपी झंझाके झोकोंसे वह रह-रहकर सिहर उठती थीं (सब ही विशेष लताके रूपकको स्पष्ट करते हैं क्योंकि हिमपातसे फूल मुरझा जाते हैं, ओसका पानी बहने लगता है और हवासे हिलने लगती हैं ॥ ४१ ॥

दूसरी राजवधुओंको संसारसे इतनी प्रबल निराशा हो गयी थी कि हताश होकर उन्होंने हथेलीपर गाल रख लिये थे, कुष्ण कुंचित केशोंके बंधन खुल जानेके कारण वे इधर-उधर फैल गये थे तथा वे अनित्य सांसारिक भोगोंकी खूब गर्हणा कर रही थीं ॥ ४२ ॥

अन्य सुकुमार सुन्दरियोंके दुःखकी तीव्रताके कारण मस्तिष्क ही फिर गये थे, वे पागलोंकी तरह अनजाने ही नाचती थीं, किन्तु उनके चरण सहज कोमल तथा सुन्दर थे, हाथोंकी हथेलियाँ लाल कमलोंके समान सुन्दर तथा आकर्षक थीं फलतः वे धीरे-धीरे पैर रखकर जब हाथ हिलाती थीं तो ऐसा लगता था कि वे पागल नहीं हैं अपितु कलापूर्वक नाच रही हैं ॥ ४३ ॥

वियोगतापसंतप्ताः काश्चिन्मम्लुः क्षणात्पुनः । काश्चित्प्रकृतितन्वङ्ग्यश्छिन्नमूला लता इव ॥ ४४ ॥
काश्चित्कारुण्ययुक्तानि गीतानि मधुरस्वरैः । तद्गुणख्यापकान्येव विलेपुर्विविधानि ताः ॥ ४५ ॥
कृतान्त निर्भय क्रूर स्त्रीवधं ध्रुवमाप्स्यसि । प्रियादस्मान् वियोज्य त्वमित्यूचुः काश्चिदङ्गनाः ॥ ४६ ॥
अस्मान्वा नय तं देशं तमिहानय वा प्रियम् । अन्यथा हि कृतान्तस्ते महापातो भविष्यति ॥ ४७ ॥
एवमाक्रन्दमानास्ताः लवदश्रुविलोचनाः । उत्पतन्त्यः पतन्त्यश्च जग्मुः श्वशुरमीक्षितुम् ॥ ४८ ॥
उपगम्यावनीशस्य प्रणिपत्य हि पादयोः । इत्थं विज्ञापयांचक्रुः सर्वा युवनृपाङ्गनाः ॥ ४९ ॥

वियोगकी-ज्वालाकी लपटोंसे कुछ राजवधुएँ एक क्षण भरमें ही बिल्कुल मुरझा गयी थीं अन्य बहुएँ जो स्वभावसे ही बड़ी सुकुमार तथा दुबली-पतली थीं उनकी वियोगके दुःखपूरके थपेड़ोंसे वही अवस्था हो गयी थी जो सहज सुन्दर तथा मृदुल लताको जड़ें काट देनेपर हो जाती है ॥ ४४ ॥

राजवधुओंका कण्ठ स्वभावसे ही मधुर था, रोते-रोते उन्हें अपने पतिके अनेक गुण याद आते थे जिन्हें वे अत्यन्त करुण तथा हृदय-विदारक ढंगसे गा, गाकर विलाप करती थीं और उसके गुणोंको स्मरण करके और अधिक दुःख पाती थीं ॥ ४५ ॥

उनमेंसे कुछ कुलवधुएँ तो जीवनसे इतनी हताश हो गयी थीं कि वे उद्धत होकर यमराजका सम्बोधन करके कहती थीं—'हे कृतान्त ! तुम इतने निर्दय तथा निर्घृण हो कि तुम्हें निश्चयसे स्त्रीकी हत्याका पाप लगेगा, क्योंकि हम लोगोंको प्राणनाथसे वियुक्त करके तुमने हमारी मृत्युका आह्वान ही किया है ॥ ४६ ॥

यदि स्त्री हत्यासे बचना चाहते हो तो या तो हम सबको उस देशमें ले चलो जहाँ प्राणनाथको ले गये हो, या उनको हम लोगोंके बीचमें ले आओ । यदि इन दो में से एक भी विकल्प तुम्हें नहीं स्वीकार है तो निश्चय समझो । हे कृतान्त ! तुम्हारे मस्तकपर स्त्री-हत्या ऐसे अधम पातकका टीका लग ही जायगा ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे वे रुदन और विलाप करती थीं, उनकी आँखोंसे बहती हुई आँसुओंकी नदी उमड़ती ही आती थी, एक क्षण भरके लिए भी उसमें विराम न आता था । विपत्तिका कोई प्रतीकार न देखकर वे अन्तमें ससुरके चरणोंमें गयी थीं, किन्तु मार्गमें भी वे गिर-गिर पड़ती थीं और उठती-पड़ती चली जा रही थीं ॥ ४८ ॥

ससुरसे दुःख रोना

महाराज धर्मसेनके पास पहुँचते ही वे उनके चरणोंमें गिर पड़ी थीं युवराजके वियोगने उन बधुओंको इतना विह्वल कर दिया था कि राजाके निजी दुःखका ख्याल न करके उन्होंने राजासे निम्न नम्र निवेदन किया था ॥ ४९ ॥

न्यायविद्दुष्टनिग्राही धर्मराजः प्रजाहितः । दयावानिति सर्वत्र कीर्तिस्ते विश्रुता भुवि ॥ ५० ॥
अतो वयमिमाः सर्वा अनाथा दीनवृत्तयः । आगताः शरणं त्वद्य बिना चात्मपतिं प्रभो ॥ ५१ ॥
दया स्त्रीबालवृद्धेषु कर्त्तव्येत्यधुना जगुः[1] । इति मत्वा महाराज त्वं प्रमाणं क्रियाविधौ ॥ ५२ ॥
इति नानाविचित्राणि विलपन्त्यो वराङ्गनाः । चुक्रुशुः करुणं घोरं श्वशुरस्यान्तिके स्नुषाः ॥ ५३ ॥
ततः कञ्चुकिनो वृद्धा अन्तःपुरमहत्तराः । तद्दासीदासभृत्याश्च चक्रुराक्रन्दनं महत् ॥ ५४ ॥
तेषां स्त्रीबालवृद्धानां रुदतां करुणध्वनिः । अभू[2]त्प्रक्षुभ्यतोयस्य समुद्रस्येव निस्वनः ॥ ५५ ॥
गुणदेवी स्नुषा दृष्ट्वा स्वपुत्रोत्कण्ठगद्गदा । न शशाक वचो वक्तुं बाष्पव्याकुललोचना ॥ ५६ ॥

हे पिताजी ! आप न्याय नीतिमें पारंगत हैं, सत्यका पता लगाकर दुष्ट पुरुषोंका कड़ा निग्रह करते हैं, प्रजामात्रका हित करनेके लिए अपने आपको भी भूले हुए हैं, दीन और दुखियोंपर जितनी स्वाभाविक दया आपको है उतनी किसीकी हो ही नहीं सकती, यही कारण है कि आपको संसार धर्मराज मानता है तथा आपकी कीर्ति पूर्ण पृथ्वीपर फैल रही है ॥ ५० ॥

यही विशेषताएँ हैं जो अपके चरणोंमें आज हम सबको ले आयी हैं। हम आपसे शरणकी याचना करती हैं, क्योंकि अपने पतिसे वियुक्त हो जानेके कारण आज हम अनाथ हो गयी हैं तथा हमारी मानसिक तथा शारीरिक सब ही वृत्तियाँ दीन-अवस्थामें पहुँच गयी हैं ॥ ५१ ॥

नीतिशास्त्रमें कहा है कि विपत्तिमें पड़े बालक, स्त्री तथा वृद्धोंपर सब कार्य छोड़कर दया करनी ही चाहिये। इस नीतिवाक्यको समझकर हे महाराज ! आप ही जानें कि हम लोगोंके विषयमें कौन सा कर्त्तव्य कल्याण कर होगा ॥ ५२ ॥

जैसा कि पहिले कहा है इसी प्रकारके अद्भुत तथा विविध ढंगोंसे वे कुलीन वधुएँ विलाप करती थीं। ससुरके पास पहुँचकर उनके हृदयका बाँध ही टूट गया था इसीलिए वे अत्यन्त करुण तथा घोर चीत्कार कर रही थीं ॥ ५३ ॥

शोक सागर

उन शिष्ट कुलीन वधुओंको कलपता देखकर उन लोगोंकी दासियाँ, कुबड़े, बौने आदि सेवक, अन्य परिचारक, अनुभवी वृद्ध कञ्चुकी तथा अन्तःपुरमें नियुक्त महामात्य तथा अन्य लोग भी बुरी तरह चीखने लगे थे। उस समयका आक्रन्दन वास्तवमें बहुत विशाल और दारुण था ॥ ५४ ॥

अपने पद, अवस्था आदिको भूलकर रोनेमें मस्त स्त्रियों, बच्चों तथा बुड्ढोंके कण्ठोंसे निकली करुण ध्वनिका वैसा ही घोरनाद हो रहा था, जैसा कि समुद्रमें उस समय होता है जब वह ज्वार-भाटा या आँधी आदिसे क्षुब्ध हो जाता है ॥ ५५ ॥

पुत्रवियोगसे पागल माता

महारानी गुणदेवी अपने पुत्रके वियोगसे यों ही गद्गद हो रही थी, उसपर भी जब सुकुमारी-सुन्दरी बहुओंको उक्त

---

१. क जगौ। २. [°प्रक्षुब्ध° ।

रत्नहारप्रवालांश्च नूपुरप्रकटाङ्गद[1]म् । मुक्ताप्रलम्बसूत्राणि मालावलयमेखलाः ॥ ५७ ॥
कटकान्यूरुजालानि केयूराः कर्णमुद्रिकाः । कर्णपूरान् शिखाबन्धान्मस्तकाभरणानि च ॥ ५८ ॥
कण्ठिकावत्सदामानि रसनाः पादवेष्टकाः । आलुण्ठ्याकुञ्च्य सर्वाणि चिक्षिपुर्विदिशो दिशः ॥ ५९ ॥
पतितैरङ्गतस्तासां राज्ञीनां विगतौजसाम् । द्यौरिव ग्रहनक्षत्रैर्भूषणैर्भूरभासत ॥ ६० ॥
सर्वासां राजपत्नीनां समेतानां समग्रतः । कृताञ्जलिरुवाचेदं युवराजप्रियाङ्गना ॥ ६१ ॥
न जीवितुमितः शक्ता विना नाथेन पार्थिव । त्वया प्रसादः कर्तव्यः पावकं प्रविशाम्यहम् ॥ ६२ ॥

प्रकारसे रोते विलपते देखा तो उनके नयनोंमें भी आसुओंकी बाढ़ आ गयी तथा दुःखका आवेग इतना बढ़ा कि उनके मुखसे एक शब्द भी न निकल सका था ॥ ५६ ॥

उन्हें एक प्रकार उन्माद सा हो गया था अतएव रत्नोंके तथा मोतियों के हारोंको बिछुओं तथा चमचमाते अगवों को सूतमें मोती पिरोकर बनायी गयी करधनी, कर्णफूल आदिकी झालर रत्नों और मणियोंकी माला, हाथोंके कड़े, करधनी ॥ ५७ ॥

भाँति-भाँतिकी घूँघुरुओंकी झालरयुक्त सुन्दर पाद-कटक, कर्णभूषण, कानोंका लोगें, कर्णपूर, केशोंके जूटेमें गुथे मुक्ताहार, शीर्षफल आदि मस्तकके आभरण, रत्नोंके विविध हार, मूँगोंके आभूषण, पैरोंके सौभाग्य चिह्न नूपुर भुजाओंके आभूषण बाजूबन्ध (अंगद), गलेकी कण्ठी ॥ ५८ ॥

श्रीवत्समणि युक्त मुक्तादाम, छोटी-छोटी घंटियों युक्त रसना तथा पैरको ढक लेनेवाला चरणभूषण पायल इन सब भूषणोंको शरीरपरसे नोच, झटक कर दिशा, विदिशाका ख्याल किये बिना ही रानियाँ इधर-उधर फेंकती जाती थीं ॥ ५९ ॥

शोकके आवेगसे उत्पन्न इन क्रियाओंके द्वारा म्लान रानियोंकी कान्ति तथा तेज नष्ट होता जा रहा था उनके द्वारा शरीरपरसे उतारकर फेंके गये भूषणोंसे पृथ्वी पट गयी थी । भूषणयुक्त पृथ्वीकी शोभा वैसी ही थी जैसी कि ग्रह, नक्षत्र तथा ताराओंसे प्रकाशमान आकाशकी होती है ॥ ६० ॥

उस दुःखकी घड़ीमें लगभग सबही अन्तःपुरकी रानियाँ विशेषकर युवराजकी सब ही वधुएँ अपने-अपने महलोंसे आकर वहाँ इकट्ठी हो गयी थीं । इनमें जो वधु युवराजकी परम प्रिय थी वह उठकर खड़ी हो गयी थी और दोनों हाथ जोड़कर महाराज धर्मसेनसे निवेदन कर रही थी ॥ ६१ ॥

'हे पिताजी ! पतिसे वियुक्त होकर हम सब अब और अधिक समय तक जीनेमें सर्वथा असमर्थ हैं, अतएव अब आपको हृदय कड़ा करके हमपर अनुग्रह करना ही चाहिये, मैं तो अब जलती ज्वालामें प्रवेश करती हूँ ॥ ६२ ॥

---

१. म °प्राकटाङ्गदम् ।

राजा निशम्य तद्वाक्यं द्विगुणं दुःखविद्रुतः । क्षरन्नेत्रोदकार्द्रास्यः प्रत्युवाच ततः स्नुषाम् ॥ ६३ ॥
मैवं त्वनुपमे मंस्थास्तदत्यन्तमशोभनम् । असंमतं च साधूनां पुनर्दुःखाय कल्प्यते[1] ॥ ६४ ॥
शस्त्ररज्ज्वादिघातश्च मण्डलेन च साधनम् । भृगुप्रपतनं चैव जलवह्निप्रवेशनम् ॥ ६५ ॥
देहत्यागश्च गृद्ध्रेभ्यो जिह्वोत्पाटविषाशनम् । एतानि मरणान्यार्यैर्निषिद्धानि महात्मभिः ॥ ६६ ॥
निःशीला निर्नमस्कारा निर्व्रता निर्गुणा नराः । जरामरणरोगार्ताः क्लिश्यन्तीति विनिश्चिनु ॥६७॥
त्रिलोकगुरवोऽर्हन्तः सर्वज्ञास्तत्त्वदर्शिनः । ते पवित्रं च माङ्गल्यं मत्कुलस्य ममापि च ॥ ६८ ॥

"प्रवाहे रेवावधर्यते

इस हताशापूर्ण निश्चयको सुनते ही राजाका पुत्रवियोगसे उत्पन्न दुःख दुगुना हो गया था, शोकके आवेगसे वे पिघल-से उठे थे, अतएव उनके ऐसे स्वभावसे ही धीर गम्भीर व्यक्तिका मुख भी अश्रुधारासे भीग गया था तथापि हृदयको कड़ा करके उन्होंने पुत्रवधुओंको समझाया था ॥ ६३ ॥

'बेटी अनुपमा ! तुम इस प्रकारकी बात सोचो भी मत, आत्महत्या अत्यन्त अशोभन कार्य है, इसीलिए पुराण, आचार्यों तथा साधु पुरुषोंने इसको करनेका उपदेश नहीं दिया है, अपितु तीव्रतम विरोध किया है। क्योंकि ऐसा करनेसे इस भवमें आ पड़ी विपत्तिका भी उपशम नहीं होता है, इतना ही नहीं भव-भवके दुःख बढ़ते हैं ॥ ६४ ॥

आत्महत्या हिंसा है

किसी हथियारसे गला आदि काटकर मृत्युको बुलाना, गलेमें रस्सीकी पांश डालकर प्राण त्याग देना, तलवार या भालेकी नोकपर गिरकर, शरीरको वेधकर, पहाड़के उन्नत शिखरपरसे गिरना, पानीमें डूब कर मरना ॥ ६५ ॥

लपलपाती आगकी ज्वालामें कूदकर प्राण दे देना, जंगल आदि एकान्त स्थानमें जाकर पड़ जाना और अपनी देहको गीध, चील, आदि पंछियोंसे नुचवाकर त्याग देना, जिह्वा काटकर फेंक देना तथा विष खा कर प्राण त्यागना इन सब आत्म-हत्याके उपायोंका जगत्-पूज्य श्रेष्ठ महात्माओंने निषेध किया है ॥ ६६ ॥

हे पुत्रि ! जो सच्चे देव, शास्त्र तथा गुरुकी नति नहीं करते हैं, व्रतोंसे दूर भागते हैं, गुणोंको गर्हणा करते हैं, शील सदाचारसे जिनकी भेंट भी नहीं है तथा रोगों, बुढ़ौती तथा मृत्युसे जो सदा आक्रान्त रहते हैं, ऐसे अज्ञानी लोग ही उक्त ढंगोंसे अपने प्राणोंका विध्वंस करते हैं ॥ ६७ ॥

किन्तु तुम जानती ही हो कि श्री अर्हन्त परमेष्ठी अपनी विशाल तपस्या, सर्वांग ज्ञान तथा लोकवात्सल्यके कारण तीनों लोकोंके पथ प्रदर्शक गुरु हैं क्योंकि वे समस्त तत्त्वोंके साक्षात् द्रष्टा हैं, सर्वज्ञ हैं। उनका ही आदर्श मेरे कुल तथा मेरी दृष्टिमें पवित्र है तथा कल्याणकारी है ॥ ६८ ॥

१. [कल्पते]।

करोषि यदि मद्वाक्यं धर्मे धत्स्वात्मनो मतिम् । शनैरेव महाम्भोधिं तारयत्यापदार्णवम् ॥ ६९ ॥
इत्युक्ता भूभुजा साध्वी श्वशुरं धर्मवत्सलम् । यस्त्वया शिष्यते धर्मः स एवोपास्यते मया ॥ ७० ॥
इति तस्या वचः श्रुत्वा नरेन्द्रः प्रीतमानसः[1] । स्नुषाशोकविनाशाय साधूनामन्तिकं ययौ ॥ ७१ ॥
राजा ताभिः समाश्रित्य शान्तं यमधरं मुनिम् । परिक्रम्य प्रणम्यैवं प्रोवाच विनयान्वितः ॥ ७२ ॥
युवराजवियोगेन दुःप्र[2]तिज्ञास्ववस्थिताः । एतासां बुद्धिमास्थाप्य सद्धर्मं प्रतिपादय ॥ ७३ ॥
ततो मुनिपतिस्तासां शोकनिष्टप्तचेतसाम् । वक्तुं मनःप्रसादाय प्रारब्धो मधुरा गिरा ॥ ७४ ॥

अतएव यदि बेटी मेरा कहना मानो तो वीतराग सर्वज्ञ प्रभुके द्वारा उपदिष्ट धर्मके आचरणमें मन तथा शरीरको लगाओ। वीतराग तीर्थंकरोंका जैनधर्म ही नौकाके समान अपने आश्रितोंको आपत्तिरूपी महासमुद्रके पार ले जाता है ॥ ६९ ॥

धर्म ही शरण है

धर्मनिष्ठ राजाके द्वारा उक्त प्रकारसे ढाढस दिलाये जानेपर सती साध्वी अनुपमाने अपने धर्मवत्सल ससुरसे सविनय इतना ही निवेदन किया था—'हे पिताजी ! आप जिस धर्मपर श्रद्धा करनेको कह रहे हैं मेरे द्वारा भी मन, वचन, कायसे उसी धर्मकी उपासना की जाती है ॥ ७० ॥

प्रधान पुत्रवधू अनुपमा देवीके उत्तरको सुन कर राजा मन ही मन अपनी बहूकी योग्यतापर बड़े प्रसन्न हुए थे। अतएव अपनी नवोढा पुत्रवधुओंके वियोगजन्य शोककी ज्वालाको शान्त करनेके अभिप्रायसे ही वे विषयनिर्लिप्त निर्ग्रन्थ साधुओंकी सेवामें गये थे ॥ ७१ ॥

धर्मो रक्षति रक्षितः

सब पुत्रवधुओंको साथ लेकर महाराज धर्मसेन मुनिराज यमधरके चरणोंमें पहुँचे थे, जो परमशान्त योगी थे। पहुँचते ही अपने कुटुम्बके साथ महाराजने उनकी तीन प्रदक्षिणा की थीं तथा साष्टांग प्रणाम करनेके उपरान्त पूर्ण विनयपूर्वक महाराजसे निवेदन किया था ॥ ७२ ॥

'हे गुरुवर ! एक दुष्ट घोड़ा युवराज वरांगको किसी अज्ञात दिशामें ले गया है अतएव अपने पतिके वियोगसे विह्वल होकर मेरी पुत्रवधुएँ शास्त्रके विरुद्ध कुप्रतिज्ञाएँ करके उन्हें पूर्ण (आत्मवध) करनेपर तुली हैं। आप अनुग्रह करके इनमें सन्मति जगा कर इन्हें वीतरागधर्मका उपदेश दीजिये' ॥ ७३ ॥

विवेक दृष्टि

'मुनिवरने देखा कि राजपुत्रकी सब बहुओंके चित्त शोककी ज्वालामें तप कर कर्त्तव्य तथा अकर्तव्यके ज्ञानसे हीन हो

---

१. म प्रीति°। २. क दुःप्रतिज्ञाः।

प्रायेण प्राणिनो दुःखं सुखमत्यल्पमुच्यते । संस्काराः क्षणिकाः सर्वे भङ्गुराः प्रियसंगमाः ॥ ७५ ॥
यौवनं बाधते नृणामैश्वर्यं त्वनवस्थितम् । आयुर्वायुविनिर्धूततृणलग्नाम्बुचञ्चलम् ॥ ७६ ॥
प्रीतिः सन्ध्याम्बुदाभेव संपदो विद्युता समाः । नानारूपा रुजस्तीव्रास्तनवः फेनदुर्बलाः ॥ ७७ ॥
कस्य माता पिता कस्य कस्य भार्या सुतोऽपि वा । जातौ जातौ हि जीवानां भविष्यन्ति परे परे ॥७८॥
आत्मैव चात्मनो बन्धुरात्मा चैवात्मनो रिपुः । आत्मनोपार्जितं कर्म चात्मनैवानुभुज्यते ॥ ७९ ॥
प्रीतिपूर्वं कृतं पापं मनोवाक्कायकर्मभिः । न निवारयितुं शक्यं संहितैस्त्रिदशैरपि ॥ ८० ॥

गये हैं अतएव उनके रागके रंगमें रंगे हृदयोंको शान्त तथा स्वच्छ एवं स्थिर करनेके लिए उन्होंने मधुर वाणीसे समझाना प्रारम्भ किया था ॥ ७४ ॥

प्रायः करके संसारमें जीव दुःख ही सदा भरते हैं सुख तो इतना कम है कि कभी-कभी प्राप्त होता है। पर सुख दुःख ही क्या, सब ही संस्कार क्षणिक हैं आपाततः प्राणप्रिय जनोंका समागम ही कैसे नित्य हो सकता है ? वह भी अन्य संस्कारोंकी भाँति नष्ट होता ही है ॥ ७५ ॥

जिसका उभार आनेपर मनुष्य अपनेको सब कुछ समझता है उसी यौवनको कुछ समय बाद रोग, बुढ़ापा आदि जर-जर कर देते हैं, जिसका अभिमानरूपी नशा मद्यसे भी भयंकर होता है उस वैभवकी चंचलता कौन नहीं जानता ? कौन नहीं देखता है कि यह जीवन उस ओसकी बूँदके समान हैं जो वायुके झोंकोंसे हिलते दूबके तिनके पर जमा रहता है ॥ ७६ ॥

प्रीतिके रहस्यको समझना है तो सन्ध्या समय बादलोंकी मनमोहक लालिमापर दृष्टि डालो, सम्पत्तिके स्वरूपको आकाशमें कौंधनेवाली विद्युत रेखा ही साक्षात् दिखा देती है। रोगोंके भेदों तथा उनकी कष्ट देनेकी सामर्थ्यको पूर्णरूपसे बताना असंभव है तथा जिस शरीरमें यह रोग उत्पन्न होते हैं वह पानीके बुद्बुदेसे भी दुर्बल है ॥ ७७ ॥

कौन किसकी माता है ? कौन किसका पिता है ? किसकी कौन जीवनसहचरी है ? तथा कौन किसका पुत्र हो सकता है ? अरे ! यह सब जन्म-जन्ममें बदलते जाते हैं तथा नये नये जीव यह स्थान ग्रहण करते रहते हैं ॥ ७८ ॥

तथ्य तो यह है कि आत्मा ही स्वयं अपना परमहितैषी बन्धु है। तथा आत्मा ही अपने आपका दारुण शत्रु है। आत्मा स्वयं जिन शुभ अशुभ कर्मोंको करता है उन सबके भले बुरे परिणामको भी वही भरता है ॥ ७९ ॥

यदि कोई आत्मा अभिरुचिपूर्वक मन, वचन तथा कायसे किसी पापको करता है तो वह उसके परिपाक होनेपर उदय-में आवे उसके फलको नहीं रोक सकता, साधारण आत्माकी तो शक्ति ही क्या है; यदि समस्त देव लोग भी इकट्ठे होकर प्रयत्न करें तो वे भी नहीं रोक सकते हैं ॥ ८० ॥

बन्धुभिर्भृत्यमित्रैर्वा मन्त्रोपायबलैरपि । वित्तैर्वात्मकृतं पापं तदशक्यमसेवितुम्[1] ॥ ८१ ॥
यद्यद्विनिर्मितं कर्म येन येनान्यकर्मणि[2] । तस्य तस्यानुमार्गेण तदिहागत्य तिष्ठति ॥ ८२ ॥
अज्ञानावृतचित्तानां रागद्वेषवतां नृणाम् । क्षणवद्वृद्धिमाप्नोति तत्कर्म यदनेकधा ॥ ८३ ॥
तीव्रमध्यममन्दैस्तु परिणामप्रपञ्चनैः । तीव्रमध्यममन्दं तत्फलमात्मा समश्नुते ॥ ८४ ॥
हिंस्यन्ते हिंसकाः [3]पापैरापद्यन्तेऽपवादकाः । मुष्यन्ते मोषकास्त्वन्यैर्विलुप्यन्ते विलोपकाः ॥ ८५ ॥
बध्यन्ते बन्धकास्तीव्रं रुध्यन्ते रोधकाः पुनः । बाधकास्तु विबाध्यन्ते द्विष्यन्ते द्वेषकारिणः ॥ ८६ ॥

बन्धु बान्धवोंकी सहायताके द्वारा, सेवकों और मित्रोंके बलसे, मन्त्रोंका शक्ति या अन्य योजनाओंके चमत्कारके कारण अथवा असंख्य संपत्तिके बलपर भी कोई व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता है कि उसे पूर्वकृत कर्मका फल न भोगना पड़े ॥ ८१ ॥

कर्म ही विधाता है

पूर्वजन्ममें जो जो भले बुरे कार्य जिस जिस शुभ या अशुभ द्वारसे किये जाते हैं उन उन समस्त कर्मोंके फल उत्तर-कालमें उन उन व्यक्तियों या उन्हीं व्यक्तियोंके द्वारा ही प्राप्त होते हैं ॥ ८२ ॥

किन्तु जिन प्राणियोंके चित्तोंको अज्ञानरूपी अन्धकारने घेर लिया है, जिन व्यक्तियोंकी प्रकृति राग तथा द्वेषसे व्याप्त है, उनके लिए ही क्षणके समान अल्पकालीन पाप कर्मोंका फल अनन्तकालके समान अनेक रूपों द्वारा बढ़ता है ॥ ८३ ॥

साधारणतया जीवोंके परिणाम तीव्र, मध्यम तथा मन्दके भेदसे तीन ही प्रकारके होते हैं, फलतः इन आधारोंके अनुसार ही पापकर्मोंका फल भी आत्माको क्रमशः तीव्र, मध्यम तथा मन्द सुख दुःख आदिका अनुभव कराता है ॥ ८४ ॥

कानके लिए कान

जो स्वयं हिंसा करते हैं वे दूसरे पापी हिंसकोंके द्वारा मारे जाते हैं। दूसरोंको बुराई करनेमें ही जिन्हें सुख मिलता है उनकी भी दूसरे खूब बुराई करते हैं। चोरोंको भी उनसे अधिक बलवान् लूट लेते हैं, जो दूसरोंकी धरोहरें लुप्त कर देते हैं अन्य लोग उनके साथ भी वैसा ही करते हैं ॥ ८५ ॥

दूसरोंको बन्धनमें डालनेवाले स्वयं भी बन्धनके तीव्रतम दुःख सहते हैं, अन्य पुरुषोंकी गतिविधिमें बाधा देनेवालोंको अलंघ्य बाधाओंका सामना करना पड़ता है ॥ ८३ ॥

---

१. म तदशक्यं निषेवितुं । २. [येनान्यजन्मनि] । ३. क पापैरुपाद्यन्ते, [पापैरपाद्यन्ते] ।

दण्ड्यन्ते दण्डका दण्डैः शुच्यन्ते शोचकारिणः । वञ्चकास्तु प्रवञ्च्यन्ते वियुज्यन्ते वियोजकाः ॥८७॥
सायं पादपमभ्येत्य निशायां तु सहोषिताः । इतोऽमुतः प्रभाते तु यथा गच्छन्ति पक्षिणः ॥ ८८ ॥
तथा कुलतरुं प्राप्य मर्त्या दुरितवृत्तयः । सहोषित्वा पुनर्यान्ति [1]स्वकर्मवृतवर्त्मना ॥ ८९ ॥
यथा नावं समारुह्य व्यतीत्य[2] कुलदुर्गमम् । स्वभाण्डमथ विक्रेतुं[3] भ्रमन्ति नगराकरान् ॥ ९० ॥
तथा कर्मपथारूढाः प्राणिनो दुःखभाजिनः । पापभाण्डं च विक्रेतुं[3] व्रजन्तोह [4]चतुर्गतीः ॥ ९१ ॥
यथा पतन्ति पर्णानि प्रकीर्णानि महीतले । संचीयन्तेऽनिलैकेन वियुज्यन्तेऽपरेण च ॥ ९२ ॥

जिनका व्यवसाय दण्ड देना है उनपर भीषण दण्ड लगाये जाते हैं, बिना कारण ही दूसरोंको रुलानेवाले स्वयं भी शोकमें घुल घुलकर रोते मरते हैं, क्या संसारके कुटिल ठग दूसरोंसे नहीं ठगे जाते हैं कौन ऐसा व्यक्ति है जो दूसरोंको विरह ह्निमें झोंककर स्वयं उससे अछूता रह गया हो, दूसरोंको घेरकर लूट खसोट करनेवाला कौन ऐसा है जो स्वयं घेरेमें न पड़ा हो, संसार भरसे द्वेष करके कौन व्यक्ति किसीका प्रेम पा सका है ॥ ८७ ॥

दुनिया रैन बसेरा

सन्ध्याके समय अनेक दिशाओं और देशोंसे उड़कर पक्षी किसी वृक्षपर पहुँचते हैं, रात भर सब एक साथ वहीं निवास करते हैं किन्तु प्रातःकाल अरुणोदय होते ही वे इधर उधर अपने अपने मार्गोंपर चले जाते हैं। क्या संसार समागमकी यही अवस्था नहीं है ॥ ८८ ॥

वैभाविक परिणतिकी प्रेरणासे दुष्कर्मोंमें लगे प्राणी पक्षियोंके समान ही किसी कुटुम्ब रूपी वृक्षका आश्रय लेते हैं, कुछ समय तक साथ साथ रहते हैं किन्तु अपने अपने कर्मोंके उदय होनेपर कर्मोंके द्वारा बनाये गये मार्गोंपर चले जाते हैं ॥८९॥

जैसे बहुतसे विभिन्न देशोंसे आगत यात्री एक ही नावपर सवार होकर कठिनतासे पार करने योग्य धारा या जलाशयको पार करते हैं, दूसरे किनारे पर उतरते ही वे अपनी अपनी सामग्रीको बेचनेके लिए अलग अलग अनेक नगरों तथा आकरोंको चले जाते हैं ॥ ९० ॥

इसी प्रकार दुःखोंकी सत्तारूपी भारसे लदकर कर्मरूपी महामार्गपर चलनेवाले समस्त जीव भी अपने पापोंके भारको बेचनेके लिए (उदयमें लाकर निर्जरा करनेके लिए) इस संसारकी चारों गतियोंमें घूमते हैं ॥ ९१ ॥

पतझड़का समय आनेपर वृक्षोंके पत्ते अपने आप इधर उधर गिर जाते हैं, फिर वसन्तकी समीरका एक झोंका आता है, उन सब पत्रोंका एक ढेर कर देता है, थोड़ी देर बाद दूसरा आता है और न जाने उन्हें किधर किधर बिखेर देता है ॥ ९२ ॥

---

१. म स्वकर्मकृत° । २. क व्यतीतकुल° । ३. म विक्रीतुं । ४. म च दुर्गतीः ।

तथा जीवाः समुद्भूताः प्रकीर्णा हि महीतले । चोयन्ते कर्मणैकेन नीयन्ते स्वपरेण च ॥९३॥
यथोदितस्य सूर्यस्य ध्रुवं पतनमग्रतः । प्रदीप्तस्य प्रदीपस्य चोपशान्तिर्यथोदिता ॥९४॥
यथा नभसि मेघानां विलयः पुरतः स्थितः । तथा जातस्य जीवस्य मरणं ध्रुवमग्रतः ॥९५॥
पार्थिवाः खेचराश्चैव केशवाश्चक्रवर्तिनः । मानवा ब्रह्मरुद्राश्च योगसिद्धा दमेश्वराः ॥९६॥
इन्द्राश्च चन्द्रसूर्याख्या[1] लोकपालास्त्वनीकिनः । पतन्ति स्वेषु कालेषु त्राता कश्चिन्न विद्यते ॥९७॥
यथैव मत्तमातङ्गः प्रविश्य कदलीवनम् । पाद[2]दन्तकराग्रैश्च प्रमृद्नाति मुहुर्मुहुः ॥९८॥

सांसारिक समागम भी ऐसे ही हैं, अनादिकालसे वर्तमान जीव-लोकमें जीव इधर उधर सब स्थानोंपर व्याप्त हैं। किसी एक कर्मका थपेड़ा उन्हें एक कुल, पुरा, नगर, देश आदिमें इकट्ठा कर देता है, किन्तु दूसरा उन्हें यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखेर देता है ॥ ९३ ॥

अवनति ही निश्चित है

यह ध्रुव सत्य है कि जो सूर्य प्रातःकाल उदित होकर सारे संसारकी आँखें अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है वह मध्याह्नको पूर्ण प्रतापी होकर आगे सन्ध्या तक पहुँचते-पहुँचते अस्त हो जाता है। जो दीपक जलाये जानेपर आसपासके स्थल-को आलोकित कर देता है वह भी अन्त समय आनेपर बुझ ही जाता है ॥ ९४ ॥

आकाशमें मेघोंके एकसे एक उत्तम आकार बनते हैं, किन्तु वे देखते-देखते ही विलीन हो जाते हैं इसी प्रकार जो जीव जन्म लेकर प्रकट हुआ है वह आयु समाप्त होनेपर मृत्युके कारण अवश्य ही कहीं लीन हो जायेगा ॥ ९५ ॥

मृत्युमें आश्चर्य नहीं

परम प्रतापी राजा लोग, अलौकिक विद्याओंके अधिपति खेचर, अनन्त प्रभावशाली नारायण (राम, बलभद्रादि), भरत, आदि षट्खंड विजयी चक्रवर्ती, शलाका पुरुष, रुद्र (शिव, द्वीपायनादि) यौगिक सिद्धियोंके अधिष्ठाता तांत्रिक मांत्रिक ॥ ९६ ॥

इन्द्रिय निग्रही परम तपस्वी, सोलह स्वर्गोंके इन्द्र, परम उद्योतमान चन्द्रमा और सूर्य, यम, वरुण, कुबेर आदि लोकपाल तथा लक्ष्मण अर्जुनके समान महासेनापति भी जब आयुकर्म समाप्त हो गया तो ये सब क्षुद्र कीटको तरह मृत्युके मुखमें पड़े। कोई भी शक्ति उनकी रक्षा नहीं कर सकी ॥ ९७ ॥

आयुकर्मकी बलवत्ता

जैसे कोई मदोन्मत्त हाथी किसी कदली वनमें घुस जावे तो वह बिना किसी संकोचके जिधर भी बढ़ता है उधर ही केलेके पेड़ोंको पैरोंसे कुचलकर, दाँतोंसे फाड़कर तथा सूँडसे मरोड़कर बार-बार मसलता है ॥ ९८ ॥

---

१. म °सूर्याख्यो । २. क पाददण्ड° ।

तथैव मृत्युमातङ्गस्तिर्यग्नरसुरासुरान् । प्राप्तकालान्प्रमृद्नाति दिवानिशमवारितः ॥९९॥
तिर्यग्योनिषु सर्वासु मर्त्यदैत्यामरेषु च । नारकेषु च दुर्वार्यो विहरत्यन्तकः सदा ॥१००॥
विषैश्च विषमाहारैः पानीयैरनलानिलैः । शस्त्रोल्कावह्निसंपातैर्व्याधिरूपैरुपैति सः ॥१०१॥
जरया मृत्युना जात्या क्लेशाननुभवंश्चिरम् । आत्मा संसारवासेऽस्मिन्बम्भ्रमीति पुनः पुनः ॥१०२॥
यत्र जीवस्य जातिः स्यात्तत्रावश्यं जरा भवेत् । जरापरीतगात्रस्य ध्रुवं मृत्युर्भविष्यति ॥१०३॥
जातेर्दुःखं परं नास्ति जरसः कष्टं न विद्यते । भयं च मृत्युतो नास्ति तत्र यत्सेव्यते ध्रुवम् ॥१०४॥
ह्योविद्धि[1] निर्गतं जन्म स्वोदच्च[2] तदनागतम् । अद्यवद्वर्तमानं स्यादित्युक्तं कर्मदर्शिभिः ॥१०५॥

उसी प्रकार मृत्यु (आयुकर्मकी समाप्ति) रूपी पागल हाथी नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देवगतिरूपी कदली वनोंमें घूमता है। तथा जिन जीवोंके आयु कर्मकी इतिश्री आ पहुँचती है उन्हें दिन रात निर्दयतापूर्वक कुचलता जाता है, उसे कोई रोक नहीं सकता है ॥ ९९ ॥

अंत करनेवाला (यम = आयुकर्म) तिर्यञ्च, मनुष्य, अमर तथा नारकों सब ही योनियोंमें अबाधरूपसे घूमता है संसारकी कोई शक्ति उसको रोक नहीं सकती है ॥ १०० ॥

वह विषके प्रयोग, अनियत असंयत भोजन-पान, अग्निकाण्ड, आँधी अथवा विषाक्त वायुप्रवाह, युद्ध प्रसंग, वज्रपात, साधारण आग तथा विविध प्रकारके अनेक रोगोंके रूपमें संसारके प्राणियोंपर झपटता है ॥ १०१ ॥

परवशता, पराधीनता तथा उत्साहहीनतामय बुढ़ापा, किये करायेको स्वाहा करनेवाली मृत्यु, गर्भावासके महा दुखोंसे पूर्ण जन्मके प्रसंगों द्वारा यह आत्मा इस संसार चक्रमें पुनः पुनः बिना रुके ही चक्कर काटता है ॥ १०२ ॥

त्रिदुःख

जहाँ पर किसी जीवका जन्म होता है वहाँपर निरपवादरूपसे वृद्धावस्थाका आविर्भाव होता ही है, तथा जब किसी प्राणीके शरीरको बुढ़ौतीने जरजर कर ही दिया है तो उसकी यदि कोई बात अटल है तो वह मृत्यु ही है ॥ १०३ ॥

संसारमें अनन्त दुःख हैं पर कोई भी दुःख प्रसवके दुःखोंकी समानता नहीं कर सकता है, कष्ट भी संसारमें एकसे एक बढ़कर हैं पर बुढ़ौतीका कष्ट सबसे बढ़कर है, इसी प्रकार त्रिलोकमें कोई ऐसा भय नहीं है जिसको तुलना मृत्युभयसे की जा सके। तथा सबसे बड़ी परवशता तो यह है कि इन तीनों घाट सबको ही उतरना पड़ता है ॥ १०४ ॥

जो कर्मोंके शास्त्रके विशेषज्ञ हैं उनके मतसे जन्मको बीते हुए कलके समान समझना चाहिये, जो अब तक सामने नहीं

---

१. [ह्योविद्धि]। २. क स्वोवच्च, [श्वोवच्च]।

रात्रिस्तमोमयी चात्र कृतान्तं समुपेष्यति । कश्चिद्बन्धुर्न हि त्राता कुतो धर्मोऽभिरक्षति ॥ १०६ ॥
धर्मो दयामयः प्रोक्तो जिनेन्द्रैर्जितमृत्युभिः । तेन धर्मेण सर्वत्र प्राणिनोऽश्नुवते सुखम् ॥ १०७ ॥
तस्माद्धर्मे मतिं धत्स्व यूयमिष्टफलप्रदे । स वः सुचरितो भर्तुः संयोगाय भविष्यति ॥ १०८ ॥
एको धर्मस्य तस्यात्र सूपायः स तु विद्यते । तेन पापास्रवद्वारं नियमेनापि दीयते[1] ॥ १०९ ॥
व्रतशीलतपोदानसंयमोऽर्हत्प्रपूजनम् । दुःखविच्छित्तये सर्वं प्रोक्तमेतदसंशयम् ॥ ११० ॥
अणुव्रतानि पञ्चैव [2]त्रिःप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि इत्येतद्द्वादशात्मकम् ॥ १११ ॥

आया है उस आनेवाले कलके समान मरणको जानना आवश्यक है तथा जो आत्मापर घट रहा है उसे वर्तमान पर्यायकी तुलना 'आज' से की गयी है ॥ १०५ ॥

अज्ञानके गाढ़ अन्धकारसे व्याप्त रात्रि इस संसारमें सदा ही रहती है अतएव कृतान्त रूपी चोरको सदा अवसर मिलता है वह आयेगा और ले भागेगा, कोई भाई बन्धु या रक्षक उससे न बचा पायेगा, केवल उस धर्मको छोड़कर जिसका कि जीवने स्वयं आचरण किया है ॥ १०६ ॥

वीतराग तीर्थंकरोंने तपस्याके द्वारा मृत्युको जीता था, उनके उपदेशके अनुसार दयापूर्ण आचार-विचार ही धर्म है, क्योंकि इस धर्मको धारण करने तथा आचरण करनेसे ही संसारके जीव सुख पा और दे सकते हैं ॥ १०७ ॥

दया धर्मका मूल

अतएव हे राजबधुओ ! तुम सब उस दयामय धर्ममें ही अपने आपको लगाओ, क्योंकि वह सब ही अभिलषित पदार्थोंकी प्राप्ति कराता है । तब कोई कारण नहीं कि उसका विधिपूर्वक आचरण करनेपर भी आप लोगोंका पतिसे पुनः संयोग न हो ॥ १०८ ॥

इस संसारमें सब अशुभोंका सफल प्रतीकार एक ही है, वह है पूर्वोक्त दयामय धर्म । यह निश्चित है कि पापकर्मोंके आनेका द्वार यदि किसीके द्वारा नियमसे बन्द हो सकता है तो वह धर्म ही है ॥ १०९ ॥

अणुव्रतों पालनीय हैं

अहिंसा आदि पाँच व्रतोंका पालन, सामायिक आदि सात शीलोंकी साधना, अभ्यन्तर तथा बाह्य तप, इन्द्रियोंका संयम तथा अष्टद्रव्यके द्वारा वीतराग प्रभुकी द्रव्य तथा भावपूजा ये सबके सब सांसारिक दुःखोंको जीर्ण करके बिखरा देनेके प्रधान उपाय हैं इसमें अणुमात्र भी संशय नहीं है ॥ ११० ॥

साधारणतया तीन श्रेणियोंमें विभक्त व्रतोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रहपरिमाणके भेदसे अणुव्रत

---

१. [नियमेनापिधीयते] । २. म त्रिःप्रकारगुण° ।

देवतातिथिप्रीत्यर्थं मन्त्रौषधिभयाय वा । न हिंस्याः प्राणिनः सर्वे अहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥ ११२ ॥
लोभमोहभयद्वेषैर्मायामानमदेन वा । न कथ्यमनृतं किंचित्तत्सत्यव्रतमुच्यते ॥ ११३ ॥
क्षेत्रे पथि कले[1] वापि स्थितं नष्टं च विस्मृतम् । हार्यं न हि परद्रव्यमस्तेयव्रतमुच्यते ॥ ११४ ॥
स्वसृमा[2]तृस्वसाप्रख्या द्रष्टव्याः परयोषितः । स्वदारैरेव संतोषः स्वदारव्रतमुच्यते ॥ ११५ ॥
वास्तुक्षेत्रधनं धान्यं पशुप्रेष्यजनादिकम् । [3]परिमाणं कृतं यत्तत्संतोषव्रतमुच्यते ॥ ११६ ॥

पाँच प्रकारके हैं। गुणव्रतोंके दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदण्डत्यागव्रत ये तीन विभाग हैं तथा शिक्षाव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण तथा अतिथिसंविभागके भेदसे चार प्रकारका है, इस प्रकार सब व्रतोंकी संख्या बारह होती है ॥ १११ ॥

अहिंसाकी सरल परिभाषा

देवताओंको प्रसन्न करके उनकी कृपा प्राप्त करनेके लिए घरपर आये अतिथिका सत्कार करनेके लिए (वैदिक कथा है कि जब बाल्मीकिके यहाँ विश्वामित्र गये थे तो स्वयं अहिंसक वाल्मीकिने राजर्षिके स्वागतके लिए गाय मरवायी थी। आजकल भी लोग म्लेच्छ अधिकारियोंकी पार्टीमें 'टिनड्' मांस आदिकी व्यवस्था करते हैं), मन्त्र साधनेकी लिप्सासे (सुअर आदि काटना), औषधिरूपसे (अण्डा, सोरवा एलोपैथ डाक्टर खिलाते हैं) अथवा किसी भयके कारण संसारके किसी भयके कारण संसारके किसी भी प्राणीको नहीं मारना चाहिये। इसे ही अहिंसा अणुव्रत कहते हैं ॥ ११२ ॥

सत्यका सरल स्वरूप

किसी प्रकारके लोभकी प्रेरणासे, किसी विषयके उत्कट मोहके कारण, डराने धमकानेसे, वैमनस्यका प्रतिशोध करनेकी अभिलाषासे, मायाचार या चाटुकारिताके प्रसंगमें, अहंकार या किसी और दम्भके कारण किसी भी प्रकारके असत्यको जिह्वापर न लानेको ही सत्य अणुव्रत कहते हैं ॥ ११३ ॥

अस्तेयका रूप

साधारण स्थल या खेतमें, मार्गपर अथवा खलिहानमें रक्खी हुई, प्रमादसे गिरी हुई अथवा भूली हुई किसी भी वस्तुको उसके स्वामीकी स्वीकृतिके बिना न उठानेको ही अस्तेय अणुव्रत कहते हैं ॥ ११४ ॥

स्वदार-संतोष

अपनी विवाहित पत्नीके अतिरिक्त संसारकी सब ही देवियोंको अपनी माता, बहिन तथा बेटीकी श्रेणीमें रखकर देखना, सोचना तथा चर्चा करना, साथ ही साथ अपनी पत्नियों (पत्नी) से परम संतुष्ट रहनेको स्वदारसन्तोष व्रत कहते हैं ॥ ११५ ॥

परिग्रहपरिमाण

महल-मन्दिर-मठ आदि, बगीचा-खेत-जमींदारी आदि, सोना-चाँदी आदि धन, व्यापार आदिकी दृष्टिसे अन्नोंका

---

१. [कुले]। २. [°मातृसुता°]। ३. म परिमाणकृतं ।

ऊर्ध्वाधो दिग्विदिक्स्थानं कृत्वा यत्परिमाणतः । पुनराक्रम्यते नैव प्रथमं तद्गुणव्रतम् ॥ ११७ ॥
गन्धताम्बूलपुष्पेषु स्त्रीवस्त्राभरणादिषु । भोगोपभोगसंख्यानं द्वितीयं तद्गुणव्रतम् ॥ ११८ ॥
दण्डपाशबिडालाश्च[1] विषशस्त्राग्निरज्जवः । परेभ्यो नैव देयास्ते स्वपराघातहेतवः ॥ ११९ ॥
छेदं भेदवधौ बन्धगुरुभारातिरोपणम् । न कारयति [2]योऽन्येषु तृतीयं तद्गुणव्रतम् ॥ १२० ॥
शरणोत्तममाकल्प्यं नमस्कारपुरस्सरम् । व्रतवृद्धयै हृदि ध्येयं सन्ध्ययोरुभयोः सदा ॥ १२१ ॥

संचय, गाय-भैंस-बैल-घोड़ा-आदि पशु तथा सेवा टहल आदिके लिए आवश्यक किंकरोंके परिमाणका निश्चय कर लेना कि इतने-से अधिक नहीं रखेंगे, इसे संतोष अथवा परिग्रह-परिमाण व्रत कहते हैं ॥ ११६ ॥

दिग्व्रत

ऊपर तथा नीचे, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन दिशाओंमें तथा आग्नेय, वायव्य, नैऋत तथा ईशान विदिशाओंमें आने जानेके क्षेत्रका निश्चय करके फिर किसी भी कारणसे उसके बाहर न जानेको दिग्व्रत नामका गुणव्रत कहते हैं ॥ ११७ ॥

भोगोपभोगपरिमाण

तैल इत्र (क्रीम, स्नो, पाउडर आदि) आदि सुगन्धित पदार्थ, पान, पत्ता, सुरती (बीड़ी, सिगार आदि) फूल, माला आदि वरप्रसंगों, पत्नियों, कपड़ों तथा आभूषणों आदि उपभोग भोगोंको अपनी सात्त्विक आवश्यकताके अनुकूल तालिका बना-कर शेष सबके त्यागको भोगोपभोग-परिमाणव्रत कहते हैं ॥ ११८ ॥

अनर्थ-दण्डत्याग

डंडा फँसानेकी पास या रस्सी, चूहोंको स्वाभाविक शत्रु बिल्ली, विष, शस्त्र, आग, सांकल आदि ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य दूसरोंका सरलतासे वध कर सकता है। तथा उतनी ही आसानीसे आत्महत्या भी कर सकता है इन्हें किसीको न देना ॥ ११९ ॥

दूसरोंके नाक, कान आदि अंग न छिदवाना, न कटवाना, किसीको हत्या न करवाना, प्राणिमात्रको बन्धनमें डालने-का हेतु न होना तथा पशुओं तथा अन्य सब ही प्राणियोंपर उनकी सामर्थ्यसे अधिक भार न लदवाना, यह सब ही तीसरा अनर्थदण्डत्याग गुणव्रत है ॥ १२० ॥

सामायिक

चित्तको एकाग्र और शान्त करनेके कारण जो सबसे उत्तम शरण हैं ऐसे वीतराग प्रभुके आदर्शको पंच नमस्कार मंत्रके उच्चारणपूर्वक प्रातःकाल तथा सन्ध्या समय अप्रमत्त होकर मनसे सदा चिन्तवन करना सामायिक व्रत है ॥ १२१ ॥

---

१. क °बिरालाश्च । २. म योग्येषु ।

समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावनाः । आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥ १२२ ॥
मासे चत्वारि पर्वाणि तान्युपोष्याणि यत्नतः । मनोवाक्कायसंगुप्त्या स प्रोष[1]धविधिः स्मृतः ॥ १२३ ॥
चतुर्विधो वराहारः संयतेभ्यः प्रदीयते । श्रद्धादिगुणसंपत्त्या तत्स्यादतिथिपूजनम् ॥ १२४ ॥
बाह्याभ्यन्तरनैःसंग्याद्गृहीत्वा तु महाव्रतम् । मरणान्ते तनुत्यागः सल्लेखः स प्रकीर्त्यते ॥ १२५ ॥
इत्येतानि व्रतान्यत्र विधिना द्वादशापि ये । परिपाल्य तनुं त्यक्त्वा ते दिवं यान्ति सद्व्रताः ॥ १२६ ॥

संसारके प्राणियोंके योनि, श्रेणि, कुल तथा गोत्रकृत भेदको भुलाकर सबको एकसा समझना, इन्द्रियों और मनकी चंचलताको रोकना, स्व तथा परके लिए कल्याणकारक शुभ विचारोंको हृदयमें स्थान देना, दुःख, शोक, हानिके विचारोंसे उत्पन्न आर्त्तध्यान, वैर, प्रतिशोध आदि भावमय रौद्रध्यानको छोड़कर पूर्ण प्रयत्नपूर्वक चित्तको जिनेन्द्रके आदर्शमें लीन करनेको ही सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं ॥ १२२ ॥

प्रोषधोपवास

प्रत्येक मासमें दो अष्टमी तथा दो चतुर्दशी होती हैं। इस प्रकार कुल चार पर्व होते हैं। इन चारों पर्व दिनोंमें मनोगुप्ति (मनका पूर्ण नियन्त्रण) वचनगुप्ति (वचनका पूर्ण नियंत्रण) तथा कायगुप्ति (कायका पूर्ण नियंत्रण) का पालन करते हुए अत्यन्त सावधानीके साथ एकाशन या उपवास करनेको ही प्रोषध शिक्षाव्रत बताया है ॥ १२३ ॥

अतिथिसंविभाग

निर्ग्रन्थ संयमी मुनिराज शरीरकी स्थितिके लिए ही शास्त्रमें बतायी गयी विधिके अनुसार परम पवित्रतापूर्वक तैयार किये गये खाद्य, पेय आदि चार प्रकारके ही आहारको ग्रहण कर सकते हैं। अतएव उन्हें इस प्रकारके प्रासुक भोजनको श्रद्धा, भक्ति आदि दाताके आठ गुणोंके साथ नवधाभक्तिपूर्वक देनेको अतिथि पूजन (संविभाग) नामका तीसरा शिक्षाव्रत कहते हैं ॥ १२४ ॥

सल्लेखना

प्रामाणिक निर्यापकाचार्यके मुखसे जीवनके अन्तको निकट समझ कर दस प्रकारके बाह्य तथा चौदह प्रकारके अभ्यन्तर, इस प्रकार चौबीसों प्रकारके परिग्रहको पूर्णरूपसे त्यागकर पूर्ण अपरिग्रही रूपको प्राप्त करके अहिंसा आदि पाँचों महाव्रतोंको धारण कर लेना तथा मृत्यु आनेपर ऐसी विशुद्ध अवस्थामें शरीर छोड़नेको सल्लेखना शिक्षाव्रत कहते हैं ॥ १२५ ॥

इस प्रकार मैंने बारहों व्रतोंके संक्षिप्त लक्षण कहे हैं। मनुष्य भवमें जो प्राणी इन सबका विधिपूर्वक पालन करते हैं तथा अन्तमें मरण भी व्रतोंकी विधिके अनुसार ही करते हैं वे सच्चे व्रती श्रावक निश्चयसे अगले भवमें स्वर्ग पाते हैं ॥ १२६ ॥

१. क संप्रोषधविधिः ।

सौधर्मादिषु कल्पेषु संभूय विगतज्वराः । तत्राष्टगुणमैश्वर्यं लभन्ते नात्र संशयः ॥ १२७ ॥
अप्सरोभिश्चिरं रन्त्वा वैक्रियातनुभासुराः । भोगानतिशयान्प्राप्य निश्च्यवन्ते सुरालयात् ॥ १२८ ॥
हरिभोजोग्रवंशे वा इक्ष्वाकूणां तथान्वये । उत्पद्यैश्वर्यसंयुक्ता ज्वलन्त्यादित्यवद्भुवि ॥ १२९ ॥
विरक्ताः कामभोगेषु प्रव्रज्यैवं महाधियः । तपसा दग्धकर्माणो यास्यन्ति परमं पदम् ॥ १३० ॥
इत्येतद्यतिना प्रोक्तं दुःखविच्छित्तिकारणम् । ताश्च तद्वचनापास्तशोकाग्रहधियोऽभवन् ॥ १३१ ॥
अथोत्थाय मुनीन्द्रस्य पादौ नरपतेः स्नुषाः । प्रणम्य जगृहुः सर्वा व्रतान्युक्तानि शक्तितः ॥ १३२ ॥

स्वर्गसुख

जब वे यहाँसे मरकर सौधर्म, ऐशान आदि कल्पोंमें जन्म लेते हैं, तो वहाँ उन्हें किसी भी प्रकार दुःख शोक नहीं होता है। इतना ही नहीं अणिमा, महिमा, गरिमा आदि आठ ऋद्धियोंसे सुलभ ऐश्वर्य भी उन्हें प्राप्त होते हैं इसमें थोड़ा सा भी सन्देह नहीं है ॥ १२७ ॥

उनकी देह तेजमय तथा वैक्रियक (जिसे मनचाहे आकारमें बदल सकते हैं तथा जिससे अलग इच्छानुसार आकार धारण कर सकते हैं) होती है, बड़े लम्बे अरसे तक वे अनुपम सुन्दरी अप्सराओंसे रमण करते हैं, परिपूर्ण भोगों तथा अद्भुत अतिशयोंको प्राप्त करके आयुकर्म समाप्त होनेपर ही वे वहाँसे आते हैं ॥ १२८ ॥

देवायुको समाप्त करके जब वे इस पृथ्वीपर जन्म लेते हैं तो इस लोकके पूज्य हरिवंश, सर्वप्रधान, भोजवंश अथवा उग्रवंश शलाकापुरुषोंकी खान इक्ष्वाकुवंशमें ही उत्पन्न होते हैं। यहाँपर भी उन्हें इतना अधिक ऐश्वर्य और शक्ति प्राप्त होती है कि उसके कारण वे समुद्रान्त वसुधा तलपर सूर्यके समान तपते और प्रकाशित (मान्य) होते हैं ॥ १२९ ॥

वे भोग उपभोगकी असीम सम्पत्तिसे घिरे रहनेपर भी परम ज्ञानी होते हैं। अतएव कुछ समय बाद उन्हें संसारके विषय-भोग तथा कामवासनासे विरक्ति हो जाती है तो वे स्वैराचार विरोधिनी जिन-दीक्षाको धारण कर लेते हैं। फिर उग्र तपरूपी ज्वालाको प्रदीप्त करके उसमें कर्ममैलको भस्म करके परमपद मोक्षको प्रस्थान कर जाते हैं ॥ १३० ॥

रागाग्नि शान्ति

मुनिराज यमधरने इस प्रकारसे संक्षेपमें दुःखके समूल नाशके कारणोंको समझाया था युवराजकी विरहिणी पत्नियोंने यतिराजके उपदेशरूपी अमृतके प्रभावसे शोक दुःख तथा आत्महत्याकी हठको छोड़ दिया था ॥ १३१ ॥

महाराज धर्मसेनकी सब पुत्रवधुओंने उठकर विनयपूर्वक यतिपतिके चरणोंको शान्तचित्तसे प्रणाम किया था। इसके उपरान्त उन सबने ही अपनी सहनशक्तिके अनुकूल अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतोंको धारण किया था ॥ १३२ ॥

ततो राजा पुनस्तासां वियोगहतचेतसाम् । हृदयानन्दजननीं गिरमित्यमुवाच सः ॥ १३३ ॥
मा भूवं विक्लवाः सर्वा आसतां धर्मवाञ्छया । उपक्रान्तैरुपायैस्तैः कुमारं मृगयाम्यहम् ॥ १३४ ॥
परिणम्य मुनिं राजा भक्तिप्रेमार्द्रचेतसा । प्रणम्यान्तःपुरैः सार्धं स्नुषाभिश्च पुरं ययौ ॥ १३५ ॥
अथाप्यवा सुखासीनं राजानममितप्रभम् । चैत्यपूजाभिलाषिण्यश्चक्रुर्विज्ञापनं स्नुषाः ॥ १३६ ॥
ततो विज्ञापितो राजा कारयामास मासतः । शरत्कालाम्बुदाकारं जिनेन्द्रभवनं शुभम् ॥ १३७ ॥
मेघचुम्बितकूटाग्रं स्फुरत्केतुविराजितम् । चलद्घण्टारवोन्मिश्रं ज्वलत्काञ्चनपीठिकम् ॥ १३८ ॥

यह सब होनेपर भी राजाने देखा था कि उनके हृदयोंपर जो पतिवियोगसे ठेस लगी है वह निर्मूल नहीं हुई है अतएव उनके हृदयोंमें आशा और आनन्दका संचार करनेके लिए उसने फिरसे उनसे निम्न वाक्य कहे थे—'हे पुत्रियों ! तुम सब अब खेद खिन्न मत होओ ॥ १३३ ॥

शान्त चित्तसे धर्मके आचरणमें मनको लीन करते हुए समयको बिताओ। इस बीचमें, मैं भी सब दिशाओंमेंसे सब विधियोंसे फैलाये गये विविध उपायों द्वारा युवराज वरांगको ढूँढ़ता हूँ' ॥ १३४ ॥

दृढ़ता धर्मरुचि

मुनिराज यमधरके धर्मोपदेशका शोकसे विह्वल बहुओंपर साक्षात् प्रभाव देखकर महाराज धर्मसेनका हृदय भक्तिके उभारसे द्रुतहो पिघल, उठा था। अतएव उन्होंने भक्तिभावसे ऋषिराजकी तीन प्रदक्षिणाएँ करके प्रणाम किया था। तथा अपनी पुत्रवधुओं और रानियों आदि अन्तःपुरके साथ राजधानीको लौट आये थे ॥ १३५ ॥

जिन मन्दिर निर्माण

एक दिन महाराज धर्मसेन निश्चिन्तसे होकर शान्तिसे बैठे हुए थे, उनका अनुपम तेज चारों ओर छिटक रहा था किन्तु उसी अन्तरालमें पुत्रवधुओंने समाचार भेजा था कि 'हम सब श्री एकहजार आठ देवाधिदेव तीर्थंकर प्रभु की पूजा करना चाहती हैं ॥ १३६ ॥

बहुओंकी इस अभिलाषाका पता लगते ही महाराज धर्मसेनने एक अति विशाल जिन मन्दिर का निर्माण कराया था जिसका उत्सेध और रंग शरद् ऋतु के मेघोंके समान था। विशेषता यही थी कि ऐसा विशाल जिन मन्दिव एक मासमें ही तैयार हो गया था ॥ १३७ ॥

उस जिनालयका सबसे ऊपरी शिखर बादलोंका चुम्बन करता था, उस पर फहराये गये विशाल तथा विचित्र केतु आकाशमें लहरा रहे थे, सतत हिलते हुए घंटोंके गम्भीर नादसे वातावरण गूंजता रहता था तथा गर्भगृहमें निर्मित सोनेकी वेदी का आलोक सब दिशाओंमें जगमगा रहा था ॥ १३८ ॥

प्रतिमाः स्थापितास्तत्र नानारत्नविनिर्मिताः । भृङ्गारादर्शशङ्खादि परिवारोपशोभिताः ॥ १३९ ॥
पूर्वमष्टाह्निकं भक्त्या देव्यः कृत्वा महामहम् । प्रारब्धा नित्यपूजार्थं विशुद्धेन्द्रियगोचराः ॥ १४० ॥
चरुभिः पञ्चवर्णैश्च ध्वजमाल्यानुलेपनैः । दीपैश्च बलिभिश्चूर्णैः पूजां चक्रुर्मुदान्विताः ॥ १४१ ॥
उपवासेन तन्वङ्ग्यः शुद्धवाग्मनसःक्रियाः । स्तोत्रैर्मन्त्रैश्च गीतैश्च जिनान्सन्ध्यासु तुष्टुवुः ॥ १४२ ॥
शेषकालं जिनेन्द्राणां धर्मसंकथया तया । पुस्तवाचनया चापि गमयामासुरुत्तमाः ॥ १४३ ॥
कदाचित्संयतेभ्यस्ता दानधर्मपरायणाः । शुद्धयादिभिर्गुणैर्युक्ता पात्रदानानि संददुः ॥ १४४ ॥

उस महावेदीके ऊपर भाँति-भाँतिके वैडूर्य आदि रत्नोंसे निर्मित तीर्थंकरोंकी मनोज्ञ मूर्तियाँ स्थापित की गयी थीं। वेदी के चारों ओर भृंङ्गार, आदर्श, पंखा, चमर आदि अष्ट-प्रातिहार्य मंगल-द्रव्योंकी स्थापना की गयी थी। जिससे गर्भगृहकी शोभा और निखर उठी थी ॥ १३९ ॥

अष्टाह्निक विधान

सबसे पहिले राजाकी पुत्रवधुओंने आषाढ़, कार्त्तिक, फाल्गुनके अन्तिम आठ दिन पर्यन्त चलनेवाला नदीश्वरद्वीपका महा विधान किया था। इसके उपरान्त मन तथा इन्द्रियोंको सन्मार्गपर लानेमें सहायक नित्य-पूजा विधान प्रारम्भ किया था ॥ १४० ॥

वे प्रतिदिन पवित्र नैवेद्य, पांच रंगके पुष्पों, ध्वजा, माला, अभिषेक तथा अनुलेपन, रत्नोंके दीपक, चूर्ण किये गये चन्दन आदिकी बलि आदिके द्वारा वीतराग प्रभुकी पूजा करतीं और प्रसन्न होती थीं ॥ १४१ ॥

उन दिनों वे अपने मन, वचन तथा कायको भीतर बाहर शुद्ध रखती थीं, प्रतिदिन उपवास करती थीं जिससे शरीर दिनोंदिन कृश होते जाते थे। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन संध्यावन्दनाको जाती थीं और भाँति-भाँतिके स्तोत्रों और मंत्रों द्वारा जिनेन्द्र देवकी स्तुति करती थीं ॥ १४२ ॥

इन सबसे बचे शेष समयको भी वे कुलीन बहुएँ भगवान वीतरागकी धार्मिक कथा करनेमें व्यतीत करती थीं। अथवा जिन शास्त्रोंके पठन-पाठनमें लगाती थीं। वे उस समय आगम के अनुकूल विधिसे दान और धर्म करती, करती थकती न थीं कभी कभी वे शुद्धि, आदि अष्टगुणोंको धारण करती हुई इन्द्रियसंयमी यतियोंको उपकरण, शास्त्र, आदि उत्तम दान देती थीं ॥ १४३ ॥

धर्मकाम योग

युवराज वरांगकी पत्नियाँ उक्त प्रकारसे सत्पात्रको दान, महान व्रतोंका पालन, मन्दकषायिता आदि गुणों तथा

इत्येवं नृपवनिता व्यपेतशोका वानोरुव्रतगुणभावसक्ताः ।
देवानां सकलविदां ययाचिरे ताः पादेषु प्रणतधियः पतिं प्रतोष्टाः ॥ १४५ ॥
औत्सुक्यप्रतिहतमानसाः कदाचिद्गण्डा भ्न्तप्रणिहितचारुहस्तपद्माः ।
पक्ष्मा[2]ग्रश्रुतसलिला मुहुश्च सन्त्यः संदध्युर्वनृपति[3]समागमाशाम् ॥ १४६ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वरांगचरिताश्रिते
अन्तःपुरविलापो नाम पञ्चदशः सर्गः ।

●

वैराग्य आदि भावनाओंके आचरणोंमें लीन थीं फलतः उनका वियोग का शोक भी किसी मात्रामें उपशान्त हो गया था। समस्त द्रव्य पर्यायोंके साक्षात् द्रष्टा सर्वज्ञ प्रभुओंके चरणोंमें साष्टांग विनत होकर वे यही प्रार्थना करती थीं कि उनके पति का अभ्युदय हो ॥ १४५ ॥

इतना होने पर भी विरह जन्य उत्कण्ठाकी मेघमाला उनके हृदयपटल पर छा ही जाती थी, तब वे अत्यन्त हताश होकर अपनी कृश सुकुमार हथेलीपर कपोलोंको रख लेती थीं, उनके पलक आसुओंसे भींग जाते थे, उनसे अश्रुधार बह निकलती थी, बार बार शीतल श्वांस लेती थीं और सब कुछ भूलकर पतिके समागम की आशाके विचार-समुद्रमें डूब जाती थीं ॥ १४६ ॥

चारों वर्ग समन्वित सरल शब्द-अर्थ रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
अन्तःपुर,विलापनाम पञ्चदश सर्ग समाप्त ।

---

१. क °प्राणिहित. २, [°स्रुतसलिला]। ३. म समागताशां ।

षोडशः सर्गः

अथैवमुर्वीपतिसूनुरिभ्यैर्विभागवद्भिर्ललितैरुदारैः ।
तेषां च पुत्रैरनुगृह्यमाणो रेमे च तस्यां ललितापुह्वर्याम् ॥ १ ॥
क्रीडां यथा मत्तगजो वनेषु प्रलाल्यमानो गजकामिनीभिः ।
लेभे गतिं बन्धगतोऽपि तद्वत्स्वाभिर्नृपोऽप्यत्र हि दुष्क्रियाभिः ॥ २ ॥
एवं नृपस्यान्यनरेन्द्रपुर्यां व्यामिश्रयोगेन सुखासुखेन ।
कालोऽगमत्कर्मवशेन तस्य यशोगुणश्रीधनभाजनस्य ॥ ३ ॥
तस्यां तु पुर्यां वसति क्षितीन्द्रे प्रवृत्तमन्यत्प्रकृतं महद्यत् ।
यथागमं तद्विनिगद्यमानं शृण्वन्तु सन्तो गुणभारनम्राः ॥ ४ ॥

षोडश सर्ग

काहू उर दुचिताई

ललितपुरके श्रीमान् सेठ लोग धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों धन, धान्य आदिके विभाजनमें कुशल थे, शरीर और मन दोनोंसे सुन्दर थे तथा व्यवहारमें अत्यन्त उदार थे। इन लोगोंके सब ही गुण इनके पुत्रोंमें भी थे। फलतः इन सबके अनुग्रह को स्वीकार करता हुआ पृथ्वीपति वरांग वहाँपर आनन्दसे रमा हुआ था ॥ १ ॥

जब वन्य हाथी यौवनके मदमें चूर होकर जंगल जंगल घूमता है तो युवती हथिनियाँ उसके पीछे पीछे दौड़ती हैं तथा यथेच्छ प्रकारसे वह उनके साथ रतिका सुख लेता है, किन्तु अपने असंयत आचरणके कारण बन्ध को प्राप्त होकर दुख भरता है, बिल्कुल यही हालत युवराज वरांगकी थी ॥ २ ॥

दूसरे राजाकी राजधानीमें पूर्वकृत पाप-कर्मोंका उदय होनेपर वह बाह्य सुख तथा आन्तरिक दुखके मिश्रित अनुभव को करता हुआ एक विचित्र अवस्थामें दिन काट रहा था। यद्यपि वह स्वयं निर्मल यश, अवदात गुण, अनुपम क्रान्ति तथा असंख्य सम्पत्तिके स्वामी थे ॥ ३ ॥

जिस समय युवराज वरांग ललितपुरीमें निवास कर रहे थे उसी समय वहाँपर जो एक अति विशाल परिवर्तन घटित हुआ था उसका आगममें वर्णन मिलता है, मैं उसके अनुसार यहाँपर वर्णन करूँगा, ज्ञान-पिपासा आदि गुणोंके भारसे नम्र आप सज्जन पुरुष उसे ध्यानसे सुनें ॥ ४ ॥

आसीन्नरेन्द्रो मधुराधिपस्तु[1] नाम्नेन्द्रसेनः प्रथितो धरण्याम् ।
तस्याग्रपुत्रो बलवीर्यदृप्त उपेन्द्रसेनो युवराड् बभूव ॥ ५ ॥
समस्तसामन्तनिबद्धपट्टौ समस्तसामन्तमदावरोधौ ।
समस्तसामन्तगणातिधैर्यौ बभूवतुश्चन्द्रदिवाकराभौ ॥ ६ ॥
शौर्योद्धतावप्रतिकोशदण्डौ गृहीतसामन्तसमस्तसारौ ।
तौ देवसेनस्य नरेश्वरस्य गजेन्द्रमाशुश्रवतुश्चरेभ्यः ॥ ७ ॥
स वारणेन्द्रः शुभपीवराङ्गो मदस्रुतिक्लिन्नकपोलदेशः ।
अतुल्यवीर्यः स्रवदम्बुदाभश्चलद्गिरिप्रख्यतमोऽतिसत्त्वः ॥ ८ ॥

प्रभुता का मद

उस समय यादवोंकी नगरी मथुरामें जो प्रतापी राजा राज्य करता था वह इन्द्रसेन नामसे पृथ्वीपर प्रसिद्ध था। महाराज इन्द्रसेन का बड़ा बेटा उपेन्द्रसेन था जिसे अपने पराक्रम तथा सैन्य, कोश आदि बलका बड़ा अहंकार था। वह अहंकारी मथुराधिपका पुत्र इसी समय युवराज पदपर आसीन हुआ था ॥ ५ ॥

इन बाप बेटे को आस पासमें समस्त सामन्त राजाओंने अधिपति माना था और अपनी प्रभुताका पट्टा स्वयं सामने बढ़कर उसने ग्रहण किया था। इन दोनोंने समस्त सामन्त राजाओंके प्रभुताके अहंकारको चूर कर दिया था। किसी भी सामन्त में इतना धैर्य और साहस न था कि वह उनके विरुद्ध शिर उठाता अतएव वे दोनों बाप-बेटे सूर्य और चन्द्रमाके समान चमक रहे थे ॥ ६ ॥

असीम वीर्य और तेजके कारण वे उदण्ड हो गये थे। उनके कोश और दण्ड (सैन्य आदि) की कोई समानता न कर सकता था। अपने सब सामन्त राजाओंके सार (सेना तथा कोश) को उन्होंने बल पूर्वक झटक लिया था। इनके चरोंके द्वारा इन्हें समाचार दिया गया था कि 'ललितपुरके अधिपति महाराज देवसेन के पास सर्वोत्तम हाथी है ॥ ७ ॥'

ललितपुर का सुन्दर हाथी

वह हाथी ऐसा हृष्ट पुष्ट तथा सुन्दर था कि उसे देखते ही आकर्षण हो जाता था, उसके गण्डस्थल से सदा ही मद-जल बहता था जिसके प्रवाहसे उसके दोनों कपाल स्निग्ध और आर्द्र रहते थे, उसकी शक्तिका अनुमान करना ही कठिन था, उसका रंगरूप बरसते हुए मेघके समान था, इतना अधिक दृढ़ और विशाल था कि वह चलता फिरता पर्वत ही प्रतीत होता था ॥ ८ ॥

---

१. [मथुराधिप°]।

भद्रान्वयो भद्रमना विनीतः क्रियाविधिक्षेत्रगुणैरुपेतः ।
मधुप्रभाख्यः सुविभक्तगात्रः पूर्वप्रदेशोन्नतचारुकुम्भः ॥ ९ ॥
तमिन्द्रसेनो वरवारणेन्द्रं बलाज्जिघृक्षुर्धनमानदृप्तः ।
लेखेन साम्ना रहितेन तेन संप्रेषयामास स दूतवर्यम् ॥ १० ॥
ततो हि दूतः पथि काननानि नदीगिरिप्रस्रवणान्तराणि ।
देशान्व्रजन्ग्रामवरांश्च पश्यन् स देवसेनस्य विवेश देशम् ॥ ११ ॥
क्रमात्पुरं तल्ललिताभिधानं प्रपासभोद्यानविशेषरम्यम् ।
शनैः समासाद्य स दूतमुख्यो ददर्श भूपं विधिनोपसृत्य ॥ १२ ॥
ततस्तु राजा प्रतिमुच्य लेखं लेखोपचारेण च वाचयित्वा ।
विज्ञाय लेखार्थमपेतसाम[1] क्षिप्तेप लेखं कुपितो धरण्याम् ॥ १३ ॥

वह हाथियोंकी भद्र नामक जातिमें उत्पन्न हुआ था, हृदयसे शान्त था, भली-भाँति शिक्षित किया गया था, कार्य करना, विधिको समझना, क्षेत्रको पहिचानना आदि गुणोंका भंडार था उसके शरीरका अनुपात तथा अंगोंका विभाग आदर्श स्वरूप था, तथा उसके सुन्दर सुडौल गण्डस्थलोंका आगेका भाग ऊँचा था ॥ ९ ॥

इस मधुप्रभ नामके आदर्श हाथीको मथुराका राजा इन्द्रसेन प्रेमपूर्वक न मांगकर बलपूर्वक ललितपुरके अधिपतिसे छीन लेना चाहता था। वह अपनी प्रभुता और कोशके अभिमानमें इतना चूर था कि उसने जिस पत्रको लिखकर उक्त हाथीकी चाह प्रकट की थी उसमें सामनीतिका नाम ही न था। अपने बहुमान्य दूतको इस प्रकारके पत्रके साथ उसने भेजा था ॥ १० ॥

वह दूत भी मार्गमें भाँति-भाँतिके वनोंको देखता हुआ, उन्नत पर्वत, गम्भीर नदी तथा पर्वतोंसे बहते हुए मनोहर झरनोंको लाँघता हुआ, अनेक देशोंमें प्रवास करता हुआ तथा उत्तम ग्रामोंको देखता हुआ क्रमशः महाराज देवसेनके राष्ट्रकी सीमामें जा पहुँचा था ॥ ११ ॥

दूतका आना

इसके उपरान्त धीरे-धीरे वह उस राजधानीके पास जा पहुँचा था जिसका ललितपुर नाम सार्थक ही था क्योंकि वह उद्यानों, पियाउओं, अतिथिशालाओं, सभा आदिके द्वारा अत्यन्त मनमोहक थी। मथुराधिपतिके दूतने धीरेसे नगरमें प्रवेश करके राजसभाके उपयुक्त शिष्टाचारपूर्वक महाराज देवसेनके दर्शन किये थे ॥ १२ ॥

अभिमानकी ठेस

महाराज देवसेनने भी दूतके हाथसे लेखको लेकर खोला था तथा बाह्य शिष्टाचारके अनुसार उसको पढ़ा भी था।

---

१. क °सान्त्वं ।

स ताम्रनेत्रः स्फुरिताधरोष्ठः कोपादविज्ञाय परात्मशक्ती ।
निर्भर्त्स्य दूतं परुषैर्वचोभिर्वामेन पादेन ममर्द लेखम् ॥ १४ ॥
अपेतसामानि वचांसि राजा जगाद दूतं पुरतः स्थितं तत् ।
उक्तेन किंवा बहुना शृणु त्वं युद्धादृते तस्य न शान्तिरस्ति ॥ १५ ॥
समस्तसामन्तधनानि यानि विक्रम्य जग्राह पुरा बलेन ।
तान्येव जोर्यन्त्वलमन्यवित्तैः श्रमव्ययाक्षेमकरैरनर्थैः ॥ १६ ॥
भो दूत आस्तां नृपतिस्त्वदीयो निजेन राज्येन हि तुष्टिमेतु ।
स्थाने न चेत्स्थास्यति सर्वथान्यं संस्थापयिष्याम्यहमेत्य तत्र ॥ १७ ॥

पढ़कर उसने देखा कि पत्रमें 'साम' का नाम ही न था और उद्धततासे भरा हुआ था। फलतः उसका क्रोध भभक उठा था, और लेखको उसने भूमिपर फेंक दिया था ॥ १३ ॥

क्रोधके कारण महाराज देवसेनके नेत्र लाल हो गये थे, आवेशके वेगसे ओठ काँप रहे थे। क्रोधने विवेकको ढक लिया था फलतः उन्हें अपनी और शत्रुकी शक्तिका ध्यान ही न रहा था उन्होंने दूतको कठोर शब्द ही न कहे थे अपितु भर्त्सना भी की थी, इतना ही नहीं मथुराधिपके पत्रको उसके दूतके सामने ही पैरसे मसल दिया था ॥ १४ ॥

इतनेसे भी उनका क्रोध शान्त न हुआ था, सामने विवश खड़े दूतसे उन्होंने जो वचन कहे थे उनमें साम (शान्ति) की छाया तक न थी। उन्होंने कहा था 'बहुत कहनेसे क्या लाभ ?' ॥ १५ ॥

मथुराधिपकी भर्त्सना

तुम सुनो, हे दूत युद्धके बिना इस अपमानकी शान्ति हो ही नहीं सकती है। तुम्हारे राजाने इसके पहिले आक्रमण करके अपने पराक्रमके बलपर सब सामन्त राजाओंकी जो विपुल सम्पत्ति छीन ली है उसे ही वह पचानेका प्रयत्न करे। उसके सिवा अब दूसरोंको और अधिक सम्पत्ति या वैभवको अपहरण करनेका प्रयत्न न करे। कारण; ऐसा करनेमें उसका विपुल परिश्रम ही व्यर्थ न जायगा अपितु उसके अशुभ तथा अन्य अनर्थोंका होना भी बहुत संभव है ॥ १६ ॥

हे दूत ? तुम्हारे राजाको अब शान्त रहना चाहिये। उसे अपने राज्यके वर्तमान विस्तारसे ही संतोष करना चाहिये। जो उपयुक्त स्थान या मर्यादा है, उसके भीतर ही यदि वह न रहेगा तो मैं ही वहाँ आकर किसी दूसरे व्यक्तिको उसके सिंहासन पर बैठा दूँगा, इसमें थोड़ा भी सन्देह मत करो ॥ १७ ॥

संस्थाप्यमानोऽपि मयेन्द्रसेनः स्यातुं न चेच्छेत्स्वकुलोचितेन ।
प्राग्यद्गृहीतं च धनं परेषां तद्वा[1] ग्रहिष्यामि दुरात्मनोऽहम् ॥ १८ ॥
अथ त्वरा वास्ति हि पौरुषं वा आगम्यतां सर्वबलेन सद्यः ।
य आवयोर्जेष्यति युद्धशौण्डो भवन्तु हस्त्यश्वपुराणि तस्मै ॥ १९ ॥
इत्येवमाघोष्य सभासमक्षं संतर्ज्य रोषादपभीस्तदानीम् ।
विरोधबुद्धया न ददौ स्वलेखं [2]कृत्वार्धमुण्डं विससर्ज दूतम् ॥ २० ॥
ततो विसृष्टो वसुधेश्वरेण त्रस्तात्मचित्तस्तु कृतार्धमुण्डः ।
परिस्पृशन्स्वं स शिरः करेण जगाम तूष्णीं ललिताह्वपुर्याम् ॥ २१ ॥

मेरे द्वारा ही यह इन्द्रसेन मथुराके राज्य सिंहासन पर बैठाया गया है। अब यदि वह शक्तिके दर्पमें अपने कुलमें चली आयी परम्पराके अनुकूल आचरण नहीं करता है, तो इसके पहिले उसने बलपूर्वक जितना भी दूसरोंका धन छीन लिया है, उस दुष्ट, कदाचारीकी वह सबकी सब सम्पत्ति मैं दूसरोंके द्वारा लुटवा दूँगा ॥ १८ ॥

अथवा यदि उसे इतनी जल्दी है कि मेरे आनेकी प्रतीक्षा नहीं कर सकता है, अथवा उसमें यदि कुछ भी पौरुष है तो वह समाचार पाते ही अपनी पूरी सेनाके साथ मुझसे युद्ध करनेके लिए चला आवे। हम दोनोंमेंसे जो अधिक युद्धकुशल होगा तथा जो विजयी होगा, हारे हुएके देश, नगर, हाथी, घोड़ा आदि भी सर्वथा उसीके होंगे ॥ १९ ॥

ललितपुरके राजा उस समय इतने कुपित थे कि भय आदि दूसरे भाव उनके पास भी न फटकते थे, अतएव उन्हें भरी सभाके सामने ही दूतको बुरी तरहसे डाँटकर उक्त घोषणा की थी। उन्होंने मथुराधिपका विरोध करनेका निर्णय कर लिया था इसी कारण उसके पत्रका कोई उत्तर भी न दिया था तथा दूतका आधा सिर मुड़ा कर उसे वापिस कर दिया था ॥ २० ॥

दूतका अपमान

आधा शिर मुड़ जानेके कारणी मथुराधिपके दूतके चित्तमें बड़ा डर बैठ गया था। अतएव महाराज देवसेनने ज्योंही उसे राजसभा छोड़नेकी आज्ञा दी त्योंही अपने अधघुटे सिर पर हाथ फेरता हुआ वहाँसे चल दिया था, तथा अपमानका इतना गहरा धक्का उसे लगा था कि वह चुपचाप बिना कुछ कहे ही ललितपुरसे चल दिया था ॥ २१ ॥

---

१. क तद्वा मयिष्ये खलु मान्वरिष्ठाः । २. क कृतार्धदण्डं ।

अथो ह्युपस्थानगतः स्वदूतं प्रत्यागतं त्वप्रतिलेखमात्रम् ।
दृष्ट्वा कृताङ्कं पुरतो नृपाणां चुक्रोध राजा भृशमिन्द्रसेनः ॥ २२ ॥
स्वभावतः प्रोन्नतमानदप्तः परावमानैकरसानभिज्ञः ।
मुहुर्मुहुः श्वासविकम्पिताङ्गो जज्वाल वाताहतवह्निकल्पः ॥ २३ ॥
मत्तोऽधिकाः शक्तिबलप्रतापैर्ये पार्थिवास्तैः सह योद्धुकामः ।
युद्धाय लेखान्विससर्ज तेभ्यो भयार्दितास्ते प्रदबुर्धनानि ॥ २४ ॥
असौ वराको नयविन्न च सौ परात्मशक्त्यज्ञतयातिमूढः ।
स मृत्यवे केवलमिद्धमग्निं पतङ्गवद्वाञ्छति संप्रवेष्टुम् ॥ २५ ॥

युद्धयागकी सज्जा

दूतके लौटनेका समाचार पाकर मथुराधिप इन्द्रसेनने उसे भरी राजसभामें अपने कार्यका समाचार देनेके लिए बुलाया था; किन्तु जब उसने देखा कि दूत बिना उत्तरके ही नहीं लौटा है अपितु उसके शरीर पर अपमान की छाप (अर्ध मुंडन) भी लगा दी गयी है तो उसके क्षोभका पार न रहा था। राजसभामें विराजमान अनेक राजाओंके समक्ष ही वह देवसेनके ऊपर अत्यन्त कुपित हुआ था ॥ २२ ॥

स्वभावसे ही उसका अभिमान अत्यन्त बढ़ा हुआ था जिसके कारण वह किसीको कुछ समझता ही न था। दूसरेके द्वारा अपमानित होनेपर कैसा अनुभव होता है यह वह स्वप्नमें भी न सोच सकता था। अतएव क्रोधके आवेशमें वह बार-बार लम्बी श्वास खींचता था जिससे उसका सारा शरीर काँपता था, तथा प्रत्येक बार क्रोधकी छटा उस पर वैसे ही बढ़ती जाती थी जैसे कि हवा लगनेसे आगकी ज्वाला लफलफाती है ॥ २३ ॥

मथुराधिपकी क्रोधाग्नि

जो राजा लोग मंत्र आदि शक्तियों, सैन्य आदि बलों तथा पराक्रममें मुझसे बढ़कर है, मैं उनके साथ भी दारुण युद्ध करनेके लिए कटिबद्ध था। अतएव जब मैंने युद्ध का आह्वान करते हुए उन्हें पत्र भेजे तो वे सब भयसे पानी-पानी हो गये थे और बिना मांगे ही उन्होंने अतुल सम्पत्ति मेरे चरणोंमें अर्पित की थी ॥ २४ ॥

तब फिर इस छुद्र ललितपुराधिपतिकी तो बात ही क्या है ? यह नीति शास्त्रसे सर्वथा कोरा है, उसे अपने बलका भी ठीक ज्ञान नहीं तो वह महामूर्ख दूसरोंके विषयमें जानेगा ही क्या ? केवल मर जानेके लिए ही यह जलती ज्वालाके समान उद्धत मेरी सेनामें पतंगकी तरह घुस कर प्राण दे देना चाहता है ॥ २५ ॥

१. म योद्धुकामः ।

विशिष्ट एवाप्रतिमल्लहस्ती [1]ददौ पुनर्मेऽप्रतिमल्लकल्पम् ।
युद्धाभितृप्तिश्चिरकालतो मे भविष्यतीति प्रजगाद राजा ॥ २६ ॥
मद्वाक्यनीतौ यदि नैव तिष्ठेल्लोभाच्च दर्पादभिमानतो वा ।
निष्कृष्यते श्रीललिताह्वपुर्याः संस्थापयिष्यामि वशस्थमन्यम् ॥ २७ ॥
एकस्य हेतोः करिणो यदासौ तेच्छेत्सुखं जीवितुमुन्नताशः ।
मत्सैन्यनिर्वासितपौरराष्ट्रो मामेव गन्ता शरणं हताशः ॥ २८ ॥
सर्वक्षितीशेष्वहतप्रताप[2] आज्ञां मदीयामवमन्यमानः ।
सभृत्यमित्रः सकलत्रपुत्रः सकोशदण्डः क्षयमेष्यतीति ॥ २९ ॥

फिर भी अनुपम तथा अद्वितीय हाथीके स्वामी ललितपुरनरेशने मुझको बहुत अद्भुत वस्तु दी है क्योंकि इस संसारमें कोई भी योद्धा ऐसा नहीं है जो मेरी समता करनेका साहस करे। तो भी बहुत लम्बे अरसेके बाद मेरी युद्ध करनेकी अभिलाषा इस स्वयं आगत शत्रुकी कृपासे पूर्ण होगी। इन वाक्योंके द्वारा उसने अपने क्रोधको प्रकट किया था ॥ २६ ॥

मैं जो कहूँगा उसीको नीति मानकर यदि पालन करेगा तो चाहे उसकी इस उद्दण्डताका कारण लोभ हो, आत्म-गौरव हो या घमंड हो, मैं उसे ललितपुरीके सिंहासन परसे चोटी पकड़ कर नीचे खींच लूँगा। तथा किसी दूसरे ऐसे व्यक्तिको वहाँ स्थापित करूँगा जो मेरे वशमें रहना स्वीकार करेगा ॥ २७ ॥

शत्रुपराभवकी कल्पनाएं

यदि यह ललितपुरका अधिपति केवल एक हाथीके कारण अपने सुखमय राज्य तथा महत्त्वाकांक्षाओंसे परिपूर्ण जीवन-को भी नहीं चाहता है तो निश्चित समझिये कि मेरी प्रबल प्रतापयुक्त सेना उसे अपनी राजधानीसे ही नहीं अपितु अपने राष्ट्रसे भी खदेड़ कर निकाल देगी। तब उस अभागेकी समस्त आशाएँ मिट्टीमें मिल जायेंगी और वह मेरे चरणोंमें शरणकी याचना करता हुआ आयेगा ॥ २८ ॥

जब कि वह मेरे उस प्रचण्ड शासनकी अवहेलना करता है जिसका प्रभाव संसारके समस्त राजाओंमें अक्षुण्ण है तब यह निश्चित है कि वह अपनी प्राण प्रियाओं तथा पुत्रों, विपत्तिमें सहायक मित्रों वा आज्ञाकारी सेवकों तथा असीमकोश वा रणकुशल सेनाके साथ सदाके लिये नष्ट हो जायेगा ॥ २९ ॥

---

१. क ददौ। २. [°प्रतामामाशां]।

अनर्थकैः किं बहुभिः प्रलापैः फले ध्रुवं कार्यमुपैति व्यक्तम् ।
इत्येवमाविष्कृतसत्प्रतिज्ञो बहिस्तदेवाशु पुराज्जगाम ॥ ३० ॥
महेन्द्रसेनप्रवरा महेन्द्रा उपेन्द्रसेनप्रमुखाश्च पुत्राः ।
पदातिहस्त्यश्वरथैः समेता नरेन्द्रयातानुपथं प्रयाताः ॥ ३१ ॥
अङ्गाश्च वङ्गा मगधाः कलिङ्गाः सुह्माश्च पुण्ड्राः कुरवोऽश्मकाश्च ।
आभीरकाव[1]न्तिककोशलाश्च मत्स्याश्च सौराष्ट्रकविन्ध्यपालाः ॥ ३२ ॥
महेन्द्रसौवीरकसैन्धवाश्च काश्मीरकुन्ताश्चरकासिताह्वाः ।
ओद्राश्च[2] वैदर्भकवैदिशाश्च पञ्चालकाद्याः पतयः पृथिव्याम् ॥ ३३ ॥

बहुत अधिक निरर्थक बकझक करनेसे क्या लाभ है ? मेरे द्वारा निश्चित किया गया कर्त्तव्य तो तब ही लोगोंकी दृष्टि-में आता है जबकि वे उसका फल सामने देखते हैं।' इस प्रकार अपनी अटल प्रतिज्ञाको राजसभामें प्रकट करके उस उद्दण्ड मथुराके राजाने, बिना विलम्ब किये उसी समय अपनी राजधानीसे प्रस्थान कर दिया था ॥ ३० ॥

युद्धयात्रा

उसके प्रस्थान करते ही उसके सब ही राजपुत्र जिनका प्रधान उपेन्द्रसेन था, तथा सब ही आज्ञाकारी राजा लोग जो कि अपना नेता महाराज प्रवरसेनको मानते थे, इन सबने भी अपनी हाथी, घोड़ा, रथ तथा पैदल सेनाको साथ लेकर उसी मार्गसे बढ़ना प्रारम्भ किया था जिसपर आगे-आगे इन्द्रसेन चला जा रहा था ॥ ३१ ॥

इस महासेनामें अंग (बंगालका भाग) वेश, बंग, (बंगाल) मगध, (बिहार) कलिङ्ग, (उड़ीसा तथा मद्रास प्रेसीडेन्सीका गंजम जिला आदि भाग) सुह्म (दक्षि०-पश्चिम बंगाल) पुण्ड्र (संथाल-प०, वीर भूमि,) कुरू, अश्मक (राजधानी मस्सग थी) अभीरक, अवन्ति, (उज्जैन भोपाल आदि मालवा) कोशल (उत्तर अवध दक्षिण = मध्यप्रान्तका अ-महाराष्ट्री भाग) मत्स्य, (भरतपुर आदि) सौराष्ट्र (गुजरातका भाग) विन्ध्यपाल, (विन्ध्य प्रदेशका राजा) ॥ ३२ ॥

महेन्द्र (महेन्द्र पर्वतका राजा) सौवीर, (गुजरातका भाग) सैन्धव (सिन्ध) काश्मीर, कुन्त [ल], (कर्नाटक) चरक, असित ओद्र (ड्र = बंगाल-उड़ीसा) विदर्भ (बरार) विदिशा (भेलसा) पञ्चाल (पंजाबका भाग) आदि देशोंके राजा लोग ॥ ३३ ॥

---

१. क आभीरकावन्तिन° । २. म चौदाश्च, [औद्राश्च]

समेत्य सर्वे स्वबलैरुदारैरनेकशस्त्रास्त्रविभूतिमद्भिः ।
उत्थापितच्छत्रसुकेतुचिह्ना निश्चक्रमुर्भूपतयः प्रयोद्धुम् ॥ ३४ ॥
प्रदानमानैकरसाप्तवीर्याश्चिकीर्षवः स्वामिहितानि भृत्याः ।
इहात्मशौर्यं प्रतिदर्शयामो रणे नृपाणामिति केचिदाहुः ॥ ३५ ॥
अस्वामिकार्याणि पुनर्बहूनि दिनान्यतीतानि निरर्थकानि ।
अद्यात्मशक्तिं नृपतेः समक्षं प्रकाशयिष्याम इति व्यवोचन् ॥ ३६ ॥
पश्यामि तावत्समराजिरेऽस्मिन् नृणां पुनः सारमसारतां च ।
स्याद्धूमकेतौ कनकस्य शुद्धिर्व्यक्तिं प्रयातीति निराहुरन्ये ॥ ३७ ॥
नृपेन्द्रसेनो बृहदुग्रसेनः कृतात्मशक्तिर्बहुकोशदेशः ।
अवार्यवीर्यो दृढबद्धवैरः सुनीतिनीतार्थविशुद्धबुद्धिः ॥ ३८ ॥

अपनी अपनी विशाल सेनाके साथ सम्मलित हुए थे इनमेंसे प्रत्येककी सेना नाना प्रकारके विशेष शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित थी। सब अपने अपने चिन्हयुक्त देशकी ध्वजाएँ फहराये चले जा रहे थे। प्रत्येक देशके राजाका छत्र भी अलग-अलग रंगरूपका था। इनमें एक भी ऐसा राजा न था जो घोर युद्ध करनेके लिए लालायित न रहा हो ॥ ३५ ॥

युद्ध मद

इन सेनाओंमें जो वीर बढ़े चले जा रहे थे उनके हृदय भेटों, स्वागत, सन्मानों, पदवृद्धि आदिके द्वारा इतने बढ़ गये थे कि वे सब कुछ की बाजी लगाकर अपने प्रभुका हित करना चाहते थे। राजाओंमेंसे कोई-कोई राजा कहते कि इस युद्धमें हम लोग अपनी अपनी शूर-वीरताका वास्तविक प्रदर्शन करेंगे ॥ ३५ ॥

प्रभुका कोई भी काम न करते हुए एक नहीं अनेक अगणित दिन व्यर्थ ही बीत गये हैं। बहुत समय बाद यह अवसर मिला है। महाराज इन्द्रसेनके सामने ही अपने सच्चे बल, धैर्य और रणकौशलका प्रदर्शन करूँगा' इस तरह उत्साह भरे वचन कहते थे ॥ ३६ ॥

इस महायुद्धकी रणस्थली के प्रांगणमें मैं देखूँगा कि मनुष्यमें कितनी शक्ति हो सकती है अथवा मनुष्य शरीर और और जीवन कितने सारहीन हैं। इसी बीचमें कोई दूसरे बोल पड़ते थे—अरे भाई आगमें (धुंआ हो जिसकी ध्वजा है) तपाये जाने पर ही सोना शुद्ध होता है तथा उसके चोखेपनको परखनेका भी यही उपाय है ॥ ३७ ॥

आत्माभिमान

महाराज इन्द्रसेनकी सेना विशाल होनेके साथ-साथ अति साहसी तथा उग्र भी है। इनका आत्मबल भी इतना पुष्ट है कि दारुण विप्लवके समय भी थोड़ा सी कमी नहीं आती हैं। मथुरा राज्यके विशाल विस्तारको कौन नहीं जानता है तथा

एतैर्गुणैर्न्यूनतमस्तु राजा मानैकसारो ललितेश्वरोऽसौ ।
तस्यास्य चेति प्रविचिन्त्यमानं तदन्तरं स्यान्मशकेभयोर्यत् ॥ ३९ ॥
अहो तपस्वी ललितेश्वरोऽसौ नोऽपीक्षते स्वं तु बलाबलं यत् ।
महार्णवानन्तबलेन राज्ञा युयुत्सुरज्ञस्त्विति केचिदूचुः ॥ ४० ॥
अथैकमत्तद्विरदस्य हेतोरपोप्स[1]ति श्रीपुरकोशदेशान् ।
अकौशलं तस्य हि मन्त्रिणां च निरीक्ष्यतामित्यरे निराहुः ॥ ४१ ॥
न मन्त्रिणां वा वचनं शृणोति ते वा हितं नास्य वदन्त्युपेत्य ।
विनाशकालः समुपस्थितो वा बलीयसा यत्कुरुते विरोधम् ॥ ४२ ॥

कोशका अनुमान करना ही निरा पागलपन है। आजतक मथुराधिपके पराक्रमको किसीने नीचा नहीं दिखाया है, वह जिससे वैर बाँध लेता है उसे कभी नहीं भूलता है। प्रत्येक विषयका विचार तथा विधान सर्वांगसुन्दर नीतिके अनुसार करता है तथा उसकी बुद्धि इतनी प्रखर है कि किसी विषयको समझने में कहीं भी धोखा नहीं खाती है ॥ ३८ ॥

शत्रुनिन्दा

दूसरी तरफ ललितपुराधिपति है,उसमें इन गुणोंमेंसे एक भी गुण नहीं है। यदि उसकी कोई विशेषता है तो बस यही कि वह आत्म-गौरवको ही सब कुछ मानता है। जब हम मथुराधिप तथा ललितपुरेश इन दोनों स्वामियों की योग्यताओंके अन्तर को सोचते हैं, तो वही अन्तर दिखायी देता है जो एक मच्छर और मदोन्मत्त हाथीमें होता है ॥ ३९ ॥

दूसरे कुछ लोगोंका मत था कि 'यह विचारा ललितपुरेश बड़ा ही अज्ञ है जो वह अपनी सैन्य, कोश आदि शक्तियों तथा अन्य दुर्बलताओं और छिद्रोंको भी नहीं देखता है। वह निरा मूढ़ ही है जो महासमुद्रके समान अति विशाल तथा अनन्त सेनाके संचालक मथुराके राजाके साथ युद्ध करनेके लिए उद्यत है ॥ ४० ॥

अन्य लोगोंका मत था कि देखो तो केवल एक शुभलक्षणयुक्त मदोन्मत्त हाथीके लिये अपनी प्रभुता, वैभव, राजधानी तथा सुसम्पन्न राष्ट्रको खोये देता है। फलतः केवल वही (ललितपुरेश) नीति-ज्ञानविहीन नहीं है अपितु उसके मंत्री राजनीति के व्यवहारमें अत्यन्त अकुशल हैं ॥ ४१ ॥

संभव है कि उसके मंत्री राजनीतिमें पारंगत हों किन्तु वही उनकी सम्मतिको न मानता हो, अथवा यही समझिये कि उसके विनाशकी मूहुर्त आ पहुँची है इसीलिये वह इतने विपुल शक्तिशालीसे विरोध कर रहा है ॥ ४२ ॥

१. [अपोहति]।

महाबलस्यास्य पुरः कुतः स्यात्स्थातुं हि शक्तिर्ललितेश्वरस्य ।
सहैव नागेन विमुच्य देशं पलायतेऽसाविति केचिदूचुः ॥ ४३ ॥
सुनीतिमार्गेण समाचरन्तो जयन्ति शत्रुन्नहतोऽपि हीनाः ।
अनीतिमन्तो बलिनोऽपि गम्या नैकान्तमस्तीत्यपरे निराहुः ॥ ४४ ॥
यः शक्तिमांस्तं पुनरप्रमत्तस्तथाप्रमत्तं न च दीर्घसूत्रः ।
तौ नीतिमांस्तं खलु दैवयुक्तो जेष्यत्यरीनित्यपरे समूचुः ॥ ४५ ॥
एवं ब्रुवाणास्तु परस्परस्य जेतुं प्रविष्टाः परदेशमाशु ।
प्रविष्टमात्रेण पुरं विमुच्य ननाश देशं सकलं क्षणेन ॥ ४६ ॥

क्षुब्ध समुद्रके समान विशाल तथा उग्र सेनाके साथ आक्रकण करते हुए इस मथुराधिपके समक्ष जमकर आक्रमण रोकनेकी भी सामर्थ्य विचारे ललितपुरेशमें कहाँसे आवेगी ? परिणाम यही होना है कि वह मदोन्मत्त हाथीको लेकर अपना देश छोड़ देगा और कहीं भी भाग जावेगा । ऐसा कुछ अन्य विचारक कहते थे ॥ ४३ ॥

'जो राजा कोश, दण्ड, मन्त्र आदि शक्तियोंमें अपने शत्रुसे हीन होते हुए भी नीतिशास्त्रके अनुसार प्रत्येक विषयपर गम्भीर मंत्रणा करते हैं और तब उसे कार्यान्वित करते हैं, वे बुद्धिमान केवल नीतिबलसे ही अपने शत्रुको जीत लेते हैं । तथा नीतिमार्गके प्रतिकूल आचरण करनेवाले महाबली भी अपने साधारण शत्रुओंके द्वारा जीते जाते हैं फलतः किसी एक बात को ही निश्चित नहीं कहा जा सकता है ।' ऐसा नीतिशास्त्रके पंडितोंका मत था ॥ ४४ ॥

अन्य लोगोंका दृढ़ मत था कि 'जो सर्वशक्तिसम्पन्न है उसे भी वह जीत सकता है, जो एक क्षणके लिए भी प्रमाद नहीं करता है ऐसे अप्रमादी पर भी उसकी विजय होती है; जो किसी कार्य में लग जानेपर एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देता है । शीघ्रकारीको भी नीतिमानके आगे झुक जाना पड़ता है और जिसके पक्षमें दैव होता है उसके विरुद्ध नीतिमान भी शिर पीटता रह जाता है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार आपसमें वार्तालाप करते हुए इन्द्रसेनके पक्षके राजा लोगोंने विजय यात्राके मार्गको कब समाप्त कर दिया था इसका उन्हें पता भी न लगा था । उन्होंने देखा कि वे शत्रु के देशमें जा पहुँचे थे शत्रु-सेनाने ज्योंही ललितपुर राज्यमें प्रवेश किया त्योंही उसने जो ग्राम आदि सामने पड़ा उसीको नष्ट भ्रष्ट कर डाला था इस प्रकार केवल राजधानी ही शत्रुके प्रहारसे अक्षत रह गयी थी ॥ ४६ ॥

---

१. [शत्रून्न हि तेऽपि] ।

ततः प्रजास्ताः परचक्रभीता हृतावशिष्टं धनधान्यसारम् ।
आदाय सर्वं सकलत्रपुत्राः पुरं प्रविष्टा ललिताख्यमुख्यम् ॥ ४७ ॥
सा चापि सेना महती क्षितिशां पुरीं महासारवतीं विशालम् ।
सगोपुराट्टालकतोरणां तां निरुध्य तस्थौ सतृणाम्बुकाष्ठाम् ॥ ४८ ॥
समीक्ष्य सेनां मधुराधिपस्य महर्द्धियुक्तां ललितेश्वरोऽसौ ।
स्वान्मन्त्रिणो मन्त्रगुणप्रवीणानाहूय तैर्मन्त्रविधिं चकार ॥ ४९ ॥
एषोऽपि शत्रुः प्रबलः प्रधृष्यः पुरं समावेष्ट्य हि संनिविष्टः ।
वयं च हीना बलमित्रकोशैर्दुर्गं च सद्दुर्गगुणैरपेतम् ॥ ५० ॥
अस्मै न मे दन्तिवरस्य दित्सा परेण साकं न च योद्धुकामः ।
पुरं त्यजामिति न मेऽभिलाषः परीक्ष्य तद्योग्यमिह प्रवाच्यम् ॥ ५१ ॥

यादवों की बर्बरता

शत्रुओंके सर्वग्रासी आक्रमणसे राज्यकी प्रजामें उनकी निर्दयता का आतंक बैठ गया था। लूट खसोटसे जिसके पास जो कुछ बच गया था उस धन, धान्य तथा अन्य सार पदार्थोंको लेकर सारे राज्यकी प्रजाने अपनी स्त्री बच्चोंके साथ प्रधान नगरी (ललितपुर) में शरण ली थी ॥ ४७ ॥

किन्तु मधुराधिप इन्द्रसेनके सहायक राजाओंकी विशाल वाहिनीने उस विशाल राजधानी को भी चारों तरफसे घेर लिया था क्योंकि वह राजधानी अपरिमित वैभवसे परिपूर्ण थी। उसके प्रधान द्वार, ऊँची ऊँची अटालिकाएँ तथा तोरण आदिकी शोभा अनुपम थी। शत्रु सेनाने ऐसा घेरा डाला था कि नगरीमें घास-फूस ईंधन-पानी आदिका पहुँचना भी दुर्लभ हो गया था ॥ ४८ ॥

उस समय महान श्री, सम्पत्ति तथा तेज विभूषित मथुराधिपकी विशाल सेना ललितपुरके द्वार खटखटा रही थी। उसे देखते ही महाराज देवसेनने अपने प्रधान मंत्रियोंको बुलाया था, वे सबके सब समय तथा नीतिके अनुकूल सम्मति देनेमें दक्ष थे। अतएव महाराजने उनके साथ गम्भीर मंत्रणाको प्रारम्भ करते हुए कहा था ॥ ४९ ॥

संकटकालीन मंत्रणा

'इसमें संदेह नहीं कि हमारा शत्रु प्रबल है। उसे बड़ी कठिनतासे पीछे ढकेला जा सकता है, विशेषकर तब, जबकि उसने राजधानीके चारों ओर दृढ़ घेरा डाल दिया है। हमारा निजी दण्डबल ही उससे हीन है। हमारे सहायक पक्षके मित्र राजा, कोश तथा दुर्गोंकी संख्या भी उसके सामने नगण्य ही है। हमारे प्रधान किलेमें भी अभेद्य उत्तम किलेके गुण नहीं हैं ॥५०॥

तो भी मैं इसे अपने हस्तिरत्नको नहीं देना चाहता हूँ। तब आप कहेंगे युद्ध करो, सो मैं इस शत्रुके साथ लड़ना भी

इत्येवमुक्ता वसुधाधिपेन सद्बुद्धयः स्वामिनि नित्यभक्ताः ।
तत्कालयोग्यं स्वमतिप्रणीतं यथानुपूर्व्या विदधुर्वचस्तम् ॥ ५२ ॥
नैवेह कार्यो बलवद्विरोधो दोषः समस्तुल्यबलैर्विरोधे ।
न्यूने विदित्वा खलु देशकालौ क्रियाप्रसिद्धिं लभते नरेन्द्रः ॥ ५३ ॥
साम्ना प्रदानेन च कार्यसिद्धिं वाञ्छन्ति तज्ज्ञा निरुपद्रवत्वात् ।
क्षयव्ययक्लेशसहस्रमूलौ मृत्योः पदं भूमिप भेददण्डौ ॥ ५४ ॥
मानोऽन्तरं सर्वनरेश्वराणां मानस्तु कल्याणफलप्रदायी ।
अयं प्रकृत्या भृशमात्ममानी तस्मात्तु मान्यो भवतीन्द्रसेनः ॥ ५५ ॥

नहीं चाहता हूँ। ऐसी अवस्थामें पलायन ही गति हो सकती है किन्तु मैं नगरको छोड़नेकी कल्पना भी नहीं कर सकता हूँ अतएव आप सब बातोंका सूक्ष्म अन्विक्षीण करके जो सर्वथा उपयुक्त हो उस मार्गको बतावें ॥ ५१ ॥

वे सब ही मंत्री महाराज देवसेनके परमभक्त थे तथा बुद्धिके धनी थे, अतएव जब महाराजने अपनी उक्त सूझको उनके सामने उपस्थित किया तो उन लोगोंने उस समय उन परिस्थितियोंमें जो कुछ सबसे उत्तम हो सकता था, उसे अपनी बुद्धि के अनुसार सोचकर अपने पदके क्रमसे अपनी-अपनी सम्मति प्रकट की थी ॥ ५२ ॥

प्रथम मंत्री की सम्मति

राजनीतिका यह मूलमंत्र ही है कि अपनेसे प्रबल शत्रुके साथ किसी भी प्रकार हो, वैर नहीं करे। किन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं कि समान शक्तिशालीसे युद्ध करना सरल है क्योंकि उसमें अनेक ऐसे दोष हो सकते हैं जो विजयमें बाधा दें। अपने से हीन शत्रु पर भी यदि नरेन्द्र देश और कालका विचार करके आक्रमण करता है तो निश्चित है कि उसका प्रयत्न पूर्ण सफल होता है ॥ ५३ ॥

नीतिशास्त्रके पंडितों की तो यह स्पष्ट सम्मति है कि साम, दान आदि छह उपायोंमेंसे सामका प्रयोग करके ही अपने कार्यको सिद्ध कर लेना चाहिए कारण, इसमें किसी प्रकारके उपद्रव और हानिकी आशंका नहीं है। हे भूमिपाल !, छह उपायोंमें से भेद तथा दण्ड यह दोनों—असंख्य प्राणों आदिका नाश, अपरिमित धनका व्यय तथा हजारों प्रकारके क्लेशों और अशुभोंकी प्रधान जड़ ही नहीं है अपितु मौतकी खान ही हैं ॥ ५४ ॥

आप्यायन ही उपाय है

सब राजाओं में यदि कोई पारस्परिक भेद है तो वह मानका ही तो है। जितने भी शुभ तथा उन्नतिके अवसर हैं वे सब आदर-मान बढ़नेके साथ ही प्राप्त होते हैं आपके द्वार पर पड़ा हुआ आपका शत्रु आप जानते ही हैं स्वभावसे अपने सन्मान का बड़ा भारी लोलुप है, अतएव हमें इन्द्रसेनका स्वागत सत्कार करके बचना चाहिये ॥ ५५ ॥

स्यान्मानहानिर्यदि सन्धिभागे मा भूत्स दोषः स्मृतिषूपदिष्टम् ।
स्वकार्यसिद्ध्यै प्रददौ महेन्द्रो मानं विहायैहिकलोहिताङ्कम् ॥ ५६ ॥
धनेन देशेन पुरेण साम्ना रत्नेन वा स्वेन गजेन वापि ।
स येन येनेच्छति तेन तेन संदेय[1] एवेति जगौ सुनीतिः ॥ ५७ ॥
तद्युक्तिमत्स्यात्खलु सार्वभौमे नरेश्वरे सर्वगुणैरुपेते ।
अयं गुणैर्मध्यम इन्द्रसेनः शक्यो विजेतुं परमं श्रयेण[2] ॥ ५८ ॥
यद्देयमस्मै वसुधाधिपाय तद्देव कस्मैचिदपि प्रदाय ।
अस्योपरिष्टाद्व्रयमानयामो बलान्वितं तं यदि रोचते ते ॥ ५९ ॥

यदि आप सोचते हों कि सन्धिका उपाय ग्रहण करनेसे जहाँ शत्रुका मान बढ़ेगा वहीं आपका आत्मगौरव धूलमें मिल जायेगा ? सो यह दोष ही नहीं हो सकता है क्योंकि स्मृतियोंमें कहा है कि दैवी सम्पत्तिके एक मात्र प्रभु महेन्द्रने भी अपने इष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये उसने अपने स्वाभिमानको भी छोड़कर इस संसारके राज्यको उपेन्द्र (नारायण) को दे दिया था जिसका लक्षण (चिह्न) रक्त (कमल) ही था ॥ ५६ ॥

श्रेष्ठ नीति इस परिस्थितिमें यही कहती है कि धन देकर, राज्यका भाग देकर, नगर समर्पित करके, अलभ्य रत्नोंकी भेंट भेजकर अथवा किसी भी अन्य उपायके द्वारा, और तो क्या यदि इस युद्धके मूल कारण हाथी को ही लेकर, अथवा जो कुछ वह चाहे वही सब देकर इस समय उससे प्राण बचाना चाहिये ॥ ५७ ॥

साहाय्य ही उपाय

उक्त प्रकारसे प्रणत हो जाना उचित होगा यदि आक्रमण करनेवाले राजामें किसी सार्वभौम चक्रवर्तीके सब ही गुण होते । किन्तु महाराज जानते ही हैं कि इस इन्द्रसेनकी जो योग्यताएँ हैं वे बड़ी खींचातानीके बाद उसे मध्यकोटिका राजा बना सकती हैं । अतएव इसे किसी उत्तमकोटिके राजाकी सहायता लेकर जीतना बिल्कुल सरल है ॥ ५८ ॥

हे प्रभो ? आप इसे जो कुछ भी देकर संधि मोल लेना चाहते हैं, उतना ही किसी अन्य राजाको भेंट करके हम उसे (सम्पत्ति देकर सपक्ष बनाये गये राजाको) इसके ऊपर आक्रमण करने को कह सकते हैं, क्योंकि वह इससे भी अधिक बलशाली होगा, यह सब हो सकता है ॥ ५९ ॥

---

१. [संधेय] । २. [परमश्रमेण] ।

उत्साहमन्त्रप्रभुशक्तियोगाज्ज्यायानयोध्याधिपतिः क्षितीशाम् ।
श्रीवीरसेनोऽस्ति तमाश्रयाम इत्याचचक्षे विनयाद्द्वितीयः ॥ ६० ॥
किं तेन राज्ञा बलवत्तमेन स्वकार्यसंसिद्धिपरायणेन ।
इदं पुनर्युक्तिमदर्थमन्यद्ब्रुवीमि वाक्यं यदि रोचते ते ॥ ६१ ॥
सन्तोह पुर्यां सुजना समृद्धा अगाधतोयाश्च तडागवाप्यः ।
शूरा मनुष्याश्च परैरहार्यास्त्वं चापि शक्तित्रयमभ्युपेतः ॥ ६२ ॥
मुख्येषु भेदं प्रतिदर्शयन्त[1]स्तद्धीवचां [2]सारधनं नियोज्य ।
पार्ष्णीं तथोत्थाप्य हि तस्य देशे विगृह्यते नाशनमेव युक्तम् ॥ ६३ ॥

यदि आपको अनुमति हो तो हम अयोध्याके महाराज श्री वीरसेनकी शरणमें जावें, क्योंकि वर्त्तमानके सब राजाओंमें जहाँतक मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति तथा उत्साहशक्ति इन तीनोंका सम्बन्ध है, वे सबसे बढ़कर हैं।' दूसरे मंत्रीने बड़ी विनम्रताके साथ अपनी यही सम्मति दी थी ॥ ६० ॥

प्रतिरोध तथा भेद

तीसरे मंत्रीने कहा था 'हे महाराज उत्तरकोशलके अधिपति श्रीवीरसेन; इसमें सन्देहका लेश भी नहीं है कि सबसे अधिक बलशाली हैं। किन्तु वे सर्वदा अपने स्वार्थ की ही सिद्धिमें लगे रहते हैं अतएव उनसे हमारा क्या लाभ हो सकता है? यदि आपकी रुचि हो तो मैं एक दूसरा ही प्रस्ताव उपस्थित करता हूँ जो कि अधिक युक्तिसंगत तथा कल्याणकारी है ॥ ६१ ॥

आपकी इस राजधानीमें एक दो नहीं अनेक सज्जन परम सम्पत्तिशाली हैं (जिनका धनकोश को अक्षय कर देगा) कितने ही तालाब, बावड़ियाँ आदि इतने गहरे हैं कि उनकी थाह पाना ही असंभव है (अतएव जनताको जल आदिका कष्ट नहीं हो सकता) तथा असंख्य ऐसे वीर पड़े हुए हैं जिन्हें शत्रु प्राण खपाकर भी नहीं पछाड़ सकता है। सबसे ऊपर आप स्वयं हैं क्योंकि आप तीनों शक्तियों से सम्पन्न हैं ॥ ६२ ॥

शत्रुके प्रधान सहायकों, सामन्तों तथा सेन नायकोंमें आपसी मतभेदका अपवाद करनेवाले तथा उसकी वास्तविकता-से पूर्ण परिचित चरोंको (अथवा खूब धन देकर उसके ही सलाहकारोंको) अपना कर्त्तव्य निभानेके लिए नियुक्त कर दिया जाय। तथा उसके अपने राज्यमें किसी समर्थ राजाके द्वारा पीछेसे आक्रमण करवा कर उसे समूल नष्ट कर देना ही उचित है ॥ ६३ ॥

---

१. [°स्तद्धीमतां]। २. म सारवधं ।

अभ्यर्ण एषोऽपि च मेऽप्यकालः स पार्ष्णिरप्यस्य तु पार्वतीयः ।
अतो न सन्ध्याश्रयतां प्रयामः स्थाप्याम[1] एवेत्यवदत्स मन्त्री ॥ ६४ ॥
साधूक्तमेभिर्नृपमन्त्रिमुख्यैः सन्ध्याश्रयस्थानगुणैः प्रसिद्धिः ।
एषां प्रयोगस्य गतस्तु कालो ह्यकालतस्तेऽपि भवन्त्यनर्थाः ॥ ६५ ॥
यद्दूतसंप्रेषणकाल एव सामप्रदानाद्युचितानुपायान् ।
[2]अकुर्म चेद्दूमिप सा सुनीतिः कालात्ययः संप्रति दोष एषः ॥ ६६ ॥
एभिस्त्रिभिर्मंत्रिवरैर्महीश कार्यं यदुक्तं तदपोहनीयम् ।
न मे प्रियं युक्तिविवर्जितत्वादित्याचचक्षे विजयश्चतुर्थः ॥ ६७ ॥

इसकी सेना तथा राष्ट्रके पीछे वह पहाड़ी राज्य पड़ता है (जो आसानीसे इसके विरुद्ध उभारा जा सकता है)। इसके सिवा वर्षा ऋतु भी अति निकट आ पहुँची है फलतः इसे लौटकर आत्मरक्षा करना दुसाध्य हो जावेगा। अतएव मेरा दृढ़ मत है कि सन्धि मार्गका अनुसरण करना सर्वथा नीतिके प्रतिकूल है। अपितु कुछ समय तक घेरमें ही पड़े रहकर शत्रुको दुर्बल करेंगे ॥ ६४ ॥

मंत्री-विजयकी वाक्पटुता

'हे महाराज ! आपके इन तीनों प्रधान मंत्रियोंने जो क्रमशः बताया है कि संधि, आश्रय और स्थानको ग्रहण करनेसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सकती है वह सर्वथा नीति शास्त्रके अनुकूल है। उसमें यदि कोई कमी है तो यही कि उक्त तीनों मार्गोंके प्रयोगका समय ही बीत चुका है। अब यदि असमयमें इनका प्रयोग किया जायेगा तो वह शास्त्र-सम्मत होते हुए भी अनर्थ ही करेगा क्योंकि उनका अब अवसर नहीं है ॥ ६५ ॥

जिस समय आप मथुराधिपके दूतको वापस कर रहे थे यदि उसी समय साम, दाम आदि उपायोंको व्यवहार किया होता तो वह अत्यन्त उचित होता। और वह उत्तम श्रेणीकी नीतिमत्ता भी होती, किन्तु इस समय वह सुअवसर हाथसे निकल गया है फलतः नयी विकट परिस्थितियाँ पैदा हो गयी हैं, यही कारण है उक्त प्रयोग इस समय सदोष है ॥ ६६ ॥

हे महीश ! मेरे सुयोग्य सहयोगी इन तीनों कुशल मंत्रियोंने जो कार्य इस समय करनेको कहे हैं। वे इस समय सर्वथा छोड़ने योग्य हैं। वे उपाय मुझे जरा भी नहीं जँचते हैं क्योंकि उनका समर्थन किसी भी युक्तिसे होता नहीं है, इस प्रकार चौथे मंत्री विजयने अपनी सम्मतिको प्रकट किया था ॥ ६७ ॥

---

१. [स्थास्याम]। २. क अकर्म ।

[1]यत्कारणः स्यादनयोर्विरोधो नरेन्द्रयोरप्रतिवीर्यभासोः ।
स एव हस्ती यदि दीयते चेत्पुंस्त्वाभिमानस्य हि कोऽधिकारः ॥ ६८ ॥
अयं च राजेन्द्र समानसेनो नरेन्द्रसेनः समरे समर्थः ।
सर्वस्वमादाय तु यातुकामः कथं पुनर्यास्यति हस्तिमात्रात् ॥ ६९ ॥
कालो व्यतीतो नरदेव शान्तो दानाश्रयस्थानविधिस्तथैव ।
उपस्थितौ संप्रति भेददण्डौ तस्माद्द्वये धत्स्व मतिं न चान्यत् ॥ ७० ॥
धनं शरीरं बलमायुरैश्वर्यं चिरं न तिष्ठन्ति मनुष्यलोके ।
यशांसि पुंभिः समुपार्जितानि स्यायोनि यस्माद्यशसे यतस्व ॥ ७१ ॥
उपेन्द्रसेनो बलवानीति त्वमवैहि मंस्थाः प्रथितोरुसत्त्वः ।
[2]कार्यस्य तस्या[3] [˘] पुरःसरस्य नासाध्यमस्ति क्षितिपाल लोके ॥ ७२ ॥

दंड तथा भेद ही उपाय

(मंत्रियोंकी ओर दृष्टि घुमाते हुए) "आप जानते हैं कि महाराज देवसेन तथा मथुराधिप इन्द्रसेन दोनों ही बलवीर्य तथा तेजमें अपनी सानी नहीं रखते । इन दोनोंके बीचमें जो महा वैर हुआ है उसका जो मूल कारण है, वही हाथी; यदि इस समय आक्रमकको दे दिया जाय, तब हमें क्या अधिकार है कि हम लोग भी अपनेको पुरुष समझें या आत्म गौरव की बात करें ॥६८॥

इसके अतिरिक्त मथुराधिपति भी राजाओंके इन्द्र चक्रवर्तीके समान विशाल और उग्र हैं, इन्द्रसेन स्वयं भी युद्धसंचालन-की कलामें अत्यन्त निपुण है, तथा अपमानित होनेके कारण वह हमारे राज्यका सर्वस्व ही लूटकर लौटना चाहता है, तब बताइये केवल हाथी लेकर ही वह कैसे लौट जायगा ॥ ६९ ॥

हे महाराज ! इतना निश्चित मानिये कि शान्ति, दान, आश्रय तथा स्थान इन चारों उपायोंके व्यवहारका अवसर सर्वथा निकल चुका है । अब हमारे सामने दो ही मार्ग खुले हैं, वे हैं भेद तथा दण्डके, अतएव आप उनका प्रयोग करनेकी ही सोचिये, इसके अतिरिक्त अब और कुछ भी नहीं हो सकता है ॥ ७० ॥

परिवर्तनशील मनुष्यलोकमें न तो प्रभुता ही सदा रहती है, और न अपरिमित सम्पत्ति ही चिरस्थायिनी है । जब शरीर ही किसी न किसी दिन नष्ट हो जाता है तो उसके आश्रित बलवीर्य कहाँ रहेंगे तथा आयुका तो अन्त निश्चित ही है । किन्तु यदि कोई पुरुष सत्कर्म करके यश कमा सके तो वह अवश्य 'काले कल्पशते' पर्यन्त ठहरेगा ॥ ७१ ॥

यश ही जीवन है

अतएव यशको सामने रखकर ही हमें प्रयत्न करना चाहिये । मथुराका राजा इन्द्रसेन निसन्देह अत्यधिक बलवान है,

१. [यत्कारणं.....°विरोधे] । २. क कार्यस्य सन्तीति । ३. [तस्यात्म] ।

तथापि भूपाः समरे कृतार्थाः स्निग्धा नरेन्द्राः स्वमनोऽनुकूलाः ।
गृहीतशस्त्रास्त्रबलार्थशास्त्राः सन्ति प्रभूता नृपतेः सहायाः ॥ ७३ ॥
[1]अर्थ्यं यशस्यं विदुषां प्रशस्यं तेजस्करं मन्त्रिवरोपदिष्टम् ।
निशम्य वाक्यं हृदयावकर्षी क्षितीश्वरः संमुमुदे स तस्य ॥ ७४ ॥
तंपूज्य तान्मन्त्रिगणानशेषान्विशेषपूजां विजयाय कृत्वा ।
संभासमक्षं समराभिलाषी युद्धाय सर्वं नृपतिः[2] शशास ॥ ७५ ॥
राजानुमत्या [3]विजये जयैषी शूरानुरक्तप्रतिबोधनाय ।
तस्यां महत्यां ललिताक्षुपूर्यां सघोषणां[4] निर्गमयांचकार ॥ ७६ ॥

उसका विशाल वीर्य और तेज सम्पूर्ण देशमें प्रसिद्ध है। तथा हे क्षितिपाल ! जिस सेना के आगे-आगे वह स्वयं चलता है उसके लिए इस संसारमें कोई भी कार्य असाध्य नहीं है ॥ ७२ ॥

तो भी महाराज ! जो अनेक राजा लोग आपके सहायक हैं वे भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं। उन्होंने भी अनेक घोरातिघोर संग्रामोंमें सफलता पायी है। वे राजा लोग केवल आपके अनुकूल हो नहीं हैं अपितु आपपर उनका अपार स्नेह भी है। उनके पास सब प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित संगठित सैन्यबल ही नहीं है अपितु उनका कोश भी अक्षय है। इतना ही नहीं वे नीतिशास्त्र आदिके परम पंडित हैं ॥ ७३ ॥'

युद्धं देहि

प्रधानमन्त्रीके द्वारा उपस्थित किया गया भेद तथा दण्ड नीति के प्रयोगका प्रस्ताव महाराराज देवसेनके तेज और यशको बढ़ानेवाला ही न था अपितु आर्थिक विकासमें भी साधक था। उसकी सबसे प्रधान विशेषता तो यह थी कि उसे सब ही विद्वानोंने पसन्द किया था। अतएव हृदयको आकर्षक उक्त प्रस्तावको सुनकर महाराज देवसेन अपने मन्त्री विजयपर परम प्रसन्न हुए थे ॥ ७४ ॥

इसके उपरान्त राजाने सब ही मन्त्रियोंका उनके पदके अनुसार स्वागत सत्कार किया था और विशेषकर मन्त्रिवर विजयका। भरी सभामें उन्होंने आपने सामन्त आदि सब ही राजाओंको युद्धके लिए तुरन्त संनद्ध होनेकी आज्ञा दी थी क्योंकि वे निर्णय कर चुके थे कि युद्ध अवश्य करेंगे ॥ ७५ ॥

मन्त्री विजय चाहता था कि उसके प्रभुकी निश्चित विजय हो अतएव राजाकी स्वीकृतिपूर्वक शूरों तथा राजभक्त

---

१. म अर्थं । २. म सर्वान्नृपतीन् शशास । ३. [विजयो] । ४. [स्वघोषणां] ।

राजापि युद्धाभिमुखः[1] सबन्धुः [2]प्रवीक्ष्यते शत्रुविमर्दनाय ।
सन्मानदानैकरसाप्तवीर्याः पुंस्त्वाभिमानास्त्वरयाभ्युपेताः ॥ ७७ ॥
एवंविधा सर्वजनाधिगम्या महाविभूत्या नृपशासनेन ।
भेर्या नदन्त्या परिघोषणा हि बंभ्रम्यते वारणमस्तके सा ॥ ७८ ॥
कश्चिद्भटः कान्तवपुस्तदानीं वामा[3]ग्रहस्तार्पितगण्डदेशः ।
बलं समीक्ष्य स्वपुरान्तकस्य दध्यौ स्वयं किं क्रियते मयेति ॥ ७९ ॥
[4]सव्याधिते च व्यसनिन्यनाथे क्षुत्पीडिते शत्रुजनाभिभूते ।
द्वारे नृपाणां पितृभूमिभागे संतिष्ठते यः किल सोऽतिबन्धुः ॥ ८० ॥

लोगोंका उत्साह बढ़ाने तथा उन्हें अपने कर्त्तव्यका स्मरण करानेके लिए ही विशाल ललितपुर नामक राजधानीमें उसने एक महाघोषणा करवा दी थी ॥ ७६ ॥

हमारे महाराज देवसेन अपने कटुम्बियों तथा मित्रोंके साथ युद्धके लिए कटिबद्ध हैं। वे शत्रुके मानको मर्दन करनेके लिए अनुकूल अवसरकी प्रतीक्षामें रुके हुए हैं। जिन लोगोंको राज सम्मान प्राप्त करनेकी अभिलाषा है, अथवा जो अपने राज्य का गौरव बनाये रखनेके लिए सम्पत्तिका मोह छोड़ सकते हैं तथा जिन्हें अपने पुरुष होनेका स्वाभिमान है, वे सब शीघ्रतासे महाराजकी सेवामें उपस्थित हों ॥ ७७ ॥

युद्ध घोषणा

इस ढंगकी उदार घोषणा राजाकी आज्ञासे बड़े ठाट बाटके साथ सारे नगरमें की गयी थी। इसके साथ-साथ विशाल भेरी भी बजायी जाती थी। तथा हाथीके मस्तकपर आरूढ़ (व्यक्तियोंने) इस घोषणाको नगरके एक कोनेसे दूसरे कोने तक फैला दिया था ॥ ७८ ॥

उसी समय कश्चिद्भट (युवराज वरांग) अपनी हथेलीपर बायां गाल रखे बैठे हुए थे, उनके स्वस्थ सुन्दर शरीरसे कान्ति छिटक रही थी। वे समूची उस सेनाको देख रहे थे जिसे उनके निवास भूत नगरको नाश करनेके लिए शत्रुने चारों ओर फैला रखा था। वह मन ही मन सोचते थे कि 'मेरे द्वारा इस समय क्या सहायता की जा सकती है ॥ ७९ ॥

वरांगमें उत्साहकी बाढ़

प्राणान्तक रोगोंमें फँसे, किसी प्रकारकी अन्य विपत्तिमें पड़े, अनाथ, भूखसे व्याकुल, शत्रुओंके द्वारा निर्दय रूपसे तिरस्कृत हुए, राजदरबारमें अपराधी रूपसे बुलाये गये तथा पितरोंकी भूमि श्मशान पर जो व्यक्ति दूसरोंका हर प्रकारसे सहायता करता है वही सच्चा बन्धु है ॥ ८० ॥

१. म शुद्धाभिमुखः। २. [प्रतीक्षते] ३. [°हस्तार्पित°]। ४. क या व्याधिते, [सव्याधिके]।

अहं च अत्रैव कथापि युक्त्या वसामि मूढः स्वहिताहिताय ।
एषोऽपि मे मातुल एव राजा प्रियोऽरिसैन्यैरभिविद्रुतश्च[1] ॥ ८१ ॥
अभ्येत्य[2] दूरादपि युक्तिमत्स्यात् सहायकृत्यं स्वजनेन कर्तुम् ।
तद्वन्धुना कार्यविदा मयाद्य समक्षभूतेन कथं प्रहेयम् ॥ ८२ ॥
वराङ्गनामा तव भागिनेयः सुतोऽस्म्यहं धर्मनरेश्वरस्य ।
इति [3]ब्रुवं चेल्ललितेश्वराय न श्रद्दधात्येष च मां हसेद्वा ॥८३ ॥
इमान्स्वबन्धून्मम धर्मलब्धानुद्दिश्य योत्स्येऽहमिति ब्रवोमि ।
वणिक्सुतत्वात्परिभूयमानः सभासमक्षं लघुतां व्रजामि ॥ ८४ ॥

कृतज्ञतामय भाव

परिस्थितियोंके चक्करमें पड़कर मैं किसी भी तरह सही; यहाँ रहता ही हूँ, यद्यपि यह नहीं जानता कि इस निवाससे मेरा लाभ होगा या अलाभ। महाराज देवसेनने मेरे सगे मामा हो हैं इसके अतिरिक्त यह विचारे इस समय शत्रुओंकी सेना द्वारा सताये जा रहे हैं, अतएव सम्बन्धी ही नहीं व्यसनमें भी पड़े हैं॥ ८१ ॥

सगे सम्बन्धीका कर्त्तव्य है कि यदि उसके किसी सम्बन्धी पर कोई विपत्ति पड़े तो चाहे वह कितने भी दूर हो उसे वहींसे दौड़कर सहायता करनी ही चाहिये। तब मुझे तो अपने कर्त्तव्यका ज्ञान है तथा मैं इतने निकट हूँ कि सब कुछ मेरी आँखों-के आगे ही हो रहा है तब मैं अपने आपको इस कार्यसे कैसे बचा सकता हूँ ? ॥ ८२ ॥

भाव सेवा समर्पण

"मैं आपका सगा भानजा हूँ, मेरा नाम वराङ्ग है, मैं उत्तमपुरके अधिपति महाराज धर्मसेनका पुत्र हूँ।" यह सब बातें यदि आज जाकर ललितेश्वर देवसेनसे स्वयं कहूँगा तो विश्वास नहीं करेंगे, इतना ही नहीं बहुत संभव है कि मेरे उक्त वचन सुनकर मेरी हँसी भी करें ॥ ८३ ॥

पूर्व पुण्यके उदयसे मैंने इन सब सेठोंको अपने धर्मबन्धुके रूपमें पाया है तथा मैं इन सबकी तरफसे इनके प्रतिनिधिके रूपमें आपकी सेनाके साथ लड़ूँगा, यह कहता हूँ तो मैं वणिक्-पुत्र समझा जाऊँगा, फलतः लोग मेरे उत्साहकी अवहेलना करेंगे और मैं पूरी भरी राजसभाके सामने बिना कारण नीचा देखूँगा ॥ ८४ ॥

---

१. क °निवृतश्च । २. म अभीत्य । ३. [इत्येवं] ।

कोस्यान्न[1] युक्तिर्निरवद्यरूपा समा[2]श्रयेयं श्वशुरस्य हेतोः ।
अज्ञातशस्त्रव्यवहारदक्षो भटोऽहमस्मीत्युदिते न दोषः ॥ ८५ ॥
नृपोपकारं मम कुर्वतस्तु कीर्त्यात्मवासः प्रकटो ध्रुवं स्यात् ।
इत्यात्मचिन्तागतमानसः सन् शुश्राव घोषं स तु घोषणायाः ॥ ८६ ॥
तां मत्तमातङ्गशिरोऽधिरूढामाप्लु[3]ष्यमाणां पटहस्वनेन ।
संश्रुत्य कश्चिद्भट उन्नतश्रीः किं किं किमित्येतदपृच्छदाशु ॥ ८७ ॥
ते पृच्छ्यमाना वरवारणस्थाः स्वस्वामिसंदेशवशानुवृत्ताः ।
यात्यद्य राजा समराङ्गणाय रिपून्निहन्तुं त्विति संजजल्पुः ॥ ८८ ॥
निशम्य तेषां वचनं पृथुश्रीः कश्चिद्भटः सोऽप्यनवार्यवीर्यः ।
सहायकृत्यं नृपतेश्चिकीर्षन् शूरः प्रकृत्या द्विगुणं जहर्ष ॥ ८९ ॥

ऐसी कौन-सी युक्ति हो सकती है जिसमें कोई दोष न आता हो तथा जिसका बहाना करके मैं ससुरकी सेवा कर सकूँ। "मैं एक अज्ञात योद्धा हूँ तथापि यदि आप विश्वास करें तो समझिये कि मैं सब शस्त्रोंके चलानेमें अत्यन्त कुशल हूँ", यह कहनेमें कोई दोष भी नहीं है ॥ ८५ ॥

जब मैं अद्भुत रूपसे राजाकी सेवा तथा उपकार करूँगा तो निश्चित है कि मेरी कीर्तिके द्वारा ही मेरे माता-पिता, निवास स्थान, अपने आप ही प्रकट हो जायेंगे।" इस प्रकार जब वह मन ही मन चिन्तामें मग्न था उसी समय उसने राज-घोषणा की ध्वनिको सुना था ॥ ८७ ॥

मदोन्मत्त हाथीके ऊपर बैठा हुआ व्यक्ति उसे कह रहा था तथा दीर्घ स्वरमें बजते हुए पटह आदि बाजे उसको और गम्भीर तथा दूर तक सुने जाने योग्य कर रहे थे। अत्यन्त शोभायमान कश्चिद्भटके कानमें जब उसकी ध्वनि पड़ी तो उसने 'क्या, क्या' करके शीघ्र ही पूरी घोषणाके विषयमें जिज्ञासा की थी ॥ ८७ ॥

घोषणाकी पुष्टि

उत्तम हाथीपर सवार घोषणा करनेवालोंसे जब प्रश्न किया गया तो उन्होंने अपने स्वामीकी आज्ञाके अनुसार ही वहीं से उत्तर दिया था 'महाराज देवसेन अपने शत्रुओंका समूल नाश करनेके लिए आज ही समरभूमिको जा रहे हैं' ॥ ८८ ॥

घोषणाका स्वागत

कश्चिद्भटका वीर्य और तेज ऐसा था जिसके सामने कोई टिक ही नहीं सकता था अपने आप ही वह इस ऊहापोहमें

१. [का स्यान्नु]। २. [समाश्रये यां]। ३. क तां पुष्यमाणां, [°माधुष्यमाणां]।

एषा हि नूनं मम भाविनी श्रीर्नृपस्य वा पूर्वकृतो विपाकः ।
यदत्र कार्यं प्रतिचिन्तयामि तदेव साक्षात्समुपस्थितं मे ॥ ९० ॥
इति प्रचिन्त्यात्मनि निश्चितार्थो गुरुं समाहूय निवेश्य भूयः ।
युद्धाय राज्ञा सह संव्रजामि त्वं माननुज्ञाय विमुञ्च तात ॥ ९१ ॥
तद्वाक्यसंत्रस्ततनुः पितास्य स्नेहानुरागादभिगृह्य पादौ ।
कुरु प्रसादं शृणु मे वचस्त्वं हितानुबन्धं प्रियमप्रियं वा ॥ ९२ ॥
जानामि ते शौर्यमवार्यमन्यैः शस्त्रास्त्रयोः कौशलमप्रधृष्यम् ।
प्रत्यक्षमेतन्मम सर्वमासीत्तथाप्यहं कार्यमिदं प्रवक्ष्ये ॥ ९३ ॥
युद्ध्वापि केचित्सुकृतैर्विहीना अप्राप्तभोगा मरणं प्रयान्ति ।
व्यपेतशोकाः स्वगृहे वसन्तो भोगान्विचित्रानुपभुञ्जतेऽन्ये ॥ ९४ ॥

पड़ा था कि किस प्रकार राजाकी सहायता करे, फलतः जब उसने घोषकोंके वचन सुने तो उसका हर्ष दुगुना हो गया था, तथा आत्मोल्लासके कारण उसकी शोभा अत्यन्त विशाल हो गयी थी ॥ ८९ ॥

यह घटना निश्चयसे भविष्यमें होनेवाली मेरी श्रीवृद्धिको सूचित करती है, अथवा महाराज देवसेनके पूर्वकृत पुण्य-कर्मका उदय होनेसे ही ऐसा संयोग उपस्थित हुआ है, कि मैं इस समय यहाँपर जिस कार्यको सोच रहा था वही कार्य अपने आप सामने आकर उपस्थित हुआ है। इस प्रकार सोच विचार करके उसने अपने मनमें कर्त्तव्यका निर्णय कर लिया था ॥९०॥

इसके उपरान्त उसने अपने पूर्वज सेठ सागरवृद्धिको बुलाकर आदरपूर्वक बैठाया था तथा उनसे निवेदन किया था कि 'मैं महाराज देवसेनके साथ समरके लिए जाता हूँ आप स्वीकृति देकर मुझे विदा करें ॥ ९१ ॥

पितृत्वका मोह

कश्चिद्भटके इन वचनोंको सुनते ही उसके धर्मपिताका पूरा शरीर भयके आकस्मिक संचारके कारण काँपने लगा था। स्नेह तथा अनुरागके आवेशमें आकर सेठने उसके पैर पकड़ कर कहा था 'हे वत्स! मुझ पर कृपा करो तथा मेरे वचनोंको भी सुनो, जिन्हें मैं तुम्हारे हितकी आकांक्षासे प्रेरित होकर कह रहा हूँ, यह मत सोचो कि वे प्रिय हैं या कटु ॥ ९२ ॥

मैं तुम्हारी शूरताको जानता हूँ, यह भी देख चुका हूँ कि दूसरा कोई भट उसे परास्त नहीं कर सकता। यह भी मुझे ज्ञात है कि तुम्हारे शस्त्रास्त्रोंकी मारसे कोई नहीं बच सकता है। क्योंकि यह सब मेरी आँखोंके सामने घट चुका है तो भी मैं आपसे इस समय कार्यको कहता हूँ ॥ ९३ ॥

कितने ही रणबाँकुरे सफलतापूर्वक युद्ध करके भी पूर्वपुण्य शेष न रह जानेके कारण युद्धके फलों—भोगोपभोग वैभव

वृत्तिं विचित्रां स्वकृतानुरूपां पुंसां विचार्य क्षयिणीं च लक्ष्मीम् ।
प्रीत्येह च श्रेयसि यद्युनक्ति तदेव कार्यं विदुषा नरेण ॥ ९५ ॥
भोगाभिलाषात्तव विक्रमश्चेद्भोगान्यथेष्टानहमानयामि ।
अथार्थहेतोर्यदि ते प्रयासः सन्तीह ते पुत्र हिरण्यकोट्यः ॥ ९६ ॥
देशं च कालं च कुलं बलं च परीक्ष्य कृत्यानि जनैः क्रियन्ते ।
संचिन्त्य तत्सर्वमुदारबुद्धे निर्वर्त्यतां युद्धकृताभिलाषः ॥ ९७ ॥
युद्धं त्वया [1]यत्कृतमासि पूर्वमद्यापि तन्मे भयमादधाति ।
तस्मादहं त्वां शिरसाभियाचे युद्धेन किं वा सुखमास्व वत्स ॥ ९८ ॥

आदि फलों—को प्राप्त करनेके पहिले ही वीरगतिकी प्राप्त होते हैं। तथा कुछ दूसरे ऐसे व्यक्ति भी हैं जो समरभूमिमें विना गये ही अपने घर पर आनन्द और प्रसन्नतासे रहते हैं। तथा विविध प्रकारके भोगोंका रस लेते हैं ॥ ९४ ॥

मनुष्योंकका स्वभाव तथा आचार अपने पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार ही होता है, समस्त संपत्ति और वैभवका विनाश अनिवार्य है इन दोनों बातोंको भलीभाँति समझ कर विद्वान व्यक्तिके द्वारा वही कार्य किये जाने चाहिये जो कि इस भवमें तथा अगली पर्यायमें अभ्युदय और कल्याणकी दिशामें ले जा सकते हों ॥ ९५ ॥

यदि तुम इस कारण युद्धमें जा रहे हो कि उसके पुरस्कार-स्वरूप पर्याप्त भोग प्राप्त होंगे, तो तुम यहीं रहो। मैं तुम्हारे लिए मनचाहे भोग जुटाये देता हूँ। अथवा अपनी सम्पत्ति बढ़ानेके लिए ही यदि तुम इस विकट प्रयत्नको करना चाहते हो, तो हे वत्स ! तुम्हारे घरमें ही असंख्यकोटि सुवर्ण पड़ा है ॥ ९६ ॥

जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे देश, काल, अपना कुल तथा बलको भलीभाँति समझ कर ही नये-नये कार्योंमें हाथ लगाते हैं। फलतः आप भी उक्त चारों बातोंको सोचिये और समझिये कारण आपकी प्रतिभा विशाल है। अतएव आप युद्धमें भाग लेनेकी इच्छाको त्याग दीजिये ॥ ९७ ॥

सेठकी रणभीरुता

प्रवासके समय जंगलमें दस्युओंके साथ तुमने जो दारुण युद्ध पहिले किया था उसके स्मरण मात्रसे मैं आज भी डर-कांप जाता हूँ, अतएव मैं अपना शिर झुकाकर अथवा अपने शिरकी सौगन्ध खाकर प्रार्थना करता हूँ, कि सुखपूर्वक अपने घरमें रहो युद्धसे भला क्या लाभ है ?' ॥ ९८ ॥

---

१. [यत्कृतमस्ति, यत्कृतमास]।

अहो तपस्वी वत मन्दसत्त्वः स्वजातिसादृश्यमताभिधानः ।
मामप्ययं यन्मनुते स्वाजातावित्येवमात्मन्यथ संप्रदध्यौ ॥ ९९ ॥
पित्रैवमुक्तः सुत इत्यमूचे नार्थेन कृत्यं विषयेन कार्यम् ।
न यौवनोद्दाममुदां[1] वशस्थो न चाप्यहं श्लाघ्यतया करोमि ॥ १०० ॥
स्त्रीबालवृद्धानगतीन्विपन्नाननाथदीनातुरभीतवर्गान् ।
आपद्गतानाश्रमवासिनश्च त्रातुं मयायं मनसि प्रयासः ॥ १०१ ॥
प्रजाहितक्षेमसुखप्रसिद्धयै राज्ञो विजित्यैव[2] रिपोर्वधाय ।
तवापि कीर्त्यै मम धर्महेतोर्युद्धेऽनुमन्यस्व न वारयस्व ॥ १०२ ॥
श्रेष्ठी सुतस्याभिमतं विदित्वा चेष्टानुरूपां च यथार्थवार्ताम् ।
तस्योत्तरं वक्तुमशक्नुवन्स तूष्णी बभूवार्थपतिर्विधिज्ञः ॥ १०३ ॥

धर्मपिताके द्वारा उक्त प्रकारसे निषेध किये जानेपर युवराजने मन ही मन सोचा था 'खेदका विषय है कि यह साधु स्वभावी सेठ शारीरिक तथा मानसिक बलसे हीन है, विचारा अपनी जातिके अनुकूल संस्कारोंसे भरा है और वैसी ही बातें करता है। मुझको भी यह अज्ञानके कारण अपने ही वर्ण या जाति का समझता है ॥ ९९ ॥

इसके बाद उन्होंने कहा था 'हे पिताजी ! न तो मुझे सम्पत्तिसे कोई प्रयोजन है और न मुझे राज्यसे ही कोई सरोकार है। लहराते हुए यौवनके अनुकूल प्रखर तथा भरपूर भोगों तथा विषयोंका मुझ पर कोई अधिकार नहीं है और न मैं यशलिप्सासे प्रेरित होकर ही युद्धके लिए प्रयाण करना चाहता हूँ ॥ १०० ।

अपितु संकटके मुखमें डाले गये स्त्री, बालक तथा वृद्ध, अनाथ, स्वयं दीन, रोगग्रस्त, आक्रमणसे भीत, तथा शत्रुके अनाचारके कारण विपत्तिमें पड़े आश्रमवासी साधु तथा आर्यिकाओं, श्रावक तथा श्राविकाओंकी' रक्षा करनेके लिए ही मैंने अपने मनमें उक्त निश्चय किया है। तथा उसे प्रयोगमें लानेके लिए ही मैं प्रयत्न कर रहा हूँ ॥ १०१ ॥

प्रजाका कल्याण करनेके लिये तथा कुशल, सुख तथा सम्पत्तिकी पूर्ण सफलताके लिए, राजा देवसेनकी परिपूर्ण विजय को देखनेकी इच्छासे, शत्रुका वध करनेकी अभिलाषाके कारण, आपका यश बढ़ानेके अभिप्रायसे तथा अपने धर्म (कर्त्तव्य) को पूरा करनेकी प्रेरणासे ही मैं समरमें जा रहा हूँ। अतएव आप मुझे जानेकी स्वीकृति देवें ॥ १०२ ॥

मौनं सम्मतिलक्षणं

यह सब सुनकर सार्थपति सागरवृद्धि अपने धर्मपुत्रके मनकी बातको जान गये थे, तथा जैसा वह बोलता था उसी

---

१. म °मुदा° । २. [विजित्यै च]।

हये रथे वा वरवारणे वा पञ्चायुधेनात्मपराक्रमेण ।
महाहवे योऽत्र मया युयुत्सुस्तस्यास्मि कालः कथितेन किं वा ॥ १०४ ॥
इत्येवमाभाष्य पितुः समीपे तदेव[1] संप्रेष्य पुनर्घटायाम् ।
समर्थ्य सम्यग्पितरं सहायैः संप्रेषयामास नृपान्तिकं सः ॥ १०५ ॥
कश्चिद्भटो मे तनयो वरिष्ठः साचिव्यमिच्छुः समराङ्गणे[2] ते ।
मां प्राहिणोद्देव यदत्र युक्तं तत्संविधत्स्व त्वमकालहीनम् ॥ १०६ ॥
पुराप्यशृण्वन्विजयप्रधानास्ते तस्य सर्वं श्रुतवीर्यसत्त्वम् ।
ध्रुवं जयो देव तवैव भावी इति ब्रुवाणाः सचिवाः शशंसुः ॥ १०७ ॥

भावके अनुकूल उसकी चेष्टाएँ भी हो रहीं थीं। वह अपने सामर्थ्य और कर्तव्यको भी जानते थे फलतः वह पुत्रको उत्तर न दे सके थे अपितु चुप ही रह गये थे ॥ १०३ ॥

इस महायुद्धमें जो भी आश्वारोही, रथी योद्धा तथा मदोन्मत्त हाथी पर आरूढ़ वीर; मेरे साथ खड्ग, बाण, आदि प्रसिद्ध पांच शस्त्रों तथा अपने पराक्रमके द्वारा मुझसे युद्ध करना चाहेगा आप इतना विश्वास रखें मैं उसका शुद्ध काल (यम) ही सिद्ध होऊँगा। और अधिक तो आपसे कहूँ ही क्या ॥ १०४ ॥

पित्ताकी सान्त्वना

इत्यादि वचनोंको पिताके सामने कहकर उसे ढाढस दिलाया था तथा उसी समय अपनी व्यवस्थाको जमानेके लिए उसे ही राज्य सभामें भेजा था। उसने सहायकोंके साथ अपने धर्मपिताका भली भांति समर्थन करके उसे महराज देवसेनको सभाको चलता किया था ॥ १०५ ॥

सेठका प्रस्ताव

अवस्था तथा योग्यताओंमें ज्येष्ठ मेरा पुत्र कश्चिद्भट आपके इस युद्धमें आपका सहगामी होनेके लिये परम उत्कण्ठित है। इसी अभिलाषाको आपके सामने रखनेके लिए उसने मुझे आपके चरणोंमें भेजा है। हे देव ? इस दिशामें आप जो कुछ भी उचित समझें, वह समय गंवाये बिना शीघ्र ही करें ॥ १०६ ॥

वीरका स्वागत

श्रीविजय आदि प्रधान मंत्रियोंने पहिलेसे ही सब सुन रखा था कि 'कश्चिद्भटका पराक्रम तथा सामर्थ्य अद्भुत है ! फलतः उन्होंने कहा था 'हे महाराज निश्चयसे आपकी ही विजय होनेवाली है'। यह कहते हुए उन सबने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी ॥ १०७ ॥

---

१. [तमेव]। २. [गमे]।

न श्रेष्ठिपुत्रस्त्ववणिक्स्वभावान्न प्राकृतः पार्थिवलक्षणत्वात् ।
क्षात्राणि कर्माणि विशेषवन्ति बहूनि तस्मिन्नुपलक्षितानि ॥ १०८ ॥
हता किलैकेन पुलिन्दसेना द्विषट्सहस्रा मददन्तिगर्वा ।
देवेन देवेन्द्रसमेन साकं शत्रून् विजित्येति किमत्र चित्रम् ॥ १०९ ॥
अथ गुणगणमुक्त्वा श्रेष्ठिनस्ते सुतस्य, नृपसचिवपुरोधाः शिष्टमित्रेष्टवर्माः[1] ।
इति जगदुररीणां धारयन्ती मनांसि, नदतु विजयिनी नो युद्धसन्नाहभेरी ॥ ११० ॥
नृपतिरनुनिशम्य क्षेमयोगावहानि, श्रुतविनयधराणां मन्त्रिणां तद्वचांसि ।
श्रुतपरिणतदुद्धिस्त्वर्हदर्चाः[2] प्रपूज्य रिपुबलमथ [3]तीर्थं निश्चितार्थो बभूव ॥ १११ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
राजसंक्षोभो नाम षोडशः सर्गः ।

'वह सेठका बेटा हो ही नहीं सकता क्योंकि उसके स्वभावमें वणिक्-सुलभ एक भी बात नहीं है, उसे जनसाधारण भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि उसका एक-एक लक्षण राजपुत्रत्वको सिद्ध करता है। उसके आचार-विचारमें ऐसे ही लक्षण अधिक देखे गये हैं जो कि क्षत्रियोंमें ही हो सकते हैं ॥ १०८ ॥

मदोन्मत्त हाथीके समान उद्दण्ड तथा निरंकुश भीलोंकी बारह हजार प्रमाण सेनाको केवल एकाकी कश्चिद्भटने मारकाट कर साफ कर दिया था। तब देवोंके अधिपति वज्रायुधके समान आपके साथ वह शत्रुओंको जीतेगा इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है ॥ १०९ ॥

युद्धघोष

इस प्रकार सेठ सागरवृद्धिके धर्मपुत्रके समस्त गुणोंकी प्रशंसा करके महाराज देवसेन, महामंत्री लोग, पुरोहितों, मित्र राजाओं तथा शिष्ट हितैषीजनोंने एक साथ यही कहा था कि युद्धकी तैयारीकी सूचना देनेवाली हमारी 'विजयिनी' नामकी महाभेरी बजायी जावे, जिसके शब्दोंको सुनकर शत्रुओंके हृदय काँप जावें ॥ ११० ॥

'महाराज देवसेनने क्षेमकुशल आदिके सूचक मंत्रियोंके वचनोंको शान्तिसे सुना था क्योंकि वे सबके सब मंत्री शास्त्रोंमें पारंगत थे तथा विनयके भारसे दबे (विनम्र) हुए थे। उनकी अपनी मति भी शास्त्रानुकूल मार्ग पर चलती थी अतएव श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवके चरण कमलोंकी पूजा करके उन्होंने शत्रु सैन्यरूपी समुद्रको पार करनेका दृढ़ निश्चय किया था ॥ १११ ॥

चारों वर्गसमन्वित सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
राजसंक्षोभ नाम षोडश सर्ग समाप्त ।

१. [वर्गा]। २. म °बुद्धिस्त्वर्हदब्जाः । ३. [नार्थं]।

सप्तदशः सर्गः

अथावनीशो मतिमद्भरार्यैः स्वबन्धुभिर्मन्त्रिभिराप्तवर्गैः ।
संमन्त्र्य युद्धाभिमुखस्तदैव स्वाहूतवान्सागरवृद्धिसूनुम् ॥ १ ॥
कश्चिद्भटः स्वैर्ललितैर्वयस्यैर्वणिग्भिरन्यैश्च समेत्य तूर्णम् ।
सिंहासनस्थं वसुधेन्द्रसिंहं ददर्श सोऽन्तर्गतहर्षभावः ॥ २ ॥
अन्योन्यनामश्रवणाभिरागावन्योन्यमुद्वीक्ष्य च संप्रहृष्टौ ।
ज्ञानंश्च[1] नेयेऽथ नरेश्वराय वक्तुं[2] वराङ्गो न विवेद राजा ॥ ३ ॥
स्थितं पुरस्ताद्विनयं प्रयुज्य सल्लक्षणैरूर्जितसर्वगात्रम् ।
समीक्ष्य नागेन्द्रसमानलीलं कश्चिद्भटं भूपतिरित्थमूचे ॥ ४ ॥

सप्तदश सर्ग

सविचार निमंत्रण

उस समय महाराज देवसेन समर यात्रा करनेके लिए प्रस्तुत थे अतएव कश्चिद्भटकी प्रशंसा सुननेके बाद उन्होंने परम विवेकी पूज्य पुरुषों, अपने भाई बन्धुओं, मंत्रियों तथा अन्य विश्वासास्पद पुरुषोंके साथ कश्चिद्भटके विषयमें मत विनिमय किया था। तथा उसकी समाप्ति होते ही सेठ सागरवृद्धिके परमप्रतापी धर्मपुत्रको आदरपूर्वक बुलाया था ॥ १ ॥

वह अपने समवयस्क, सुन्दर सेठोंके पुत्र तथा मित्रोंके साथ अत्यन्त त्वराके साथ राजसभामें जा पहुँचा था, जहाँपर पृथ्वीके पालक राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी महाराज देवसेनको उसने सिंहासनपर विराजमान देखा था ॥ २ ॥

महाराज देवसेन तथा तथोक्त कश्चिद्भटके बीच एक दूसरेका नाम सुनते ही पारस्परिक अनुराग उत्पन्न हो गया था फलतः जब उन दोनोंने एक दूसरेको देखा तो वे बड़े संतुष्ट तथा प्रसन्न हुए थे। कश्चिद्भट (वरांग) महाराज देवसेनको वास्तवमें जानता था फलतः वह न सोच सका था कि महाराजसे क्या कहे तथा कुछ समय पर्यन्त नरेश्वरकी भी यही अवस्था थी ॥ ३ ॥

युवराज (कश्चित्भट) पूर्ण विनय तथा शिष्टताके साथ महाराज देवसेनके सामने खड़े थे, उनके कान्तिमान तथा तेजस्वी शरीरपर शुभ लक्षण चमक रहे थे। ललितेश्वरने श्रेष्ठतम हाथीके समान उन्हें निर्भय खड़ा देखकर निम्न प्रकारसे कहना प्रारम्भ किया था ॥ ४ ॥

१. [जानंश्च]। २. [तुं]।

यो भूपतेरप्रतिकूलकारी योऽनर्थतासंशमनं करोति ।
यो वा युधि स्थैर्यमतिं न जह्याद्यो वा सहायत्वमुपैति युद्धे ॥ ५ ॥
यो दर्शयेद्युक्तिमतीं च नीतिं हितप्रवृत्तिं प्रतिबोधनाय ।
स एव बन्धुश्च सुतश्च मित्रं गुरुर्गरीयानिति लोकसिद्धम् ॥ ६ ॥
तथापि मैत्री [1]ध्रुवमावयोस्तु पुरातनी काचिदिहापि चास्ति ।
अकृत्रिमप्रेमगुणावबद्धस्त्वयि स्वबन्धाविव मेऽनुरागः ॥ ७ ॥
मत्पुण्यतो वा तव भाग्यतो वा महाजनानां सुकृतप्रभावात् ।
जित्वारिसैन्यं यदि संनिवृत्तो दास्यामि ते मत्सुतयार्धराज्यम् ॥ ८ ॥
ततो बृहद्रत्नपिनद्धहारं किरीट[2]केयूरककुण्डलानि ।
प्रलम्बसूत्रं कटिबन्धनं च पट्टं च तस्मै प्रददौ नरेन्द्रः ॥ ९ ॥

सस्नेह स्वागत

जो व्यक्ति भूपाल तथा उसके शासनके विरुद्ध आचरण (षड्यन्त्र) नहीं करता है, राष्ट्र या राजाके विकासमय जीवनमें उपस्थित हुए अनर्थोंको शान्त करता है, घनघोर संग्राममें सब ओरसे आक्रमण होनेपर भी जिसका धैर्य और कर्त्तव्य-बुद्धि अस्त नहीं होते हैं जो अकस्मात् ही कहींसे आकर युद्धमें सहायता देता है ॥ ५ ॥

पथभ्रष्टों या विपत्तिके आक्रमणके कारण हित-अहित विवेकहीन व्यक्तियोंकी आँखें खोल देनेके लिए जो व्यक्ति ऐसी नीति बतलाता है जो सर्वथा युक्तिसंगत हो तथा कल्याणकारी कार्य करनेको कहता है वही सच्चा बन्धु है, वही पुत्र है, मित्र है तथा श्रेष्ठतम गुरु भी वही है' यह सारे संसारमें प्रसिद्ध सिद्धान्त है ॥ ६ ॥

इसके अतिरिक्त इस भवमें ही हम दोनोंके बीच कोई प्राचीन प्रेम सम्बन्ध अवश्य रहा है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता है, क्योंकि मेरा अनुराग तुमपर वैसे ही बढ़ रहा है जैसा कि अपने किसी निकटके बन्धु-बान्धवपर होता है। तथा उसका कारण कोई कृत्रिम सम्बन्ध नहीं है अपितु अकृत्रिम प्रेम ही उसका एकमात्र बन्धन है ॥ ७ ॥

मैं अपने पुण्य कर्मोंके प्रतापसे, अथवा तुम्हारे सौभाग्यसे अथवा राज्योंमें बसनेवाले सज्जनोंके शुभ कर्मोंके कारण इस युद्धमें शत्रुकी सेनाको जीतकर यदि लौट आया, तो अपनी पुत्रीके हाथके साथ तुम्हें अपना आधा राज्य भी दूँगा ॥ ८ ॥

इस प्रकारसे अपने अनुरागको वचनों द्वारा प्रकट करके ललितेश्वरने रत्नोंको पिरोकर बनाया गया बड़ा तथा बहुमूल्य हार, शिरका लघु मुकुट, केयूर, कुण्डल, बहुत लम्बा सूत्र, कमरबन्ध तथा पदका द्योतक पट्टा उसे समर्पित किया था ॥९॥

१. म ध्रुवमावयोस्तु । २. क तिरीट° ।

अन्यांश्च सन्मान्य यथोपचारं भृत्यान्भृशं निश्चितमर्थवादी ।
आहूय मन्त्रीश्वरदण्डनाथान्संनह्यतेत्याशु शशास योद्धुम् ॥ १० ॥
नरेश्वरो भास्वरसत्किरीट[1]च्छत्रोच्चलच्चामरकेतुलक्ष्यः ।
सुकल्पितं मत्तमहागजेन्द्रमारुह्य देवेन्द्र इवाभ्यराजत् ॥ ११ ॥
संनह्य सर्वायुधसंवृतस्थ स्कन्धे गजस्याप्रतिमल्लनाम्नः ।
कश्चिद्भटस्त्वप्रतिमश्चकाशे यथोदयस्योपरि बालसूर्यः ॥ १२ ॥
मदप्रभिन्नत्रवदार्द्रगण्डं मातङ्गमम्भोदसमाननादम् ।
अरिंजयं तं विजयोऽधिरूढः शोभां दधौ चन्द्रमसोऽभ्रमूर्ध्नि ॥ १३ ॥

वीरपूजा

कश्चिद्भटके साथ-साथ महाराजने अन्य भटोंका भी उनकी योग्यता आदिके अनुसार स्वागत सत्कार किया था। इस सबसे निवृत्त होकर वे अपने अन्तिम निर्णयकी घोषणा करना चाहते थे फलतः मंत्रियों, कोषाध्यक्षों तथा दण्डनायकोंको बुलाकर उन्होंने आज्ञा दी थी कि 'आप लोग युद्ध करनेके लिए शीघ्रातिशीघ्र सन्नद्ध हो जावें' ॥ १० ॥

समरयात्रा

समरयात्राके समय मदोन्मत्त उन्नत तथा पुष्ट करिवरपर विराजमान महाराज देवसेन ऐसे मालूम देते थे मानो ऐरावतपर इन्द्र बैठे हैं। अत्यन्त रमणीय मुकुट उनके शिरपर जगमगा रहा था, चमर ढुर रहे थे, हौदेपर ध्वजा फहरा रही थी तथा हाथी भी कौशलपूर्वक सजाया गया था ॥ ११ ॥

अप्रतिमल्ल नामके सुसज्जित हाथीपर युद्धके सब अस्त्र पहिलेसे ही यथास्थान रख दिये गये थे। इसी अनुपम हाथीके ऊपर कश्चिद्भट आरूढ़ हुआ था। कश्चिद्भटका अपना तेज ऐसा था कि दोनों सेनाओंमें कोई उसकी समता न कर सकता था। अतएव हाथीपर विराजमान होकर वह ऐसा प्रतीत होता था मानों प्रातःकालका सूर्य उदयाचलपर प्रकट हो रहा है ॥ १२ ॥

जिस हाथी पर मंत्रिवर विजयने प्रस्थान किया था उसका नाम अरिञ्जय था, यौवनके मदके कारण उसका कपाल फट पड़ा था, मदजलकी धारसे उसके गण्डस्थल गीले थे तथा उसकी चिंघाड़ वर्षाकालीन मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर थी अतएव उसपर चढ़े हुए विजयमंत्रीकी शोभा वही थी जो कि बादलके ऊपरसे उदित हुए चन्द्रमाकी होती है ॥ १३ ॥

---

१. क °तिरोटः ।

चमूपमन्त्रीश्वरराजपुत्राः गृहीतशस्त्रा युधि दुःप्रधर्षाः ।
आरुह्य मत्तद्विरदेन्द्रवृन्दं प्रतस्थिरे योद्धुमभीप्सवस्ते ॥ १४ ॥
ते कुञ्जराः काञ्चनरज्जुधाराः श्वेतोल्लसच्चामरवीज्यमानाः ।
मयूरपिञ्छध्वजतुङ्गकूटा रेजुर्विसर्पीगिरयो यथैव ॥ १५ ॥
रथाश्च सद्रत्नसुवर्णनद्धा भास्वद्ध्वजच्छत्रचलत्पताकाः ।
महारथैरप्रतिमैर्निविष्टाः कल्पान्तसूर्या इव ते विरेजुः ॥ १६ ॥
युद्धाध्वभारक्षमसत्त्वयुक्ता विचित्रवर्णाः कुलशीलशुद्धाः ।
तुरङ्गमा वायुसमानवेगाः समीयुरुर्वीपतिशासनेन ॥ १७ ॥

इनके अतिरिक्त सब ही सहायक राजा, राजपुत्र तथा समस्त सेनापति अपने अपने शस्त्रोंको लेकर चुने हुए बढ़िया-बढ़िया सुशिक्षित हाथियोंपर आरूढ़ होकर समरस्थलीकी ओर चल दिये थे। यह सबके सब लड़नेके लिए व्याकुल थे क्योंकि युद्धमें इनकी प्रतिद्वन्द्विता करना अति कठिन था ॥ १४ ॥

हस्तिरथ सैन्य

योद्धाओंके वाहन होकर युद्धस्थलीमें जानेवाले यह हाथी भी अपने ऊपर पड़ी सोनेकी रस्सियोंसे चमचमा रहे थे, प्रकाशमान श्वेत चमर उनपर डुर रहे थे उनके ऊपर लहलहाती उन्नत ध्वजाओंपर मोरकी पूँछके शिखर खड़े किये गये थे अतएव वे सबके सब हाथी चलते-फिरते पर्वतोंकी शोभाको आँखोंके सामने प्रकट कर देते थे ॥ १५ ॥

ललितेश्वरकी सेनाके सब ही रथोंमें उत्तम रत्न तथा सोनेका जड़ाव था, चमकती हुई छोटी-छोटी ध्वजाएँ चारों ओर लगी थीं उनपर लगे छत्रोंकी द्युति भी अनुपम थी तथा शिखर पर लहलहाती ध्वजाओंका प्रकाश तो अनुपम ही था। इस बाह्य शोभाके अतिरिक्त उनपर एक एक महारथी (जो अकेले ही दश हजार भटोंसे युद्ध करता है) योद्धा विराजमान था। इन सब कारणोंसे वे रथ प्रलयकालमें उदित हुए अनेक सूर्योंकी समता करते थे।

अश्वारोही-पदाति

युद्धयात्राके लिए महाराजकी अन्तिम आज्ञा होते ही वायुके समान द्रुत गतिसे दौड़नेवाले श्रेष्ठ घोडोंकी सेना बाहर निकल पड़ी थी। इस सेनाके प्रत्येक घोड़ेमें युद्धमार्गके परिश्रम तथा भारको सह सकने योग्य शक्ति तथा शिक्षा थी, सब ही घोड़ोंकी जाति (नस्ल) तथा वंश उत्तम थे तथा उनके विचित्र रंग तो देखते ही बनते थे ॥ १७ ॥

१. क योद्धुमभीप्सुवंस्ते ।

अनेकवेषो बहुदेशभाषस्तटिद्वपुश्च[1]ञ्चलघूर्णितास्त्रः ।
तेषां पुनर्वाजिरथद्विपानां पदातिसंघः पुरतः प्रतस्थे ॥ १८ ॥
केचित्पुनर्भूपतिशासनस्थाः केचित्स्वभावोत्तममानदृप्ताः ।
केचित्परेन्द्रैः परिभूयमाना उत्तस्थिरे योद्धुमभीप्सवस्ते ॥ १९ ॥
देशार्थसंग्रामपुराकरांश्च ताम्बूलवस्त्रोत्तमभूषणानि ।
प्रदाय योऽस्मान्सकलत्रपुत्रान् बभार सन्मानपुरस्सराणि ॥ २० ॥
तस्येश्वरस्याप्रतिशासनस्य समक्षतो मानमदोद्धतानाम् ।
शिरांस्यरीणामसिभिर्निकृत्य[2] निवेदयन्तो [3]निरृणो भवामः ॥ २१ ॥
स्वजीवितं बन्धुजनं विहाय जिघृक्षवो ये प्रतिमल्लनागम् ।
प्रगृह्य तेषां वरवाहनानि निष्कासयामो निरपत्रपांस्तान् ॥ २२ ॥

इस हस्ति, अश्व तथा रथमय महासेनाके आगे-आगे पदाति (पैदल) सेना चल रही थी। अपने-अपने राष्ट्र आदिके द्योतक उनके वेश नाना प्रकारके थे, वे अनेक देशोंसे आये थे अतएव उनकी भाषाएँ भी बहुत थीं तथा युद्धके उत्साहमें वे अपने अपने शस्त्रोंको घुमाते थे, जो बिजलीके समान जगमग तथा चंचल थे ॥ १८ ॥

युद्धके हेतु

पदाति सेनाके कुछ भट केवल महाराज देवसेनकी आज्ञाको पालन करनेके लिए ही लड़ना चाहते थे, दूसरे कुछ सैनिक स्वभावसे ही स्वाभिमानी थे फलतः ऐसे अवसरोंपर शान्त रह ही नहीं सकते थे, अन्य अधिकांश सैनिक ऐसे थे जिनको शत्रु राजाने कष्ट दिया था तथा अपमान किया था अतएव उसके विरुद्ध लड़ना उनका धर्म हो गया था ॥ १९ ॥

विशाल भूभागोंका अधिपतित्व देकर अथवा उत्तम नगरों, सम्पत्ति बहुल आकरों तथा सम्पन्न ग्रामोंका शासक नियुक्त करके, उत्तम वस्त्र, आभूषण, भोजन, पान-पत्ता आदिको सुलभ करके जिस राजाने हमें ही नहीं हमारी स्त्री तथा बच्चों-का उदासीनतासे नहीं अपितु सम्मानपूर्वक भरण-पोषण किया है ॥ २० ॥

तथा राज्यका शासन अथवा शासनकी मान्यतामें कोई अन्य नृपति जिसकी समता नहीं कर सकता है, आजके युद्धमें उस ही धर्मराजके समक्ष अहंकारके नशेमें चूर फलतः उद्दण्ड शत्रुओंके शिरोंको घासके समान तलवारसे काटकर उनके चरणोंमें बलि कर देंगे। और इस प्रकार महाराजके महा ऋणसे ऊरण होनेका प्रयत्न करेंगे ॥ २१ ॥

वीरोंके उद्गार

जो अधम शत्रु अपने सगे सम्बन्धियोंकी नहीं अपने परमप्रिय जीवनको भी बलि करके ललितेश्वरके 'अप्रतिमल्ल'

१. [°तडिद्वपु° ।] २. म निकृत्य । ३. [निर्ऋणा] ।

ये निष्कृपा न्यायपथादपेता विनाश्य देशान्स्वजनं विलुम्प्य ।
तेषां गदाभिः प्रविचूर्ण्य देहान् विशोषयिष्याम इहाजिभूमौ ॥ २३ ॥
ये स्वामिनं नः परिभूय हृष्टाः प्रत्यागता लोभनिविष्टचेष्टाः ।
तानद्य हत्वा समरे दुराशांश्च[1] काकगृध्रानभितर्पयामः ॥ २४ ॥
एवं भटाश्चित्रमुदाहरन्तस्तुरङ्गमातङ्गरथाधिरूढाः ।
समुद्यतास्त्रा[2] धरणीन्द्रगेहान्निश्चक्रतुर्भूपतिना[3] सहैव ॥ २५ ॥
कश्चिद्भटं योद्धुमभिव्रजन्तं नरेन्द्रवेषोद्धतचारुलोलम् ।
समीक्षमाणाः पुरवासिनस्ते जजल्पुरित्थं स्वमनोगतानि ॥ २६ ॥

नामक हस्ति-रत्नका अपहरण करनेके लिए उद्यत हैं, आज समर-स्थलीमें बलपूर्वक उनके उत्तम वाहनोंको ही नहीं ले लिया जायगा अपितु तिरस्कृत करके उन निर्लज्जोंको यहाँसे खदेड़ दिया जायगा ॥ २२ ॥

जो अत्यन्त दयाहीन तथा निर्दय हैं, नीतिमार्गसे योजनों दूर हैं, हमारे देशके ग्रामों, आकरों आदिका जिन्होंने विनाश किया है तथा हमारे देश बन्धुओंका निर्घृण वध किया है, आज उन दुष्टोंकी पापमय देहोंको गदाओंकी मारसे चूर-चूर करके समरस्थली रूपी आँगमें सुखा देंगे ॥ २३ ॥

जिन अर्थलोलुपोंकी प्रवृत्तियोंका लोभ ही नियन्त्रण करता है, फलतः हमारे नीति-निपुण महाराजका तिरस्कार करके जो नरकीट प्रसन्न हुए थे आज समरक्षेत्रमें उन सब दुरात्माओंकी ऐहिक लीला समाप्त करके उनके शरीरोंको मांसलोलुप काक-गीध-आदि पक्षियोंको तर्पण कर देंगे ॥ २४ ॥

रणरंगमें मस्त योद्धा लोग पूर्वोक्त प्रकारसे अपने उत्साहको प्रकट करते हुए घोड़ों, हाथियों तथा रथोंपर सवार होकर महाराज देवसेनके साथ ही भूपतिके प्रसाद (राजभवन) से निकले थे । उन सबके हथियार प्रहारके लिए सुसज्जित ही नहीं थे अपितु वे उन्हें निकालकर हाथमें लिए जा रहे थे ॥ २५ ॥

वरांग का राजरूप

शत्रुकी युद्धकी खाज मिटानेके लिए ही समरयात्रा पर जानेवाले कश्चिद्भटको देखकर ललितपुरके नागरिकोंके मनमें जो भाव उत्पन्न हुए थे विशेषकर राजाओंके उपयुक्त वेशभूषाके कारण बढ़े हुए उसके मनोहर रूपको देखकर, उन सबको उन्होंने आगे कहे जानेवाले वाक्यों द्वारा प्रकट किया था ॥ २६ ॥

---

१. [°श्वकाक] । २. म समुद्यतास्त्रा । ३. [निश्चक्रमुः] ।

नैवासि भद्रार्थविशेषदर्शी हितस्य वक्ता च न तेऽस्ति कश्चित् ।
न योग्यमेतद्वणिजां हि युद्धं किं वान्वयाचिन्तितमेतदार्य[1] ॥ २७ ॥
अनेकहस्त्यश्वरथैः प्रकीर्णं बलं महद्घोषसहस्रपूर्णम् ।
[2]युद्धाविजेतुं समरे न शक्यं मा साहसं कर्म कृथाः प्रशाम्य ॥ २८ ॥
कुतश्चिदागत्य वणिक्सुतोऽभूत्कुतश्चिदागत्य वनेश्वरोऽभूत् ।
कुतश्चिदागत्य जनप्रियोऽभूस्त्वं[3] वत्स मा मृत्युपथं प्रयाहि ॥ २९ ॥
पुरा वराकानटवीचरांस्तानशिक्षितानल्पमतोन्पुलिन्दान् ।
जित्वा रणे सागरवृद्धिपुण्यादिदं तथैवेति मनस्यमंस्थाः[4] ॥ ३० ॥

विशेषरूपसे कोई तुम्हारे हित तथा शुभकी चिन्ता करनेवाला नहीं है। न कोई ऐसा ही है जो तुम्हें हितका उपदेश दे सके ? क्या तुम नहीं समझते हो कि इस प्रकार युद्धमें भाग लेना वणिकोंको शोभा नहीं देता है। अथवा हे आर्य ? यह तुमने क्या विचित्र निर्णय कर डाला है जिसे तुम्हारे वंशमें कभी किसीने मनसे भी न सोचा होगा ॥ २७ ॥

नागरिकोंका मोह

महाराज देवसेनकी यह विस्तृत सेना, जिसमें असंख्य अश्वारोही और गजारूढ़ योद्धा हैं, रथोंकी भी संख्या कम नहीं है तथा हजारों अनुपम महायोद्धाओंसे पूर्ण है, ऐसी यह सेना भी संभव है कि शस्त्र प्रहार करके विजय करनेमें समर्थ न हो अतएव तुम (कश्चिद्भट) अतिसाहस मत करो, शान्त होओ और अब भी रुक जाओ ॥ २८ ॥

किसी अज्ञात स्थानसे आकर तुम अपने शुभ लक्षणोंके कारण सार्थपतिके धर्मपुत्र हो गये थे, इसी प्रकार अकस्मात् अपनी योग्यताओंके कारण वणिकोंकी प्रधानताको पा सके थे तथा कुछ ज्ञात अथवा अज्ञात कारणोंसे ही तुम जनसाधारणके स्नेहभाजन हो गये थे। अतएव हे वत्स ! यों ही मृत्युके मार्गपर क्यों चले जा रहे हो ॥ २९ ॥

जनसाधारणकी कल्पना

इसमें सन्देह नहीं कि इसके पहिले तुमने अकेले ही पामर पुलिन्दोंको जीता था किन्तु वे जंगल-जंगल भागनेवाले रण-कलामें सर्वथा अशिक्षित थे तब रणनीति तथा योजनाको तो जानेंगे ही क्या ? इसके अतिरिक्त उस विजयमें सेठ सागरवृद्धिका पुण्य तुम्हारा प्रधान सहायक भी था। अतएव इस महासमरको भी मन ही मन वैसा ही मत समझो ॥ ३० ॥

---

१. क °चिन्तितमेतदायम्, [किं वा त्वया चिन्तितमेतदार्य]। २. [युद्धं विजेतुं]। ३. क जनेश्वरो। ४. म मनस्यमंस्थ।

सुनन्दया किं तव राजपुत्र्या संक्लेशवैरास्पदभूतया ते ।
या काचिदत्रैव वणिग्जनानां सुतानुकूला च सुखेन लभ्यते ॥ ३१ ॥
किं श्रेष्ठिपुत्रस्य नृपात्मजा वै वेलोदधिं चर्तुमयं प्रयासः ।
गजेन्द्रवृन्दैः परिमृद्यमानं समुद्धरेत्किं वद सा सुनन्दा ॥ ३२ ॥
एवंब्रुवाणानपरे निषिध्य समूचुरित्थं वचनैर्यथार्थैः ।
वणिक्सुतो राजकुमार एष वपुः प्रकाशीकुरुते स्ववंशम् ॥ ३३ ॥
जयारिसेनां स्वभुजोरुवीर्यं[2] भद्राणि मंक्ष्वाप्नुहि[3] भद्रमार्य[4] ।
इत्थं शशंसुस्त्वपरे वचांसि स्वाशीर्जयप्रीतिपुरःसराणि ॥ ३४ ॥
जित्वा रिपूनप्रतिमप्रभावो व्यपास्य राज्ञो हृदयस्य तापम् ।
लभस्व देशं स्वसुतां च पूजां यशःपताकामिति केचिदूचुः ॥ ३५ ॥

राजपुत्री सुनन्दा को पाकर ही तुम्हारा कौन-सा बड़ा हित हो जायगा, क्या तुम नहीं जानते हो कि वह तुम्हारे लिए कितने अपरिमित संक्लेश तथा अमिट वैरका कारण होगी ? जो कोई भी सेठोंकी पुत्री तुम्हारे योग्य तथा उचित होगी वही तुम्हें बिना किसी परिश्रम या भयके सरलतासे ही प्राप्त हो जायगी ॥ ३१ ॥

सार्थपतिके पुत्रका प्रभुताके वातावरण में राजपुत्रीसे सम्बन्ध ही कैसा ? तुम्हारा यह (युद्ध विजय) प्रयत्न तो हाथों-हाथों प्रबल उन्नत लहरोंसे आकीर्ण समुद्रके उस पार जानेके समान है। जब समरभूमिमें तुम्हें मदोन्मत्त हाथियोंके झुण्ड रोंदते हुए निकल जायेंगे उस समय क्या, वह सुनन्दा तुम्हें उस संकटसे बचा लेगी ॥ ३२ ॥

विवेकियोंकी बातें

इन उद्गारोंको प्रकट करनेमें लीन मोहप्रवण व्यक्तियोंको कुछ समझदार सज्जन रोक देते थे तथा उनको समझानेके लिए यथार्थ बातोंको कहते थे। 'जिसे आप लोग सार्थपतिका पुत्र समझे बैठे हैं वह वणिक् पुत्र नहीं है अपितु राजकुमार ही है। देखते नहीं हैं, उसका तेजोमय शरीर ही उसके राजवंशको प्रकट कर रहा है ॥ ३३ ॥

अपने प्रचण्ड भुजदण्डोंके प्रबल पराक्रम द्वारा शत्रुओंकी सेनाको जीतो, शीघ्रसे शीघ्र ही राज्यप्राप्ति, आदि कल्याणोंको प्राप्त करो तथा हे आर्य ! सब प्रकारसे तुम्हारा शुभ हो। इस विधिसे नागरिक पहिले उसकी विजयकी शुभकामना करते हुए आशीर्वाद देते थे और उसका गुणानुवाद करते थे ॥ ३४ ॥

तुम्हारे प्रताप और प्रभावकी सीमा नहीं है, शत्रुओंका मानमर्दन करके ललितेश्वरके पराभवजन्य मानसिक तापको

---

१. म °वीर्यात् । २. [भंक्ष्वाप्नुहि] । ३. [खद्रमार्य] ।

एवं जनानां बहुभिर्वचोभिः प्रशंस्यमानः स्तुतिमङ्गलैश्च ।
पुरो बहिर्भूपतिना सहैव जगाम कश्चिद्भट ऊर्जितश्रीः ॥ ३६ ॥
ज्वलत्किरीटाङ्गदचारुहाराः समुच्छ्रितातिध्वजकेतुलक्ष्याः ।
नरेन्द्रसिंहा बृहदुग्ररोषाः परस्परं ते ददृशुः ससैन्याः ॥ ३७ ॥
प्रभञ्जनाभ्याहतचञ्चलोर्मिरदभ्रनादो जलधिर्यथैव ।
तथैव रोषानिलवेगनुन्नः सेनार्णवः सोऽतिभृशं चकम्पे ॥ ३८ ॥
गजा जगर्जुस्तुरगा हिहेषुर्ज्यामन्दनादान् रथिनः प्रचक्रुः ।
पदातिसैन्यस्य च सिंहनादैराध्ना[1]तदिक्का धरणी बभूव ॥ ३९ ॥

शान्त करो, इसके पीछे सन्मानमें आधे देशका राज्य प्राप्त करो, राजदुलारीके पति बनो तथा सबके पूज्य होते हुए अपनी यश-पताकाको देशदेशान्तरोंमें फहरा दो' ॥ ३५ ॥

वीरानुराग

कश्चिद्भटको देखकर नागरिक लोग उक्त प्रकारसे अनेक वचन कहकर उसकी प्रशंसा ही नहीं करते थे अपितु स्तुतिके साथ-साथ उसके लिए मंगल कामना भी करते थे। इस प्रकार प्रशंसित होता हुआ वह महाराज देवसेनके साथ ही नगरके बाहर निकल गया था। उस समय उसका तेज तथा कान्ति दोनों ही अत्यन्त उज्ज्वल हो रहे थे ॥ ३६ ॥

समरस्थलीके प्रांगणमें इकट्ठे हुए दोनों पक्षोंके राजाओंके किरीट, अंगद तथा सुन्दर मणिमय हार चमचमा रहे थे, उनके वाहनोंके ऊपर लहराती हुई ऊँची-ऊँची पताकाओंको देखकर ही यह पता लगता था कि 'कौन कहाँका राजा है'। उनमेंसे प्रत्येकको अपने शत्रुके ऊपर बहुत तीव्र क्रोध था जिसे शान्त करनेके लिए ही अपनी-अपनी सेनाओंको साथ लिये हुए वे एक-दूसरेको देख रहे थे ॥ ३७ ॥

रणरंगका प्रदर्शन

भयंकर वेगयुक्त आँधीसे चंचल होने पर जब समुद्रमें ऊँची लहरें उठती हैं तथा वह मेघोंकी गर्जनासे भी भयावह रोर कर उठता है। ऐसे ही क्षुब्ध समुद्रके समान क्रोधरूपी आँधीसे बौखलाया हुआ वह सेनासमुद्र भी अकस्मात् बड़े वेगसे उफन पड़ा था ॥ ३८ ॥

हाथी चिंघाड़ रहे थे, घोड़े जोरोंसे हिनहिना रहे थे, रथोंपर आरूढ़ योद्धाओंके धनुषोंकी ज्याका तीव्र शब्द हो रहा था, पैदल सैनिक भी सिंहके समान हृदयको हिला देनेवाला नाद कर रहे थे—तथा ऐसा मालूम हो रहा था कि पृथ्वीकी सब दिशाएँ रुद्र कर्णोद्वेजक रोरसे भरी हुई हैं ॥ ४९ ॥

१. [°राध्मात°]।

शङ्खाश्च भेर्यः पटहाश्च घण्टा वंशास्तथा मर्दलका हलाश्च ।
प्रावृट्पयोदा इव ते रवेण प्रपूरयन्तो गगनं विनेदुः ॥ ४० ॥
स्थानानि संपाद्य चतुर्विधानि विस्फार्य चारूणि धनूंषि दोर्भिः ।
आकर्णपूर्णानवकृष्य पाणौ परस्परं ते विविधुर्नृशूराः ॥ ४१ ॥
तैरीर्यमाणा निशिताः पृषत्का मनोजवा हेमनिबद्धपुङ्खाः ।
वक्षांस्यरीणां विभिदुः पृथूनि कूटान्यथोल्का इव पर्वतानाम् ॥ ४२ ॥
अथेन्द्रसेनस्य नराधिपस्य सेनाऽप्रसह्याभिययौ सरोषा ।
उद्धार्य खड्गानशनिप्रकाशान्प्रत्युद्ययौ देवनरेन्द्रसेनाम्[1] ॥ ४३ ॥

एक ओर शंख फूंके जाते थे तो दूसरी ओर भेरियाँ पीटी जाती थीं, कोई पटह बजाते थे तो दूसरे घंटाको ठोक रहे थे, अन्य लोग बाँसके भोंपू, मर्दल (मृदंग-सा बाजा) काहल, आदि बाजोंको मस्तीसे पीट रहे थे। इन सब युद्धके बाजोंकी सम्मिलित ध्वनिसे आकाश वैसा ही गूँज रहा था जैसा कि वर्षाकालीन मेघोंकी गर्जनासे भर जाता है ॥ ४० ॥

दोनों सेनाओंके युद्धस्थलीमें खड़े हो जानेके बाद सैनिकोंने चार प्रकारके स्थानोंको बनाया था। पहिले दोनों भुजाओंसे फैलाकर सुन्दर धनुषोंपर डोरियाँ चढ़ायी थीं इसके पश्चात् बाण चढ़ाकर हाथसे डोरीको कानतक खींचकर दोनों सेनाओंके वीर सैनिकोंने परस्परमें प्रहार करना आरम्भ कर दिया था। बाणोंके पंखे (पिछले भाग) सोनेके बने थे ॥ ४१ ॥

युद्धारम्भ

वीर सैनिकोंके द्वारा बलपूर्वक फेंके गये ऐसे बाण मनकी गतिके वेगसे छूटते थे तथा सामने खड़े शत्रुओंके विशाल तथा दृढ़ वक्षस्थलोंको उसी प्रकार भेद देते थे जैसे आकाशसे गिरती हुई बिजली पर्वतोंके उन्नत तथा विस्तृत शिखरोंको खंड-खंड कर देती है ॥ ४२ ॥

प्रत्याक्रमण

मधुराधिपतिकी अत्यन्त कुपित सेनाने बड़ी दृढ़ता तथा धृष्टताके साथ एकाएक आगे बढ़कर ललितेश्वरकी सेना पर आक्रमण किया था, जिसे घेरा डालते हुए देखकर ही महाराज देवसेनकी सेनाने मियानसे तलवारें निकाल कर शत्रुसे अधिक वेग और दृढ़ताके साथ प्रत्याक्रमण किया था। ललितेश्वरके सैनिकोंके हाथोंसे चलाये गये खड्गोंकी ज्योति बिजलीके समान प्रकाशित हो रही थी ॥ ४३ ॥

---

१. [°सेना]।

स्वस्वामिसंबन्धकृतप्रतिज्ञा निबद्धरागाः समरेऽभिलाषाः ।
स्ववीर्यमानोन्नतबद्धकक्षाः परस्पराङ्गानि भृशं प्रजह्रुः ॥ ४४ ॥
ईलीभिरालालितभासुराभिः पादातयः प्राक्सहसाभिहन्य ।
शिरांस्युरांस्यूरुकटीररीणां विचिच्छिदुस्तीक्ष्णमुखीभिराशु ॥ ४५ ॥
शरैः परास्त्राण्यभिताडय शूरा निर्भर्त्स्य वक्षांसि ललङ्घिरेऽन्ये ।
ते लङ्घ्यमाना विगतास्त्रहस्ताः प्रसह्य तान्मुष्टिभिराशु जघ्नुः ॥ ४६ ॥
गुर्वीभिरुर्वीभिरथा[1]यसीभिर्गदाभिरुद्भ्राम्य महाबलास्ते ।
विचूर्णयांचक्रुरभीत्य[2] शत्रून्वज्राभिघाता इव पर्वतेन्द्रान् ॥ ४७ ॥
कचग्रहेण प्रदने[3] प्रसह्य निपात्य भूमौ छुरिका[4]प्रहारैः ।
विदार्य वक्षो जठराण्यरीणां प्राणान्विचिन्वन्त इवाशु[5]रन्ये ॥ ४८ ॥

दोनों ही सेनाओंके भट स्वामिभक्त थे, प्रभुकी विजयके लिए प्रतिज्ञा कर चुके थे, अपने प्रभुके प्रति राग तथा शत्रु राजाके प्रति द्वेषसे पूर्ण थे, युद्ध करनेके लिए लालायित थे, उन्हें अपनी शक्तिपर विश्वास था, बड़े अभिमानी थे तथा करने-मरनेके लिए कटिबद्ध थे। अतएव बड़े वेगके साथ परस्परके अंग काट-काट कर फेकते जाते थे ॥ ४४ ॥

पदातियुद्ध

पदाति योद्धाओंने पहिले ही आक्रमणमें ईली शस्त्रका प्रयोग करके शत्रुओंके सिर, वक्षस्थल, जंघा, कमर आदि अंगों-को अकस्मात् ही काट डाला था। क्योंकि ईलियोंकी धार अत्यन्त तीक्ष्ण थी। शत्रुओंके रक्तमें रंगकर वे बिल्कुल लाल हो गयी थीं तथा उनका गहरा लाल रंग खूब चमक रहा था ॥ ४५ ॥

कुछ शूर योद्धा अपने प्रतिद्वन्द्वीके शस्त्रोंको बाणोंकी मारसे ही बेकाम कर देते थे। दूसरे कुछ वीर सन्मुख आये शत्रुकी भर्त्सना करते हुए उचक कर उसकी छातीपर पहुँच जाते थे। इसके बाद लाँघे गये शस्त्रहीन सैनिक अवसर पाकर उन आक्रमण-कारियोंको बलपूर्वक घूंसे मारकर समाप्त कर देते थे ॥ ४६ ॥

अन्य महाशक्तिशाली योद्धा अत्यन्त विशाल तथा भारी लोहेकी गदाओंको घुमाते थे जिनके प्रहारोंसे अपने चारों ओर आये शत्रुओंको ऐसा चकनाचूर कर देते थे जैसे कि आकाशसे गिरे वज्रका अभिघात साधारण पर्वत नहीं महापर्वतोंको चूर-चूर कर देते हैं ॥ ४७ ॥

साक्षात् संघर्षमें कुछ योद्धा शत्रुके बालोंको पकड़ कर झटकेसे पृथ्वी पर पटक देते थे। फिर कृपाणका निर्दय प्रहार

---

१. क °यसाभिः। २. [अभीत°]। ३. [प्रथमे]। ४. म छुरिता। ५. [इवासुरण्ये]।

केचित्पुनर्लब्धशिरःप्रहाराः क्षरन्नवासृक्स्थगितात्मवक्त्राः[1] ।
नैरेक्ष्यमाणा[2] ध्वनिनावगम्या इतोऽमुतो जग्मुरहीनसत्त्वाः ॥ ४९ ॥
विहाय चाभ्यर्णतयाप्नवाने[3] प्रसह्य चक्रुः सहसा नियुद्धम् ।
केचित्परेषां प्रतिगृह्य शस्त्रं व्याहन्तुकामा मुमुचुस्तदानीम् ॥ ५० ॥
परे पराक्षीणि वितुद्य कुन्तैस्ते निःक्रिया वाक्कटुरूक्षबाणैः ।
अधिक्षिपन्तो ज्वलिताग्निकल्पा विसर्जयामासुरवज्ञयान्यान् ॥ ५१ ॥
प्रत्यागतानुद्यतशस्त्रपाणीन् प्रहर्तुकामानभितः समीक्ष्य ।
प्रवञ्च्य शिक्षाबलकौशलेन विनम्य पाशैर्निबबन्धुरन्ये ॥ ५२ ॥

करके उनके पेटको फाड़ देते थे, वक्षस्थलोंको चीर डालते थे तथा इन सब उपायोंसे शीघ्र ही उनके प्राणोंको चुनकर फेंक देते थे ॥ ४८ ॥

किन्ही योद्धाओंके शिर पर ही शत्रुका प्रबल प्रहार पड़ता था, मस्तक फट जाता था और रक्तकी धार बह निकलती थी, जिससे उनका मुख आदि बन्द हो जाता था। फलतः वे अपने शत्रुओंको नहीं देख पाते थे, तो भी शत्रुओंके शब्दसे उनकी दिशाका पता लगाकर अपने आसपासके शत्रुओं पर स्वयं शक्ति क्षीण न होनेके कारण आक्रमण करते ही थे ॥ ४९ ॥

शत्रुके अत्यन्त निकट आ जानेपर कुछ योद्धा शस्त्रोंका प्रहार छोड़कर एकदम आगे बढ़कर मल्लयुद्ध करने लगते थे। दूसरे भट अपने शत्रुओंके शस्त्रोंको छीनकर उन्हें मारनेके लिए कटिबद्ध हो जाते थे, किन्तु उसी समय युद्धनीतिका स्मरण आ जानेके कारण छोड़ देते थे। कुछ ऐसे भी शूरवीर थे जो भालोंकी मारसे शत्रुओंकी आँखें फोड़ देते थे ॥ ५० ॥

मल्लयुद्ध

तब वे नेत्रहीन हो जानेके कारण कुछ कर न सकते थे, फलतः उनके अन्तरंग क्रोधकी ज्वाला भभक उठती थी और वे अपशब्दोंरूपी कटु तथा तीक्ष्ण बाणोंसे अपने शत्रुओंपर आक्रमण करते थे, किन्तु आँखें फोड़नेवाले योद्धा तिरस्कारपूर्वक उन्हें पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाते थे ॥ ५१ ॥

प्रहार करनेकी इच्छासे कुछ योद्धा शस्त्र सहित हाथोंको ऊपर उठाये हुए ही अपने शत्रुको हर तरफसे घेरते थे। किन्तु उन्हें ऐसा करते देखकर वे अपनी युद्धकलाकी कुशलतासे उनकी युक्तिको विफल कर देते थे। इतना ही नहीं उनपर कुशलतासे पाश फेंककर उन्हें बाँध लेते थे ॥ ५२ ॥

१. म °स्थनितात्म° । २. [निरीक्ष्यमाणा] । ३. क °त्नुवाने, [विहायसाभ्यर्णतया प्रयाणे] ।

केचित्पुरापि प्रतिबद्धवैराः पुनर्विशेषेण हि युद्धशौण्डाः ।
संज्ञाभिराहूय परस्परस्य गात्राणि शस्त्रैर्बिभिदुर्नृशंसाः ॥ ५३ ॥
केचित्पुनर्लोहनिबद्धदण्डैश्चण्डाः परेषामभिसंस्कृतानि ।
एकप्रहारैस्तु दृढैरभिन्दन् शिरांस्यलाबूत्पलवत्प्रसह्य[1] ॥ ५४ ॥
केचित्प्रभिन्नाः परशुप्रहारैः समुद्गरैस्तीक्ष्णमुखैश्च टङ्कैः ।
परे गदाघातविचूर्णिताङ्गास्तदैव जग्मुः परलोकमुग्राः ॥ ५५ ॥
तेषां मदोद्भिन्नगजाकृतीनां रणप्रियाणां कृतपौरुषाणाम् ।
शूरव्रणालङ्कृतभासुराणां सुसंप्रहारास्तुमला बभूव[2] ॥ ५६ ॥

कितने ही ऐसे रणवांकुरे थे जो इस युद्धके पहिलेसे ही एक दूसरेके पक्के वैरी थे, फिर इस समय तो कहना ही क्या था ? वे परस्परमें नामसे सम्बोधन करके अपने शत्रुको उसका नाम लेकर अपने सामने बुलाते थे और उसे शस्त्रोंके द्वारा निर्दयतापूर्वक छेद डालते थे ॥ ५३ ॥

युद्धकी भीषणता

कुछ क्रुद्ध तथा उग्र भटोंके दण्डे लोहेकी मूठसे मढ़े थे। ये लोग अपने शत्रुओंके विधिपूर्वक शिरस्त्राण आदिके द्वारा सुरक्षित शिर पर एक ऐसा दृढ़ तथा सटीक प्रहार करते थे कि उनके शिर एक ही चोटमें वैसे ही फट जाते थे जैसे तुम्बी पत्थरकी चोटसे खंड-खंड हो जाती है ॥ ५४ ॥

तीक्ष्ण परशुके प्रहारोंसे अनेक योद्धाओंके शरीर फट गये थे, कुछ लोग भारी मुद्गरों तथा तेज धारयुक्त टंकोंकी मारसे छिन्न-भिन्न हो गये थे, अन्य कितने ही गदाकी सतत मारसे पिस गये थे और वे सब तेजस्वी देखते-देखते इस लोकसे प्रयाण कर गये थे ॥ ५५ ॥

इन समस्त योद्धाओंको रण अत्यन्त प्रिय था, अतएव उसकी सफलताके लिये इन्होंने परिपूर्ण पुरुषार्थ किया था। अपने अहंकारके उद्रेक तथा रक्त आदि लग जानेके कारण उनकी आकृतियाँ मदबहाते हाथियोंके समान हो गयी थीं। वीरोंके उपयुक्त घावोंके द्वारा उनके पूरे शरीर भूषित हो गये थे, तो भी उनके चलते हुए दृढ़ तथा सटीक प्रहार और भी तीव्र और भयानक होते जा रहे थे ॥ ५६ ॥

---

१. [शिरांस्यलाबूत्पल°]। २. [बभूवुः]।

नृकुञ्जराः केचिदहीनसत्त्वाः पादप्रदेशग्रथितान्त्रमालाः ।
विरेजिरे युद्धभुवि भ्रमन्तः पाशावबद्धा इव मत्तनागाः ॥ ५७ ॥
केचिन्नृसिंहा रुधिराक्तशस्त्राः परप्रहारप्रभवोरुवीर्याः ।
विरेजुराजावतिघोररूपा घ्नन्तो गजेन्द्रानिव दृप्तसिंहाः ॥ ५८ ॥
स्वान्त्राणि केचिज्जठरद्धृतानि[1] निगृह्य वामाङ्ककरैर्नृशूराः ।
संगृह्य ड्गखान्यथ दक्षिणैस्तु विरेजुराजाविव राक्षमास्ते ॥ ५९ ॥
अन्तःप्रकोपात्परिवृत्तनेत्राः केचित्पराघातनिरस्तजीवाः ।
निःपीड्य दन्तैर्दशनच्छदांस्ते निपेतुरुर्व्यां तु सहस्रकोट्या ॥ ६० ॥

रणरति

कुछ श्रेष्ठ योद्धा जिनको शक्ति और पराक्रम थोड़ा भी कम न हुआ था वे युद्धक्षेत्रमें दौड़-दौड़कर आक्रमण कर रहे थे। इसी उपक्रममें उनके पैरोंमें मृतकोंकी आँतें फँस गयी थीं तो भी उनकी गतिमें कोई अन्तर न आया था। अतएव वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो पाशसे बँधे हुए मत्त हाथी ही रणभूमिमें इधर-उधर दौड़ रहे हैं ॥ ५७ ॥

कितने ही ऐसे पुरुषसिंह (श्रेष्ठ पुरुष) थे जिनके शस्त्रास्त्र शत्रुके रक्तसे लथपथ हो गये थे तथा शत्रुओंपर प्रहार करते-करते थकनेकी अपेक्षा उनका बलवीर्य और बढ़ सा गया था फलतः वे शत्रुओंको मारनेमें ही लीन थे। उनका यह घोररूप देखकर उन सिंहोंका स्मरण हो आता था जो क्रोधके आवेशमें मत्त गजोंपर आक्रमण करते हैं ॥ ५८ ॥

शस्त्रोंकी मारसे किन्हीं-किन्हीं योद्धाओंके पेटकी आँतें बाहर निकल आयी थीं। किन्तु उन शूरोंने उन्हें बाँयें हाथसे दबा लिया था और दाँयें हाथसे दृढ़तापूर्वक खड्ग पकड़ कर वे जब प्रहार करते थे तो साक्षात् राक्षसोंकी भाँति भयंकर दिखते थे ॥ ५९ ॥

हार्दिक क्रोधका आवेश बढ़ जानेके कारण कितने ही योद्धाओंकी आँखें घूम रही थीं, इस पर भी जब शत्रुका निर्दय प्रहार हुआ तो उनके प्राण पखेरू भी उड़से ही गये थे। तथापि अन्तमें जब सहस्रकोटी (हजार दातोंकी गदा) का प्रहार पड़ा तो वीरतापूर्वक व्यथाको सहनेके लिए ही उन्होंने ओठोंको दाँतोंसे चबा लिया था और आह निकाले बिना ही धराशायी हो गये थे ॥ ६० ॥

---

१. म °द्भुतानि ।

उरस्सु केचित्समरप्रियाणां निहत्य पूर्वं पृथुसर्वलोहैः ।
निःकृष्य यातांस्वरयानुबाध्य[1] तैरेव तांस्तीव्ररुषः प्रजह्रुः ॥ ६१ ॥
परस्पराघातविघट्टितास्त्राः परस्परं पीनभुजैर्निपीड्य ।
निपात्य भूमावतिरोषरौद्राः क्रमेण चक्रु[2]स्तदरोत्तरांस्तान् ॥ ६२ ॥
खड्गैः प्रहन्तॄनितरेतरस्य विलोक्य वैराग्यमयुः सुभीताः ।
रागः समो मध्यमधीषु जातः शौर्यान्वितेषु द्विगुणो बभूव ॥ ६३ ॥
लब्ध[3]व्रणाः श्रान्ततमा रुदन्तस्तृषार्दिताः शीतलजलाभिलाषाः ।
लज्जां विहायैव जिजीविषन्तः प्रदुद्रुवुः साध्वससन्नचित्ताः ॥ ६४ ॥

रणकला प्रदर्शन

समरके रागमें मस्त कितने ही योद्धाओंके वक्षस्थलपर कोई-कोई शत्रु सर्वलोह (पूराका पूरा लोहेसे बना अस्त्र) आयुधसे पहिले प्रबल प्रहार करते थे। किन्तु जब वे आगेको बढ़ने लगते थे तब उसी सर्वलोह आयुधको निकाल कर वे उन्हें रोक लेते थे और उसीका प्रहार करके मार डालते थे ॥ ६१ ॥

आपसमें सतत प्रहार करते रहनेपर जब भटोंके अस्त्र टूट जाते थे तो एक दूसरेको अपनी-अपनी पुष्ट तथा बलिष्ठ भुजाओंसे दबाकर पृथ्वापर पटक देते थे। क्रोधसे अत्यन्त उग्र होकर वे लड़ते-लड़ते अपने प्रतिद्वन्दियोंके पैर ऊपरकी ओर और शिरको नीचे कर देते थे ॥ ६२ ॥

रणदर्शनकी प्रतिक्रिया

जो लोग स्वभावसे भीरु और दुर्बल थे वे योद्धाओंको खड्गों द्वारा आपसमें जूझता देखकर भयसे विह्वल हो गये थे। जो न तो भीरु थे और न प्रथम श्रेणीके योद्धा थे उन्हें संग्राम करनेवालोंके प्रति समान अनुराग हो गया था। तथा जो स्वयं शूरवीर थे उनका उत्साह दुगुना हो गया था ॥ ६३ ॥

आतंक तथा भयसे जिनके चित्त सहज ही सन्न हो रहे थे, वे लोग एक घाव लगते ही अत्यन्त शिथिल हो गये थे, कष्टसे रोते थे, प्याससे उनके गले सूख गये थे, शीतल जल पीनेके लिए वे आतुर थे, किसी भी प्रकार जीवित रहना चाहते थे अथवा लोकलाजको छोड़कर वे भागे जा रहे थे ॥ ६४ ॥

---

१. [यातांस्वरयानुबाध्य]। २. [चक्रुस्त्वधरोत्तरांस्तान्]। ३. क बद्धव्रणाः।

मत्तद्विपानां चरणाभिघातैः खुरावपातैर्वरवाजिनां च ।
पदातिपातै रथनेमिनद्धै[1] रजस्ततानाम्बरदिग्मुखानि ॥ ६५ ॥
अभ्यर्णयोगात्प्रतिमिश्रिताश्च रजोऽवतानान्मतिविभ्रमाच्च ।
प्रहर्तुकामाः प्रसमुद्यतार्था न जज्ञिरे ते स्वजनाञ्जनांश्च ॥ ६६ ॥
एवं प्रवृत्ते समरेऽतिघोरे परस्परघातरवातिभीता ।
रजःपटागुंठितविग्रहा सा मही न रेजे सभयाङ्गनेव ॥ ६७ ॥
ते चापि योधाः पिहिताक्षिवक्त्राः करावमर्शप्रतिबद्धसंज्ञाः ।
चिरादिवात्मप्रियबन्धुवर्गान्नाश्लिष्यते मोचयितुं समर्थाः ॥ ६८ ॥
नृणां हयानां करिणां बृहद्भिर्व्रणैर्महच्छोणितमुद्गिरद्भिः ।
रणाजिरोत्कीर्णरजः शशाम प्रावृट्पयोदैरिव रेणुरुर्व्याः ॥ ६९ ॥

समरस्थली

मदोन्मत्त हाथियोंके भारी पैरोंसे लगातार रौंदे जानेके कारण, हृष्टपुष्ट तथा फुदकते हुए बढ़िया घोड़ोंकी टापोंकी मारसे, पदाति सेनाकी दौड़ धूपके कारण तथा विशाल रथोंके पहियोंके द्वारा कूची गयी समरस्थलीसे उड़ी हुई धूलने समस्त दिशाओंको ढक लिया था ॥ ६५ ॥

इस समयतक दोनों सेनाएँ इतनी निकट आ गयी थीं कि दोनों पक्षोंके सिपाही आपसमें मिल गये थे, इस कारणसे, धूलके सर्वदिक फैलावके कारण अथवा बुद्धिभ्रष्ट हो जानेके कारण ही सैनिक प्रहार करनेकी अभिलाषासे जब शस्त्र उठाकर बढ़ते थे तो अपने सपक्षी और विपक्षीको भी नहीं पहिचान पाते थे ॥ ६६ ॥

इस प्रकारसे अत्यन्त भयंकर और घोर युद्ध चलते रहने पर, शूरोंके पारस्परिक आघातोंसे अत्यन्त भीत तथा धूलरूपी साड़ीसे अपने शरीरको ढँकनेवाली पृथ्वी उसी प्रकार शोभित हो रही थी जैसी कि कोई डरी हुई कुलांगना प्रतीत होती है ॥६७॥

योद्धाओंके मुख तथा आँखें धूलसे भर गयी थीं फलतः न वे बोल सकते थे और न देख सकते थे। केवल एक दूसरेका हाथ के छूनेसे ही उन्हें किसीका ज्ञान होता था। फलतः वे दीर्घ प्रवासके पश्चात् मिले हुए घनिष्ठ बन्धु बान्धवोंके समान एक दूसरेको गाढ़ रीतिसे बाहुपाशमें बाँध लेते थे और उससे छूटनेमें असमर्थ हो जाते थे ॥ ६८ ॥

मनुष्य, घोड़े तथा हाथियोंको इस संग्राममें बड़े-बड़े घाव लगे थे जिनसे रक्त ही नहीं निकला था अपितु रक्तको

१. म °नेमिनर्दैः ।

प्रवृद्धधूमाकृतिधूसराणि नभोभुवं च प्रति तानि याति[1] ।
असृग्विमिश्राणि रजांसि तत्र तान्येव सिन्धूरवपूंषि बभ्रुः ॥ ७० ॥
प्रशान्तरेणौ चरणप्रचारे परस्परालोकविवृद्धवैराः ।
आहूय तान्नामभिरुग्ररोषाः पदातयो जघ्नुरतीव शूराः ॥ ७१ ॥
हयांस्तु जातिप्रवरान्विनीतानारुह्य कार्योद्वहने समर्थान् ।
विकृत्य कुन्तेष्वसिपाशहस्ता बलं रिपूणाममृदुः[2] प्रसह्य ॥ ७२ ॥
अथेतरेऽप्यस्त्रकलाप्रगल्भाः भृशं द्विषद्भिः परिभूयमानाः ।
प्रति प्रधाव्याश्च सहस्रवृन्दैः समन्ततस्तान् रुरुधुः क्षणेन ॥ ७३ ॥

विशाल धारा भभक-भभक कर बह रही थी। जिसके द्वारा समरांगणकी समस्त धूल वैसे ही बैठ गयी थी जैसे वर्षाकालीन मेघों की मूसलाधारसे पृथ्वी पर उड़ती धूल जम जाती है ॥ ६९ ॥

संहारमें कवित्वकी अठखेलियाँ

पहिले जो धूल खूब बढ़ी हुई धूम्रराशिके समान मलिन रंगको धारण करती हुई आकाशमें उड़ती दिखायी देती थी। वही धूल बादमें रक्तसे मिल जानेके कारण आकाशकी ओर उठती हुई ऐसी प्रतीत होती थी मानों अबीर या सैन्दुरकी आंधी उड़ रही हो ॥ ७० ॥

उक्त रीतिसे धूलके बैठ जानेपर फिर युद्ध प्रारम्भ हो गया था। इस समय दोनों सेनाओंके शूर एक दूसरेको एक पग की दुरिपर ही देख सकते थे, अतएव इस दर्शनने उनकी क्रोधज्वालामें आहुतिका काम किया था। इसी कारण वे उस समय पहिलेसे बहुत बढ़कर शूर हो गये थे। पदाति क्रोधमें उन्मत्त होकर एक दूसरेको नाम लेकर बुलाते थे और मारक प्रहार करते थे ॥ ७१ ॥

पुनः संघर्ष

योद्धा उत्तम जातिके सुशिक्षित ऐसे घोड़ोंपर आरूढ़ होते थे जो उनकी उस समयकी लड़ाईको सफल करने योग्य थे फिर जो भालोंकी मार, तलवार की काट पाशोंके फन्दोंको काटते हुए आगे बढ़ते जाते थे और शत्रुओंकी सेनाको निर्दयतापूर्वक कुचल देते थे ॥ ७२ ॥

किन्तु दूसरे कुछ योद्धा युद्धकला तथा शस्त्र संचालनमें इनसे भी अधिक दृढ़ तथा कुशल थे। फलतः जब शत्रुके अश्वारोहियों द्वारा उनका अपमान होता था तो वे दूसरे ही क्षण हजारों घोड़ोंपर सवार होकर उन सब पर प्रत्याक्रमण करते थे। और क्षणभरमें ही उन्हें ऐसा घेर लेते थे कि उन्हें निकल भागना असंभव हो जाता था ॥ ७३ ॥

---

१. [भान्ति]। २. [रिपूणां ममृदुः]।

रथाधिरूढाः प्रचलत्किरीटा[1] ज्वलत्तनुत्रावृतसर्वगात्राः ।
धनुर्भिराशिवन्द्रधनुर्वपुर्भिर्वर्षासु धारा इव तेऽप्यदीव्यन् ॥ ७४ ॥
मदोद्धतानामथ कुञ्जराणां चलन्महाशैलसमाकृतीनाम् ।
स्कन्धाधिरूढाः प्रतियोद्धुकामाः परस्परं तेऽभ्यनयन्गजेन्द्रान् ॥ ७५ ॥
एवंप्रकारे तुमुले विमर्दे शौर्यस्य पुंसामनुयोगभूतम् ।
समुद्धृतासिद्युतिसंनिरस्ता प्रभाविभूतिः स ब [–˘––][2] ॥ ७६ ॥
ते योधमुख्याः कणपैर्गदाभिः सतोमरैः पट्टिसाभिण्डिमालैः ।
चक्रैश्च शूलैः पृथुलोहवृन्तैः प्रजघ्नुरन्योन्यममोघमोक्षैः ॥ ७७ ॥
केचिद्विसृष्टानि वरायुधानि ह्यकौशलाच्चिच्छिदुरन्तरिक्षे ।
केचिद्विगृह्यान्तर एव वीरस्तदैव [–] [3]तान्यमुचन्परेभ्यः ॥ ७८ ॥

रथयुद्ध

रथोंपर आरूढ़ योद्धाओंके शिरोंपर बँधे मुकुट जगमगा रहे थे। उनकी पूरीकी पूरी तेजोमय देह अत्यन्त चमचमाते हुए कवचसे सुरक्षित थी। उनके धनुषोंकी दृढ़ता आदि गुण इन्द्रधनुषको ही कोटिके थे इन धनुषोंके द्वारा वे निरन्तर बाण फेंककर शस्त्र-क्रीड़ा कर रहे थे। बाण क्या छूट रहे थे मानों वर्षामें मूसलाधार पानी इन्द्रधनुष ही बरसा रहा था ॥ ७४ ॥

मदजलके स्त्रावके कारण अत्यन्त उद्धत तथा चलते फिरते महापर्वतोंके समान विशाल ढीठ हाथियोंपर आरूढ़ योद्धा परस्परसे एक दूसरे पर प्रहार करनेके लिए अपने अपने मस्त हाथियोंको शत्रुओंके निकट लिये जा रहे थे ॥ ७५ ॥

उक्त प्रकारसे दारूण और घोर संघर्ष चल रहा था इसमें पुरुषोंके शौर्य तथा साहस दोनोंका उत्कृष्ट उपयोग हो रहा था। कोशसे बाहर खींचकर चलायी जानेवाली तलवारोंकी द्युतिके सामने सूर्यकी किरणोंका उद्योत मन्द पड़ गया था, फलतः विचारा सूर्य उस समय प्रभाहीन ही दिखायी देता था ॥ ७६ ॥

इस समय तक प्रधान-प्रधान योद्धा संग्राममें उतर चुके थे। वे कणप, गदा, तोमर, पट्टिस (एक प्रकारका फरसा) भिण्डिपाल (हाथसे फेंका जानेवाला) चक्र, बरछी तथा बड़े-बड़े लोहेके भालों द्वारा परस्परमें ऐसे प्रहार करते थे जिनका लक्ष्य कभी चूकता ही न था ॥ ७७ ॥

युद्धकी चरम-सीमा

शत्रु के द्वारा फेंके गये बढ़ियासे बढ़िया शस्त्रोंको कुछ योद्धा अपनी रणकुशलताके कारण आकाशमें ही कांट-छांट

१. क तिरीटाः । २. क बभूव सूराः । ३. [ते]।

गजैर्गजाः प्रस्फुरदभ्रिकल्पा रथे रथाश्चैस्कृतताः समेता (?)।
तवातियुध्यन्त हयैर्हयास्ते पदातयस्तत्र पदातिभिश्च ॥ ७९ ॥
गजास्तुरङ्गाश्च विपन्नदेहाः क्षितौ पतन्तः करुणं व्यचूकुजुः।
नरा वराका युधि भीरवोऽन्येऽप्यलब्धकामा मरणं प्रयाताः ॥ ८० ॥
लब्धव्रणानां रणकर्कशानां वक्षस्स्थलेभ्यः स्रुतरक्तधाराः।
[२]युतं विरेजुः कृतसाहसानां शैलेन्द्रभित्तिष्विव धातुधाराः ॥ ८१ ॥
महाजिभूमौ रुधिराक्तगात्रा प्रभग्नमातङ्गरथाश्ववृन्दा।
बहिर्गतान्त्राभविलम्बमाला सन्ध्याभ्ररागं सकलं बभार ॥ ८२ ॥
क्वचिद्गजानां शवसंकटत्वात्क्वचिद्धयाङ्गावयवैकदेशात्।
क्वचित्कबन्धप्रतिनर्तनाच्च महारणो भीमतमो बभूव ॥ ८३ ॥

देते थे और वे उनतक पहुँच न पाते थे। दूसरे इनसे भी अधिक कुशल थे वे उन्हें बीचमें ही रोककर पकड़ लेते थे और दूसरे ही क्षण उन्हें उनके चलानेवालोंपर ही चला देते थे ॥ ७८ ॥

पर्वतके समान विशाल होते हुए भी वेगसे बढ़ते हुए गज, गजोंसे भिड़ रहे। अश्वारोही, अश्वारोहियोंके साथ तुमुल युद्ध करते तथा पैदल सैनिक पैदल सैनिकोंपर टूट रहे थे ॥ ७९ ॥

जब हाथियों और घोड़ोंके शरीर क्षत-विक्षत हो जाते थे तो वे पर्वतकी शिखरोंकी भाँति पृथ्वीपर गिरते थे और अत्यन्त करुण चीत्कार करते वे तथा कितने ही क्षुद्र प्राणी जो स्वभावसे भीरु थे वे अपनी लड़नेकी अभिलाषा तथा उसके उत्तरकालीन फलोंको बिना पाये ही अकारण ही मौतके घाट उतर गये थे ॥ ८० ॥

कितने ही वीर प्रकृतिसे ही भयंकर रूपके कठोर योद्धा थ, उनके ऊपर घात पर घात पड़ रहे थे। उसके सुदृढ़ विशाल वक्षस्थलोंसे रक्तकी नदी बही जा रही थी किन्तु वे तब भी साहसपूर्वक लड़ते हुये खड़े थे। उस समय उनकी वही शोभा थी जो कि किसी विशाल-उन्नत पर्वतकी होती है जब कि उससे गेरू घुले जलकी धार बहती है ॥ ८१ ॥

इस महासमरकी पूरी रणस्थली रुधिरकी धारसे आर्द्र हो गयी थी, उसपर टूटे फूटे रथ, खण्डित अश्व और कटे छटें हाथियोंके शव पड़े थे, मृत शूरों तथा जन्तुओंके शरीरोंसे बाहर निकली आतोंकी मालाएँ उस पर पड़ी थीं अतएव उसकी पूरी की पूरी छटा संध्याकालीन मेघोंके समान हो गयी थी ॥ ८२ ॥

वीभत्सतामें कर्कशत्व

किसी स्थान पर मरे हुए हाथियोंकी इतनी देहें इकट्ठी हो गयी थीं कि वहाँ निकलना भी असंभव हो गया था, कहीं

---

१. [च] २. [द्रुतं]।

स्थितः क्वचिच्च क्वचिदेव नग्नः[1] क्वचित्पुनः शूरगतिं प्रपन्नः ।
क्वचिच्च नीचः क्वचिदेव तुङ्गः क्वचिज्जयं प्राप्य भृशं जहर्ष ॥ ८४ ॥
इति गजरथवाजिपादभारैर्विपुलबलैः समदैश्चतुर्विधैस्तैः ।
उभयनृपयशोवसन्तभूतैर्निचिततया बभूव मिश्रयुद्धम् ॥ ८५ ॥
ललितपुरपतेर्नराधिपस्य प्रथितधियो मधुराधिपस्य राज्ञः ।
यदभवदनयोर्विशेषयुद्धं तदहमशेषमतस्तु संप्रवक्ष्ये ॥ ८६ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
मिश्रकयुद्धो नाम सप्तदशमः[2] सर्गः ।

पर घोड़ोंके अंगोंके ढेर हो गये थे, कहीं कहीं पर छिन्न मस्तक शरीर (कबन्ध) जोरोंसे नाच रहे थे। इन सब कारणोंसे समर-भूमिकी भीषणता चरमसीमा तक पहुँच गयी थी ॥ ८३ ॥

कहीं पर लोग मूर्च्छित होकर शान्त पड़े थे, कहींपर भग्न शरीर लोगोंके ढेर थे, किसी अन्य स्थान पर लोग लगातार वीरगतिको प्राप्त हो रहे थे। कहींपर समरभूमि गहरी मालूल देती थी तो दूसरी ओर शवों आदिके ढेरसे पर्वत समान उन्नत हो गयी थी, कहीं पर लोग विजय होनेके कारण आनन्द विभोर हो रहे थे ॥ ८४ ॥

इस प्रकार दोनों ओरसे उद्धत तथा मत्त हस्ति, अश्व, रथ तथा पदाति चारों प्रकारकी विशाल सेनाएँ मथुराधिप और ललितेश्वरके यशरूपी शिरोभूषणके समान हो रही थीं। इनके अतिरिक्त घोर संघर्षके कारण वह युद्ध मिला हुआ-सा (अर्थात् कौन जीत रहा है इस अनुमानके अयोग्य या समान) प्रतीत होता था ॥ ८५ ॥

प्रजाओंको परमप्रिय नीतिपटु ललितपुरेश्वर तथा प्रसिद्ध तथा प्रख्यात कुबुद्धि मथुराधिप इन दोनोंके बीच जो विशेष वैयक्तिक संघर्ष हुआ था उसे मैं इसके आगे विस्तृत रूपसे कहता हूँ ॥ ८६ ॥

चारों वर्गसमन्वित सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक
धर्मकथामें मिश्रकयुद्ध-नाम सप्तदश सर्ग समाप्त ।

---

१. [भग्नः]। २. [सप्तदशः]।

अष्टादशः सर्गः

नरेश्वरा ये मधुराधिपस्य भृत्याः प्रकृत्यर्थपराः समेताः ।
तान्सामदानप्रमुखैरुपायैः स देवसेनः स्ववशे चकार ॥ १ ॥
ततो महत्त्वं त्वविगण्य तस्य जिगीषया नीतिपराक्रमाभ्याम् ।
तदेन्द्रसेनेन स योद्धुकामः स्वयं प्रतस्थे खलु देवसेनः ॥ २ ॥
संतेजनोपायविधानमार्गैः प्रोत्साह्यमानामथ सान्त्वदानैः ।
विजेतुकामोऽथ वरूथिनीं तां व्यूहं विधिज्ञः कृतवानभेद्यम् ॥ ३ ॥
कृतोपधानाः खलु योधमुख्याः पुष्टा यथाकाममसृत्युभीताः ।
अन्वागता येऽप्यनुरागिणश्च सवाहनास्तान्प्रशशास योद्धुम् ॥ ४ ॥

अष्टादश सर्ग

नीतिसे रणसंचालन

मथुराधिप इन्द्रसेनके साथ जो अनेक राजा आये थे वे तथा उसके अधिकांश सेवक स्वभावसे ही अर्थलोलुप थे। उन्हें अर्थसंचयकी अभिलाषा ही ने इन्द्रसेनके अनुगामी बननेके लिए बाध्य किया था। फलतः महाराज देवसेनने उनको साम, दान आदि उपायोंका प्रयोग करके उन सबको मथुराधिपसे फोड़ कर अपने वशमें कर लिया था ॥ १ ॥

विजयकी सदिच्छासे प्रेरित होकर कूटनीति तथा पराक्रमके द्वारा उक्त प्रकारसे शत्रुके महत्त्वको घटाकर महाराज देवसेनने स्वयं लड़नेका निश्चय किया था। वे अहंकारी इन्द्रसेनके साथ साक्षात् युद्ध करके उसे व्यक्तिगत युद्धमें ही हराना चाहते थे ॥ २ ॥

महाराज देवसेन रणनीतिके पंडित थे और शत्रुको सर्वथा परास्त करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर चुके थे अतएव उन्होंने अपनी विशाल सेनाकी फिरसे इस प्रकार से व्यूह रचना की थी, कि उस व्यूह रचनाके कारण उसकी पंक्तिको किसी दिशासे तोड़ देना असंभव ही था। जिस ओर सैनिकोंका उत्साह शान्त होता दिखता था उस ओर पुरस्कार आदिकी घोषणाके द्वारा वे उत्तेजित किये जाते थे। तथा जिधरके सैनिक उत्तेजित होकर व्यूहको शिथिल करना चाहते थे उन्हें उचित उपायोंसे शान्त किया जाता था ॥ ३ ॥

विश्राम करके लौटे हुए प्रधान योद्धा उस समय खूब पुष्ट थे। मृत्युके भयको तो उन्होंने बिना किसी प्रलोभनके ही नष्ट कर दिया था। इनके अतिरिक्त राजभक्त तथा राष्ट्र और कर्त्तव्यके समर्थक लोग स्वेच्छासे ही अपने-अपने वाहनों

स्वभावतः शूरतमाः कृतास्त्रा लब्धाभ्यनुज्ञाश्च पुनर्नृपेण ।
इतस्ततः शत्रुचमू वरास्त्रैर्घ्नन्तो विचेरुर्युधि कालकल्पाः ॥ ५ ॥
एवं प्रवृत्तं समरं सुघोरं महार्णवक्षुब्धतरङ्गलोलम् ।
शस्त्रातिसंघट्टनजातवह्निं समीक्ष्य राजा च तदेन्द्रसेनः ॥ ६ ॥
बलाहकाख्यं वरवारणेन्द्रं द्रुतं समारुह्य गृहीतशस्त्रः ।
षड्भिर्गजानां तु वृतः सहस्रैः किमास इत्येतदथाजगाम ॥ ७ ॥
आयान्तमालोक्य तदिन्द्रसेनं[1] महेन्द्रविक्रान्तमपारवीर्यः ।
करीन्द्रवृन्दैर्विजयोऽभ्युपेत्य पुरःसरीं तस्य चमूं रुरोध ॥ ८ ॥

पर आरूढ़ होकर सेनाके साथ चले आये थे। महाराज देवसेनने इन सबको भी उस अन्तिम युद्धमें भाग लेनेके लिए आज्ञा दी थी ॥ ४ ॥

शस्त्रकलाके विशेषज्ञ महावीरोंको स्वभावसे ही युद्धमें आनन्द आता था, इसपर भी उस समय तो उन्हें महाराजकी आज्ञा प्राप्त थी। परिणाम यह हुआ कि वे अपने तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंके द्वारा शत्रुसैन्यको मारते हुए इधर-उधर दौड़ते फिरते थे। उस समय वे संग्राम भूमिमें घूमते हुए साक्षात् यमोंके समान मालूम देते थे ॥ ५ ॥

ललितपुरके देशभक्त वीर

तूफान आने पर समुद्र क्षुब्ध हो जाता है तथा उसमें ऊँची भीषण लहरें उठनेपर जो दृश्य होता है, वही उस समय चलते हुए घोर तथा दारुण संग्रामका भी हाल था। शस्त्र इतने बल तथा वेगसे चल रहे थे कि उनके आपसमें टकराने पर आगके तिलंगे निकल पड़ते थे ॥ ६ ॥

मथुराधिपका आक्रमण

इनको देखते ही मथुराधिप इन्द्रसेनने स्वयं शस्त्र उठाया था, एक क्षण भी नष्ट किये बिना वह बड़ी शीघ्रतासे बलाहक नामके अपने उत्तम हाथीपर चढ़ गया था। 'मैं अब भी क्यों बैठा हुआ हूँ।' यह कहकर उसने प्रयाण कर दिया था तथा उसे चारों ओरसे घेरे हुए छह हजार हाथियोंकी विशाल सेना चल रही थी ॥ ७ ॥

इन्द्रसेनके शारीरिक वीर्यका पार न था, वह महेन्द्रके समान पराक्रमी था अतएव ज्यों ही अपनी सेनाके साथ उसे अपने ऊपर आक्रमण करते देखा त्यों ही सुशिक्षित उत्तम हाथियोंकी विपुल सेना लेकर महामंत्री विजयने आगे बढ़ती हुई मथुराकी सेनाको रोक दिया था ॥ ८ ॥

---

१. [तमिन्द्रसेनं]।

आकर्णपूर्णानि शरासनानि कृत्वैव लक्ष्येषु निपात्य दृष्टीः ।
अन्योन्यमिष्वस्त्रविदः समेताः समन्ततः [1]संविविधुः प्रसह्य ॥ ९ ॥
गजाधिरूढैस्तु निपात्यमानास्ते शङ्कवो हस्तिषु बद्धपिच्छाः ।
शिखण्डिनः पर्वततुङ्गकूटान्निलीयमाना इव पर्वतेषु ॥ १० ॥
तेषां तु संनाहवतां गजानां मुखेषु संयन्त्रिवचोदितानाम् ।
आदन्तवेष्टादितरेतरस्य दन्ता ममर्जुर्दृढलोहबद्धाः ॥ ११ ॥
ते तोमराघातविभिन्नगात्राः प्रच[2]रल्लोहिततीव्रधाराः ।
गजा मदान्धाः समरे रिपूणामौत्पातिकाम्भोधरभीमरूपाः ॥ १२ ॥

शस्त्र-संचालनमें अत्यन्त पटु दोनों ओरके सैनिक अपने-अपने लक्ष्यों पर एकटक आँख गड़ाकर शरासन (धनुष) को कानके पासतक खींच ले जाते थे, तब बाण छोड़कर अकस्मात् ही एक-दूसरेको वेध देते थे। यह दृश्य सारे समरांगणमें उस समय लगातार दृष्टिगोचर होता था ॥ ९ ॥

विजयमंत्रीका प्रतिरोध

हाथियों पर आरूढ़ योद्धाओंके द्वारा शत्रु हाथियों पर ही चलाये गये पूंछ युक्त शंकु (विशेष प्रकारके भाले) उनकी विशाल देहोंमें धँस जानेपर ऐसे मालूम देते थे मानों पर्वतोंके ऊँचे-ऊँचे शिखरोंमें मोर घुस गये हैं और उनके पंखे ही बाहर रह गये हैं ॥ १० ॥

युद्धमें लिप्त हाथियोंके शरीर भी संनाह (कवच) से ढके हुये थे तो भी जब वे कुशल महावतोंके द्वारा आगेको हाँके जाते थे तो वे एक-दूसरेसे भिड़ जाते थे तथा संनाहके कारण शरीरमें कहीं भेद्य स्थान न मिलनेके कारण लोहेसे मढ़े हुए उनके विशाल दाँत एक दूसरेके मुखोंमें पूरेके पूरे धँस जाते थे ॥ ११ ॥

हस्तियुद्ध

तोमर आदि तीक्ष्ण तथा विशाल आयुधोंके आघातसे हाथियोंकी देहें फट जाती थीं, घावोंमेंसे रक्तकी मोटी-मोटी धाराएँ वेगके साथ बह निकली थीं। किन्तु वे मादक द्रव्य पिलाकर उन्मत्त किये गये थे फलतः वे भीमकाय पशु उस युद्धमें शत्रुओं-के लिए प्रलयकालीन मेघोंके समान भयंकर और घातक हो रहे थे ॥ १२ ॥

---

१. क संविदधुः । २. [परिक्षरल्लोहित°] ।

गदाश्च गुर्व्यः परिघा बृहन्तो निशातधारा दृढशक्तयश्च ।
निपात्यमाना युधि योधमुख्यैश्चक्रुः परास्तत्करिणः स्व[1]यन्तृन् ॥ १३ ॥
अन्योन्यदन्तांस्तु बलाद्गजेन्द्रा उपाट्य रोषाद्विस[2]तत्क्षणेन ।
स्वलोहितार्द्रैरभिजघ्नुरन्यान्नीराजनायामिव तैरलातैः ॥ १४ ॥
योधान्गजस्योर्ध्वगतांस्तु केचित्सपूर्वमध्यान्तनिषादिनोऽन्यान् ।
संबन्धविद्धैर्निशितैः पृषत्कैर्निपातयामासुरपेत्य धीराः ॥ १५ ॥
विनिश्चितार्था विजयस्य योधा धनुर्विमुक्तैरिषुभिः किरन्तः ।
उपेन्द्रसेनस्य बलं विशालं परा[3]ङ्मुखीचक्रुरतुल्यवीर्याः ॥ १६ ॥
पराङ्मुखानामथ सैनिकानां पृष्ठेषु कान्ताननवीक्षितेषु ।
बाणा निपेतुर्द्रवतां जवेन पश्चार्धकायेषु च कुञ्जराणाम् ॥ १७ ॥

महा बलिष्ठ प्रधान योद्धाओंके द्वारा उस समय भारी और विशाल गदाएँ, बड़े-बड़े परिघ (चक्रके आकारका शस्त्र) तथा अत्यन्त तीक्ष्ण धारयुक्त और उससे भी बढ़कर दृढ़ शक्तियाँ हाथियोंके ऊपर बरसायी जा रही थीं। जिनकी मारसे विचलित होकर हाथी ही नहीं मारते थे अपितु अपने महावतोंको भी परास्त कर देते थे ॥ १३ ॥

हाथी इतने उत्तेजित हो गये थे कि वे क्रोधसे पागल होकर मृणालकी भाँति एक-दूसरेके दाँतोंको सूंडसे बलपूर्वक उखाड़ लेते थे और रक्तसे लथपथ अतएव तेज लाल रंगयुक्त उन्हीं दाँतोंको तुरन्त ही दूसरोंपर दे मारते थे। उनके द्वारा दाँतोंका फेंका जाना आरतीके समय फेंकी गयी फुलझरियोंका स्मरण कराता था ॥ १४ ॥

कितने ही धीरवीर योद्धा हाथियोंके ऊपर हौदेमें बैठे हुए शत्रुओंको अथवा आगे, बीचमें या पीछेकी ओर बैठे हुए शत्रुके भटोंको एक ही साथ, भलीभाँति कसे गये तीक्ष्णधारयुक्त बाणोंसे भेदकर पृथ्वीपर गिरा देते थे ॥ १५ ॥

महामंत्री विजयके सैनिक लक्ष्यभेदमें सिद्ध थे अतएव वे अपने धनुषोंसे फेंके गये बाणोंको बिल्कुल सटीक रूपसे शत्रुओंपर बरसा रहे थे। फल यह हुआ कि मथुराके युवराज उपेन्द्रसेनकी सेना संख्यामें विशाल होते हुए भी अनुपम पराक्रमी विजयकी सेनाके द्वारा पराङ्मुख कर दी गयी थी ॥ १६ ॥

शत्रु पराभवका प्रारम्भ

युद्ध यात्रापर आनेके पूर्व विदाके समय कान्ताओंके मनोहर नेत्रोंके द्वारा देखी गयी पीठोंपर ही उस समय विजयके

---

१. म सयंतृन् । क २. [रोषाद्विसवत्]। ३. क पराङ्मुखं ।

तेषां पुनः प्रद्रवतां ध्वजाश्च छत्राणि चामीकरदण्डवन्ति ।
विधूतबालव्यजनानि चैव पेतुः पताकाश्च सवैजयन्त्यः ॥ १८ ॥
उपेन्द्रसेनस्तु विलोक्य सेनां विभज्यमानां विजयप्रधानैः ।
विहाय लज्जामय विद्रवन्तीमपारसत्त्वः प्रसभं चुकोप ॥ १९ ॥
संनाहिनः स्वान्करिणां समूहांस्ततस्तिरस्कृत्य धनुर्विकृष्य ।
उपेन्द्रसेनस्त्वरितोऽभ्यगच्छज्जिघांसया तं विजयस्य सैन्यम् ॥ २० ॥
आयातमारोपितचारुचापं शरैः किरन्तं रिपुवाहिनीं ताम् ।
स्वतेजसा प्रज्वलितार्कभासं मेने जनः कालमिवोग्ररूपम् ॥ २१ ॥

सैनिकोंके बाण पड़ रहे थे क्योंकि शत्रु-सैनिक पराङ्मुख होकर अत्यन्त अस्त-व्यस्त होकर भाग रहे थे। सैनिकोंके समान ही मत्त कुञ्जरोंकी देहके पिछले भाग पर शस्त्र पड़ रहे थे ॥ १७ ॥

जिस समय वे विमूढ़ होकर भाग रहे थे उसी समय उनकी ध्वजाएँ अपने आप गिर गयी थीं, उत्तम सोनेसे बने डंडोंसे युक्त छत्र लगातार गिर रहे थे, पहिले जो सुन्दर विजने हिलाये जा रहे थे अब उनको कोई सम्हालता ही न था तथा वैजयन्ती मालाओंसे वेष्टित पताकाएँ भी भूमिको चूम रही थीं ॥ १८ ॥

जब उपेन्द्रसेनने देखा कि विजयमंत्रीके सेनापति उसकी सेनाको खंड-खंड करके खदेड़े दे रहे हैं तो उसके क्रोधकी सीमा न रही थी। क्रोधके आवेशमें उसने लौकिक लाज तथा मर्यादाको भुलाकर अपने सैनिकोंपर बुरी तरह बिगड़ना प्रारम्भ कर दिया था ॥ १९ ॥

शत्रुकी विवेकहीनता

सेनाओंके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण साधारतया उसकी सेना कठिनाईसे जीती जा सकती थी। किन्तु क्रोधके आवेशमें उसने गजसेनाकी उपेक्षा करके अपने प्रबल धनुषको ही खींचा था। विजय मंत्रीकी विजयी सेनाका संहार करनेकी अभिलाषासे प्रेरित होकर उपेन्द्रसेन उक्तरूपमें ही शीघ्रतासे बढ़ रहा था ॥ २० ॥

अपने विशाल तथा दृढ़ धनुषपर बाण चढ़ाकर शत्रुकी सेनापर मूसलाधार इषुवर्षा करता हुआ वह बड़े वेगके साथ बढ़ा आ रहा था, उसका उस समयका उग्र तेज मध्याह्नके सूर्यके उद्योतके समान चमक रहा था फलतः विजयके सैनिकोंको वह यमके समान भयंकर लगता था ॥ २१ ॥

जयश्रिया संजनितानुरागैः स्वसैनिकैः संपरिवारितस्तैः ।
तस्थौ परस्याभिमुखो मुहूर्तं रणाजिरे युद्धमदोपनद्धः ॥ २२ ॥
उपेन्द्रसेन[1] प्रतिचोद्यातास्तद्योधवीरा विदितास्त्रयोगाः ।
शरोरुधारास्त्वमुचन्नजस्रं प्रावृट्पयोदा इव वारिधाराः ॥ २३ ॥
तच्छौर्यवीर्यप्रतिनष्टचेष्टस्तत्सैनिकाक्रान्तहृतप्रतापः ।
तद्बाणनिर्भिन्नतनुः स मन्त्री तिरोदधे स्म स्वनराधिपेन ॥ २४ ॥
उपेन्द्रसेनाभिहतप्रतापं प्रभग्नसेनं विजयं निरीक्ष्य ।
कश्चिद्भटस्तूर्णमुपेत्य तस्य स्थितः पुरस्तादनपेतसत्त्वः ॥ २५ ॥

उपेन्द्रका प्रत्याघात

उसके जिन सैनिकोंको विजयश्रीके प्रति दृढ़ अनुराग था वे सबके सब उसको घेरे हुए व्यूहरूपसे उसके साथ, साथ आगे बढ़ रहे थे फलतः युद्धके मदसे अभिभूत होकर वह एक मुहूर्त भरके ही लिए रणनीतिपटु शत्रुके सामने समरभूमिमें जम सका था ॥ २२ ॥

उस समय वह अपने साथ बढ़नेवाले प्रधान सैनिकोंको आगे बढ़नेके लिए प्रोत्साहित कर रहा था अतएव कुशल शस्त्रसंचालक वे योद्धा भी अपने धनुषोंसे बाणोंकी महाधारा ही बरसा रहे थे, मानो वर्षाकालीन मेघ बिना रुके ही मूसलाधार जलवृष्टि कर रहे हैं ॥ २३ ॥

उपेन्द्रसेनके शौर्य तथा वीर्यके पूरमें महामंत्री विजयको कोई काम करना ही कठिन हो गया था, उसके उद्धत सैनिकोंने उसे चारों ओरसे घेरकर सर्वथा निस्तेज कर दिया था। इतना ही नहीं उपेन्द्रके बाणोंकी मारसे उसका शरीर भी क्षत-विक्षत हो गया था। इन सब कारणोंसे महाराज देवसेनने स्वयं बढ़कर उसे अपनी आड़में ले लिया था ॥ २४ ॥

कश्चिद्भटका आक्रमण

उसी समय अद्वितीय योद्धा कश्चिद्भटने देखा कि महामंत्री विजयकी सेना शत्रुके आक्रमणसे छिन्न-भिन्न हो गयी है तथा मंत्रीका निजी प्रताप (सूर्य) भी उपेन्द्रसेनके रणकौशल (राहु) के द्वारा ग्रस लिया गया है। तब वह बड़े वेगसे आगे बढ़ा था। और मंत्रीके आगे जाकर शत्रुके सामने जम गया था क्योंकि उसका सामर्थ्य तो महायुद्ध करके भी न घटा था ॥ २५ ॥

---

१. [उपेन्द्रसेनं]।

घण्टारवोन्मिश्रिततूर्यघोषं रत्नप्रभाहृत्पितभानुभासम् ।
गजेन्द्रकेतुं प्रतिलक्ष्यमाणं गजाधिपं त्वप्रतिमल्लसंज्ञम् ॥ २६ ॥
आरुह्य नीलाद्रिस[1]मासकल्पं कश्चिद्भटं बालरविप्रकाशम् ।
घ्नन्तं स्वसैन्यं प्रसमीक्षमाणस्तमैन्द्रसेनिः प्रसह[2]न्नुवाच ॥ २७ ॥
किं वा स्ववंशानुचितेन तेन तवार्धराज्येन मुखेन मृत्योः ।
सुनन्दया वा किमु कालरात्र्या जीवन्नरः पश्यति भद्र भद्रम् ॥ २८ ॥
नृपैर्नृपाणां समरे प्रवृत्ते नैवासि योग्योऽत्र वणिक्सुतत्वात् ।
अपोह्य[3]थास्मत्पुरतोऽल्पबुद्धे न्यूने वयं नो भजमुच्छ्रयामः ॥ २९ ॥
लप्सयेऽहमुर्वीशसुतामिति त्वं दुराशया क्लेशमुपैष्यकस्मात् ।
तादृग्विधं निस्त्रपमप्रवीणं न हन्मि निष्कारणमाशु याहि ॥ ३० ॥

वह अप्रतिमल्ल नामके गजरत्न पर आरूढ़ था जिसके घंटाका धीर गम्भीर आराव तूर्य आदि बाजोंकी ध्वनिमें भी ऊँचा था, उसके गण्डस्थलों आदि अंगोंपर पड़े रत्नोंकी कान्ति सूर्यकी प्रभाको भी मन्द कर देती थी, वह अपने ऊपर फहराते हुए ऐरावतके चित्रयुक्त केतुके द्वारा दूरसे पहिचाना जा सकता था तथा उसकी काया नीलगिरि पर्वतके विस्तारके समान थी ॥ २६ ॥

इसपर विराजमान महावीर कश्चिद्भट प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे। वे निर्दयतापूर्वक शत्रुकी सेनाका संहार कर रहे थे। उन्हें ऐसा करता देखकर मथुराधिप इन्द्रसेनके पुत्रने जोरसे हँसते हुए उनको ललकारा था ॥ २७ ॥

उपेन्द्रकी दर्पोक्ति

हे भद्रपुरुष ! ललितेश्वरके आधे राज्यसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? राज करना तुम्हारे वंश (वणिक्) में अनुचित ही है (वणिक स्वभावसे नम्र होता है अतएव शासन नहीं कर सकता है) क्योंकि शासन तो सीधा मृत्युका मुख ही है। इसी प्रकार सुनन्दाको पाकर भी तुम्हें क्या रस मिलेगा ? वह भी तुम्हारे लिए कालरात्रिके समान है ॥ २८ ॥

प्राण बचाओ, मनुष्य जियेगा तो अनेक अभ्युदयोंको पायेगा। यहाँपर राजा लोग राजाओंके साथ लड़ रहे हैं फलतः तुम इस संग्राममें सम्मिलित होनेके अधिकारी नहीं हो, कारण तुम एक सार्थपतिके पुत्र हो। अतएव हे क्षुद्रबुद्धि ? मेरे सामनेसे शीघ्र ही हट जाओ, क्योंकि हम योद्धा लोग अपनेमें नीच पर हाथ नहीं उठाते हैं ॥ २९ ॥

'मैं पृथ्वीपति देवसेनकी राजकुमारीसे व्याह करूँगा।' ऐसी दुराशासे प्रेरित होकर तुम अकारण ही महान कष्टोंको

---

१. क °समान°। २. क प्रसमन्, [प्रहसन्]। ३. [अपेह्यथास्मत्]।

यदि [1]प्रयातं पुरतो न चेच्छेस्तावत्प्रतीक्षस्व मुहूर्तमात्रम् ।
निकृत्य तेऽङ्गानि नृपात्मजायै संप्रेषयाम्यद्य हि मा त्वरिष्ठाः ॥ ३१ ॥
उपेन्द्रसेनस्य युवाधिपस्य युवत्वतेजोबलगर्वितस्य ।
गिरं निशम्यात्ममनोरुजन्तीं कश्चिद्भटः प्रत्यवदद्दृषा तम् ॥ ३२ ॥
यो वा स वाहं तव किं मयात्र गजः स एवायमभीप्सितार्थः ।
मयाधिरूढस्तु सहैव पित्रा त्वां प्रापयत्यद्य यमातिथित्वम् ॥ ३३ ॥
गजं परेषां परराजयानीं ग्रहीतुकामस्तु विनैव वैरात् ।
किमागतस्त्वं धनमानदृप्तो लज्जान्वितश्चेद्वद जातिधीर ॥ ३४ ॥

क्यों उठा रहे हो। तुम्हारे ऐसे अशक्य अनुष्ठान करनेवाले अकुशल तथा निर्लज्ज व्यक्तिको मैं बिना किसी विचारणीय कारणके नहीं मारता हूँ; जल्दीसे भागो ॥ ३० ॥

मेरे बार-बार कहने पर भी यदि तुम संघर्ष होनेके पहिले नहीं भागना चाहते हो, तो लो एक मुहूर्त भरके लिए रुक जाओ ताकि मैं बाणोंकी मारसे तुम्हारे एक-एक अंगको काटकर आज ही महाराज देवसेनकी पुत्रीके पास भेजता हूँ। ठहरो, अब शीघ्रता मत करो ॥ ३१ ॥

उपेन्द्रसेन अपने यौवनके बल और तेजके अहंकारसे उन्मत्त होकर जिन अकथनीय वचनोंको कह रहा था उन्हें सुनकर महावीर कश्चिद्भटका हृदय क्षत-विक्षत हो गया था अतएव क्रोधसे तमतमा कर ही उन्होंने उस अहंकारी मथुराके युवराजको उत्तर दिया था ॥ ३२ ॥

कश्चिद्भटकी धीरोक्ति

मैं जो कुछ भी हूं, अथवा वही हूँ जो तुम कहते हो, पर इससे तुम्हें क्या ? मैं आज इस समरस्थलीमें उसी हाथीपर आरूढ़ हूँ जो तुम्हारे उत्कट मनोरथोंका विषय है। इतना ही नहीं आज मैं ही इसपर आरूढ़ रहकर इसे तुम तथा तुम्हारे पिताके ऊपर छोड़ूँगा और यह तुम दोनोंको निश्चयसे यमका अतिथि बना देगा ॥ ३३ ॥

तुम अपनी जातिके ही कारण धीर वीर हो, तुम्हें अपनी प्रभुता तथा सम्पत्तिका अहंकार है तो भी पहिलेसे कोई वैर न रहते हुए भी तुम दूसरे राजाके हस्तिरत्न, राज्य तथा राजधानीको बलप्रयोग करके छीनने आये हो ? यदि इतनेपर भी लज्जा नहीं आती है; तो बको ॥ ३४ ॥

---

१. [प्रयातुं]।

विक्रीतवान्यो[1] नयवद्विनीतः शूरः कृतास्त्रो न च मृत्युभीरुः ।
संग्रामकाले स जयत्यरातीनाकृष्यमाणो म्रियते न कश्चित् ॥ ३५ ॥
स्वजीवितेनात्र ममाग्रतस्तु यदि प्रयातो निरुपद्रवेण ।
प्रेक्षस्व पश्चात्तव मृत्युकल्पं श्रीदेवसेनाख्यमदीनसत्त्वम् ॥ ३६ ॥
अवज्ञयान्यांस्तु विवक्षते[2] वा यत्किंचिदात्मोन्नतिगर्वदग्धः ।
निरस्तविज्ञानगुणावबन्धः स लाघवं सत्सु परं प्रयाति ॥ ३७ ॥
न केवलं वाक्कलहेन कार्यं निरर्थकेनैवमथावयोस्तु ।
व्यक्तीभवत्यद्य हि पौरुषस्य सुवर्णसारो निकषाश्मनीव ॥ ३८ ॥
प्रशस्य तावद्वणिजां प्रहारान्प्राणक्षयं कर्तुमनीहमानान् ।
इति ब्रुवाणो वरवारणेन्द्रं कश्चिद्भटो योद्धुमुपानिनाय ॥ ३९ ॥

जो व्यक्ति वास्तवमें विक्रम दिखाता है, तो भी नीति तथा विनम्रताका गला नही घोंटता है, शस्त्र परिचालनमें कुशल होनेके साथ, साथ हृदयसे भी शूर होता है तथा मृत्युसे नहीं डरता है वही घोर युद्ध उपस्थित होनेपर शत्रुओंका पराभव करता है, कोई भी व्यक्ति घसीटे (चाहे) जानेपर ही नहीं मरता है ॥ ३५ ॥

यदि किसी भी प्रकारसे तुम आज मेरे सामनेसे उपद्रवमें बिना पड़े ही अपने प्राणोंको बचाकर आगे बढ़ गये तो महाशय ! तुम्हें उस महा पराक्रमीका सामना करना पड़ेगा जो कि महातेजस्वी और पुरुषार्थी है । तथा तुम्हारे लिए साक्षात् मृत्यु है, वे हैं ललितेश्वर महाराज देवसेन ॥ ३६ ॥

अपनी क्षणिक उन्नतिके अहंकारसे अन्धा होकर जो व्यक्ति दूसरोंकी अवज्ञा करता है तथा जो कुछ भी मनमें आता है उसे खूब विकृत करके कहता है । पदार्थोंके विशेष ज्ञान तथा शिष्टता आदि गुणोंकी सम्पत्तिसे हीन वह व्यक्ति जब सज्जनोंके सामने आता है तो उसका पतन अवश्य होता है ॥ ३७ ॥

इसके सिवा केवल वाचनिक युद्धसे क्या लाभ है, वह तो सर्वथा निरर्थक है । आजके घोर संघर्षमें ही हम दोनोंका पुरुषार्थ उसी प्रकार संसारके सामने आ जायेगा । जिस प्रकार कसौटीपर कसते ही सोनेका सार (शुद्धि) तुरन्त व्यक्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

लो, सामने आओ और सार्थपतिके पुत्र वणिकके प्रहारोंकी और प्रशंसा करो क्योंकि वे (प्रहार) तुम्हारे प्राणोंका

---

१. [विक्रान्तवान्यो] । २. क विवक्षिते ।

अभ्यर्णमायान्तमुपेन्द्रसेनः समीक्ष्य कोपायतताम्रदृष्टिः ।
बलाहकं ताम्रगिरिप्रकाशं कश्चिद्भटस्याभिमुखं निनाय ॥ ४० ॥
मृगेन्द्रशावाविव संप्ररुष्टौ युद्धातिशौण्डाविव भर्त्सयन्तौ ।
परस्परं व्यद्धमयःशरौघैः प्रारब्धवन्तौ प्रतिबद्धवैरौ ॥ ४१ ॥
बृहत्पृषत्कैस्त्वथ वत्सदन्तैः सूचीमुखैः[1] पूर्णतमार्धचन्द्रैः ।
कर्णेषु नाराचवरैश्च तीक्ष्णैरविध्यतां तौ च परस्परं हि ॥ ४२ ॥
ताभ्यां धनुर्वेदविशारदाभ्यां विमुक्तनाराचशरोरुवर्षाः ।
विभासमानाः खतलं वितत्य वर्षासु धारा इव संनिपेतुः ॥ ४३ ॥

नाश तो करना ही नहीं चाहते हैं।' इस प्रकारसे शिष्ट शैलीमें शत्रुको उत्तेजित करते हुये कश्चिद्भटने अपने सर्वोत्तम हाथीको टक्कर लेनेके लिए आगे बढ़ा दिया था ॥ ३९ ॥

क्रोधोन्मत्त उपेन्द्र

कश्चिद्भटकी सौम्य भर्त्सनाने उपेन्द्रसेनको इतना कुपित कर दिया था कि उसकी पूरी आँखें लाल हो गयी थीं। इसी अवस्थामें उसने कश्चिद्भटको अपने निकट आता देखकर ताम्बेके पर्वतके समान विशाल तथा दृढ़ अपने बलाहक नामके हाथीको उसके सामनेकी ओर ही बढ़ा दिया था ॥ ४० ॥

उस समय कश्चिद्भट तथा उपेन्द्रसेन यह दोनों ही सिंहके किशोरोंके समान कुपित थे, युद्धकलामें सर्वोपरि दक्ष वीरोंके उपयुक्त एक दूसरेकी भर्त्सना कर रहे थे, परस्परमें एक दूसरेके प्रति उनके हृदयोंमें गाढ़ वैरभाव बँध चुका था। अतएव एक दूसरेको छेद-भेद देनेके लिए उन्होंने लोहेके तीक्ष्ण बाणोंकी बौछार प्रारम्भ कर दी थी ॥ ४१ ॥

युवराज-द्वन्द्व

पहिले उन्होंने बड़े-बड़े बाणोंकी वृष्टि की थी उसके उपरान्त वत्सदन्त (दांतीयुक्त बाण) प्रहार किये थे। कभी वे सुईकी नोकके समान तीक्ष्ण मुखवाले बाणोंको फेंकते थे तो दूसरे ही क्षण अर्धचन्द्र समान मुखके बाणों द्वारा आघात करते थे। अत्यन्त तीक्ष्ण तथा उत्तम विधिसे बने बाणोंके द्वारा कानोंपर मार करते थे। इस प्रकार वे एक दूसरेको छलनीके समान छेदते जा रहे थे ॥ ४२ ॥

वे दोनों ही युवराज धनुष विद्याके पंडित थे फलतः जब वे अपने दृढ़ धनुषोंके द्वारा वेगसे बाणवर्षा करते थे, तो वे सब

---

१. क शूचीमुखैः ।

अन्योन्यमर्माणि निरीक्षमाणावन्योन्यशस्त्राणि च वञ्चयन्तौ ।
स्वसन्धिमर्माण्यभिपालयन्तौ शार्दूलपोताविव भर्त्सयन्तौ ॥ ४४ ॥
सर्वायसैः प्रासवरैश्च शूलैश्चक्रैश्च गोलायसंशङ्कुभिश्च ।
[1]सभिण्डिमालैः कणपैश्च तीक्ष्णैरद्रेरिवाद्रिं क्षिपतः स्म तूर्णम् ॥ ४५ ॥
उपेन्द्रमुक्तानि वरायुधानि विकुण्ठितान्यप्रतिमल्लमूर्ध्नि ।
मुखे ममज्जुर्वणिजात्मजेन मुक्तानि तानीन्द्रसुतद्विपस्य ॥ ४६ ॥
अथेन्द्रसेनस्य सुतेन मुक्ता ममज्जु[2] मूर्ध्ना प्रतिमल्लनाम्नः ।
बलाहकस्योन्नतकुम्भभेदं चकार कश्चिद्भुटमुक्तशक्तिः ॥ ४७ ॥

वाण धारावाही रूपसे उनके बीचके आकाशमण्डलको वैसे ही ढक लेते थे जैसे कि वर्षाऋतुमें मूसलाधार बरसती हुई वृष्टि व्याप्त कर लेती है ॥ ४३ ॥

दोनों ही एक दूसरेके मर्मस्थलों तथा छिद्रों (अरक्षित अंगों) को लक्ष्य बना रहे थे। इससे भी अधिक तत्परतासे आपसी आघातों और शस्त्रोंकी मारको कुशलतासे बचा जाते थे। अपने-अपने शरीरोंकी संधियों तथा सुकुमार स्थान नेत्र आदिकी पूर्ण रक्षा कर रहे थे, सिंहके किशोरोंके समान एक दूसरेपर गुर्रा रहे थे ॥ ४४ ॥

नीचेसे ऊपर तक लोहे, तथा लोहेसे बनाये गये बढ़िया प्रास (फरसेका भेद) शूल (विशेष भाला) चक्र तथा गोलाकार लोहेकी ही विशाल बरछियोंके द्वारा परस्परमें प्रहार करते थे, तथा भिन्दिपाल (दण्डाकार अस्त्र) कणप (बरछा-भाला) आदि अत्यन्त धाराल शस्त्रोंके द्वारा वैसे ही आघात कर रहे थे जैसे एक पर्वतपरसे दूसरे पर्वत पर आक्रमण हो रहा हो ॥ ४५ ॥

मथुराके युवराज उपेन्द्रके द्वारा चलाये गये सब शस्त्रास्त्र अप्रतिमल्ल हाथीके मस्तकसे टकराकर बिल्कुल कुण्ठित हो जाते थे। किन्तु तथोक्त वणिक् पुत्रके हाथोंसे मारे गये अस्त्र इन्द्रसेनके सुतके हाथीके मुखमें लगातार धँसते जाते थे ॥ ४६ ॥

इसके बाद ही उपेन्द्रसेनके द्वारा फेकी गयी महाशक्ति हस्तिरत्न अप्रतिमल्लके शिरमें आकर चुभ ही गयी थी। किन्तु जब वेगके साथ कश्चिद्भटने शक्तिको चलाया तो उसने मथुराके युवराजके हाथी बलाहकके उन्नत कुम्भोंको फोड़ ही डाला था ॥ ४७ ॥

१. [सभिन्दिपालैः] ! २. क ममज्जुं, [ममज्ज मूर्ध्नि] ।

उपेन्द्रसेनाहृतशङ्कवस्ते निपेतुराशु प्रतिमल्लमूर्ध्नि ।
कश्चिद्भटप्रेरिततोमराणि बलाहकाङ्गावयवानभिन्दन् ॥ ४८ ॥
तौ वारणेन्द्रौ भवतस्तदानीं व्रणाननेभ्यः स्रुतरक्तधारौ ।
उल्काभिघातक्षतभिन्नरूपौ यथा नगौ स्यन्दितधातुधारौ ॥ ४९ ॥
असृक्परिक्लिन्नतमाङ्गरागो गलोज्ज्वलत्काञ्चनरज्जुबद्धौ ।
सविद्युतौ सान्ध्यवपुर्भृतौ तौ विरेजतुर्वारिधराविवेभौ ॥ ५० ॥
अन्योन्यमुक्तानि च तोमराणि सर्वायसान्यप्रतिमद्युतीनि ।
नभस्तले रेजुरतीव तानि सविद्युदुल्का इव संपतन्त्यः ॥ ५१ ॥
उपेन्द्रसेनेन विमुक्तशक्तिः करेण वामेन निपात्य भूमौ ।
कश्चिद्भटो दक्षिणबाहुनाशु जघान शक्त्या हृदि सर्वशक्त्या ॥ ५२ ॥

तब उपेन्द्रसेनने पूरे बलके साथ अप्रतिमल्लपर शंकुओंको मारा था जो कि उसके सुदृढ़ मस्तकपर लगकर नीचे गिर गयी थी, किन्तु जब इसका उत्तर देते हुए कश्चिद्भटने तोमरोंको फेंकना प्रारम्भ किया तो उनके द्वारा बलाहकके अंग और अवयव ही कटने लगे थे ॥ ४८ ॥

कविकी पिनक

उस दारुण संग्रामके बीच उन दोनों श्रेष्ठ हाथियोंको अनेक घाव लगे थे जिनमेंसे रक्तकी मोटी धारें बह रही थीं। अतएव वे ऐसे लगते थे मानो उल्कापातके आघातसे पहाड़ फट गये हैं और उनमेंसे गेरू घुले हुए जलके झरने फूट पड़े हैं ॥ ४९ ॥

घावोंसे बहते हुए रक्तके लेपसे उनके पूरेके पूरे शरीर खूब लाल हो गये थे, उनकी ग्रीवाओंपर अत्यन्त चमचमाती हुई सोनेकी शृंखलाएँ बंधी हुई थीं। अतएव उन्हें देखनेपर ऐसा आभास होता था मानो सन्ध्याके रागसे लाल हुए वारिधरों (मेघों) में बिजली चमक रही हो ॥ ५० ॥

वे दोनों ही एक दूसरे पर तोमरोंका प्रहार कर रहे थे जो पूरेके पूरे लोहेसे बने थे तथा स्वच्छता और माँजनेके कारण उनकी चमक अनुपम हो गयी थी। फलतः छोड़नेके उपरान्त जब वे आकाशमेंसे उड़कर गिरते थे तो चमकती बिजली युक्त वज्रके गिरनेकी भ्रान्ति हो जाती थी ॥ ५१ ॥

इसी समय उपेन्द्रसेनने पूरे बलके साथ कश्चिद्भटके ऊपर शक्तिको चलाया था, जिसे उन्होंने अपने बाँये हाथसे रोककर पकड़ कर भूमि पर फेंक दिया था तथा अपने दाँये हाथके द्वारा तुरन्त ही सर्वशक्ति आयुधको चला कर उपेन्द्रसेनके हृदयपर प्रबल प्रहार किया था ॥ ५२ ॥

तत्तीक्ष्णशक्तिप्रहतोऽभिपद्य चक्रेण सन्ध्यार्कवपुर्धरेण ।
पाश्चात्यमप्याशु निपात्य भूमौ कश्चिद्भटस्य प्रचकर्त केतुम् ॥ ५३ ॥
किं वा त्वयाहं चिरमत्र योत्स्ये वणिक्सुतेनास्त्रगुणाश्रयेण[1] ।
इति प्रभाष्य प्रतिभर्त्स्यनीतिर्मुमोच चक्रं पुनरैन्द्रसेनिः ॥ ५४ ॥
आयान्तमालोक्य हि कालचक्रं तद्वञ्चयित्वा स्थिरधीः सुचक्रम् ।
धृतं प्रगृह्यान्यदमोघचक्रं चिच्छेद हस्तं कटकावनद्धम् ॥ ५५ ॥
भूयोऽप्युपेन्द्रस्य हि पारिपार्श्वान्निहत्य तूर्णं कणपप्रहारैः ।
ध्वजातपत्रामलचामराणि निपातयां भूमितले बभूव ॥ ५६ ॥

कश्चिद्भटको तीक्ष्ण शक्तिके आघातसे तिलमिला कर उपेन्द्रसेनने चक्रके द्वारा प्रहार किया था जो कि सन्ध्याकालीन सूर्यके समान विशाल और भयंकर था। उस चक्रने कश्चिद्भटके पीछे बैठे योद्धाको शीघ्र ही पृथ्वीपर गिराकर उसके उन्नत केतुको काट डाला था ॥ ५३ ॥

घात-प्रत्याघात

'किसी प्रकारसे शस्त्र परिचालनकी शिक्षाको प्राप्त करनेवाले तुम्हारे ऐसे वणिक्सुतके साथ मेरा ऐसा योद्धा अब और अधिक कालतक लड़ कर क्या करेगा ?' इस प्रकार बकते हुये कश्चिद्भटकी भर्त्सना करनेके उपरान्त ही इन्द्रसेनके अहंकारी पुत्रने नीति (शस्त्र विशेष) नामके घातक चक्रको अपने शत्रुपर चला दिया था ॥ ५४ ॥

कालचक्रके समान अपने ऊपर आते हुए उपेन्द्रसेनके नीतिचक्रको देखकर भी उसकी बुद्धि जरा भी नहीं घबड़ायी थी अतएव वह उसे सहज ही व्यर्थ कर चुका था। इतना ही नहीं इसी अन्तरालमें उसने एक सर्वोत्तम चक्रको जिसका गोलाकार आघात कभी व्यर्थ न जाता था शीघ्रतासे उठा कर उपेन्द्रसेनपर मारा था और उसके कटक भूषित बाँहको काटकर फेंक दिया था ॥ ५५ ॥

इसके पश्चात् लगातार शस्त्रवर्षा करके उसने उपेन्द्रके आस-पासके योद्धाओंको मार डाला था। वह विद्युत् वेगसे कणपोंका प्रहार कर रहा था जिनके द्वारा उसने उपेन्द्रकी ध्वजा, आतपत्र, शुभ्र तथा निर्मल चमर आदि काट-काट कर पृथ्वीपर बिखेर दिये थे ॥ ५६ ॥

---

१. म °गुणाश्रमेण ।

शिक्षाबलेनात्मपराक्रमेण छिन्नैकहस्तः पुनरैन्द्रसेनिः ।
मुहूर्तमेवं युयुधेऽतिवीरो भग्नैकदन्तो द्विरदो यथैव ॥ ५७ ॥
कश्चिद्भटोऽस्त्राण्यमुचद्विशङ्को द्वाभ्यां भुजाभ्यां द्रुतमायताभ्याम् ।
जवेन गत्वा विविशुः शरीरे यथोरगेन्द्रा विवरेऽचलस्य ॥ ५८ ॥
उपेन्द्रसेनस्य वरायुधानि सव्येन हस्तेन विनिःसृतानि ।
ययुः पुनस्तानि च मन्दमन्दं लूनैकपक्षा विहगा यथैव ॥ ५९ ॥
निर्वीर्यतां राजसुतस्य बुद्ध्वा कश्चिद्भटश्चारुभटोऽतितूर्णम् ।
गजं गजेन्द्राप्रतिमल्लनाम्ना बलाहकं वायुरिवोन्म[1]मर्थी ॥ ६० ॥
दिवा इषन्तं प्रतिभग्नदन्तं बलाहकं चाप्रतिमल्लनागः ।
प्रहृत्य तूर्णं करपाददन्तैर्हस्तेन हस्तं करिणो न्यका[2]सीत् ॥ ६१ ॥

इन्द्रसेनके पुत्रका यद्यपि एक हाथ कट चुका था तो भी उसकी आयुधशिक्षा तथा पराक्रम इतने परिपूर्ण थे कि उनके बलपर ही वह अतिवीर एक मुहूर्त पर्यन्त अपने शत्रुसे वैसे ही भिड़ता रहा था जैसे कि मत्त हाथी एक दाँत टूट जानेपर भी अपने प्रतिद्वन्द्वी हाथीसे टक्कर लेता रहता है ॥ ५७ ॥

इस अवस्थामें अपाततः कश्चिद्भट निशंक हो गया था। तथा शीघ्रतासे चलती हुई अपनी दोनों विशाल बाहुओंके द्वारा शत्रुपर सतत शस्त्र बरसा रहा था। वे सब शस्त्र वेगसे शत्रुतक पहुँचकर उसके शरीरमें ऐसे धँस रहे थे जैसे कि पर्वतके छिद्रोंमें बड़े-बड़े साँप घुसते हैं ॥ ५८ ॥

उपेन्द्रसेन भी अपने बाँये हाथके द्वारा उत्तमसे उत्तम शस्त्र चला रहा था किन्तु एक हाथके बलसे पर्याप्त प्रेरणा न मिलनेके कारण वे शस्त्र धीरे-धीरे जाते हुए ऐसे लगते थे मानो एक-एक पंखा कटे पक्षी ही उड़े जा रहे हैं ॥ ५९ ॥

द्वन्द्वका चरमोत्कर्ष

कुशल तथा सुन्दर योद्धा कश्चिद्भटको इन्द्रसेनके राजपुत्रकी वीर्यहीनताको समझनेमें देर न लगी, उसे अकर्मण्य जानकर उसने हस्तिराज अप्रतिमल्लको शत्रुके बलाहक नामके हाथीपर बढ़ा दिया था जो कि वायुके समान वेगसे उसपर जा टूटा था ॥ ६० ॥

विचारे बलाहकका एक दाँत पहिले ही टूट चुका था। वह तो किसी प्रकार वीरगतिकी कामना कर ही रहा था।

---

१. [°मर्दं]। २. [न्यकाक्षीत्]।

शक्तिं सुतीक्ष्णां त्वरया विगृह्य [1]सूपेन्द्रसेनोरसि निर्मुमोच।
विभिद्य वक्षस्स्थलमीश्वरस्य ममज्ज भूमावतिचण्डवेगा । ६२ ॥
शक्तिप्रहारेण विभिन्नदेहं भ्रान्तेक्षणं वीक्ष्य वणिक्सुतस्तु ।
उद्धृत्य खड्गं चतटित्प्रकाशं शिरश्च तस्य प्रचकर्त शूरः ॥ ६३ ॥
चलज्ज्वलत्कुण्डलमण्डितास्यं मणिप्रभारञ्जितसत्किरीटम्[2] ।
शिरः पपातेन्द्रसुतस्य तस्य सौरं यथा मण्डलमस्तमूर्ध्नि ॥ ६४ ॥
मानोन्नतं नावनतं परेभ्यो दोलायमानं भ्रमरावलीकम् ।
शिरः सपादं[3] विनिपात्य भूमौ प्रफुल्लपद्माकृतिमादधार ॥ ६५ ॥
प्रभञ्जनप्रेरितनीरदे खे दुःप्रेक्षतां याति यथा ग्रहेन्द्रः ।
तथारिपक्षक्षपणोदितश्रीः कश्चिद्भटश्चारुभटो बभूव ॥ ६६ ॥

ऐसी अवस्थामें हस्तिराज अप्रतिमल्लने सूँड़, पैर तथा दाँतोंकी प्रहारोंकी मार देकर उसकी सूँड़को अपनी सूँड़के द्वारा उपार लिया था ॥ ६१ ॥

इसी समय कश्चिद्भटने अति तीक्ष्ण शक्तिको पलक मारते भरमें उठाकर उपेन्द्रसेनके वक्षस्थलमें भोंक दिया था। उस शक्तिका वेग इतना दारुण था कि वह राजपुत्रके वक्षस्थलको पार करती हुई जाकर पृथ्वीमें धँस गयी थी ॥ ६२ ॥

शक्तिके मारक आघातसे शरीर भिद जाने पर विचारे उपेन्द्रसेनकी आँखें घूमने लगी थीं। उसे इस अवस्थामें देखते ही तथोक्त वणिक्पुत्रने बिजलीके समान चमकते हुए खड्गको निकालकर वीरोचित ढंगसे उसके शिरको काट लिया था ॥ ६३ ॥

मथुराके युवराजका सुलक्षण मुख चंचल तथा प्रकाशमान कुण्डलोंसे भूषित था तथा विशाल शिपर बँधे हुए उत्तम मुकुटमें जड़े हुए मणियोंकी प्रभासे मुख, मस्तक आदि सब ही अंग रक्तवर्ण हो गये थे, ऐसी शुभ छटायुक्त शिर जब कटकर भूमिपर लुढ़क गया तो ऐसा मालूम हुआ था कि मानो अस्त हुआ रक्तवर्ण सूर्यमण्डल ही अस्ताचलपर जा पड़ा था। ६४ ॥

उपेन्द्रकी वीरगति

वह शिर अहंकारके मदमें सदा ऊँचा ही रहा था, कभी किस विरोधीके सामने न झुका था किन्तु समयके फेरसे बाध्य होकर उस समय जोरसे ध्वनि करता हुआ पृथ्वीपर जा गिरा था। उस समय भी हिलाते हुए घुंघराले बालोंरूपी भ्रमरोंकी पंक्तियाँ उसपर गूँज रही थी अतएव उसकी वह आकृति पूर्ण विकसित कमलकी आशंका उत्पन्न कर देती थी ॥ ६५ ॥

जब जोरोंसे हवा (आँधी) बहती है तो उसके झोंके मेघोंको देखते ही देखते कहींसे कहीं उड़ा ले जाते हैं तब ग्रहों

---

१. [सोऽपीन्द्रसेनोरसि]। २. क सत्तिरीटम्। ३. [सपातं]।

संप्राप्य युद्धे विजयावतंसं स्वसैनिकानां मुदमादधानः ।
महाबलः सिंहनिनादमुच्चैर्ननाद चेतो द्विषतां च भिन्दन् ॥ ६७ ॥
अथोभयोर्भूपतयो नृसिंहाः स्वमानविश्वम्भरसोरुवीर्याः ।
स्वान्स्वान्करीन्द्रानधिरुह्य सर्वे संनह्य युद्धाभिमुखा बभूवुः ॥ ६८ ॥
ततः करीन्द्राः प्रतिगर्जयन्तो वाग्वीरनादागतमेघतुल्याः ।
परस्परं पदकराग्रदन्तैर्जघ्नुः सयोधाः समुपेत्य चण्डाः ॥ ६९ ॥
मुखण्डिभिः[1] शक्त्यसियष्टिभिश्च चक्रैर्गदाभिः कणपैश्च टङ्कैः ।
समुद्गरैस्तोमरसर्वलोहैः परस्परं ते च भृशं प्रजघ्नुः ॥ ७० ॥

का राजा सूर्यभी आकाशमें कठिनाई से दिखता है तथा उसकी कान्ति देखते ही बनती है। इसी प्रकार कुशल योद्धा कश्चिद्-भट के शत्रुओंरूपी मेघोंको तितर-बितर कर दिया था फलतः उसकी पराक्रम-श्री अत्यन्त प्रखर चारुभट रूपमें उदित हो उठी थी ॥ ६६ ॥

संहारमय युद्धका आरम्भ

उस महासमरमें उसने विजयके मुकुटको अपने पराक्रमसे प्राप्त किया था। अपने नेताकी विजयके कारण उसके सैनिकोंके आनन्दकी भी सीमा न थी। उसने स्वयं भी विजयोल्लासमें अति उन्नत स्वरसे नाद किया था जिसे सुनकर शत्रुओंके हृदय काँप उठे थे ॥ ६७ ॥

इस घटनाके होते ही दोनों राजाओंकी सेनाओंके सिंहसमान पराक्रमी योद्धाओंने अपने-अपने हाथी पर आरूढ़ होकर संघर्षके प्रधान केन्द्र की ओर चल दिये थे। क्योंकि वे सब महा पराक्रमी थे। उन्हें आत्मविश्वास था और अपने सम्मानको सबसे बढ़कर ऐश्वर्य मानते थे ॥ ६८ ॥

इसके उपरान्त ही देखा गया था कि भयंकर रूपसे चिंघाड़ते हुए हाथी बढे जा रहे थे। वे गम्भीर गर्जनाके साथ उमड़ते हुए भीषण मेघोंके समान प्रतीत होते थे। वे सब हाथी उस समय इतने क्रूर और कुपित हो गये थे कि आपसमें पैर, शुण्डा तथा अग्रदन्तोंके द्वारा दारुण आघात कर रहे थे। ऐसे कराल रूपमें टकराते थे कि योद्धा सहित शत्रु हाथीको समाप्त कर देते थे ॥ ६९ ॥

हाथियोंपर आरूढ़ योद्धा भी शिखण्डियों (सपक्ष बाण) शक्तियों, खड्गों, दण्डोंके द्वारा आघात करके, चक्र, गदा, कणप तथा टांकियोंकी चोटोंसे तथा पूरेके पूरे लोहनिर्मित मुद्गर तथा तोमरोंकी वर्षाके द्वारा एक दूसरेको बड़ी त्वरा तथा निर्दयतासे मारते जाते थे ॥ ७० ॥

१. [शिखण्डिभिः]।

केषांचिदास्यानि सकुण्डलानि पादाश्च केषांचिदथाम्बुजाभाः ।
कराः स्फुरत्काञ्चनभूषणाढ्याः शस्त्रप्रहारादवनौ निपेतुः ॥ ७१ ॥
[1]किरीटपट्टोज्ज्वलहारसूत्रैश्छत्रध्वजैश्चामरकेतुमाल्यैः ।
करीन्द्रघण्टाहयकिङ्किणीभिः कृतोपहारेव मही बभासे ॥ ७२ ॥
अथेन्द्रसेनश्च हि देवसेनः प्रबद्धवैरा दृढबद्धकक्षौ ।
कृतप्रतिज्ञावसुरेन्द्रकल्पौ परस्परं तावबलोक्य वीरौ ॥ ७३ ॥
स्वनामगोत्राण्यभिधाय रोषात्सभ्रूविभङ्गे वदने प्रकृत्य ।
आदाय तान्यस्त्रवराणि दोर्भिरुल्लासयन्तावभिमानया तौ ॥ ७४ ॥

कानोंमें शोभायमान कुंडलोंके साथ ही किन्हींके शिर कटकर पृथ्वीपर लोट जाते थे, दूसरोंके लाल कमलोंके तुल्य सुन्दर तथा सुकुमार पैर कटकर उचटते थे। तथा अन्य लोगोंके हाथ जिनमें स्वच्छ शुद्ध सोनेके आभूषण चमकते थे, वे ही तीक्ष्ण शस्त्रके लगते ही कटकर भूमिपर गिर जाते थे ॥ ७१ ॥

पूरीकी पूरी समरस्थलीमें मुकुट, कटि तथा पदके पट्टे चमचमाते हुए मणि-मुक्तामय हारोंकी लड़ें, छत्र, ध्वजा, चामर, मालायुक्त केतु, हाथियोंके बड़े-बड़े घंटे तथा घोड़ोंकी छोटी-छोटी मधुर शब्द करनेवाली घंटियाँ (घुंघरू) फैली हुई थीं। ऐसा मालूम होता था कि योद्धाओंने यह सब वस्तुएँ समरस्थली पर चढ़ायी थीं ॥ ७२ ॥

इस प्रकार घोर संग्राम होते-होते मथुराधिप इन्द्रसेन तथा ललितेश्वर देवसेन भी एक दूसरेके सामने जा पहुँचे थे। वे दोनों ही अभेद्य युद्ध-वेशमें थे। दोनोंका पारस्परिक वैर-भाव भी चरम सीमापर पहुँच चुका था। वे असुरोंके सम्राटोंके समान एक-दूसरेका नाश करनेकी प्रतिज्ञा किये हुए थे ॥ ७३ ॥

नायकोंका द्वन्द्व

जब इन दोनों वीरोंने अपने समक्ष शत्रुको देखा, तो क्रोधके उत्कट उभारके कारण उनकी भृकुटियाँ टेढ़ी हो गयी थीं, मुखमण्डल अत्यन्त विकृत हो गये थे। उन्होंने अपने-अपने गोत्र तथा नाम कहकर अपना परिचय दिया था, प्रतिशोध लेनेकी अभिलाषासे उत्तमसे उत्तम शस्त्रोंको हाथोंसे उठाकर बाहुओं द्वारा तौल रहे थे तथा अभिमानके पूरमें बहते हुए कह रहे थे ॥ ७४ ॥

---

१. क तिरीट° ।

देशाकरग्रामपुराणि यानि बलद्वयेनैकविबन्धनं च ।
य आवयोरेक इहावशिष्टस्तस्मै भवत्वेतदिति ब्रुवाणौ ॥ ७५ ॥
कुरु त्वमेकं प्रथमं प्रहारं त्वं पश्य पश्येति च भर्त्सयन्तौ ।
वने गजेन्द्राविव जातदर्पावभीयतुस्तौ समराभिलाषौ ॥ ७६ ॥
शस्त्राणि वज्राग्निविषोपमानि नानाकृतीनि त्वरया प्रगृह्य[1] ।
परस्परालक्ष्यवयवान्प्रतीत्य व्यमुञ्चतां वीतभयौ महोशौ ॥ ७७ ॥
प्रवृद्धकान्तिद्युतिसत्त्वरोषः श्रीदेवसेनः प्रगृहीतचक्रः ।
लघ्वीन्द्रसेनस्य महाबलस्य चिच्छेद भास्वन्मकुटं च केतुम् ॥ ७८ ॥
तथेन्द्रसेनोऽतिविवृद्धमन्युर्विद्युत्प्रभां शक्तिमरं[2] प्रगृह्य ।
श्रीदेवसेनं प्रति निर्मुमोच नुनोद सा तस्य किरीटमिद्धम् ॥ ७९ ॥

'हमारे ग्राम, आकर, नगर तथा जितने भी देश हैं तथा दोनों सेनाओंके पास जो नानाविधकी सम्पत्ति तथा वैभव है, यह सब उसीके होवेंगे। जो हम दोनोंमेंसे घोर संघर्षके बाद भी बचा रहेगा' तुम्हीं पहले एक प्रहारकरो, अच्छा देखो, तुम देखो ॥ ७५ ॥

भर्त्सना

तुम देखो आदि अनेक कटु वाक्यों द्वारा परस्परमें भर्त्सना करते हुए; जंगलमें यौवनके उन्मादसे मत्त एवं निर्भय दो भीमकाय हाथियोंके समान समरमें भिड़ जानेकी अभिलाषासे वे दोनों एक-दूसरेके अति निकट चले आ रहे थे ॥ ७६ ॥

वज्रके समान अभेद्य, अग्निके तुल्य दाहक तथा विषके सदृश मारक अनेक आकृतियों तथा मापके शस्त्रोंको अत्यन्त त्वराके साथ उठाकर उन्होंने एक-दूसरेके आँख, कान, आदि अंगोंपर कुशलतासे लक्ष्य साधे थे। तथा निर्भय और निर्दय होकर पलक मारते, मारते आघात भी प्रारम्भ कर दिये थे ॥ ७७ ॥

घात-प्रत्याघात

रणरंगमें मस्त महाराज देवसेनका क्रोध, सत्त्व, कान्ति तथा तेज और अधिक बढ़ रहे थे। उन्होंने अतिशीघ्रतासे उत्तम चक्रको उठाकर बड़े वेगसे महा बलवान मधुराधिप पर चला दिया था और देखते-देखते ही उसके भासमान मुकुट और केतुको काटकर फेंक दिया था ॥ ७८ ॥

इस प्रहारने इन्द्रसेनके क्रोधको सीमाके बाहरतक बहा दिया था, फलतः उसने बड़ी त्वरासे शक्ति तथा अर (लम्बा-

---

१. क विगृह्य। २. [शक्तिधरं]।

श्रीदेवसेनेन पुनर्विमुक्ता शक्तिः स्फुरद्रत्नगभस्तिमाला ।
श्वेतातपत्रं मधुराधिपस्य न्यपातयद्धस्तिपकेन सार्धम् ॥ ८० ॥
छत्रं प्रभग्नं मधुराधिपस्य दन्तप्रभङ्गादिव वारणेन्द्रः ।
रोषा[1]तितूर्णं कणपां मुमोच स तस्य चिच्छेद मृगेन्द्रकेतुम् ॥ ८१ ॥
भिन्नात्मकेतुर्बृहदुग्ररोषः प्रलम्बबाहुः प्रतिलब्धसंज्ञः ।
प्रगृह्य चक्रं मधुरेश्वरस्य गदाग्रहस्तं प्रचकर्त वीरः ॥ ८२ ॥
अथोभयोच्छिन्नविपन्नकेत्वोर्निपातितोपान्तगजाधिनेत्रोः ।
प्रमर्दितात्मद्विप[2]पादगोत्रोर्मुहूर्तमेकं समयुद्धमासीत् ॥ ८३ ॥

लम्बा शस्त्र) को उठाकर बलपूर्वक देवसेनपर चला दिया था, किन्तु सटीक प्रहार न होनेके कारण यह प्रहार देवसेनके मुकुटके एक ही भागको नोंच सका था ॥ ७९ ॥

इस प्रहारके उत्तरमें महाराज देवसेन के द्वारा भी शक्ति चलायी गयी थी। यह प्रहार ऐसा सटीक लगा था कि इसकी मारसे मथुराधिपका महावत ही धराशायी न हुआ था अपितु उसे बेधती हुई वह शक्ति शत्रुके गले पर पहुँची थी, जहाँसे जाज्वल्यमान किरणों युक्त रत्नमालाके साथ-साथ उसके श्वेत छत्रको लेती-देती हुई उस पार निकल गयी थी ॥ ८० ॥

राज-चिह्न छत्रके नष्ट हो जानेपर मथुराधिप इन्द्रसेन वैसे ही झुँझला उठा था जैसे कि एक अग्रदन्त टूट जाने पर उत्तम हाथी उद्भ्रान्त हो जाता है। अतएव क्रोधसे पागल होकर उसने शत्रु पर अत्यन्त वेगके साथ कणप दे मारा था। इस प्रहारने महाराज देवसेनके सिंह चिह्न युक्त केतुको काटकर गिरा दिया था ॥ ८१ ॥

अपनी ध्वजा कट जानेपर महाराज देवसेनके रोष तथा उग्रताका पार न रहा था, उन्हें अपने कटु कर्त्तव्यका स्मरण हो आया था अतएव उन्होंने अपने लम्बे तथा पुष्ट बाहुओंसे एक चक्रको उठाकर मथुराके राजा पर छोड़ दिया था। इस प्रहार से महावीर ललितेश्वरने शत्रुके उस हाथको ही काट डाला था जिससे वह उनपर गदा चला रहा था ॥ ८२ ॥

इस समय तक दोनों ही राजाओंके केतु कट-छट कर गिर चुके थे, दोनोंके हाथी तथा उनके सुयोग्य संचालन एक दूसरेके अतिनिकट आ धमके थे। इतना ही नहीं दोनोंके हस्तिपक हाथियोंके पैरोंके तले कुचले जा चुके थे तथा दोनों हाथी भीषण रूपसे जूझ गये थे। एक क्षण भर तो ऐसा लगता था कि दोनों ही बराबरीके हैं ॥ ८३ ॥

---

१. [रुषातिपूर्णं]। २. क द्विपसाद, [°गोप्त्रों°]।

तस्मिन् रणे भीमतमे प्रवृद्धे बलाहकस्त्वप्रतिमल्लनुन्नः ।
युगान्तवाताहविन्ध्यकल्पः [1]पपात भूमौ करुणस्वनेन ॥ ८४ ॥
वज्राभिघातादिव शैलशृङ्गं शस्त्रप्रहारप्रतिभग्नगात्रम् ।
उपेन्द्रसेनं विगतासुमाशु समैक्षिषातामवनीश्वरौ तौ ॥ ८५ ॥
गजावपातध्वनिमप्रगल्भं महाभ्रनादप्रतिमं निशम्य ।
तौ युध्यमानौ वसुधेन्द्रचन्द्रौ बभूवतुर्द्वैधमनःप्रचारौ ॥ ८६ ॥
श्रीदेवसेनो रिपुमर्दनश्रीरुपेन्द्रसेनव्यसनं समीक्ष्य ।
जयं परं प्राप्य विभासमानं कश्चिद्भटं चापि भृशं जहर्ष ॥ ८७ ॥

युद्धकी पराकाष्ठा

किन्तु इसी समय जब यह भयंकर संघर्ष और अधिक दारूण होता जा रहा था उसी समय कश्चिद्भटके अप्रतिमल्ल गजेशने मथुराधिपके पुत्र उपेन्द्रसेनके बलाहक गजराजको दबा दिया था। अप्रतिमल्लके प्रबल प्रहारको न सम्हाल सकनेके कारण जोरसे चिंघाड़ता हुआ बलाहक उसी प्रकार लड़खड़ाकर गिरा था जिस प्रकार युगके अन्त प्रलयकालमें बहते प्रभञ्जनके झकोरोंसे विन्ध्यगिरिके शिखर लुढ़क जाते हैं ॥ ८४ ॥

अपने संग्राममें लीन दोनों राजाओंने देखा था कि वज्रके महाप्रहारसे जैसे पर्वतका उन्नत शिखर ढह जाता है उसी प्रकार कश्चिद्भटके आघातोंसे छिन्न-भिन्न शरीर होकर मथुराका युवराज अपनी इहलीला समाप्त करके धराशायी हो गया है ॥ ८५ ॥

गजराज बलाहकके गिरनेसे जो महानाद हुआ था वह एक भीषण प्रणाद था, वह कल्पान्तके मेघोंकी भीमगर्जनाके समान था। यद्यपि दोनों पृथ्वीपति पारस्परिक संग्राममें अत्यन्त लीन थे तो भी उक्त नादको सुनकर उनकी मानसिक प्रवृत्ति दो धाराओंमें बँट गयी थी (अपने संग्रामको चालू रखना चाहते थे तथा ध्वनिका कारण भी जानना चाहते थे) ॥ ८६ ॥

शत्रुओंके दमन करने योग्य प्रभुताका स्वामी ललितेश्वर मथुराके युवराजकी विपत्ति तथा मृत्युको देखकर और उसी के सामने महा विजयको प्राप्त करके शोभायमान कश्चिद्भटको देखकर इतना अधिक प्रसन्न हुआ था कि उसकी प्रसन्नताकी सीमा न रही थी ॥ ८७ ॥

---

१. क कश्चिद्भटश्चापि ।

सोऽपीन्द्रसेनस्तनयावभङ्गाद्द्विषां प्र[1]वृद्धे द्विगुणातिरुष्टः ।
समित्समिद्धाग्निरिव प्रकामं जज्वाल जात्यादिमदावलिप्तः ॥ ८८ ॥
धिक्शूरसेनाधिपतित्वलक्ष्मीं धिगिन्द्रसेनत्वमिदं मयाद्य ।
निर्देवसेनां यदि नैव कुर्यां महीमिमां सागरवागुरान्ताम् ॥ ८९ ॥
इति ब्रुवन्नेव सुनिश्चितार्थो विपन्नहस्तादवतीर्य नागात् ।
मदान्धमन्यं द्विषदेककालं सुकम्पितं वारणमारुरोह ॥ ९० ॥
ततोऽस्तु[2] सम्यक्प्रभवान्गुणान्स्वान्प्रकाशयामास रणे प्रचण्डः ।
यद्यत्पुनर्दृष्टिपथोपनीतं द्विषद्बलं स्थातुमलं न तस्य ॥ ९१ ॥

उपेन्द्रकी मृत्युका परिणाम

दूसरी ओर मथुराधिप था जो स्वभावसे ही जाति, प्रभुता, आदिके अहंकारमें चूर था, फिर उस समय प्राणप्रिय पुत्र की मृत्यु तथा शत्रुके बलको बढ़ता देखकर उसका रोष दूना हो गया था। उसका वही हाल था जो नया इंधन (आहुति) पड़ जाने पर धधकती हुई यज्ञकी ज्वालाका होता है ॥ ८८ ॥

शूरसेन (मथुराराज) देशके एकच्छत्र अधिपतित्वको धिक्कार है, मेरा इन्द्रसेन होना भी व्यर्थ है तथा मेरे प्रताप और पुरुषार्थको भी धिक्कार है, यदि मैंने आज ही इस विशाल पृथ्वीको जो विशाल महासागररूपी बन्धन या सीमासे वेष्टित है, इसे यदि देवसेन-रहित न कर दिया तो ॥ ८९ ॥

क्रोधके आवेशमें पूर्वोक्त वचनोंको कहते-कहते उसने अपने अन्तिम कर्त्तव्यका निश्चय कर लिया था। अतएव वह सूँड़ कटे हाथी परसे उतरकर एक दूसरे सुसज्जित गजराज पर आरूढ़ हुआ था। जो कि मदसे अन्धा हो रहा थ, तथा नाम और काम दोनोंके ही द्वारा एक काल था ॥ ९० ॥

इसके उपरान्त रणमें अत्यन्त कर्कश मथुराधिपने अपनी उन सब रणकुशलताओंका प्रदर्शन किया था जिन्हें उसने भली-भाँति सीखा था तथा अभ्यास किया था। उस समय उसका यह हाल था कि जो कोई भी शत्रु उसके दृष्टिपथपर आता था वह एक क्षण भर भी जीवित न रह पाता था ॥ ९१ ॥

---

१. क प्रवृद्धिः। २. [ततस्तु]।

तद्देवसेनस्य तु सैन्यमाजौ शङ्कां परां संजनयन्नृपस्य ।
भग्नावतंसां[1] विजयैकलक्ष्मीं निजां चकारेव भयात्तदानीम् ॥ ९२ ॥
उपेन्द्रसेनं युवराजमाजौ निहत्य भूयः प्रतिलब्धसंज्ञः ।
कश्चिद्भटः साधुयशोऽवतंसं बिभ्रत्स बभ्राम मृगेन्द्रलीलः ॥ ९३ ॥
परिभ्रमन्काल इवान्तरूपः कश्चिद्भटः शत्रुषु लब्धतेजाः ।
स देवसेनं सबलं मनस्वी ददर्श मृद्गन्तमथेन्द्रसेनम् ॥ ९४ ॥
दृष्ट्वा तमाराद्विजयं परीप्सन्सव्यापसव्यं प्रकिरच्छरौघान् ।
निसृष्टवानप्रतिमल्लमाजौ युयुत्समानो मधुराधिपेन ॥ ९५ ॥

अन्तिम संघर्ष

इन्द्रसेनके इस भीषण रूपने महाराज देवसेनकी विजयी सेनामें कुछ समयके लिए एक गम्भीर आशंकाको उत्पन्न कर दिया था। उस समय तो कुछ क्षण तक ऐसा प्रतीत होने लगा था कि उस एकाकी वीरने ही भग्न मुकुटधारिणी विजयलक्ष्मीको अपनी बना लिया है ॥ ९२ ॥

कश्चिद्भटका प्रवेश

युवराज उपेन्द्रसेनका युद्धमें संहार करके हर्षोन्मादमें मस्त कश्चिद्भटको एक क्षणभर बाद ही अपने शेष कर्त्तव्यका ख्याल हो आया था। अतएव अब तककी विजयसे उत्पन्न कीर्तिरूपी शिरोभूषणको भलीभाँति धारण करता हुआ वह उदारचित्त योद्धा पुनः सिंहके समान युद्धभूमिमें विचरने लगा था ॥ ९३ ॥

शत्रुसेनामें उसके पराक्रमका आतंक बैठ गया था अतएव मूर्तिमान यमराजके समान शत्रुसेनापर टूटते हुए मनस्वी कश्चिद्भटने देखा था कि महा बलवान ललितेश्वरको मथुराधिप इन्द्रसेन अपने सफल प्रहारोंसे दबाता चला जा रहा है ॥ ९४ ॥

वह विजय प्राप्त करनेके लिए व्याकुल था तथा उसने देखा था कि 'शत्रु (इन्द्रसेन) भी काफी निकट आ पहुँचा है' फलतः उसने शत्रुके दक्षिण तथा वाम दोनों पार्श्वोंपर अन्धाधुन्ध बाणोंकी वृष्टि प्रारम्भ कर दी थी। मथुराधिपके साथ लड़नेके लिए उसके अंग खुजला रहे थे अतएव उसने ऐसा संघर्ष पैदा कर दिया था जिसकी तुलना ही नहीं हो सकती थी ॥ ९५ ॥

१. [भग्नावतंसां]।

तमाप्नुवन्तं बलवन्तमन्तं सूनोः समीक्ष्याशु स इन्द्रसेनः ।
शरासनं स्वं बलवद्विकृष्य मुमोच नाराचवराञ्जिघांसन् ॥ ९६ ॥
तानन्तरिक्षे स्वधनुर्विमुक्तैर्विच्छिद्य तीक्ष्णैः पुनरर्धचन्द्रैः ।
विव्याध बाणैरपरैर्हृदि्भर्वक्षस्यरिं सोऽन्तमुपानिनीषुम्[1] ॥ ९७ ॥
सन्तानमुक्तैर्विशिखैरनेकैर्गजस्य नेता[2]रमधो निपात्य ।
चकर्त भल्लेन शितेन रोषात्कश्चिद्भटस्तद्धनुरैन्द्रसेनम् ॥ ९८ ॥
परं न गृह्णाति धनुः स यावद्विव्याध तावद्भुजमुन्नतांसम् ।
गजेन्द्रकुम्भोद्भिदुरान्पृषत्कान्ससर्ज शुष्काशनिभीमरूपान् ॥ ९९ ॥

कश्चिद्भट-इन्द्रसेन युद्ध

मथुराधिप इन्द्रसेनने देखा कि प्राणप्रिय पुत्रका काल कश्चिद्भट उसके अति निकट जा पहुँचा था। अतएव पुत्रकी मृत्युका प्रतिशोध लेनेकी भावनासे उसने अपने धनुषको पूरे बलसे खींचकर तीक्ष्ण विषाक्त बाणोंको उसपर बरसाना प्रारम्भ कर दिया था ॥ ९६ ॥

रणकुशल कश्चिद्भट अपने धनुष द्वारा अर्धचन्द्राकार मुखयुक्त अत्यन्त धाराल बाणोंको छोड़कर शत्रुके बाणोंको आकाशमें ही काट छाँट डालता था। इतना ही नहीं बीच अन्तरालमें वह बड़े-बड़े तीक्ष्ण बाणोंको चलाकर शत्रुके वक्षस्थलको भी भेदता जाता था। क्योंकि वह शत्रुको मृत्युके मुखमें ठूँसनेके लिए प्रतिज्ञा कर चुका था ॥ ९७ ॥

कश्चिद्भट अपने धनुषके द्वारा धाराप्रवाह रूपसे शत्रुके ऊपर वाणवर्षा कर रहा था अतएव इन अनेक बाणोंकी मार-से उसने इन्द्रसेनके हस्तिपकको नीचे गिरा दिया था। इसके बाद अत्यन्त कुपित होकर शत्रुपर चमचमाता हुआ भाला चलाया था जिसके आघातसे इन्द्रसेनका धनुष ही कटकर टूक-टूक हो गया था ॥ ९८ ॥

इन्द्रसेन आहत

वह दूसरे धनुषको उठा भी न पाया था कि इस सूक्ष्म अन्तरालमें ही उसने मथुराधिपकी विशाल बाहुको ऊँचे कंधेसे ही काट दिया था, तथा भीषण बाण चला रहा था जो हाथीके उन्नत कुम्भोंको भेदते जा रहे थे। वे बाण क्या थे साक्षात् वज्र ही थे जो बिना बादलोंके ही भीम आकारको धारण करके गिर रहे थे ॥ ९९ ॥

१. [°निनीषुः]। २. म नेतारमधो।

इतोऽमुतो भग्नविशीर्णसेनामात्मानमत्यन्त[1]सुरक्षताङ्गम् ।
समीक्ष्य चापस्य च भङ्गमाजौ विपन्नबुध्यस्त्रवपुर्बभूव ॥ १०० ॥
ततोऽवरुह्याशु स मेघनादात्क्षतत्रवच्छोणितवारणेन्द्रात् ।
हयं समारुह्य तदातिभीतः पराप्रतस्थे मधुरावनीशः ॥ १०१ ॥
गते नरेन्द्रे मधुराधिपे तु विनायकं त्रस्तभयेतवीर्यम्[2] ।
बलं तदा वातसमूहघातविशीर्णतूलप्रतिमं बभूव ॥ १०२ ॥
ततश्च कश्चिद्भट ऊर्जितश्रीर्हृतावशेषं बलमाजिघांसन् ।
अनुप्रतस्थे सशरौघवर्षी रूपी प्रजाः संहरतीव कालः ॥ १०३ ॥

तबतक मथुराकी विशाल सेना अस्तव्यस्त होकर इधर-उधर भाग रही थी। राजा इन्द्रसेनका स्वयं अपना शरीर भी बाणोंकी बौछारसे छिद-भिद गया था, इसके अतिरिक्त वास्तविक संघर्षके समय उसका धनुष भी टूट गया था। यह सब देखकर बिचारे की बुद्धि ही कुण्ठित नहीं हुई थी अपितु उसके अस्त्रों तथा शरीरकी लगभग वैसी ही अवस्था थी ॥ १०० ॥

उसका मेघनाद नामका गजराज भी इतना क्षतविक्षत हो गया था, कि उसके सब घावोंसे रक्तकी धाराएँ बह रही थीं। उसका (इन्द्रसेन) साहस गल चुका था, भयसे काँप रहा था। अतएव अपने हाथीसे उतरकर वह शीघ्रतासे एक घोड़ेपर आरूढ़ हुआ और वेगके साथ पीछेको भाग गया था ॥ १०१ ॥

मथुराधिप इन्द्रसेनको भीरुओंके समान पलायन करनेसे शूरसेनकी सेना नायकहीन हो गयी थी। सारी सेना भयसे व्याकुल थी और भयके प्रवाहमें उसका पराक्रम न जाने कहाँ बह गया था। उस समय उस विशाल सेनाको देखनेपर वही दृश्य दृष्टिगोचर होता था जो कि वायुके प्रबल प्रवाह उड़ी हुई रूईका होता है ॥ १०२ ॥

इन्द्रसेनके भागनेका फल

विजय पर विजय प्राप्त करनेके कारण कश्चिद्भटका तेज और भी निखर आया था, वह शेष बचे हुए शत्रुबलको भी नष्ट कर देना चाहता था। इसी अभिलाषासे प्रेरित होकर वह बाणोंकी मूसलाधार वृष्टि कर रहा था। उसे देखकर लोगों को यही भ्रम हो जाता था कि 'क्या कोई शरीर यम प्रजाओंका संहार कर रहा है ?' ॥१०३॥

---

१. [°शरक्षताङ्गम्]। २. क °भयोत्थवीर्यम्।

केषांचिदङ्गान्यसिना [1]चकर्ष पिपेष वीरो गदया शिरांसि ।
विदार्य केषांचिदुरांसि चक्रेनिपातयामास वसुंधरायाम् ॥ १०४ ॥
केषांचिदुत्क्षिप्तसुचामराणि छत्राणि चन्द्रोदयपाण्डुराणि ।
धनूंषि पुष्पध्वजकेतुमालाः शरावपूर्णानि सुधीश्चकर्त ॥ १०५ ॥
शङ्खभिवर्तक्रमसौष्ठवाभ्यां सतोमराभ्यां स्थिरधीः कराभ्याम् ।
वर्माणि वर्मप्रतियातनानि क्षणाद्विभेदाप्रतिमान्यरीणाम् ॥ १०६ ॥
छिन्नाग्रहस्ता विमुखाश्च केचित्केचिन्नताः साञ्जलयो विभीताः ।
केचिच्च तत्रैव विमोह[2]मायुर्ललम्बिरेऽन्ये गजमस्तकेभ्यः ॥ १०७ ॥
अन्तर्दधुर्गुल्मलतासु केचित्केचिच्च [3]वाल्मीकशिखाधिरूढाः ।
केचित्तृणादाः प्रतिमुक्तकेशा गतासवः केचिदुपेयुरुर्वीम् ॥ १०८ ॥

धाराल असिके द्वारा वह किन्हीं शत्रुओंके अंग-अंग काट डालता था, दूसरों पर गदा चलाता था जिससे उनके शिर चूर-चूर हो जाते थे, तथा अन्य कितनेके ही दृढ़ वक्षस्थलोंको चक्रसे चीरकर पृथ्वीपर गिरा देता था ॥ १०४ ॥

शत्रुके कितने ही माडलिक राजाओंपर अब भी निर्मल चमर ढुर रहे थे तथा चन्द्रमाकी कान्तिके समान धवल छत्र उनके मस्तकोंपर लगे हुए थे, किन्तु कश्चिद्भट इन सबको अपने बाणोंकी मारसे घासके समान काट रहा था, वैजयन्ती मालाओंसे भूषित दूसरोंकी केतुओं तथा बाण चढ़े हुए धनुषोंको भी अचूक लक्ष्य वेधक वह योद्धा नष्ट कर रहा था ॥ १०५ ॥

विजयपूर्णताकी ओर

अपने कर्त्तव्यके प्रति उसकी मति स्थिर थी अतएव शंखकी गोलाई समान अत्यंत गोल, पुष्ट तथा सुन्दर बाहुओं द्वारा वह विशाल तोमरको उठाता था और उसके सटीक आघातोंसे शत्रुओंके उन कवचोंको भेद देता था जिनपर लगकर वज्र भी वापस हो जाता था तथा दृढ़ता और अभेद्यतामें जिनकी तुलना ही नहीं हो सकती थी ॥ १०६ ॥

कितने ही योद्धाओंके हाथ कट जाते थे तो विचारे प्राण लेकर भागते थे। कुछ इतने अधिक डर गये थे कि प्रतिरोध किये बिना ही वे उसके आगे झुक गये थे और हाथ जोड़े खड़े थे। दूसरे कुछ उसे देखते ही मूर्च्छित होकर धराशायी हो गये थे, तथा अन्य कितने ही हाथियोंकी गर्दनोंपर लटक रहे थे ॥ १०७ ॥

कश्चिद्भटका रणरंग

कितने ही सैनिक झाड़ियों तथा लताओंमें जा छिपे थे। कुछ भागकर साँपोंकी वामियोंपर जा चढ़े थे। अन्य कितने

१. [चकर्त]। २. [विमोहमापु°]। ३. [वल्मीक]।

यतो यतस्त्वप्रतिमल्लनागं स्थूलोच्चयेनैव गतिक्रमेण ।
संचारयामास स जातहर्षस्ततस्ततः शत्रुबलं दधाव ॥ १०९ ॥
अथावशिष्टां रिपुवाहिनीं तां निरुध्य सर्वांश्च कृतानुयात्रान् ।
स्वपक्षदृप्त्यै परपक्षभीत्यै दधौ स शङ्खं बृहदभ्रघोषम् ॥ ११० ॥
ततोऽरिचक्रं प्रविजित्य धीमान्निदाघमध्याह्नरविप्रकाशम् ।
उपेत्य राजानमुदारकीर्तिं ननाम पादौ कमलावदातौ ॥ १११ ॥
विलोक्य पादावनतं नरेन्द्रः प्रोत्थाप्य नागात्स्वपुरो निवेश्य ।
प्रसारितेनात्मभुजद्वयेन स हृष्टचेता भृशमालिलिङ्गे ॥ ११२ ॥
दृष्टं मया पौरुषमेतदार्य तवाद्वितीयं युधि दुःप्रधर्षम् ।
त्वत्तः परोऽन्यो न च मेऽस्ति बन्धुरित्यब्रवीद्धर्षविबुद्धवक्त्रः ॥ ११३ ॥

ही बाल खोलकर झुककर मुखमें तृण दबाये खड़े थे तथा शेष कितने ही प्राणोंसे वियुक्त होकर पृथ्वी माताकी गोदमें सो रहे थे ॥ १०८ ॥

कश्चिद्भट अपने हाथी अप्रतिमल्लको साधारण सी छलांगें लिवाता हुआ जिधर जिधरको बढ़ा देता था, तो वह स्वयं तो उसकी गतिविधिसे प्रसन्न होता था किन्तु शत्रुकी सेना उस उस दिशाको छोड़कर भागती थी ॥ १०९ ॥

बुद्धिमान् तथा रणनीतिमें चतुर कश्चिद्भटने थोड़े ही समयमें पूरेके पूरे शत्रुके सैन्यको घेरकर अपने वशमें कर लिया था, वह उसका अनुसरण कर रही थी। इस सबसे निवृत्त होकर उसने अपने पक्षको बलिष्ठ बनाने तथा शत्रुपक्षको अत्यन्त भीत कर देनेके लिए ही जोरसे महाशंखको बजवाया था ॥ ११० ॥

महा मतिमान कश्चिद्भट समस्त शत्रुओंको पूर्ण पराजित करनेके पश्चात् अपने तेजके कारण मध्यान्हके सूर्यके समान चमक रहा था। युद्धसे अवकाश पाते ही वह महान् यशके स्वामी महराज देवसेनके सामने पहुँचा था और उनके कमलोंके समान शुद्ध तथा मोहक चरणोंमें उसने मस्तक झुका दिया था ॥ १११ ॥

महाराज देवसेनने ज्यों ही कश्चिद्भटको पैरोंपर झुकता देखा त्यों ही उसे उठा लिया था। अपने हाथीपर उसे अपने सामने बैठाकर अपने दोनों विशाल बाहुओंको फैला दिया था तथा उनके द्वारा उसे आवेष्टित करके बार बार अपनी छातीसे लगाया था ॥ ११२ ॥

विजयी कश्चिद्भटका स्वागत

हे आर्य ? मैंने अपनी आँखोंसे तुम्हारे उस महा पराक्रमको देखा है, जिसको कोटिका दूसरा इस पृथ्वीपर हो ही नहीं

मन्त्रीश्वरश्रेणिगणप्रधानाः समक्षभूताः परिहृष्टभावाः ।
त्वयाद्य कश्चिद्भट साधु साधु नामानुरूपं कृतमित्यवोचन् ॥ ११४ ॥
संपूज्य तं सागरवृद्धिमिभ्यं कश्चिद्भटं चाप्रतिमप्रभावम् ।
गजेन्द्रमारोप्य धृतातपत्रः पुरं विवेशावनिपः सलीलम् ॥ ११५ ॥
आनन्दभेर्यः पटहा मृदङ्गा वीणाः सवंशाः सह कंसतालैः ।
जयं नरेन्द्रस्य निवेदनार्थंमाशीर्गिरश्चाप्यधिकं विनेदुः ॥ ११६ ॥
गृहे गृहे चन्दनधामचित्राः समुच्छ्रिताः पञ्चविधाः पताकाः ।
प्रभञ्जनस्पर्शविवर्तिताङ्गा रेजुस्तरङ्गा इव सागरस्य ॥ ११७ ॥

सकता है। हजारों प्रयत्न करके कोई तुम्हारे पराक्रमको कुण्ठित भी नहीं कर सकता है। इस संसारमें तुमसे बढ़कर मेरा बन्धु कोई भी नहीं है तुम्हीं सबसे बड़े हो।' महाराज देवसेन जब यह वचन कह रहे थे उस समय उनका मुख प्रसन्नताके कारण विकसित हो उठा था ॥ ११३ ॥

ललितेश्वरके मंत्री, कोषाध्यक्ष, श्रेणियों तथा गणोंके प्रधान, आदि जिन्होंने अपने समक्ष ही कश्चिद्भटका पराक्रम देखा था, और देखकर परम प्रमुदित हो उठे थे, उन सबने भी उसे घेरकर यही कहा था 'हे कश्चिद्भट आज आपने बहुत ही सुन्दर काम किया है, आप धन्य हैं, आपके कार्य सर्वथा आपके नामके अनुकूल हैं ॥ ११४ ॥

महाराजने सेठ सागरवृद्धिका वहीं पर विपुल स्वागत किया था तथा अनुपम प्रभावशाली कश्चिद्भटकी तो पूजा ही की थी इसके उपरान्त उसे हस्तिरत्न पर विराजमान करके उसके शिरके ऊपर राजाओंके उपयुक्त छत्र लगवाया था तथा समस्त ठाट-बाटके साथ उसका राजधानीमें प्रवेश कराया था ॥ ११५ ॥

महराज देवसेनकी विजयको घोषित करनेके लिए उनके नगर प्रवेशके अवसरपर पूरे नगरमें आनन्दकी सूचक भेरियाँ, पटह, मृदंग, वीणा, विशेष प्रकारकी बाँसुरी, कांसताल आदि बाजे बज रहे तथा नगरके प्रत्येक कानेमें आशिष वचनोंकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी ॥ ३१६ ॥

विजयी का नगरप्रवेश

नगरके प्रत्येक ग्रहके द्वारपर चन्दनके उत्तम चौक पूरे गये थे, उनकी छतोंपर पाँच रंगकी अद्भुत तथा आकर्षक पताकाएँ फहरायी गयी थीं। प्रभञ्जनके झकोरे उन्नत पताकाओंके चीनांशुकको जब उड़ाते थे तो समुद्रकी लहरोंकी शोभाको भी परास्त कर देते थे ॥ ११७ ॥

प्रासादगर्भादभिनिस्सृतानि वराङ्गनानां मुखपङ्कजानि ।
बभुर्भ्रमत्षट्चरणावलीभिः सबन्धनानीव सरोरुहाणि ॥ ११८ ॥
वातायनेभ्यः खलु पुष्पवर्षं वराङ्गनाबाहुलताः सलीलाः ।
प्रचक्षरुच्चूर्णरजोविमिश्रं वातावधूता इव कामवल्ल्यः ॥ ११९ ॥
पुराङ्गनास्ताः पुरमाविशन्तं कश्चिद्भटं भूपतिनैव सार्धम् ।
समीक्ष्य वाक्यानि मनोनुगानि जातप्रहर्षा कथयांबभूवुः ॥ १२० ॥
कश्चिद्भटं पश्यत पश्यतैनं श्रियोज्ज्वलन्तं विबुधेन्द्रलीलम् ।
एकोऽप्यनेकान्बलवीर्यदृप्ता[1]ञ्जिगाय शत्रूनिति काश्चिदूचुः ॥ १२१ ॥
एकस्य हेतोः करिणो नरेन्द्रः स माधु[थु]रो दूरतरादथैत्य ।
स्त्रियं सुतं कोशगजांश्च सारानुत्सृज्य यातस्त्विति काश्चिदाहुः ॥ १२२ ॥

विजयी वीरोंको देखनेके लिए कुलीन ललनाओंके मुख उनके घरोंके वातायनोंसे बाहर निकल आये थे। वे कमलोंके समान सुन्दर तथा सुगन्धित थे अतएव उनके ऊपर भौंरे गूँज रहे थे। फलतः वे नारी-मुख ऐसे मालूम देते थे मानो बन्धन (डंठल) युक्त कमल खिले हैं ॥ ११८ ॥

ये श्रेष्ठ कुल ललनाएँ खिड़कियोंमेंसे लताओंके समान सुकुमार बाहुओंको बाहर निकालकर लीलामय विधिसे विजयी वीरोंपर पुष्प तथा सुगन्धित चूर्ण (अबीर) का बरसा रहीं थीं। इस कार्यमें व्यस्त उनकी बाहुओंको देखकर हवासे हिलायी गयी लताकी कोमलताका स्मरण हो आता था ॥ ११९ ॥

महाराज देवसेनके साथ-साथ ही कश्चिद्भटको नगरीमें प्रवेश करता देखकर उन नागरिक ललनाओंके मनमें जो भाव उठे थे उन्हें उन सबने प्रसन्नताके आवेशमें निम्न वाक्यों द्वारा अभिव्यक्त किया था ॥ १२० ॥

'देखो, देखो इस कश्चिद्भटको तो देखो, अपनी शोभा से कैसा प्रकाशित हो रहा है, देखो तो इसकी चेष्टाएँ बिल्कुल देवोंके अधिपति इन्द्रका स्मरण करा देती हैं।' दूसरी कहती थी 'ज्ञात है इसने अकेले ही अनेक शत्रुओंको जीता है, शत्रु भी साधारण न थे, अपितु अपने बल और पराक्रमके दर्पमें चूर थे ॥ १२१ ॥

कुतूहल प्रिय नारियाँ

उनका वाक्य पूरा न हो पाता था कि दूसरी कहती थी—'मथुराका राजा केवल हाथीको लेनेके लिए उतनी दूरसे आया था, पर हुआ क्या ? अपने कोश, सैन्य, हाथियों, स्त्रियों, पुत्रों तथा सारभूत सब ही वस्तुओंको छोड़कर शिरपर पैर धरके भाग गया है ॥ १२२ ॥

---

१. क दृष्टान् ।

जगज्जनानां पुरपुण्यतस्तु रिपुं जिगायायमथाश्रमेण ।
अतोऽन्यथा केवलमानुषेण कुतो जयो लप्स्यत इत्यवोचन् ॥ १२३ ॥
काश्चिन्नरेन्द्रार्जितपूर्वपुण्यात्काश्चित्सुनन्दासुकृतप्रभावात् ।
काश्चित्स्वयं स्वेन पराक्रमेण रिपुं जिगायेत्यवदंस्तरुण्यः ॥ १२४ ॥
कुतस्तु कश्चिद्भट एष धीमान्कुतो वणिक्केवलमानुषोऽयम् ।
कुतो वणिक्त्वं कुत एतदैश्यं नास्माकमस्मात्खलु विस्मयोऽस्ति ॥ १२५ ॥
राज्ञा सहायान्तमिभेन्दुमूर्ध्नि विलोक्य तं सागरवृद्धिमूचुः ।
इदं पुनः पश्यत दर्शनीयं कश्चिद्भटाय श्रियमेष भुङ्क्ते ॥ १२६ ॥
येनात्मनोपार्जितमत्र पुण्यं तेनैव भोक्तव्यमिति प्रदिष्टम् ।
इदं विपर्यस्तमिवोपलक्ष्यं परै कृतं यद्धि परस्तु भुङ्क्ते ॥ १२७ ॥

अन्य देवियोंका तर्क था 'हमारे राज्यकी जनता तथा ललितपुर निवासियोंके पुण्यके प्रतापसे ही इस कश्चिद्भटने अकेले बिना विशेष परिश्रमके शत्रुओंको जीत लिया है। नहीं तो, सोचो भी, बिना दैवी सहायताके अकेले मनुष्यके द्वारा क्या ऐसी जय प्राप्त की जाती है ॥ १२३ ॥

कुछ ललनाओंका निश्चित मत था 'कि महाराज देवसेनके पुण्यकी प्रबलताने विजय दिलायी है।' दूसरी इससे सहमत न थीं 'उनके मतसे सुनन्दाके सौभाग्यके बलपर ही कश्चिद्भट विजयी हुआ था, तीसरी अधिक अनुरक्त थी अतः उसकी दृष्टिमें कश्चिद्भटका पराक्रम ही विजयका कारण था ॥ १२५ ॥

'यह कश्चिद्भट कहाँसे आया था ? इतना बुद्धिमान् क्यों है! यह वैश्य क्यों हुआ ? यह केवल मनुष्य ही है ? इसमें वणिक्पना कैसे सिद्ध हो सकता ? और कहाँ यह प्रभुता जिसका पात्र यह क्यों है ? हमें तो सखि यही आश्चर्य है ?' कहकर अपने विचार व्यक्त करती थीं ॥ १२५ ॥

सार्थपति सागरवृद्धि महाराज देवसेनके साथ-साथ श्रेष्ठ गजराज पर आरूढ़ होकर चले आ रहे थे। इन्हें देखकर ही उन्होंने आपसमें कहना प्रारम्भ किया था 'हे सखि इस दर्शनीय पदार्थको तो देखो, सार्थपति भी खूब है, कश्चिद्भटके सौभाग्य का आनन्द यह सीधा-सादा वणिक् लूट रहा है, इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा ॥ १२६ ॥

पुत्रकी प्रेयता

क्योंकि शास्त्र तथा लोकोक्ति यही बताती है कि जो इस संसारमें पुण्य पुरुषार्थ करता है वही उसके फलोंका उपभोग

१. [कश्चिद्भटस्य]।

अवश्यमन्यत्र महाकृतिभ्यामाभ्यां सहैवाचरितं तपः स्यात् ।
तदेतदुद्भूतफलप्रपञ्चं सुव्यक्तमासीदिति काश्चिदूचुः ॥ १२८ ॥
इत्येवं ललितपुराधिवासिनीभिः प्रीत्या तौ कथितौ विलासिनीभिः ।
तेनैव क्षितिपतिना वणिक्सुतौ संप्राप्तौ नृपगृहमृद्धिवृद्धिशालम्[2] ॥ १२९ ॥
राज्ञीभिर्मदनरसं प्रदायिनीभिः[3] कान्ताभिः प्रचलितचारुभूषणाभिः ।
युद्धश्रोश्रुतिसंकथारताभिर्हृष्टः स [— —] नृपतिरथाविशत्स्वगेहम् ॥ १३० ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वरांगचरिताश्रिते
काश्चिद्भटविजयो नाम अष्टादशः सर्गः ।

करता है। किन्तु आज इस व्लोम (उल्टी रीति) को भी देख लो, करता कोई (काश्चिद्भट) है और भोगता दूसरा (सागरवृद्धि) ही है १२७ ॥

अवश्य ही इन दोनोंने किसी पूर्व पर्यायमें एक ही साथ तप आदि पुण्य कार्य किये होंगे। इसमें सन्देह नहीं; हैं तो दोनों ही उदार पुण्य-कार्यकर्ता, उसीका यह परिणाम है जो ये दोनों इस विचित्र ढंगसे उदयमें आये पुण्य फलको इस प्रकार भोग रहे हैं, यह बात सर्वथा स्पष्ट है।' इस प्रकार शेष देवियोंने अपनी सम्मतिको प्रकट किया था ॥ १२८ ॥

गुणोंके अनुरागसे प्रेरित होकर ललितपुरकी कुल ललनाएं उक्त विधिसे सार्थपति तथा काश्चिद्भटके विषयमें चर्चा कर रही थीं। उसे सुनते हुए ही वे दोनों महाराजके साथ-साथ प्रधान राजमार्गसे चलते हुए राजभवन पर जा पहुँचे थे, जो कि अपनी सम्पत्ति तथा विशाल शोभाके कारण जगमगा रहा था ॥ १२९ ॥

कामदेवके रसको बढ़ानेवाली महारानियों तथा उन देवियोंके द्वारा जिनकी स्वाभाविक चंचलताके कारण उनके सुन्दर अलंकार हिल रहे थे, तथा जो सब युद्धके समाचारोंकी ही बात करनेमें लीन थीं ऐसी रानियों और अन्य देवियोंके द्वारा देखे गये [श्रेष्ठ] महाराज देवसेनके साथ ही काश्चिद्भटने राजमहलमें प्रवेश किया था ॥ १३० ॥

चारों वर्गसमन्वित सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
काश्चिद्भट-विजय नाम अष्टादश सर्ग समाप्त ।

---

१. क °ऋद्विवृद्धिशालम् । [°ऋद्धिमद्धिशालम्]। २. [°रसप्रदायिनीभिः]।

एकोनविंशः सर्गः

अथान्यदा वृद्धतमैर्नरेन्द्रैः[1] सुखं निषण्णः तनयां प्रदित्सुः ।
आहूय कश्चिद्भटमासयित्वा पप्रच्छ वंशानुगतां प्रवृत्तिम् ॥ १ ॥
विज्ञानकान्तिद्युतिसत्त्वयुक्तो यतो दिगन्ते प्रथितोरुकीर्तिः ।
धन्यौ ततस्ते पितरौ कुतस्तौ विज्ञातुमिच्छामि न चेद्विरोधः ॥ २ ॥
स्मित्वा ततः सोऽर्थपरेङ्गितज्ञः कश्चिद्भटो नात्मगुणप्रशंसी ।
प्रच्छाद्य सद्भूतम[2]दार्थमन्यद्वचो बभाषे क्षितिपाय युक्त्या ॥ ३ ॥
कश्चिद्भटः शूर उदारकीर्तिः श्रेष्ठच्यङ्गसूनुस्त्विति लोकवादः ।
स एव मे बन्धुतमः पिता च पिता न चान्यो भुवि विद्धि राजन् ॥ ४ ॥

एकोनविंश सर्ग

संग्रामसे लौटनेके एक दिन बाद ज्ञानी वृद्ध पुरुषोंके साथ शान्तिपूर्वक बैठे हुए महाराज देवसेन अपनी राजदुलारीके विवाहके विषयमें चर्चा कर रहे थे। निर्णय हो जानेपर उन्होंने कश्चिद्भटको बुला भेजा था। जब वह आ गया था तो सस्नेह निकट बैठाकर उससे अपने वंश तथा कुल-क्रमसे चली आयी प्रवृत्तियोंके विषयमें पूछा था ॥ १ ॥

कुल प्रश्न

'हे वत्स ! तुम कान्तिमान हो, तुम्हारे तेज तथा सामर्थ्य तो असीम हैं तथा विज्ञानके साक्षात् भाण्डार हो। अपनी इन योग्यताओंके कारण ही तुम्हारी विशाल कीर्ति सब दिगन्तोंमें फैल गयी है। इन सद्गुणोंका ध्यान आते ही मुखसे निकल ही पड़ता है कि तुम्हारे माता-पिता धन्य हैं। यदि बतानेमें तुम्हें विशेष विरोध न हो तो मैं उनके विषयमें जाननेके लिए उत्सुक हूँ, बताओ वे दोनों किस वंशकी शोभा बढ़ाते हैं' ॥ २ ॥

कश्चिद्भट दूसरोंके मनके अभिप्रायोंको सरलतासे समझ लेता था अतएव वह राजाके भावोंको जान गया था, किन्तु अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करनेमें उसे संकोच होता था। इस कारणसे उसने अपने विषयकी वास्तविक बातोंको किसी प्रकार छिपाते (सीधे रूपसे न कहते हुए) हुए युक्तिपूर्वक राजासे कुछ ऐसे वचन कहने प्रारम्भ किये थे, जो प्रकृत विषयमें सर्वथा अनुपयोगी थे ॥ ३ ॥

कश्चिद्भटकी कृतज्ञता

'महा यशस्वी अनुपम वीर कश्चिद्भट ललितपुरके सार्थपति सागरवृद्धिका ज्येष्ठ पुत्र है इस तथ्यको सारा संसार

१. [मरेन्द्रः]। २. [सद्भूतमपार्थ°]।

जानामि तेऽहं क्रियमाणमर्थं वचोविकारैर्हृदि वर्तमानम् ।
कुतस्त्वयं किं कुलमस्य वेति कन्याप्रदानं प्रति ते विमर्शः ॥ ५ ॥
सा तिष्ठतु स्वा सुसुतानवद्या न तां महीपाल वृणे त्वदीयाम् ।
वणिक्सुतश्चेति मनो निधाय प्रसीद मे वा परिणामरम्याम् ॥ ६ ॥
सभागतास्तद्वचनं निशम्य प्रसन्नतां वीक्ष्य विनीततां च ।
आकूतमीशस्य च संप्रबुध्य विज्ञापयां भूमिपतिं बभूवुः ॥ ७ ॥
त्वयेन्द्रसेनः समरे जितश्चेत्तुभ्यं प्रदास्ये सुतयार्धराज्यम् ।
इत्येवमाघोष्य सभासमक्षं भूयो विचारस्तव नानुरूपः ॥ ८ ॥

जानता ही है। मेरा भी यही कहना है कि वे (सार्थपति) ही मेरे सर्वोत्तम सगे सम्बन्धी हैं तथा पूज्य पिता हैं। हे महाराज ! उनके अतिरिक्त कोई दूसरा मेरा बन्धु या पिता इस धरातल पर नहीं है, आप ऐसा ही समझें ॥ ४ ॥

आपके वार्तालापकी शैलीके आधारपर मैं आपके हृदयके भावोंको कुछ-कुछ समझता हूँ, आप जिस कार्यको करना चाहते हैं उसका भी मुझे आभास हो ही रहा है। आप यही सोचते हैं कि यह कहाँका निवासी होगा ? इसका कुल कौन-सा है ? क्योंकि कन्याका विवाह करते समय इन सब बातोंका विमर्ष करना ही पड़ता है ॥ ५ ॥

किन्तु आपकी रूप-गुणवती तथा सुशील कन्या आपके ही घर रहे। हे महीपाल मैं वर्तमान परिस्थितियोंमें उसे नहीं ब्याह सकता हूँ। आप ऐसा निश्चित ही समझिये कि मैं वणिकपुत्र ही हूँ। इसी बातको मनमें रखकर आप मुझपर प्रसन्न हों, कारण आपके इस अनुग्रहका परिणाम बड़ा मधुर होगा ॥ ६ ॥

भरी सभामें कश्चिद्भटके उक्त वचनोंको सुनकर; उतना बड़ा शुभ अवसर त्यागकर भी उसकी आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रसन्नताओंको लक्ष्य करके एवं अद्भुत विनम्रताको दृष्टिमें रखते हुए तथा इन सबकी अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अपने अभिप्रायको ध्यानमें रखकर महाराज देवसेनसे अत्यन्त समझदारीके साथ सभ्योंने निम्न वक्तव्य दिया था ॥ ७ ॥

युद्धके पहिले आजके समान ही भरी हुई पूर्ण सभाके समक्ष आपने स्पष्ट घोषणा की थी 'यदि महासमरमें मथुराधिप इन्द्रसेन तुम्हारे द्वारा पराजित किया जायगा तो मैं अपनी प्राणोंसे भी प्यारी पुत्री सुनन्दाको तुमसे ब्याहूँगा और इसके साथ, साथ आधा राज्य दहेजमें समर्पित करूँगा।' इस प्रकारकी घोषणा करके अब उसपर आपका, कश्चिद्भटकी इच्छाके अनुसार विचार करना किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं है ॥ ८ ॥

यत्पूर्वमाख्याय सदस्सु राज्ञां तत्प्रत्यनीकं न च युक्तिमेति ।
महाजनानां परिहास एष धर्मस्य चात्यन्तविरुद्धमेतत् ॥ ९ ॥
ब्रवीति चक्षुर्मनसो विकारं ब्रवीति सौख्यं वपुषश्च शोभा ।
कुलं हि नृणां विनयो ब्रवीति इत्येवमुक्तं सदसि प्रधानैः ॥ १० ॥
स्वैर्मन्त्रिभिः स्वस्य हितं ब्रुवद्भिस्तथा त्वनुज्ञातमिदं मयेति ।
कन्या[1] प्रदाने कृतनिश्चयोऽभून्मुदा नरेन्द्रो मतिमान्विधिज्ञः ॥ ११ ॥
ततो नरेन्द्रो विजयप्रधानैः समेत्य वृद्धैः पुरवासिभिश्च ।
प्रहृष्टचेताः कृतसत्यसन्धो विवाहकार्याय शशास सर्वान् ॥ १२ ॥

वजनके धनी देवसेन

राजसभामें पहिले जो घोषणा की थी बादमें उसके विपरीत ही नहीं उससे थोड़ा भी कम कार्य करना राजाओंको शोभा नहीं देता है, उसका किसी युक्तिसे समर्थन भी नहीं किया जा सकता है तथा वह धर्मके सर्वथा प्रतिकूल है। अतएव ऐसा कार्य होनेसे सज्जन पुरुष भी परिहास ही करते हैं ॥ ९ ॥

आँखका रंगरूप या चेष्टाएँ ही मनुष्यके मनमें उठनेवाले विचारों और भावोंको व्यक्त कर देते हैं, शरीरकी कान्ति ही मनुष्यके सुखी कुलीन जीवनका विज्ञापन करती है, इसी प्रकार मनुष्यके कुलकी महत्ताको उसकी आचार-विचार सम्बन्धी विनम्रता ही खोल कर दिखा देती है। राज्यके प्रधानोंने इस प्रकारसे कश्चिद्भटके विषयमें आग्रह किया था ॥ १० ॥

राजाके कल्याण तथा अभ्युदयकी सम्मति देनेवाले अपने मंत्रियोंकी उक्त प्रकारकी अनुमतिको देखकर महाराज देवसेनने कहा था 'मेरे द्वारा भी आप लोगोंका पूर्ण समर्थन किया जाता है।' इसके उपरान्त लोकाचारके विशेषज्ञ तथा विवेकी महाराजाधिराजने प्रसन्नतापूर्वक कन्याको समदत्ति रूपसे देनेका निश्चय किया था ॥ ११ ॥

इस निर्णयपर पहुँचते ही ललितेश्वरने विजय आदि महामंत्रियों, श्रेणी, गणोंके प्रधान अनुभवी वृद्ध नागरिकोंके साथ महोत्सवके विषयमें विशदवार विमर्ष किया था। अपनी प्रतिज्ञाको पूर्ण कर सकनेके कारण अत्यन्त प्रमुदित महाराजने नगर तथा राज्यके सब ही अधिकारियोंको विवाह-मंगलकी तैयारी करनेका आदेश दिया था ॥ १२ ॥

---

१. म किंतु प्रदनि सुविचार्य कार्यं कन्याप्रदाने कृतनिश्चयोऽभूत् ।

नित्यप्रवृद्धाः प्रचलत्पताका नित्योत्थितान्येव च तोरणानि ।
नित्योत्सवाढ्यां ललिताह्वपुर्यां तानेव संपादितमास पूर्वम्[1] (?) ॥ १३ ॥
त्रिकांचतुष्कानथ चत्वरांश्च वीथीप्रदेशान्सुमहान्पथांश्च ।
विशोध्य सच्चन्दनतोयगन्धैः पुष्पाणि तत्र[2] प्रकिरन्विधिज्ञाः ॥ १४ ॥
यावद्गृहद्वारमिलाधिपस्य यावत्पुनः सागरबुद्धिगेहम् ।
तावच्च संस्कारितमृद्धिमद्भिः [3]प्रेक्षागृहैश्चित्रितमण्डपैश्च ॥ १५ ॥
क्वचिच्च मुक्तास्तरलाः पराढ्याः क्वचित्क्वचिद्विद्रुमदामकानि ।
क्वचिच्च हैमाम्बुरुहाणि रेजुः प्रलम्बितान्यप्रतिमानि तानि ॥ १६ ॥

विवाह निश्चय

महाराजके आज्ञा देते ही पूरे नगरमें प्रतिदिन नूतन पताकाएँ खड़ी की जाती थीं जो वायुके झोंकोंके साथ लहलहाती थीं, प्रत्येक दिशामें प्रतिदिन नये-नये विचित्र तोरणद्वार बनाये जाते थे, ऐसा एक भी दिन न बीतता था जिस दिन कोई नया उत्सव धूम-धामके साथ न मन या जाता हो। इस प्रकार प्रतिदिन ही इस प्रकारके मंगल कार्य ललितपुरमें होते थे, जिनके कारण उसका महत्त्व दिन दूना और रात चौगुना हो रहा था ॥ १३ ॥

नगरकी सब गलियों तथा उनके दोनों ओरके प्रदेशों, बड़े-छोटे राजमार्गों तथा प्रधान मार्गों, तिमुहानियों, चौराहों तथा सब ही चत्वरों (चौपालें) को भलीभाँति पूर्ण स्वच्छ किया गया था। उनपर सुगन्धित स्वच्छ चन्दन जल छिड़का जाता था। इतना ही नहीं नगर सजानेकी शैलीके विशेषज्ञ पुरुष इन स्थानोंकी शोभा बढ़ानेके लिए इनपर फूलों तथा रत्नोंको विधि-पूर्वक बिखेर देते थे ॥ १४ ॥

नगरकी शोभा

समुद्रान्त पृथ्वीके पालक महाराज देवसेनके राजप्रासादके द्वारसे आरम्भ करके सार्थपतियोंके अधिपति सेठ सागरबुद्धि-के महलके द्वारतक जितना प्रदेश था उनका साधारण संस्कार ही न हुआ था। अपितु उस पूरे अन्तरालमें महाऋद्धिसे परिपूर्ण प्रदर्शनालय (प्रेक्षागृह) तथा विविध चित्र आदिसे भूषित महाविभवपूर्ण मंडप बनाये गये थे ॥ १५ ॥

कहींपर बहुमूल्य अनुपम कान्तियुक्त मोतियोंकी राशि चमक रही थी उसे देखकर लहराते जलकी आशंका हो जाती थी, कहींपर उत्तमसे उत्तम मूंगोंकी मालाएँ लटक रही थीं, किसी दूसरे स्थलपर सोनेसे बनाये गये सुन्दर कमल शोभा दे रहे थे, तीसरे स्थलपर अनुपम शोभाके भंडार इन्हीं कमलोंकी मालाएँ लटक रही थीं ॥ १६ ॥

---

१. क दान्वेव सपादितमास° । २. क रत्न, [पुष्पाणि रत्नान्यकिरन्] । ३. म प्रेष्या ।

क्वचिद्विचित्रं ननृतुस्तरुण्यः क्वचिच्च गीतं मधुरं जगुश्च ।
आस्फोटच भाण्डाः करतालशब्दान्विलम्बनां चक्रुरितोऽमुतश्च ॥ १७ ॥
श्रीमण्डपे लम्बितपुष्पदाम्नि विचित्रविन्यस्तबलिप्रदेशे ।
सिंहासने काञ्चनपादपीठे निवेश्य कश्चिद्भटमोशपुत्र्या ॥ १८ ॥
पद्मापिधानैर्वरहैमपुष्पैः सुशीतगन्धोत्कटवारिगर्भैः ।
श्रेणिप्रधानेश्वरमन्त्रिमुख्यास्तौ स्नापयां प्रीतिमुखा बभूवुः ॥ १९ ॥
ज्वल[2]त्किरीटं प्रणिधाय मूर्ध्नि स्वयं नरेन्द्रस्तु बबन्ध पट्टम् ।
कृत्वाग्निधर्मोदकसाक्षिभूतं कश्चिद्भटाय प्रददौ सुनन्दाम् ॥ २० ॥
मत्तद्विपानां तु सहस्रसंख्या द्विषट्सहस्राणि तुरङ्गमानाम् ।
ग्रामाः शतेन प्रहताः सहस्रा हिरण्यकोटयश्च चतुर्दशैव ॥ २१ ॥

किसी स्थलपर युवती स्त्रियाँ अद्भुत-अद्भुत नृत्य कर रही थीं, दूसरी ओरसे मधुर मोहक गीतकी ध्वनि आ रही थी, अन्य स्थलोंपर भांड़ जोर-जोरसे तालियाँ पीटकर इधर-उधरकी नकलें तथा स्वांग भरनेमें मस्त थे ॥ १७ ॥

विवाह-मंडप

श्रीमण्डपकी शोभा लोकोत्तर थी उसमें कोई ऐसा स्थल ही न था जहाँपर सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंकी मालाएँ न सजायी गयी हों। स्थान,[1]स्थानपर चौक पूर कर विपुल अर्घोंको चढ़ाया गया था। वर-वधूके लिए जो सिंहासन रखा था उसके पाये आदि सब ही भाग विशुद्ध स्वर्णसे बने थे। इस सिंहासनपर महाराज देवसेनकी पुत्रीके साथ कश्चिद्भट बैठाये गये थे ॥ १८ ॥

सिंहासनके पास सोनेके कलश रखे थे, उनमें सुशीतल तथा उत्कट सुगन्धयुक्त तीर्थजल भरा था, वे मनोहर कमलोंसे ढके हुए थे। इन्हीं कलशोंको उठाकर परमप्रसन्न ललितेश्वर, मंत्रि, राज्यके प्रधान तथा श्रेणी और गणोंके द्वारा मुखियोंने वर-वधूका अभिषेक कराया गया था ॥ १९ ॥

वर-वधू अभिषेक

इसके उपरान्त महाराजने स्वयं ही कश्चिद्भटके शिरपर मुकुट पहिनाया था जिसका प्रकाश चारों ओर फैल गया था। और स्वयं ही उन्होंने जामाताको पट्टा बाँधा था। इस क्रमसे विवाहके संस्कारोंको करते हुए महाराज देवसेनने धर्म, अग्नि तथा जलको साक्षी करके कश्चिद्भटसे अपनी पुत्रीको व्याह दिया था ॥ २० ॥

दहेजमें दिये गये मदोन्मत्त हाथियोंकी संख्या एक हजार थी, सुशिक्षित घोड़ोंका प्रमाण भी (दो छह) बारह

१. [विडम्बनां]। २. क ज्वलत्तिरीटं।

द्वात्रिंशदायोजितनाटकानि वृद्धाः किराता विविधाश्च दास्यः ।
सुशिल्पिनः कर्मकरा विनीता दत्तानि पित्रा विधिवद्दुहित्रे ॥ २२ ॥
अन्यच्च लोकेऽतिशयप्रवृत्तसुसंस्कृतं द्रव्यमनेकभेदम् ।
क्रीडानुरूपं विधिना विभूत्यै प्रीत्या ददौ भूमिपतिः सुतायै ॥ २३ ॥
सद्रत्नसंस्कारितचारुरूपां दिवाकरांशुप्रतिमां [1]महार्हाम् ।
आरुह्य तौ तां शिविकां महर्ध्यां प्राचक्षितां सागरवृद्धिगेहम् (?) ॥ २४ ॥
अष्टादशश्रेणिगणप्रधानैरष्टादशान्येव दिनानि तत्र ।
कश्चिद्भटस्यावनिपात्मजायाश्चक्रे विभूतिं महतीं महद्भिः ॥ २५ ॥
ताम्बूलवस्त्रोत्तमभूषणानि विलेपनं स्वग्वरभोजनानि ।
प्रस्पर्धयेवाहरहस्तदानीं संप्रेषयन्ति स्म नरेन्द्रपत्न्यः ॥ २६ ॥

हजार था, एक हजारसे गुणित सौ अर्थात् एक लाख प्रमाण ग्राम दिये थे तथा चौदह कोटि प्रमाण सुवर्ण मुद्राएँ समर्पित की थीं ॥ २१ ॥

इसके अतिरिक्त बत्तीस नाटककी आयोजना करनेवाले (ललित-कला वेत्ता) दिये थे, अन्तःपुरमें रहने योग्य अनेक वृद्ध पुरुष, किरात, सब प्रकारकी दासियाँ, सब तरहके शिल्पकार तथा विनीत कर्मचारी पिताने आवश्यकताका विचार करके अपनी प्रिय पुत्रीको दिये थे ॥ २२ ॥

इतना ही नहीं संसारमें महत्ता तथा सुसंस्कृत आदर्श जीवनके लिए आवश्यक सब ही प्रकारके पदार्थ, मनोविनोद, क्रीड़ा, आदि प्रसंगोंके उपयुक्त सामग्री, तथा विभव-प्रभावके प्रदर्शक सब ही उपकरणोंको महाराज देवसेनने बड़ी प्रीतिके साथ पुत्रीको समर्पित किये थे ॥ २३ ॥

इस विधिसे विवाह संस्कार समाप्त हो जानेपर वर-वधूको विदाके लिए महा मूल्यवाली पालकीमें बैठाया गया था। उत्तम-उत्तम रत्नोंके जड़ावके कारण पालकीकी शोभा मनोहारी हो गयी। वह सूर्यके किरणोंके समान जगमगा रही थी। इसके उपरान्त विशाल वैभव और पूजाके साथ उन दोनोंने सागरवृद्धिके घरमें प्रवेश किया था ॥ २४ ॥

वहाँपर पहुँच जाने पर महा ऋद्धिशाली श्रेणी तथा गणोंके अठारह प्रधानोंने लगातार अठारह दिनतक कश्चिद्भट तथा राजाकी बेटीका बड़े समारम्भपूर्वक स्वागत किया था तथा बड़ी-बड़ी विभूतियाँ भेंट की थीं ॥ २५ ॥

इन दिनों ही महाराज देवसेनकी सब रानियाँ भी प्रतिदिन वस्त्र, उत्तम-भूषण सुस्वादु भोजन, श्रेष्ठतम मालाएँ,

१. [महार्हं]।

स्वबाहुवीर्यार्जितभोगवत्या भूपश्रिया साधु विभासमानम् ।
कश्चिद्भटं राजसुतां च वीक्ष्य जगज्जनः स्वैरमभाषतेत्थम् ॥ २७ ॥
किं किन्नरीणां मिथुनं त्विदं स्यादाहोस्विदायातमथेन्द्रलोकात् ।
विद्याधराणां विषयादपेतं यदृच्छयेहागतमित्यमंस्त ॥ २८ ॥
अज्ञातवंशः परदेशजातो धन्योऽयमस्याः पतितामुपेतः ।
पुण्यान्वितानां हि नृणां नृलोके पुण्यान्विता एव भवन्ति भार्याः ॥ २९ ॥
ईदृक्सुरूपाणि महीगतानां कीदृक्[1] शिवा तत्र नभश्चराणाम् ।
ईदृग्यदि स्याल्ललितं नराणां कीदृक्सुराणामिति किं वचोऽस्ति ॥ ३० ॥

विलेपन, पान, आदि भोग-परिभोग सामग्री भेजती रहती थीं। एक रानीकी अपेक्षा दूसरीके उक्त पदार्थ बढ़कर होते थे, मानो पुत्रीपर स्नेह प्रकट करनेमें वे एक दूसरेको हराना चाहती थीं ॥ २६ ॥

नवदम्पतिका स्वागत

कश्चिद्भटने अपने बाहुबलके द्वारा ही समस्त भोगोंकी खान राजलक्ष्मीको प्राप्त किया था। उसकी प्राप्ति हो जाने से उसका तेज व कान्ति विकासकी चरमसीमाको प्राप्त हुए थे। उस समय उसे तथा गुणवती राजपुत्रीको देखकर लोग अपने आप प्रसन्नतासे कह उठते थे ॥ २७ ॥

राजपुत्री तथा कश्चिद्भटकी यह अनुपम जोड़ी क्या किन्नर देवोंका युगल है ? अथवा पर्यटन करती हुई कोई देव देवाङ्गनाकी जोड़ी स्वर्गसे पृथ्वीपर चली आयी है। वे सोचते थे, क्या विद्याधर लोकको छोड़कर ये दोनों यों ही मनुष्य-लोकके पर्यटनको तो नहीं चले आये हैं ॥ २८ ॥

कोई कश्चिद्भटके जन्म तथा कुलको भी नहीं जानता है, किसी दूर देशमें उत्पन्न हुआ होगा। किन्तु यह धन्य है जो हमारी राजपुत्रीका पति हो गया है। सत्य ही है—जो पुरुष पुण्यलक्ष्मीके भर्ता हैं इस संसारमें उनको पत्नियाँ वे ही हो सकती हैं जिन्होंने पूर्व जन्ममें विपुल पुण्यराशिको कमाया है ॥ २९ ॥

लोकका नवदम्पति-अनुराग

यदि मध्यलोकमें उत्पन्न स्त्री और पुरुष इतने अधिक रूपवान हो सकते हैं तो स्वर्गवासियोंकी रूपलक्ष्मी कैसी होती होगी। यदि मनुष्य गतिमें उत्पन्न युगल इतना अधिक ललित है तो देवताओंके स्वर्गीय लावण्य और दैवी कान्तिके विषयमें तो कहा ही क्या जा सकता है ? इन दोनोंने पूर्व जन्ममें कौन-सा दुर्द्धर तप किया होगा ॥ ३० ॥

१. [कीदृक्श्रियस्तत्र]।

किं वानयोः पूर्वकृतं तपः स्यात्काराधिताभ्यां खलु देवता वा ।
व्रतानि कान्याचरितान्युभाभ्यामित्ययत्रवोद्विस्मयफुल्लनेत्रः ॥ ३१ ॥
एवं जनानां स्थितवान्मनस्तु स्वपूर्वनिर्वर्तितपुण्यभागी ।
विस्मित्य[1] कश्चिद्भट आत्मबन्धून्रेमे नवैर्बन्धुजनैः समेतः ॥ ३२ ॥
नरेन्द्रपुत्रीमनवद्यरूपामवार्यकान्तिद्युतिसौकुमार्यैः ।
रहोविहारेष्वनुवर्तितैः स्वैः[2] स रञ्जयामास गुणैर्गुणज्ञः ॥ ३३ ॥
गन्धर्वगीतश्रुतिगन्धयुक्त्या काव्यप्रयोगेन कथाप्रपञ्चैः ।
नाट्यावलोकेन कथाविशेषैस्तस्या मनस्स्वैः स्वबबन्धः बध्वाः[4] ॥ ३४ ॥
साध्यात्मनीयैर्ललितैरुदारैः कलागुणज्ञानकथाविशेषैः ।
दाक्षिण्यवेषैर्विनयोपचारैर्जहार चेतः सततं स्वभर्तुः ॥ ३५ ॥

अथवा किस देवताके अनुपम आदर्शको इन दोनोंके द्वारा आराधन को गयी होगी। अथवा इन लोगोंने कौनसे व्रतों का निरतिचार आचरण किया होगा ? इस प्रकार जब लोग कहते थे तब उनके नेत्र आश्चर्यसे फैल जाते थे। उनके मनमें धार्मिक आस्था तथा नूतन युगलके प्रति आदरका भाव बढ़ता ही जाता था ॥ ३१ ॥

पूर्वभवमें उपार्जित पुण्यके फलोंको भोगनेवाला कश्चिद्भट भी इन सब व्यासंगोंमें फँसकर अपने प्रथम बन्धु बान्धवों को भूल गया था तथा नूतन सगे सम्बन्धियोंसे घिरा हुआ प्रसन्नतासे समय काट रहा था ॥ ३२ ॥

युवराजकी नूतन पत्नी, ललितपुरकी राजकन्याका रूप सर्वथा खोटहीन था। उसकी अपनी कान्ति, तेज तथा सुकुमारताका आकर्षण भी ऐसा था कि उसके सामने स्थिर रहना असंभव था, फलतः वह गुणी राजपुत्र दिनके विहारमें अपने गुणोंका अनुकूल प्रवाह करके पत्नीको प्रसन्न रखता था ॥ ३३ ॥

वह युगल कभी गान्धर्वोंके गीत सुनता था, तो दूसरे समय परस्परका वर प्रसंग (फूलों, इत्र आदिसे सजाने) करते थे। किसी समय काव्य निर्माण तथा विवेचनका रस लेते थे और कथाएँ कहकर मन बहलाते थे, अन्य समय रसमय नाटकोंका अभिनय देखकर अथवा विशेष गल्प कहकर नवोढ़ा पत्नीके चित्तको वह अपनी ओर जोरोंसे खींचता रहता था ॥ ३४ ॥

उस वधूका ज्ञान, गुण, ललित कलाओंका अभ्यास तथा वार्तालापकी शैली अति अधिक रसमय, उदार तथा आकर्षक थे, वेषभूषा शिष्ट किन्तु उद्दीपक थे, तथा समस्त आचार विनम्रतासे ओतप्रोत था फलतः पतिके मनको उसने पूर्णरूपसे अपने वशमें कर लिया था ॥ ३५ ॥

१. [विस्मृत्य] । २. म °वर्तितैस्तैः । ३. [स बबन्ध] । ४. म बन्ध्वाः ।

उद्यानयानैश्च नदीविहारैर्वनप्रदेशाद्रिनिरीक्षणैश्च ।
महार्हहर्म्येषु रतिप्रमोदैः कश्चिद्भटस्तां रमयांबभूव ॥ ३६ ॥
अन्योन्यसंभाषणसक्तचित्तमन्योन्यसंदर्शनतत्पराक्षम् ।
अन्योन्यमङ्गेषु कृताङ्गरागमन्योन्यमेवं मिथुनं जहर्ष ॥ ३७ ॥
एवं तयोस्तु प्रथितोरुकीर्त्योः परस्परोद्वर्तितभोगरत्योः ।
विश्रम्भभावानुगतप्रणीत्योः कालो व्यतीतः पुरपुण्यमूर्त्योः ॥ ३८ ॥
ततः कदाचिन्नृपसेवनार्थं कश्चिद्भटाख्यं नृपतिं विशन्तम् ।
मनोरमा नाम नरेन्द्रकन्या यदृच्छयापश्यदतुल्यशौर्यम् ॥ ३९ ॥
समीक्ष्य रूपं च युवत्वमस्मिन्नास्थां चकार क्षितिपालकन्या ।
लब्जावकाशो[1] मदनस्तदानीं हृदि प्रविव्याध मनोरमायाः ॥ ४० ॥

गाढानुराग

पत्नी पर परम अनुरक्त कश्चिद्भट भी उद्यान विहार, नदियोंमें जलक्रीड़ा, वनके रम्य प्रदेशोंका पर्यटन, पर्वतोंकी प्राकृतिक शोभाका निरीक्षण, विशाल तथा वैभव सम्पन्न राजमहलोंमें रतिकेलि आदि कार्योंके द्वारा पत्नीका मनोविनोद करता था ॥ ३६ ॥

आपसमें वार्तालाप करते, करते उनके मन कभी अघाते ही न थे, एक दूसरेको निर्निमेष देखते रहनेपर भी उनकी आँखें कभी थकती ही न थीं, उन दोनोंको ही एक दूसरेके अंग अंगसे गाढ़ प्रीति थी अतएव इस क्रमसे वे एक दूसरेमें लीन होते जाते थे ॥ ३७ ॥

उनके भोग और रति एक दूसरेका आश्रय पाकर द्वितीयाके चन्द्रमाके समान बढ़ रहे थे, चेष्टाएँ भी पारस्परिक विश्रम्भ और भावगाम्भीर्यको बढ़ा रही थीं। पुण्यकी ख्यातिके समान उनकी प्रीतिगाथाकी कीर्ति भी खूब फैल रही थी। यह जोड़ी ललितपुरके पुण्यकी मूर्तिके समान थी। परस्परानुकूल आचरणसे उनका समय आनन्दपूर्वक बीत रहा था ॥ ३८ ॥

मनोरमाका मोह

एक दिनकी घटना है कि नृपति कश्चिद्भट महाराज देवसेनके साथ बैठकर योग्य सेवा, आदि जाननेके लिए अन्तःपुरमें प्रवेश कर रहे थे। संयोगवश उसी समय अतुल्य पराक्रमी राजा कश्चिद्भटको सहजभावसे मनोरमा नामकी किसी राजपुत्रीने देखा था ॥ ३९ ॥

कश्चिद्भटके शुद्ध रूप और परिपूर्ण यौवनको देखकर उस राजपुत्रीका मन उसपर उलझ गया था, फिर क्या था!

१. म शब्दावकाशो ।

अनङ्गमुक्तः स च तीक्ष्णबाणः संप्राप्य वेगादथ चित्तलक्ष्यम् ।
ददाह तस्यास्तनुमन्तरन्तो वह्निर्यथान्तःसुषिरं द्रुमस्य ॥ ४१ ॥
नालङ्कृता सा न सखीभिरासे संभाष्यमाणा न ददौ च वाचम् ।
नैवार्स[1] किंचिन्न पपौ न सास्मो[2] कन्दर्पदर्पाभिहता वराङ्गी ॥ ४२ ॥
कदाचिदुद्यानवनैकदेशे स्थिता पुनः सा स्थितनिश्चलाक्षी ।
कश्चिद्भटं चित्रकलाविदग्धा लिलेख पुंस्त्री[3] नृपतेः शिलायाम् ॥ ४३ ॥
अवेक्ष्य चित्रस्थमतीवविद्धं तद्दुर्लभत्वं च विचिन्तयन्त्याः ।
सदीर्घनिःश्वासमुखं रुदन्त्या हिमाहताम्भोजमिवास तस्याः ॥ ४४ ॥

कामदेवको शुभ अवसर मिला और उसने तुरन्त ही मनोरमाके अनुभवहीन हृदयको अपने पुष्प-बाणोंसे वेध दिया था ॥ ४० ॥

जगज्जेता कामदेवसे द्वारा छोड़ा गया अति तीक्ष्ण बाण अत्यन्त वेगसे मनोरमाके हृदयरूपी सुकुमार लक्ष्यमें जा धँसा था। और उसके शरीरको उसी प्रकार तपाने लगा था जिस प्रकार वृक्षके अन्तरंगमें प्रज्वलित आग स्वाभाविक अवस्थामें भीतरसे अत्यन्त शीतल वृक्षको भस्म करने लगती है ॥ ४१ ॥

विरह व्यथा

प्रेमपीड़ासे अनभिज्ञ वह भोली राजकुमारी न तो अपना शरीर संस्कार व शृंगार करती थी, न सब सखियोंके साथ बैठती, खेलती थी, बार-बार पूछे जानेपर भी उत्तर न देती थी, न तो कुछ पीती ही थी। कामदेवकी शक्तिसे परपाड़ित सुकुमारी सुन्दरी राजपुत्रीको नहाने-धोने तकका भी ख्याल न था ॥ ४२ ॥

उद्यानमें जाकर वह किसी एकान्त कोनेमें जाकर बैठ जाती थी और अपने प्रेमीके ध्यानमें मग्न होनेपर उसके सुन्दर विशाल नेत्र सर्वथा निश्चल हो न होते थे अपितु मुखमण्डलपर एक अकारण स्मित भी खेलता रहता था। वह राजपुत्री चित्र-कलामें दक्ष थी। अतएव शिलाके ऊपर कश्चिद्भटका रेखाचित्र बनाती थी ॥ ४३ ॥

अत्यन्त सफल चित्रमें कश्चिद्भटको देखकर तथा उसकी दुर्लभताको सोचकर विचारी हताश हो जाती थी। मुखसे निराशासूचक दीर्घ निःश्वास निकलता था। और आँखोंसे आँसूकी धार बह पड़ती थी उस समय उसका मुख देखनेपर उस विकसित कमलकी श्री का स्मरण हो आता था जिसपर पाला पड़ जाता है ॥ ४४ ॥

---

१. [नैवाश]। २. [साञ्चीत्]। ३. [पुत्रा]।

सखी तिरोऽभ्येत्य ततस्तदानीं वैचिन्त्यमस्या ह्यधगम्य युक्त्या ।
सा पृष्ठतस्तां शनकैरुपेत्य नेत्रद्वयं कल्पितदधौ कराभ्याम् ॥ ४५ ॥
सख्याः कराग्रप्रतिमर्शनेन मृगीव तत्रास तदानभिज्ञा ।
तद्वाक्यतः सा विदितानयेति किंचित्प्रहस्यात्मनि सा ललज्जे ॥ ४६ ॥
अन्यार्थसंक्रीडनवेपिताङ्गी हस्तद्वयेन प्रममर्ज चित्रम् ।
सखी च तद्वीक्ष्य जयाद वाक्यं चित्रं किमेतद्वद मे निशङ्का[1] ॥ ४७ ॥
भूयश्च तस्या वदनं निरीक्ष्य ससाध्वसं मूढमनोभवार्ता ।
एकाकिनी त्वं हि किमर्थमासे वने वदेत्येवमथाभ्यपृच्छत् ॥ ४८ ॥
सा चैवमुक्ता धरणीन्द्रपुत्री सख्या तदाचारगुणं ह्यवत्या[2] ।
नैवालि मे कार्यमवश्यभावि क्रीडाप्रसङ्गादहमागतास्मि ॥ ४९ ॥

छिपाये न छिपे

उसी समय कोई सखी आड़मेंसे बढ़कर उसके निकट पहुँचकर बड़ी युक्तिपूर्वक उसको अन्य-मनस्कताको भाँप लेती थी। फिर धीरे-धीरे पीछेसे उसके अति निकट पहुँचकर अपने कोमल हाथोंसे उसकी आँखोंको दबा लेती थी ॥ ४५ ॥

सखीकी हथेलियोंके स्पर्श द्वारा चैतन्य होकर वह भोली राजकुमारी वन्य हिरिणीकी भाँति डर जाती थी। वह सखी-की बातोंसे यह अनुमान करके कि इसने सब जान लिया है कुछ थोड़ा हँसनेका प्रयत्न करती थी, किन्तु अन्तमें अत्यन्त लज्जित हो जाती थी ॥ ४६ ॥

इतने पर शेष रहस्यको छिपा लेनेके अभिप्रायसे वह त्वरापूर्वक दोनों हाथोंसे चित्रको पोंछ देती थी। सखी भी उधर देखकर कहती थी 'यह किसका चित्र है, मुझे निशंक होकर बताओ ॥ ४७ ॥

तुरन्त ही सखी ध्यानपूर्वक मनोरमाके मुखको देखती थी और उसपर भय तथा आशंकाकी छाया ही नहीं अपितु कामव्यथाकी स्पष्ट छापको देखकर उससे आग्रहपूर्वक पूछती थी—'इस वनमें भी तुम किस विशेष प्रयोजनसे बिल्कुल अकेली बैठी हो ?' ॥ ४८ ॥

प्रेम छिपानेका प्रयत्न

ललितेश्वरकी राजनन्दिनी सखीके द्वारा उक्त विधिसे पूछे जानेपर उसको ओर देखती थी तथा उसके आचार और

१. [विशङ्का]। २. [ह्यवेत्य]।

इत्थं ब्रुवाणा कुशला सखी सा विज्ञाय तस्या हृदि वर्तमानम् ।
अन्यापदेशेन सदर्थमन्यं मनःप्रसादार्थमिमां जगाद ॥ ५० ॥
मुखं परावर्तितकान्ति कान्ते ग्लानिं गता ते तनुरङ्गतन्वी ।
[1]विगूहसे किं हृदि यद्व्यलीकमेकाकिनी वोढुमसं समर्था ॥ ५१ ॥
मातुः पितुश्चैव विलासिनीनां विश्रम्भनीया तनु साध्वि सख्याः ।
नियन्त्रणां त्वं मयि संविधत्स्व शक्ता विनेतुं हृदयस्य तापम् ॥ ५२ ॥
जानामि विद्यां विविधप्रकारां मायामदृश्यां मदनप्रयोगम् ।
आवेशनं भूतवशीकृतिं च यदीच्छसि त्वं प्रवदेत्यवोचत् ॥ ५३ ॥

गुणोंका अनुमान करके इतना ही कहती थी 'हे आलि ? यहाँ बैठनेमें मेरा कोई अवश्यम्भावी प्रयोजन नहीं है, सहज ही मनोविनोद करती हुई यहाँ आ बैठी हूँ' ॥ ४९ ॥

मनोभाव लेनेका प्रयत्न

अस्पष्ट उत्तर देकर मनोभावको छिपानेवाली राजपुत्रीके मनके वास्तविक भावोंको वह चतुर सखी अनुमानसे जान गयी थी, अतएव उसके हृदयको कुछ हल्का करनेकी इच्छासे किसी दूसरी उत्तम बातको उसके आगे छेड़ देती थी ॥ ५० ॥

'हे कान्ति ? तुम्हारे स्वाभाविक परम सुन्दर मुखकी कान्ति बिल्कुल बदल गयी है। हे कृशाङ्गि ! तुम्हारा दुबला पतला शरीर अत्यन्त थक गया है। हृदयमें जो ज्वारभाटा उठ रहा है उसे झूठ ही क्यों छिपाती हो, अकेले-अकेले कहाँ तक सहोगी ?॥ ५१ ॥

'हे आलि ! प्रेम-प्रपञ्चमें पड़ी रतविलासकी इच्छुक युवतियोंके लिये सखियाँ माता तथा पितासे भी अधिक विश्वासपात्र तथा सहायक होती हैं। इसलिए तुम अपनी मनोव्यथाको मेरे साथ बाँट लो, मुझे विश्वास है कि मैं तुम्हारे हार्दिक तापको सम्भवतः दूर कर सकती हूँ ॥ ५२ ॥

मैं भाँति-भाँतिकी आश्चर्यजनक विद्याओंको जानती हूँ, मैं अदृश्य मायाके प्रयोगके साथ कामदेव सम्बन्धी वशीकरण प्रयोग भी कर सकती हूँ। दूसरेको उद्दीप्त करना और भूतप्रेतको वशमें करना तो मेरे लिए अति सरल है। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो अपने मनोभाव कहो।' इतना कहकर वह चुप हो गयी थी ॥ ५३ ॥

---

१. क विगूहसि, [निगूहसे]।

संश्रुत्य सा तद्वचनं यथार्थं लब्ध्वावकाशं नरदेवकन्या ।
मनोगतार्थप्रतिबोधनाय [1]समानपूर्वा गिरमित्थमूचे ॥ ५४ ॥
का मे प्रिया का च हितप्रवक्त्री मनःप्रसादस्य च का नियोक्त्री ।
का देवता कः सुजनोऽनुवर्ती ऋते भवत्या शरणं न मेऽस्ति ॥ ५५ ॥
नरेन्द्रसेवार्थमिहागतं तं यदा नु कश्चिद्भटमभ्यपश्यम् ।
तस्मिंस्तदैवात्ममनः ससञ्जे किं गूहितव्यं हितमित्युवाच ॥ ५६ ॥
यथा यथा तं मनसा स्मरामि मृगेन्द्रविक्रान्तमनङ्गरूपम् ।
तथा तथा मां प्रदहत्यनङ्गः कुरुष्व [2]तच्छान्तिमरं वयस्ये ॥ ५७ ॥
एवं प्रदिष्टा मनसो विकारं विज्ञाय तस्याः कमलायताक्ष्याः ।
सर्वैरुपायैस्तव कार्यमार्ये संसाधयामीति ततो जगाद ॥ ५८ ॥

मृग्याकी आतुरता

चतुर सखीके लगभग सत्य वाक्योंको सुनकर प्रेम-प्रपंचसे अनभिज्ञ राजपुत्रीको मनोभावोंको चरितार्थ करनेका शुभ अवसर मिल गया था। अतएव अपने मनकी वास्तविक अवस्थाको स्पष्टरूपसे बतानेके अभिप्रायसे आदरपूर्वक राजपुत्रीने निम्न वाक्य कहे थे ॥ ५४ ॥

'मेरी तुमसे अधिक प्यारी सखी और कौन है। तुम्हीं तो मुझे हितकी बात कहती हो। तुम्हारे सिवा और कौन दूसरी मेरे मनको प्रफुल्लित कर सकती है? मेरे लिए तुम साक्षात् देवता हो, कौन सगा-सम्बन्धी तुमसे बढ़कर अनुकूल हो सकता है? और क्या कहूँ तुम्हें छोड़कर कोई दूसरा मुझे शरण नहीं है ॥ ५५ ॥

महाराजकी सेवा करनेके लिए एक दिन कश्चिद्भट अन्तःपुरमें आये थे, जिस समय मैंने उनको देखा, उसी समय मेरा हृदय उनपर लग गया। तुमसे क्या छिपाऊँ, तुमही हितका मार्ग दिखाओ ॥ ५६ ॥

हिरणोंके राजा सिंहके समान पराक्रमी और कामदेवके समान परम रूपवान उस कश्चिद्भटको जितना-जितना मनोंमन सोचती हूँ, कामदेव निर्दय होकर मुझे उतना-उतना अधिक तपाता है। हे सखि! शीघ्रसे शीघ्र इस दाहको शान्त करो' ॥ ५७ ॥

सखीका आश्वासन

इन वाक्योंके द्वारा प्रकट किये गये, कमलाक्षि राजदुलारीके मनोभावोंको भलीभाँति समझकर उस कुशल सखीने कहा

१. [संमानपूर्वं]। २. [तच्छान्तिकरं]।

अथामितं तं शनकैरुपेत्य कश्चिद्भटं सा तु विविक्तदेशे ।
मनोरमायाः सकलामवस्थां व्यजिज्ञपद्वागुपपत्तिदक्षा ॥ ५९ ॥
नयादपेतं बहुदोषमूलं निशम्य तस्या वचनं पृथुश्रीः ।
कश्चिद्भटो मेरुरिवाप्रकम्प्यो न युक्तमेतद्विनयादवोचत् ॥ ६० ॥
एतद्वचस्ते न च युक्तरूपं विभ्राजते कर्मणि नैव भासः ।
स्वदारसंतोषमणुव्रताख्यं साध्वीश्वरो[1] मह्यमुपादिदेश ॥ ६१ ॥
इत्युक्तवत्युत्तमचारुरूपे कश्चिद्भटे सापि पुनर्जगाद ।
व्रतोपदेशात्समनुग्रहीतुं मनोरमां नेच्छसि मे सखीं ताम् ॥ ६२ ॥
प्रत्यक्षभूतं फलमुद्विहाय परोक्षपातं मृगये ह्यपार्थम् ।
न पण्डितस्त्वं बत बालिशोऽसि संदिग्धवस्तुन्यथ मुख्यमास्ते[2] ॥ ६३ ॥

था—'हे आर्ये ! जितने भी सम्भव उपाय है उन सबके द्वारा मैं तुम्हारे मनोगत कार्यको पूर्ण रूपसे सिद्ध करूँगी ॥ ५८ ॥

नवप्रेमिकाकी शिष्ट दूती

कुछ समय बाद ही वह कुशल सखी किसीको थोड़ा-सा भी आभास दिये बिना चुपचाप ही एकान्त स्थानपर अमित पराक्रमी कश्चिद्भटके पास जा पहुँची थी । वह वार्तालाप करनेकी कलामें दक्ष थी अतएव उसने मनोरमाकी पूरीकी पूरी प्रेम-गाथा उसको सांगोपांग बता दी थी ॥ ५९ ॥

परम सुन्दर तथा लक्ष्मीवान् कश्चिद्भटने सखीके वचनोंको सुनकर ही समझ लिया था कि उसका प्रस्ताव नैतिकतासे हीन तथा अनेक दोषोंसे परिपूर्ण था । वह व्रती था अतएव इस प्रकारके विषयोंमें मेरुके समान अडिग था फलतः उसने अत्यन्त विनम्रताके साथ उससे कहा था कि 'आपका प्रस्ताव सर्वथा अयुक्त है ॥ ६० ॥

वरांगकी स्थिरता

देविजी ! आपका प्रस्ताव किसी भी दृष्टिसे युक्त नहीं है, वह कार्यरूप दिये जाने पर बिल्कुल शोभा न पायेगा । इसके अतिरिक्त ऋषिराज वरदत्तकेवलीने अनुग्रह करके मुझे स्वदार (संतोष) व्रतकी दीक्षा भी दी थी ।' ॥ ६१ ॥

अनवद्य सौन्दर्यके भण्डार कश्चिद्भटने जब उसे उक्त उत्तर दिया तो वह कुशल सखी चुप न रही, उसने पूछा था 'क्या आप अनुपम सुन्दरी मेरी उस सखी पर इसीलिए अनुग्रह नहीं कर सकते हैं, कि आपने केवलीसे स्वदार-अणुव्रतकी दीक्षा ली थी ॥ ६२ ॥

यदि यही बात है तो मैं आपको बुद्धिमान नहीं मान सकती हूँ । हे वीरवर ! प्रत्यक्षरूपसे सामने उपस्थित फलको

---

१. क साध्वीति रामाञ्चमुपादिदेश । २. [मुख्यता ते] ।

व्रते दिवं यान्ति मनुष्यवर्या दिवश्च सारोऽप्सरसो वराङ्ग्यः ।
व्रताभिगम्या यदि देवकन्या इयं हि ताभ्यो वद केन हीना ॥ ६४ ॥
सा चापि तन्वी त्वयि सक्तभावा प्रसीद नाथानुगृहाण भद्राम् ।
इति ब्रुवाणां परिशुद्धबुद्धिः सहेतुकं वाक्यमिदं जगाद ॥ ६५ ॥
ये शीलवन्तो मनुजा व्यतीता दृढव्रतास्ते जगतः प्रपूज्याः ।
परत्र देवासुरमानुषेषु परं सुखं शाश्वतमाप्नुवन्ति ॥ ६६ ॥
न [1]मज्जयन्त्यम्बुनिधौ सुशीलान्न दग्धुमीशो ज्वलदर्चिरग्निः ।
न देवता लङ्घयितुं समर्था विघ्ना विनश्यन्ति दशामयत्नात् ॥ ६७ ॥

छोड़कर तुम परोक्ष फलकी खोज करते हो, जो संभवतः कहीं है भी नहीं, अतएव मेरी दृष्टिमें तो आप मूर्ख ही हैं, कारण, आप संदिग्ध वस्तुको अत्यधिक महत्त्व देते हैं ॥ ६३ ॥

इसके सिवा व्रतोंका पालन करनेसे स्वर्ग ही तो प्राप्त होता है और स्वर्गका सार भी तो सुकुमार सुन्दरी अप्सराएं हो हैं। यदि कठोर व्रतोंका पालन करने पर देवकन्याओंका संगम ही प्राप्त होता है। तो सोचो, हमारी सखी मनोरमा देवियोंसे किस योग्यतामें कम है ॥ ६४ ॥

सखीकी युक्तियाँ

हे प्रभो ! सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह तन्वी भी अपने हृदयको तुम्हारे चरणोंमें अर्पित कर चुकी है, अतएव अनुग्रह करिये, उस साध्वी पर कृपा करिये। इस प्रकार कहकर जब वह चुप हो गयी, तो कश्चिद्भटने मर्यादापूर्वक उससे निवेदन किया था क्योंकि उसकी मति पूर्णरूपसे शुद्ध थी ॥ ६५ ॥

इस संसारमें जो शुद्ध आत्मा शीलव्रतको पालन करनेवाले हुए हैं तथा जो किन्हीं परिस्थितियोंमें पड़कर भी धारण किये गये व्रतोंसे नहीं डिगे थे वे समस्त संसारके आज भी पूज्य हैं। ऐसे चरित्रनिष्ठ आत्मा ही अगले जन्मोंमें देव, असुर तथा मनुष्य योनियोंमें जन्म ग्रहण करके निरन्तर, सतत तथा सम्पूर्ण लौकिक सुखोंको प्राप्त करते हैं ॥ ६६ ॥

शीलव्रत-महिमा

जो शीलव्रतसे नहीं डिगे हैं वे समुद्रमें गिर जाने पर भी नहीं डूबते हैं, भयंकर रूपसे जलती हुई ज्वालाकी लपटें भी उन्हें जलानेमें समर्थ नहीं होती हैं, देवोंमें भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वे उनका अपमान कर सके, तथा संसारके सब ही विघ्न उनके मार्गमें आकर अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ६७ ॥

---

१. [मज्जयत्यम्बुनिधिः]।

इहाप्यशीलाः परिभूयमाना दुःखान्यनेकानि समश्नुवन्ति ।
परत्र तीव्राण्यसुखानि भद्रे ध्रुवं लभन्ते नरकेषु मूढाः ॥ ६८ ॥
ये शीलवेलामिह लङ्घयेयुर्दमं महान्तं नृपतेर्लभन्ते ।
यथा तथा दर्शय वाग्मुखानां नृणां परत्रापि यशश्च साध्यः[2] ॥ ६९ ॥
सुशीलमाहात्म्यवशेन[3] पूर्वं विमुक्तशापोऽहमभूवमेषः ।
ततो मया लङ्घयितुं न शक्या व्रतस्थितिः सा मुनिसाक्षिभूता ॥ ७० ॥
यद्यप्यनुज्ञां कुरुते नरेन्द्रो गृह्णामि कन्यां विधिपूर्वकेन ।
आप्तोऽन्यथा सर्वजनापवादं वोढुं न शक्तो न हितं परत्र ॥ ७१ ॥
इत्येवमुक्ता प्रतिभग्नवाक्या सखी विनिर्गम्य नरेन्द्रपुत्र्याः ।
मनोरमां मन्मथशापबद्धामाश्वासनार्थं मधुरं जगाद ॥ ७२ ॥

दूसरी ओर देखिये, जिन्होंने अपने शीलको खो दिया है वे इसी भवमें स्थान-स्थान पर अपमानित होते हुए नाना प्रकारके अनेक दुखोंको भरते हैं। इस जन्मके उपरान्त अगले भवमें वे मूर्ख नरकोंमें उत्पन्न होते हैं तथा हे भद्रे! वहाँपर भयंकरसे भयंकर दुखोंको पाते हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है ॥ ६८ ॥

व्यभिचारका कुपरिणाम

हमारी व्यवस्थित समाजमें जो कोई भी शीलकी मर्यादाको तोड़ते हैं वे शासकोंके हाथों बड़ा भारी दण्ड पाते हैं। यह सब सहकर भी यदि किसी प्रकारसे यहाँपर वे अपने मुखको दिखानेमें समर्थ होते हैं तो उससे क्या? क्योंकि दूसरा भव तथा यश दोनों ही मनुष्य जन्मके चरम साध्य हैं ॥ ६९ ॥

मुझको ही लीजिये; स्वयं मैं ही इसके पहिले शीलव्रतके प्रतापसे ही एक भयंकर शापसे बचा हूँ। यही सब कारण हैं जो मुझे ग्रहण किये गये व्रतको भंग करनेमें सर्वथा असमर्थ कर देते हैं। फिर यह भी न भूलिये कि मैंने किसी असाधारण व्यक्तिसे व्रत ग्रहण किये हैं। साक्षात् केवलीके समक्ष ग्रहण किये थे ॥ ७० ॥

अधिकसे अधिक इतना कर सकता हूँ कि यदि राजकुमारीके पिता महाराज देवसेन आज्ञा दें तो उनकी पुत्रीको धार्मिक विधि विधानके साथ ग्रहण कर सकता हूँ। ऐसा न होनेसे सर्वसाधारणमें होनेवाले सुविदित अपवादको मैं कदापि सहन नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि वह यहीं नहीं; परलोकमें भी हितकारी न होगा' ॥ ७१ ॥

विवाह ही वासना-शान्तिका एकमात्र उपाय

जब कश्चिद्भटने इन युक्तियों द्वारा मनोरमाकी सखीको समझाया तो उससे इनमेंसे एकका भी उत्तर न बन पड़ा

२. [साध्यम्]। ३. म सुशीलसंपन्नवयेन।

यत्प्रार्थितं राजसुते त्वया तु तत्सर्वमाचक्षितमन्वियाय ।
सोऽप्यादरेणानुमतः क्रियार्थः प्रकाशयामात्ममनो बभूव ॥ ७३ ॥
तस्मात्सुखं साध्वि सखीभिरास्स्व स्नात्वा हि भुंक्ष्व त्वमलंकुरुष्व ।
द्वित्रिष्वहस्तु प्रतिपादयिष्ये शोकं विनुद्य स्थिरधीर्भव त्वम् ॥ ७४ ॥
मद्विप्रलम्भार्थमयं प्रयोगः श्रोत्रप्रियः केवलमर्थदूरः ।
ज्ञातुं मया मन्दधिया हि शक्यं धन्या न जाताश्च मृता युवत्यः ॥ ७५ ॥
एवं वदन्ती व्यपयातहर्षा सरोदनारोपितरक्तदृष्टिः ।
फलोदयं स्वस्य पुराकृतस्य पुनः पुनस्तं तरुणी [1]जहार्ह ॥ ७६ ॥

था। अतएव उसके पाससे लौटकर वह सीधी राजपुत्रीके पास पहुँचा थी। कामदेवकी पाशमें फँसी आपाततः अत्यन्त विकल मनोरमा को ढाढस बंधानेकी इच्छासे उसने इस प्रकार से कहना प्रारम्भ किया था ॥ ७२ ॥

हे राजपुत्रि! तुमने जो कुछ भी प्रार्थना की थी उस सबको मैंने तुम्हारे प्रियसे भी कह दिया है तथा वह उसके अनुकूल है। उसने बड़े आदर के साथ इस कार्यको स्वीकृति ही नहीं दी है अपितु अपने मनके गूढ़तम भावोंको भी प्रकट कर दिया है ॥ ७३ ॥

नैतिकता ही परम नीति

अतएव हे साध्वि! अपनी सखियोंके साथ आनन्दपूर्वक समय व्यतीत करो, उठो स्नान आदिसे निवृत्त होकर भोजन करो और अपना पूरा शृंगार करो, दो तीन दिनके भीतर ही तुम अपने मनोरथ के प्रियतमके पास पहुँच जाओगी। अब शोकको दूर करो तथा चंचलताको छोड़कर स्थिर बनो' ॥ ७४ ॥

'मुझे धोखा देनेके लिए ही तुम यह सब जाल रच रही हो! यह केवल सुननेमें ही सुखद है, क्योंकि अभिलषित अर्थकी प्राप्ति तो बहुत दूर प्रतीत होती है। मैं मन्दबुद्धि अवश्य हूँ पर इतना तो समझ ही सकती हूँ। क्या ही अच्छा होता यदि इस पृथ्वी पर युवतियाँ उत्पन्न ही न होतीं अथवा उत्पन्न होते ही मर जातीं ॥ ७५ ।

नारीकी भीरुता

इन तथा ऐसे ही अन्य वचनोंको पुनः-पुनः कहकर तरुणी राजनन्दिनी अपने पूर्व जन्ममें किये गये शुभ-अशुभ कर्मोंके फलोंका स्मरण करके उनकी खूब निन्दा करती थी। आशासे जो थोड़ा बहुत हर्ष उसको हो रहा था वह भी जाने कहाँ लुप्त हो गया था, वह लगातार रो रही थी इसी कारण उसकी आंखें बिलकुल लाल हो गयी थीं ॥ ७६ ॥

१. [जगहं]।

पृथुश्रियं यौवनकर्कशाङ्गं पद्मेक्षणं मत्तगजेन्द्रलीलम् ।
कश्चिद्भटं वश्यमनं न लप्स्ये सलज्जवत्या न हि मेऽस्ति शान्तिः ॥ ७७ ॥
इति नरपतिपुत्री कामवह्निप्रतप्ता ज्वलदनलशिखार्ता प्रातपत्रा लतेव ।
अहरहरभिमानक्षीयमाणाङ्गयष्टिर्नभसि बहुलपक्षे चन्द्रलेखेव सासीत् ॥ ७८ ॥
यदि मम गृहधर्मे जीवितं जीवयोनौ भवति भवतु[1] सम्यक्त्वेन कश्चिद्भटेन ।
वदनकमलसङ्गं तेन सार्धं मम स्यादुरुचरणसुबोधं लब्ध्वा[2] मे मुक्तिमार्गम् ॥ ७९ ॥
जिनवरमतमग्र्यं स्वर्गसोपानपङ्क्तिर्यदि मम न हि भाग्यात्संपनीपद्यते[3] चेत् ।
स्फुरदनलकलापज्वालमालासु देहं मदन[4]शरसुलक्ष्यं तद्रहोष्ये (?) तमाशु ॥ ८० ॥

यौवनके उभारके कारण पीन, पुष्ट तथा पुरुषोचित कठोरता युक्त शरीरधारी, कमलके समान मोहक नेत्रयुक्त तथा मदोन्मत्त हाथीके समान लीलापूर्वक विचरते हुए मनस्वी कश्चिद्भटको जब तक प्राप्ति नहीं होती है तबतक लज्जाके वेष्टनमें घुट-घुटकर मरनेवाली मुझे शान्ति कहाँ मिल सकती है ?' ॥ ७७ ॥

प्रेमिकाका आत्म प्रत्यय

महाराज देवसेनकी राजदुलारी उक्त प्रकारसे निराश होकर कामरूपी अग्निकी लपटोंसे झुलस रही थी। उस समय उस विचारीकी वही दशा थी जो उस लताकी होती है जिसके पास भभकती हुई अग्निकी ज्वाला उसके आगेके पत्तोंको जलाती हुई भीतरी भागोंपर बढ़ती आती है। विरहके सर्वतोमुख तापके द्वारा उसकी स्वभावसे ही इकहरी देह दिनोंदिन कृषतर होती जा रही थी। उसकी ओर देखते ही कृष्णपक्षकी एकमात्र चन्द्रकलाका स्मरण हो आता था जो कि पूर्ण चन्द्रकान्तिसे घटते-घटते आकाशमें केवल एक कला रह जाती है, और वह भी अगले दिन नष्ट हो जानेके लिए ॥ ७८ ॥

नारीका निर्वेद

इस जन्ममें अथवा इस जीवयोनिमें यदि मुझे कभी गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना हो हो तो सम्यक्त्वके प्रतापसे उस सम्यक्दृष्टी कश्चिद्भटके साथ ही हो। यदि मेरे मुखको किसी पुरुषके पास जाना है तो उस कश्चिद्भटके हाथों ही ऐसा हो। यदि ऐसा अशक्य है तो सम्यक्चारित्र और सम्यक्ज्ञानकी उपासना करके मुक्ति मार्गको प्राप्त करना ही मेरा लक्ष्य है ॥ ७९ ॥

जिनेन्द्र देवके द्वारा उपदिष्ट धर्म ही सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है वह स्वर्गरूपी उन्नत स्थानपर पहुँचनेके लिए सुखकर सीढ़ियोंके समान है, किन्तु दुर्भाग्यके कारण यदि वह भी मुझे इस जन्ममें प्राप्त नहीं होता है तो कामदेवके तीक्ष्ण बाणोंके द्वारा निर्दय रीतिसे भेदी गयी मैं इस देहको जलती हुई अग्निकी ज्वालामें शीघ्र ही होम कर दूँगी ॥ ८० ॥

१. म सम्यक्त्वेन। २. क लब्ध्व ते, [लभ्यते]। ३. [संप्रती°]। ४. क मदनशत।

स्थिरमतिरकृतार्था सम्यगीदृक्प्रतिज्ञा व्रतगुणनियमान्ता[1] भावयन्ती क्रमेण ।
स्वसनदवथपक्ष्मास्वासभाषा[2] च साध्वी [3]प्रियगतिरतितृष्णालापदा पाण्डुगण्डा ॥८१॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
मनोरमामतिविभ्रमो नाम एकोनविंशतिः[4] सर्गः ।

राजकुमारीकी बुद्धि स्थिर थी अतएव अपने प्रेम प्रपंचमें भग्न-मनोरथ होकर उसने ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा की थी। धारण किये गये समस्त व्रतों और गुणोंका ध्यान रखती हुई वह साध्वी एकनिष्ठ राजदुलारी साँस लेती हुई पड़ी थी, न उसके शरीरमें धड़कन थी, न पलक झपते थे, और न कुछ बोलती ही थी। उसका पूरा ध्यान अपने प्रिय पर लगा हुआ था तथा कपोल बिल्कुल सफेद हो गये थे अतएव आसपासके प्रिय परिचारक जनोंको बड़ी चिंता तथा बेचैनी हो रही थी ॥ ८१ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
'मनोरमा-मतिविभ्रम' नाम एकोनविंशः सर्ग समाप्त ।

---

१. [°नियमांस्तान्]। २. [श्वसनदववेपधुपवक्ष्मास्वासभाषा]। ३. [प्रियमति°]। ४. [एकोनविंशः]।

विंशतितमः सर्गः

अथ च धार्मिकसात्त्विकमानवैर्बहुकलागुणशास्त्रविशारदैः ।
ललितपूर्वपुरप्रतिवासिभिश्चिरमरंस्त सुखेन वणिग्नृपः ॥ १ ॥
नृपतिकान्तसुतां कुलनन्दिनीममरराजवधूप्रियदर्शनाम् ।
जनपदार्धहयद्विपनाटकैः समुपलभ्य न चैव मदं[1] ययौ ॥ २ ॥
प्रवरहर्म्यतलेषु च शर्वरीं [2]नयत शीलगुणानथ पर्वसु ।
द्रविणमर्थिषु साधुजनेषु च [..... .....] ॥ ३ ॥
अनुभवन्विषयांश्च मनोहरान् सुकृतकर्मफलोदयपाकतो ।
ललितनामपुरे पुरुषोत्तमः सुखमुवास नृपात्मजया तया ॥ ४ ॥

विंशतितम सर्ग

ललितपुरके नागरिक बड़े मन्दकषायी तथा धर्मरत थे, वे विविध कलाओंमें दक्ष थे, समस्त गुणोंके भण्डार थे तथा नाना शास्त्रोंमें पारंगत थे। वास्तवमें ललित; उस ललितपुरके सब ही निवासियोंके ऐसे ही आचार-विचार थे। यही कारण था कि वणिक् राजा कश्चिद्भट बहुत लम्बे अरसे तक उनके साथ भोगविलासमें लीन रह कर समय काट सका था ॥ १ ॥

सुखमग्न राजकुमार

महाराज देवसेनकी अत्यन्त सुन्दरी कन्या सुनन्दा उनके पूरे वंशको आनन्द देती थी, वह इतनी सुन्दरी और गुणवती थी। उसे देखते ही मनको वैसा ही आल्हाद प्राप्त होता था जैसा कि अमरोंके राजा इन्द्रकी बधूको देखकर होता है। ऐसी सुयोग्य पत्नीको आधे राज्यके साथ ही नहीं अपितु हाथी, घोड़ा आदि सेनाओं तथा नाटक आदि ऐश्वर्योंके आधे भागके साथ प्राप्त करके भी विवेकी कश्चिद्भटको किसी प्रकारका अहंकार नहीं हुआ था ॥ २ ॥

विशाल तथा सुन्दर राजमहलोंकी छतपर वह अपनी रातोंको सुखसे व्यतीत करता था तथा अष्टाह्निका, दशलक्षण आदि पर्वोंके दिनोंको शील आदि गुणोंके पालनके साथ काटता था। तथा वास्तवमें अभावोंसे सताये गये माँगनेवालों तथा सज्जन पुरुषोंको सदा ही भक्तिभावसे दान देता हुआ पुण्यार्जन करता था ॥ ३ ॥

पूर्व जन्ममें प्रयत्नपूर्वक किये गये शुभकर्मोंका परिपाक हो जानेके कारण उदयमें आये एकसे एक बढ़कर मनमोहक भोगों और विषयका रस लेता हुआ वह महापुरुष कश्चिद्भट ललितपुरकी राजदुलारी सुनन्दाके साथ सुखपूर्वक निवास कर रहा था ॥ ४ ॥

१. म मुदं । ... २. [नयति] ।

पुनरितः क्रमतः पितृपुत्रतोः अमितसत्त्वपराक्रमधैर्ययोः ।
प्रवरधर्मसपूर्ववराङ्गयोः यदभवत्कथयामि तदीक्ष्यतां ॥ ५ ॥
अपहृते सुसुते वरवाजिना नरपतेर्मनसोऽसुखशान्तये ।
मतिवरप्रमुखा नृपमन्त्रिणः समभिमन्त्र्य सुषेणमतिष्ठिपन् ॥ ६ ॥
युवनृपत्वमवाप्य नृपात्मजः प्रतिविबुद्धनवाम्बुरुहाननः ।
भृशतरं स कृतार्थतया बभौ गतघने च निशीव निशाकरः ॥ ७ ॥
उदितबालदिवाकरतेजसो विषयरागवशीकृतचेतसः ।
जगदनर्थगणात्परिरक्षतः कतिपयानि दिनान्यगमन्मुदा ॥ ८ ॥

अयोग्य राजा सुषेण

इसी अन्तरालमें वियोगको प्राप्त महाराज (जिनके नाममें सेनके पहिले धर्म है) धर्मसेन तथा युवराज वरांगको लेकर उत्तमपुरमें क्रमशः क्या-क्या घटनाएँ घटीं उन्हें ही मैं कहता हूँ, आप लोग उन्हें सुनें। यह तो सब ही जानते हैं कि इन पिता तथा पुत्र दोनोंकी ही शक्तिकी कोई सीमा न थी, ये (शक्ति) के ही समान उनके पराक्रम तथा धैर्यका परिमाण बतलाना भी असम्भव ही था ॥ ५ ॥

सुयोग्य राजपुत्र वरांगके कुशिक्षित हृष्ट पुष्ट तथा सुन्दर घोड़ेके द्वारा अकस्मात् गायब किये जाने पर महाराज धर्मसेनका चित्त अत्यन्त व्याकुल हो गया था। अतएव उनके चित्तको शान्त करनेके लिए ही मतिवर आदि राज्यके मन्त्रियोंने आपसमें विचार विमर्श किया था और राजाकी प्यारी रानीके पुत्र सुषेणको ही राजसिंहासन पर बैठा दिया था ॥ ६ ॥

राजपुत्र सुषेणको ज्योंही युवराजके पदकी प्राप्ति हुई त्योंही उसका मुख आनन्दके कारण पूर्ण विकसित नूतन कमलके समान सुन्दर और आकर्षक हो गया था। काफी समय बाद अपनी मानसिक कामनाके पूर्ण होनेके कारण उस समय उसकी शोभा असाधारण रूपसे बढ़ गयी थी। उस समय उसका आल्हाद देखकर उस चन्द्रश्रीका स्मरण हो आता था जिस परसे रात्रिमें तुरन्त ही घनी मेघ घटा हट गयी हो ॥ ७ ॥

सुषेणका तेज समय प्रातःकाल उदीयमान बालभानुके समान था। उसका चित्त राज्य सम्बन्धी दायित्वोंकी अपेक्षा विषय भोग और राग रंगकी ओर अधिक आकृष्ट था। अतएव बहु कुछ दिन पर्यन्त ही अपने राज्यको उपद्रव आदि अनर्थोंसे बचा सका था और स्वयं आनन्दपूर्वक दिन बिता सका था ॥ ८ ॥

१. [°धर्मजपुण्य°]।

परनरेन्द्रबलेन विमर्दितं स्वविषयं परिभूय[1] महाजनम् ।
अथ कदाचिदवेत्य युवाधिपः स्वयमियाय स[2] योद्धु मना बलैः ॥ ९ ॥
रथपदातितुरङ्गमवारणैः समुपगम्य भृशं युयुधे युधि ।
रिपुनृपोऽतिरुषा [3]भृकुटीपुटः प्रतिजघान सुषेलबलं बलात् ॥ १० ॥
युवनपोऽभिहतो रिपुसेनया क्षणविभिन्नविचूर्णितशासनः ।
अथ जितः समरे सतुरङ्गमो द्रुततरं प्रययौ पुरमात्मनः ॥ ११ ॥
रिपुनरेन्द्रबलाहतपौरुषं प्रतिनिवृत्तमवेक्ष्य पुनः सुतम् ।
नरपतिश्चिरमात्मनि संस्मरन् वरतनोः स्मृतवान्बहुशो गुणान् ॥ १२ ॥

एक दिन युवराज सुषेणको समाचार मिला था कि उसके राष्ट्र पर किसी शत्रुकी सेनाने आक्रमण कर दिया है, वह देशको रौंदता हुआ तथा शिष्ट सज्जन नागरिकोंका अपमान करता हुआ आगे बढ़ा आ रहा है। इसे सुनते ही युवराज मन ही मन संग्राम करने का निर्णय करके सेनाको लेकर स्वयं शत्रुके विरुद्ध चल दिया था ॥ ९ ॥

शत्रुका आक्रमण

रथ, हस्ति, अश्व तथा पदातिमय अपनी चतुरंग सेनाके साथ समरस्थलीमें पहुँचकर सुषेणने बड़ी तत्परता तथा युक्तिके साथ शत्रुसे घोर युद्ध किया था। किन्तु शत्रु राजाने क्रोधके परिपूर्ण आवेशमें होनेके कारण अपनी भृकुटी टेढ़ी करके सुषेणकी सेनापर प्रत्याक्रमण किया था और सब ओरसे घेरकर उसका संहार करना प्रारम्भ कर दिया था ॥ १० ॥

मूढ़धीका पराभव

जब युवराज सुषेणकी सेना पर शत्रुकी सेनाने घेरकर भयंकर प्रहार करना प्रारम्भ किया तो क्षण भर हो में उत्तमपुर की अजेय सेनाका अनुशासन टूट गया था और वह इधर-उधर छिन्न-भिन्न हो गयी थी। फल यह हुआ कि वह संग्राममें शत्रुसे हार गया था और निरुपाय होकर एक घोड़े पर आरूढ़ होकर बड़े वेगसे भागकर अपनी राजधानीको चला आया था ॥ ११ ॥

शत्रुकी सेनाके अभिघातोंकी मारसे अपने पौरुष और पराक्रमको धूलमें मिलाकर भीरुओंके सदृश राजधानीको भाग आनेवाले अपने पुत्रको देखकर महाराज धर्मसेनको ज्येष्ठ पुत्रका स्मरण हो आया था। वे मन ही मन दीर्घ समय तक उसके पराक्रम आदि गुणोंका विचार करते रहे। तथा उन्हें रह-रहकर वरांगकी स्मृति दुखी कर देती थी ॥ १२ ॥

---

१. [परिभूत°]। २. म रुषा स बलान्वितः। ३. [भृकुटीधरः]।

विनयशीलविचित्रसमन्वितं बहुजनप्रियमप्रतिपौरुषम् ।
परमधार्मिकमाहववल्लभं समुपलभ्य न चाहमवञ्चितः ॥ १३ ॥
स्वतनुदुर्बलतां जरयान्वितां परिभवं रिपुभिः कृतमात्मनः ।
वरतनोश्च गुणाननुसंस्मरन्न च शशाक स [1]धीरयितुं धृतिम् ॥ १४ ॥
युवनृपस्य ततः प्रपलायनं विबलतामुपलभ्य च भूपतेः ।
हयरथद्विपदेशधनेच्छया रिपुनृपस्त्वरया पुनराययौ ॥ १५ ॥
दलितभागतया वयमास्थिता विषयभाग इतो भवतामिति ।
जनपदार्धमथ प्रविरुध्य तत्प्रविससर्ज ततः स वचोहरम् ॥ १६ ॥

योग्य पुत्रकी स्मृति

आह वराङ्ग ! तुम्हारा उदार स्वभाव तथा आन्तरिक विनम्रता कितनी विचित्र थी। कौन ऐसा व्यक्ति था; जिसे तुम परम प्रिय न थे। तुम्हारा पुरुषार्थ ! संसारमें कौन उसकी बराबरी कर सकता है ! तुम्हारी धर्म रीति भी अन्तिम सीमा तक पहुँच चुकी थी। तथा युद्ध ? वह तो तुम्हारा परमप्रिय खेल था। मैंने तुम्हें पाया था और खो दिया ॥ १३ ॥

क्या मैं दैवके द्वारा नहीं ठगा गया हूँ।' इसके साथ-साथ उन्हें अपनी बुढ़ौतीका ख्याल आता था तथा बुढ़ापेसे आक्रान्त होनेके ही कारण दुर्बल अपने शरीरको देखते थे, शत्रुओंके द्वारा किये गये अपने अपमानका विचार भी असह्य था तथा युवराज वरांगकी योग्यताएँ और विशेषताएँ भी न भूल सकते थे। इन सब कारणोंसे उन्हें उस समय धैर्य धारण करना ही असंभव हो रहा था ॥ १४ ॥

शत्रुको सुअवसर

शत्रु राजाको जब यह समाचार मिला कि भयके कारण युवराज समरांगणसे भाग गया है और महाराज धर्मसेन वृद्धावस्थाके कारण अत्यन्त दुर्बल हैं तो वह उत्तमपुरकी विशाल अश्व, रथ तथा गजसेना, अत्यन्त विस्तृत देश तथा विपुल धनराशिसे परिपूर्ण कोशको लेनेके लोभको न रोक सका, फलतः उसने शीघ्रताके साथ राजधानीकी दिशामें बढ़ना प्रारम्भ कर दिया था ॥ १५ ॥

इस गतिसे बढ़ती हुई उसकी सेनाने आधे उत्तमपुर राज्य पर अपना अधिकार कर लिया था। इसके बाद उसने 'हमने जितने भागको सैनिक बलका प्रयोग करके जीत लिया है, वहीं तक आकर हम रुक गये हैं। यदि आप चाहें तो हमारे तथा आपके राजका विभाजन इस नयी सीमाको मानकर हो सकता है।' इस संदेशको लेकर दूतको भेजा था ॥ १६ ॥

१. [धारयितुं]

परुषवाक्यसमन्वितमीश्वरः समभिवीक्ष्य च पत्रगताक्षरम् ।
अतिकषायविषाञ्चितलोचनः प्रतिजगर्ज मृगेन्द्र इव द्विपम् ॥ १७ ॥
यदि मदात्स[1] कुलोचितया तया प्रथितया धरया न हि संस्थितः ।
ध्रुवमहं विनिहत्य मदोद्धतं परनृपाय ददाम्यतिवर्तिनम्[2] ॥ १८ ॥
इति वचः सदसि प्रविलोक्य सः समजगर्ज[3] मृगेन्द्रपराक्रमः ।
सपरुषं प्रतिलेखविसर्जनं प्रतिविहाय[4] तदैव ययौ पुरात् ॥ १९ ॥
परिवृतो नृपतिश्चतुरङ्गया रिपुमदप्रशमप्रदसेनया ।
चलदुरुध्वजचित्रपताकया स निविवेश[5] गताध्वनियोजनम् ॥ २० ॥

शत्रुका पत्र कठोर तथा अशिष्ट वाक्योंसे भरा था। अतएव जब महाराज धर्मसेनने उस पत्रको खोलकर पढ़ा, तो उसके अक्षरोंको देखते ही क्रोधके आवेगरूपी विषसे उनके नेत्र लाल हो गये थे। क्रोधके उन्मादमें वह उसी प्रकार गर्ज पड़ा था जिस प्रकार सिंह हाथीको देखकर हुँकारता है ॥ १७ ॥

अपमानित धर्मसेन

उस (शत्रु) वंशमें क्रमसे चली आयी राज्यभूमिकी सीमाएँ निश्चित हैं। और उतनी ही धरा उसे पर्याप्त भी है, इस समय अहंकारमें पागल होकर यदि वह उतने ही राज्यसे सन्तुष्ट नहीं रहता है तो मैं निश्चय ही उस अहंकारीको युद्धमें मारूँगा। और उसके कुलक्रमागत राज्यको भी किसी दूसरे ऐसे राजाको दे दूँगा जो मेरी आज्ञा मानता होगा ॥ १८ ॥

हिरणोंके राजा केशरीके समान पराक्रमी महाराजने उक्त अति कठोर वाक्योंको राजसभामें कहकर क्रोधके कारण कितने और अपमानजनक वाक्योंको ऊँचे स्वरसे कहा था। इतना ही नहीं अत्यन्त अपमानजनक कठोर वाक्योंसे भरा उत्तर भेज करके उसी समय नगरको छोड़कर लड़नेके लिए चल दिये थे ॥ १९ ॥

महाराज धर्मसेनकी चतुरंग सेना उद्धत शत्रुओंके अहंकारजन्य मदको उतार देनेमें अत्यन्त समर्थ थी, उसके ऊपर विशाल ध्वजाएँ तथा अनेक रंगोंकी अद्भुत पताकाएँ लहरा रही थीं। ऐसी सेनासे घिरे हुए महाराज धर्मसेनने एक योजन मार्ग चल चुकनेके बाद विश्रामके लिए पहिला पड़ाव डाला था ॥ २० ॥

---

१. क. °स्वकुलोचितया । २. म ददाम्यनुवर्तिनः । ३. [समजगर्जदथेन्द्र°] । ४. म प्रतिविवाय, [प्रतिविधाय] । ५. क निनिवेश ।

सुमतयोऽजितचित्रसुरावयो विनयतः समुपेत्य नरेश्वरम् ।
वचनमित्थमिदं हितमर्थवज्जगदुरेवमनिन्दितपौरुषम् ॥ २१ ॥
तव नरेश्वर सत्त्वपराक्रमौ सुविदितौ जगता[1] न विलङ्घितौ ।
प्रतिविधानवियुक्ततया वयं परिचितेन च वक्तुमुपाश्रिताः ॥ २२ ॥
सखिजनाः स्वसुताः कृतपौरुषाः परबलस्य मदं प्रतिभञ्जिनः ।
तव न सन्त्यरयोऽपि बलोत्कटाः कथमिदं त्वपरीक्ष्य कृतं त्वया ॥ २३ ॥
विगतगाधमथोदकमप्लवः समुपलङ्घयितुं विघटेत कः ।
रिपुबलार्णवमुत्क्रमितुं पुनर्नृप न शक्यमपक्षवतस्तव ॥ २४ ॥
ललितसाह्वपुराधिपतिर्भृशं प्रियहितोऽहितदर्पविघाटनः ।
यदि वयं नरदेव वचोहरान् प्रविसृजामहि[2] चेद्ध्रुवमेष्यति ॥ २५ ॥

महाराज धर्मसेनके पराक्रमकी कीर्ति सर्वत्र फैली थी। उस समय उनके महा बुद्धिशाली अजितसेन, चित्रसेन, देवसेन आदि महामंत्री भी साथ चल रहे थे। जब प्रयाण रुक गया तो ये सब अति विनयपूर्वक महाराजके पास गये थे, और उनके हित-की भावनासे ही प्रेरित होकर उन सबने निम्न निवेदन महाराजसे किया था ॥ २१ ॥

सुमंत्री सम्मति

हे महाराज ! जहाँ तक आपके पराक्रम तथा शक्तिकी बात है उन्हें सारा संसार जानता है तथा आज तक किसीने उनको नहीं लांघा है। अतएव हम आपसे जो निवेदन करने आये हैं उसे निसंकोच होकर सुनें कारण यह है कि इस बार हम प्रतिशोध लेनेकी पूरी तैयारीके साथ नहीं आये हैं ॥ २२ ॥

आपके औरस पुत्र तथा सपक्षी राजा लोग ही इतने सफल पुरुषार्थी हैं कि वे ही सुनें। शत्रु सेनाके अहंकारको मिट्टीमें मिला देते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी आप जानते हैं कि आपके न तो अधिक शत्रु ही हैं। और जो हैं; वे शक्तिशाली भी नहीं हैं। तब आपने इस समरयात्राको पहिले सोचे बिना ही क्यों आरम्भ कर दिया ॥ २३ ॥

यदि कोई जलाशय इतना गम्भीर हो कि उसकी थाह न ली जा सके तथा इतना चौड़ा हो कि तैर कर पार न किया जा सके, तो आप ही बताइये उसे कौन लाँघ सकता है ? ठीक इसी प्रकार हे महाराज शत्रुसेना रूपी विस्तृत समुद्रको आप भी तबतक न लाँघ सकेंगे जब तक कि आप पक्ष (मित्र राजाओं) सहित न हो जायँगे ॥ २४ ॥

शत्रुओंके मानका मर्दन करनेवाला ललितपुर नामसे प्रसिद्ध नगरीका राजा देवसेन आपका प्रियमित्र ही नहीं है अपितु

---

१. क जगतां । २. [प्रविसृजेमहि] ।

अथ च युक्तिमदर्थसमन्वितं हितमिताक्षरसारसमुच्चयम् ।
अनुनिशम्य हि मन्त्रिवचोऽवदन्नृपतिराशु तथा क्रियतामिति ॥ २६ ॥
क्षितिपशासनतोव्रतया [~][1] जनपदस्य विनाशभयेन च ।
स्वपतिभक्तितया च वचोहरा ललितसाह्वपुरं प्रययुर्द्रुतम् ॥ २७ ॥
समभिवीक्ष्य तथोचितवृत्तितः क्षितिपतेरथ लेखमदर्शयत् ।
तमवगृह्य निधाय स मस्तके प्रतिविमुच्य तदर्थमबुध्यत ॥ २८ ॥
समवतीर्य मृगेन्द्रधृतासनात्समुपविश्य ततोऽन्यदुपह्वरे ।
अभिजिजल्पिषुराप्ततमैः सह नृपतिराह्वयदाशु वणिग्नृपम् ॥ २९ ॥

आपका सगा-सम्बन्धी भी है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि हम दूतोंको अभी भेज दें। तो वह समाचार पाते ही वे दौड़े चले आवेंगे, इसे आप ध्रुव सत्य मानें' ॥ २५ ॥

महाराज धर्मसेनने मंत्रियोंके वचनोंको सुनते-सुनते ही समझ लिया था कि उनके वाक्य युक्तिसंगत थे, परिणाममें लाभप्रद थे, सब दृष्टियोंसे हितकर होते हुए भी अति संक्षिप्त थे, तथापि उनमें राजनीतिका सार भरा हुआ था।' अतएव उनका कथन समाप्त होते ही उन्होंने मंत्रियोंसे कहा था 'आप लोग शीघ्र ही यह सब कर डालें' ॥ २६ ॥

एक तो उस समय भूमिपाल धर्मसेनकी आज्ञा ही तीव्र थी; दूसरे विलम्ब होनेसे अपने देशका नाश हो जानेकी आशंका थी, तथा इन सबसे बढ़कर थी; राजभक्ति; जिससे प्रेरणा पाकर उत्तमपुरका दूत बड़े वेगके साथ ललितपुर नगरको दौड़ा चला जा रहा था ॥ २७ ॥

दूतकी देश-निष्ठा

नगरमें पहुँचते ही वह सीधा राजभवनमें पहुँचा था तथा आवश्यक शिष्टाचार पूर्वक महाराज देवसेनके सामने जाकर उनका अभिवादन करते हुए उत्तमपुराधीशके लिखित पत्रको महाराजके समक्ष उपस्थित किया था। ललितेश्वरने उसे लेकर पहिले तो मस्तकसे लगाया था फिर खोलकर पढ़ा था और समस्त परिस्थितिको समझ गये थे ॥ २८ ॥

महाराज देवसेन अपने अत्यन्त विश्वस्त तथा अनुभवी लोगोंके साथ मत विनिमय करनेके लिए उत्सुक थे अतएव वे सिंहों पर बने आसन (सिंहासन) परसे उठकर किसी दूसरे एकान्त गृहमें जा बैठे थे और तुरन्त ही उन्होंने वणिक् राजाको बुलवा भेजा था ॥ २९ ॥

---

१. क (जवैः), [तदा].

वरतनोस्तुरगेण विनाशनं रिपुबलाच्च सुषेणपराभवम् ।
परनृपस्य पुनः समराङ्गणं ह्यकथय सकल सकलार्थवित् ॥ ३० ॥
प्रकटमास्त्व भवान्परिपालयन् जनपदं स्वपुरं निरुपद्रवम् ।
मम धुरंधरता च भवत्वथो जिगमिषामि सुहृद्व्यसनार्थ्यहम् ॥ ३१ ॥
इदमिह प्रहितं जनकेन मे त्वमभिपश्य गुणार्णव पत्रकम् ।
करपुटेन नवाम्बुरुहत्विषा समुपगृह्य पुनस्तदवाचयत् ॥ ३२ ॥
परिभवं द्विषतः पितृदुःस्थितिं वरतनोर्गमनं पितृराष्ट्रतः ।
प्रतिनिशम्य च पत्रगतं त्वभूत्सलिलबिन्दुपरिप्लुतलोचनः ॥ ३३ ॥
नयनवारिपरिप्लुतमाननं हृदयवेपथुना सह वीक्ष्य च ।
अथ नृपो ललिताख्यपुराधिपः प्रतिविबुध्य सुधीरनुमानतः ॥ ३४ ॥

आप्त जनोंके एकत्रित हो जाने पर उन्होंने उत्तमपुरमें घटीं समस्त घटनाओंको कुमार वरांगका घोड़े द्वारा हरण और नाश, नूतन युवराज सुषेणका शत्रुओं द्वारा पराभव तथा उसके बाद भी शत्रुका बढ़ते रहना आदि सब ही बातोंको विशदताके साथ उनकी सम्मतिके लिए उपस्थित कर दिया था। यद्यपि वे स्वयं भी समस्त कार्योंको समझते थे ॥ ३० ॥

कश्चिद्भटसे निवेदन

हे कश्चिद्भट ! आप पूर्ण रूपसे इस राजधानी तथा पूरेके पूरे राज्यकी उपद्रवोंसे मुक्त होकर रक्षा करते हुए यहीं रहें। केवल मैं ही इस कार्यके भारको वहन करूँगा। मेरे मित्र तथा सम्बन्धी पर विपत्ति आ पड़ी है अतएव मैं उसके निग्रह हाथ बँटानेके लिए जाना ही चाहता हूँ ॥ ३१ ॥

महाराज देवसेनके इस निर्णयको सुनते ही कश्चिद्भट बोल पड़े थे 'हे गुणसागर ? सामने रखा हुआ पत्र भी पिताजीने ही भेजा है आप उसे ध्यानसे देखिये।' नूतन विकसित कमलोंके समान कान्तिमान करपुटसे उठाकर महाराजने उस पत्रको फिरसे बाँचा था ॥ ३२ ॥

पितृ-प्रेम

पत्रमें लिखे हुए 'युवराज वरांगका पिताके देशसे लुप्त हो जाना, शत्रुके द्वारा पिताका अपमान, पिताकी[1] अत्यन्त जटिल परिस्थिति इत्यादि बातोंको सुनते-सुनते वीरवर कश्चिद्भटकी आँखोंमें आँसुओंका पूर उमड़ आया था ॥ ३३ ॥

स्वभावसे ही धीर-गम्भीर कश्चिद्भटकी आँखोंसे धाराप्रवाह रूपमें बहते हुए आँसुओंसे गीले मुख तथा तीव्र कम्पनसे चंचल वक्षस्थलको देखकर महामतिमान ललितपुरके अधिपतिने अनुमानसे उसे पहिचान लिया था ॥ ३४ ॥

---

१ म °दुस्थितं.

वरवराङ्ग पुरा विदितो मया कथमिहोषितवानसि संवृतः ।
इति वदन्नुपसृत्य नरेश्वरो [1]हर्षफुल्लमुखः परिषस्वजे ॥ ३५ ॥
वनगतोऽहमथोदधिवृद्धिना करुणया परया तनयीकृतः ।
तदनु ते[2] तनयामुपधाव मे[3] नरपतित्वपदे त्वमधिष्ठिपन्[4] ॥ ३६ ॥
अथ ततो भवतो ह्यधिको न मे भुवि न कश्चन बन्धुतमः परः ।
इति वदन्तमवेक्ष्य पितुर्जनश्चरणयोरपतत्करुणं ब्रुवन् ॥ ३७ ॥
गतवति त्वयि नाथ समन्ततो गिरिगुहासु वनेषु नदीषु च ।
नृपनियोगधराः परिबभ्रमुर्न विविदुश्च भवन्तमिहागतम् ॥ ३८ ॥
इति निवृत्तगिरि स्वजने ततो नृपतिरित्थमुवाच मुदान्वितः ।
भवत एव मया परिवर्धितं परिगृहाण पुनस्तनयाशतम् ॥ ३९ ॥

हे पुत्र वरांग ! मैं तुम्हें पहिलेसे ही जानता था कि तुम्हीं मेरे श्रेष्ठ भानजे हो हो, तो भी तुम यहाँपर अपना कुल, नगर, आदि छिपाकर क्यों रहते थे ? यह कहते समय महाराजका मुख हर्षके कारण खिल उठा था, वे बड़ी त्वरासे आगे बढ़े थे और उसको निकट-खींचकर छातीसे लगा लिया था ॥ ३५ ॥

कृतज्ञ-वरांग

जब मैं वन-वन मारा फिरता था तथा कोई ठिकाना न था उसी समय सार्थपति सागरवृद्धिने मेरे ऊपर परम करुणा करके मुझे अपना लड़का बना लिया था । इसके उपरान्त आपने अपनी प्राणप्रिय पुत्रीका मुझसे व्याह करके आधा राज्य देकर मुझे राजाके महा पदपर स्थापित कर दिया है ॥ ३६ ॥

इन कारणोंसे इस पृथ्वी पर कोई भी मेरा मित्र अथवा बन्धु-बान्धव आपसे बढ़कर नहीं है' जिस समय भावावेशमें युवराज वरांग यह सब कह रहे थे उसी समय उसकी ओर देख करुण वचन बोलते हुए वरांग महाराज देवसेन आदि गुरुजन आदि चरणोंपर गिर पड़े ॥ ३७ ॥

आत्मप्राप्तिका मार्ग कृतज्ञता

हे प्रभो ! तुम्हारे खो जानेपर महाराज धर्मसेनकी आज्ञानुसार आपको खोजनेवाले व्यक्ति चारों ओर पर्वतों पर, गुफाओंमें, गहन वनोंमें तथा नदियोंमें आपको खोजते हुए घूमते रहे, किन्तु बड़े आश्चर्यकी बात है कि वे यहाँपर आये हुए आपका पता न लगा सके ॥ ३८ ॥

जब सब सगे सम्बन्धी लोग उक्त वचनोंको कहकर चुप हो गये तो आनन्द विभोर महाराज देवसेनने स्नेहपूर्वक कहा था । 'हे कुमार ! तुम्हारे निमित्तसे ही मेरे द्वारा पाली-पोसी गयीं सौ राजपुत्रियाँ हैं । इस समय तुम उनको भी ग्रहण करो ॥ ३९ ॥

१. [हृषित°] । २. [मे] । ३. [मां] । ४. [त्वमतिष्ठिपः] ।

अनुनिशम्य स मातुलभारतीं हृदयपङ्कजकुड्मलबाधिनीम् ।
नृपगणः कुरुतात्तव शासनं समरुषं त्वनयेत्यवदत्पुनः ॥ ४० ॥

स्वभगिनीसुतवाक्यरतो नृपो गुरुतयाभिदधौ[1] स निगृह्य तम् ।
परिगृहाण गुणोदयभूषणां प्रियसुतां मम वत्स मनोरमाम् ॥ ४१ ॥

नृपतिवाक्यमुदारमतिस्ततस्तदनुमत्य तथास्त्विति संजगौ ।
युवनृपाय मतङ्गजगामिने समददात्तनयां मुदितस्तदा ॥ ४२ ॥

प्रणयवानपि यन्नृपतिः पुरा स्वजनताश्रुतिबद्धमनोरथः ।
द्विगुणया स महोत्सवसंपदा प्रतियुयोज सुधीर्भगिनीसुतम् ॥ ४३ ॥

स्वदार संतोषका श्राद्ध

मातुलराज ललितेश्वरके हृदयरूपी कमलको विकसित करनेमें समर्थ उक्त प्रस्तावको सुनकर युवराज वरांगने निवेदन किया था 'हे महाराज समस्त राजा लोग आज्ञाका पालन करें यही मेरी हार्दिक अभिलाषा है, तथा मैं तो आपकी एकमात्र तनया सुनन्दासे ही परम सन्तुष्ट हूँ' ॥ ४० ॥

ललितेश्वरको भानजेके वचन सुननेमें आनन्द ही नहीं आ रहा था अपितु वे उसके वचनोंको मानते भी थे तो भी उसे बीचमें ही रोककर उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा था 'हे बेटा ! समस्त गुणोंके पूर्ण विकासरूपी भूषणोंसे अलंकृत मेरी परमप्रिय पुत्री मनोरमाको तो अवश्य ग्रहण कर लो ॥ ४१ ॥

मनोरमासे विवाह

राजकुमार वरांगकी दृष्टि स्वभावसे उदार थी अतएव मातुल राजाके उक्त प्रस्तावको उन्होंने मान लिया था और कह दिया था 'जैसी आपकी आज्ञा' । फिर क्या था महाराज देवसेनकी प्रसन्नताकी सीमा न थी उन्होंने उसी समय तैयारियाँ करके मस्त हाथीके समान गम्भीर गमनशील युवराजको अपनी पुत्री व्याह दी थी ॥ ४२ ॥

महाराज देवसेन पहिलेसे ही युवराज वरांगको बड़ा प्यार करते थे, इसके साथ-साथ राज्यकी जनतामें कानों-कानों भी इस मनोरथकी चर्चा फैल गयी थी अतएव दुगुनी सम्पत्ति तथा महोत्सवके साथ अपनी पुत्रीका भानजेके साथ गठबंधन कर दिया था ॥ ४३ ॥

१. क विदधौ ।

इति समाप्य विवाहमनुत्तमं जिगमिषुः स्वपुरात्परमर्दितः ।
स्वसुतया सकलैः[1] सह बन्धुभिर्नरपतिः कृतवान्सह भोजनम् ॥ ४४ ॥
मदनतापनखेदितचेतना पतिमुपेत्य मनोगुणितं चिरम् ।
रविकराभिहता जलदागमे वसुमतीव जहर्ष मनोरमा ॥ ४५ ॥
अथ यियासुरतुल्यपराक्रमो वरतनुर्विषयं प्रति चात्मनः ।
उदधिवृद्धिमुपेत्य वचः स्फुटं समधुराक्षरमित्थमभाषत ॥ ४६ ॥
असुहृदो वनगोचरिणो भवान्मम पिता न पितापि पिताभवत् ।
किमिह खेदकरैर्बहुभाषितैरुभयलोकहितो न परो गुरुः ॥ ४७ ॥

प्रीतिभोज

जब समस्त विवाहके संस्कार परम श्रेष्ठ विधिपूर्वक समाप्त हो गये थे तो युवराज वरांग अपने विपुल वैभव तथा सम्पत्तिके साथ अपने जन्म नगर उत्तमपुरको जानेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित था। अतएव विदाके पहिले ललितेश्वरने समस्त बन्धुबान्धव, अधिकारी आदि तथा पुत्रियोंके साथ एक विशाल सहभोज किया था ॥ ४४ ॥

कश्चिद्भटको देखनेके दिनसे ही कामदेवने विचारी मनोरमाको विरहने इतना जलाया था कि उनके प्राणोंपर संकट आ पड़ा था। ऐसी व्यथाको चिरकाल तक सहकर विचारीको मनके अनुकूल पति मिला था। अतएव वह ग्रीष्मकालमें भयंकर अग्निके समान दाहक सूर्यकी प्रखर किरणोंसे जलाये जानेके बाद वर्षाऋतुके प्रारम्भमें मेघोंके द्वारा शान्तकी गयी पृथ्वीके समान परम प्रमुदित हुई थी ॥ ४५ ॥

कृतज्ञता ही साधुता है

अनुपम पराक्रमी युवराज वरांग अपने पिताकी राजधानीको लौट जानेके लिए आतुर हो रहे थे। इस उत्कट अभिलाषाको कार्यान्वित करनेके अभिप्रायसे वे अपने धर्मपिता सागरवृद्धिके पास गये थे, तथा उनकी अनुमति प्राप्त करनेके लिए मधुर शब्दोंसे निर्मित प्रार्थनाको निम्न प्रकारसे कहा था ॥ ४६ ॥

जब मैं गहन वनमें ठोंकरें खाता फिरता था। कोई मित्र व सहायक नहीं था। इतना ही नहीं परम पराक्रमी, स्नेही तथा सर्वशक्ति सम्पन्न मेरे पूज्य पिता भी अपने कर्त्तव्यको मेरे प्रति पूरा न कर सके थे, उस समय आप ही मेरे पिता हुए थे। पुरानी स्मृतियोंको दुहरा करके दुख देनेवाली इन बहुत सी व्यर्थ बातोंकी पुनरावृत्ति करनेसे क्या लाभ है ? इस लोक तथा परलोक दोनोंमें कल्याण करनेवाले आप ही मेरे सच्चे गुरु हैं ॥ ४७ ॥

---

१. म सबलैः ।

विनय एव हि भूषणमुत्तमं विनयमूलमिदं जगतः पदम् ।
तत इतो विनयं वणिजां पते तव करोमि यशःपरिवृद्धये ॥ ४८ ॥
अविदितं भवता न च विद्यते नरपतेरिदमस्य चिकीर्षितम् ।
रणनिमित्तमनेन हि गच्छता जिगमिषामि सहानुमतेन ते ॥ ४९ ॥
इति वचः कथितं तनयेन तत्क्षमवबुध्य पिता पुनरभ्यधात् ।
इह भवन्तमपास्य हि जीवितुं मम मतिः सुमते न च वाञ्छति ॥ ५० ॥
तव गुणेन च पुत्र गुणप्रिय प्रथितकीर्तिरभूवमहं भुवि ।
नृपतिना समतां पुनराप्तवाननुपमां जगतो बहुमानताम् ॥ ५१ ॥
इह विहाय हि मां प्रगते त्वयि किमवलम्ब्य मया प्रतिषज्यते ।
व्रजसि मन्दरधीर यतो यतस्तनय मां च नयस्व ततस्ततः ॥ ५२ ॥

विनम्रता मनुष्यका सबसे उत्तम भूषण है, संसारका सबसे उत्तम पद शुद्ध विनयके कारण ही प्राप्त होता है तथा मेरा जितना भी अभ्युदय हुआ है वह विनयमूलक ही है अतएव हे सार्थपते ! संसारमें यशको बढ़ानेकी अभिलाषासे आपके आगे प्रणत हूँ ॥ ४८ ॥

महाराज देवसेन इस समय जिस कार्यको करना चाहते हैं यह सब किसी भी रूपमें आपसे छिपा नहीं है। ललितेश्वर इसी समय युद्धके लिये प्रस्थान कर रहे हैं, मैं भी उनके साथ-साथ जानेके लिए अत्यन्त उत्सुक हूँ, किन्तु अपनी इच्छा ही से प्रेरित होकर नहीं अपितु आपकी अनुमति प्राप्त करके ही जाना चाहता हूँ ॥ ४९ ॥

उपकारी ही सगा है

जब धर्मपुत्रने विनयपूर्वक अपने मनके भावोंको इन वचनोंसे स्पष्ट कर दिया तो पिताको उसका निर्णय समझनेमें देर न लगी। कुछ देर सोचकर उसने कहा था। 'हे सुमते ! तुम्हारे बिना मैं भी यहाँ जीवित नहीं रह सकूँगा।' मेरे मनमें ऐसा आता है ॥ ५० ॥

हे सद्गुणोंको प्रेम करनेवाले पुत्र ! तुम्हारी असाधारण योग्यताओंके कारण ही सारी पृथ्वीपर मेरी कीर्ति विख्यात हो गयी है। तुम्हारे पराक्रम तथा गुणोंने ही मुझे महाराज देवसेनके समान बना दिया है, आज मैं सारे राज्यके लिए इतना अधिक मान्य हो गया हूँ कि उसकी तुलना करना ही असंभव है ॥ ५१ ॥

आदर्श पिता

जब तुम मुझे यहाँ छोड़कर दूसरे देशको चले जाओगे, तो तुम्ही बताओ, मैं किसके सहारे यहाँपर जीवित रहूँगा ? अतएव हे सुमेरुके समान धीर गम्भीर पुत्र तुम जिस-जिस देशको जाओ, मुझे भी वहीं वहीं लेते चलो ॥ ५२ ॥

इति ब्रुवोविरते वणिगीश्वरे वरतनुस्त्वथ चास्त्विति चोक्तवान् ।
अथ पुरान्नृपतेर्ललिताह्वयादुदयितुं समयश्च तदाभवत् ॥ ५३ ॥
विविधबन्दिमहाविटमागधस्फुटमुखोष्ठपुटप्रविजृम्भितः ।
जय जयेति जयावह ऊर्जितस्त्वविरतध्वनिरास समन्ततः ॥ ५४ ॥
अपि च पर्वणि वृद्धिमथर्च्छतः[1] पवनघट्टितचारुतरङ्गिणः ।
ललितपूर्वपुरं नृपतेर्गमे[2] जलनिधेः सकलध्वनिमादधौ ॥ ५५ ॥
हयरथद्विपपादविघट्टनात्स्फुटसमुच्छ्रितधूलिविधूसरः ।
न ददृशे खलु तत्क्षणमम्बरं दिनकरश्च परिस्फुरदंशुमान् ॥ ५६ ॥
अपनयाशु जड[3] स्वतुरङ्गमं मदविभिन्नकटद्विरदान्तिकात् ।
तुरगपूर्वगतां च किशोरिकामपनयेति रवः परिशुश्रुवे ॥ ५७ ॥

सार्थपति सेठ सागरवृद्धि जब अपनी अभिलाषा को व्यक्त करके चुप हो गये तब युवराज वरांगने प्रसन्नतापूर्वक कहा था 'जैसी आपकी आज्ञा'। इस वार्तालापके समाप्त होते-होते ही महाराज देवसेनके ललितपुरीसे प्रयाण करनेकी मुहूर्त आ पहुँची थीं ॥ ५३ ॥

महाराजकी युद्ध यात्राके समय चारों ओरसे 'जय, जय' की बहुत जोर की ध्वनि आ रही थी। महाराजके समय शकुन करनेके लिए ही विविध जातियोंके बन्दीजन, बड़े-बड़े विट तथा मागध लोग बड़े वेगके साथ अपने मुखको पूरा फैलाकर जोरसे ओठोंको बनाते हुए महाराजकी जय बोलते थे। वे एक क्षणके लिए भी न रुकते थे ॥ ५४ ॥

युद्ध यात्रा

पूर्णमासीके दिन चन्द्रमाको देखकर समुद्र अपने आप ही ज्वाररूपसे बढ़ता है, उस पर भी यदि दैवयोगसे जोरकी हवा चलने लगे तो फिर उन्नत लहरोंके पारस्परिक आघातसे जो भयंकर शोर मचता है उसी प्रकार तीव्रतम शोरको करते हुए महाराज अपनी राजधानी ललितपुरसे निकले थे ॥ ५५ ॥

रथोंकी दौड़, घोड़ोंकी टापों तथा हाथियोंके पैरोंके भारसे मसले जाने पर जो धूलिके बादल उड़े थे। उनके द्वारा समस्त नभ मण्डल धुँधला हो गया था। उस समय यह अवस्था हो गयी थी कि आकाशमें पूर्णरूपसे चमकता हुआ सहस्र रश्मि-युक्त दिनकर भी लोगोंकी आँखोंसे ओझल हो गया था ॥ ५३ ॥

'देखता नहीं है कि यौवनके उन्मादमें हाथीके गण्डस्थलोंसे मद जल बह रहा है, हे मूर्ख ! अपने चंचल घोड़ेको शीघ्र

१. क वृद्धिमथार्चतः । १. [नृपनिर्गमे] । २. क जडः ।

मधुरवाक्यरसैरनुगच्छतः पुरजना नृपतिं त्ववशिष्यताम् ।
युवनृपेण दिवाकरतेजसा परबलोन्मथनार्थमतोत्युधैः (?) ॥ ५८ ॥
प्रबलकेतुपतद्विहगाकुला प्रथितमुत्तमनामपुरार्णवम् ।
ललितपूर्वपुराद्रिगुहामुखादभिससार च सैन्यनदी द्रुतम् ॥ ५९ ॥
तदनु सागरवृद्धिवणिक्पतिः शकटसार्थसहस्रसमन्वितः ।
नृपसुताशिबिकाग्रगतस्ततो बहुभटानुवृतः प्रययौ शनैः ॥ ६० ॥
गिरिगुहामुखकाननसंकटे नरपतेर्व्रजतः परिपार्श्वतः ।
युवनृपः पृतनां परिपालयन्नगमदिन्द्रसुतोपमविक्रमः ॥ ६१ ॥

हो उसके पाससे हटा ले। अरे ! हे ! देखते नहीं हो वह किशोरी बालिका घोड़ेके नीचे दब जायगी, उसे एक तरफ कर लो।' इस प्रकारकी ध्वनियाँ ही उस समय सुन पड़ती थीं ॥ ५७ ॥

राजाके साथ मीठी-मीठी बातें करते हुए पीछे-पीछे चले आनेवाले नागरिकोंको महाराजने स्नेहपूर्वक लौटा कर मध्याह्नके सूर्यके समान प्रतापी युवराज वरांगके साथ सगे सम्बन्धी (बहिनोई) पर आक्रमण करनेवाले शत्रुकी सेनाको छिन्न-भिन्न कर देने के लिये आगे बढ़े थे ॥ ५८ ॥

सैनिकोंकी उक्तियाँ

उस समय सेना ऐसी लगती थी मानो-ललितपुर रूपी पार्वतीय गुफाके मुखसे निकल कर महाराज देवसेनकी सेना रूपी नदी, बड़ी तीव्र गतिके साथ जगद्विख्यात उत्तमपुर रूपी समुद्रसे मिलनेके लिए बही जा रही थी। उस सेना-नदीके ऊपर फहराती हुई उन्नत पताकाएँ ऐसी प्रतीत होती थीं, मानो पक्षी ही उड़कर उसके ऊपर झपट रहे हैं ॥ ५९ ॥

सेना सौन्दर्य

महाराजके पीछे-पीछे सेठ सागरवृद्धिका रथ चल रहा था, इनके साथ बहुमूल्य संपत्तिसे लदीं हुई हजारों गाड़ियाँ चली जा रही थीं। इसके बाद राजपुत्री सुनन्दा तथा मनोरमाकी पालकियाँ चल रही थीं तथा उनको चारों ओरसे घेरे हुए असंख्य भट धीरे-धीरे चले जा रहे थे ॥ ६० ॥

उन्नत पर्वत, भीषण गुफाओंके भीतर, गहन काननों आदि संकटमय स्थानोंपर युवराज महाराज देवसेनके आगे पीछे तथा दायें बायें चलते युवराज थे और वरांग पूरी सेनाका व्यवस्थितरूपसे संचालन भी करते थे। उस अवसर पर उनके सैन्य संचालनकी निपुणता और पराक्रमको देखकर इन्द्रके पुत्र (अर्जुन) का स्मरण हो आता था ॥ ६१ ॥

स्वविष[1]याद्विषयान्तमुपेत्य च प्रतिनिवेश्य नृपस्तु बलोत्थिनीम् ।
अभिनिवेदयितुं [2]द्रुतमागतं जलधिवृद्धिमतो विससर्ज सः ॥ ६२ ॥
नृपवचोर्थविशेषपरावरं मनसि वाक्यपटुर्गणयंस्ततः ।
अभिसमीक्ष्य नृपस्स्थितपौरुषं[3] स्वनृपकार्यमशेषमदुद्रुवत् ॥ ६३ ॥
उपगतं ललिताह्वपुराधिपं जलधिवृद्धिमुखादवबुध्य तम् ।
अपजयं च परस्य जयं स्वकं मनसि निश्चितवान्स महीपतिः ॥ ६४ ॥
परमहर्षविबुद्धमुखाम्बुजो हृषितरोमचिताञ्चितविग्रहः ।
कुशलतां नृपतेः परिपृच्छय तं पुनरपृच्छदसौ बलसंपदाम् ॥ ६५ ॥

अपने पूरे राष्ट्रको पार करके गन्तव्य राष्ट्रमें पहुँच जाने पर महाराज देवसेनने विश्राम करनेके लिए एक स्थानपर अपनी सेनाको रोक दिया था। महाराज धर्मसेनको इस समाचारसे अभिज्ञ करनेके अभिप्रायसे कि 'ललितेश्वर आपकी आज्ञाके अनुसार बड़ी तीव्र गतिसे प्रयाण करते हुए आपके निकट आ पहुँचे हैं।' सार्थपति सागरवृद्धिको उत्तमपुरके सैनिक-आवास पर भेजा था ॥ ५२ ॥

आगमन सन्देश

महाराज देवसेनने सेठ सागरवृद्धिको जो सन्देश दिया था उसके प्रधान तथा अप्रधान प्रयोजनको किस प्रकार उत्तमपुराधिके समक्ष उपस्थित करना होगा, इस सबको कुशल वक्ता सेठने अपने मन ही मन निश्चित कर लिया था। तथा उसकी पुनरावृत्ति करता जाता था। उत्तमपुरके स्कन्धावारमें पहुँचकर वह विनयपूर्वक महाराज धर्मसेनके सामने उपस्थित हुए थे। उनके पुरुषार्थको बुढ़ापा भी न डिगा सका था तथा उनके सामने उपस्थित होकर अपने नृपतिका पूराका पूरा सन्देश सुना दिया था ॥ ६३ ॥

सार्थपति सागरवृद्धिके मुखसे ललितपुराधिपति महाराज देवसेनके आगमनके शुभ संवादको सुनते ही महाराज धर्मसेन ने उन्हें आया ही समझ लिया था। उत्तमपुरेशको मन ही मन यह दृढ़ विश्वास भी हो गया था कि शत्रुकी पराजय तथा मेरी विजय होना अवश्यंभावी है ॥ ६४ ॥

लोभाचारज्ञता

उनके हर्षकी सीमा न थी, हर्षातिरेकसे उनका मुखारविन्द विकसित हो उठा था, आनन्दजन्य रोमाञ्चसे उनकी पूरी देह कंटकित हो गयी थी। सबसे पहिले उन्होंने ललितेश्वरकी कुशल क्षेम पूछी थी, फिर क्रमशः सुयात्राके विषयमें पूछ चुकनेके बाद उनकी सेनाके विषयमें जिज्ञासा की थी ॥ ६५ ॥

१. म स विषयाद् । २. [सुतमागतं] । ३. [नृपं स्थितपौरुषं] ।

कति गजाः समदाः कति वाजिनः कति हि योधगणाः कति नायकाः ।
कति च मन्त्रविदः कति वल्लभाः कथय वेदितुमिच्छति मे मतिः ॥ ६६ ॥
इति महीपतिना प्रतिचोदितः स्वपतिचक्रबलस्थितिपौरुषम् ।
युधि वराङ्गविनिर्मितसाहसं जलधिवृद्धिरजिज्ञपदाशु तत् ॥ ६७ ॥
हृदयहारिवचःश्रवणामृतं सपदि सम्यगिदं समुदाहृतम् ।
सकलमेतदवैमि वराङ्ग इत्यभिहितं भवता वद कोदृशम्[1] ॥ ६८ ॥
स्थितिगतिद्युतिरूपपराक्रमैः प्रियसुतस्तव सोऽस्ति भवत्समः ।
व्यतिगतेषु दिनेष्विभकारणो नृवर येन कृतः प्रथितो रणः ॥ ६९ ॥

'हे सार्थपते ! मेरा मन सैन्य सम्बन्धी विगतको जाननेके लिये उत्सुक है अतएव बताओ कि महाराजकी मदोन्मत्त गजसेनाका प्रमाण क्या है, अश्वारोही सेना कितनी है, तथा पैदल सेनाकी संख्या क्या है। इस सेनाका संचालन करनेवाले नायकों का प्रमाण कितना है। ललितेश्वरके साथ कितने कुशल मंत्री आये हैं। इन सबके अतिरिक्त साथ आनेवाले मित्रों तथा प्रियजनों का क्या प्रमाण है ॥ ६६ ॥

महाराज धर्मसेनके द्वारा पूछे गये समस्त प्रश्नोंका उत्तर देते हुये महामति सेठ सागरवृद्धिने अपने नृपतिके सपक्षी राजाओं, चतुरंग सेनाकी स्थिति तथा पुरुषार्थ आदिको विगतवार बता दिया था। इतना ही नहीं, महाराजका उत्साह बढ़ाने के अभिप्रायसे उन्होंने शीघ्रतापूर्वक युवराज वरांगके समस्त पराक्रमों को भी कह सुनाया था जो कि उन्होंने अनेक युद्धोंमें प्रदर्शित किये थे ॥ ६७ ॥

पुत्र-जिज्ञासा

हे सार्थपति ! आपने जो यह सब भलीभाँति वर्णन किया है, आपके वचन हृदयको बलपूर्वक तुम्हारी ओर आकृष्ट कर रहे हैं। कानोंको तो वह शब्द अमृतके समान हैं। मैं यह सब तो पहिले ही से जानता हूँ, केवल इतना ही जानना चाहता हूँ कि जिस वरांगके विषयमें आपने यह सब कहा है वह रंगरूपमें कैसा है ॥ ६८ ॥

उद्रिक्त पितृत्व

इस प्रश्नके उत्तरमें सेठ सागरवृद्धिने इतना ही कहा था—'हे महाराज उठने, बैठने, बोलने, चालने, कान्ति, रंग तथा पराक्रममें सर्वथा आपके ही समान है। हे महाराज ! वह आपका ही ज्येष्ठ पुत्र है। अप्रतिमल्ल हाथीके कारण मधुराधिपसे जो प्रसिद्ध रण कुछ दिन पहिले ही हुआ था, उस रणको जीतनेवाला भी वही है ॥ ६९ ॥

१. [कीदृशः]।

इति सरित्पतिवृद्धिवचः पुनर्हृदयतुष्टिकरं तु निशम्य सः ।
कटककुण्डलहारवरादिभिः सदसि पूजितवान्बहुभूषणैः ॥ ७० ॥
गतसुतस्य कथाश्रुतिविस्मितो विकसितोत्पललोलविलोचनः ।
नृपतया[1] नृपतिश्चतुरंगया द्रुतमगात्तनयस्य दिदृक्षया ॥ ७१ ॥
स्वतनयाभिनिरीक्षणकाङ्क्षया ह्युदयति क्षितिपे मुदितात्मनि ।
पथि वराङ्गकथाभिरतो जनो न बुबुधेऽध्वपरिश्रममादृतः ॥ ७२ ॥
प्रहतदुन्दुभिशङ्खमहारवैस्तमुपगम्य नृपं समुपाश्रितम् ।
[2]परिगतो युवराट् ललितेश्वरश्चरणयोः समुदौ प्रणिपेततुः ॥ ७३ ॥
वरवधूस्तनकुट्मललम्पटं [3]प्रमुदितोत्तमचन्दनकुङ्कुमम् ।
भुजयुगं प्रविसार्य महीपतिस्तत उभावधिकं परिषस्वजे ॥ ७४ ॥

नदियोंके नाथ; सागर सहितवृद्धि नामधारी (सागरवृद्धि) के द्वारा कहे गये इन वचनोंको सुनकर ही महाराज धर्मसेनका पुत्र वियोगवह्निमें तपता हुआ हृदय शान्त हो गया था। परिपूर्ण राजसभामें ही उन्होंने अपने शरीरसे कटक, कुण्डल, उत्तम मणिमयहार आदि अनेक आभूषण उतार कर सेठ सागरवृद्धिको भेंट करके उनका बड़ा सत्कार किया था ॥ ७० ॥

बहुत समयसे खोये हुए पुत्रके समाचार ही नहीं अपितु उसके अभ्युदयकी कथा सुनकर महाराज धर्मसेनके नेत्रकमल विकसित ही न उठे थे, अपितु रागकी अधिकतासे चंचल हो गये थे। पुत्रको देखनेकी उत्कट इच्छाके कारण वे अपनी विशाल चतुरंग सेनाको साथ लेकर बड़े वेगके साथ उससे मिलनेको चल दिये थे ॥ ७१ ॥

'मृतोत्पन्नस्तु किं पुनः'

महाराज धर्मसेनका आत्मा पुत्रको चिरकाल बाद देखनेकी आकांक्षाकी आशासे बिल्कुल हरा-भरा हो गया था। वे मार्ग चलते जाते थे और युवराज वरांगके विषयमें ही बात करते जाते थे, युवराजके प्रति उन्हें इतना आदर तथा स्नेह था कि मार्गकी कठिनाइयों तथा परिश्रमका उन्हें पता भी न लगा था ॥ ७२ ॥

जब महाराज धर्मसेन निकट पहुँचे तो महाराज देवसेन स्वागतके लिए दुन्दुभि, शंख आदि बाजोंको जोरोंसे बजवाते हुए उनकी अगवानीको आये थे; तथा उनके समक्ष पहुँचते ही युवराज वरांगके साथ ललितेश्वर अपने भगिनी पति राजाके चरणोंमें आदर और प्रसन्नतापूर्वक झुक गये थे ॥ ७३ ॥

महाराज धर्मसेनके पीनपुष्ट भुजदण्ड कुलीन रानियोंके स्तनरूपी उन कलियोंको मरोड़नेके आदी थे जिन पर भली

---

२. [पृतनया]। २. [परिगतो.....ललितेश्वरौ चरणयोः]। ३. [प्रमृदितोत्तम°]।

प्रियसुतं च समैथुनमात्मनश्चिरतरेण समीक्ष्य महीपतिः ।
वसुमति लवणार्णवमेखला प्रविजितेति मया स्फुटमभ्यधात् ॥ ७५ ॥
अतुलहर्षसमन्वितमानसौ समनुरक्तजनैः सह भूभुजौ ।
वरतनोः कथया श्रवणीयया ह्यवसतां तदहर्विगतोत्सुकौ ॥ ७६ ॥
प्रतिगमय्य निशामुदयागते दिनकरे त्वरया कृतमङ्गलः ।
विश पुरं जननीमभिवादय त्वमिति भूमिपतिः सुतमन्वशात् ॥ ७७ ॥
इति नृपाभिहितो रणकर्कशः पितरमित्थमवोचदिदं वचः ।
तमवतप्यं रणातिथिमायुधैस्तदनु नाथ पुरं प्रविविक्ष्यते ॥ ७८ ॥

भाँति पीसे गये श्रेष्ठ चन्दनका सुन्दर लेप लगा रहता था। इन्हीं भुजाओंको फैलाकर उन्होंने अपने साले तथा पुत्रका जोरोंसे आलिंगन किया था ॥ ७४ ॥

आत्मीय मिलन

अत्यन्त दीर्घ अन्तरालके बाद अपने प्रिय साले तथा सदाके लिए खोये हुए ज्येष्ठ प्रिय पुत्रको देखकर ही महाराज धर्मसेनको ऐसा आभास हुआ था कि 'आज मैंने उस विशाल पृथ्वीको पूर्णरूपसे जीत लिया है जिसकी मेखला लवण महासमुद्र है।' फलतः इस उद्गारको भी उन्होंने स्पष्ट भाषामें व्यक्त कर दिया था। दोनों ही राजाओंके मनोंमें अमर्याद हर्ष सागर उमड़ रहा था ॥ ७५ ॥

वे दोनों अपने समान शील, वय आदि, स्नेही तथा अनुकूल लोगोंसे घिरे हुए थे। उस समय उनके सुनने और कहने योग्य एक वरांगकी ही कथा रह गयी थी। वह पूराका पूरा दिन उसी कथाको कहते सुनते बीत गया था तथा दोनोंकी उत्कण्ठाएं और दुःख शान्त हो गये थे। महाराज धर्मसेनने संध्यासमय कुमार वरांगको आज्ञा दी थी ॥ ७६ ॥

हे वत्स ! रात्रिके आरामसे बीतनेपर ज्योंही सूर्य उदयाचल पर आनेको हों तुम शीघ्रतासे प्रातःकालीन मंगल विधिको समाप्त कर लेना तथा तुरन्त ही राजधानीको प्रस्थान कर देना। नगरमें प्रवेश करके सबसे पहिले अपनी माताजीके दर्शन करना' ॥ ७७ ॥

युवराज वरांग स्वभावसे ही दारुण योद्धा थे अतएव महाराजकी उक्त आज्ञाको सुनकर उन्होंने यही निवेदन किया था। हे नाथ ! जो शत्रु अतिथि युद्ध करनेके लिए आया है, पहिले मैं उसका दारुण शस्त्रास्त्रोंकी मारसे तर्पण करूंगा। इस विधिसे जब उसका स्वागत हो लेगा तो उसके बाद ही मैं राजधानीमें प्रवेश करूंगा ॥ ७८ ॥

---

३. क सुमैथुन०। १. [सुतमभ्यधात्]।

तमवगम्य [1]चरैर्बकुलेश्वरो वरतनोर्भटतां बलसंपदम् ।
अपजगाम मनाग्भयविक्लवं न्यगपगन्धहतो द्विरदो यथा ॥ ७९ ॥
बकुलराजबलाबलमीक्षितुं नृपनियोगकराः पुरुषा गताः ।
अपगमस्य निवेदनसंभ्रमाः प्रतिनिवृत्य महीपतये जगुः ॥ ८० ॥
अपरपक्षपराभवसंश्रयात्प्रतिविबुद्धमुखाम्बुरुहा नृपाः ।
प्रजहर्षुर्जयदुन्दुभयो ध्वनं (?) जलधरा इव ते जलदागमे ॥ ८१ ॥
उदितबालरविप्रतिमद्युति प्रथमयौवनभूषितविग्रहम् ।
भुवनवल्लभमेकपतिं भुवः स्वजनमेव जनाः खलु मेनिरे ॥ ८२ ॥

शत्रुमर्दनका संकल्प

सुषेणके विजेता वकुलेश्वरको जब अपने गुप्तचरोंके द्वारा महाराज देवसेनके आ पहुँचने, दोनों सेनाओंकी विशालता तथा इन सबसे भी बढ़कर युवराज वरांगके अनुपम रणकौशलका पता लगा तो वह केवल नीतिके कारण ही नहीं अपितु किसी हृदयान्तक भयसे व्याकुल होकर अपने देशको उसी प्रकार लौट भागा था जिस प्रकार न्यगपकी (सिंह) तीक्ष्ण गन्धके नाकमें पहुँचते ही मदोन्मत्त हाथी भाग खड़ा होता है ॥ ७९ ॥

शत्रु-पलायन

महाराज धर्मसेनके सच्चे आज्ञाकारी तथा कुशल गुप्तचर बकुलराजके सैन्य आदि बल तथा उसके छिद्रोंको देखने गये थे। किन्तु जब उन्हें उक्त शत्रुके पलायनका पता लगा तो वे महाराजको शीघ्र समाचार देनेके लिए उतावले हो उठे थे। फलतः शीघ्र ही लौटकर उन्होंने महाराजको उक्त समाचार दिया था ॥ ८० ॥

शत्रुपक्षका इस सरलतासे पराभाव हो जानेके कारण महाराजाओंको इतनी अधिक प्रसन्नता हुई थी कि उनके मुख-कमल अनायास ही विकसित हो उठे थे। उनकी आज्ञासे तुरन्त विशाल विजय दुन्दुभियां बजने लगी थीं। ऐसा मालूम होता था कि वर्षाऋतुके प्रारम्भ होनेपर मेघ ही कठोरतासे गरज रहे थे ॥ ८१ ॥

युवराज वरांग अपनी शिक्षा तथा स्वभावसे समस्त गुणोंके आगार थे। उस समय उनका तेज उदीयमान बालरविके समान अनुरक्त (दो अर्थ है-थोड़ा लाल और आकर्षक) तथा वर्द्धमान था, सारा शरीर अनवद्य यौवनके उभारसे आप्लावित था, अपने गुणोंके कारण वे भुवन-वल्लभ थे, सारी पृथ्वीके एकमात्र पालक थे, तथा जनसाधारण उन्हें अपने सगे बन्धुकी तरह मानता था ॥ ८२ ॥

१. क चरैश्च ।

अवनिराज्यधुरं भजतामिमां प्रतिगृहाण न चान्यविहोच्यताम् ।
इति जगुर्गुरवः सदसि स्थितं वरतनुं मुदिता[1] गुणभाजनम् ॥ ८३ ॥
स च गुरुप्रतिकूलभयादतः किमपि चात्मगतं हृदि चिन्तयन् ।
न च शशाक निवारयितुं बलान्नृपतिता क्षितिपैः समधीयत ॥ ८४ ॥
रजतरुक्मघटैरभिषेचितः प्रवरपट्टविभूषित[2]मस्तकः ।
प्रचलदुज्ज्वलचामरवीजितः प्रविरराज शशीव गताम्बुदः ॥ ८५ ॥
समदवारणमूर्ध्नि प्रतिष्ठितो नपतिभिर्बहुभिः परिवारितः ।
प्रचलदुच्छ्रितकेतुलसद्ध्वजः पुरवरं प्रविवेश महेन्द्रवत् ॥ ८६ ॥

जिस समय वह राजसभामें पिताके पास बैठे थे उस समय पिता, मामा, महामंत्री आदि गुरुजनोंने आग्रह पूर्वक कहा था 'हे वत्स ! इस विशाल राज्यके भरणपोषणके भारको जिसे अबतक वृद्ध महाराज ढोते आये हैं अब तुम धारण करो, चुपचाप स्वीकार कर लो और कुछ मत कहो ॥ ८३ ॥

वह अपने मनमें कुछ और ही सोचता था किन्तु उसे इसीलिए नहीं कह सकता था कि कहीं पिता आदि पूज्य पुरुष उसे विपरीत वचन न समझ लें। अतएव वह उन्हें अपने निश्चयको कार्यान्वित करनेसे भी नहीं रोक सकता था। फल यह हुआ कि सब राजाओंने मिलकर उसपर नृपत्वके भारको लाद दिया था ॥ ८४ ॥

राज्याभिषेक

मेघमालाके फट जाने पर पूर्णचन्द्रकी जो अनुपम कान्ति होती है, युवराज वरांगकी भी उस समय वही शोभा थी। सोने तथा चांदीके तीर्थ जलपूर्ण घटोंके द्वारा उसका राज्याभिषेक हुआ था, वक्षस्थल तथा कटिप्रदेश पर राजपट्ट शोभा दे रहा था, मस्तक पर मुकुट जगमगा रहा था तथा उसके ऊपर निर्मल, धवल तथा चंचल चमर ढुर रहे थे ॥ ८५ ॥

मदोन्मत्त हाथीके ऊपर आरूढ़ होकर जब वह राजधानीकी ओर चला तो उसके चारों ओर अनेक राजा लोग चल रहे थे, ऊँचे-ऊँचे केतु लहरा रहे थे तथा ध्वजाओंकी शोभा भी अनुपम थी। अतएव उसने देवराज इन्द्रके समान उत्तमपुरमें प्रवेश किया था ॥ ८६ ॥

---

१. म मुदितो। २. क °विभूषणभूषितः।

प्रवरहर्म्यतलस्थितयोषितो विलसितामलसन्नयनावलीः ।
सललितं स हरं[1] मुदितः शनैरुपससार गृहं स[2] नरोत्तमः ॥ ८७ ॥
उदितकाञ्चनतोरणगोपुरं रुचिमदुच्छ्रितकूटतटोत्कटम् ।
नृपगृहं प्रविशन्विबभौ नृपो जलदगर्भमथेन्दुरिवामलः ॥ ८८ ॥
प्रमुदिता च वराङ्गवराङ्गना सकलचन्द्रमुखी कुलनन्दिनी ।
प्रहतमङ्गलतूर्यरवैः सह प्रविशति स्म मनोरमया पुरम् ॥ ८९ ॥
अथ नरपतिरन्तर्गेहलक्ष्मीमिवैकां[3] सविनयमुपसद्य प्राञ्जलिर्जातहर्षः ।
विकचकमलभासः सन्ननाम स्वसारः प्रणतजनविभूत्या पादयोः पादयोः सः ॥ ९० ॥

नगरमें ऊँचे-ऊँचे विशाल-महलोंकी छतों पर कुलीन बधुएँ बैठी थीं उनके निर्विकार सुन्दर चंचल नेत्रोंके समूहको अपनी लीला व अन्य गुणोंके द्वारा धीरे-धीरे अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ वह पुण्यात्मा पुरुष धीरे-धीरे अपने राजमहलकी ओर चला जा रहा था ॥ ८७ ॥

उत्तमपुरके राजमहलके गोपुर अत्यन्त उन्नत स्वर्णमय द्वार थे, उनके ऊपर बने हुए आकाशचुम्बी शिखरोंके कलशोंकी कान्ति तथा द्युति अद्भुत थी। ऐसे विशाल राजप्रासादमें प्रवेश करते हुए कुमार वरांगकी शोभा मेघोंकी घटामें घुसते हुए निर्मल पूर्णचन्द्रकी कान्तिकी समानता करती थी ॥ ८८ ॥

राजभवन प्रवेश

युवराज वरांगकी अनुपमा आदि पत्नियां, कुलीन कन्याएँ तथा बधुएं थीं। अतएव ज्योंही उन चन्द्रमुखियोंने जोरोंसे बजते हुए मांगलिक बाजोंके शोरके बीचमें मनोरमा के साथ अपने प्राणपतिको प्रवेश करते देखा, त्योंही वे सब कुलनन्दनियां स्वयं आनन्दविभोर हो उठी थीं ॥ ८९ ॥

हर्षातिरेकके कारण उन्दृत्त युवराज वरांग हाथ जोड़े हुए विनयपूर्वक माताके सामने जा पहुँचे थे। और उनके चरणोंमें झुक गये थे। वह माता भी क्या थी ? उत्तमपुरके राजवंशकी साक्षात् गृहलक्ष्मी थी। बहिनोंने जब भाईको देखा तो उनके मुख विकसित कमलोंके समान विकसित हो उठे थे, युवराज वरांग अत्यन्त विनम्र पुरुषकी भांति प्रत्येक बहिनके पास गये थे और उनके चरण छूकर स्नेह प्रकट किया था ॥ ९० ॥

---

१. [स हरन्]। २. [गृहं च]। ३. म लक्ष्मीमिवैतां।

सदयमनुपकाद्यासन्नतान्ताश्च दृष्ट्वा हृदयमपि वसन्तीर्योषित[1]: संप्रपृच्छय ।
चरितपरिकथां तामात्मनः संनिवेद्य क्षपितरिपुबलौघः स्वस्थचित्तो बभूव ॥ ९१ ॥

इतिधर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
स्वजनसमागमो नाम विंशतितमः सर्गः ।

मातृभक्त

वहीं पर लज्जा और प्रेमके भारसे झुकी हुई अनुपमा आदि प्राणाधिकाएं खड़ी थीं, उसने उनकी तरफ सहानुभूति तथा प्रेमपूर्वक देखा था, क्योंकि वे सब उसके हृदयमें विराजमान थीं, किन्तु प्रकट रूपसे वह उनके विषयमें वहाँ न पूछ सका था। इसके उपरान्त कुछ समय तक वह अपने पराक्रमों की रुचिकर बातोंको करता हुआ वहीं बैठा रहा था, क्योंकि शत्रु सेनाका सदाके लिए तिरस्कार हो जानेके कारण उसका चित्त निश्चिन्त हो गया था ॥ ९१ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
स्वजन-समागम नाम विंशतितम् सर्ग समाप्त ।

---

१. म वसन्ती योषितः ।

एकविंशः सर्गः

पुरा वराङ्गस्तु कुमन्त्रिमन्त्रितस्तदात्मवुर्वृत्तविपाकतश्च सः ।
वनान्तरे व्यालमृगादिसेविते निरन्तरं दुःखमनेकमाप्तवान् ॥ १ ॥
स एव पूर्वार्जितपुण्यपाकतः समुद्रवृध्यादिभिराप्तसंगतः ।
क्रमेण भूयः समवाप्य सच्छ्रियं स्वबन्धुमित्रेष्टजनैः सहोषितः ॥ २ ॥
विपत्तयश्च व्यसनानि संपदः सुखासुखोन्मिश्रफलप्रवृत्तयः ।
वियोगसंयोगसमृद्धिहानयो भवन्ति सर्वत्र मनुष्यजातिषु ॥ ३ ॥
जिनेन्द्रसच्छासनमार्गयायिना त्रिलोकसद्भावविदा महात्मना ।
उदारवृत्तेन शुचं व्यपास्यता सुखं परत्रेह च लभ्यते ध्रुवम् ॥ ४ ॥

एकविंश सर्ग

'अहोकर्म विचित्रता'

अधम कुमंत्रियोंके षड्यंत्रको न सोचकर तथा पूर्वजन्ममें किये गये अपने कुकर्मोंके फलके उदयमें आनेपर पहिले जिस वरांगको व्याघ्र, सांप, मृग, आदि जंगली पशुओंके रहने योग्य भीषण वनमें निवास ही नहीं करना पड़ा था, अपितु एक क्षणको भी विश्राम पाये बिना अनेक दुःखोंको निरन्तर सहना पड़ा था ॥ १ ॥

उसी राजपुत्र वरांगके पूर्वोपार्जित पुण्यमय कर्मों का जब परिपाक हो गया और शुभ उदय हुआ तो उसे सागरवृद्धि आदि विश्वसनीय तथा हितैषी पुरुषोंका समागम प्राप्त हुआ था। उसको क्रमशः सब प्रकारकी कल्याणकर लक्ष्मी प्राप्त हो गयी थी। इतना ही नहीं वह अपने स्नेही बन्धु-बान्धवों मित्रों तथा प्रियजनोंके साथ सुखमय जीवन व्यतीत कर रहा था ॥ २ ॥

इस मनुष्य योनिमें जीवपर बड़ी विपत्तियां पड़ती हैं, घोर संकट आ घेरते हैं, विपुल सम्पदाओंका भी समागम होता है, कभी-कभी ऐसी भी प्रवृत्तियां होती हैं जिनका फल मिले हुए सुख-दुःख होते हैं। कभी वियोग है तो कभी संयोग है, एक समय समृद्धि है तो दूसरे ही क्षण सर्वतोमुख हानि भी है ॥ ३ ॥

किन्तु जो सज्जन प्राणी श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गका अनुसरण करते हैं, तीनों लोकोंमें क्या सार है इसे भलीभांति जानते हैं, जिनका आचार-विचार उदार है, शुद्धियुक्त मार्ग की आराधना करते हैं तथा निर्दुष्ट आचरणका पालन करते हैं, वे ही महापुरुष इस भव तथा परभवमें, निश्चयसे सुख प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

ततः कदाचित्सुरसेनभूपतिः समाप्तकार्यो नृपमायतश्रियम् ।
सुखोपविष्टं समुपेत्य सादरं व्यजिज्ञपद्यातुमथात्मनः पुरीम् ॥ ५ ॥
विचिन्त्य लोकानुगतिप्रवर्तनं मृगेन्द्रमत्तद्विपविक्रमक्रमः ।
प्रदानमानादिभिरर्चनार्हणैः समर्घ्य राजा विससर्ज भूपतिम् ॥ ६ ॥
स देवसेनो भगिनीं सुताद्वयं समर्घ्य लोकस्य गतिस्थितिक्रियाः ।
विमोच्य जामातरमानतद्विषं स्वदेशमृध्या परया ययौ नृपः ॥ ७ ॥
गते वराङ्गः श्वशुरे महाद्युतौ[1] दिगन्तरख्यातविशिष्टपौरुषः ।
समेत्य कान्तापितृमातृबन्धुभिर्गतश्रमः[2] संमुमुदे पुरोत्तमे ॥ ८ ॥

एक दिन ललितेश्वर देवसेन, महाराज धर्मसेनके पास पहुँचे, इनकी सम्पत्ति तथा शोभा दिन-दूनी व रात-चौगुनी बढ़ रही थी। उस समय वे सुखके साथ निश्चिन्त बैठे थे। उनके सामने आदरपूर्वक उपस्थित होकर ललितेश्वरने अपनी राजधानी को लौट जाने की अभिलाषाको प्रकट किया था, क्योंकि जिस कार्यके प्रसंगसे वे आये थे वह भी समाप्त हो चुका था ॥ ५ ॥

सम्बन्धो विदा

सिंहके समान पराक्रमी तथा मदोन्मत्त गजके तुल्य धीर गम्भीर-गामी महाराज धर्मसेन कुछ समय तक लोक-व्यवहार तथा शिष्टाचारके विषयमें सोचते रहे थे। इसके उपरान्त कुछ निर्णय करके उन्होंने साले तथा समधी ललितेश्वरको, सम्मान, भेंट तथा अन्य सत्कारके योग्य उपायोंके द्वारा वैभवपूर्वक पूजाकी थी और इस उत्सवके पूर्ण होते ही उन्हें विदा कर दिया था ॥ ६ ॥

महाराज देवसेनने भी पत्नीरूपसे संसारके प्रवर्तन, स्थिति तथा सदाचारकी मूलभूत अपनी दोनों राजदुलारियोंको बहिन, महारानी गुणवतीको सेवामें अर्पण करके तथा समस्त शत्रु-मण्डलको निर्मूल करनेवाले सुयोग्य दामादसे विदा लेकर विशाल वैभव और प्रतापके साथ अपने देशको प्रयाण किया था ॥ ७ ॥

महाप्रतापी ससुर ललिततेश्वरके चले जाने पर राजा वरांग अपनी पत्नियोंसे मिलकर, माता-पिताकी स्नेहधारामें आलोडन करके तथा बन्धु-मित्रोंसे घिरा रहकर उत्तमपुरमें आनन्द करता था। अब तक उसकी थकान दूर हो चुकी थी। उसके पराक्रमकी ख्याति समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो चुकी थी ॥ ८ ॥

---

१. म महोद्यतौ। २. क गतः श्रयः।

अथैवमुर्वीं तु वराङ्गनामनि प्रशासति न्यायपथेन भूभुजि ।
सुषेणमाता च सुषेणधीवरौ कृतापराधानिति[1] नैव शिस्थरे (?) ॥ ९ ॥
अहो क्षमा धैर्यमहो गभीरता वराङ्गनाम्नोऽमितसत्त्वतेजसः ।
सति प्रभुत्वेऽपि कृतापराधिनः कृपान्वितो नः सहते दुरात्मनः ॥ १० ॥
विहाय मानं क्षममस्य दर्शनं पुरापि नास्मद्वचसि स्थितौ[2] युवाम् ।
यदुक्तमेतद्व्युपशाम्यते यदि तदेव साध्वभ्युपगम्यतामिह ॥ ११ ॥
इति प्रधार्यात्मनि ते हिताहितं विनिश्चितार्थाः प्रणिपातनं प्रति ।
महाभयाकम्पितगात्रयष्टयो विविक्तदेशे प्राणिपेतुरीश्वरम् ॥ १२ ॥

न्याय-निपुण राज

यह वरांगनामधारी प्रतापी राजा नीति तथा धर्म-शास्त्रके मार्गके अनुसार पृथ्वीका शासन करता था। उसके न्याय-मय राज्यमें सुषेणकी माता तथा उनका प्रधान सहायक कपटी मंत्री यह तीनों ही देशमें शान्त और सुखी न थे, क्योंकि इन लोगोंने अकारण ही राजा वरांगके प्रति घोर अपराध किया था ॥ ९ ॥

वे लोग कहते थे कि अनुपम पराक्रमी तथा असह्य तेजस्वी राजा वरांगके धैर्यको धन्य है, तथा उसकी क्षमाशक्ति और गम्भीरताका तो कहना ही क्या है। पूर्ण प्रभुत्वको प्राप्त करके भी हम सुनिश्चित अपराधियों पर करुणाभाव ही दिखाता है, और तो और हम सब दुरात्माओंको सुखपूर्वक रहने दे रहा है ॥ १० ॥

हृदय परिवर्तन

इस समय वृथाभिमानको छोड़कर हम लोगोंको उससे क्षमा-याचना करनी चाहिये और दर्शन करने चलना ही चाहिये।' मंत्री रानी और सुषेण दोनोंको लहता था कोई कह रहा है 'देखा तुम दोनोंने उस समय भी मेरी सुविचारित प्रथम सम्मति को नहींमाना था—सो उसका फल सामने है, मैं इस समय भी जो कुछ कह रहा हूँ वही सर्वथा उपयुक्त है यदि तुम दोनोंको भी मान्य है तो विनम्रतापूर्वक इसे विचार कर लो ॥ ११ ॥

इस प्रकार आपसमें हित और अहितके विषयमें मतविनिमय करनेके बाद उन तीनोंने यही निर्णय किया था कि नूतन राजाके सामने नत हो जाना ही उनके लिए एकमात्र प्रशस्त उपाय था। तो भी उनका अपराध उन्हें भयाक्रान्त कर देता था जिससे उनके शरीर काँपने लगते थे, इसी अवस्थामें वे लोग एकान्त स्थानपर विराजमान राजा वरांगकी सेवामें उपस्थित हुए थे ॥ १२ ॥

---

१. क कृताषराधा निशि । २. म स्थितो ।

महानथास्माभिरकार्यपण्डितैः कृतोऽपराधोऽनपराधिनस्तव ।
जिजीविताशाः शरणागता वयं प्रसादमस्मासु कुरुष्व सांप्रतम् ॥ १३ ॥
तामुत्थितो[1] मातरमागतां विभुर्ननाम मैवं प्रकृथा[2] इति ब्रुवन् ।
करेण पस्पर्श सुषेणमञ्जसा जगाद मा भैरिति तं च धीवरम्[3] ॥ १४ ॥
विगृह्य येऽत्र प्रतिलोमगाः स्थिता नयामि तांस्तान्यमसादनं प्रति ।
वशस्थिता[4] ये परिपालयामि तान् स्थिता प्रतिज्ञा महतो ममेदृशी ॥ १५ ॥
कृतापराधेषु हि ये क्षमान्विताः क्षमावतस्तान्पुरुषान्विदुर्बुधाः ।
गुणेषु विन्यस्तधियां कृतागसां विचेष्टते दैवकृतैव सा क्षमा ॥ १६ ॥

क्षमा-याचना

हे प्रभो ! आपने मनसे भी हमारा कभी कुछ न बिगाड़ा था, तो भी नीच-कार्य करनेमें कुशल हम दुरात्माओंने आपके प्रति महान् नीच अपराध किया है। किन्तु हम जीवित रहना चाहते हैं, इसी आशासे हम आपकी शरणमें आये हैं, हे नाथ ! इस समय हम पतितोंपर दया करिये और क्षमा करके प्रसन्न होइये ॥ १३ ॥

क्षमा वीरस्य भूषणं

राजा वरांगने जब अपनी सौतेली माताको आती देखा; तो 'आप इस प्रकार अनुचित विनय न करें' इन शब्दोंकी आवृत्ति करते हुए आसन छोड़कर उसका स्वागत करते हुए मस्तक झुकाकर प्रणाम किया था। सुषेणपर अपना बन्धु-स्नेह प्रकट करनेकी अभिलाषासे उसके शिर, पीठ आदि अंगोंको हाथसे थप-थपाकर तथा कूटनीतिज्ञ मंत्री धीवर को 'आप किसी भी रूपसे भय न करें' कहकर धैर्य बँधाया था ॥ १४ ॥

नीति-घोषणा

जिन लोगोंने इस धरापर मेरे विरुद्ध आचरण किया है, अथवा मुझसे संग्राम करनेका दुस्साहस किया है मैं भी उन सबको चुन-चुनकर यमके नगरमें भेज देता हूँ। किन्तु जो मेरी आज्ञानुसार आचरण करते हैं मैं प्रत्येक दृष्टिकोणसे उनका पालन-पोषण करता हूँ ॥ १५ ॥

बस यह मेरी बड़ी भारी दृढ़ प्रतिज्ञा है। जो साधु स्वभावी पुरुष उन व्यक्तियोंको भी क्षमा कर देते हैं जिन्होंने उनके प्रति अक्षम्य अपराध किये थे, उन सज्जन प्राणियोंको ही विवेकी महानुभाव क्षमाशील कहते हैं। किन्तु घातक अपराध करनेवालोंके साथ भी; जो विशेष व्यवहार इसलिए किया जाता है क्योंकि वे अपराधी भी अनेक गुणों और कलाओंके भण्डार हैं ॥ १६ ॥

१. म तमुत्थितो। २. म प्रकथा। ३. क देवरं। ४. म यशस्थिता।

वराङ्गवाक्चन्दनतोयबिन्दुभिस्त्रयः समाप्यायितमानसास्तदा ।
प्रहर्षफुल्लाननपङ्कजाः पुनर्व्यपेतशोकाः स्वगृहं ततो ययुः ॥ १७ ॥
गतेषु तेषु त्रिषु मित्रभावतः प्रतापदाक्षिण्ययशोबलान्वितः ।
स्वयं जगामोदधिवृद्धिना सह पितुः सकाशं खलु कार्यवत्तया ॥ १८ ॥
यथोचितन्यायपथेन संश्रितः प्रणम्य पादौ पितुरायतश्रियः ।
मनोभिसंधारितकार्यगौरवः कृतावकाशं शनकैर्व्यजिज्ञपत् ॥ १९ ॥
प्रशास राजन्स्वकुलोचितां महीं सुषेण एषोऽपि तदर्धभाक्पुनः ।
अहं च राज्ये विनियोजितस्त्वया नृपाः पुरेऽस्मिन्कथमासते त्रयः ॥ २० ॥

ऐसी क्षमाको तो दैवकृत क्षमा ही समझना चाहिये।' युवराज वरांगके नीतिपूर्ण उदार वाक्योंरूपी चन्दन-जलकी बूँदोंसे सुषेण-माता, सुषेण तथा धीवरमंत्री इन तीनोंके मन अत्यन्त शीतल हो गये थे, उनके मुख कमल हर्षातिरेकके कारण विकसित हो उठे थे। इसके अतिरिक्त उनकी अनिष्टकी आशंका तथा शोक समूल नष्ट हो गये थे। वे सब निश्चित होकर अपने-अपने महलोंको लौट गये थे ॥ १७ ॥

पुरुषार्थ निश्चय

युवराजके अनुपम क्षमाभावने सुषेण आदि तीनोंके हृदयोंको मैत्रीभावसे रंग दिया था। अब वे भी युवराज वरांगको अपना सच्चा हितैषी मानते हुए लौट गये थे। तो वह अपने धर्मपिता सेठ सागरवृद्धिके साथ आगे करणीय विशेष कार्योंके विषयमें मतविनिमय करनेके लिए अपने पिता महाराज धर्मसेनके पास गया था। कारण, वही उसके वीरोचित कार्य करनेका समय था क्योंकि उस समय उसके प्रताप, नीतिनिपुणता, कीर्ति तथा सैन्य, मंत्र आदि शक्तियाँ अपने मध्याह्नको प्राप्त हो चुकी थीं ॥ १८ ॥

विशाल तथा विस्तृत लक्ष्मीके अधिपति पिताके समक्ष युवराज वरांग शास्त्रोक्त मर्यादा तथा शिष्टाचारपूर्वक उपस्थित हुए थे। वहाँ पहुँचकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके उचित आसनपर बैठ गये थे और मन ही मन करणीय कार्योंके महत्त्वके विषयमें ऊहापोह करते रहे थे। जब महाराज अन्य कार्योंसे निवृत्त हो गये थे तब उन्होंने धीरे-धीरे अपने कार्यके विषयमें निवेदन किया था ॥ १९ ॥

युक्तिसंगत प्रश्न

हे महाराज ! अपने पूर्वजोंके समयसे चले आये इस उत्तमपुर राज्यपर आपके श्री चरणोंका शासन है ही। मेरे सौतेले भाई सुषेणका भी आधे राज्यपर जन्मसिद्ध अधिकार है। इसके सिवा आप सब लोगोंके गुरुचरणोंने मुझे भी इस पदपर नियुक्त कर दिया है। इस प्रकार वर्तमानमें तीन राजा यहाँ वर्तमान हैं। अब आप ही बतावें कि एक ही नगरमें तीन राजा एक साथ कैसे रह सकते हैं ॥ २० ॥

आदाय तन्मानुषवर्जितं वनं निवेशयिष्यामि तवाभ्यनुज्ञया ।
यदि प्रसादो मयि विद्यते प्रभो विमुञ्च मा भूदुपरोध एष ते ॥ २१ ॥
निशम्य पुत्रस्य वचो महीपतिर्जगाद वाक्यं हृदयङ्गमाक्षरम् ।
त्वमेव पुत्रः शरणं गतिश्च मे विहाय यातुं न हि मामतोऽर्हसि ॥ २२ ॥
य एवमुक्तो जनकेन सोऽभ्यधादवैमि राजन्ननुरागमात्मनि ।
तथापि मे बुद्धिरियं विजृम्भते ह्यपूर्वदेशग्रहणाय शाधि माम् ॥ २३ ॥
इति ब्रुवन्तं गमने दृढव्रतं विबुध्य राजा प्रियमात्मनः सुतम् ।
मनोरथानां परिवृद्धिसंपदस्तवाचिरात्सन्त्विति मुक्तवान्सुतम् ॥ २४ ॥

हे जनक ! यदि आपकी आज्ञा हो तो आपके श्राचरणोंके प्रसादसे मैं अपने राज्य भागमें वर्तमानमें मनुष्योंकी बस्तियों-से सर्वथा रहित वनको ही लेकर वहाँ पर नये नगरोंको बसाऊँगा। यदि आपका मुझपर सत्य स्नेह है तो मुझको जानेकी आज्ञा दीजिये, किसी भी कारणसे मुझको रोकिये मत ॥ २१ ॥

पितृ-वात्सल्य

पुरुषार्थी पुरुषसिंहके लिए सर्वथा उपयुक्त पुत्रके वचनोंको सुनकर महाराज धर्मसेनने उत्तर दिया था उसका एक-एक शब्द हृदयमें घर लेता था 'हे पुत्र ! वास्तवमें तुम ही मेरे पुत्र कहे जा सकते हो, वृद्धावस्थामें मुझे तुम्हारा सहारा है और तुम्हीं मेरे जीवनके अन्तिम दिनोंका भलीभाँति निर्वाह कर सकते हो। इन सब कारणोंसे मुझे छोड़कर कहीं और चला जाना तुम्हें शोभा नहीं देता है ॥ २२ ॥

पूज्य पिताके हृदयसे निकले शब्दोंको सुनकर युवराज वरांगने इतना ही कहा था 'महाराज' ! मुझे ज्ञात है कि आप मुझपर कितना अधिक स्नेह करते हैं। तो भी मेरी बुद्धि रह-रहकर इसी दिशामें जाती है। अतएव आपसे निवेदन है कि आप मुझे नूतन देशोंको जीतनेकी आज्ञा अवश्य दे दें ॥ २३ ॥

दिग्विजय-अनुज्ञा

युवराज वरांगके इन वचनोंसे राजाको स्पष्ट आभास मिल गया था कि उनके प्राणप्रिय पुत्रने विजय यात्रापर जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया था। तब उन्होंने प्रकट रूपसे भी कह दिया था 'हे पुत्र! तुम्हारी राज्य, आदि सब ही लक्ष्मियाँ दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ें तथा तुम्हारे समस्त मनोरथ शीघ्रसे शीघ्र पूर्ण होवें ॥ २४ ॥

ततो वराङ्गः पितरौ प्रणम्य तौ विमुच्य सर्वान्स्वजनान्यथाक्रमम् ।
कृतानुयात्रान्मुदितैर्महाजनैर्ययौ महर्द्ध्या नगरादथोत्तमात् ॥ २५ ॥
पितुर्नियोगाद्बरयोधमन्त्रिणो विपश्चितोऽथागमसागरान्तगाः ।
अनुप्रयाताः सुतराज्यदुर्धराः प्रयातमत्तं[1] मदगर्वितां द्विषाम् ॥ २६ ॥
मुहूर्तनक्षत्रविलग्नसंपदं विलोक्य सद्भिः सह चारुविग्रहः ।
मुदा प्रतीतः कमलायतेक्षणो नगेन्द्रमापन्मणिमन्तमीश्वरः[2] ॥ २७ ॥
सरस्वती नाम नदी च विश्रुता मणिप्रभावान्मणिमान्महागिरिः ।
तयोर्नदीपर्वतयोर्यदन्तरे बभूव चानर्तपुरं पुरातनम् ॥ २८ ॥

आज्ञा मिलते ही युवराज वरांगने चरणोंमें प्रणाम करके अपने धर्मपिता तथा पिता दोनोंसे विदा ली थी। इसके उपरान्त क्रमशः सब ही सगे सम्बन्धियोंसे भेंट करके उनसे भी जानेकी अनुमति प्राप्त की थी।

सहयात्री चयन

इस सबसे निवृत्त होकर उसने उन्हीं लोगोंको अपने साथ जानेकी आज्ञा दी थी जो कि प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक उसका साथ देना चाहते थे। जब सब तैयारियाँ हो चुकीं तो बड़े वैभवके साथ उसने उत्तमपुरसे प्रयाण किया था॥ २५ ॥

महाराज धर्मसेनकी आज्ञासे अनुभवी तथा कुशल सेनानायक, योद्धा, मंत्री तथा आगमोंरूपी समुद्रोंके पारंगत असाधारण विद्वान, जो कि पुत्रके नतन राज्यके भारको सहज ही सम्हाल सकते थे, ऐसे यह सब कर्मचारी उसके पीछे-पीछे गये थे॥ २६ ॥

श्रेष्ठ मुहूर्त, अनुकूल नक्षत्र और विशेष लग्न आदिको देखकर, प्रभुता और वैभवके अहंकारसे उन्मत्त शत्रुओंके साक्षात् कालने ही विजय प्रयाण किया था। श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ विजयको निकले हुए राजा वरांगका आन्तरिक हर्ष अपने आप बाहर प्रकट हो रहा था, उसके स्वभावसे सुन्दर शरीरकी कान्ति अनुपम थी तथा कमलोंके समान बड़ी-बड़ी आँखें देखते ही बनती थी। वह प्रयाण करता हुआ मणिमन्त पर्वत पर जा पहुँचा था॥ २७ ॥

आनर्तपुरका पुनःस्थापन

सरस्वती नामकी नदी अत्यन्त प्रसिद्ध थी तथा मणियोंकी छटासे प्रकाशमान मणिमन्त महापर्वत भी उस समय सर्वविश्रुत था। इस सरस्वती नदी और मणिमन्त गिरि इन दोनोंके बीचमें जो विशाल अन्तराल है उसी भूमिपर प्राचीन समयमें आनर्तपुर बसा हुआ था॥ २८ ॥

१. क प्रयातमात्तं, [°मस्तं · °गर्वितद्विषाम्]। २. म नरेन्द्रमापन्मणिमन्त्रमीश्वरः।

पुरा यदूनां विहगेन्द्रवाहनो जनार्दनः कालियनागमर्दनः ।
रणे जरासन्धमभीर्निहत्य यन्ननर्तवान्नर्तपुरं ततोऽभवत् ॥ २९ ॥
वराङ्गराजो मृगराजविक्रमो जितारिपक्षो विजितेन्द्रियः स्वयम् ।
अनन्तनामप्रमुखैः स्वमन्त्रिभिः सुमन्त्र्य सम्यग्बहुनीतिपारगैः ॥ ३० ॥
पुरापि यत्कालपरंपरागमान्नरेन्द्रसंक्षोभविशेषजर्जरम् ।
समीक्ष्य तद्वस्तुविदा प्रदर्शितं निवेशयामास पुरं स पूर्ववत् ॥ ३१ ॥
पुरस्य बाह्यं गिरिकूटसंकटैस्तडागवापीपृथुदीर्घिका[1]ह्रदैः ।
विबुद्धपद्मैः कलहंसमालिभी रराज सोद्यानवनैः समाकुलम् ॥ ३२ ॥
बभूव यस्मिन्परिखा समुद्रवद्गिरिप्रकाशः परिवेष्टितश्च यः ।
हिमाद्रिकूटोपममास गोपुरं शरत्सिताभ्रप्रतिमा गृहावली ॥ ३३ ॥

पक्षियोंका राजा गरुड़ जिनका वाहन है तथा यमुना नदीमें कूदकर जिन्होंने भीमकाय कालिया नागका वध किया था उन्हीं यदुवंश शिरोमणि नारायण श्रीकृष्णजीने आक्रमण करके जिस स्थानपर पहिले युगमें जरासंधका वध किया था तथा विजयोल्लासमें मस्त होकर वहीं पर नृत्य किया था इसी कारण उस स्थान पर बसाये गये नगरका नाम आनर्तपुर पड़ गया था ॥ २९ ॥

मृगोंके राजा सिंहके समान पराक्रमी, इन्द्रिय जेता तथा समूल नाश करके शत्रुपक्षके विजेता राजा वरांगका ध्यान जब उक्त इतिहासके ज्ञाताओंने, उस पौराणिक स्थानकी ओर उसका आकृष्ट किया तो उसने उसे स्वयं देखकर जाना समझा था ॥ ३० ॥

कि किसी समयकी वह सुसम्पन्न नगरी कालक्रमके अनुसार शत्रु राजाओंके भीषण क्षोभसे उत्पन्न आघातोंके कारण जर्जर होकर मिट्टीमें मिल गयी थी। राजनीति शास्त्रोंके पारंगत तथा सूक्ष्म विचारक अनन्तसेन आदि अनुभवी मंत्री उसके साथ ही थे, अतएव उनके साथ शान्तिपूर्वक परामर्श करके राजा वरांगने उस स्थानपर पहिलेके ढंगसे ही नगर निर्माण कराया था ॥ ३१ ॥

नगर वर्णन

नूतन नगरके बाहरके भागकी शोभा भी अद्भुत ही थी, क्योंकि उसके चारों ओर कृत्रिम तथा अकृत्रिम दोनों प्रकारके पर्वतोंकी शिखरोंकी बाढ़ सी खड़ी थी। तालाब, बावड़ी, बड़ी-बड़ी दीर्घिकाएँ तथा छोटे-छोटे जलाशयोंने उस सारे प्रदेशको घेर रखा था, इन जलाशय आदिमें सुन्दर कमल खिले थे, जिनपर सुन्दर तथा मधुरभाषी हंसोंके झुंड खेल रहे थे ॥ ३२ ॥

इस नगरको चारों ओरसे घेरकर खोदी गयी खाई समुद्रके समान गहरी और चौड़ी थी। उस नगरका विशाल प्राकार

---

१. म दीर्घिता°।

सभाप्रपादेवगृहाश्रमाश्रयं विभक्तनानात्रिचतुष्कचत्वरम् ।
पुरं विशालं [1]वृतिलोचनप्रियं बभौ सदोद्घाटितविश्रुतापणम् ॥ ३४ ॥
पुरस्य मध्ये प्रविभक्तभूतले समुन्नते श्रीमति वीरवस्तुनि ।
सुखावलोके बहुशिल्पिनिर्मितं रराज तद्राजगृहं महर्द्धिमत् ॥ ३५ ॥
सभागृहं वासगृहं रहोगृहं जलाग्निदोलागृहनन्दिवर्धनम् ।
महानसं सज्जनमण्डनाह्वयं त्रिपञ्चषट्सप्तनवाष्टभूमिकम् ॥ ३६ ॥
गजाश्वशालायुधगेहपङ्क्तयः सुवर्णधान्याम्बरभेषजालयाः[2] ।
पृथक्पृथग्भाण्डविकल्पतस्तदा सुसंस्कृता राजगृहे समन्ततः ॥ ३७ ॥

(परकोटा) पर्वतके समान उन्नत और अभेद्य था। नगरका विशाल तथा उन्नत प्रवेशद्वार तो हिमाचलके उन्नत शिखरका स्मरण करा देता था। शरद ऋतुमें अत्यन्त निर्मल हुए मेघोंके तुल्य ही उस नगरके गृहोंकी छटा थी ॥ ३३ ॥

वह नगर विशाल सभा, प्रपा, देवालयों तथा शिक्षा आदिक आश्रमोंसे परिपूर्ण था। पूरेका पूरा नगर एक दो मार्गोंसे नहीं अपितु त्रिकों (तिमुहानो), चौराहों तथा चौपालोंमें बँटा हुआ था। उस नगरके जगद्विख्यात बाजार सदा ही खुले रहते थे। उस नगरकी चर्चा सुननेपर कानोंको सन्तोष होता था तथा देखनेपर तो आँखें जुड़ा जाती थीं ॥ ३४ ॥

राजप्रासाद

आनर्तपुरके बीचोंबीच एक उन्नत स्थान था, जो कि अपनी प्राकृतिक विशेषताओंके कारण नगरकी समस्त बस्तियोंसे अलग ही दिखता था, उसकी शोभा ऐसी अद्भुत थी कि उसके कारण ही वह वीरोंको प्रिय वस्तु हो गया था। तथा नगरके किसी भी भागसे वह आसानीसे देखा जा सकता था। इसी स्थानपर सुकुशल अनेक शिल्पियोंने अथक परिश्रम करके विशाल राजमहलको बनाया था जो कि अपनी अप्रतिम सम्पत्ति के कारण सुशोभित हो रहा था ॥ ३५ ॥

निवासगृह, रहोगृह (गुप्त-मंत्रणाका स्थान) दोलागृह, जलगृह, अग्निगृह, शिष्ट पुरुषोंके उपयुक्त मण्डनगृह, नन्दिनगृह, नन्दिवर्धन (धर्मोत्सव गृह) महानस (पाकालय) तथा विशाल सभाभवन में बने हुए थे। यह सब भवन यथायोग्य रूपसे तीन, पाँच, छह, सात, नौ तथा आठ भूमि (मंजिल) युक्त थे ॥ ३७ ॥

राजमहलके चारों ओर विशाल गजशाला, अश्वशाला तथा आयुधागारकी पंक्तियाँ खड़ी थीं। कोशगृह, धान्यगृह, वस्त्रशाला, तथा औषधालय विस्तारपूर्वक बनाये गये थे, इन गृहोंमें प्रत्येक वस्तुका तथा उसके भेदोपभेदोंका ख्याल करके अलग अलग भाग बनाये गये थे। इन सबका आकार तथा माप पूर्णरूपसे वैज्ञानिक था ॥ ३७ ॥

---

१. [श्रुति०, स्मृति०]। २. म भैषजालयाः ।

नरेन्द्रगेहोत्तरदिक्प्रतिष्ठितो जिनेन्द्रगेहो मणिरत्नभासुरः ।
चलत्पताको ध्वजवृन्दसंकुलः सहस्रकूटोत्कटसंकटोऽभ्यभूत् ॥ ३८ ॥
नृपस्य पुण्योदयतो महाजनः समन्ततः प्रश्रुतवान्समागमत् ।
महाटवीग्रामसहस्रसंकटो वनं त्वभूद्गोव्रजसंनिवेशितम्[1] ॥ ३९ ॥
तपोधनानां निलया वनान्तरे शिलालयाः कृत्रिमरम्यभूतलाः ।
महापथोपान्तविरूढपादपाः क्वचिज्जलोपाश्रितफुल्लवल्लिकाः ॥ ४० ॥
क्वचित्सगोधूमयवातसीतिलाः क्वचिच्च केदारविपक्वशालयः ।
क्वचित्पुनर्वीहिसमाकुला मही क्वचिच्च मृद्वीक्षुवनं व्यराजत ॥ ४१ ॥

राजमहलकी उत्तर दिशामें एक विशाल जिनालयकी रचना, मणियों और रत्नोंसे की गयी थी। इस जिनालयकी छटा बड़ी ही आकर्षक थी। उसके ऊपर विशाल पताका लहरा रही थी। चारों ओर लगी हुई छोटी-छोटी ध्वजाओंका दृश्य भी अद्भुत तथा उसके ऊपर बने हुए हजारों शिखरोंने तो पूरेके आकाशको घेर लिया था। ३८ ॥

श्रीदेवालय

राजा वरांगके पूर्व पुण्यके उदयके प्रतापसे जब आनर्तपुरके बसनेका समाचार चारों ओर फैला तो उसे सुनते ही सब दिशाओंसे महासम्पत्तिशाली सज्जन लोग उस नगरको चले आये थे। कुछ समय पहिले सघन हजारों जंगलोंके कारण जिस प्रदेश मेंसे निकलना भी कठिन था, थोड़े समय बाद उसी स्थलकी शोभाको ग्राम, नगर तथा ग्वालोंकी अनेक बस्तियाँ बढ़ा रही थी ॥ ३९ ॥

पुण्य-प्रताप

गहन वनोंके मध्यमें कहीं-कहीं पर तपस्वियोंके आश्रम बने थे। इन आश्रमोंकी कुटियाँ शिलाओंसे बनी थीं तथा उनके धरातल बढ़िया और सुन्दर फर्श करके बनाये गये थे। पर्वतोंके ऊपर राजाकी आज्ञासे हरी भरी समतल भूमिका बनायी गयी थी जिनकी रमणीयता अलौकिक ही थी। जंगलोंको काटकर विशाल राजमार्ग बनाये गये थे जिनके दोनों ओर वृक्ष खड़े थे। अन्य स्थलों पर सुन्दर जलाशयोंके चारों ओर मनोहर लताएँ फूल रही थीं ॥ ४० ॥

कहीं पर गोधूम (गेहूँ) अतसी, तिल तथा जौके खेत खड़े थे, इनके आस-पास ही खलिहान (केदार) थे जिनमें पक जाने पर कटा हुआ धान इकट्ठा किया गया था, दूसरी ओर धानके खेतोंकी पंक्तियाँ लहलहा रही थीं तथा अन्य ओर मधुर इक्षुके बनसम घने खेत खड़े हुए थे ॥ ४१ ॥

१. क °संनिवेशितुम् ।

सरांसि शालीं जहसुः स्वपङ्कजैः विबुद्धपत्रैरिव चारुविग्रहैः ।
ह्रियोत्तमाङ्गान्यवनम्य शालयः स्थिता इव स्थूलतया चकासिरे ॥ ४२ ॥
क्वचिच्च नार्यः कमलायतेक्षणाः पिधाय कुम्भान्कुमुदोत्पलाम्बुजैः ।
सुमङ्गलायैव कृतप्रसादना[1]ज्ज्वलत्प्रबभ्रुविलसत्पयोधराः ॥ ४३ ॥
पथिश्रमाः[2] काञ्चनविभ्रमाञ्चिताः प्रसज्य कण्ठे वनिताः स्वयं ययुः ।
परस्परं ग्रामसहस्रदर्शिनो निपेतुरभ्यर्णतया हि कुक्कुटाः[3] ॥ ४४ ॥
उपद्रवासद्भयदोषवर्जनात्प्रदानमानोत्सवमङ्गलोद्यमात् ।
प्रभूतभोगार्थविशेषसंपदः कृतार्थतां तत्र जनाश्च मेनिरे ॥ ४५ ॥

नगर समृद्धि

विशाल जलाशयोंमें कमल खिले थे उनके बड़े-बड़े सुन्दर पत्ते पूरेके पूरे तालाबोंको ढककर उनकी शोभाको अन्तिम उत्कर्ष तक ले गये थे। फलतः जलाशयोंको देखने पर ऐसा मालूम होता था कि वे अपनी उक्त सम्पत्तिके द्वारा धानके खेतोंकी हँसी कर रहे हैं। फल सम्पत्तिके भारसे झुके हुए धानके पौधे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों लज्जासे उन्होंने अपने शिर को ही झुका लिया है ॥ ४२ ॥

कहींपर कुल ललनाएँ कुमुद तथा कमलोंके द्वारा कलशोंके मुखोंको ढककर इसीलिए जल भरकर ले जा रही थीं कि देखनेवालोंको भी शकुन हो जाये। उनके सुन्दर नेत्र कमलोंके समान बड़े-बड़े थे, कुटिल भ्रकुटियों तथा उन्नत स्तनोंकी रूपलक्ष्मी तो देखते ही बनती थी। ऐसा असीम सौन्दर्य होनेपर भी वे शृंङ्गार भी किये थीं ॥ ४३ ॥

श्रमिक नागरिक

सोने तथा मोती-मूंगाके आभूषणोंसे भूषित वे सुकुमारियां मार्ग चलते-चलते थक जाती थीं फलतः आपसमें सहारा लेनेकी इच्छासे वे गलेमें हाथ डालकर चली जा रही थीं। हजारों ग्रामोंको देखते हुए घूमनेवाले कुर्कुट (पक्षी-पुरुष) एक दूसरेको देखने की अभिलाषासे ही आसपासके अपने स्थानोंको छोड़कर वहाँ जा पहुँचे थे ॥ ४४ ॥

ईतभीति नहि व्यापे

आनर्तपुर सब प्रकारके उपद्रवोंसे परे था, किसी अनुचित भयको वहाँ स्थान न था, व्यसन आदि दोषोंमें फसनेकी आशंका न थी। वहाँ पर सदा ही दान-महोत्सव, मान-सत्कार तथा विविध उत्सव चलते रहते थे। भोग तथा परिभोगकी प्रचुर सामग्री प्राप्त थी, सम्पत्तिकी तो कोई सीमा ही न थी। इन सब सुविधाओंके कारण वहांके निवासी अपने जन्मको सफल समझते थे ॥ ४५ ॥

१. [कृतप्रसाधना जलं]। २. [पथिश्रयाः]। ३. म कुकुंटाः ।

सुखोपभोगात्सुजनः कुरूपमो धनागमैरप्रतिमैः सदाकरः ।
प्रदानमानप्रशमोपचारतो विदेहदेशेन समानतां ययौ ॥ ४६ ॥
व्रजास्तु ते ग्रामसमानतां गताः पुरोपमा ग्रामवरास्तदाभवन् ।
पुरं जहासेव च वज्रिणः पुरं रराज शक्रप्रतिमो महीपतिः ॥ ४७ ॥
पुराकरग्राममडंबपत्तनेष्ववाप वृद्धिं क्रमशो जनार्णवः ।
मुदं महीन्द्रो महतीमवाप्नुवान् पुरात्मसंस्कारितपुण्यकर्मणा ॥ ४८ ॥
ततः स जित्वाम्बुधिमेखलां धरां यशोवितानस्थगिताम्बरावधिः ।
सुरेन्द्रवच्चारुमहर्द्धिशोभितो रराज राजाप्रतिमोरुपौरुषः ॥ ४९ ॥

आनर्तपुरके निवासियोंको किसी भी प्रकारके सुखों और भोगोंकी कमी न थी, अतएव वे सब कुरुक्षेत्र (भोग-भूमि) के पुरुषोंके समान हृष्ट-पुष्ट तथा सुन्दर थे। उनकी सम्पत्ति खानोंसे निकालनेवाली वस्तुओंके समान दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती थी। वे सबके सब दानशील, सत्कार परायण तथा शान्त स्वभावी थे। नगर-निवासियोंकी इन विशेषताओंके कारण वह नगर पूर्णरूपसे विदेह देशके समान था ॥ ४६ ॥

धार्मिक राजाका सम्पन्न राज्य

कृषकों, ग्वालों आदिकी छोटी-छोटी वस्तियां राजा वरांगके उस नूतन राज्यमें ग्रामों की समानता करती थीं। धन-जनसे परिपूर्ण ग्राम भी नगरतुल्य हो गये थे। और नगरका तो कहना ही क्या, वह अपनी सम्पन्नताके कारण वज्रधारी इन्द्रकी अलकापुरीका भी उपहास करता था ॥ ४७ ॥

इन सब सम्पत्तियोंसे घिरा हुआ राजा वरांग मूर्तिमान इन्द्रके सदृश था। नूतन राजाके राज्यके नगरों, आकर (औद्योगिक नगरों) ग्रामों, मडंब तथा जलमार्गोंपर बसे पत्तनोंमें जितने भी नागरिक रहते थे, उस समस्त जनताकी क्रमशः सर्वतोमुखी प्रगति हो रही थी। अथवा यों कह सकते हैं कि राजा वरांग; पूर्वभावोंमें आचरित अपने शुभ कर्मोंके फलोन्मुख होने के कारण उक्त प्रकारकी समृद्धिका मूल हेतु होकर विशाल आनन्दका उपभोग कर रहा था ॥ ४८ ॥

प्रबल पुरुषार्थी राजा वरांग केवल देश बसा कर ही संतुष्ट न हो गया था अपितु उसने समुद्ररूपी मेखलासे घिरी हुई विशाल भूमिको भी जीता था। उसके यशके विशाल विस्तारने सारे आकाशको व्याप्त कर लिया था। वह स्वयं इन्द्रके समान तेजस्वी तथा सुन्दर था तथा उसका विपुल वैभव भी उसे इन्द्रके समान बनाता था ॥ ४९ ॥

१. म °स्थनिता° ।

नृपश्च निर्वर्तितकार्यनिश्चयः सहासितः प्राज्ञतमैश्च मन्त्रिभिः ।
विचिन्तया सागरवृद्धिना कृतं नृपाभिषेकाय तदाशि[1]संमुदा ॥ ५० ॥
निशम्य राज्ञो वचनं वणिक्पतिः प्रसादमात्मन्यवगम्य धीमतः ।
वणिक्तया दुर्लभतां नृपश्रियो हृदि प्रकुर्वन्निदमभ्यधाद्वचः ॥ ५१ ॥
नृपाभिषेको नृप नः पुरातनैरनाप्तपूर्वः कुलसंततिस्त्वयम् ।
कुलोचितं मार्गमपोह्य मे पुनर्नवेन मार्गेण गतिर्न शोभते ॥ ५२ ॥
अथेवमुक्तश्च समुद्रवृद्धिना तमब्रवीन्नान्यदिहोच्यतां त्वया ।
सुतो नृपस्तस्य पिता वणिक्किल इति प्रहास्यं भुवि किं न बुध्यसे ॥ ५३ ॥

राजा वरांगने जिन-जिन कार्योंके करनेका निश्चय किया था उन्हें पूरा कर चुके थे । अतएव एक दिन सुखपूर्वक प्रखर प्रतिभाशाली मंत्रियोंके साथ बैठे हुए मन ही मन उन सब उपकारोंको सोच रहे थे जो उनके ऊपर सेठ सागरवृद्धिने किये थे । उन सबका ध्यान आते ही कृतज्ञता ज्ञापन करनेके एक अवसरको सामने देखकर वे आनन्दसे खिल उठे थे और उन्होंने मंत्रियों की सम्पतिपूर्वक सार्थपतिके राज्याभिषेककी आज्ञा दी थी ॥ ५० ॥

उपकारसे अनृणता

राजाके उदारतापूर्णक प्रस्तावको सुनते ही सार्थपति सागरवृद्धि सरलतापूर्वक यह समझ सके थे कि बुद्धिके अवतार राजा वरांगका उसपर कितना अनुग्रह था । किन्तु वे यह भी जानते थे कि वणिक् होनेके कारण वे राज्यलक्ष्मीके उपयुक्त नहीं हैं, इसी विचारको ठीक समझते हुए उन्होंने राजाको उत्तर दिया था ॥ ५१ ॥

'हे राजन् ! मेरे वंशमें उत्पन्न हुए मेरे किन्हीं भी पूर्वजोंने इसके पहिले कभी भी राज्याभिषेक करानेके सौभाग्यको प्राप्त नहीं किया है । अतएव मेरे कुलमें अनादिकालसे जो परम्परा चली आ रही है उसे त्याग कर मेरी पीढ़ी अर्थात् मैं किसी नूतन मार्ग (राजा होकर) से चलूँ यह मुझे किसी भी अवस्थामें शोभा नहीं देता है ॥ ५२ ॥

सार्थपति सागरवृद्धिके इस बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तरको सुनकर राजा वरांगने आग्रह पूर्वक यही निवेदन किया था 'आप इस विषयमें और अधिक कुछ भी न कहें । थोड़ा सोचिये. जिसका लड़का सर्वमान्य राजा है उसका पिता वणिक है, इस बात को जो भी इस पृथ्वीपर सुनेगा वही जो भरके हँसेगा । क्या आप इस ओर ध्यान दे रहे हैं ? ॥ ५३ ॥

१. [तदादिशन्मुदा] ।

ततः प्रसह्यर्द्धिसमन्वितं नृपः सचामरं विष्टरमुच्छ्रितातपम् ।
ददौ नृपत्वं स समुद्रवृद्धये भवान्विदर्भाधिपतिर्भवत्विति ॥ ५४ ॥
समुद्रवृध्यग्रसुताय धीमते ददौ धनाख्याय महीं सकोशलाम् ।
कलिङ्गराष्ट्रं करिवृन्दसंकटं वसूक्तये संप्रददौ कनीयसे ॥ ५५ ॥
अनन्तनाम्ने स्थिरसत्त्वबुद्धये दिदेश देशं प्रथितं हि पल्लवम् ।
सकाशिभूमिं विबुधाय मन्त्रिणे सुचित्रसेनाय च वैदिशं तथा ॥ ५६ ॥
अमातिराष्ट्रं त्वजिताय संददौ प्रतिप्रधानाय च मालवाह्वयम् ।
स्वबन्धुशिष्टेष्टजनोपसेवितां यथानुरूपं प्रविभक्तवान्महीम् ॥ ५७ ॥

इस प्रकार निवेदन करनेके पश्चात् राजा वरांगने सेठ सागरवृद्धिके विरोधका विचार न करके बलपूर्वक, असीम ऋद्धिसे परिपूर्ण, निर्मल धवल छत्र, चंचल चमर तथा उन्नत महार्घ आसनयुक्त राज्यपदको उन्हें समर्पित कर ही दिया था। संसारके समक्ष ही यह घोषणा कर दी थी 'श्रीमान् राजा सागरवृद्धि आजसे विदर्भ (वरार) के राजा हुए' ॥ ५४ ॥

राजा सागरवृद्धिके नीतिनिपुण ज्येष्ठ पुत्र जिनका शुभनाम धनवृद्धि था, उनको आग्रह करके कोशल (दक्षिण कोशल, वर्तमान महाकोशल—वरार रहित मध्यप्रान्त) का राज्य दिया था तथा कनिष्ठ पुत्र श्री वसूक्तिको उस कलिंग देशका शासक नियुक्त किया था जो सदा से अपने मत्त हाथियोंके लिए प्रसिद्ध है ॥ ५५ ॥

महामंत्री अनन्तसेनको राजा वरांगने सुप्रसिद्ध पल्लवदेवका राजा बनाया था, क्योंकि अपना दृढ़ पराक्रम तथा अटल निश्चय करनेमें सहायक स्थिरबुद्धिके कारण वे इसके लिए सर्वथा उपयुक्त थे। विशेष विद्वान् मंत्रिवर देवसेनको उन्होंने काशीके आसपासका राज्य दिया था तथा राज्यभार धारण करनेके लिए सुयोग्य श्री चित्रसेन मंत्रीको उन्होंने विदिशाके सिंहासन पर बैठाया था ॥ ५६ ।

बन्धु वत्सलता

श्री अजितसेन मंत्रीको अमातिराष्ट्र (अवन्तिराष्ट्र ? उज्जैन) का शासन सौंपा था, तथा मालव नामके सुसम्पन्न देशकी प्रधानता प्रतिप्रधानको दी थी। इस प्रकार से राजा वरांगने अपने बन्धु बान्धव, सुयोग्य शिष्ट पुरुष तथा हितैषी आदि इष्ट पुरुषोंके द्वारा सेवित विशाल धरित्रीको अपने बन्धु-मानव तथा प्रेमीजनोंमें उनकी योग्यताके अनुसार बाँट दिया था ॥ ५७ ॥

ततः सुषेणाय युवाधिपाय तां महीमपश्यन्नथ संविभाजितुम् ।
विमृश्य सस्मार यदृच्छया पितुः कृतापराधं च कुलाधिपं[1] तदा ॥ ५८ ॥
गुरुं मदीयं परिभूय दुर्दमो विनाश्य देशं प्रविलुप्य गोधनम् ।
विगृह्य योद्धुं पुनरागतो बलैः प्रवृद्धभोगोच्छ्रितमानदर्पितः ॥ ५९ ॥
तथैव शौर्यं त्वभिमानसंभवं तदस्ति चेद्योद्धुमिहैतु सांप्रतम् ।
उत प्रभावो न च तस्य विद्यते विमुच्य देशं वनमभ्युपेतु वा ॥ ६० ॥
इति प्रगर्ज्यात्मसखासमक्षतो व्यपेतसामं प्रतिलेख्य लेखकम् ।
वचोहरानाप्ततमान्मवस्विनः शशास सद्यश्च कुलाधिपान्तिकम् ॥ ६१ ॥

अपने लुप्त हो जानेपर युवराज पदपर बैठाये गये राजपुत्र सुषेणको भी वह विशाल राज्य देना चाहता था किन्तु उसके पास कोई ऐसा देश ही न रह गया था जिसे सुषेणके साथ बाँटता। एक दिन यों ही बैठा हुआ वह इसी समस्याका हल सोच रहा था कि उसे अकस्मात् वकुलेश्वरका स्मरण हो आया, जिसने उसके पीछे उत्तमपुर पर आक्रमण करके उस (वरांग) के पिताके साथ अक्षम्य अपराध किया था ॥ ५८ ॥

'जब मैं उत्तमपुरमें नहीं था उस समय अपनी बढ़ती हुई शक्ति और सम्पत्तिका वकुलेश्वरको इतना अहंकार हो गया था कि वह उसके उन्मादमें अपने आपको अजेय और दुर्दम समझने लगा था। परिणाम उह हुआ कि उसने मेरे पूज्य पिताकी अवहेलना ही नहीं की थी अपितु उत्तमपुर राज्यके काफी बड़े भागको नष्ट कर दिया था, जो धन आदिको लुटवा लिया था तथा चारों ओरसे अपनी सेनाके द्वारा घेरकर लड़नेके लिये आ पहुँचा था ॥ ५९ ॥

शत्रु मर्दन

यदि आज भी वैसा ही अभिमान है और उसके उन्मादसे उत्पन्न पराक्रमका भी वही हाल है तो दुर्दम वकुलेश्वर मुझसे लड़नेके लिए आनर्तपुरपर अब शीघ्र ही आक्रमण करें। अथवा यदि अब वह प्रभाव नहीं रह गया है तो उनके लिए अब एक ही मार्ग है कि वह शीघ्रसे शीघ्र अपने देशको छोड़कर वनको चले जांय ॥ ६० ॥

इन शब्दोंको कहते हुए ये अपनी राजसभामें बड़े जोरोंसे गर्जे थे तथा उसी समय वकुलेश्वरको पत्र लिखवाया था जिसमें 'साम' की छाया भी न थी। लेख प्रस्तुत हो जानेपर अपने अत्यन्त विश्वस्त दूतोंको आत्मगौरवके प्रतिष्ठापक वरांगराज तुरन्त ही वकुलाधिपकी राजधानीको भेज दिया था ॥ ६१ ॥

१. म वकुलाधिपं ।

असामयुक्तं प्रसमीक्ष्य लेखकं उपप्रदानाद्रहितं च शासनम् ।
निशम्य वाक्यं च वचोहरोदितं सदश्चकम्पे सहसैव साकुलम् ॥ ६२ ॥
कृतापराधादकृतात्मवीर्यतो निराश्रयान्निःप्रतिकारकारणात् ।
मृगेन्द्र निर्भर्त्सनतो मतङ्गजो यथाहवे विद्धि कुलाधिपस्तथा ॥ ६३ ॥
बलेन वित्तेन पराक्रमेण च महपतिभ्योऽतिमहान्महीपतिः ।
कृतार्थकृत्यस्त्वनवार्यवीर्यवान् किमत्र योग्यं वदतार्थचिन्तकाः ॥ ६४ ॥
स्वनाथवाक्यं हि निशम्य मन्त्रिणो हिताहितोपायविचारदक्षिणः ।
मनोहरं तच्च हितं मिताक्षरं स्वकार्यसिध्द्यर्थमुदाहरन्वचः ॥ ६५ ॥

वरांगराजके पत्रको वकुलेश्वरने भलीभाँत पढ़ा था किन्तु साम-मय उपायोंसे भी काम चल जायेगा: इसकी उसमें वे कहीं भी छाया तक न पा सके थे। पत्र द्वारा दिये गये शासन; पूर्ण राज्यको छोड़नेके सिवा कोई दूसरा विकल्प ही न था, इसके अतिरिक्त जब विद्वान दूतके मुखसे अन्य समाचार सुने तो वकुलेश्वरकी पूरीकी पूरी राजसभा ही अनागत भयसे काँप उठी थी ॥ ६२ ॥

त्रिभिर्मासैः

इसमें सन्देह नहीं कि उत्तमपुरके अधिपतिके साथ वकुलेश्वरने घातक अपराध किया था, उसकी अपनी सैन्य, कोश, आदि शक्तियाँ युद्धकर्षक वरांगराजसे लड़ने योग्य न थीं, उसके कोई प्रबल सहायक न होनेसे वह सर्वथा निराश्रय था तथा कोई ऐसी युक्ति न थी जिसके द्वारा उपस्थित संकट टल जाता, इन सब कारणोंसे युद्धके विकल्पको स्वीकार करनेमें वकुलाधिपकी वही अवस्था हो गयी थी जो कि हिरणोंके राजा सिंहकी गर्जना सुननेपर मदोन्मत्त गजकी हो जाती है ॥ ६३ ॥

जहाँतक चतुरंग सेना शक्ति, कोश तथा व्यक्तिगत पराक्रम और उत्साहशक्तिका सम्बन्ध था आनर्तपुराधीश वरांग-राज पृथ्वीके सब ही राजाओंसे इतना बड़ा है कि कोई तुलना ही नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त वह सब कार्योंमें दक्ष है, विक्रम तो उसका ऐसा है कि संसारकी सारी शक्ति तक उसे नहीं रोक सकती है। कार्य विचारमें दक्ष आप (मंत्री) लोग ही बतावें। इन परिस्थितियोंमें क्या करना सब दृष्टियोंसे उचित होगा ॥' ६४ ॥

वकुलेश्वरके मंत्री अपने स्वामीके लाभ और हानिको साधु रीतिसे विचार कर देखनेमें अत्यन्त कुशल थे, अतएव जब उन्होंने विपत्तिमें पड़े अपने राजाके वचनोंको सुना, तो उन्होंने अत्यन्त मनोहर ढंगसे राजाके कल्याणकी बातोंको व्यर्थ विस्तार से बचाकर गिने चुने शब्दोंमें प्रकट किया था। उनकी सम्मति ऐसी थी कि उसके आचरणसे स्वकार्यकी सिद्धि हो सकती थी ॥ ६५ ॥

सुखं हि साम्नैव तु कार्यसाधनं ह्युपप्रदानेन च मध्यमं भवेत् ।
प्रभेददण्डौ खलु मृत्युनाशगौ[1] चतुष्टयी वृत्तिरिहावतां महीम् ॥ ६६ ॥
अतो वरिष्ठा तनया मनोहरां प्रदाय सम्यग्विधिना महीपतेः ।
कृतैककार्याः सुखमास्महे वयं न चान्यथास्तोश्वर सन्धिकारणम् ॥ ६७ ॥
स्वमन्त्रिसंदर्शितनीतिचक्षुषा विचिन्त्य दीर्घं प्रविचार्य चात्मनि ।
प्रदातुकामो वरविग्रहाय तां निनाय पुत्रीमनवद्यरूपिणीम् ॥ ६८ ॥
निवेद्य चात्मागमनं महीपतेरनुज्ञया तस्य विवेश मन्दिरम् ।
विलोक्य सिंहासनमध्यधिष्ठितं ननाम मूर्ध्ना नमितात्मशत्रवे ॥ ६९ ॥

साम ही नीति है

'सामनीतिका अनुसरण करके कार्यको सिद्ध कर लेना सब दृष्टियोंसे सुखकर होता है। यदि शम संभव न हो तो 'दान' उपायका आश्रय लेना चाहिये, यद्यपि इसके द्वारा प्राप्त की गयी सफलता मध्यम ही होती है। भेद तथा दण्ड ये दोनों उपाय अभीष्ट नहीं हैं। कारण, इनका अवश्यंभावी परिणाम मृत्यु और नाश होता है। यही चार अंग हैं जो कि इस संसारमें पृथ्वीकी रक्षा कर सकते हैं ॥६६॥

अतएव हे महाराज! हमारी यही सम्मति है कि श्रेष्ठ गुणोंसे अलंकृत राजपुत्री मनोहराको शास्त्रानुकूल विधिसे आनर्तपुरेश्वर वरांगको व्याह देना चाहिये। इस उपायकी सहायतासे हमारा कार्य सिद्ध हो सकेगा और हम शान्तिसे जी सकेंगे। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है जो सन्धिका आधार हो सकता हो ॥ ६७ ॥

वकुलेश्वरके मंत्रियोंने समयोपयोगी सम्मति देकर उसकी नीतिरूपी आँखें खोल दी थीं जिसके प्रकाशमें उन्होंने काफी लम्बे समय तक ऊहापोह करके मनमें वही निश्चय किया था। और वरांगराजके साथ धार्मिक विधिसे व्याह देनेके अभिप्रायसे ही वह अपनी सर्वांग सुन्दरी राजदुलारीको आनर्तपुर ले गये थे ॥ ६८ ॥

वहाँ पहुँच जानेपर उन्होंने वरांगराजको अपने आनेका समाचार यथाविधि भेजा था। जब राजसभामें उपस्थित होने के लिए वरांगराजकी स्वीकृति मिल गयी तब ही उसने राजमहलमें प्रवेश किया था। तथा वहाँपर अपने शत्रुओंके मानमर्दक वरांगराजको विशाल सिंहासनपर विराजा देखते ही भूमिपर मस्तक झुकाकर उसको प्रणाम किया था ॥ ६९ ॥

---

१. क °नाशनौ। २. क वृत्तिहिवाहतां।

कुलोचितं राज्यमपोह्य मामकं विभज्य तावत्स्वमनोऽनुवर्तिने ।
कृ[1]तापराधस्तु मया सहस्व तं नृनाथ इत्येवमयाचत प्रभुम् ॥ ७० ॥
अनुप्रभाष्यैवमतीव नीतिविन्नरेन्द्रचित्तं वकुलेश्वरोऽहरत् ।
स्वभावभद्रः कृपया समन्वितो नृपः स तस्मै कृतवाननुग्रहम् ॥ ७१ ॥
प्रसादलाभात्परितुष्टमानसः कृतार्थतां तामवगम्य चात्मनः ।
मनोहरां मूर्तिमतीमिव श्रियं ददौ सुतां भूपतये मनोहराम् ॥ ७२ ॥
यया हि भूतिः[2] कनकावदातया मनोहरश्रोणिकुचप्रदेशया ।
नरेन्द्रपुत्र्या नरदेवसत्तमो न सा विभूतिर्गदितुं हि शक्यते ॥ ७३ ॥

'हे महाराज ! जो राज्य मेरे वंशमें कई पीढ़ियोंसे चला आ रहा है उस मेरे राज्यको आप अपनी इच्छानुसार किसी भी अपने आज्ञाकारीको बाँट दीजिये । किन्तु हे नरनाथ ! मैंने आपके पूज्य पिताजी पर आक्रमण करके जो आपके प्रति अपराध किया है उसे क्षमा कर दीजिये ।' इन शब्दोंमें वकुलेश्वरने वरांगराजसे क्षमा याचना की थी ॥ ७० ॥

इसमें सन्देह नहीं कि वकुलेश्वर राजनीतिमें बड़ा ही कुशल था इसीलिए ऐसी विनम्र प्रार्थना करके उसने वरांगराज के चित्तको प्रसन्न कर लिया था । वरांगराज तो स्वभावसे ही साधु थे, कृपा उनके रोम रोममें समायी थी । अतएव उन्होंने अपने स्वभावानुसार ही उस शत्रुको क्षमा कर दिया था ॥ ७१ ॥

'नम्रनावसानो हि'....

वकुलेश्वरका आत्मा भी ऐसी सरलतासे वरांगराज सदृश महाशक्तिशालीका अनुग्रह प्राप्त करके अत्यन्त संतुष्ट हो गया था । उसे अनुभव हुआ था कि वह अपने आरम्भ किये गये जटिल कार्यमें सफल हुआ है । इसके उपरान्त ही शरीरधारिणी लक्ष्मीके समान दर्शकोंके मनोंको बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट करनेमें समर्थ रूप तथा गुणवती 'मनोहरा' राजपुत्रीको उसने वरांगराजसे व्याह दिया था ॥ ७२ ॥

राजपुत्री मनोहराकी समचतुरस्रसंस्थानयुक्त देहका रंग तपाये गये विशुद्ध सोनेके समान था, उसका नितम्ब प्रदेश तथा उन्नत स्तन आपाततः मनको आकृष्ट करते थे । ऐसी राजपुत्रीसे संयुक्त होकर श्रेष्ठ वरांगराजकी जो शोभा और सम्पत्ति बढ़ी थी उसका अविकल वर्णन करना तो किसी भी विधिसे शक्य हो ही नहीं सकता है ॥ ७३ ॥

१. [कृतोऽपराधस्तु] । २. क यया हि सन्ना ।

तुरङ्गमानां तु सहस्रमात्रया मतङ्गजानां शतसंख्यया तथा ।
हिरण्यकोट्या वरलम्बिकाशतैर्वराङ्गराजं मु कुलोऽभ्यमूवदत् ॥ ७४ ॥

ततः परेषामविलङ्घ्यशासनः स्ववीर्यसंपादितकार्यसाधनः[1] ।
रराज रक्षन्सकला वसुंधरां पुरन्दरो द्यामिव सुव्रतालयाम् ॥ ७५ ॥
नवान्नवान्हर्षविशेषहेतवः[2] प्रियाङ्गनाभृत्यसुमित्रबान्धवान् ।
सुरत्नहस्त्यश्वरथान्महीपतिः समाप्तवान्निम्नतलं जलं यथा ॥ ७६ ॥
[3]समस्तसामन्तसमाहृतैर्दिनैर्नं[4]रेन्द्रनीत्यायतबाहुकर्षितैः ।
भृशं पुपूरे नरदेवसंमतं[5] सरित्प्रवेगैरिव वारिधेर्जलम् ॥ ७७ ॥

वकुलेशने सुशिक्षित तथा सुलक्षण एक हजार घोड़े, मदोन्मत्त रणमें स्थायी सौ हाथी, करोड़ प्रमाण हिरण्य तथा सैकड़ों वरलम्बिकाएँ (हार-विशेष) दहेजमें देकर आनर्तपुरेश वरांगराजको प्रसन्न कर दिया था ॥ ७४ ॥

उस समय आनर्तपुराधिप श्री वरांगराजका शासन इतना अधिक प्रभावमय था कि शत्रु लोग भी उसकी अवज्ञा करनेकी कल्पना तक न करते थे। उसके सब ही अभीष्ट कार्य अपने पराक्रमके बलपर तुरन्त सफल हो जाते थे। अपने पूर्ण राज्यका भरणपोषण करता हुआ वह वैसा ही मालूम देता था जैसा कि इन्द्र मरणोपरान्त प्राप्त होनेवाले व्रती जीवोंके निवास-स्थान (स्वर्गका) शासन करता हुआ लगता होगा ॥ ७५ ॥

सफल शासक

जलधारा जिधर ही ढालू धरातल पाती है उसी दिशामें बहती चली जाती है उसी प्रकार विना किसी प्रेरणाके ही हर्ष तथा उल्लासके उत्पादक नूतन, नूतन साधन वरांगराजके पास आते थे। प्राणोंसे भी अधिक प्यार करने योग्य पत्नियाँ, आज्ञाकारी सेवक, हितैषी मित्र, स्नेही बन्धु-बान्धव, उत्तमसे उत्तम रत्न, श्रेष्ठ हाथी, सुलक्षण अश्व, दृढ़ रथ, आदिको भी वह अनायास ही प्राप्त करता था ॥ ७६ ॥

उमड़ती हुई नदियोंकी विशाल धारा जिस विधिसे समुद्रकी अमर्याद जलराशि को बढ़ाती है ठीक उसी क्रमसे श्री वरांगराजकी सम्पत्तिके आगार बड़ी तीव्र गतिसे भरते आते थे, क्योंकि सब ही सामन्त राजा लोग विशाल सम्पत्ति लाकर उसमें मिलाते थे तथा स्वयं उसकी न्याय नीतिरूपी भुजाएँ भी राजस्वके रूपमें विपुल धन बटोरकर उनीमें लाती थीं ॥ ७७ ॥

---

१. क कार्यसाधिनः । २. [°हेतून्] । ३. क प्रशस्त° । ४. [°धनै°] । ५. [°संपदं] ।

दिगन्तविख्यातवसुंधरेश्वराः कुलर्द्धिदेशार्थसमन्वितास्तदा ।
प्रसादमन्विष्य वराङ्गराजतः प्रचक्रुरानर्तपुरस्य सेवनम् ॥ ७८ ॥
इति गुणवति शासत्यप्रतिख्यातकीर्तौ सुजनजनपदं तं सर्वसंपत्तिमन्तम् ।
व्रतनियमसुदानैर्देवपूजाविशेषैर्मुनिभिरपि च शान्तै रेमिरे तत्र मर्त्याः ॥ ७९ ॥
जनयति रतिकार्यां श्रीमदानर्तपुर्यां बहुगुणजनवत्यां धर्मकर्मार्थवत्याम् ।
नरपतिरभिवृद्धिं कोशदेशार्थसारैरहरहमुपयातः शुक्लपक्षे यथेन्दुः ॥ ८० ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वरांगचरिताश्रिते
आनर्तपुरनिवेशो नाम एकविंशतितमः सर्गः ।

विशाल वसुन्धराके व्यापी पालक वरांगराजकी ख्याति सब दिशाओंमें व्याप्त हो गयी थी। बड़े-बड़े कुलीन पुरुष, असीम सम्पत्तिके स्वामी, सम्पन्न देशोंके अधिपति, आदि विशिष्ट पुरुष श्री वरांगराजका अनुग्रह प्राप्त करनेके लिए उत्कण्ठित रहते थे। तथा स्वीकृति मिलते ही आनर्तपुरमें आकर रहते थे और महाराजकी सेवा करते थे ॥ ७८ ॥

उस समय कोई ऐसा स्थान न था जहाँपर श्री वरांगराजकी कीर्ति न गायी जाती हो ऐसे गुणवान राजाके शासनको पाकर आनर्तपुर राज्य विशेष रूपसे सज्जन तथा शिष्ट पुरुषोंका देश हो गया था। कोई भी ऐसी सम्पत्ति न थी जो वहाँपर पूर्णरूपमें न पायी जाती हो। ठीक इसी अनुपातमें वहाँके नागरिक व्रतोंका पालन, नियमोंका निर्वाह, दानकी परम्परा, देवपूजा की अविराम पद्धति, आदि प्रधान धार्मिक कार्योंको करते थे तथा इन कारणोंसे ही शान्त-कषाय तपोधन मुनियोंका सहवास प्राप्त करके अपने इहलोक तथा परलोक दोनों सुधारते थे ॥ ७९ ॥

वह आनर्तपुर सहज ही लोगोंके चित्तोंमें घर कर लेती थी। वहाँके निवासी अनेक गुणोंके आगार थे। उस नगरीमें धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों पुरुषार्थोंकी उपासना ऐसे अनुपातसे होती थी कि वे परस्परमें न टकराते थे। इस नगरीके बसाने के बाद से श्री वरांगराजके कोश, देश तथा अन्य सारभूत पदार्थ दिन दूने तथा रात चौगुने ऐसी गतिसे बढ़ रहे थे जिस प्रकार शुक्ल पक्षमें प्रतिदिन चन्द्रबिम्ब बढ़ता जाता है ॥ ८० ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
आनर्तपुर-निवेश नाम एकविंश सर्ग समाप्त ।

द्वाविंशः सर्गः

वसुंधरेन्द्रस्य[1] तदा पृथिव्यामनेकहस्त्यश्वपदातिदेशैः ।
वराङ्गनाभिर्बहुरत्नदेशैः[2] रवर्धतात्यर्थमनर्थघातो ॥ १ ॥
सवारणं सर्वजगत्प्रधानं धर्मार्थकामत्रयरत्नपुण्यम् ।
तदात्मनीनस्य जनस्य सम्यक् स संविभेजे हि समाहितात्मा[3] ॥ २ ॥
सोत्साहधैर्यद्युतिपौरुषाणि संदर्शयां शत्रुगणे बभूव ।
सत्यार्जवक्षान्तिदयादमादीन् गर्वङ्गनासाधुषु संचचार ॥ ३ ॥

द्वाविंश सर्ग

वसुन्धराके द्वारा स्वयं वरण किये गये स्वामी वरांगराजको लक्ष्मी अपने आप ही इस संसारमें बड़े वेगसे बढ़ रही थी। देश-देशान्तरोंसे प्राप्त मदोन्मत्त हाथियों, सुलक्षण घोड़ों तथा आयुध विद्यामें प्रवीण पदाति सैनिकोंके द्वारा उनकी चतुरंग सेनाका विस्तार हो रहा था, कुलीन, गुणवती तथा रूपवती ललनाएँ उनके अन्तःपुरकी शोभाको चरम-सीमा तक ले गयी थीं। तथा उपायन रूपसे प्राप्त भाँति-भाँतिके रत्नों, विपुल कोशों तथा नूतन देशोंके समागमके द्वारा उनके राज्यकी सीमाएँ फैलती जा रही थीं ॥ १ ॥

सुराज प्रभाव

उसके राज्यमें कोई अत्याचार या अनाचार न हो सकता था। वह अपने कर्त्तव्यके प्रति सतत जागरूक रहता था अतएव वह आत्मस्थ होकर अपने राज्यकी प्रजाके धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थोंमें साधक होकर राजस्वके रूपमें केवल इन्हींका छठा भाग ग्रहण नहीं करता था अपितु सम्यक्दर्शन आदि रत्नत्रयके उपासकोंकी साधनाको निर्विघ्न बनाकर, इनके भी निश्चित भाग (पुण्यरूपी राजस्व) को प्राप्त करता था, जो कि तीनों लोकोंमें सबसे अधिक स्पृहणीय तथा वारण आदि विभवोंका मूल कारण है ॥ २ ॥

जब कोई शत्रु या शत्रुसमूह उसके सामने शिर उठाता था तो वह उनको अपनी उत्साहशक्ति, प्रखर पराक्रम, अडिग धैर्य तथा असह्य तेजका मजा चखाता था। किन्तु यही प्रबल सम्राट् जब परमपूज्य सच्चे गुरुओं, मातृत्वके कारण आदरणीय स्त्रियों तथा लोकमर्यादाके प्रतीक सज्जन पुरुषोंके सामने पहुँचता था तो उनका आचरण सत्य, सरलता, शान्ति, दया, आत्मनिग्रह आदि भावोंसे ओतप्रोत हो जाता था ॥ ३ ॥

---

१. [वसुंधरेन्द्रश्च]। २. [°कोशैः]। ३. क समाहितार्था।

नापत्सु मूढो व्यसनेष्वसक्तो न विस्मितस्त्वभ्युदये नतारिः ।
अकृत्यकृत्यप्रतिपक्षपक्षमित्रारिमित्रप्रकृतिक्रियाज्ञः ॥ ४ ॥
स्त्रीबालवृद्धाश्रमदुर्गतानामनाथदीनान्धरुजान्वितानाम् ।
बलाबलं सारमसारतां च विज्ञाय धीमानथ संबभार ॥ ५ ॥
धर्मैककार्यान्गुरुवन्ननाम प्रशान्तवैरान्सुतवद्ररक्ष ।
दर्पोच्छ्रितात्मानमदावलेपान् दूरं स्वदेशादतिनिश्चकास ॥ ६ ॥
पराजितात्यन्ततपःप्रकर्षात्सविन्द्रियप्रार्थितभोगभागी ।
जगज्जनाक्षिक्षमचारुरूपो मृष्टार्थशिष्टेष्टविशिष्टभाषी ॥ ७ ॥

शत्रुओंके मानमर्दक श्री वरांगराजका विवेक विपत्तियोंमें पड़ जानेपर भी कम न होता था, संकटके समयमें भी वह किसी तरहकी असमर्थताका अनुभव न करता था, अभ्युदयकी चरम सीमातक पहुँच जानेपर भी उसे विस्मय न होता था। अपने कार्योंका उसे इतना अधिक ध्यान था कि कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य, शत्रुपक्ष और आत्मपक्ष तथा मित्र और शत्रुके स्वभावको भाँप लेनेमें उसे जरा-सी भी देर न लगती थी ॥ ४ ॥

उसकी कर्त्तव्यबुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी कि वह राज्यमें पड़े हुए निराश्रित बच्चे, बुड्ढों तथा स्त्रियों, अत्यधिक काम लिए जानेके कारण स्वास्थ्य नष्ट हो जानेपर किसी भी कार्यके अयोग्य श्रमिकों, अनाथों, दीनों, अन्धों तथा भयंकर रोगोंमें फँसे हुए लोगोंकी आर्थिक, कौटुम्बिक, आदि सामर्थ्य अथवा सर्वथा निस्सहाय अवस्था तथा उनकी शारीरिक मानसिक दुर्बलता आदिका स्वयं पता लगाकर उनके भरण-पोषणका प्रबन्ध करता था ॥ ५ ॥

दुखियोंका सखा

जिन शान्त स्वभावी नागरिकोंके जीवनका एकमात्र कार्य धर्मसाधना थी, उनको वरांगराज गुरुके समान पूजते थे, तथा जिन स्वकार्यरत पुरुषोंने पहिले किये गये वैरको क्षमा याचना करके शान्त कर दिया था, उनका अपने पुत्रोंके सदृश भरण-पोषण करता था। किन्तु जो अविवेकी घमंडमें चूर होकर बहुत बढ़-बढ़कर चलते थे अथवा मानके उन्मादमें दूसरोंको कुछ समझते ही न थे, उन सब मर्यादाहीन असंयत लोगोंको उसने अपने राज्यसे बहुत दूर तक खदेड़ दिया था ॥ ६ ॥

पुण्य प्रताप

श्री वरांगराजने अपने पूर्वजन्मोंमें उग्र तथा परिपूर्ण तप किया था इसी कारण उसे महान् पुण्यबन्ध हुआ था। उसीके परिणामस्वरूप इन्द्रियोंके सब ही शिष्ट भोग उसे प्राप्त थे। शारीरिक सौन्दर्य भी ऐसा अनुपम था कि सारे संसारके लोगोंकी आँखें देखते-देखते न अघाती थीं। जो कुछ भी बोलता था वह सुननेमें ही अच्छा न लगता था अपितु उसका प्रयोजन मधुर एवं हितकर, वाक्यरचना के साथ तथा शिष्ट परिणाम इष्ट होता था ॥ ७ ॥

खरो मृदूनां क्रमनायिनां च स्वकालनिर्वर्तितसद्गुणानाम् ।
श्रियं नरेन्द्रोऽनुभवन्नराज शरद्विनिर्धौत इवेन्दुराजः ॥ ८ ॥

शरद्यथार्कांशुविजृम्भितायां प्रसन्नदिक्तोयनभस्तलायाम् ।
विपक्वशालीनवलोकमानो महीपतिर्भूमितलेऽतिरेमे ॥ ९ ॥

हेमन्तकाले रतिकर्कशाभिः क्रीडानुषङ्गक्रमकोविदाभिः ।
प्रियाभिरापीनपयोधराभिश्चिक्रीड रम्येषु निशामुखेषु ॥ १० ॥

शीतार्दितासेवितबालभानौ[2] तुषारसंसर्गविशीर्णपद्मे ।
करीन्द्रवृन्दैः शिशिरे नरेन्द्रो बभ्राम देशान्स विहारयोग्यान् ॥ ११ ॥

जो अधिकारी अथवा प्रजाजन स्वभावसे ही कोमल थे, कुल, देश तथा धर्म, आदिके नियमोंका पालन करते हुए जीवन व्यतीत करते थे, अपने कर्तव्यों, शिक्षाओं, आदिको दिये गये उपयुक्त समयके भीतर ही भलीभाँति कर देते थे। उन लोगोंकी योग्यताओंको समझने तथा उन्हें पुरस्कार देनेमें वह अत्यन्त तीव्र था। उक्त विधिसे अपनी राज्यलक्ष्मीका भोग करते हुए श्री वरांगराजकी उस समय वैसी ही कान्ति हो रही थी जैसी कि शरद् ऋतुमें तारोंके राजा चन्द्रमाकी मेघमाला हट जाने-पर होती है ॥ ८ ॥

शरद्-ऋतु विहार

शरद् ऋतुके आते ही मेघमाला अदृश्य हो जानेपर सूर्यकी किरणोंका आतप और उद्योत बढ़ जाते हैं, सब दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं आकाशका निर्मल नीलवर्ण निखर उठता है तथा वर्षाके कारण घुली हुई मिट्टीके बैठ जानेसे जल भी स्वच्छ और सुन्दर हो जाता है, ऐसे शरद् ऋतुमें पके हुए धानके खेतोंकी छटाका निरीक्षण करते हुए श्री वरांगराज हरी-भरी भूमिपर घूमते-फिरते थे ॥ ९ ॥

हेमन्त

हेमन्त ऋतुके आ जानेपर वह रात्रिके समय अपनी पत्नियोंके साथ भाँति-भाँतिकी रतिकेलि करता था। उसकी प्राण-प्रियाएँ कुछ-कुछ शीत बढ़ते रहनेके कारण रतिकेलि करते-करते थकती न थीं, वे इतनी कुशल थीं कि अपनी ललित चेष्टाओं तथा हावभावके द्वारा रतिके क्रमको टूटने न देती थीं। रतिमें साधक उनके स्तन, आदि अंग ही पूर्ण विकसित तथा पुष्ट न थे अपितु उनके हृदय भी प्रेमसे ओतप्रोत थे ॥ १० ॥

शिशिर

जिस समय शीत अपने यौवनको प्राप्त करके लोगोंको इतना विकल कर देता है कि उससे छुटकारा पानेके लिए उदित होते हुए बालसूर्यकी धूपमें ही जा बैठते हैं, हिम और पालेके पड़नेके कारण जलाशयोंके कमल तितर-बितर हो जाते हैं, ऐसे शिशिर ऋतुमें ही श्री वरांगराज उत्तम हाथियोंको सुसज्जित कराके उनपर आरूढ़ होते थे और उन रम्य स्थलोंमें विहार करते थे जो कि अपने कृत्रिम तथा अकृत्रिम दृश्योंके कारण विहारक्षेत्र बन गये थे ॥ ११ ॥

१. म खलो। २. म बालभागौ।

ततो वसन्ते वरुणातिकान्ते फुल्लद्रुमात्तेभ्रमरोपगीते[२] ।
तस्मिन्वुवक्त्राः कुसुमावतंसाः कान्ता वनान्ते रमयांबभूवुः ॥ १२ ॥
मयूरमातङ्गमदावहायां विरूढबालाङ्कुरशाड्वलायाम्[३] ।
प्रियावृ[४]तः प्रावृषि नीरदाभान्वभ्राम राजा धरणीधरांस्तान् ॥ १३ ॥
वर्षासु भीमाशनिगर्जितासु विद्युल्लतानद्धबलाहकासु ।
खद्योतनात्माकुलितपक्षपासु प्रासादमालासु दिनान्यनैषीत् ॥ १४ ॥
अहीनपञ्चेन्द्रियकल्पगावो यदृच्छयाभ्यागतशक्रकल्पः ।
तत्कालयोग्यान्विविधप्रकारानिष्टैः समेतोऽनुबभूव भोगान् ॥ १५ ॥

वसन्त

शिशिरकी समाप्ति होने पर वनके सब ही वृक्ष फूलों और मंजरियोंसे लद जाते हैं तथा इनके परागको पीकर उन्मत्त भ्रमर ऋतुराजके स्वागतके गीत गाते हैं। तरुण जनोंको परमप्रिय वसन्त ऋतुके पदार्पण करते ही वरांगराजकी चन्द्रमुखी सुकुमारी पत्नियाँ उसके साथ वनविहारको जाती थीं। वहाँपर वे अपनेको फूलोंके ही आभूषणोंसे सजाती थीं तब वनके किसी रमणीक एकान्त भागमें जाकर अनेक रति-क्रीड़ाएँ करके उसके साथ रमती थीं ॥ १२ ॥

ग्रीष्म

ग्रीष्म-ऋतुकी दारुण ज्वालाको शान्त करती हुई मेघोंकी घटाके बरस जाने पर पृथ्वीपर छोटे-छोटे अंकुर तथा सुकुमार घास निकल आती है, श्यामवर्ण मेघ-घटाको देखकर मयूर, हस्ती, हिरण आदि पक्षी पशु आनन्दसे उन्मत्त हो जाते हैं। ऐसी वर्षा-ऋतुमें अपनी प्रेयसी पत्नियोंसे घिरा हुआ वह सुन्दर विशाल धरणीधरों पर विहार करता था, जो कि अपनी वनस्पति तथा जलश्रीके कारण विस्तृत, विशाल तथा उन्नत मेघोंके सदृश ही मनोहर लगते थे ॥ १३ ॥

जब घनघोर वर्षा होती थी, परस्परमें टकराते हुए बादलोंसे भयंकर अशनिपात तथा भीमगर्जना होती थी, प्रत्येक मेघमाला विद्युतरूपी लतासे युक्त रहती थी तथा रात्रिके अभेद्य गाढ़ अन्धकारमें जुगुनुओंके प्रकाशकी मालासे कहीं-कहीं अन्धकारमें छेदसे हो जाते हैं ऐसी वर्षा-ऋतुमें आनर्तपुरेशका समय उन्नत महलोंमें बीतता था ॥ १४ ॥

श्रीवरांगराज अपनी ही इच्छासे इस पृथ्वीपर आये हुए इन्द्रके समान थे। उनकी पांचों इन्द्रियों रूपी गाएँ अपने-अपने विषयोंका उत्तम प्रकारसे भोग करनेकी निर्दोष शक्तिसे सम्पन्न थीं, सेवापरायण इष्टजन उन्हें सदा ही घेरे रहते थे। अतएव वे वर्षाऋतुमें उपयुक्त अनेक प्रकारके भोगोंका यथेच्छ रूपसे सेवन करते थे ॥ १५ ॥

१ क °द्रुमार्तभ्रमतोप° । २. म °नीते । ३. [°शाद्वलायाम] । ४. म स्त्रिया वृतः ।

कदाचिदुद्यानवनेषु रेमे रेमे पुनः काननपर्वतेषु ।
क्वचिन्नदीनां पुलिनेषु रेमे रेमे सरस्स्वम्बुजसंकुलेषु ॥ १६ ॥
कदाचिदाप्तैः सुतबन्धुमित्रैः शिष्टैश्च[1] तुष्टैर्बहुशास्त्रगोष्ठ्या ।
युद्धातिशौण्डैर्यमदण्डकल्पैः सुरैः सुरूपैः सुभगैश्च रेमे ॥ १७ ॥
गन्धर्वगीताभिरतिः कदाचित्कदाचिदर्हत्कथया प्रसक्तः ।
प्रासाददेशेषु वराङ्गनानां क्रीडासु रेमेऽतिमनोहरासु ॥ १८ ॥
यद्यन्नृलोके पुरुषेश्वराणां प्राप्तव्यमासीदनवाप्यमन्यैः ।
महीपतिः सोऽप्रतिमप्रकाशस्तत्तत्समग्रं समवाप सम्यक् ॥ १९ ॥

सुखमग्न राजा

किसी समय वे उद्यानों तथा वहाँपर बने कृत्रिम पर्वतोंपर विहार करते थे। दूसरे समय रम्य वनस्थली तथा प्राकृतिक पर्वतोंपर क्रीड़ा करने निकल जाते थे। तीसरे अवसर पर वे नदियोंके निर्मल तथा विस्तृत वालुकाय प्रदेशोंपर केलि करते देखे जाते थे तथा अन्य समय विकसित कमलोंसे व्याप्त विशाल जलाशयोंमें जलविहारका आनन्द लेते थे ॥ १६ ॥

अनुभवी तथा हितैषी गुरुजनों, स्नेही बन्धुओं, अभिन्न हृदय मित्रों, गुणग्राही अनुजों, स्वभावसे ही शिष्टों तथा सांसारिक विषयोंसे संतुष्ट सज्जनोंकी समष्टिमें बैठकर यदि एक समय वह अनेक शास्त्रोंके गहन विषयोंपर विमर्श करता था तो दूसरे ही समय देखा जाता था कि श्री वरांगदेव स्वस्थ, सुन्दर, आकर्षक, युद्धकलामें अत्यन्त पटु तथा शत्रुओंके संहारमें साक्षात् यमराजके दंडके ही समान घातक सच्चे वीरोंके साथ शस्त्रविद्याके अभ्यासमें तल्लीन हो रहे हैं ॥ १७ ॥

यदि एक समय उन्हें संगीत-शास्त्रके विशेषज्ञ गन्धर्वोंके सुमधुर गीत आदिके सुननेमें मस्त पाते थे, तो दूसरे क्षण ही देखा जाता था कि श्री अर्हन्त भगवानके चरित्र तथा उपदेशोंकी चर्चा करते-करते वे अपने-आपको भूल गये हैं। इतना ही नहीं, वह दृश्य भी सुलभ ही था जब कि युवक राजा अपने प्रासादोंकी ऊँची-ऊँची छतोंपर प्राणप्यारी पत्नियोंकी मनमोहक मधुर रतिकेलियोंमें लीन होकर उन कुलीन सुन्दरियोंमय हो जाता था ॥ १८ ॥

पुण्य प्रशंसा

इस मनुष्य लोकमें जनवर्गके रक्षक राजवर्ग जिन-जिन भोग परिभोगकी सामग्रियोंको प्राप्त करना चाहते हैं, उनको ही नहीं अपितु जिन्हें दूसरे प्रबल पराक्रमी परिपूर्ण प्रयत्न करके भी प्राप्त न कर सके थे उन सबको भी पृथ्वीपालक श्री वरांग- राजने परिपूर्ण अवस्थामें यथाविधि प्राप्त किया था, क्योंकि उस समय उसके समान पुण्यात्मा और प्रतापी कोई दूसरा न था ॥ १९ ॥

१. म शिष्यैश्च ।

इत्थं व्यतीते च सुखेन काले महीपतिः प्राप्तमनोरथानाम् ।
रन्त्वा कदाचिद्वनकाननेषु कृतानुयात्रः परमाविवेश ॥ २० ॥
तस्याग्रपत्नी पुरमाविशन्तं प्रजातिकान्तं सततोपशान्तम् ।
द्विषज्जनान्तं विविधर्द्धिमन्तं प्रासादजालान्तगता ददर्श ॥ २१ ॥
तस्यास्तदानीमवलोकयन्त्या मनस्यभूवन्सकला विशेषाः ।
परप्रमोदो जनतानुरागः सन्माननीयत्वमथात्मनश्च ॥ २२ ॥
पुरा तु मत्स्वामिनि निर्गतेऽस्मिन्नन्याङ्गनासह्यमवापि दुःखम् ।
तदागमाम्भःपरिषेकयोगान्मनः पुनः सा कुरुतामपेतम् (?) ॥ २३ ॥

राजाकी ही यह अवस्था न थी अपितु प्रजामें भी कोई ऐसा न था जिसके मनोरथ सफल न हुए हों। ऐसे सम्पन्न प्रजाजनोंका राजा उक्त विधिसे अपने जीवनको सुख और शान्तिके साथ व्यतीत कर रहा था। इसी क्रमसे एक दिन वन तथा उद्यानोंमें मनोविनोद करनेके बाद लौटकर वह नगरमें प्रवेश कर रहा था तथा उसके पीछे-पीछे बन्धुबान्धव, अधिकारी, आदि चले आ रहे थे ॥ २० ॥

विवेकिनी महारानी

उसी समय श्री वरांगराजकी ज्येष्ठ (पट्टरानी) पत्नी राजभवनकी जालीदार खिड़कीमें बैठी थी। संयोगवश नगरमें प्रवेश करते ही उनपर पट्टरानीकी दृष्टि पड़ी, उन्हें देखते-देखते ही पतिव्रता रानीके मनमें आया कि 'मेरे पति जनताको प्राणोंसे भी प्यारे हैं, वे सब परिस्थितियोंमें शान्त और प्रसन्न ही रहते हैं, तो भी प्रजाकी क्षेम कुशलके शत्रुओंका नाश करनेमें प्रमाद नहीं करते हैं, इनकी आध्यात्मिक तथा भौतिक ऋद्धियोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ॥ २१ ॥

उसे एक-एक करके अपने पतिकी सब विशेषताएँ याद आ रही थीं। वह सोचती थी 'इनके राज्य में सारा नगर कैसा आनन्दविभोर रहता है, यह कैसे अद्भुत सुन्दर हैं, इन पर प्रजाको कैसी अकम्प भक्ति है, इनके ही कारण आज इस विशाल राज्यका एक-एक आदमी मुझे माताके समान पूजता है ॥ २२ ॥

कुछ समय पहिले जब मेरे यही प्राणनाथ धूर्तोंपर विश्वास करनेके कारण अपने राजसे निकल गये थे तो मैंने ऐसे-ऐसे दुःख भरे थे जिन्हें दूसरी कुलवधुएँ न कभी सहती हैं और न सह ही सकती हैं। किन्तु अब फिर इनके समागमरूपी शीतल जल-के सिंचनसे मन शान्त ही नहीं हुआ है अपितु सम्भवतः मेरा क्या कर्त्तव्य है इस ज्ञानसे भी शून्य हो गया है ॥ २३ ॥

कृतं मदीयं कियदस्ति भद्रं कियच्चिरं तिष्ठति वा मयि श्रीः ।
इतः किमु स्याद्भवितव्यता वा मया पुनः किं करणीयमत्र ॥ २४ ॥
एतानि चान्यानपि चिन्तयन्त्याः सामीप्यमभ्यैद्वरणीपतिश्च ।
ससंभ्रमा सा प्रविलोक्य देवं ननाम पादाम्बुरुहाय तस्य ॥ २५ ॥
अनुज्ञया तस्य नृपस्य देवी पार्श्वोपविष्टा हि तदा प्रहृष्टा ।
कृ[1]ताञ्जलिं पङ्कजकुट्मलाभां विज्ञापयामात्मवती[2] बभूव ॥ २६ ॥
कथं सुखं केन कुतश्च किं वा कथं भवेत्कर्म सुखानुबन्धि ।
अखण्डितं तन्निरुपद्रवं च श्रोतुं मनो मां त्वरयत्यतीव ॥ २७ ॥

क्या पता है ! मेरा पूर्वकृत पुण्य कबतक मेरा साथ देगा ? अथवा कबतक मैं इस पट्टरानीके पदकी लक्ष्मी व सौभाग्यकी अधिकारिणी रहूँगी ? कौन जानता है पूर्वोपार्जित कर्मस्वरूप भाग्य इसके आगे क्या करेगा ? फलतः अपने सौभाग्यके मध्याह्न के रहते-रहते मुझे क्या करना चाहिये ॥ २४ ॥

इन विकल्पों तथा इसी प्रकारकी दूसरी बातोंको सोचनेमें पट्टरानी अनुपमा इतनी व्यस्त हो गयी थीं कि उन्हें दूसरी बातोंका ध्यान ही रह गया था, इसी समय वरणीपति उसके बिल्कुल निकट जा खड़े हुए थे। आहट पाते ही वे घबड़ाकर बड़े वेगसे उठ खड़ी हुई थीं तथा पतिके चरण कमलोंमें मस्तक झुका दिया था ॥ २५ ॥

पट्टरानीको आत्मगौरवके साथ आत्मजिज्ञासा भी थी, पतिको निकट पाकर उनके हर्षकी सीमा न थी तो भी वे लोकलाजवश दूर ही बैठ गयी थीं किन्तु वरांगराजके अति आग्रहके कारण उन्हें एक ही आसनपर साथ बैठना पड़ा था। इसके उपरान्त उन्होंने दोनों सुकुमार हाथ जोड़ लिये थे जो मिल जानेपर ऐसे प्रतीत होते थे मानो कमलकी कली हैं और रानी ने अपनी मानसिक शंकाओंको उसके सामने रख दिया था ॥ २६ ॥

'हे नाथ! सांसारिक सुख क्योंकर उत्पन्न होते हैं ? किन पदार्थों द्वारा इनकी सृष्टि होती है ? इनका आदि स्रोत क्या है ? स्वरूप क्या है, किस प्रकार आचरण करनेसे वे कर्म ऐसे सुखमय बन्धके कारण होते हैं, जिसका फल बीचमें न तो खंडित ही होता है और न उपद्रवके रहते हुए भी व्यर्थ होता है ? इन सब रहस्यमय बातोंको सुनने तथा समझनेके लिए मेरा मन उतावला हो रहा है ॥ २७ ॥

१. [कृत्वाञ्जलिं]। २. क °मात्मपती, [°मात्मपतिं]।

निशम्य वाणीं सकलां प्रियायाः स्वभावसद्धर्मरतिर्नरेन्द्रः ।
विमुक्तिधर्मं प्रविहाय तस्यै[1] प्रोवाच सम्यग्गृहिधर्ममेव ॥ २८ ॥
स्थूलामहिंसामपि सत्यवाक्यमचौरतादाररतिव्रतं च ।
भोगोपभोगार्थपरिप्रमाणमन्वर्थदिग्देशनिवृत्तितां च ॥ २९ ॥
सामायिकं प्रोषधपात्रदानं सल्लेखनां जीवितसंशये च ।
गृहस्थधर्मस्य हि सार एषः संक्षेपतस्तेऽभिनिगद्यते स्म[2] ॥ ३० ॥
अनन्यदृष्टित्वमनन्यकीर्तिनिःशङ्कता निर्विचिकित्सना च ।
जिनेन्द्रपादार्चनतत्परत्वं तामार्हतीं दृष्टिमभिष्टुवन्ति ॥ ३१ ॥

सागार धर्मका रूप

सम्राट् वरांगराजको स्वभावसे सत्यधर्मके प्रति असीम अनुराग था फलतः प्राणप्रियाके उक्त सब प्रश्नोंको सुनकर ही मोक्षकी दिशामें ले जानेवाले सकल अथवा अनगार धर्मकी उस समय चर्चा अनुपयुक्त समझकर उसको केवल वही धर्माचार बताया था जिसे पालना प्रत्येक गृहस्थाश्रममें रहनेवाले व्यक्तिका प्रथम कर्त्तव्य है ॥ २८ ॥

अतएव सांकल्पी त्रस-हिंसाके त्यागमय स्थूल (अणु) अहिंसा, सत्य अणुव्रत, चोरीका त्याग (अचौर्य) परपतिसे रति-का त्याग (स्वपति व्रत) भोग तथा परिभोगके पदार्थोंका सूक्ष्म-विचार पूर्वक प्रमाण निश्चित करना (भोगोपभोग परिमाण), सार्थकरूपसे दिशाओंमें गमन (दिग्व्रत), तथा देशोंके पर्यटन (देशव्रत) का नियम करना ॥ २९ ॥

महाव्रतोंको धारण करनेका अभ्यास करनेकी अभिलाषासे त्रिसन्ध्या सामायिक, पर्वके दिनोंमें प्रोषधोपवास, सत्पात्रको आहारादि दान तथा जब जीवनका और आगे चलना संशयमें पड़ जाय उस समय सल्लेखना व्रतको धारण करना। इन सब व्रतोंको जो कि गृहस्थ धर्मके सार हैं, संक्षेपमें श्री वरांगराजने अपनी पट्टरानीको समझाये थे ॥ ३० ॥

सम्यक्दर्शन

किन्हीं दूसरे तत्त्वों पर श्रद्धा न करना, वीतराग प्रभुके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वचर्चाको छोड़कर किसी अन्य सराग देवके उपदेशोंकी बात भी न करना, जीवादि सातों तत्त्वोंके स्वरूपमें शंका न करना, शरीर आदिकी स्वाभाविक मलीनता आदिको ध्यानमें रखते हुए किसीसे घृणा न करना तथा सदा ही श्री एक हजार आठ देवाधिदेव जिनेन्द्र प्रभुके चरणोंकी ही पूजा करनेके लिये तत्पर रहना, इन सब गुणोंको ही आर्हत् (सम्यक्) दृष्टि (दर्शन) कहते हैं तथा यही सब प्रकारसे आराधनीय है ॥३१॥

१. म तस्मै । २. म निनिगद्यते ।

शीलानि दानानि तपांसि पूजाः सम्यक्त्वपूर्वाणि ३ हाफलानि ।
सत्पुण्यनिर्वर्तनकारणानि चतुर्विधानीह वदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ३२ ॥
सर्वेषु तेष्वप्रतिमेषु भद्रे तत्साधनेषु प्रवरा जिनर्चा ।
सास्मद्विधानामपि शक्यरूपा शेषं तु सर्वं गृहिणामशक्यम् ॥ ३३ ॥
ख्यातार्ककीर्तिर्वृषभस्य सूनुः प्रजापतिश्चक्रभृतां वरिष्ठः ।
धर्मार्थकामत्रयरत्नमूर्तिः स नः प्रमाणं भवतो नरेन्द्रः ॥ ३४ ॥
गृहाश्रमे संवसते[1] नराणां धर्मार्थिनामत्र[2] सुखप्रियाणाम् ।
अस्मद्विधानां मनुरादिराजः सोऽष्टापदेतिष्ठपदर्हदर्चाः ॥ ३५ ॥

शीलों, दानों, तप आदिके विशेषज्ञोंका निश्चित मत है कि सम्यक्दर्शनपूर्वक धारण किये गये व्रत, दिये गये दान, तप तथा जिनेन्द्र चरणोंकी पूजा महान् फलको देते हैं।' संसार परावर्तनमें सम्यक्त्वपूर्वक आचरित उक्त कर्म चारों प्रकारकी विशाल पुण्यराशिका निर्माण करते हैं ॥ ३२ ॥

जिनपूजा

हे भद्रे ! पूर्वोक्त सब ही पुण्यके कारणोंके एकसे एक बढ़कर होनेपर भी उन सबमें श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवकी चरणपूजा बढ़कर है। इतना ही नहीं हमारे ऐसे सांसारिक विषय भोगोंमें लीन व्यक्तियोंके लिए वह सबसे अधिक सुगम है। शेष सब ही सत्कर्म गृहस्थीके झंझटोंमें फँसे हम लोगोंके लिए बहुत कठिन हैं। इस दिशामें इस कालके सर्वप्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज ही हमारे आदर्श हैं ॥ ३३ ॥

वे इस युगके प्रवर्तक महायशस्वी विश्वविख्यात श्री एक हजार आठ ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र थे। हमारे क्षेत्रके पुरुषोंकी समुचित राज तथा समान व्यवस्था करके वे वास्तविक प्रजापति बने थे तथा पराक्रमका प्रदर्शन करके चक्रवर्तियोंके अग्रगण्य हुए थे। इतना ही नहीं एक दूसरेके साधक होते हुए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थके सेवनका आदर्श उन्होंने उपस्थित किया था और रत्नत्रयकी तो वे साक्षात् मूर्ति ही थे ॥ ३४ ॥

हे प्रिये ! हम लोग सदृश प्राणी जो कि गृहस्थाश्रममें रह ही नहीं रहे हैं अपितु सांसारिक सुखोंके पीछे-पीछे दौड़ते फिरते हैं, तो भी धर्मको भूले नहीं हैं और उक्त स्वार्थोंको तिलाञ्जलि दिये बिना ही धर्मार्जन करना चाहते हैं, उनके लिये वही प्रथम चक्रवर्ती मनुके समान हैं जो अष्टापद पर केवल श्री आदिनाथ प्रभुके चरणोंकी पूजा करके ही मोक्ष महापदको प्राप्त हो गये थे ॥ ३५ ॥

---

१. [संवसतां]। २. क धर्मार्थिनामर्थ°।

शचीपतिर्दक्षिणलोकपालो महाप्रभावोऽष्टगुणर्द्धियुक्तः ।
जिनेन्द्रसेवां परया मुदासौ करोति सम्यक्त्वविशुद्धिरित्थम् ॥ ३६ ॥
नन्दीश्वरेऽर्हत्प्रतिमार्चनाय समुद्यमन्ते प्रतिवर्षमिन्द्राः ।
कथं न कुर्याम वयं जिनार्चां संसारपाशच्छिदुरप्रभावाम् ॥ ३७ ॥
एकापि शक्ता जिनदेवभक्तिर्या दुर्गतेर्वारयितुं हि जीवान् ।
आसीद्धितत्सौख्यपरं[1] परार्थं पुण्यं नवं पूरयितुं समर्था ॥ ३८ ॥
ध्रुवो विनाशार्जितपापराशेर्ध्रुवा हि दुःखस्य विपत्तिरिष्टा ।
सुखान्यवश्यं स्वयमाश्रयन्ते भक्तिर्दृढा यस्य जिनेश्वरेषु ॥ ३९ ॥

भरत महाराजके अतिरिक्त शचीके प्राणनाथ देवोंके राजा इन्द्र जिन्हें दक्षिण दिशाका लोकपाल इस संसारमें कहा जाता हैं, जिसके विस्तृत प्रभावकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं तथा जो अष्टगुण और अणिमा आदि ऋद्धियोंका स्वामी हैं वह भी जब अर्हतकेवलीकी पूजाका अवसर पाता है तो उसे बड़े उल्लासपूर्वक प्रसन्नताके साथ करता है क्योंकि ऐसा करनेसे ही सम्यक्त्वकी विशुद्धि बढ़ती है ॥ ३६ ॥

नन्दीश्वर विधान

कौन नहीं जानता है कि स्वर्गके इन्द्र प्रतिवर्ष श्री नन्दीश्वर द्वीपमें विराजमान अकृत्रिम जिनबिम्बोंकी विशाल पूजा करनेके लिए बड़े हर्षके साथ अष्टाह्निका पर्वमें विपुल आयोजन करते हैं। अतएव हे प्रिये ! क्या कारण है कि हम लोग यथा-शक्ति जिनेन्द्र पूजा करनेका समारंभ न करें ? क्योंकि उसका निश्चित परिपाक संसाररूपी पाशको छिन्न-भिन्न कर देता है ॥ ३७ ॥

श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवकी भक्ति अकेले ही जीवोंको संसारकी समस्त दुर्गतियोंसे बचाकर सुगतिकी तरफ ले जानेमें ही समर्थ नहीं हुई, अपितु उसके प्रतापसे सब प्रकारके सुख प्राप्त हुए हैं, अलभ्य अर्थ भी सुलभ हुए हैं तथा नूतन पुण्यका विपुल भंडार स्वयं ही बढ़ा है ॥ ३८ ॥

पूर्वजन्मोंमें अनेक अशुभ करनेके कारण जो पापराशि एकत्रित हो गयी है श्री जिनेन्द्र पूजासे उसका नाश अवश्यंभावी है, तथा उस जीवकी वर्तमान विपत्तियोंके विनाशको कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती है, जिसकी जिनेन्द्र देवपर अटल भक्ति है उसे खोजते हुए सुख आवेंगे इसमें तनिक भी सन्देहको स्थान नहीं है ॥ ३९ ॥

---

१. [आसीद्धि]।

अनेकजात्यन्तरसंचितं यत्पापं समर्था प्रविहर्तुमाशु ।
तमः समस्तं हि दिगन्तरस्थं भानोः प्रभाचक्रमिवोदयस्थम् ॥ ४० ॥
जन्मानुबन्धीनि सुदारुणानि संसारदीर्घीकरणव्रतानि ।
कर्माणि मर्त्या जिनपूजनेषु विरूढमूलान्यपि निर्घ्नन्ति ॥ ४१ ॥
पूज्यानि तान्यप्रतिशासनानि रूपाणि लोकत्रयमङ्गलानि ।
संस्थाप्य नित्यं समुपासयन्तः प्रत्यक्षसर्वज्ञफलं लभन्ते ॥ ४२ ॥
जन्मस्वतीतेषु जिनेन्द्रपूजामुपास्य ये तीर्थकरा बभूवुः ।
आस्थाप्य तेषां पुनरर्चनानि भूयः स्वयं तीर्थकरा भवन्ति ॥ ४३ ॥

शुद्ध जिनभक्ति अनन्त भव, भवान्तरोंसे संचित किये गये असीम पाप पुंजको थोड़ेसे ही समयमें उसी प्रकार समूल नष्ट कर देती है जिस प्रकार उदयाचल पर आये हुए बालरविकी सुकुमार किरणें उस समस्त गाढ़ अन्धकारको नष्ट कर देती हैं जो कुछ क्षण पहिले ही सब दिशाओं और आकाशको व्याप्त किये था ॥ ४० ॥

जो कर्म कितने ही भवोंसे जीवके पीछे पड़े हैं, उसे दारुणसे दारुण नारकीय आदि दुख देते हैं; उन कुकर्मोंका एक ही अविचल कार्य होता है; वह है जीवके संसारचक्रको बढ़ाना, तथा जिनकी जड़ें इतनी पुष्ट हो जाती हैं कि उन्हें हिलाना भी दुष्कर हो जाता है, उन सब कर्मोंका भी मनुष्य जिनेन्द्रपूजारूपी महायज्ञसे सर्वथा भस्म कर देते हैं ॥ ४१ ॥

श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवके आदर्शके प्रतीक श्री जिनबिम्ब परम पूज्य हैं, क्योंकि जिनेन्द्र प्रभुका शासन ऐसा है कि कोई भी दूसरा शासन उसकी थोड़ी सी भी समता नहीं कर सकता है, उनका मूर्तीक रूप तथा आदर्श तीनों लोकोंके कल्याणका साधक है। अतएव जो भव्यजीव विधिपूर्वक स्थापना करके प्रतिदिन शुद्धभाव और द्रव्यके द्वारा उनका पूजन करते हैं वे कुछ समय बाद सर्वज्ञतारूपी फलको पाते हैं ॥ ४२ ॥

मूर्तिपूजा

संसारचक्रमें घूमते हुए जिन जीवोंने अपने पूर्वभवोंमें वीतराग प्रभुकी शुद्धभाव और द्रव्यसे उपासना की थी वे ही आगे चलकर त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर हुए थे। अतएव इसी पुरातन परम्पराके अनुसार जो प्राणी लोकोपकारक तीर्थंकरोंकी स्थापना करके पूर्ण विधिपूर्वक उनकी द्रव्य तथा भाव पूजा करते हैं, वे स्वयं भी उन्हीं पूज्य तीर्थंकरोंके समान तीर्थंकर पदको पाकर संसारके सामने उत्तम मार्ग उपस्थित करते हैं ॥ ४३ ॥

नोदैष्यदर्को यदि लोकभूत्यै लोकान्धकारे[1] न्यपतिष्यदेवम् ।
जिनेन्द्रबिम्बं यदि नाभविष्यदज्ञानगर्तेषु जनो न्यमंक्ष्यत् ॥ ४४ ॥

परीषहारींश्चतुरः कषायान्विधूय जातिं च जरां च मृत्युम् ।
ये निर्वृतिस्थानमवापुरीशास्तदर्चनान्नाधिकमन्यदस्ति ॥ ४५ ॥

इहैव पूजाफलतो जिनानां स्वेष्टार्थसंसिद्धिफलं लभन्ते ।
जन्मन्यमुत्रापि च देवलोके प्राप्स्यन्ति दिव्यान्विषयोपभोगान् ॥ ४६ ॥

अल्पश्रमेणाल्पपरिव्ययेन जिनालयं यः कुरुतेऽतिभक्त्या ।
महाधनोऽत्यर्थसुखी च लोके गम्यश्च पूज्यो नृसुरासुराणाम् ॥ ४७ ॥

सूर्योदय होनेपर संसारके सब काम चलते हैं तथा उसके आतप और प्रकाशके कारण उसको सर्वतोमुखी समृद्धि होती है। किन्तु, यदि किसी कारणसे सूर्यका उदय होना रुक जाये तो सारा संसार गाढ़ अन्धकार तथा दुखके गर्तमें समा जायेगा। इसी प्रकार यदि जिनेन्द्र बिम्बरूपी सूर्यका उदय इस पृथ्वीपर न होता तो इस जगतके सब ही प्राणी अज्ञानरूपी अन्धकारके महागर्तमें पड़कर कभीके नष्ट हो गये होते ॥ ४४ ॥

क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहों, क्रोध आदि चार कषायों, जन्म, पराधीनतामय जरा तथा अकथनीय यातनामय मरणको समूल नष्ट करके जो महान् आत्मा पुनरागमनहीन शाश्वत स्थान मोक्षको चले गये हैं, उनकी पूजा करनेकी अपेक्षा संसारका कोई भी दूसरा कार्य ऐसा नहीं है जिसे करके जीव अधिक पुण्य कमा सकता हो ॥ ४५ ॥

वीतराग प्रभुकी पूजा करके जीव इस भवमें ही अपने मनचाहे फलोंको प्राप्त करते हैं तथा इष्टजनों या वस्तुओंसे उनका समागम होता है। यहाँसे मरने के बाद दूसरे जन्ममें अनेकों स्वर्गलोकमें पाते हैं जहाँपर उनको अलौकिक भोग तथा विषयोंकी मन माफिक प्राप्ति होती है ॥ ४६ ॥

वीतराग प्रभुके चरणोंमें जिन प्राणियोंकी प्रगाढ़ भक्ति होती है वे श्री जिनमन्दिर बनवाते हैं। यद्यपि जिनालय बनवानेमें अन्य सांसारिक कार्योंकी अपेक्षा बहुत थोड़ा-सा अवश्य होता है तथा उससे भी कम धन खर्च होता है, तो भी इस शुभ कार्यके कर्ता लोग संसारमें सबसे अधिक धनी तथा सुखी देखे जाते हैं। लोग उनके पास जाकर अपना सम्मान प्रकट करते हैं तथा नर, असुर और सुर भी उनकी पूजा करते हैं ॥ ४७ ॥

---

१. लोकोऽन्धकारे]।

अनार्यभावैरजितेन्द्रियैर्ये कुदृष्टिदृष्टान्तयथानुरक्तैः[1] ।
उन्मोहितास्तान्सुगतौ दधाति येऽतिष्ठिपच्चैत्यगृहं जिनानाम् ॥ ४८ ॥
अनाप्तचर्यागमदुर्विदग्धमधःपतन्तं नरलोकमेनम् ।
उत्पातवातैरभिहन्यमानं पोतं प्रसन्नानिलवद्धियेतु[2] ॥ ४९ ॥
योऽकारयद्वेश्म जिनेश्वराणां धर्मध्वजं पूततमं पृथिव्याम्[3] ।
उन्मार्गयातानबुधान्वराकान्सन्मार्गसंस्थांस्तु क्षणात्करोति ॥ ५० ॥
येनोत्तमर्द्धिं जिनदेवगेहं संस्थापितं भक्तिमता नरेण ।
तेनात्र सा निःश्रयणी धरण्यां स्वर्गाधिरोहाय कृता प्रजानाम् ॥ ५१ ॥

जिनमन्दिर

जिनकी अपनी निजी विचारधारा रागद्वेषसे परे नहीं हैं तथा इन्द्रियोंके जीतनेकी तो बात ही क्या है; जो कि इन्द्रियोंके पूर्ण वशमें हैं ऐसे ही लोग उल्टी श्रद्धाके अनुकूल यद्वा तद्वा दृष्टान्त देकर किसी मिथ्या मतकी स्थापना करते हैं तथा उसके द्वारा कितने ही प्राणियोंको आत्मज्ञानसे विमुख कर देते हैं। किन्तु जो भव्य वीतराग प्रभुके बिम्बोंकी स्थापनाके लिए जिनालय बनवाता है वह ऐसे लोगोंको भी सुमार्गपर ले आता है ॥ ४८ ॥

हे प्रिये ? इस मनुष्य गतिको एक जहाज समझो, कल्पना करो कि झूठे धर्मप्रवर्तकोंके द्वारा कहे गये शास्त्र तथा आचरणरूपी आग इसके भीतर भभक उठी है, जिसके कारण सछिद्र होकर यह नीचेको जाने लगा है। इतना ही नहीं, समुद्रमें भीषण झंझावात बह रही है जो कि इसे उल्टी दिशामें ले जानेके लिए प्रबल थपेड़े मार रही है ॥ ४९ ॥

किन्तु जो व्यक्ति जिनालय बनवाते हैं वे इस मनुष्यलोकरूपी जहाजको वैसे ही उभार लेते हैं जैसे शान्त और अनुकूल पवन किसी डूबते जहाजको बचा लेती है। धर्मके अक्षुण्ण अस्तित्वको स्थिर रखनेके लिए परम पवित्र जिनालयोंका होना आवश्यक है ॥ ५० ॥

जो विचारे ज्ञानहीन प्राणी कुमार्गोंपर चले जाते हैं उन्हें भी जिनबिम्बोंके दर्शन क्षणभरमें ही सन्मार्ग पर सहज ही ला देते हैं। भक्ति भावसे भरपूर हृदययुक्त जिस किसी मनुष्यके द्वारा शास्त्रमें कहे गये विभवयुक्त विशाल जिनमन्दिरकी स्थापना की जाती है, वह व्यक्ति इस पृथ्वीपर उन सीढ़ियोंको बनवा देता है, जिनपर चढ़कर संसारके भोगविषयोंमें लिप्त क्षुद्र प्राणी भी स्वर्गमें पहुँच सकते हैं ॥ ५१ ॥

---

१. [°पथानुरक्तैः] । २. [योऽतिष्ठिप°] । ३. क °वद्धियेव, [°वद्धियेत] । ४. क पृथुव्यां ।

त्रिलोकनाथप्रतिमाग्र्यसेवां ये कुर्वते शुद्धमनोवचोऽङ्गैः ।
विभिद्य कर्मारिमहोग्रसेनां क्रमेण ते निर्वृतिमाप्नुवन्ति ॥ ५२ ॥

इत्येवमर्हत्प्रतिमालयस्य फलं विशालं नृपतिर्जगाद ।
निशम्य तत्सर्वमतिप्रहृष्टा प्रोवाच वाचं मधुरार्थसाराम् ॥ ५३ ॥
यशोऽर्थकामाश्च मयानुभूतास्त्वत्पादपद्मद्युतिसंश्रयेण ।
जिनेन्द्रबिम्बार्चनमर्चयिष्ये चैत्यक्रियाया[1] प्रणवत्सबुद्धिम् ॥ ५४ ॥

सदा जिनेन्द्रोदितधर्मभक्तो विज्ञाप्यमानः क्रियया नरेन्द्रः ।
अमात्यमाहूय शशास सद्यो जिनालयं त्वं लघु कारयेति ॥ ५५ ॥

संवेशमीशस्य मुदावधार्य बुधः प्रगल्भो विबुधः स नाम्ना ।
अल्पैरहोभिर्नगरस्य मध्ये [2]प्राचीकरोच्चैत्यगृहोत्तमं तत् ॥ ५६ ॥

वीतराग प्रभु संसारभरके निस्स्वार्थ कल्याणकर्त्ता हैं फलतः उनकी उपासना तथा पूजा सबसे पहिले करनी चाहिये। यही कारण है जो जीव विशुद्ध मन, वचन तथा कायसे उनकी नियमित आराधना करते हैं वे कर्मोरूपी दुर्दम शत्रुओंकी विशाल सेनाको सहज ही छिन्न-भिन्न करके क्रमशः मोक्ष महापदमें पदार्पण करते हैं ॥ ५२ ॥

सम्राट वरांगने उक्त शैलीका अनुसरण करके कानों तथा हृदयको प्रिय तथा अर्थपूर्ण वाक्यों द्वारा यह भली-भाँति समझा दिया था कि जिन्नेन्द्र प्रभुकी प्रतिमाओंकी स्थापनाके लिए जिनालय बनवानेसे कौन, कौनसे विशाल फल प्राप्त होते हैं। इस विशद विवेचनको सुनकर महारानी अनुपमाके हृदयमें हर्षपूर उमड़ आया था ॥ ५३ ॥

जिनालय निर्माण

'हे नाथ! आपके चरण कमलोंकी कान्तिको छायामें बैठकर मैंने अतुल सम्पत्ति, यथेच्छ कामक्रीड़ा तथा दिगन्तव्यापी विमल यशको परिपूर्ण रूपसे पाया है। किन्तु अब तो मैं नियमसे ही श्री एक हजार आठ वीतराग प्रभुकी पूजा करूँगी अतएव कृपा करके आप जिन चैत्योंकी स्थापनाके लिए एक आदर्श जिनालय बनवानेका निश्चय कीजिये ॥ ५४ ॥

सम्राट वरांग जन्मसे ही वीतराग प्रभुके द्वारा उपदिष्ट धर्ममार्गके परम भक्त थे, इसके अतिरिक्त उस समय प्राणाधिका पट्टरानी भी जिनपूजा करनेके लिए नूतन जिनालयकी स्थापना करानेका आग्रह कर रही थी। फलतः उन्होंने तुरन्त ही प्रधान अमात्यकोंको बुलाकर आदेश दिया था कि 'तुम बहुत शीघ्र ही जिनालयका निर्माण कराओ ॥ ५५ ॥

प्रधान अमात्य बड़े विद्वान् थे, सब ही कार्योंका उन्हें पूर्ण अनुभव था, वे 'यथानाम तथा गुणः' थे क्योंकि उनका नाम भी विबुध था। वे सम्राटकी आज्ञाको पाकर बड़े ही प्रसन्न हुए थे। तथा कुछ ही दिनोंके भीतर राजधानीके बीचोंबीच उन्हींने

१. [°क्रियायां प्रणयत्स्वबुद्धिम्]। २. [प्राचीकरच्चैत्य°]।

सगोपुराट्टालकचित्रकूटं महाभ्रसंघट्टिततुङ्गकूटम् ।
चामीकरानद्धसहस्रकूटं घण्टारवैस्त्रस्तकपोतकूटम् ॥ ५७ ॥
व्यालोलमालाकुलितान्तरालं मुक्तान्तरालिङ्गितचारुलीलम् ।
विचित्ररत्नस्फुरदंशुजालं रेजेऽतिमात्रं वरहर्म्यमालम् ॥ ५८ ॥
सुशिल्पिनिर्मापितरम्यशालं मृदङ्गगीतध्वनितुङ्गशालम् ।
वन्दारुदिव्यस्तुतिपूरिताशं बभूव तच्चैत्यगृहं विशालम् ॥ ५९ ॥
क्वचित्प्रवालोत्तमदामयष्टिः क्वचिच्च मुक्तान्तरलोलयष्टिः ।
ललम्बिरे ताः सह पुष्पयष्ट्या द्वारे पुनः कामलता विचित्राः ॥ ६० ॥

एक विशाल सब शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न जिनालय बनवाकर खड़ा कर दिया था ॥ ५६ ॥

जिनालय वर्णन

जिनालयका प्रवेशद्वार विशाल था, उसके ऊपर सुन्दर अट्टालिकाएँ तथा अद्भुत-अद्भुत आकारके शिखर थे। जिनालयके प्रधान शिखर तो इतने ऊँचे थे कि वे आकाशको भी भेदकर ऊपर निकल गये थे। विशाल शिखरके समीप शुद्ध सोनेसे मढ़े हुए सुन्दर एक हजार शिखर बनाये गये थे ॥ ५७ ॥

जिनालयमें बजते हुए विशाल घंटोंके तीव्र शब्दसे शिखरोंपर बैठे कबूतर डरकर भाग जाते थे। मन्दिरके भीतरी भागोंमें अनेक मालाएँ लटक रही थीं, हवाके झोंकोंसे जब वे हिलती थीं तो बड़ी ही मनोहर लगती थीं। इन मालाओंके अन्तरालोंकी मोतीकी मालाओंने घेर रखा था। इन दोनों प्रकारकी मालाओंके मिलनेसे एक विचित्र ही छटा प्रकट हुई थी। इस उत्तम जिनालयकी अत्यन्त सुन्दर मालामें नाना भाँतिके रत्न भी पिरोये हुए थे, इनसे निकलती हुई किरणें चारों ओर फैलकर मन्दिरकी शोभाको अत्यन्त आकर्षक बना देती थीं ॥ ५८ ॥

सुयोग्य शिल्पकारोंने जिनालयके उन्नत तथा दृढ़ परकोटाको बनाया था, उसके चारों ओर बनी उन्नतशाला (दालान) में मृदंग आदि बाजों तथा गीतोंकी मधुर ध्वनि हो रही थी। अनेक स्तुतिपाटक तथा कत्थक लोग दिव्य स्तुतियाँ पढ़ रहे थे जिनकी ध्वनिसे सारा वातावरण व्याप्त था। इस विधिसे बनवाया गया नूतन जिनालय अत्यन्त विशाल और उन्नत था ॥ ५९ ॥

यदि एक स्थानपर विचित्र रंग रूपके उत्तम मूंगोंकी मालाएँ लटक रही थीं तो दूसरे स्थान पर उन्हींके बीचमें लहलहाती हुई मोतियोंकी लड़ियाँ चमक रही थीं। परम शोभायुक्त द्वार पर मूंगा और मोतियोंकी लड़ियोंके साथ-साथ फूलोंकी लड़ियाँ भी लटकती थीं, इनके सिवा सुन्दर तथा सुभग कोमलता भी द्वारकी शोभा बढ़ाती थी ॥ ६० ॥

---

१. क मुक्तान्तरलोल्यष्टिः, [°लोल]।

द्वारोपविष्टा कमलालया श्रीरुपान्तयोः किन्नरभूतयक्षाः ।
तीर्थंकराणां हलिचक्रिणां च भित्त्यन्तरेष्वालिखितं पुराणम् ॥ ६१ ॥

हयद्विपस्यन्दनपुङ्गवानां मृगेन्द्रशार्दूलविहङ्गमानाम् ।
रूपाणि [1]रूप्यैः कनकैश्च ताम्रैः कवाटदेशे सुकृतानि रेजुः ॥ ६२ ॥

रतम्भैर्ज्वलद्भिस्तपनीयकुम्भैर्विचित्रपत्रांशुपरीतशोभैः ।
तैः स्फाटिकैर्दम्पतिरूपयुक्तै रेजे जिनेन्द्रप्रतिमागृहं तत् ॥ ६३ ॥

प्रवालकर्केतनपुष्परागैः पद्मप्रभैः सस्यकलोहिताक्षैः ।
महीतलं यस्य मणिप्रवेकैस्तारासहस्रैरिव खं व्यराजत् ॥ ६४ ॥

वैडूर्यनालैस्तपनीयपद्मै र्महेन्द्रनीलैर्भ्रमरावलीकैः ।
प्रवालमुक्तामणिभिर्विचित्रैर्नित्योपहारैः[3] कृतमङ्गलं तत् ॥ ६५ ॥

जिनालयका साज

द्वारके ऊपर ही कमलनिवासिनी लक्ष्मीदेवीकी सुन्दर मूर्ति बनायी गयी थी, दोनों ओर किन्नरों, भूतों तथा यक्षोंकी मूर्तियाँ बनायी गयी थीं। पुराणोंमें वर्णन किये गये चरित्रोंके अनुसार मन्दिरकी सब भित्तियों पर प्रातःस्मरणीय तीर्थंकरों, नारायणों, चक्रवर्तियों आदिके भावमय सजीवसे चित्र बनाये गये थे ॥ ६१ ॥

मन्दिरके विशाल कपाटों पर घोड़ा, हाथी, रथ, इनके आरोही श्रेष्ठ पुरुष, मृगोंके राजा सिंह, व्याघ्र, हंस आदि पक्षियोंके आकारोंको ताम्बे, चाँदी और सोनेके ऊपर काटकर ललित कलामय विधिसे जड़ दिया था ॥ ६२ ॥

गर्भगृह, जिसमें वीतराग जिनेन्द्र प्रभुकी प्रतिमाएँ विराजमान थीं, उसके सबही खम्भे स्फटिक मणिके बने थे अतएव उनकी प्रभासे ही पूरा जिनालय जगमगा रहा था। इन खम्भों पर काटकर स्त्री तथा पुरुषके युगलकी मनोहर मूर्तियाँ बन रही थीं। खम्भोंके कलश शुद्ध स्वर्णके थे तथा चारों ओरसे वे विचित्र पत्तों आदिसे घिरे थे जिनसे निकलती हुई किरणोंके कारण सब ओर शोभा ही शोभा बिखर गयी थी ॥ ६३ ॥

जिनालयके सुन्दर धरातलमें उत्तम मूंगे, मोती, मरकत मणि, पुष्पराग (एक प्रकारके लाल), पद्मप्रभ (श्वेतमणि), घासके समान हरे मणि, रक्तवर्ण नेत्रके सदृश मणि तथा अन्य नाना प्रकारके मणि जड़े हुए थे। इन सबकी द्युतिके कारण वह ऐसा प्रतीत होता था जैसा कि हजारों तारे उदित होनेपर स्वच्छ सुन्दर आकाश लगता है ॥ ६४ ॥

उसमें जड़े गये कमल विशुद्ध सोनेके थे, उनके कोमल नाल वैडूर्य मणिसे काटकर बनाये गये थे, कमलोंपर गुंजार करते हुए भौरोंकी पंक्तियाँ महेन्द्रनील मणियोंको काटकर बनी थीं। उनके आसपास नीहार बिन्दु आदिको चित्रित करनेके लिए उत्तम

१. क रूपैः। २. म नित्योपहाराः।

जिनेन्द्रगेहो वरधर्मवेहः[1] सुधामयस्तुङ्गविचित्रशृङ्गः ।
दूरावगाढ्यो[2] गगनेऽभ्यराजद्द्वितीयकैलास इवाद्वितीयः ॥ ६६ ॥
प्रेक्षासभावल्यभिषेकशालाः[3] स्वाध्यायसंगीतकपट्टशालाः ।
सतोरणाट्टालकवैजयन्त्यश्चलत्पताका रुचिरा विरेजुः ॥ ६७ ॥
प्राकारमालाभिरथो परीतं चैत्यं बभासे जिनपुङ्गवानाम् ।
मेघावलीभिः परिवेष्ट्यमानः समुल्लसन्तीभिरिवारराज ॥ ६८ ॥
प्रियङ्ग्वशोकद्रुमकर्णिकारः पुन्नागनागाशनचम्पकानाम् ।
वाट्यो[4] विरेजुः सविहारयोग्या बहिःप्रदेशे भुवनोत्तमस्य[5] ॥ ६९ ॥

मूंगे, मोती तथा अद्भुत मणि जड़े हुए थे। इन रत्नोंको देखकर ऐसा आभास होता था कि वहाँपर दिनरात उपहार चढ़ते रहते हैं ॥ ६५ ॥

इस जिनालयकी नींव बहुत नीचे तक दी गयी थी, उसका पूरा निर्माण काफी ऊँचा था विशाल शिखरोंकी ऊँचाईके विषयमें तो कहना ही क्या है, क्योंकि वे आकाशको भेदती हुई चली गयी थी। उसके प्रत्येक भागको उज्ज्वल चूनेसे पोता गया था। दूरसे देखनेपर वह ऐसा मालूम देता था मानो दूसरा कैलाश पर्वत ही खड़ा है। कहनेका तात्पर्य यह कि वह अद्वितीय मन्दिर मूर्तिमान धर्म ही था ॥ ६६ ॥

मन्दिरके विभाग

उसमें प्रेक्षागृह (दर्शन करनेका स्थान), बलिगृह (पूजा करनेका स्थान), अभिषेकशाला, स्वाध्यायशाला, सभागृह, संगीतशाला तथा पट्टगृह (पुराणोंमें कथा आती है दासियाँ आदि अपने सेव्य कुमारियों तथा कुमारोंके पट्टको ले जाकर मन्दिरोंमें बैठती थीं और पहिचाननेवालोंको उपयुक्त व्यक्ति समझा जाता है) अलग-अलग बने हुए थे। इन सबमें कटे हुए तोरणों तथा ऊपर बनी अट्टालिकाओंकी शोभा तो सब प्रकारसे ही लोकोत्तर थी ॥ ६७ ॥

ऊँची-ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं तथा चंचल ध्वजाओंकी शोभा भी अनुपम थी। संसारके परमपूज्य जिनेन्द्र बिम्बोंका वह चैत्यालय सब दिशाओंमें कई परकोटोंसे घिरा हुआ था। फलतः उसे देखकर पर्वतोंके राजा सुमेरुकी उस श्रीका स्मरण हो आता था जो कि अनेक सुन्दर मेघमालाओंसे घिर जानेपर पावसमें उसकी होती है ॥ ६८ ॥

उत्तम जिनालयके बाहरके प्रदेशों पर प्रियंगु (एक प्रकारका धास), अशोक, कर्णिकार (कनेर), पुन्नाग (सुपारी), नाग (नागकेशर), अशन (पीत शालवृक्ष) तथा चम्पक वृक्षोंकी सुन्दर वाटिकाएँ थीं। तथा उनमें घूमनेसे मनुष्यको शान्ति

---

१. क °धर्मगेहः। २. [दूरावगाढो]। ३. म प्रेष्या°। ४. [वाट्यो]। ५. [भवनोत्तमस्य]।

आम्रान्तका दाडिममातुलुङ्गैर्बिल्वाश्च चूताः क्रमुकाभयाश्च ।
तालीद्रुमास्तालतमालवृक्षा बभूवुरुद्यानवनान्तरेषु ॥ ७० ॥
सुवर्णवासन्तिककुब्जकानां बन्धूकगन्धोत्कटमल्लिकानाम् ।
समालतीजात्यतिमुक्तकानां वीर्याभिर[1]म्याणि वनानि रेजुः ॥ ७१ ॥
खर्जूरमृद्वीक[2]मरीचवल्ल्यो लवङ्गकङ्कोलकनालिकेराः ।
ताम्बूलवल्ल्यः कदलीवनानि नित्यप्रवृत्तानि मनोहराणि ॥ ७२ ॥
अन्तर्बहिश्चापि समाप्तकर्मा प्रमाणसंवर्धितदिव्यमूर्तिः ।
जिनेन्द्रगेहो रमणीयरूपः पुरस्य भूतां गणितां[3] जगाम (?) ॥ ७३ ॥

प्राप्त होती थी। इनके कारण जिनालयकी शोभा और भी अधिक हो गयी थी ॥ ६९ ॥

जिनालयके उद्यान

इन वाटिकाओं और रम्य उद्यानोंमें आम्र, आमड़ा, अनार, मातुलिंग (विजौरा, पपीता), बेल, क्रमुक (द्राक्षा), अभया (हर्रे), ताल, तालीद्रुम (खजूर विशेष), तमाल आदिके सुहावने वृक्ष लगे हुए थे ॥ ७० ॥

इन उद्यानोंमें अनेक प्रकारके फूलनेवाले पौधोंकी पंक्तियाँ खड़ी थीं, जिनके कारण बागोंकी शोभा एकदम चमक उठी थी। इन पुष्प-वृक्षोंमें सुवर्ण (हरिचन्दन), वासन्ती, कुब्जक (सेवती), बन्धूक (मध्याह्नपुष्प) अत्यन्त तीक्ष्ण गन्धयुक्त मल्लिका, मालती, जाती (चमेली) तथा अतिमुक्तक अग्रगण्य थे ॥ ७१ ॥

खजूर तथा नारिकेल वृक्षोंकी भी कमी न थी। द्राक्षा, गोल मिरच, लवंग, कंकोल ताम्बूल आदिकी सुकुमार सुन्दर लताएँ पुष्ट वृक्षोंके आसपास चढ़ी हुई अद्भुत सौन्दर्यका प्रदर्शन करती थीं। वाटिकाओंमें सब ही जगह सुन्दर कदलीवन खड़े थे, ये सर्वदा ही हरे-भरे रहते थे ॥ ७२ ॥

उत्तम स्थापत्य (निर्माण) कलाका अनुसरण करते हुए उक्त विधिसे उस जिनालयके भीतर तथा बाहरके सभी काम समाप्त किये गये। उसका प्रत्येक भाग आनुपातिक ढंगसे बनाया गया था फलतः उसका आकार सर्वथा दिव्य तथा मनोहर था। वह इतना अधिक रमणीय था कि उसे लोग आनर्तपुरकी महाविभूतियोंमें गिनने लगे थे ॥ ७३ ॥

---

१. [वीथ्याभि°]। २. म मृड्वीक। ३. [भूतेर्गणितं]।

यः सर्वसंपत्तिगुणोपपन्नः पुण्यावहः पापहरः प्रजानाम् ।
दिशः स्वभासा प्रतिभासयन्स लीलामुवाहैव महाचलस्य ॥ ७४ ॥
नाम्नेन्द्रकूटो नयनाभिरामो रत्नद्युतिह्रेपितबालभानुः ।
सर्वत्रसौख्यः सकलेन्दुसौम्यः सदैव स श्रीनिलयो बभूव ॥ ७५ ॥
उद्भिद्य भूमिं स्वयमुच्छ्रितः स्यादहो विमानं नभसश्च्युतं तत् ।
उत्पश्यतां कामगमागतं तदित्यासताका[1] भुवि मानवानाम् (?) ॥ ७६ ॥
नृपाज्ञयार्हत्प्रतिमालयस्य सुशिल्पिनिर्वर्तितकौशलस्य[2] ।
विभूतिरित्थं विबुधोपमेन निर्मापिता सा विबुधेन तेन ॥ ७७ ॥

असाधारण मन्दिर

उसके निर्माणमें कोई भी सम्पत्ति तथा वैभव अछूता न छोड़ा गया था। आगममें बताये गये जिन चैत्यालयके सब ही शुभ लक्षण उसमें थे। अतएव वह प्रजाके पापोंको नष्ट करने तथा पुण्यको बढ़ानेमें समर्थ था। उसकी छटा और ज्योतिसे सब दिशाएँ प्रकाशित होती थीं ॥ ७४ ॥

उसे देखते ही किसी महापर्वतकी छटा याद हो आती थी। नेत्रोंके लिए उसका दर्शन अमृत था। उसमें लगे हुए रत्नोंकी ज्योतिके समक्ष सूर्यका उद्योत भी मन्द पड़ जाता था, पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान ही शीतलता तथा आह्लादको देता था। उसमें किसी भी स्थानपर बैठनेसे समान सुख मिलता था। शोभा और लक्ष्मीको तो वह निवासभूमि ही था ॥ ७५ ॥

उसका नाम भी यथार्थ इन्द्रकूट था। इस पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्योंको जब पहिले-पहिल उसे देखनेका अवसर मिलता था तो वे इस ढंगके तर्क करते थे—'क्या यह जिनालय पृथ्वीको फोड़ कर अपने आप ही ऊपर निकल आया है (अर्थात् अकृत्रिम है) अथवा कहीं स्वर्गसे अपने आप किसी अज्ञात कारणवश गिर पड़ा कोई विमान तो यह नहीं है ॥ ७६ ॥

सार्थक इन्द्रकूट

इस इन्द्रकूट जिनालयके बनानेमें सुयोग्य शिल्पियोंने अपनी पूरीकी पूरी शक्ति, ज्ञान तथा हस्त-कौशलका उपयोग किया था। अतएव यह कहना पड़ता था कि देवोंके समान बुद्धिमान तथा कार्यकुशल श्रीविबुध अमात्यने सम्राटकी आज्ञाके अनुसार ही इस मन्दिरको अनुपम वैभव तथा शोभा सम्पन्न बनवाया था ॥ ७७ ॥

---

१. क °सुताका। २. क पुंशिल्पि°।

इत्येवं क्षितिपतिशासनेन धीमान् दिव्याख्यः प्रियहितमन्त्रिवर्गमुख्यः ।
निष्ठाप्य क्रमविदनुत्तमं नु चैत्यं भूपायाकथयदथार्थजातमार्यः ॥ ७८ ॥
तत्प्रोक्तां हितमहितां निशम्य वाणीं संपूज्य प्रियवचनार्थदानमानैः ।
भूयस्तं मुदितमनाः शशास राजा सद्यस्त्वं जिनमहवृत्तये यतस्व ॥ ७९ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
सिद्धायनप्रतिष्ठापनो नाम द्वाविंशतितमः सर्गः ।

आर्य विबुध सदैव अपने स्वामीकी हितकामना करते थे, फलतः वे सम्राटको भी परम प्रिय थे और मंत्रिमण्डलके प्रधान थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि वे प्रत्येक कार्यको समुचित क्रमके अनुसार ही करते थे। अतएव श्रीवरांग-राजकी आज्ञासे जब उन्होंने चैत्यालय बनवाकर जिनबिम्बोंकी प्रतिष्ठाका भी समारंभ कर चुके थे तब उन्होंने सम्राटको सब समाचार दिये थे ॥ ७८ ॥

जिनमह

प्रधान अमात्य आर्य विबुधकी; कल्याणकारक होनेके कारण महत्त्वपूर्ण विज्ञप्तिको सुनते ही सम्राटने प्रियवचन सन्मान तथा भेंट देकर उनका विपुल सत्कार किया था। धर्माचरणके अवसरको सामने देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न थे अतएव उन्होंने मंत्रिवरको फिर आज्ञा दी थी "आप जिनमह (विशेष विधान) नामक विशाल जिनपूजनके विपुल आयोजनको शीघ्र ही करा दें" ॥ ७९ ॥

चारों वर्ग समन्वित सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरित नामक धर्मकथामें
सिद्धावन प्रतिष्ठापन नाम द्वाविंशतितम सर्ग समाप्त ।

त्रयोविंशः सर्गः

अथ प्रशस्ते तिथिलग्नयोगे मुहूर्तनक्षत्रगुणोपपत्तौ ।
क्षपाकरे च प्रतिपूर्यमाणे[1] ग्रहेषु सर्वेषु समस्थितेषु ॥ १ ॥
संह्रेपयन्ती स्वरुचा वितानैर्दिवाकरांशून्प्रतिमा जिनस्य ।
संस्थापिता चैत्यगृहे विशाले नृपाज्ञया स्थापनकर्मदक्षैः ॥ २ ॥
तदाप्रभृत्येव मुदा प्रतीतो धर्मप्रियो भूपतिशासनेन ।
क्रियाविधिज्ञः पृथुधीरमात्यः प्रवर्तयां तन्महिमानमास ॥ ३ ॥
सर्वत्र भेरीं परिघोष्य पुर्यां किमिच्छकं त्वर्थिजनाय दत्वा ।
धर्मक्रियोद्योगनिविष्टबुद्धो राजा जिनेन्द्रालयमभ्यगच्छत् ॥ ४ ॥

त्रयोविंश सर्ग

सम्राटकी आज्ञा पाते ही आर्य विबुधने शुभ तिथि तथा लग्नको ज्योतिषियोंसे पूछा था। उन्होंने भी उत्तम मुहूर्त, श्रेष्ठ नक्षत्र तथा समस्त ग्रहोंके सर्वोत्तम योगका क्षण निकाला था। उस समय सब ग्रह ऐसे स्थान पर थे कि कोई किसीका प्रतिघात नहीं करता था, तथा (रात्रिनाथ) चन्द्र भी पूर्ण अवस्थाको प्राप्त थे ॥ १ ॥

मूर्ति प्रतिष्ठा

ऐसे शुभ लग्नमें ही स्थापन विधिके विशेषज्ञोंने विशाल जिनालय इन्द्रकूटमें राजाकी अनुमतिपूर्वक श्री एक हजार आठ कर्मजेता जिनेन्द्रप्रभुकी प्रतिमाको स्थापित किया था। यह जिनबिम्ब अपनी कान्ति तथा तेजके प्रसारसे (दिननाथ) रविकी प्रखर किरणोंको भी अनायास ही लज्जित कर देती थी ॥ २ ॥

आर्य विबुध स्वभावसे ही धार्मिक प्रवृत्तिके मनुष्य थे, धार्मिक क्रियाओं, विधि-विधानोंके विशेषज्ञ थे तथा उनके सर्वतोमुख ज्ञानका तो कहना ही क्या था। इन सब स्वाभाविक गुणोंके अतिरिक्त धर्ममहोत्सव करनेके लिए राजाकी आज्ञा होनेके कारण उनके हर्षकी सीमा न थी। उससे प्रेरित होकर उन्होंने जिनबिम्ब स्थापनाके क्षणसे ही जिनमहको पूरे वैभवके साथ प्रारम्भ करा दिया था ॥ ३ ॥

किमिच्छक दान

पूरे नगरमें भेरी बजवा कर घोषणा की गयी थी कि जिसको जो कुछ भी इच्छा हो वही वही वस्तु निःसंकोच भावसे

१. क प्रतिसूर्यमाणे ।

मन्त्रिप्रधानाः पृथुधीविशेषा[1] विद्यासमृद्धाः प्रथिताः सदस्याः[2] ।
हयद्विपैश्चापि पदातिभिश्च महाविभूत्या तमनुप्रजग्मुः ॥ ५ ॥
देवी नृदेवप्रियकारिणीभिर्यथोपचारैरनुवर्तिनीभिः ।
जिनेन्द्रपूजाभिविदृक्षया सा नरेन्द्रपत्नीभिरमा जगाम ॥ ६ ॥
अनेकयुद्धप्रतिलब्धकीर्तिः सर्वज्ञवक्त्रोद्गतपुण्यमूर्तिः ।
जगत्प्रजानन्दकरः प्रदोषे नान्दीमुखं [3]प्रतिमुखश्चकारः ॥ ७ ॥
दीपावलीभिर्ज्वलितप्रभाभिरपूर्ववर्गैश्च चरुप्रकारैः ।
गन्धैश्च पुष्पैर्बलिभिः सुधूपैर्निवेदयां रात्रिबलिं बभूव ॥ ८ ॥

सम्राटसे माँग लेवें, इस क्रमसे 'किमिच्छक' दान देनेके पश्चात् श्रीवरांगराज नतन जिनालयमें पहुँचे थे। उस समय उनकी मति पूर्णरूपसे धर्माचरणमें लगी हुई थी ॥ ४ ॥

आर्य-विबुध आदि प्रखर प्रतिभाशाली सब ही प्रधानमंत्री, अपनी सुमति, सेवा तथा उत्साहके लिए विख्यात राजसभाके सदस्य, भी सम्राटके पीछे-पीछे असीम विभवयुक्त घोड़ा, हाथी, पदाति आदि सैनिकोंके साथ राजाके पीछे चल दिये थे ॥५॥

साम्राज्ञी अनुपमा देवी भी श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवकी पुण्यमय पूजा देखनेकी अभिलाषासे अन्य समस्त रानियोंके साथ जिनालयको चल दी थीं। क्योंकि उनके साथ जानेवाली सबही रानियाँ सदैव सम्राटको प्रिय काम करनेमें आनन्दका अनुभव करती थीं, यथायोग्य विनय तथा व्यवहार करके वे सदा ही पति तथा सम्राज्ञीके अनुकूल आचरण करती थीं ॥ ६ ॥

प्रतिष्ठा संरम्भ

सम्राट वरांगने एक, दो नहीं अनेक दारुण युद्धोंमें विजय प्राप्त करके विमल यश कमाया था, सर्वज्ञ प्रभुके द्वारा उपदिष्ट धर्मका पालन करके उनका अभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों ही परम पवित्र हो गये थे तथा अपनी प्रजाको तो सब दृष्टियोंसे वह सुख देते ही थे, तो भी उन्होंने प्रगाढ़ भक्ति और प्रीतिपूर्वक रात्रिके अन्तिम प्रहरमें उठकर कर्मजेता प्रभुकी आराधना करनेके लिए नन्दीमुख (प्रतिष्ठाकी मंगलाचरण विधि) को विधिपूर्वक किया था ॥ ७ ॥

भाँति-भाँतिके स्वादु तथा सुन्दर नैवेद्य बनाये जा रहे थे। उनमें कितने ही ऐसे थे जो उसके पहिले कभी बने ही न थे। दीपोंकी पंक्तियाँ प्रज्वलित की गयीं थीं जिनके प्रकाशसे सारा वातावरण ही आलोकित हो उठा था, मधुर तथा प्रखर सुगन्धयुक्त पुष्प संचित किये गये उत्तम धूप तथा अन्य अर्घ्य सामग्री भी प्रस्तुत थी। इन दीपकादिको लेकर सम्राटने जिन चरणमें रात्रिकी बलि (पूजा) समर्पित की थी ॥ ८ ॥

---

१. म पृथुधी°। २. क समस्थाः। ३. [प्रतिमुखः]।

जिनेन्द्रचक्रायुधकेशवानां महर्षिविद्याधरचारणानाम् ।
हलेशवागीशपुरन्दराणां बद्धानि नानाचरितानि यानि ॥ ९ ॥
गन्धर्वगीतश्रुतितालवंशमृदङ्गवीणापणवादिभिश्च: ।
लास्यप्रयोगेष्वथ ताण्डवेषु स्वायोज्य चित्रं ननृतुस्तरुण्यः ॥ १० ॥
कुर्वद्भिरन्यैश्च कथोपदेशान्स्तोत्रैश्च देवानपरैः स्तुवद्भिः ।
प्रदीपभासा वरधर्म[1]पुस्तान्संवाचयद्भिश्च सुकण्ठरागैः ॥ ११ ॥
कुदृष्टिपक्षं क्षपयद्भिरन्यैरुद्भासयद्भिः समयंस्त्वमन्यैः[2] ।
तपस्विवर्यैर्वरधर्मकार्यैर्नीता त्रियामा निरपेतनिद्रैः ॥ १२ ॥

श्री एक हजार आठ तीर्थंकरों, सर्वज्ञके ज्ञानको धारण करनेवाले वागीशों (गणधरों), चक्रवर्तियों, नारायणों, तपोधन मुनियों, अलौकिक विद्याओंके स्वामी विद्याधरों, चारण ऋद्धिधारी साधुओं, हलधरों (बलभद्रों) तथा इन्द्रोंके जिन उदार चरित्रोंका पुराणोंमें वर्णन पाया जाता है ॥ ९ ॥

उन सबको गन्धर्वोंके गीतों, श्रुति, ताल, बाँसुरी, मृदंग, वीणा, पणव, आदि बाजोंके द्वारा गा बजा कर तथा अभिनयपूर्वक हाव-भावका प्रदर्शन करती हुई सुन्दरी तरुणियाँ भाँति-भाँतिके ताण्डवों (शारीरिक चेष्टाओं द्वारा कथानकका अभिनय कर देना) में घटाकर ऐसा नृत्य करती थीं जिसे देख कर मन मुग्ध हो जाता था ॥ १० ॥

बहुमुखी भक्ति

कुछ लोगोंने दूसरे जिज्ञासुओंको धर्मोपदेश देकर, दूसरोंने भाव तथा भक्तिके पूरसे आप्लावित श्रुति सुखद स्तोत्रोंके द्वारा सच्चे देवोंकी स्तुति करके, अन्य लोगोंने जगमगाते हुए, विमल दीपोंके प्रकाशमें बैठकर मधुर कण्ठसे शास्त्रोंका पाठ करते हुए ॥ ११ ॥

ऐसे भी सज्जन थे जिन्होंने मिथ्यादृष्टिको उखाड़ फेकनेका प्रयत्न करते हुए, दूसरोंका यही प्रयत्न चलता रहा था कि किसी प्रकार संयम में अमल तथा दृढ़ हों। तथा जिन लोगोंका तपयोग लगानेका अभ्यास था उन्होंने भी उत्तम समाधिको लगाते हुए ही सारी रात्रिको व्यतीत कर दिया था। उस दिन रातभर किसीने निद्रा क्या; पलक भी न झपने दिया था ॥ १२ ॥

---

१. म °धर्महस्तान् । २. [समयं स्वमन्यैः] ।

प्रदीपचन्द्रग्रहतारकाणां प्रभासु पाण्डुत्वमुपागतासु ।
भेर्यः सशङ्खाश्च समर्दलाश्च प्रणेदुरम्भोनिधिमन्द्रघोषाः ॥ १३ ॥
एवं प्रकारेण कथान्तरेण तस्यां रजन्यामपविद्धतायाम् ।
अथोदयो[1] भानुहिरण्यकुम्भान्भवत्या जिने बिभ्रदिवाभ्यराजत् ॥ १४ ॥
चूर्णैश्च पुष्पैरपि तण्डुलैश्च दशार्धवर्णैर्बलिकर्मयोग्यैः ।
नानाकृतींस्तत्र बलीन्विधिज्ञा भूमिप्रदेशे रचयांबभूवुः ॥ १५ ॥
उपर्युपर्युच्छ्रितचित्रकूटं मणिप्रभालङ्कृतसत्कवाटम् ।
प्रयत्नसंवर्धितवृक्षवाटं रराज भूयो नरराजवेश्म ॥ १६ ॥

रात्रिमें जिनकी निर्मल कान्ति तथा प्रकाश अन्धकारको नष्ट कर रहे थे उन्हीं चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारका तथा प्रज्वलित दीपकोंकी प्रभाके पीले पड़ जाने पर प्रातःकालीन मंगलकी सूचना देनेके लिए जलधरोंकी गर्जनाके सदृश मन्द ध्वनि करते हुए भेरियों, शंखों तथा मर्दलोंके साथ अनेक बाजे बजने लगे थे ॥ १३ ॥

उक्त प्रकारके धार्मिक व्यासंग तथा अन्य इसी प्रकारकी कथाओं आदिको करते हुए ही उत्सवकी वह प्रथम रात्रि न जाने कब बीत गयी थी ।

प्रातःकालीन पूजा

उषाकालमें लालवर्ण सूर्यबिम्ब उदयाचलपर उठ आया था तो ऐसा प्रतीत होता था कि जिनेन्द्र प्रभुकी प्रगाढ़ भक्तिसे प्रेरित होकर सूर्य ही स्वर्णका कलश होकर सेवामें उपस्थित हुए हैं ॥ १४ ॥

जो लोग चौक पूरने तथा प्रातःकालीन पूजाकी विधिके विशेषज्ञ थे उन्होंने भाँति-भांतिके शुद्ध सुगन्धित चूर्णों, पुष्पों, अक्षतों तथा चौक पूरने आदिमें सर्वथा उपयुक्त (दशके आधे) पाँच प्रकार शुद्ध रंगोंको लेकर मन्दिरके आगेकी भूमिपर भी नाना प्रकार तथा आकारके चौक पूर कर प्रातःकालीन अर्घ्य (रंगोली) चढ़ाये थे ॥ १५ ॥

जिनालय-वास

पूजाके दिनोंमें मन्दिरमें रहना आवश्यक था अतएव बड़े यत्न और परिश्रमके द्वारा लगाये गये सुन्दर वृक्षोंकी कतारों-के मध्यमें मनुष्योंके अधिपतिका एक विरामगृह था, जिसके समस्त शिखर ऊपर, ऊपर ही उठते गये थे । उसके सुन्दर दृढ़ कपाटों पर अनेक भाँतिके मणि लगे हुए थे, उनसे छिटकती हुई प्रभाके कारण कपाटोंकी शोभा अत्यन्त मोहक हो गयी थी ॥ १६ ॥

---

१. म अथोदये ।

तस्मिन्पृथुश्रीमति राजगेहे पुरोहितेनातिहितेन राज्ञः ।
द्रव्यं जिनानां स्नपनक्रियार्थं संभारयां बुद्धिमता प्रचक्रे ॥ १७ ॥
आपः पयः पुष्पफलानि गन्धा यवाज्यसिद्धार्थकतण्डुलाश्च ।
लाजाक्षताः कृष्णतिलाः सदर्भा अर्घ्याणि दध्ना रचितानि तत्र ॥ १८ ॥
आपो हि शान्त्यर्थमुदाहरन्ति आप्यायनार्थं हि पयो वदन्ति ।
कार्यस्य सिद्धिं प्रवदन्ति दध्ना दुग्धात्पवित्रं परमित्युशन्ति ॥ १९ ॥
दीर्घायुराप्नोति च तण्डुलेन सिद्धार्थका विघ्नविनाशकार्थाः ।
तिलैर्विवृद्धिं प्रवदन्ति नृणामारोग्यतां याति तथाक्षतैस्तु ॥ २० ॥
यवैः शुभं वर्णवपुर्घृतेन फलैस्तु लोकद्वयभोगसिद्धिः ।
गन्धास्तु सौभाग्यकरा नराणां लाजैश्च पुष्पैरपि सौमनस्यम् ॥ २१ ॥

सब प्रकारकी सम्पत्तिसे परिपूर्ण तथा विशाल शोभाके भण्डार उस राजगृहमें सम्राटके पुरोहित पूजा कार्योंमें ही लगे रहते थे अतएव उनके द्वारा ही जिनेन्द्रदेवकी पूजाके लिये आवश्यक अष्टद्रव्य तथा अभिषेकमें उपयोगी समस्त साज समारम्भ महाराजके लिए बड़ी बुद्धिमत्ताके साथ तैयार कराया गया था ॥ १७ ॥

जल, चन्दन, तण्डुल, पुष्प, फल, जौ, सरसों, अक्षत, कृष्णतिल, लावा, दूध, दही, घी, सुन्दर दूब, कुश, सुगन्धित द्रव्य, आदि अर्घ्य और अभिषेकमें आवश्यक सब सामग्री तथा उपकरण वहाँपर सजे रखे थे ॥ १८ ॥

द्रव्योंका विशेष फल

जन्म-जरा-मृत्यु आदिकी शान्तिके लिए जल चढ़ाते हैं, विषय वासनाओंको सर्वथा मिटानेके लिये पय (दूध) से पूजा करते हैं, दधिके द्वारा पूजा करनेसे कार्यसिद्धि होती है, दूधसे पूजा करनेसे परम पवित्र धाम (मोक्ष) में निवास प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

शुद्ध तण्डुलोंसे जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी उपासना करनेका फल दीर्घ आयु होती है, सिद्धार्थक (पीले सरसों) की बलि प्रभुके समक्ष समर्पित करनेका अवश्यम्भावी परिणाम यही होता है कि इष्टशिष्ट कार्योंमें किसी भी रूपमें विघ्नबाधा नहीं आती है। जो पुरुष तिलोंकी बलिका भक्तिभावसे उपहार करते हैं वे संसारमें सब ही दृष्टियोंसे वृद्धिको प्राप्त करते हैं ॥ २० ॥

शुद्ध तथा अखण्डित अक्षतोंकी पूजाका परिपाक होनेसे मनुष्य निरोग होता है। यवके उपहारका अटल फल सब दृष्टियोंसे कल्याण है, घृतके उपहारका परिणाम सुरूप और स्वस्थ शरीर होता है, भक्तिभावपूर्वक फलोंके चढ़ानेसे इस लोकमें ही नहीं अपितु परलोकमें भी इच्छानुसार परिपूर्ण भोग प्राप्त होते हैं। सुगन्धमय पदार्थोंकी अंजलि करनेसे प्राणी अपने तथा

सौवर्णरौप्यामलताम्रकांस्यादिन्द्रादिदिक्षु[1] प्रणि[2]धानयोग्यान् ।
विभागवित्तं तु यथानुसंख्यं पात्रप्रकारान्चयांबभूवुः ॥ २२ ॥
[3]सनादकाकाञ्चनका घटाश्च[4] भृङ्गारिकापालिकवर्तकानि ।
शङ्खादिनानाकृतिभाजनानि प्रापूय यन्त्राणि हरिन्मयानि ॥ २३ ॥
नदीजलं प्रश्रयणोदकं च कौप्यं च वाप्युद्भवसारसं च ।
तडागतीर्थोद्भवपुण्यतोयं पुरोधसा संजगृहे यथावत् ॥ २४ ॥
पयोदधिक्षीरघृतादिपूर्णा फलाग्रपुष्पस्तबकापिधाना ।
घटावली दामनिबद्धकण्ठा सुवर्णकारैर्लिखिता रराज ॥ २५ ॥

परायोंको स्नेहभाजन होता है। उसे देखकर ही लोग आह्लादित होते हैं। लावा तथा फूलोंके उपहारका परिणाम जब उदयमें आता है तो प्राणीका हृदय तथा बुद्धि निर्मल और स्थिर होते हैं ॥ २१ ॥

दिक्पाल पूजा

दूसरे प्रतिष्ठाचार्य जिन्हें दिशाओंके अधिपतियों (दिक्पालों) तथा उनके प्रिय अतएव योग्य पात्रोंकी धातु, आदिके विवरणका विशेष ज्ञान था उन लोगोंने ही इन्द्रकूट जिनालयके पूजा मंडपमें शुद्ध सोने, चाँदी, निर्मल ताम्बे, कांसे, आदिके पात्र बनवा कर इन्द्र आदिके पदका ध्यान रखते हुए; संख्या और क्रमके पूरे विचारके अनुकूल स्थापित करवाये थे ॥ २२ ॥

अभिषेक मण्डपमें बड़ी-बड़ी नादें, सोनेके शंख, आदिके सदृश अनेक आकार और प्रकारोंमें बने हुए कलश, झारियाँ, पालिकाएँ (थालीसे गोल घड़े) आवर्तक (घुमावदार पात्र) आदि पात्र तथा सोनेसे ही बने अनेक यन्त्र रखे हुए थे ॥ २३ ॥

इनमें नदियोंके पवित्र जल, झरनोंके धातुओंके रसमय जल, कूपोंके नीर, बावड़ियोंसे भरा गया जल, जलाशयोंके नीर, तालाबोंका जल तथा तीर्थस्थानोंके परम पवित्र जलको पुरोहितने विधिपूर्वक ला कर भर दिया था ॥ २४ ॥

अभिषेक सज्जा

सोने-चाँदी आदिके कितने ही कलश दूध, दही, पय (विशिष्ट पानी), घी आदि अभिषेकमें उपयोगी द्रवोंसे भरे रखे हुए थे, यह सब कलश मुखपर रखे हुए श्रीफल आदि फलों, फूलोंके गुच्छों तथा पत्तोंसे ढके हुए थे। प्रत्येक कलशके गलेमें मालाएँ लटक रही थीं। इस सब शोभाके अतिरिक्त सुवर्णकारोंके द्वारा इनपर खोदी गयी चित्रकारीकी शोभाका तो वर्णन करना ही कठिन था ॥ २५ ॥

१. म ताम्रकस्स्यादिन्द्रादि, [ताम्रकास्यानिन्द्रादि°]। २. क प्रणिदान°। ३. सनादता°। ४. म °पुटाश्च।

अष्टोत्तराः शीतजलैः प्रपूर्णाः सहस्रमात्राः कलशा विशालाः ।
पद्मोत्पलोत्फुल्लपिधानवक्त्रा जिनेन्द्रबिम्बस्नपनैककार्याः ॥ २६ ॥
चतुःप्रकारा ह्युपमानिकाख्या हारिद्रगन्धोदनसत्कृताश्च ।
निर्वर्तितास्त्राः परिधाप्य सूत्रं दूर्वाङ्कुराग्रै रचिताः शिरस्सु ॥ २७ ॥
सुदर्शनीयाः फलजातयश्च क्षीरद्रुमाणां च कषायवर्गाः ।
मनः शिलाहिङ्गुलकुङ्कुमाद्या वर्णप्रकाराश्च सुसंगृहीताः ॥ २८ ॥
गोशीर्षसंज्ञं वरचन्दनं च गन्धान्सुगन्धीन्विविधप्रकारान् ।
पृथग्विधान् धूपवरानथान्यान्पूजाविधिज्ञो विदधौ पुरोधाः ॥ २९ ॥
विचित्रवर्णान्वरवासचूर्णान्दशार्धवर्णांश्च चरूननेकान्[1] ।
माल्यं च संघातिमकादिरम्य विपञ्चयाः[2] पञ्चविधा बभूवुः ॥ ३० ॥

(आठ अधिक एक हजार अर्थात्) एक हजार आठ बड़े-बड़े कलश शीतल जलसे भर कर रखे गये थे। उनके मुख विकसित कमलों, नीले कमलों आदिसे ढके हुए थे। श्री जिनेन्द्रदेवके महाभिषेकके समय ही यह कलश काममें लाये जाते थे ॥ २६ ॥

चार प्रकारकी उपमानिकाओं (मिट्टीके घड़े जो कि पूजा आदि धार्मिक काममें आते हैं) को हल्दी, सुगन्ध द्रव्य तथा ओदन आदिसे संस्कृत किया था। उनपर मालाएँ भी बाँधी गयी थीं। तथा दूवाको रखकर कच्चे तागेसे बाँधकर उनको तैयार करके किनारोंपर रख दिया था। सब जातिके शिष्ट फल एकत्रित किये गये थे जिन्हें देखकर आँखें तृप्त हो जाती थीं ॥ २७ ॥

दूधयुक्त वृक्षोंके फल-पनस, आदि भी लाये गये थे तथा आँवला आदि कसैले फलोंकी भी कमी न थी। मनःसिला (मैनसिल एक प्रकारकी गेरू) इंगु (हिंगुल) कुंकुम, आदि रंगोंकी सब जातियाँ वहाँपर संचित की गयी थीं ॥ २८ ॥

सुगन्धित द्रव्य जिनमें उत्तम चन्दन, गोरोचन, आदि अग्रगण्य थे इन सब सुगन्धित पदार्थों तथा भाँति-भाँतिके अन्य गन्ध द्रव्योंको, अनेक प्रकारकी; एकसे एक बढ़कर धूपोंको तथा अन्य पूजाकी सामग्रीको पूजाकी विधिके विशेषज्ञ पुरोहितने प्रचुर मात्रामें संकलित किया था ॥ २९ ॥

भाँति-भाँतिके सुगन्धित चूर्णोंका भी संचय किया गया था, इनके रंग भी बड़े विचित्र थे। विविध प्रकारके नैवेद्य अनेक रंगों और आकारोंसे युक्त करके बनाये गये थे। संघातिक (विशेष रंग-विरंगी माला) आदि सुन्दर मालाओंके ढेर लगे हुए थे

१. म चरीननेकान् । २. [विपञ्चिकाः] ।

ततो नृपेण प्रतिचोद्यमाना वृद्धाः कराग्रार्पितवेत्रदण्डाः ।
इतोऽमुतस्ते त्वरया विचेरुस्त्वरध्वमित्येवमुदाहरन्तः ॥ ३१ ॥
स्नानानुलिप्तास्तनुशुक्लवस्त्राः कण्ठावसक्तामललोलमालाः ।
ते ब्रह्मचर्यव्रतपूतगात्रा बभ्रुर्बलींस्तान्बलिनो युवानः ॥ ३२ ॥
तेषां बलीनां ज्वलनान्पुरस्थान्[1] कृतोपवासाः शुचिशुक्लवस्त्राः ।
दृढव्रताः श्रावकपुण्डरीका मौलिं यथा मौलबलिं दधार ॥ ३३ ॥
प्रदीपमालामणिमण्डितानां मालाकलापैः परिमण्डितानाम् ।
विभासतामष्टशतैर्बलीनां पेतुः पुरस्त्रीनयनोत्पलानि ॥ ३४ ॥

तथा पाँचों प्रकारकी विपञ्जिका (हवन सामग्री) भी प्रचुर मात्रामें तैयार थी ॥ ३० ॥

उक्त क्रमसे समस्त सामग्री प्रस्तुत हो जानेपर सम्राट वरांगराजने अपने वृद्ध प्रतीहारोंको चलनेका आदेश दिया था। स्वामीका आदेश पाते ही उन्होंने हाथमें बेतका डंडा उठा लिया था और तत्परताके साथ इधर-उधर दौड़ते फिरते हुए पूजाकर्ममें नियुक्त सब लोगोंको कहते जाते थे 'शीघ्रता करो, सम्राट तैयार हैं' ॥ ३१ ॥

सामग्रीको मन्दिर यात्रा

प्रतीहारका संकेत पाते ही पूजा सामग्री ले जानेके लिए नियुक्त युवक लोगोंने समस्त सामग्रीको उठा लिया था। उन सब बलवान् युवकोंने पवित्र लेप करके खूब स्नान किया था, इसके उपरान्त शुद्ध श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके गलेमें हिलती डुलती हुई चंचल मालाएँ पड़ी थीं तथा उन दिनों परिपूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करनेके कारण उनके शरीर अत्यन्त पवित्र थे ॥ ३२ ॥

इन युवकोंके द्वारा उठायी गयी पूजा सामग्री इतनी शुद्ध और स्वच्छ थी कि उसकी प्रभासे सारा वातावरण आलोकित हो रहा था। इन युवकोंके आगे प्रधान श्रावक लोग सर्वोत्तम पूजन सामग्रीको मुकुटके ही समान अपने शिरोंपर रखकर लिये जा रहे थे। इन श्रावकोंने पहिलेसे उपवास कर रखा था, शुद्ध धवल वस्त्र धारण कर रखे थे तथा पूजाके समय पालन करने योग्य सब ही व्रतोंको दृढ़तासे निभा रहे थे ॥ ३३ ॥

समस्त पूजन सामग्रीके आस-पास मणि तथा दीपोंकी आवलियाँ सजायी गयी थीं, वे सब ओरसे सुन्दर सुगन्धित मालाओंसे वेष्टित थीं तथा उनकी छटा अद्भुत ही थी। इस विधिकी एक सौ आठ प्रमाण पूजन सामग्री जब राजसदनसे मन्दिर ले जायी रही थी, तब नगरकी कुलबधुएँ बड़ी उत्सुकतापूर्वक उसे देख रही थीं ॥ ३४ ॥

---

१. [ज्वलतां पुरस्तात्]।

व्याधूयमानानि विलासिनीभिर्वृन्दानि तान्युत्तमचामराणाम् ।
उत्पश्यतां तत्र समागतानां समुत्पतद्धंसनिभान्यभूवन् ॥ ३५ ॥
प्रोतैश्च सूत्रैर्मणिभिर्महार्घैः प्रान्ते निबद्धा विलसद्विताना: ।
समुच्छ्रिताः काञ्चनदण्डतुङ्गा गङ्गातरङ्गा इव ते विरेजुः ॥ ३६ ॥
हंसांसकुन्दच्छदपाण्डुराणि वैडूर्यदण्डानि मनोहराणि ।
सकिङ्किणीकानि सदा [1]महानि छत्राणि रेजुर्युवभिर्धृतानि ॥ ३७ ॥
भृङ्गा[2]रिकादर्शनपालका[3]द्यान्समुल्लसच्चित्रपटान्सपुष्पान्[4] ।
हस्तेषु धृत्वा विविधप्रकारांस्तेषां पुरस्ताल्ललना निरीयुः ॥ ३८ ॥

चमर-धारिणी ललनाएँ

पवित्र वेशभूषा युक्त शिष्ट सुन्दरियाँ पूजन-सामग्रीके आसपास चमर हिलाती जाती थीं। वे सबके सब चमर भी उत्तम प्रकारके धवल चमर थे। अतएव देखनेके लिए मार्गके दोनों ओर एकत्रित हुए विशाल जन समूहको ऐसा अनुभव होता था मानों सामग्रीके आसपास हंस ही उड़ रहे हैं ॥ ३५ ॥

महा मूल्यवान मणियोंको सूतमें पिरो कर झालर बनायी थी और उसे चमरोंके अन्तिम भागमें लगा दिया था। चमरोंको डंडिया स्वच्छ सोनेसे बनी थी। ऐसे लम्बो डंडीयुक्त चमरोंको जब युवक ढोरते थे तो वे गंगाकी लहरोंके समान शोभित होते थे। सामग्रीके ऊपर युवक लोग पवित्र छत्र लगाये थे ॥ ३६ ॥

इन छत्रोंके बड़े-बड़े मनोहर डंडे वैडूर्य मणियोंके बने थे, इनके ऊपर मड़ा हुआ वस्त्र हंसके पंखों अथवा कुन्द (जुही या कनैर) पुष्पकी पंखुड़ियोंके समान अत्यन्त धवल था तथा चारों ओर मधुर शब्द करती हुईं छोटी-छोटी घंटियाँ बंधी हुई थीं ॥ ३७ ॥

भृंगारिक (झारी), दर्शन (दर्पण), पालक (पंखा) आदि अष्टमंगल द्रव्य तथा अत्यन्त शोभाके भंडार माला आदि-से सुसज्जित चित्रों और चित्रपटोंको हाथोंमें लेकर सबके आगे-आगे कुलीन कुमारियाँ चल रही थीं। इन वस्तुओंके समस्त आकार और प्रकारोंका वर्णन करना अतीव कठिन था ॥ ३८ ॥

---

१. [महान्ति]। २. [भृङ्गारिका]। ३. क °पालिकाद्यान्। ४. म °सपट्टान्।

चक्रासिनाराचवराङ्कुशानां युग्मानि च स्वस्तिकबन्धनानि ।
श्रीमङ्गलार्थानि विभूतिमन्ति कान्ताकराग्रावधृतानि रेजुः ॥ ३९ ॥

तासामथाग्रे तडिदग्रभासां रूपश्रिया ह्यप्सरसा समानाः ।
सुगन्धिरक्तोत्पलवर्णपूरांस्तान्वर्णपूरानबलाः प्रणिन्युः ॥ ४० ॥

पुण्याम्बुपूर्णान्विहितान्[1] योजैरष्टाधिकांस्तत्र सहस्रमात्रान् ।
प्रस्पर्धयेवातिविलासवन्त्यो जह्रुस्तरुण्यो वररुक्मकुम्भान् ॥ ४१ ॥

हसन्ति ये स्वाकृतिमत्तया च विलासिनीनां स्तनकुट्मलानि ।
समृन्मयांस्तान्कलशाननेकान् जग्राह तोयैर्वनितासहस्रम् ॥ ४२ ॥

कन्याः स्मरास्त्रागतलक्ष्यभूताः प्रोद्भिद्यमानाः स्तनकुट्मलिन्यः ।
शरावसंवर्धितवल्लरीभिः पिधाय माङ्गल्यघटान्प्रणिन्युः ॥ ४३ ॥

चक्रों, खड्गों, धनुषों तथा श्रेष्ठ अंकुशोंकी जोड़ियाँ, तथा स्वस्तिकोंकी मालाओं आदिको व्रतधारिणी स्त्रियाँ ही अपने हाथोंसे उठाकर ले जा रही थीं। इनकी विभूति अपार थी। इनकी उपयोगिता भी केवल शोभा और शकुन ही थे। इन चक्र, आदि मंगल द्रव्योंको ले जानेवाली स्त्रियोंकी कान्ति बिजलीके समान चमक रही थी ॥ ३९ ॥

इनके भी आगे-आगे जो देवियाँ चल रही थीं वे तीव्र सुगंधयुक्त तथा लाल कमलके समान गाढ़े और मनोहर रंगयुक्त रंगोंकी सामग्रीको ले जा रही थीं। ये देवियाँ इतनी अधिक लावण्यवती थीं कि उनके सौन्दर्यकी तुलना अप्सराओंसे ही हो सकती थी ॥ ४० ॥

सबसे उत्तम श्रेणीके सोनेसे निर्मित एक हजार आठ कलशोंको जो कि पवित्र निर्मल जलसे भरे हुए थे तथा विकसित कमलोंसे ढके हुए थे। ऐसा प्रतीत होता था कि उन्हें स्पर्द्धासे ही प्रेरित होकर ही कुलीन तरुणियोंने उठा लिया था और जिनालयको ले जा रही थीं। सोनेके कलशोंके अतिरिक्त अनेक मिट्टीके घड़े भी पवित्र जलसे भर कर रखे गये थे ॥ ४१ ॥

कलश यात्रा

इन सब सुन्दर सज्जित कलशोंको भी हजारों स्त्रियाँ उठाकर लिये जा रही थीं। ये कलश ऐसे प्रतीत होते थे कि अपने सुभग आकारसे विलासिनी कुलबधुओंके स्तनरूपी कलियोंकी हँसी ही उड़ाते थे ॥ ४२ ॥

ऐसी किशोरियाँ जो कि कामदेवके बहुत दूर तक भेदनेवाले आयुधोंका लक्ष्य बन चुकी थीं तथा जिनके सुकुमार स्तनरूपी कलियाँ उठ ही रही थीं वे छोटे-छोटे शरावों (गमलों) में लगी हुई सुन्दर लताओंके द्वारा ढके हुए मांगलिक कलशोंको

---

१. क °विहितान्ययोजैः ।

मृगेन्द्रपद्मोक्षरथाङ्गवस्त्राः[1] सुपर्णनागेन्द्रमहेन्द्रकेतून् ।
ऊढ्वा[2] चलत्कुण्डलहारयष्टीन् भ्राजिष्णुदेहाः पुरुषाः प्रजग्मुः ॥ ४४ ॥
स स्नापकः[3] स्नातविलिप्तगात्रो यक्षः सदक्षः स्नपने प्रवीणः ।
भृङ्गारकं हेममयं विचित्रं वहन्बभौ सूर्यमिवोदयाद्रिः ॥ ४५ ॥
पुष्पाणि सत्केसरधूसराणि गन्धावबद्धभ्रमरावलोभिः ।
सिक्तानि सच्चन्दनतोयगन्धैर्ययुः किरन्तः पुरतस्तथान्ये ॥ ४६ ॥
नटाश्च भण्डाः खलु मागधाश्च विदूषकाश्चापि विडम्बकाश्च ।
विचित्रवेषाः परिहासयन्तः पूजाजनं[4] तं परितः प्रशंसुः ॥ ४७ ॥

लेकर इन्द्रकूट जिनालय पहुँचा रहो थीं ॥ ४३ ॥

चंचल कुंडल तथा हारोंको पहिने हुए स्वस्थ, तेजस्वी तथा बलिष्ठ शरीरधारी पुरुष भवनवासी देवोंके सुपर्णकुमार, नागकुमार तथा कल्पवासियोंके इन्द्रोंके विशाल तथा ललित केतुओंको लिए हुए जिनालयको दिशामें जा रहे थे। इन ध्वजाओंके ऊपर (मृगोंके इन्द्र) सिंह, कमल, वृषभ, चक्र आदिको सुन्दर तथा सजीव आकृतियाँ बनी हुई थीं ॥ ४४ ॥

जिस सज्जनको श्री जिनेन्द्रदेवके स्नानमें प्रधानका कार्य करना था, उसने उबटन आदि लगाकर स्वयं विधिपूर्वक स्नान किया था, उसकी सब इन्द्रियाँ पूर्ण स्वस्थ थीं तथा वह यक्षदेवोंके समान ही स्नापन तथा कलशाभिषेकमें अत्यन्त कुशल था। अतएव जिस समय वह सोनेकी विशाल तथा विचित्र झारीको लेकर चला था तब ऐसा लगता था कि उदयाचल पर्वत ही सूर्यके बिम्बको लेकर चल रहा है ॥ ४५ ॥

इनके आगे कितने ही लोग फूलोंको बिखेरते चल रहे थे। श्रेष्ठ सुन्दर परागरूपी धूलसे वे फूल धूसरित हो रहे थे। उनकी सुगन्धसे आकृष्ट होकर भौंरोंके झुण्डके झुण्ड उनपर टूट रहे थे। तथा वे सब फूल मुरझानेसे बचानेके लिए उत्तम चन्दन मिश्रित जलसे सींचे गये थे ॥ ४६ ॥

जलयात्राके विविध रूप

नट लोग, भाँड़ लोग, तथा अनेक जातियोंके भोजक, परिहासकुशल विदूषक तथा विडम्बकों (नकल उतारनेवाले) ने अपना वेशभूषा ही ऐसा बना रखा था कि उसे देखकर तथा उनकी बातोंको सुनकर ही हँसी आती थी। इस विधि से अद्भुत शैली से लोगोंका मनोरंजन करते हुए सब दृष्टियोंसे जिन पूजाकी प्रशंसा करते चले जा रहे थे ॥ ४७ ॥

---

१. [°वक्त्राः]। २. म ऊर्ध्वा° । ३. म सस्नापकाः । ४. [पूजार्चनं]।

मृदङ्गभेरीरवमर्दलास्य[1] मन्द्रो ध्वनिस्तत्र नृणां श्रवस्सु ।
विवर्धमानस्य हि सर्वसन्ध्यो महार्णवस्येव रवो बभूव ॥ ४८ ॥

सिता बलाकाश्रयमादधानाः काश्चिच्च सन्ध्यारुणिताम्बराभाः ।
नीलाश्च पीता हरिताश्च काश्चिद्दशार्धवर्णा विबभुः पताकाः ॥ ४९ ॥

परार्ध्यनानामणिमिश्रितानि समुल्लसत्काञ्चनदामकानि ।
विलम्बिमुक्तातरलाञ्चितानि वीथीषु रेजुर्वरतोरणानि ॥ ५० ॥

तीर्थाम्बुपूर्णाः स्वविभाकराला: कण्ठावसक्तोज्ज्वलचारुमालाः ।
पद्मापिधानास्तपनीयकुम्भा रेजुः प्रतिद्वारमुदग्धरूपाः[2] ॥ ५१ ॥

[3]स्वभावनिर्वर्तितभूतियुक्तं जिनेन्द्रपूजाद्विगुणीकृतार्थम् ।
ततस्तदानर्तपुरं क्षणेन [4]वस्वोकसारश्रियमुद्बभार ॥ ५२ ॥

मृदंग, भेरी आदि बाजोंकी जोरकी आवाज दर्शनार्थियोंके कानोंसे टकरा रही थी। इन सबमें मर्दल (बड़े नगाड़े) की मोटी तथा दूरतक सुनायी देनेवाली ध्वनि प्रधान थी। सब बाजोंको मिली हुई ध्वनिको सुनकर लोगोंके मनमें अमावस्या तथा पूर्णिमाके दिन आये ज्वार भाटेके कारण उमड़ते हुए कुपित समुद्रके रोरकी आशंका उत्पन्न हो जाती थी ॥ ४८ ॥

कुछ पताकाओंके कपड़ेकी शोभा सारसोंकी पंक्तिके समान अत्यन्त धवल थी, कितनी ही पताकाओंके लहराते हुए वस्त्रको देखकर सन्ध्याके रंगसे रक्त मेघोंका धोखा हो जाता था। अन्य अनेक पताकाएँ नीले, पीले तथा हरे रंगोंकी थीं ॥ ४९ ॥

कुछ पंचरंगी भी थी जिनकी शोभा देखते ही बनती थी। गली, गलीमें तथा उनके मोड़ोंपर सुन्दर तोरण बनाये गये थे। उनपर चमचमाते हुए निर्मल सोनेकी बन्दनवारें और मालाएँ लटक रही थीं, जिनके बीच, बीचमें बहुमूल्य मणिमुक्ता पिरोये गये थे। मोतियोंकी लड़ियाँ भी तोरणोंमें लटक रही थीं जो कि हवाके झोकोंसे चंचल होनेपर अद्भुत छटा उपस्थित कर देती थीं ॥ ५० ॥

नगरके प्रत्येक गृहके द्वारपर सोनेके बड़े-बड़े घड़े कलश, तीर्थोंका पानी भर कर रखे गये थे। उन कलशोंकी छटा बड़ी प्रखर और प्रकाशमय थी, उनके गलेमें सुन्दर सुगन्धित मालाएँ लपटी हुई थीं तथा वे सबके सब विकसित कमलोंसे ढके हुए थे। इस सजावटके कारण उनकी शोभा अति अधिक बढ़ गयी थी ॥ ५१ ॥

सम्राट वरांगके द्वारा स्थापित आनर्तपुरका निवेश प्रारम्भमें ही ऐसी सुन्दर वास्तु शैलीके अनुसार हुआ था कि वह सहज ही सुसज्जित नगरोंसे अधिक सुन्दर दिखता था, उसपर भी जब जिनेन्द्रमहकी तैयारी हुई तो उसकी शोभा दुगुनी हो गयी

१. [मर्दलस्य]। २. [प्रतिद्वारमुदग्र°]। ३. म स्वभार°। ४. [वस्वेक]।

चलत्पताका निपतद्बलाका जनोदका[1] चामलहंसमाला ।
वितानकोर्मिर्बलिफेनराशिः पूजामहापुण्यनदी ससार ॥ ५३ ॥
नरेन्द्रगेहाज्जिनदेवगेहं तदोत्तमर्द्धिश्च शनैः प्रयान्तो ।
पूजोद्गतानां विरराज पङ्क्तिः तारागणानां नभसीव पङ्क्तिः ॥ ५४ ॥
द्विषत्स्वसूयां प्रमदास्वनङ्गं धनानि दीनेषु मुदं निजेषु ।
[2]ददन्कटान्तभ्रमरप्रतानं राजाधिरूढः करिणं जगाम ॥ ५५ ॥
पौराङ्गनाभिः कृतभूषणाभिर्वृद्धैर्नरैः पोष्यजनैः परीताः ।
नरेन्द्रपत्नीशिबिकाः प्रयाता गन्तुं प्रवृत्ता इव सौधमालाः ॥ ५६ ॥

थी। उसके विभव और शोभाको देखकर ऐसा लगता था कि उसने सम्पत्तिके एकमात्र अधिपति (कुबेर) की लक्ष्मीके सारको ही प्राप्त कर लिया था ॥ ५२ ॥

जलयात्रा-सरिता रूपक

पूजारूपी पवित्र नदी ही उस नगरके मार्गपर उमड़ती चली जा रही थी। मन्दिरकी ओर जाते हुए लोगोंकी भीड़ उस नदीकी जलराशि थी, ऊपर उठाये गये धवल छत्र ही उसकी लहरें थे, पूजन अभिषेक सामग्री फेन थी, लहराती हुई ऊँची-ऊँची पताकाओंने उड़ कर झपट्टा मारते हुए सारसोंके झुंडका स्थान ग्रहण किया था तथा डुलते हुए चंचल चमर ऐसे प्रतीत होते थे मानो हंसोंकी पंक्तियाँ ही उड़ रही हैं ॥ ५३ ॥

पूजा करने और देखनेके लिए सम्राटके राजभवनसे निकल कर इन्द्रकूट जिनालय तक पहुँची हुई धार्मिक श्रावकोंकी विभव और कान्तिसे शोभायमान पंक्ति धीरे-धीरे चलती हुई ऐसी लगती थी, जैसी कि निर्मल आकाशमें चमकते हुए असंख्य तारोंकी पंक्ति शोभित होती है ॥ ५४ ॥

सम्राटके चढ़नेके लिए लाये गये हाथीके गण्डस्थलसे मदजल बह रहा था अतएव उन्हें (गण्डस्थलोंको) भौरोंके झुंडने घेर रखा था। ऐसे हाथीपर जब श्री वरांगराज जिनालयके लिए निकले थे तब उनके आन्तरिक हर्षकी सीमा न थी। उस समय उन्होंने दीनोंको धन लुटाया था, अपने सौन्दर्यके कारण यौवन मदसे उन्मत्त नायिकाओंमें उत्तेजना उत्पन्न की थी तथा युद्धवीर आदि रूपोंके साथ अपने धर्मवीर रूपोंको भी प्रकट करके शत्रुओंके मनमें असूयाका संचार किया था ॥ ५५ ॥

धर्म महोत्सवके अनुकूल वेशभूषासे सुसज्जित नगरकी कुलीन देवियोंके साथ-साथ सम्राटकी पत्नियोंकी पालकियाँ निकलना प्रारम्भ हुई थीं। जिन्हे देख कर चलते-फिरते गृहोंकी पंक्तिका भ्रम हो जाता था। इन पालकियोंके आगे पीछे तथा

१. [जनोदकार्चा°]। २. क दधन्।

एवं प्रभूत्या नरदेवपत्न्यो नृपेण संप्राप्य जिनेन्द्रगेहम् ।
प्रदक्षिणीकृत्य बलिं प्रविश्य परीत्य तस्थुर्ह्यभिषेकशालाम् ॥ ५७ ॥
सुगन्धिगन्धोदकधौतपाणिस्तुरुष्कसंधूपितधूपपाणिः ।
पुष्पाक्षतक्षेपणदक्षपाणिः स स्नापको दर्भपवित्रपाणिः ॥ ५८ ॥
मृदङ्गगम्भीरनिनादनादं लसत्पताकोरुतरङ्गरङ्गम् ।
व्यालोलसच्चामरफेनमालं पूजासरस्तच्छनकैर्जगाहे ॥ ५९ ॥
आनीय लोकत्रयनाथबिम्बमास्थाय मौनव्रतमासमाप्तम् ।
आस्थाप्य रत्नाञ्चितपीठिकायां पूजाविधौ यत्नपरो बभूव ॥ ६० ॥

दोनों पक्षोंमें वृद्ध पुरुष तथा अन्तःपुरमें पले-पुषे अन्य परिचारकोंके झुंड चले जा रहे थे ॥ ५६ ॥

पुजारी राजा

पूर्वोक्त साज-सज्जा तथा वैभवके साथ राजपत्नियाँ सम्राटके पीछे-पीछे ही इन्द्रकूट जिनालयमें जा पहुँची थीं। वहाँ पहुँचते ही उतर कर उन सबने पहले तीन प्रदक्षिणाएँ की थीं, फिर प्रवेश करके अर्घ्य आदि सामग्री चढ़ा कर वे अभिषेकशालो की ओर चली गयी थीं। वहाँपर वेदीके चारों ओर वृत्ताकार बनाकर वे बैठ गयी थीं ॥ ५७ ॥

अभिषेक शालामें स्नपनाचार्य पहिलेसे ही सुगन्धित चन्दन मिश्रित जलसे हाथ धोये हुए, उचित मुहूर्तकी प्रतीक्षा कर रहे थे। तुखार (पुरुष्क) देशसे लायी गयी धूपको वैसान्दुर में जलाया जा रहा था उससे निकलते हुए धुएँमें डालकर उन्होंने अपने हाथोंको सुखा लिया था। उनके हाथ पुष्प आदि सामग्रीको विधिपूर्वक यथास्थान डालनेमें अत्यन्त अभ्यस्त थे तथा पवित्र कुशाको हाथमें लिये ही वे खड़े थे ॥ ५८ ॥

मुहूर्त प्रतीक्षा

अभिषेकका समय निकट होनेके कारण मृदंग आदि बाजे लगातार बज रहे थे, जिनसे मन्द्र और गम्भीर नाद हो रहा था, लहराती हुई ऊँची पताकाएँ लहरोंके सदृश महोहर थीं तथा हर दिशामें ढुरते हुए चमर स्वच्छ सुन्दर फेनपुंजके समान दिखते थे अतएव अभिषेक गृह पूजासर (तालाब) समान लगता था ॥ ५९ ॥

सम्राटके पहुँचते ही स्नापकाचार्य धीरेसे इस तालाबमें उतर गये थे अर्थात् उन्होंने कार्य प्रारम्भ कर दिया था। वह तुरन्त ही जाकर तीनों लोकोंके साथ जिनेन्द्र प्रभुकी मूर्तिको ले आये थे। उसको रत्नोंसे जड़े गये महार्घ आसनपर विराजमान करके उन्होंने उपक्रमकको समाप्ति पर्यन्त मौनव्रत धारण कर लिया था। तथा मन, वचन तथा काय तीनोंको लगाकर प्रयत्न-पूर्वक पूजा प्रारम्भ कर दी थी ॥ ६० ॥

प्रणम्य पूर्वं सुसमाहितात्मा भृङ्गारवर्यं परिगृह्य दोर्भ्याम् ।
पादाभिषेकं प्रथमं विकृत्य तत्याज निर्माल्यकमुत्तरेण ॥ ६१ ॥

प्रमार्ज्य हस्ताम्बुरुहद्वयेन अर्घ्यं च वामाग्रकरे निधाय ।
अङ्गुष्ठमार्गेण निपात्य तोयं स्वाहा जिनादिभ्य इति प्रमन्त्र्य ॥ ६२ ॥

सम्यग्विधायार्घ्यमथोत्तमाङ्गे मन्त्राक्षराण्यध्युपजाप्य धीमान् ।
उच्चैः पठंस्तोत्रवरं जिनस्य मूर्ध्नाभिषेकं मुदितः प्रचक्रे ॥ ६३ ॥

संधौतहस्तः कुसुमाक्षतानि निक्षिप्य पादाम्बुरुहे जिनस्य ।
तैर्वर्णपूरैरुपमानिकाभिर्निपातयंस्तोयघटैः सहैव ॥ ६४ ॥

स्वच्छाम्बुपूर्णैर्वरहेमकुम्भैस्तैर्मृन्मयैः सत्कुसुमावकीर्णैः ।
घटैरनेकैरभिषिच्य नाथं तं गन्धपङ्केन विलिम्पति स्म ॥ ६५ ॥

अभिषेक प्रारम्भ

अपने आत्मा तथा अन्य इन्द्रियोंको एकाग्र करके स्नापकाचार्यने सबसे पहिले साष्टांग प्रणाम किया था, तब दोनों भुजाओंसे सावधानीके साथ बड़ी झारीको उठाया था। और सबसे पहिले श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवके चरणोंका अभिषेक प्रारम्भ करते हुए उत्तर दिशाकी ओर पूजाकी सामग्रीका अर्घ समर्पित किया था ॥ ६१ ॥

दोनों हाथों रूपी कमलोंके द्वारा पहिले भगवानकी मूर्तिको भलीभाँति पोंछा था, फिर बायें हाथकी हथेलीपर अर्घ्य लेकर 'जिनादिभ्यः स्वाहा' स्पष्ट-रूपसे मुख द्वारा उच्चारण करते हुए हाथके अँगूठेके सहारे वे थोड़ेसे पानीकी पतली धार गिराते जाते थे ॥ ६२ ॥

इतनी विधि पूर्ण कर लेनेके पश्चात् उन्होंने बीजाक्षर (ओम् ह्रां, ह्रीं, आदि) परिपूर्ण मंत्रोंका विशुद्ध उच्चारण करते हुए श्री जिनेन्द्र बिम्बको उत्तमांग (मस्तक) पर यथाविधि रखकर अर्घ्य चढ़ाया था। फिर ऊँचे स्वरसे स्तोत्रोंका पाठ करते हुए परम प्रसन्न विवेकी स्नापकाचार्यने जिनबिम्बका मस्तकाभिषेक किया था ॥ ६३ ॥

इतना कार्य समाप्त करके उन्होंने फिर अपने हाथोंको धोया था। तब पुष्प और अक्षत उठाकर जिनेन्द्रदेवके चरणोंमें चढ़ाये थे। इसके बाद रंग-बिरंगे जलोंसे परिपूर्ण उपमानिकाओंके जलकी धाराके साथ-साथ अन्य कलशोंके पवित्र जलकी धारा देना भी प्रारम्भ किया था ॥ ६४ ॥

निर्मल, पवित्र जलसे भरे सोनेके एक हजार आठ कलशोंसे अभिषेक करनेके पश्चात् विकसित पुष्पोंसे ढके मिट्टीके घड़ोंकी धाराएँ जिनेन्द्रदेवके मस्तकपर छोड़ी थीं तथा और भी अनेक प्रकारके रसोंसे परिपूर्ण कलशोंसे अभिषेक कर चुकनेके बाद

१. म सर्वाभिषेकं ।

सुगन्धिसच्चन्दनतोयसिक्ताः स्वकेशरव्याततचूर्णचाम्राः[1] ।
पर्यन्तमत्तप्रचलद्विरेफा आरोपयामास सुपुष्पमालाः ॥ ६६ ॥
सुवर्णपुष्पैर्विविधप्रकारैः रत्नावलीभिस्तडिदुज्ज्वलाभिः ।
विभूषणानि प्रतिभूषयन्तौ विभूषयामास तदा जिनार्चाम् ॥ ६७ ॥
प्रदाप्य दीपांश्च हविर्निवेद्य निवेदयामास महाबलिं च ।
स्थानं विदित्वा गृहदेवतायां[2] दिशाबलीनार्द्रकरः प्रचक्रे ॥ ६८ ॥
अद्भिः पवित्रीकृतहस्तपद्मः प्रदर्शयामास स दर्पणादीन् ।
विमुच्य मौनं ह्यभिषेचनान्ते स स्वस्तिकां त्रिर्निरुवाच वाचम् ॥ ६९ ॥

आचार्यने चन्दनके उबटनसे भगवान्का लेप किया था ॥ ६५ ॥

इसके उपरान्त आचार्यने जिनबिम्बके गलेमें सुन्दर, सुगन्धित तथा अम्लान पुष्पमाला पहिना दी थी। वह माला सुगन्धित चन्दनके जलसे आर्द्र की गयी थी. अपने किंजल्कों (जीरों) से झरे परागरूपी धूलके कारण उसका रंग धूमिल हो गया था तथा उसकी सुगन्धसे उन्मत्त भौंरे चारों तरफ गुंजार कर रहे थे ॥ ६६ ॥

जिनबिम्ब-शृंगार

उस समय अनेक आकार और प्रकारके सोनेके पुष्पों; बिजलीके उद्योतके समान प्रखर प्रभामय रत्नोंकी मालाओं, तथा विविध आभूषणोंके समर्पणके द्वारा अर्घ्य चढ़ा कर पुजारियों और दर्शकोंने जिनपूजा (रूपी नायिका) का ही शृंगार कर डाला था ॥ ६७ ॥

चारों ओर दीपावलियाँ प्रज्वलित कर दी गयीं थीं, सब प्रकारकी हवन सामग्रीका होम करनेके पश्चात् पूर्ण आहुति दी गयी थी। इसके उपरान्त आचार्यने हाथ बिना सुखाये ही अर्थात् तुरन्त ही जिनालयके क्षेत्रपाल देवताओंके स्थानको निमित्त आदि ज्ञानसे जानकर उसी दिशाको लक्ष्य करके उन्हें तथा समस्त दिक्पालोंको शेषको अर्घ्य दिये थे ॥ ६८ ॥

अष्टमंगल द्रव्यार्पण

इस क्रमसे अभिषेक विधानको पूर्ण करके स्नापकाचार्यने जलसे अपने हाथ धोये थे, और दर्पण, चमर आदि मंगल द्रव्यों को जिनविम्बके सामने रखकर प्रदर्शित किया था, तब उन्होंने अपने मौनको खोलकर तीन बार स्वस्तिमंत्रका वाचन किया

---

१. कचूम्रा, [धूम्राः]। २. [गृहदेवतानां]।

मङ्गल्यगीतस्तुतिमन्त्रयुक्तः कृताञ्जलिः साधुगणो हि तत्र ।
परीत्य सर्वोऽतिविशुद्धभावः सर्वज्ञबिम्बं प्रणनाम भक्त्या ॥ ७० ॥
धर्मोऽर्हतां सर्वजगद्धिताय प्रवर्धतामित्यभिघोषयन्सः ।
साशीर्वचस्तूर्यमृदङ्गनादैः प्रवेशयां तां प्रतिमां बभूव ॥ ७१ ॥
ततो वचःकायमनोविशुद्धः प्रविश्य राजा जिनदेवगेहम् ।
प्रियासमेतः प्रणिपत्य भक्त्या जग्राह शेषां जिनदेवतायाः ॥ ७२ ॥
मनोरथं प्राप्य नरेन्द्रपत्नी महेन्द्रपत्नीव विराजमाना ।
उपोपविष्टा प्रभुनैव सार्धं मुदं परामात्मनि सा जगाम ॥ ७३ ॥

था ॥ ६९ ॥

स्वस्तिवाचनके बाद ही वहाँ उपस्थित साधु एवं सज्जन हाथ जोड़े हुए मंगल, विनती, स्तोत्र तथा मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए श्री जिनेन्द्रदेवकी मूर्तिके सामने आये थे। उनके मन तथा भाव अत्यन्त शुभ और शुद्ध थे अतएव उन्होंने भक्तिसे गद्‌गद होकर प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया था ॥ ७० ॥

इसके तुरन्त बाद ही स्नापकाचार्यने धीर गम्भीर स्वरसे घोषणा की थी 'संसार भरके प्राणियोंका कल्याण करनेके लिए अर्हन्तकेवलीके द्वारा उपदिष्ट जिनधर्मका जय हो।' तदनन्तर आशीर्वाचन करते हुए मृदंग तूर्य आदि बाजोंके नादके बीच ही उन्होंने जिनबिम्बको वेदिकापर विराजमान कर दिया था ॥ ७१ ॥

आशीर्वाद

इस प्रकार अभिषेक समाप्त होते ही मन, वचन तथा कायसे पूर्ण शुद्ध सम्राटने अपनी रानियोंके साथ गर्भगृहमें प्रवेश किया था। जिनबिम्बोंके सामने जाते ही उन्होंने भक्ति-भावसे ओतप्रोत होकर साष्टांग प्रणाम किया था। तथा जिनेन्द्रदेव की शेषिका (आरती होनेके बादका दीपक या वैसान्दुरके पात्र पर दोनों हाथ जोड़कर उसका धुंआ आदि लेकर आँखों और मस्तकपर लगाना) को ग्रहण किया था ॥ ७२ ॥

पट्टरानी अनुपमाका मनोरथ (जिनपूजोत्सव) उस समय पूर्ण हो रहा था अतएव मन ही मन उनको जो असीम आनन्द हो रहा था उसको वर्णन करना असम्भव है। पूजामण्डपमें सम्राटके साथ बैठी हुई पट्टरानीकी कान्ति और तेजको देख कर महेन्द्रकी पत्नी शचीका धोखा हो जाता था ॥ ७३ ॥

जिनेन्द्रसिद्धान्तविधौतबुद्धिर्वाक्कायचित्तत्रयजातशुद्धिः ।
प्रशान्तभावाहितधर्मवृद्धिः कश्चिन्मुनिर्धर्ममवोचदित्थम् ॥ ७४ ॥
इह प्रणिर्वर्तितसत्क्रियस्य जिनेन्द्रगेहस्य फलादमुत्र ।
सर्वर्द्धिमत्सद्व्रतिसौख्यवन्ति विमानवर्याणि नरा लभन्ते ॥ ७५ ॥
महामहं यः कुरुते जिनानां सौधं मुदा दृष्टि न भोगवृद्धौ[1] ? ।
भुक्त्वा चिरं तं नृसुरासुराणां सुखं ततो यास्यति मोक्षसौख्यम् ॥ ७६ ॥
संस्थाप्य यत्नात्प्रतिमा[2] जिनानां नरामराणां सुखमभ्युपैति ।
क्षीराभिषेकप्रमुखक्रियाभी राज्याभिषेकस्य भवेत्स भागी ॥ ७७ ॥

इसी शुभ अवसर पर किन्हीं मुनिराजने धर्मोपदेश देकर प्रभावना करनेके अभिप्रायसे निम्न व्याख्यान दिया था। जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंका अध्ययन करनेसे उन गुरुवरकी बुद्धि निर्मल हो गयी थी, त्रिगुप्तिका पालन करनेके कारण उनकी मानसिक, वाचनिक तथा कायिक प्रवृत्तियाँ परिशुद्ध ही हुयीं थीं तथा सदा शान्त भावोंके कारण दिन-रात उनका शुभ और शुद्ध उपयोग बढ़ रहा था ॥ ७४ ॥

जिनपूजादि का फल

जो प्राणी इस धरित्रीपर आदर्श जिनालय बनवाकर सत्य धर्मकी परम्पराको विच्छिन्न होनेसे बचाते हैं; बचाते ही नहीं हैं, अपितु उसका प्रसार करते हैं, वे परम धार्मिक इस संसारको छोड़नेके बाद उन उत्तम विमानोंको प्राप्त करते हैं जो कि समस्त ऋद्धियों, समीचीन प्रेम-प्रपंच तथा अनवरत सुखोंसे परिपूर्ण हैं ॥ ७५ ॥

तथा जो धर्म-प्रवण व्यक्ति जिनालयका निर्माण कराके आह्लाद-पूर्वक जिनेन्द्र प्रभुका महामह (बड़ी पूजा) कराता है तथा जिसको संसारके भोग विषयों अथवा सम्पत्ति पद आदिकी वृद्धिका मोह नहीं है वह आगामी भवोंमें दीर्घकाल पर्यन्त मनुष्य गति, देव तथा असुरोंके उत्तमोत्तम भोगोंका उपभोग करके अन्तमें मोक्षरूपी महासुखको ही प्राप्त करता है ॥ ७६ ॥

जिनालयोंमें जो केवल श्री जिनबिम्बकी स्थापना ही कराते हैं वे भी मनुष्य तथा देवगतिके सुखों और अभ्युदयोंको प्राप्त करते हैं ।

अभिषेक का फल

तथा जो पुरुष दूध, दधि, इक्षु-रस, आदिके द्वारा जिनेन्द्रदेवका पंञ्चामृत अभिषेक कराते हैं वे स्वयं राज्य-अभिषेक आदिके अधिकारी होते हैं ॥ ७७ ॥

---

१. क° गृद्धौ । २. ब प्रतिमां ।

गन्धार्चनेश्चम्पकनागगन्धान्मूर्त्या[1] स्वगन्धैरतिशेरते तान् ।
धूपप्रदानैः कुलकेतवः स्युस्तेजस्विनः स्युर्वरदीपदानैः ॥ ७८ ॥
माल्यप्रदानैर्विरतेश्चरेभ्यो भवन्ति हेमाङ्गदभूषिताङ्गाः ।
भवन्ति भास्वन्मकुटप्रदानात्स्फुरत्किरीटोत्त[2]मपट्टचिह्नाः ॥ ७९ ॥
शुद्धिं लभन्ते वरदर्पणेन भृङ्गारतः स्युः कमनीयरूपाः ।
शान्तिं भजन्ते कलशप्रदानात् स्थालाद्धनेनाढ्यतमा भवन्ति ॥ ८० ॥
चक्रप्रदानाद्विनतारिपक्षास्तूर्यैस्त्रिलोकप्रथितप्रणादाः ।
विद्याधरत्वं हि वितानदानाच्छत्रप्रदानाद्विपुलं हि राज्यम् ॥ ८१ ॥

द्रव्यपूजा का फल

जो मनुष्य सुगन्धित द्रव्योंके द्वारा वीतराग प्रभुकी पूजा करते हैं उनके शरीर, श्वास, पसीना आदि ऐसे सुगन्धित होते हैं कि उसके आगे चम्पक, नागकेशर आदि प्रखर गंधमय पुष्पोंकी सुगन्ध भी मन्द पड़ जाती है धूपकी अंजलि समर्पित करनेसे मनुष्य अपने कुलोंमें प्रधान व्यक्ति होते हैं तथा दीपकसे अर्चना करनेका परिणाम होता है तेज युक्त भाव और देह ॥ ७८ ॥

मालाओंके उपहार जिन चरणोंमें देनेसे केवल विषयोंसे ही विरक्ति नहीं होती है, अपितु स्वर्णमय अंगद, आदि आभूषणोंसे देह अलंकृत रहती है। मुक्ताओं और रत्नोंसे जगमगाते मुकुट समर्पित करनेसे जीव स्वयं ही अगले भवमें प्रकाशमान मुकुट और राजचिन्ह पट्ट, आदिको प्राप्त करते हैं ॥ ७९ ॥

मंगल-द्रव्य-पूजाका फल

स्वच्छ सुन्दर दर्पण भेंट करनेसे पापमल शुद्ध होता है, मंगलचिन्ह चढ़ाकर जीव सुभग तथा कमनीय रूपके अधिकारी बनते हैं, कलश चढ़ानेसे कषाय आदि दोषोंकी शान्ति होती है तथा स्थाली थाल चढ़ाकर जीव सबसे बड़े धनाढ्य होते हैं ॥ ८० ॥

अष्ट-मंगलों का फल

धर्म-चक्र मंगल द्रव्यको चढ़ानेके प्रतापसे जीव समस्त शत्रुओंका विजेता होता है, तूर्य भेंट करनेके परिणामस्वरूप सम्यक्दृष्टी पुजारीकी कीर्ति तीनों लोकोंमें गायी जाती है, चंदोवा चढ़ानेके ही कारण लोग अलौकिक विद्याके ज्ञानसे विभूषित

१. [मर्त्याः] । २. क °तिरीटोत्तम ।

घण्टाप्रदानान्मधुरः स्वरः स्यावद्ध्वजैर्विविचित्रैरभिवारिताज्ञः[1] ।
सर्वैः प्रवन्द्यो जिनवन्दनेन सर्वर्तुसर्वर्द्धिसुखैकभागी ॥ ८२ ॥
इत्येवमुक्त्वा तदनुग्रहार्थं पूजाफलं दानफलेन सार्धम् ।
ज्ञेयार्णवस्यान्तमितो महात्मा धर्मोपदेशाद्विरराम साधुः ॥ ८३ ॥
ततस्तु राज्ञाधिकतः प्रगल्भो[2] विद्यासरित्तोयनिधिः प्रशान्तः ।
प्रमादहीनो गुणशीलमालः स्तुत्यर्थवादान्वितमित्थमाख्यत् ॥ ८४ ॥
त्वं नन्द वर्धस्व धनैश्च धर्मैः संपन्नसस्या धरणी तवास्तु ।
वक्षस्स्थले ते रमतां च लक्ष्मीरर्हत्प्रसादान्नृप जीव दीर्घम् ॥ ८५ ॥

विद्याधर होते हैं तथा छत्र समर्पित करनेसे उत्पन्न, पुण्यके उदय होनेपर पुजारीके राज्यका विपुल विस्तार होता है ॥ ८१ ॥

घंटा समर्पित करनेका परिपाक यही होता है कि श्रावकको सुस्वर प्राप्त होता है। रंग-विरंगी ध्वजाएं समर्पित करनेवाले श्रावकोंका शासन अलंघ्य होता है तथा जो नियमसे जिनेन्द्रदेवकी वन्दना करते हैं वे सबके द्वारा पूजे ही नहीं जाते हैं; अपितु उन्हें सब ऋतुओं तथा ऋद्धियोंके फलोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती है ॥ ८२ ॥

उक्त क्रमसे उदार आशय ज्ञायक ऋषिराजने सम्राट् तथा समस्त दर्शकोंका कल्याण करनेकी इच्छासे प्रेरित होकर दानके फलके साथ-साथ ही पूजाके परिणामको समझाया था। अन्तमें यह कहकर कि श्रावकोंके द्वारा ज्ञेय तत्त्वोंका वर्णन एक ऐसा समुद्र है जिसका कभी अन्त ही नहीं हो सकता है अतएव उन्होंने अपना धर्मोपदेश समाप्त कर दिया था ॥ ८३ ॥

गृहस्थाचार्य तथा याजक राजा

मुनि महाराजका उपदेश समाप्त होते ही सम्राटके द्वारा नियुक्त किये गये अतएव साहसी तथा अनुभवी गृहस्थाचार्यने सत्य बातोंसे परिपूर्ण वचनों द्वारा राजाकी प्रशंसा की थी। विविध विद्याओंरूपी नदियोंके लिए वे धर्माधिकारी उद्वेल समुद्रके समान थे, स्वभावसे बड़े शान्त थे, गुण और शील ही उनकी माला थे तथा अपने कर्त्तव्यको पूरा करनेमें वह कभी प्रमाद न करते थे ॥ ८४ ॥

'हे सम्राट ! आप सदा मुदित रहें, सदा आपकी वृद्धि हो, आपको धर्मवृद्धि विशेषरूपसे हो, आपके राज्यकी पृथ्वीके कण-कणसे विपुल अन्न उत्पन्न हो, आपका विशाल वक्षस्थल लक्ष्मीका निवासस्थान हो, अर्हन्त प्रभुके चरणोंके अनुग्रहसे इतना ही नहीं अपितु आप चिरंजीवि हों ॥ ८५ ॥

---

१. [अभिधारिताज्ञाः]। २. म प्रगल्भ्यो।

शास्ता भव प्रस्खलितात्मकानां त्राता भव त्वं विनयान्वितानाम् ।
स्त्रीबालवृद्धान्बिभु[1]हि प्रियत्वात्सनातनः क्षत्रियधर्म एषः ॥ ८६ ॥
त्वं देवि राज्ञः प्रियकारिणी च स्वपुत्रपौत्रैरभिवृद्धिमेहि ।
शीलोपवासव्रतदानधर्मसवंज्ञपूजाभिरता च [2]भूयाः ॥ ८७ ॥
यदैहिकामुष्मिकसौख्यमूलं संपादितं चैत्यगृहं त्वयेदम् ।
यथा गमिष्यत्यतिदीर्घकालं तथा कुरुष्वेति जगाद राज्ञीम् ॥ ८८ ॥
श्रुत्वा मुनिश्रावकयोर्वचांसि मनोगतं चाप्यवबुध्य देव्याः ।
शौर्यविधूतारिगणो नरेन्द्रः प्रीतान्तरात्मा प्रशशास सर्वान् ॥ ८९ ॥
यद्यच्च लोके रमणीयरूपमुपस्करं द्रव्यमनेकभेदम् ।
निर्वर्तितं चारु हिरण्यरूप्यैस्तत्तच्च निःशेषमदान्महीशः ॥ ९० ॥

शुद्ध आचार-विचारसे जो व्यक्ति स्खलित हो गये हैं आप उनके कठोर नियन्त्रक हों, जो विनम्र तथा मर्यादापालक हैं आप (कर्त्तव्यपालक परमप्रिय होनेके कारण) उनकी रक्षा करें, स्त्री, बालक तथा वृद्धोंका भरणपोषण करें। यही आदिकालसे चला आया क्षत्रियोंका धर्म है ॥ ८६ ॥

हे पट्टरानी ! आप सब प्रकारसे वही आचार करें जो कि सम्राटको प्रिय हैं। आपका वंश पुत्र, पौत्र, आदिके जन्मके द्वारा असीम वृद्धिको प्राप्त हो, आपको व्रतों तथा शीलके पालनकी अडिग सामर्थ्य प्राप्त हो, आपकी परिणति उपवास, दान, धर्माचरण तथा श्री एकहजार आठ वीतराग प्रभुकी पूजाकी दिशामें दिन-दूनी और रात चौगुनी बढ़े। आपने इस विशाल इन्द्र-कूट चैत्यालयकी स्थापना करायी है ॥ ८७ ॥

निस्सन्देह यह शुभकर्म इस लोक तथा परलोकमें प्राप्त होने योग्य समस्त सुखोंका मूल है। किन्तु हे देवि ? कुछ ऐसा आयोजन कीजिये जिसके बलपर यह जिनालय अत्यन्त दीर्घकालतक पूजा-सेवा की दृष्टि स्थायी रहे' ॥ ८८ ॥

किमिच्छिक दानी

सम्राटका अन्तरात्मा प्रबल प्रसन्नताके पूरसे प्लावित हो रहा था। श्रीमुनिराज तथा धर्माचार्य आदि गृहस्थोंके वचन सुनकर तथा पट्टरानी अनुपमा देवीपर दृष्टि डालते ही वे उनके भावोंको समझ गये थे। अपने पराक्रमसे समस्त शत्रुओंके मान-मर्दक सम्राटने उसी समय वहाँ उपस्थित सब अधिकारियोंको पर्याप्त पूजा सेवा-व्यवस्था की आज्ञा दी थी ॥ ८९ ॥

इतना ही नहीं इस संसारमें जो जो पदार्थ सबसे अधिक आकर्षक तथा प्रिय समझे जाते हैं, वे संसारमें जितने भी प्रकार के चौकी, आदि उपकरण तथा साज सरंजामकी सामग्री है उत्तम सोने तथा चाँदीके पदार्थ बनाये गये थे उन सब पदार्थोंको देने

---

१. [वृद्धान्बिभृहि प्रियत्वात्]। २. म भूयात्।

अष्टोत्तरग्रामशतं वरिष्ठं दासांश्च दासीभृतकान्गवादीन् ।
संगीतकं सान्ततिकं प्रमोदं समर्पयामास जिनालयाय ॥ ९१ ॥
आहारदानं मुनिपुङ्गवेभ्यो वस्त्रान्नदानं श्रवणार्यिकाभ्यः ।
किमिच्छदानं खलु दुर्गतेभ्यो दत्वा कृतार्थो नृपतिर्बभूव ॥ ९२ ॥
अर्हन्मुनीन्द्रागमचक्रपाणिविद्याधराणां चरितानि तानि ।
श्रुत्वा च दृष्ट्वा वरपट्टकेषु सनायकः संमुमुदे जनौघः ॥ ९३ ॥
अष्टाह्निकं शिष्टजनाभिजुष्टमन्यैर्नरेन्द्रैर्मनसाप्यचिन्त्यम् ।
एवंप्रकारेण नरेन्द्रवर्यो जिनेन्द्रपूजां प्रयतो निनाय ॥ ९४ ॥

प्रारम्भ करके श्री वरांगराजने मन्दिरके लिए पूजादिमें आवश्यक चिमटीसे लेकर बड़ेसे बड़े समस्त उपकरण इस मन्दिरको दिये थे ॥ ९० ॥

उन्होंने इन्द्रकूट चैत्यालयका व्यय चलानेके लिए राज्यके सर्वोत्तम एक सौ आठ ग्राम, सेवा परायण दास-दासियाँ, गौ आदि पशु, संगीत मण्डली तथा कीर्तन आदिके आनन्दके कारण सान्ततिक (भोजक-भजनोपदेशक) की मण्डलीको भी समर्पित किया था ॥ ९१ ॥

इन्द्रकूट जिनालयमें तपोधन महामुनियोंको विधिवत् आहारदान की व्यवस्था थी व्रती श्रावक-आर्यिकाओंको वस्त्रदान तथा आहारदान भी मिलता था। जो सब दृष्टियोंसे दीन तथा दुखी थे उन्हें किमिच्छक दान देकर आनर्तपुरेशको महान शान्ति तथा कृतकृत्यताका अनुभव हुआ था ॥ ९२ ॥

धर्ममेला

उस समय विशेषरूपसे आयोजित शास्त्रसभा तथा पट्टक प्रदर्शिनियोंमें अर्हन्तकेवली, चक्रवर्ती, विद्याधर तपोधन मुनिराज तथा अन्य पौराणिक महापुरुषोंके पवित्र जीवनोंको सुनकर तथा पट्टकोंमें देखकर और विशेषरूपसे तत्त्वचर्चाको सुन समझकर अपनी जनताके साथ-साथ सम्राट भी परम प्रमुदित हुए थे ॥ ९३ ॥

श्री वरांगराजने बड़े प्रयत्नके साथ परम अभिनन्दनीय अष्टाह्निका पर्वको सतत जिन पूजामें मन, वचन तथा कायसे लीन रहते हुए व्यतीत किया था। क्योंकि इन्द्रादि विशेष पुण्याधिकारी आत्मा भी इस पर्वमें उपासना करनेके लिए लालायित रहते हैं। तथा साधारणतया अन्य राजा लोग इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे ॥ ९४ ॥

समन्दरं विश्वजनाधिगम्यं समस्तलोकाभ्युदयैकहेतुम् ।
विशुद्धिशुद्धोऽधिकवृद्धितेजाः पूजार्णवं भूमिपतिस्ततार ॥ ९५ ॥
सुश्रावकः सर्वगुणाधिवासः सद्गन्धपुष्पाक्षतपूर्णपाणिः ।
स्वस्त्यादिभिर्मङ्गलभारतीभिः शशंस सच्चूतफलावसानैः ॥ ९६ ॥
आचन्द्रतारं जयतूर्जिश्रीः सद्धर्ममार्गः परमार्थसारः ।
सुखीभवत्वार्हतसर्वसंघः सिद्धालयाः स्फीततमा भवन्तु ॥ ९७ ॥
देशो भवत्वाधिकगोधनाढ्यः सुभिक्षनित्योत्सवभोगयुक्तः ।
राजा जितारिर्जिनधर्मभक्तो न्यायेन पायात्सकलां धरित्रीम् ॥ ९८ ॥

धर्मवीर वरांग

वरांगराजकी आभ्यन्तर तथा बाह्य विशुद्धि परिपूर्णताको प्राप्त हो रही थी, उनके बाह्यतेजके साथ-साथ आध्यात्मिक तेजकी भी आशातीत वृद्धि हो रही थी अतएव उक्त पर्वके दिनोंमें उन्होंने एक प्रकारसे पूजारूपी समुद्रको (विशाल आयोजन) ही फैला दिया था। उनके उस आयोजनमें सर्वसाधारण सम्मिलित हो सकते थे तथा जिनमन्दिरका साक्षात् अवलम्बयुक्त होनेके कारण उस समस्त उत्सव समुद्रको प्रजासहित पार कर सका था एवं प्राणियोंके कल्याणका मूल कारण भी हो सका था ॥ ९५ ॥

उस समय अपने राजत्वको भूलकर वरांगराजने आदर्श श्रावकताको ही अपना चरमलक्ष्य मानकर श्रावकोचित समस्त गुणोंको अपनेमें लानेका प्रयत्न किया था। वे शुद्ध जल, चन्दन, अक्षत आदिकी अंजलियाँ हाथोंमें लेकर स्वस्ति-विधानसे प्रारम्भकर मंगल आदि स्तोत्रों पर्यन्त जिनेन्द्रदेवकी पूजा की थी जिसका अन्तिम फल मोक्ष महापदकी प्राप्ति ही थी ॥ ९६ ॥

वे कहते थे कि महाप्रतापी पुण्यमय सत्य धर्मोंका सारभूत जिनधर्म तबतक इस पृथ्वीपर प्रचलित रहे, जबतक चन्द्रमा और सूर्य उदित होते हैं; क्योंकि जिनधर्म ही परमागमका सार है। अर्हन्त प्रभुके शासनके अनुकूल आचरण करनेमें लीन चारों प्रकारके संघोंको सब सुख शान्ति प्राप्त होवे, सिद्धिके साधक जिनालयोंका विस्तार हो ॥ ९७ ॥

राष्ट्रमें हर दृष्टिसे गोधन, आदि सम्पत्तिकी असीम वृद्धि हो, सदा सुभिक्ष हो, जनताकी मानसिक तथा शारीरिक स्थिति ऐसी हो कि वे सदा ही उत्सव, भोग, आदिको मना सकें, राजा शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ हो, जैनधर्मका सच्चा अनुयायी हो, तथा न्यायमार्गके अनुसार ही प्रजाओंका पालन करे ॥ ९८ ॥

पाषण्डिनः स्वाश्रमवासिनश्च कृतां स्वसंस्थां न विलङ्घयन्तु ।
यशांसि तिष्ठन्तु चिरं पृथिव्यां दोषाःप्रणाशं सकलाः प्रयान्तु ॥ ९९ ॥
इत्येवमादि स्फुटमर्थतत्त्वं वाक्यं जनश्रोत्रसुखं जगाद ।
महाजनस्तं सकलं निशम्य प्रतिप्रसादोदयवान्[1] बभूव ॥ १०० ॥
ततः प्रहृष्टो वरचूर्णवासैः सद्गन्धिमिश्रैः सलिलैः सलीलम् ।
लःक्षारसैरञ्जनरेणुभिश्च चिक्षेप गात्रेषु परस्परस्य ॥ १०१ ॥
जिनेन्द्रपादाम्बुरुहार्पणेन प्रसिद्धनामग्रहणेन भूयः ।
पूतां च पुण्यां पुरुसिद्धशेषां वसुंधरेन्द्रो निदधौ स्वमूर्ध्नि ॥ १०२ ॥

विभिन्न पाखण्डों (मतों) के अनुयायी तथा विविध आश्रमोंका पालन करनेमें लीन पुरुष अपने आचार्यों और शास्त्रों द्वारा निश्चित की गयी मर्यादाका उल्लंघन न करें। गुणीजनोंकी कीर्ति इस पृथ्वीपर अनन्त कालतक लोग स्मरण करें, जितने भी दोष हैं उनका समूल नाश ही न हो, अपितु जनता उनका नाम भी भूल जाये ॥ ९९ ॥

लोक वात्सल्य

ऐसी अनेक शुभ कामनाओंको व्यक्त करनेवाले कितने ही वाक्य धर्मप्रेमसे प्रमुदित सम्राटके मुखसे निकले थे जिन्हें सुनकर लोगोंकी हृदयकली विकसित हो उठी थी। इन वाक्योंको सुनकर पूजामें उपस्थित विशाल जनसमूहको परस्परमें प्रेम तथा सहृदय व्यवहार करनेकी प्रबल प्रेरणा प्राप्त हुई थी ॥ १०० ॥

वे धर्म-प्रेमके आवेगसे उन्मत्तवत हो रहे थे अतएव आपसमें एक-दूसरेपर उन्होंने सुगन्धित चूर्ण, सुगन्धित पदार्थोंको घोलकर बनाये गये जल, लाखके रंग, अञ्जन आदिको प्रेमपूर्ण भावसे डालना प्रारम्भ कर दिया था ॥ १०१ ॥

सम्राट वरांगने भी श्री एकहजार आठ जिनेन्द्रदेवके पूज्य चरणोंमें समर्पित कर देनेके कारण, जगत पूज्य पंच परमेष्ठी आदिके नामोच्चारणके प्रतापसे स्वयं पवित्र तथा दूसरोंके पुण्यबंधका कारण, पुरुदेव आदि सिद्ध परमेष्ठियोंकी शेषिकाको लेकर फिरसे अपने मस्तकपर धारण किया था ॥ १०२ ॥

---

१. म °प्रसादोदयवाक ।

पूजातपःशीलगुणप्रधानैः समर्च्य सद्धर्ममुदारबुद्धिः ।
महीपतिस्तूर्यरवैर्ननर्द्धुः सान्तःपुरो राजगृहं विवेश ॥ १०३ ॥
प्रविश्यात्मगेहं सुरेन्द्रप्रतापो जिनेन्द्रौरुपूजाकथाकाव्यरागः ।
नृपो धर्मकामार्थकार्यप्रवीणः प्रतुष्टान्तरात्मा सुखं संनिषण्णः ॥ १०४ ॥
कुतीर्थप्रणीतान्विवादान्निहत्य प्रतिष्ठाप्य भूयो जगत्संप्रवादान[1] ।
प्रकाश्योरुभक्तिं सतीमार्हतीं च सदा संदधौ स्वं मनः सद्दयायाम् ॥ १०५ ॥
ददत्पात्रदानं विधि[2]ज्ञा यतिभ्यो धनं[3] बन्धुमित्रार्थिशिष्टप्रियेभ्यः ।
महापर्वसंधिव्रतैः सोपवासैर्नयन्दीर्घकालं नरेन्द्रोऽभिरेमे ॥ १०६ ॥

अर्हंत सिद्ध आदिकी द्रव्य तथा भावपूजा, कायक्लेश आदि तप, मार्दव आदि गुणोंका आचरण करते हुए विशाल बुद्धि, धर्मप्रेमी वरांगराजने पर्वमें पूजा की थी। उसके समाप्त हो जानेपर जोरोंसे बजते हुए तूर्य आदि बाजोंकी गर्जनाके साथ सम्राटने राजमहलमें सपरिकर रानियोंके साथ प्रवेश किया था ॥ १०३ ॥

धर्मकरत संसारसुख

सम्राट वरांग धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थोंके आनुपातिक आचरणको साधक व्यवस्था करनेमें अत्यन्त दक्ष थे, जिनमह ऐसे धार्मिक कार्योंको कर सकनेके कारण उनका अन्तरात्मा परम संतुष्ट था। अतएव लौटकर राजमहलमें आये हुए इन्द्रके समान पराक्रमी तथा प्रतापी वरांगराज शान्तिसे बैठकर जिनेन्द्रदेवकी विशाल पूजा सम्बन्धी कथाओं और काव्योंका अनुशीलन करते थे ॥ १०४ ॥

इस सुन्दर ढंगका आश्रय लेकर वे मिथ्या तीर्थंकरोंके द्वारा प्रवर्तित मतोंकी निस्सारताको स्पष्ट करते थे। तथा संसारमें कल्याणके सहायक सत्य मार्गोंकी प्रस्तावना तथा विस्तार करते थे। संसार समुद्रसे पार करनेमें समर्थ उनकी सत्य जिनभक्ति छिपाये नहीं छिपती थी। क्योंकि वह उनके रोम, रोममें समायी थी। इसके साथ ही अहिंसा धर्मकी मूल वास्तविक दयामें तो उन्होंने अपने आपको लीन ही कर दिया था ॥ १०५ ॥

दान विधिके विशेष ज्ञाता वरांगराज अवसर मिलते ही सत्पात्रोंको दान देनेमें लीन रहते थे। अपने बन्धु बान्धवों, मित्रों, हितैषियों, प्रियजनों तथा याचकोंको यथेच्छ दान देते थे, तथा अष्टाह्निका, पर्यूषण आदि पर्वोंके दिनोंमें व्रत उपवास आदि करते थे। इन शुभ योगोंका आचरण करते हुए उन्होंने दीर्घकाल व्यतीत कर दिया था ॥ १०६ ॥

१. क °संप्रदानान् । २, [विधिज्ञो]। ३. म वनं ।

जिनेन्द्रप्रणीतं शुभं सिद्धिमार्गं प्रबुध्यात्मशक्त्या गृहीत्वा व्रतानि।
नरेन्द्राग्रपत्न्यः सदा सिद्धपूजां नयन्त्यो वराङ्गघः कृतार्था बभुवुः ॥ १०७ ॥

इतिधर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
अर्हन्महामहवर्णनो नाम त्रयोविंशतितमः सर्गः।

सम्राटकी पट्टरानी अनुपमादेवी आदि रानियोंने भी अपनी शक्ति और ज्ञानके अनुसार जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रणीत, शुभकारक तथा सकलसिद्धिके अमोघ उपाय स्वरूप जिनधर्मको समझा तथा धारण किया था। वे सुकुमार सुन्दरियाँ सदा ही सिद्धपूजा आदि धार्मिक कार्योंको करती हुईं दिन बिताती थीं, और इस विधिसे अपने जीवनका लक्ष्य सिद्ध कर रही थीं॥ १०७॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
अर्हन्महामहवर्णन नाम त्रयोविंशतितम् सर्ग समाप्त।

चतुर्विंशः सर्गः

अथ भूमिपतिस्त्रिकालयोग्या[1]न् न विरोधेन नयन्सुखार्थधर्मान् ।
जगति प्रवरां यशःपताकां सकलां कान्तिमिवेन्दुवद्बभार ॥ १ ॥
शशिनः किरणाः स्वभावशीता दिनकृत्तीक्ष्णवपुर्जगत्प्रभुः ।
हुतभुग्दहनप्रकाशनात्मा जगदाप्यायनपण्डितो महेन्द्रः ॥ २ ॥
पृथिवी[2] कठिनात्मिका प्रकृत्या द्रवता स्नेहगुणस्तथाप्सु वद्यः[3] ।
सकला नृपतौ गुणाः समेताः सति वैरुध्यतमेऽप्यबाधमानाः ॥ ३ ॥

चतुर्विंश सर्ग

प्रकृतिगुणोपेत राजा

सम्राट वरांग धर्म, अर्थ तथा काम तीनों पुरुषार्थोंका ऐसे ढंगसे सेवन करते थे कि उनमेंसे कोई एक भी, बाकी दोनोंकी प्रगतिमें बाधा नहीं डालते थे। फलतः ये तीनों उनके तीनों कालोंको सुधारते थे। इस व्यवस्थित क्रमसे जीवन व्यतीत करते हुए उन्होंने अपने सुयशकी उन्नत तथा विशाल पताकाको उसी मात्रामें फहरा दिया था जिस रूपमें नक्षत्रराज चन्द्रमा संसारकी समस्त कान्तिको धारण करता है। निशानाथ चन्द्रमाकी धवल परिपूर्ण किरणें स्वभावसे ही शीतल होती हैं ॥ १ ॥

शुभ तथा अशुभ सबही सांसारिक कार्योंका प्रवर्तक होनेके कारण जगत्प्रभु दिनकरकी किरणें अत्यन्त तीक्ष्ण होनेके कारण असह्य होती हैं। हवनकी सामग्रीको भस्म करनेवाली अग्निके भी दो ही गुण हैं:—पदार्थोंको जलाना तथा प्रकाश करना। देवोंका अधिपति अलौकिक ऋद्धियों तथा सिद्धियोंका भंडार इन्द्र भी संसारकी दाहको बुझाकर उसे जलसे प्लावित ही करता है ॥ २ ॥

प्राणिमात्रको धारण करनेमें समर्थ धरित्रीकी प्रकृति ही कठिनतासे व्याप्त है। तथा जगतकी रसमय सृष्टिके मूल स्रोत जलमें भी दो ही गुण होते हैं—तरलता तथा स्नेह (चिक्कणता) शीलता। किन्तु ये सब ही गुण सम्राट वरांगमें एक साथ होकर रहते थे। यद्यपि यह निश्चित है कि इनमें—शीतलता तथा उष्णता, द्रवता तथा कठिनता आदि अधिकांश गुण ऐसे हैं जो कि एक दूसरेके बिलकुल विपरीत हैं, तो भी सम्राट वरांगकी सेवामें आनेपर उन्होंने अपना पारस्परिक विरोध छोड़ दिया था ॥ ३ ॥

---

१. क °योग्योग्यानविरोधेन यत्° । २. क पृथुवी । ३. [वन्द्यः] ।

ऋतुषु[1] क्रमसंभवेषु तेषु प्रतिसंवत्सरमागतेषु तेषु ।
परिपूर्णपयोधराभिरीशो वनिताभिर्विषयान्सुखं निषेवे[2] ॥ ४ ॥
वरवंशमृदङ्गगीतशब्दान्मुरजध्वानविमिश्रितान्सरागान् ।
अशृणोच्छ्रवणेन्द्रियप्रियांस्तान्प्रमदानां मधुराक्षरप्रयुक्तान् ॥ ५ ॥
शयने विमले मणिप्रदीपे कमलाक्ष्यः[3] परिरभ्य कामिनं तम् ।
वदनैर्जघनैस्स्तनप्रदेशैर्मृदुहस्तैरपि पस्पृशुर्महीन्द्रम् ॥ ६ ॥
मदिरामललोललोचनानां वनितानां सुरतोत्सवप्रियाणाम् ।
गलितांशुकलोलमेखलानां न ततर्प प्रपिबन्[4]सुखानि तासाम् ॥ ७ ॥

प्रत्येक पञ्चाङ्गमय वर्षमें क्रमशः शरद आदि छह ऋतुओंके आनेपर सम्राट उनके अनुकूल विषय सुखोंका यथेच्छ भोग करते थे। विशेषकर अपनी रानियोंके साथ कामजन्य विषयोंका उपभोग करते थे, क्योंकि अवस्था तथा स्वास्थ्यके अनुकूल उनके स्तन आदि उपभोगके अंग पूर्णरूपसे विकसित हो चुके थे ॥ ४ ॥

सुखसागरमें मग्न

यौवन तथा कामदेवके मदसे उन्मत्त अपनी पत्नियोंकी मनमोहक मधुर बातोंको सुनकर ही वह कामरससे मदमाता नहीं होता था अपितु कर्ण इन्द्रियको बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट करनेमें पटु उनके गीतोंके शब्द, शब्दपर वह लोटपोट हो जाता था। जब वे गाती थीं तो उसके साथ-साथ उत्तम बांसुरियाँ बजती थीं मृदंग भी बजता था तथा इन बाजोंकी ध्वनिमें मुरजकी गम्भीर ध्वनि भी मिली रहती थी ॥ ५ ॥

शयनगृहमें दुग्धके समान धवलशय्या बिछाकर मणियोंके रंग, विरंगे प्रकाशमय निर्धूम दीपक जलाये जाते थे। वहाँपर पहुँचते ही कमलोंके समान ललित नेत्रवती रानियाँ कामातुर वरांगराजका घोर आलिंगन करती थीं। इतना ही नहीं अपने मुख-कमल, जंघाओं, कठोर स्तनों तथा सुकुमार हाथोंके द्वारा सम्राटके अंग प्रत्यंगोंका स्पर्श करती थीं ॥ ६ ॥

कमलाक्षि रानियोंकी निर्मल आँखोंसे मदिरापानके समान उत्पन्न उन्माद टपकता था। कामप्रसंगका सुरतरूपी महान उत्सव उन्हें इतना प्रिय था कि वे उसे करते न अघाती थीं। रिरंसाके आवेगसे आतुर होनेपर उनका वस्त्र खिसक जाता था और केवल चंचल करधनी ही कटिप्रदेशपर रह जाती थी। उनको इस रूपमें पाकर कामी वरांगराज उनकी ओर एकटक देखते रह जाते थे तथा इन मुखोंका निरन्तर पान करते रहनेपर भी उन्हें तृप्ति न होती थी ॥ ७ ॥

१. [ऋतुषु]। २. [सिषेवे]। ३. [कमलाक्ष्यः]। ४. म प्रविवेत्।

बकुलोत्पलजातिमालतीनां सुरभीणां सकदम्बचम्पकानाम् ।
ललनालककेशपाशबद्धा वरमालाश्च मुहुर्मुहुः स जह्रौ ॥ ८ ॥

जिनदेवमहेन्द्रकेशवानां चरितान्यप्रतिमानि नाट्यसन्धौ ।
रसनाट्यसमन्वितानि शश्वत्समपश्यद्धरणीपतिः प्रियाभिः ॥ ९ ॥

वसुधोदधिशैलसंभवं यद्वररत्नं रजतं च हेम कुप्यम् ।
गजवाजिरथायुधप्रधानं[1] क्षितिकाः[2] प्राभृतकं समानयंस्तत् ॥ १० ॥

विधिना परिपालकः प्रजानां परिशास्ताद्दुर[3]नुष्ठितक्रियाणाम् ।
अगतीनबुधाञ्जनान् दरिद्रानशरण्यांश्चबभार सर्वकालम् ॥ ११ ॥

रानियाँ अपना शृंगार करनेके लिये कमल, बकुल जाति (चमेली) मालती, कदम्ब, चम्पक आदि वृक्षोंके सुगन्धयुक्त पुष्पोंकी मालायें बनाकर अनेक विधियोंसे अपने केशोंमें गूँथती थीं। किन्तु कामके आवेगसे उन्मत्त राजा बिल्कुल उच्छृंखल होकर बड़ी शीघ्रताके साथ बार-बार शिरपर सजी हुई मालाओंको खींचकर मसल देता था ॥ ८ ॥

जिनेन्द्रप्रभुके जीवन चरित्र, चक्रवर्तियों, नारायणों, प्रतिनारायणों, आदि शलाका पुरुषोंकी अनुपम तथा आदर्श जीवनी-की कथावस्तुको लेकर लिखे गये नाटकोंके अभिनय रसोंकी स्फूर्ति तथा अभिनय कलाके पूर्ण प्रदर्शनके साथ सदा ही किये जाते थे, और सम्राट वरांगराज अपनी सब ही रानियोंके साथ इन्हें देखकर रसका आस्वादन करते थे ॥ ९ ॥

वसुन्धरा, पृथ्वी, अगाध उदधि तथा पर्वतोंमें जो भी उत्तम रत्न (श्रेष्ठ पदार्थ) उत्पन्न होते थे अथवा जितना भी चाँदी तथा सोनेका भण्डार हो सकता था अथवा मदोन्मत्त हाथी, सुलक्षण अश्व, सुदृढ़ रथ तथा श्रेष्ठ शस्त्र आदि सभी वस्तुओं-को समस्त राजा लोग भेंट रूपसे सम्राट वरांगके सामने लाकर रखते थे ॥ १० ॥

पुण्य परिपाक

राजनीतिमें बतायी गयी विधिके अनुसार ही वह अपनी प्रजाको हानिसे बचाकर लाभकी दिशामें ले जाता था। जो लोग सामाजिक धार्मिक अथवा अन्य किसी भी प्रकारका कुकर्म करते थे ऐसे लोगोंकी वह किसी भी दृष्टि अथवा कारणसे उपेक्षा नहीं करके कठोर दण्ड देता था। निरुपाय व्यक्तियों, ज्ञान अथवा किसी भी प्रकारकी शिक्षाको प्राप्त न करनेके कारण आजीविका उपार्जन करनेमें असमर्थ, दरिद्र तथा अशरण व्यक्तियोंका वह राज्यकी ओरसे पालन-पोषण करता था ॥ ११ ॥

---

१. म प्रदानं । २. [क्षितिपाः] । ३. [°शास्ता दुरनुष्ठित°] ।

नियमैश्च यमैर्व्रतोपवासैर्निरवद्यैरपि दानधर्मयोगैः ।
जिनदेवविशेषपूजनैश्च प्रययौ पर्वसु भूपतेः स कालः ॥ १२ ॥
स कदाचिदतुल्यधीर्नृसिंहः स्वभुजध्वंसितशत्रुसैन्यवीर्यः ।
प्रविवेश सभागृहं नरेन्द्रो मतिमद्भिर्वरमन्त्रिभिश्च शिष्टैः ॥ १३ ॥
मणिहारकिरीट[1]पट्टचिह्नः प्रचलत्कुण्डलचारुघृष्टगण्डः ।
स मृगेन्द्रवरासने निषण्णो विबभौ भानुरिवोदयस्य मूर्ध्नि ॥ १४ ॥
वितुलद्धियशःश्रिया ज्वलन्तं शरदीवामलपूर्णचन्द्रसौम्यम् ।
नृपतिं प्रसमीक्ष्य मन्त्रिवर्गः प्रजजल्प स्वमनोगतं वचस्तत् ॥ १५ ॥

दिनानि यान्ति त्रयसेवयैव

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह काम तथा अर्थ पुरुषार्थके सेवनमें ही लीन था क्योंकि ज्यों ही अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व आते थे त्योंही वह नूतन नियम, यम, व्रत विशेषकर उपवास, सब तरहके दोषोंसे रहित निःस्वार्थ दान, धर्म योग आदिको धारण करता था। तथा श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवकी विशेष पूजाका आयोजन करके ही विशाल वसुन्धराके अधिपतिका समय बीतता था ॥ १२ ॥

सम्राट वरांगकी बुद्धिकी कोई समानता न कर सकता था। वह मनुष्योंमें सिंह (श्रेष्ठ) थे। अपने बाहुबलके द्वारा ही उन्होंने शत्रुओंकी विशाल सेनाओंको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। उनके सबके सब मंत्री परम विवेकी तथा राजनीतिके ऐसे पंडित थे कि उस समयके सब राज्योंके मंत्रियोंसे श्रेष्ठ माने जाते थे। इन्हीं शिष्ट मंत्रियोंके साथ सम्राट वरांग राजसभामें एक दिन पधारे थे ॥ १३ ॥

राजसभामें आकर जब वे सिंहोंकी आकृतियोंके ऊपर बने हुए सुन्दर आसनपर आकर बैठे तो अपने मणिमय हारसे निकलती हुई किरणोंके द्वारा, जाज्वल्यमान मुकुटके आलोकसे, राज्यपदके प्रधान चिन्ह पट्टकी प्रभाके कारण तथा गालोंसे रगड़ते हुये चंचल तथा चारु कुण्डलोंकी कान्तिसे मुख आलोकित हो उठने पर ऐसे शोभित हो रहे थे जैसा कि दिनपति सूर्य उदयाचलके शिखर पर उदित होकर लगता है ॥ १४ ॥

निर्मल तथा सर्वव्यापी यश असीम सम्पत्ति तथा परिपूर्ण शोभाके कारण वे जगमगा रहे थे, तो भी शरद् पूर्णिमाकी रात्रिको उदित हुए पूर्णचन्द्रके सदृश उनकी कान्ति परम सौम्य थी। इस ढंगकी अद्भुत शोभासे समन्वित सम्राटको देखकर मंत्रियोंके मनमें अनेक भाव उदित हुए थे, जिन्हें रोकना उनके लिए असंभव हो गया था फलतः उन्होंने कहना प्रारम्भ किया था ॥ १५ ॥

---

१. क °तिरीट°।

अयमिन्द्रसमो महर्द्धिकीर्त्या विभवेनाप्रतिमेन लोकपालः ।
वपुषा यशसा च कामदेवः कुत एतत्त्रयमस्य संशयो नः ॥ १६ ॥
[1]पुरुषैश्चिरकालकर्मदैवाद्ग्रहतो वात्र नियोगतः स्वभावात् ।
प्रलयस्थितिसंभवाः प्रलानां[2] नियताद्यैरिति लोकसत्प्रवादः ॥ १७ ॥
इति पक्षबहुत्वयोगतस्ते न समर्था गदितुं स्वपक्षमेकम् ।
अनपेक्षिततत्त्व[3]दृष्टिचेष्टाः परिपप्रच्छुरथावनीन्द्रमित्थम् ॥ १८ ॥
सदसन्नियतिस्वभावपक्षा विदिता लौकिकवैदिकास्त्वयेश ।
विविधांश्च नयानवैषि सूक्ष्मान्वद [4]तत्त्वमसंशयं प्रभो नः ॥ १९ ॥

राजाकी स्तुति

'अपनी असीम ऋद्धि तथा विमल यशके कारण हमारे सम्राट साक्षात् इन्द्रके समान हैं। यह लोकपाल भी हैं, कारण कोई भी राजा महाराजा विभवमें इनकी समता नहीं कर सकता है। इनकी शारीरिक कान्ति, स्वास्थ्य तथा जनसाधारणको अनुरक्त बनानेकी क्षमता इतनी बढ़ी हुई है कि उनके आधार पर यह सशरीर कामदेव ही प्रतीत होते हैं। किन्तु विचारणीय विषय यही है कि यह अकेला उक्त तीनों देवतामय कैसे हैं ? हमारी यही शंका है ॥ १६ ॥

संसारमें यह सर्वमान्य कहावत है कि युगके प्रारम्भमें हुए विशेष पुरुषोंने अपने शुभ कर्मोंके प्रतापसे अथवा दैवकी प्रेरणासे, अथवा जीवनके पथके निर्माता ग्रहोंकी अनुकूलताके कारण, अथवा किसी विशेष आत्माके नियोगके वशमें होकर अथवा संसारके स्वभावकी अबाधगतिके प्रवाहमें पड़कर संसारकी प्रजाके जन्म, स्थिति तथा नाशकी चिरकाल पर्यन्त व्यवस्था की थी ॥ १७ ॥

संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाशको लेकर उक्तरूपके अनेक विकल्प तथा मान्यताएँ होनेके कारण, वे मंत्री किसी एक मतको निश्चित करके यह कहनेमें असमर्थ थे कि हमारा यही मत है। इस मूल प्रश्नकी वे उपेक्षा भी नहीं कर सकते थे क्योंकि तात्त्विक दृष्टिसे विचार करने तथा उसे आचरणमें लाने की उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। अतएव उन सबने पृथ्वीपति वरांगके सामने निम्न प्रश्न उपस्थित किया था ॥ १८ ॥

धर्मप्रश्न

'हे प्रभो ? लोकाचारके अनुसार कौन-सा पन्थ सत्य है अथवा असत्य है, कौन-सी प्रवृत्ति स्वाभाविक है तथा कौन-सी वैभाविक है। इसी क्रमसे वैदिक (ज्ञानमय) आचारमें क्या सत् है, क्या असत् है ? निश्चित क्या है, स्वाभाविक क्या है इत्यादि

१. [पुरुषेश्वर°] २. [प्रजानां]। ३. म °सत्त्वदृष्टि। ४. म तत्त्वं न संशयं।

इति मन्त्रिवरैः प्रहृष्टमर्थं प्रविचार्यात्मनि दृष्टधर्मतत्त्वः ।
नृपतिर्मधुराभिधानयुक्तं वचनं प्रारभत प्रवक्तुमेवम् ॥ २० ॥
बहुदृष्टिनिविष्टदुर्मतीनां कुकवीनामथवान्यभि[1]प्रपन्नाः ।
अतिमुग्धतया नरा विबोद्धुं परमार्थान्नि हि शक्नुवन्ति बालाः ॥ २१ ॥
यदि दैवनियोगतो महर्द्धिं लभते चेन्मनुजस्त्वरोगतां वा ।
सुतभा [ˇ] मवद्यलब्धियुक्तं स तु दैवः कथमेति दैवभावम् ॥ २२ ॥
यदि तस्करको यजेत[2] विद्वान् वरमित्थं स्तवथ.....।
उभयोर्यजनं प्रतिगृह्णीता ननु देवो विमतिः स किं करोति ॥ २३ ॥

विशेष तत्त्वोंको आप भलीभांति जानते हैं। इतना ही नहीं आप अति सूक्ष्म समस्त नयों (पदार्थका एक दृष्टिसे विचार करना) को भी जानते हैं अतएव उक्त विकल्पोंमें वास्तविक तत्त्व क्या है इसे आप स्पष्टरूपसे हमें समझानेका कष्ट करें ॥ १९ ॥

सम्राट वरांगने धर्मके सार तथा तत्त्वोंके रहस्यको समझा था फलतः मंत्रियोंके द्वारा उपस्थित किये गूढ़ प्रश्नोंको सुनकर एक क्षणभर मन ही मन उनपर विचार करके नृपतिवरने मधुर तथा सरल भाषामें निम्नशैलीसे उत्तर देना प्रारम्भ किया था ॥ २० ॥

दैववाद विचार

'संसारके मनुष्य अत्यधिक भोले तथा श्रद्धालु हैं। उनको उपदेश देनेवाले तथाकथित कवि (ज्ञानी) लोगोंकी दूषित बुद्धि परस्पर विरोधी एक-एक प्रकारकी श्रद्धाको लेकर चलती है अतएव वे सब कुकवि हैं। वे कुछ शब्दों द्वारा ही समझा जाने योग्य विषयको भी बहुत खींच तान कर अस्पष्ट वाक्यों द्वारा बताकर भोले जीवोंको और अधिक सन्देहमें डाल देते हैं। परिणाम यह होता है कि स्वभावसे ही अज्ञ संसारी मनुष्य शुद्ध तत्त्वको नहीं समझ पाते हैं ॥ २१ ॥

यदि संसारी मनुष्य केवल दैव अथवा भाग्यकी अकारण कृपाके बलसे ही असीम सम्पत्तिको प्राप्त करते हैं ? स्वस्थ शरीर पाते हैं, अनुकूल पत्नी तथा गुणी पुत्रके संसर्गका सुख भोगते हैं, तो केवल एक ही प्रश्न उठता है कि यह दैव भी उस विशाल देवपनेको कैसे प्राप्त होता है, जिसके कारण निश्चित वस्तुका समागम सर्वदा सत्य होता है ॥ २२ ॥

यदि कोई चोर किसी देवकी पूजा करे तथा दूसरा विद्वान भी विवेकपूर्वक उसी देवकी उपासना करे और यदि दोनों-को ही अपने-अपने मनचाहे (भले-बुरे) वरदानोंकी प्राप्ति हो जाती है। तो यही प्रश्न उठता है कि चोर तथा साहूकार दोनोंकी विशाल पूजाको स्वीकार करनेवाला वह बुद्धिहीन देवता करता ही क्या है ॥ २३ ॥

---

१. क न्यभिप्रसंगा, [वाक्यविप्रपन्नाः]। २. म यचेत।

गृहमप्युदितं भगवद्धनेन भवदीयं ननु यस्य दीपतैलम्[1] ।
चरुकैवरगन्धमाल्यधूपाः[2] स च किं[3] दास्यति निर्धनः परेभ्यः ? ॥ २४ ॥
वरमन्त्रपदैः सुसंस्कृतं यद्धविमादाय समक्षतोऽत्ति काकाः[4] ।
बलिभुक् सुश्वृगालविट्प्रलिप्ताः[5] स हि किं रक्षति दुर्बलः परं स्वम् ॥ २५ ॥
क्षुधितः परिदाप्य तं श्वृगालो विबलं छागमुपाहरेत्प्रसह्य ।
पुरुषानपि तान्प्रसह्य तद्वद्यदि गृह्णाति स एव देवदेवः ॥ २६ ॥
पललोदनलाजपिष्ठपिण्डं परदत्तं प्रतिभुज्यते च येन ।
स परानगतिं कथं बिभर्ति धनतृष्णां त्यज देवतस्तु तस्मात् ॥ २७ ॥

ग्रहोंको भी देखिए, उनका भी उदय तब ही होता है जब कि आप अपना धन खर्च करते हैं । उनकी अनुकूलताके लिए जलाये गये दीपकोंमें आपका ही तेल जलता है । आप ही प्रसन्न करनेके लिए उसे विकसित श्वेत कमलों आदिकी सुगन्धित मालाएँ तथा और ऐसे ही अनेक पदार्थ चढ़ाते हैं । तब जो स्वयं इतना निर्धन है दूसरोंको क्या देगा ॥ २४ ॥

हवन सामग्री बड़े यत्नके साथ स्वच्छ तथा क्षुद्ध रूपमें बनायी जाती है, तब कहीं श्रेष्ठ मंत्रोंके उच्चारणके साथ-साथ हवनकुण्डमें छोड़ी जाती है । किन्तु होताओंके सामने ही कौआ, आदि नीच पक्षी उसमेंसे चोंचें भरकर खाते हैं । अब प्रश्न यह है कि जो देवता सियार, आदि नीच पशुओंकी जूठी बलि खाता है, उस विचारेमें कितनी सामर्थ्य होगी और जो स्वयं इतना दुर्बल है वह दूसरोंकी क्या रक्षा करेगा ॥ २५ ॥

देवताको चढ़ाये गये दुर्बल बकरेपर भूखा सियार अवसर पाते ही झपटता है और आराध्य देवताकी अवज्ञा करके बल-प्रयोगसे उस (बकरे) को ले भागता है । इसी प्रकार अनुकूल अवसर आते ही वह श्रृगाल उन मनुष्योंको भी बलात्कारपूर्वक ले भागता है जिन्होंने रक्षा पानेके लिए बलि चढ़ायी थी ॥ २६ ॥

अतएव वह श्रृगाल ही परमदेव क्यों नहीं माना जाता है ? जो पूज्य देवता दूसरोंसे समर्पित पशु आदिका मांस, भात, लावा, आटेके पिण्ड आदि पदार्थोंको खाकर ही जीवन बिताता है, वह पराश्रित देवता उन दूसरे व्यक्तियोंका भरण पोषण कैसे करेगा या जिनके जीवन निर्वाहका कोई उपाय ही नहीं रह गया है उन्हें क्या, कहाँसे देगा । इन सब युक्तियोंका भरण-पोषण सामने रखकर दैवकी कृपासे धन पानेकी इच्छाको सर्वथा छोड़ दो ॥ २७ ॥

---

१. म न दीप यस्य । २. म चरकेवर । ३. म स किं । ४. [काकः] । ५. [प्रलिप्तः] ।

यदि कालबलात्प्रजायते चेद्विबलः कर्तृगुणः परीक्ष्यमाणः।
बलवानथवा यदि कृतो स्याद्विबलः काल इति प्रवेदितव्यः ॥ २८ ॥
अथ जीवगणेष्वकालमृत्युः फलपुष्पाणि वनस्पतिष्वकाले।
भुजगा दशनैर्दशन्त्यकाले मनुजास्तु प्रसवन्त्यकालतश्च ॥ २९ ॥
अथ वृष्टिरकालतस्तु दृष्टा न हि वृष्टिः परिदृश्यते स्वकाले।
तत एव हि कालतः प्रजानां सुखदुःखात्मकमित्यभाषणीयम् ॥ ३० ॥
ग्रहतो जगतः शुभाशुभानि प्रलपन्तो विमतोन्प्रवञ्चयन्ति।
न तु तत्त्वमिदं वचो यदि स्यात्स्वयमेवात्महितानि किं न कुर्युः ॥ ३१ ॥

कालवाद समीक्षा

यदि कालकी ही यह सामर्थ्य है, कि उसके द्वारा संसारमें सब कुछ प्राप्त हो जाता है, तो कर्ताके गुण, जिनका सूक्ष्म तथा विशद विवेचन किया गया है वे सब निस्सार और निरर्थक ही हो जायंगे। इस अव्यवस्थासे मुक्ति पानेके लिए यदि आप यह कहें कि बलवान कर्ता ही इस कार्यमें सफल होता है, तो फिर यही समझना पड़ेगा कि कालमें कोई भी कार्य करनेकी सामर्थ्य नहीं है ॥ २८ ॥

इसके अतिरिक्त देखा ही जाता है कि मनुष्य आदि जीवोंकी असमयमें मृत्यु होती है। वनस्पतियोंमें भी असमयमें ही फूल फल लगने लगते हैं (विशेषकर वैज्ञानिक युगमें)। आयु कर्म समाप्त नहीं होता है किन्तु साँप आदि विषमय प्राणी दाँत मार देते हैं और अकाल मौत हो जाती है ॥ २९ ॥

अधिकांश मनुष्य मुहूर्त आदि समयका विचार किये बिना ही बाहर जाते हैं और सफल होते हैं। वर्षाऋतु न होनेपर भी धारासार वृष्टि देखी ही जाती है, यह भी अनेक बार देखा गया है कि वर्षाके लिए निश्चित समयमें भी एक बूंद जल नहीं बरसता है। इन सब कालके व्यतिक्रमोंका होना ही यह सिद्ध करता है कि 'कालके कारण संसारकी प्रजाको सुखी तथा दुखी होना पड़ता है' ऐसा कथन मुखपर भी नहीं लाना चाहिये ॥ ३० ॥

ज्योतिष्क ग्रहवाद

'ग्रहोंकी अनुकूलता तथा प्रतिकूलताके कारण ही संसारका भला अथवा बुरा होता है' जो लोग इस प्रकार का उपदेश देते हैं वे संसारके भोले अविवेकी प्राणियोंको साक्षात् ठगते हैं। क्योंकि यह सिद्धान्त तत्त्वभावसे बहुत दूर है। यदि यह सत्य हो तो, जो लोग इसपर आस्था करते हैं, इससे पहिले वे अपनी उन्नति तथा अभ्युदयके साधक, क्यों कर्म पर आस्था नहीं करते हैं ॥ ३१ ॥

ग्रहयोगबलाच्छुभं भवेच्चेत्स च रामः प्रियया कथं विहीनः ।
सविनाश्युशनः प्रयुक्तनीतिः सकलत्रः स च रावणो विनष्टः ॥ ३२ ॥
बलिनो बलवान्न चास्ति लोके स च बद्धो रिपुणा मुरारिणासौ ।
जगति प्रथितः स कामदेवः सशरीरस्तु पिनाकिना स दग्धः ॥ ३३ ॥
धनवीर्यपराक्रमातिसत्त्वो मघवान्देवगुरुप्रणीतचक्षुः ।
बहुमित्रसुमन्त्रभृत्यकोशः स च शप्तः किल गौतमेन तेन ॥ ३४ ॥
धरणीसुत उग्रवीर्यतेजा ग्रहराजः स च रावणेन बद्धः ।
बृहतां पितरप्रमेयबुद्धिः सकलत्रो भ्रियते स वासवेन ॥ ३५ ॥

यदि शुभग्रहोंके मिलनेसे ही सुख सम्पत्ति होती है तो क्या कारण है कि श्रीरामचन्द्रका अपनी प्राणाधिकासे वियोग हुआ था, क्योंकि उनकी तथा सीताजीकी कुण्डली तो बहुत सुन्दर रूपसे मिली थी। ग्रहोंके गुरु शुक्र आचार्यके द्वारा उपदिष्ट नीति यदि ऐसी है कि उसका पालन करनेपर कभी किसीकी हानि हो ही नहीं सकती है तो वह रावण जो कि उसका विशेषज्ञ ना वही क्यों अपनी स्त्री तथा बन्धोंके साथ सदाके लिए नष्ट हो गया ।। ३२ ॥

इस संसारमें राजा बलिसे बढ़कर कोई शक्तिशाली व्यक्ति नहीं हुआ है किन्तु उसको भी मुराके शत्रु श्रीकृष्णने विशेष आयासके बिना ही बुरी तरह बाँध दिया था और मार डाला था। संसार भरमें यह प्रसिद्ध है कि कामदेवके समक्ष कोई नहीं टिक सकता है वह सर्वविजयी है। किन्तु उसे भी त्रिशूलधारी रुद्र श्रीशिवने हराया ही नहीं था अपितु उसको सशरीर भस्म ही कर दिया था ॥ ३३ ॥

देवराज इन्द्रके धन, वीर्य, पराक्रम और असाधारण साहसिकता तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं। देवताओंके गुरु श्रीशुक्राचार्य-के द्वारा उपदिष्ट नीतिकी कसौटीपर ही वे सब वस्तुओंकी परीक्षा करते हैं। उनका नाम मघवान ही उनकी पुण्यकार्य करनेकी प्रबल प्रवृत्तिको स्पष्ट कर देता है। उनके हितैषी मित्र अनेक हैं, सब ही मंत्री उपयुक्त सम्मति देनेमें पटु हैं, आज्ञाकारी सेवकों-की तो बात ही क्या कहना है तथा कोश उनका अनन्त है। किन्तु यह सब होनेपर भी उन्हें इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुए गौतम ऋषिने अभिशाप दे दिया था जिसके कारण उनकी दुर्दशा हो गयी थी ॥ ३४ ॥

पृथ्वीके पुत्र मंगलग्रहके प्रचण्ड पराक्रम तथा दूसरोंको भस्म करनेमें समर्थ उग्रतेजकी पूरे संसारमें ख्याति है। किन्तु जिस समय लंकेश्वर रावण उसपर कुपित हो गया था, उसके वीर्य आदि गुण काम नहीं आये थे तथा रावणके कारावासमें पड़ा सड़ता रहा था। सरस्वतीके द्वारा स्वयं वरण किये गये बुद्धिके अवतार बृहस्पतिके पास इतनी अधिक समृद्धि है कि उसका अनुमान करना भी असंभव है, किन्तु यह सब होनेपर भी इनका तथा उनकी पत्नीका भरण पोषण इन्द्रके ही द्वारा किया जाता है ॥३५॥

१. [अविनाश्युशन] ।

रविचन्द्रमसोः ग्रहपीडां (?) परपोषत्वमथेन्द्रमन्त्रिणश्च ।
विदुषां च दरिद्रतां समीक्ष्य मतिमान्कोऽभिलषेद्ग्रहप्रवादम् ॥ ३६ ॥
जगदीश्वरशासनाद्यदि स्यात्परपक्षप्रभवविलुप्ततास्हिनस्यात् ।
कुलजातिवपुर्वयोविशेषान्[1] च युक्त्या घटते तदुप्सनीयम्[2] ॥ ३७ ॥
अथ सर्वमिदं स्वभावतश्चेन्ननु वैयर्थ्यमुपैति कर्मकर्तुः ।
अकृतागमदोषदर्शनं च तदवश्यं विदुषामचिन्तनीयम्[3] ॥ ३८ ॥

उग्र तेजस्वी सूर्य तथा जगतको मोहमें डालनेके योग्य अनुपम कान्ति तथा सुधाके अनन्त स्रोत चन्द्रमाका दूसरे ग्रहों (राहु तथा केतु) के द्वारा ग्रसना, इन्द्रके प्रधानमंत्री अनुपम मतिमान बृहस्पतिका दूसरोंके द्वारा भरण-पोषण तथा इस लोकके सुविख्यात मौलिक विद्वानोंकी दारुण दरिद्रताको देखकर कौन ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति है जो कि इस लोकप्रवाद पर विश्वास करेगा कि संसारके सुख-दुखके कारण सूर्य, आदि ग्रह ही हैं ॥ ३६ ॥

जगदीश्वरवाद

यदि संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश किसी जगदीश्वरकी इच्छा या शासनसे ही होते हैं तो प्रश्न यही उठता है कि जिस समय उत्पत्ति हो रही है उसी समय उसके विपरीत पक्ष अर्थात् विनाशका किसी भी अवस्थामें अभाव न हो सकेगा। इसके अतिरिक्त संसारमें पग, पगपर दिखायी देने वाले, कुल तथा जातिका नीचा-ऊँचापन, शरीरके स्वास्थ्य आदिमें भेद, अवस्थाकी न्यूनाधिकता आदि अनेक दृष्टियोंसे किये गये भेद किसी भी अवस्थामें सिद्ध न हो सकेंगे। यदि प्रतिवादी कहे; न हों, क्या हानि ? तो यही कहना है कि वे साक्षात् देखे जाते हैं फलतः उनका अपलाप कैसे किया जा सकता है ॥ ३७ ॥

यदि संसारकी उत्पत्ति आदि अनेक भेद परिपूर्ण प्रपंचका मूल कारण केवल स्वभावको ही मानेंगे तो कर्ताके समस्त शुभ तथा अशुभ कर्म कुछ भी करनेमें समर्थ न होनेके कारण सर्वथा व्यर्थ हो जायेंगे। जीव जिन कर्मोंको नहीं करेगा उनका फल भी उसे प्राप्त होगा, तथा इसी ढंगसे किये कर्मका फल न पाना आदि अनेक दोष संसारकी व्यवस्थामें आ जावेंगे। यह सब ऐसे नाशक दोष होंगे कि नियमसे ऐसे दोषोंकी कोई विद्वान व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकता हैं ॥ ३८ ॥

---

१. [°विशेषो न]। २. [तदीप्सनीयम्]। ३. [विदुषां हि चिन्त°]

स्वयमेव न भाति दर्पणः सन्न वह्निः स्वमुपैति[1] काष्ठभारः ।
न हि धातुरुपैति काञ्चनत्वं न हि दुग्धं घृतभावमभ्युपैत्यवीनाम् ॥ ३९ ॥
धनधान्यानि न यान्ति वृद्धिमत्र ननु यस्य भवेत्स्वभावपक्षः ।
[.....] स तु दोषै र्बहुभिः परिप्लुतः स्यात् ॥ ४० ॥
नियतिर्नियता नरव्ययस्य[2] प्रतिभग्नस्थितिकर्मणामभावः ।
प्रतिकर्मविनाशनात्सुखी स्यात्सुखहीनत्वमनिष्टमाप्तग्राह्यम् ॥ ४१ ॥

दर्पणमें प्रतिच्छायाको प्रकट करनेकी सामर्थ्य होनेपर वह अपने आप किसी प्रतिबिम्बको झलक नहीं देता है। ईंधन आगको अजेय बना सकता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ईंधनका ढेर कर देनेसे ही ज्वाला भभक उठेगी। स्वर्णमिश्रित मिट्टी अथवा कच्ची धातु अपने आप ही सोना नहीं हो जाती है। तथा बकरियों का दूध बिना किसी प्रयत्नके अपने आप ही घी नहीं बन जाता है ॥ ३९ ॥

इस संसारमें धन तथा धान्य आदि जितनी भी सम्पत्तियाँ हैं वे बाह्य प्रयत्नके बिना स्वतः ही नहीं बढ़ती हैं। अब प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति सब पदार्थोंके जन्म वृद्धि आदिको स्वभावका ही काम मानता है—उसके यहाँ पदार्थोंके अलग-अलग कारणों की क्या अपेक्षा होगी ? अर्थात् प्रयत्न व्यर्थ हो जायेगा और अकर्मण्यताको प्रश्रय मिलेगा। जिसमें एक दो नहीं अपितु अनगिनत दोष भर जायेंगे ॥ ४० ॥

नियतिवाद

जिस मनुष्यकी मान्यताके अनुसार नियति (पहिलेसे निश्चित जीवन, आदिका क्रम) निश्चित ही है, वह घटायी बढ़ायी नहीं जा सकती है, उसकी मान्यतामें कर्मोंकी स्थितिबन्ध (करनेके समयसे लेकर फलभोगके क्षण पर्यन्त रुकना) तथा प्रतिभाग (अनुभाग फल देनेकी सामर्थ्य) का ही अभाव न होगा, अपितु कर्मोंका भी अभाव हो जायगा। कृतकर्मोंका जब अभाव ही हो जायगा तो कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखका भी अभाव हो जायगा तथा यह जीव सुखहीन हो जायगा। सुख आदिसे हीन हो जाना, न तो किसी जीवको ही अभीष्ट है और न संसारके हितैषी सच्चे आप्तोंके ही ज्ञानमें आया था ॥ ४१ ॥

१. क समुपैति, [हि वन्हित्वपैमुति°] २. [नरस्य यस्य]।

पुरुषो यदि कारकः प्रजानां सुखदुःखान्यनवरुप्तपौरुषाणाम् ।
व्रतदानतया विनिष्फलानि परघातानृतमैथुनक्रियाश्च ॥ ४२ ॥
प्रकृतिर्महदादि भाव्यते चेत्कथमव्यक्ततमान्नु मूर्तिमत्स्यात् ।
इह कारणतो नु कार्यमिष्टं किमु दृष्टान्तविरुद्धतां न याति ॥ ४३ ॥
यदि शून्यमिदं जगत्समस्तं ननु विज्ञप्तिरभावतामुपैति ।
तदभावमुपागतोऽनभिज्ञो विमतिः केन स वेत्ति शून्यपक्षम् ॥ ४४ ॥
अथ सर्वपदार्थसंप्रयोगः सुपरीक्ष्य सदसत्प्रमाणभावान् ।
न च संभवति ह्यसत्सुशून्यं परिदृष्टं विगमे सतो महद्भिः ॥ ४५ ॥

सांख्यवाद निरसन

यदि सांख्योंका पुरुष ही संसारकी पूर्ण सृष्टिके लिए उत्तरदायी है, तो ऐसी प्रजा जिसने अपनेमें पूर्ण पुरुषत्वका साक्षात्कार नहीं किया है, उसके सुख-दुःखकी व्यवस्थाका आधार क्या माना जायगा ? इनके द्वारा आचरित व्रतोंका पालन, दानका देना, घोर तपोंका तपना आदि उसी प्रकार व्यर्थ हो जायँगे जैसे कि दूसरेके प्राणोंका लेना, असत्य वचन, व्यभिचार आदि, निष्फल तथा पापबन्धके कारण न होंगे ॥ ४२ ॥

यदि ऐसा माना जाय कि स्थूल प्रकृति ही महत, अहंकार आदिको उत्पन्न करती है, तो यह शंका उठती है कि अव्यक्त (जिसका आकार तथा स्वरूप स्वतः प्रकट नहीं है) प्रकृतिसे संसारके समस्त व्यक्त तथा निश्चित मूर्तिमान पदार्थों की सृष्टि कैसे होती है ? संसारका यही नियम है कि जैसा कारण होता है उससे वैसा अर्थात् उन्हीं गुणोंयुक्त कार्य उत्पन्न होता है। अतएव प्रकृति द्वारा सृष्टिका सिद्धान्त संसारमें मान्य दृष्टान्तसे विरुद्ध पड़ता है ॥ ४३ ॥

शून्यवाद

यदि चल तथा अचल द्रव्योंसे व्याप्त यह जगत वास्तवमें शून्य स्वरूप है, तो स्थूल पदार्थोंका ही अभाव न होगा, अपितु ज्ञानका भी शून्य (अभाव स्वरूप) हो जायगा। ज्ञानको भी शून्य अथवा असत् माननेका तात्पर्य होगा संसारके प्राणियोंको ज्ञानहीन मानना—अर्थात् वे कुछ भी जाननेमें असमर्थ हैं—तब प्रश्न होगा कि मतिहीन शून्यवादका समर्थक किस उपायकी सहायतासे अपने पक्षको जानेगा ॥ ४४ ॥

तब यही कहना होगा कि समस्त पदार्थोंके सद्भाव और अभाव स्वरूपकी सूक्ष्म परीक्षा कर लेनेके बाद ही संसारके पदार्थोंके स्वरूपका निर्णय, उपयोग आदिको व्यवस्था की गयी है। तथा पदार्थोंके किसी एक विशेषरूपमें न रहनेसे ही उनका सर्वथा शून्य होना नहीं माना जा सकता है क्योंकि महान् ज्ञानियोंका अनुभव है कि एकरूपमें पदार्थके नष्ट हो जानेपर भी किसी न किसी रूपमें उसका सद्भाव रहता ही है ॥ ४५ ॥

क्षणिका यदि यस्य [1]सर्वभावा फलस्तस्य[2] भवेदयं प्रयासः ।
गुणिनां हि गुणेन च प्रयोगो न च शब्दार्थमवैति दुर्मतिः ॥ ४६ ॥
ध्रुवता जगतो यदीष्यते चेद्विपदा तुल्यमतो व्ययः स्वयं स्वभावात् ।
गमनागमनक्रियानिवृत्तिर्न च संसारफलोदयो न मोक्षः ॥ ४७ ॥
यदि सर्वमिदं प्रतीत्यसिद्धं ननु सर्वस्य विलोपना प्रसिद्धा ।
असतस्तु कुतः प्रतीत्यसिद्धेस्तदसिद्धौ वचनं मृषा परस्य ॥ ४८ ॥

बौद्धवाद विचार

'सब भाव तथा पदार्थ क्षणिक हैं' जिसकी ऐसी मान्यता है, उस प्राणीके शुभकर्म करना, अशुभ आरम्भोंसे बचना आदि सब ही प्रयत्नोंके क्या फल होंगे ? उसके हाथ भी विफलता ही लगेगी। संसारके प्राणी अपनेमें अनेक गुणोंको धारण करनेका प्रयत्न करते हैं, किन्तु क्षणिकवादमें गुण, गुणियोंके किस काम आयेंगे ? विपरीत बुद्धि क्षणिकवादी एक शब्दके अर्थतकको तो जान न सकेगा, क्योंकि दोनों अलग-अलग क्षणोंमें उदित होते हैं ॥ ४६ ॥

इन अव्यवस्थाओंसे बचनेके लिए यदि संसारके पदार्थोंको सर्वथा नित्य माना जाय, तो इस सिद्धान्तको माननेपर भी वही सब दोष और विरोध पैदा होंगे जो कि जगतको क्षणिक माननेसे होते हैं, क्योंकि संसारका नाश होना भी स्वाभाविक है। नित्य माननेपर स्थिर पदार्थोंका गमन और चलती हुई द्रव्योंकी ठहरना आदि क्रियाएँ असम्भव हो जायँगी। संसारमें किसी भी प्रकारके परिणाम न हो सकेंगे, मोक्षका तो कहना ही क्या है ॥ ४७ ॥

संसारके समस्त सचराचर पदार्थ प्रतीत्यसिद्ध (स्वतः न होते हुये भी परस्परकी अपेक्षासे उत्पन्न होते और लुप्त हो जाने लगते हैं ?) हैं। यदि इसी सिद्धान्तको सत्य माना जाय तब तो किसी भी पदार्थकी वास्तविक सत्ता सिद्ध न हो सकेगी। इसके अतिरिक्त एक और शंका उत्पन्न होती है कि जिस पदार्थका वास्तविक आकार है ही नहीं वह ज्ञानको अपना प्रतिबिम्ब क्या देगा ? फलतः प्रतिवादीके सिद्धान्तकी मूल भित्तिके ही असिद्ध हो जानेके कारण उसका समस्त कथन ही असत्य हो जायगा ॥ ४८ ॥

---

१. म सर्वभाषा । २. [विफलस्तस्य] ।

यदिहेप्सितमात्मनः प्रदातुं ननु कर्मेति तदाहुराप्तवर्गाः ।
असतीहेतरश्च कर्मनाशस्तव भावाफलता कुतोऽस्ति लोके ॥ ४९ ॥
असिवद्यदिकोशवच्च लोके पृथगेवात्र न लक्षितः स चात्मा ।
इति यो विवदेददृष्टतत्त्वः स च तेन प्रतिभासतोऽन्तरात्मा ॥ ५० ॥
घटपिण्डवदेव जीवराशिः क्रियते चेत्परमेष्ठिनेति यस्य ।
अनपेक्षिततत्त्वमार्गदृष्टिर्ननु नित्येतरतामुपैति तस्य ॥ ५१ ॥
अथ सर्वगतं वदेन्नरो यो न हि गत्यागतिबन्धमोक्षभावः ।
प्रथमाङ्गुलिपर्वरूपमात्रो परमात्मेति वदेच्च यः स मूढः ॥ ५२ ॥

कर्मवादका उपक्रम

उक्त क्रमसे सब विकल्पोंके सदोष सिद्ध होनेके कारण यदि यही माना जाय कि आत्माको अपने अभिलषित प्रिय पदार्थोंकी प्राप्ति निजी कर्मोंके ही कारण होती है; जैसा कि संसारके पूज्य आप्तोंने भी कहा है, तब भी यही प्रश्न रह जाता है कि इस संसारमें रहते हुए कभी भी ऐसा क्षण नहीं आता है जब कि जीव कर्म न करता हो ? तब कौनसे ऐसे कारण हैं जो कि सांसारिक कार्योंको फलहीन बनाते हैं ? ॥ ४९ ॥

आत्मा-विचार

कोश (म्यान) में जब तलवार रहती है तो दोनों एकसे मालूम देते हैं किन्तु खड्गको बाहर निकालते ही दोनों दोनों अलग-अलग सामने आ जाते हैं । किन्तु आत्मा शरीर से अलग इस रूपमें तो कभी, कहीं देखा नहीं गया है ? इस ढंगसे यदि कोई तत्त्वज्ञान विमुख व्यक्ति शंका करे, तो उसकी शंकाका समाधान उक्त शंकासे हो जाता है, क्योंकि इस शंकाके द्वारा अन्तरात्माकी स्पष्ट झलक मिल जाती है ॥ ५० ॥

यदि कोई तत्त्वोंको जाननेका इच्छुक यह मानता है कि परमात्मा ही संसारको अनन्त जीवराशिको उसी प्रकार बनाता है जिस प्रकार कुम्हार, आदि शिल्पी घड़ा, मृद्-गोला आदि सांसारिक पदार्थोंको बनाते हैं, तो यही कहना होगा कि इस सिद्धान्तको महत्त्व देनेवाला विचारक जान बूझकर तत्त्वदृष्टिकी उपेक्षा कर रहा है। क्योंकि उसके मतसे समस्त जीवोंकी द्रव्य-दृष्टिसे नित्यता न सिद्ध होकर दूसरी (अनित्यता) ही परिस्थिति हो जायगी ॥ ५१ ॥

आत्माको संसार भरमें व्यापक माना जायगा तो उसका कहीं से कहीं जाना अथवा रुकना तथा मोक्ष आदि व्यवस्थाएँ सर्वथा असंगत हो जायँगी । सर्वगत पक्षमें आये दोषोंसे घबराकर यदि अंगुष्ठ बराबर आत्माको मानेंगे तो भी उक्त दोषोंसे मुक्ति नहीं मिलेगी फलतः इस पक्षके समर्थककी मूर्खता ही सिद्ध होगी ॥ ५२ ॥

१. [प्रतिभासितो°] ।

सुखदुःखफलात्प्रयत्नतश्च ननु गत्यादिविशेषलिङ्गभावात् ।
स न विद्यत इत्यनल्पबुद्धिः कथमात्मानमिहात्मना ब्रवीमि ॥ ५३ ॥
गतयोऽभिहिता न ताश्च शून्याः सुखदुःखानुभवोऽस्ति जीवराशेः[1] ।
स च कर्मपथेन नीयमानो मतिमांस्तासु गतीषु बंभ्रमीति ॥ ५४ ॥
अनुपायवती हृयुपायपूर्वा व्यवसायस्य गतिर्द्विधा विभिन्ना ।
अनुपायवतां न कार्यसिद्धिर्भवतीत्येवमुदाहृतं महद्भिः ॥ ५५ ॥
परिगृह्य नरो धमन्नधातुं न सुवर्णं लभते चिरादपीह ।
परिमन्थ्य महाश्रमेण वह्निं लभते नैव पुमाननर्तिकाष्ठम्[2] ॥ ५६ ॥

किन्हीं प्रतिवादियोंकी बुद्धि तो इतनी अधिक विकसित हो गयी है कि वे आत्माके अस्तित्वको ही नहीं मानते हैं क्योंकि सुख दुःख-आदि फलों और प्रयत्न, आदि क्रियाओंके सिवा कोई आत्मा अलग से उन्हें दिखता नहीं है। तथा आत्माका गति, आदिके समान कोई स्पष्ट लिंग भी नहीं मिलता है जिससे कि आत्माकी अभ्रान्तसिद्धि हो सके। इस विचारकसे एक ही बात पूछनी है कि वह 'मैं अपने आप ही बोलता हूँ' आदि बातों का अनुभव कैसे करता है ॥ ५३ ॥

केवलज्ञानी आचार्योंने जो जीवकी चार गतियाँ बतलायी हैं वे शून्य नहीं हैं अपितु उनका निश्चित अस्तित्व है। कौन नहीं जानता है कि विविध भागोंमें विभक्त अनन्त जीवराशिको सुख-दुःख आदि समस्त भावोंका अति स्पष्ट अनुभव होता है। और यह ज्ञान लक्षण युक्त बुद्धिमान जीव ही अशुभकर्मरूपी मार्गके ऊपर चलकर ही उक्त चारों गतियोंमें चक्कर काटता फिरता है ॥ ५४ ॥

उत्थान-मार्ग

जीवमें जो कार्य करनेकी क्षमता है उसे ही व्यवसाय कहते हैं। इस व्यवसायको सफलताके दो मार्ग हैं—एक तो है किसी भी प्रकारका प्रयत्न न करना (अनुपायवती) तथा दूसरा है उसके साधक साधनोंको जुटा देना (उपाय पूर्वक) संसार-में जो महान् आत्मा अपनी साधनामें सफल हुए हैं उनका कहना है कि जो लोग स्वतः सामर्थ्यवान होते हुए किसी कार्यकी सफलताके लिए प्रयत्न नहीं करते हैं, वे कभी भी सफल नहीं होते हैं ॥ ५५ ॥

जिस मूलधातुमें सोना नहीं है उसीको लेकर यदि कोई मनुष्य अग्निमें डाल देता है और चिरकाल तक ज्वालाको प्रज्वलित रखनेके लिए धौंकता रहता है, तो भी उसके हाथ थोड़ा-सा भी सोना नहीं लगता है। इसी प्रकार यदि कोई आग जलानेका इच्छुक ऐसी लकड़ियोंको लेता है जिनसे कभी आग लग ही नहीं सकती है, और उनको काफी देर तक रगड़ता है तो इसका यह मतलब नहीं है कि उसे अपने महाश्रमके फलस्वरूप उन लकड़ियोंसे आग मिल सकेगी ॥ ५६ ॥

---

१. म जीवराशिः । २. [पुमाननर्थ्यं°] ।

प्रचलोत्थितया दवाग्निशम्य[1] परिवाचं प्रपत[2]त्प्रचक्षुरग्नौ ।
न च क्षरते पयो विषाणादिति दुग्ध्यं मतिगा[3]नुपायवत्स्यात् ॥ ५७ ॥
अवगम्य बुधस्तु देशकालौ शनकैः क्षीरमथाददाति गोभ्यः ।
मतिमान्कनकं लभेत धातोरनलार्थी लभतेऽग्निमाशु काष्ठात् ॥ ५८ ॥
अनिलाहतवृद्धमिद्धमग्निं प्रसमीक्ष्येणवाऽशनैरपैति ।
व्यवसायवतामुपायपूर्वाः सफलास्ते च यथा सुखक्रियार्थाः ॥ ५९ ॥
विधिवा[4]न्नकृतान्तकालदैवग्रहभाग्येश्वरपौरुषस्वभावाः ।
कथितास्तु नयैकमार्गयुक्त्या न हि निःश्रेयसकारणं भवन्ति ॥ ६० ॥

अत्यन्त वेगसे बहती हुई प्रचण्ड पवनके कारण भभकी हुई दावाग्निका समाचार पाते ही वह व्यक्ति जिसकी आँखें फूट चुकी हैं उस दिशामें दौड़ता है जो कि बुलानेवालेके विपरीत होती हैं, फल होता है कि वह बचता नहीं है और आगके मुखमें जा पड़ता है। कौन नहीं जानता है कि गायके सींगसे दूध नहीं निकलता है? दूध वही व्यक्ति पाता है जो ठीक उपाय (थन को दुहना) करता है ॥ ५७ ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति देश तथा काल दोनों को समुचित रूपसे समझ लेता है तब प्रयत्न करता है। गायको देखकर दूधके लिए उसके स्तनपर हाथ लगाकर धीरे-धीरे दूध दुह लेता है। सोनेकी मूलधातुका पता लगाकर ही मतिमान व्यक्ति उससे सोना बनाता है, तथा जिसे अग्निकी आवश्यकता है वह उपयोगी लकड़ीका पता लगाकर उसे रगड़ता है और तुरन्त ही अग्नि पैदा कर लेता है ॥ ५८ ॥

उपायज

जिस व्यक्तिकी आँखें ठीक हैं और ज्योति घटी नहीं है वह दूरसे ही देखता है कि प्रभञ्जन (आँधी) के झोकोंसे धोकीं गयी अरण्याग्नि बड़े विकराल रूपसे भभक उठी है, तब वह चुपचाप उसकी विपरीत दिशामें खिसक जाता है। तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति समुचित साधनोंको जुटाकर प्रयत्न करते हैं वे सर्वत्र सफल ही नहीं होते हैं, अपितु उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ इतनी सरलतासे सफल होती हैं कि वे दुःखका नाम भी नहीं जानते हैं ॥ ५९ ॥

नियति, निजार्जित कर्म, यमराज, काल, दैव, रवि, चन्द्र, आदि ग्रह, कर्मनिरपेक्ष भाग्य, ईश्वर, पुरुषार्थ, स्वभाव आदि ही संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयके प्रधान प्रेरक हैं। इस प्रकार जो एक-एकको प्रधानता दी है वह किसी एक नय-की अपेक्षासे कहा है। अतएव एक नयकी अपेक्षासे की गयी वह तत्त्वमीमांसा मोक्षका कारण नहीं होती है ॥ ६० ॥

---

१. क °यादग्निशम्य। २. [प्रपतत्य°]। ३. [दुह्यं मतिमानु°]। ४. [विधिकर्मकृतान्त°]।

सकला नयभङ्गमार्गनीता यदनेकान्तविशेषितास्त एव ।
महतां वचनानुसारनीता विदुषां श्रेयसि हेतवो भवन्ति ॥ ६१ ॥
स्वपुराकृतकर्मपाशबद्धान्नरकादींश्च गतीरनन्तकालम् ।
प्रतिसंसरति स्वयं स जीवो न च मुक्तिं लभते विनष्टचेताः ॥ ६२ ॥
बलवांस्तु यदा क्रियागुणैः स्यान्न च मुक्तिंलभते स कल्मषात्मा ।
स यदा बलवान्गुणो गुणेभ्यः प्रविमुच्याशु नियाति मुक्तिमात्मा ॥ ६३ ॥
[.....
.....]
शुभकर्मयुतः शुभानुबन्धं फलमश्नाति परत्र सोऽन्तरात्मा ॥ ६४ ॥

किन्तु नैगम आदि सातों नयों तथा स्याद्-अस्ति, आदि सातों भंगोंकी अपेक्षासे विचारे गये पदार्थोंका जो अनेक दृष्टियों युक्त ज्ञान होता है उसके साथ अनेकान्त (अनेकधर्मता) का द्योतक स्यात् शब्द लगा रहता है; वही ज्ञान पूर्ण होता है। पदार्थोंका व्यापक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए निष्पक्ष विचारकोंने इसी सरणीका आश्रय लिया था। अतएव उस प्रक्रियासे प्राप्त किया गया ज्ञान ही विवेकी पुरुषोंको मोक्षलक्ष्मीके मिलनेमें सहायक होता है ॥ ६१ ॥

संसारबन्ध

संसारी जीव अपने पूर्वजन्मोंमें किये गये कर्मोंके फन्दोंमें जकड़कर बँधे हुए हैं। इसीलिए अनादिकालसे प्रारम्भ करके अनन्तकाल पर्यन्त नरक आदि गतियोंमें घसीटे जाते हैं। संसारचक्रमें पड़ा हुआ जीव अपने आप ही अपने आगे आनेवाले सुख-दुःख पूर्ण जन्मोंकी नींव डालता है। वह जितने अधिक चक्कर मारता है उतना अधिक ही उसका चित्त विमूढ़ होता जाता है और मुक्ति उससे दूर भागती है ॥ ६२ ॥

जिस समय यह आत्मा शुभ-अशुभ क्रियाओं तथा सम, दम आदि गुणोंकी वृद्धिका आधार होता है उस समय भी उसपर चढ़ा हुआ पापोंका पर्त न तो नष्ट ही होता है और न घटता ही है, फलतः वह संसारसे छुटकारा नहीं पाता है। किन्तु जिस समय वह आध्यात्मिक ज्ञान सुख आदि गुणोंके पूर्ण विकासके लिए ही उक्त गुणोंको अपने आपमें पुष्ट करता है, उस समय वह क्षणभरमें ही समस्त सांसारिक बन्धनोंको तोड़कर फेंक देता है और शीघ्र ही मोक्षमें जा पहुँचता है ॥ ६३ ॥

जब[1] यह आत्मा शुभ कर्मोंको ही कमाता है तो उसका निश्चित फल यह होता है कि वह अपनी आगामी पर्यायोंमें

१. मूल प्रतियोंमें यह श्लोक त्रुटित है। फलतः प्रकरण तथा अन्य सुविधाओंके आधारपर यद्यपि यह पूर्ण किया जा सकता है, पर वह भ्रामक होगा (अनु०)।

नरकेष्वतितीव्रवेदनेषु ह्यमनोज्ञेष्वसुखावहेषु जीवाः ।
अकृतार्थतया तमोधृतेषु परिपत्यानुभवन्ति घोरदुःखम् ॥ ६५ ॥
वधबन्धपरिश्रमाद्यनर्थान्बहुला भीमतमास्तिरश्चजीवाः ।
जननार्णवमप्लवा भ्रमन्तः स्वकृता[1]ङ्गः फलतः समश्नुवन्ति ॥ ६६ ॥
दुरितान्मनुजा गुणैर्विहीनाः परभृत्यत्वमुपेत्य दीनभावाः ।
अव[2]यामि भया[3]दिता विषण्णा मरणं यान्त्यथवार्थिनो वराकाः ॥ ६७ ॥
परिवारधनाप्रमेयलक्ष्मीमतिविज्ञानयशःप्रकाशवंशा ।
द्युतिकीर्तिबलप्रतापभोगाः सुकृतादेव हि नृणां भवन्ति सर्वे ॥ ६८ ॥

ऐसे ही फलोंको पाता है जिनका निश्चित फल सुखभोग ही नहीं होता है अपितु उससे आगेके लिए शुभ कर्मोंका बन्ध भी होता है ॥ ६४ ॥

पहिले कह चुके हैं कि नरकोंमें अत्यन्त तीव्र वेदना होती है, इतना ही नहीं वे नरक अत्यन्त वीभत्स और अरुचिकर होते हैं। वहाँकी प्रत्येक परिस्थिति दुःख ही उत्पन्न करती है तथा वे सबके सब गाढ़ अन्धकारसे परिपूर्ण हैं। वहाँ पर उन्हीं जीवोंका जन्म होता है जिन्होंने अपने पूर्व जन्ममें करणीय कार्योंकी उपेक्षा की है। वे वहाँपर विविध प्रकारके घोर दुःखोंको सतत सहते हैं ॥ ६५ ॥

जन्म मरणरूपी विशाल पारावारको पार करनेमें असमर्थ जीव संसारचक्रमें घूमते रहते हैं। तथा जब उनके पूर्वकृत कुकर्मोंका फल उदयमें आता है तो वे तिर्यञ्च गतिमें उत्पन्न होते हैं जहाँ पर असमयमें ही अकारण वध, बिना अपराधके बन्धन, प्राण लेनेवाला परिश्रम, तथा इसी प्रकारके एक दो नहीं अनेक अनर्थोंको वे झेलते हैं जो कि उनके पूर्वकृत कर्मोंके ही फल होते हैं ॥ ६६ ॥

जो मनुष्य, मनुष्योचित गुणोंसे सर्वथा हीन हैं तथा जिनमें नैसर्गिक तेज और गौरव नहीं है वे पुरुष पूर्वकृत पापोंके उदय अवस्थामें आनेपर ऐसी दुरवस्थाको प्राप्त होते हैं कि उन्हें अपनी रोटीके लिए भी दूसरोंकी सेवा करनी या उनकी ओर देखना पड़ता है। उनपर सदा ही भयका भूत सवार रहता है, जब देखो तब ही खेद खिन्न दिखते हैं, उनका जीवन निन्दनीय हो जाता है। अथवा बिचारे भिक्षुक होकर असमयमें ही काल कवलित हो जाते हैं ॥ ६७ ॥

पुण्यका फल

स्वस्थ, स्नेही तथा सम्पन्न परिवार, विविध वैभव, असंख्य लक्ष्मी, यथार्थग्राही मति, विशेष गम्भीर ज्ञान, निर्मल यश तथा जगत् विख्यात वंश पूर्वकृत पुण्योंके ही फल हैं। जिन कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियोंने पर्याप्त पुण्यका संचय किया है उन्हींको मन-

---

१. [स्वकृतानां]। २. [अपयान्ति]। ३. म भवार्दिता।

नृ[1]पतौ द्विरदेन्द्रमस्तकस्थानुदितादित्यसमानसत्किरीटा[2]न् ।
शरदिन्दुनिभातपत्रचिह्नान् प्रचलच्चामरवीज्यमानलीलान् ॥ ६९ ॥
प्रविराजितरत्नबद्धहारान् बहुभृत्यैः परियाचितान्समीक्ष्य ।
स्वपुरार्जितसत्क्रियाफलेन प्रचलन्तीति बुधाश्च वर्णयन्ति ॥ ७० ॥
यदतुल्यपराक्रमातिसत्त्वान्[3] कुलरूपद्युतिकान्तिभिः समानान् ।
बहुकोटिनरानथैक एव[4] ननु पूर्वार्जितपुण्यतः प्रत्रास्ति ॥ ७१ ॥
इह जन्मनि यः शुभक्रियार्थः स परत्राभ्युपगम्य नाकलोकम् ।
अणिमादिगुणैर्गुणप्रधानैः सुचिरं क्रीडति निर्गमप्रबन्धैः ॥ ७२ ॥

मोहक कान्ति, प्रभावक कीर्ति, अजेय बल, परजनोंका पराभवकारक प्रताप, दुःख संसर्गहीन चिरकाल स्थायी यथेच्छ भोग, आदि सब ही सुख प्राप्त होते है ॥ ६८ ॥

विवेकी पुरुष जिस समय राजा रूपमें मदोन्मत्त हाथियोंपर आरूढ़ होकर चलते हैं, पूर्वाचलपर उदित हुए सूर्यके उद्योतके सदृश प्रकाशमान उत्तम मुकुटोंकी ज्योतिसे शोभित होते हैं, शरद् पूर्णिमाकी रात्रिमें उदित पूर्णचन्द्रकी धवल शीतल कान्तिके तुल्य छत्रोंकी शोभासे प्रभावित होते हैं, लीलापूर्वक डुरते हुए सुन्दर चंचल चमरोंके माहात्म्य अनुभव करते हैं ॥ ६९ ॥

इन राजाओंके गलेमें पड़े मणिमय विशाल हारोंको पहिनते हैं जिनकी छटा चारों ओर फैली रहती है, उनके साथ अनेक आज्ञाकारी सेवक रहते हैं जो पुनः पुनः उनसे करणीय काम पूंछते हैं । यह सब देखकर विद्वान् लोग यही कहते हैं कि यह सब विभव तथा भोग पूर्वभवमें संचित किये गये अपने पूर्वपुण्यके फलसे ही मिलते हैं, अन्यथा नहीं ॥ ७० ॥

प्रत्येक राज्यमें अनेक अनुपम पराक्रमी तथा लोकोत्तर बलशाली, पुरुष नहीं होते हैं, अपितु जहाँ तक उच्चवंश, शारीरिक सौन्दर्य, तेज, मनमोहक कान्ति, आदि गुणोंका सम्बन्ध है ये लोग राजाके ही समान होते हैं । तो भी इस प्रकारके सुयोग्य एक दो ही पुरुषोंको नहीं अपितु करोड़ों पुरुषोंपर जो राजा नामधारी अकेला जन्तु ही शासन करता है, इसमें उसकी कोई असाधारणता साधक नहीं है, अपितु उसका पूर्वोपार्जित पुण्य ही परम प्रेरक है ॥ ७१ ॥

जो पुरुष इस जन्ममें अपने तथा पराये कल्याणके साधक कार्योंमें लीन रहता है, वह यहाँकी आयुके समाप्त होते ही दूसरे जन्ममें स्वर्गलोकको शोभा बढ़ाता है । वहाँ पहुँच कर वह गुणोंके राजा अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियोंको प्राप्त करता है । तथा इनके प्रतापसे प्राप्त अनेक निरन्तर क्रीड़ाओंको करता हुआ चिरकाल तक सुखभोग करता है ॥ ७२ ॥

---

१. क नृपति [नृपतीन्] । २. क सत्तिरीटान् । ३. क °सर्वान् । ४. क एवन्नतु, [एवं ननु] ।

[1]अजराम्बरहेमभूषणानामपरिम्लानसुदामधारिणीनाम् ।
शुभरूपकलागुणान्वितानां [2]प्रतिभावं व्रजति द्युसुन्दरीणाम् ॥ ७३ ॥
स्मितपूर्वमनोज्ञभाषिणीभिः सुरतप्रीत्यनुकूलकारिणीभिः ।
वरवेषविलासविभ्रमाभी रमते नित्यमतन्द्रितः श्रियाभिः ॥ ७४ ॥
रविकोटिसहस्रभासुरारेणां[3] प्रचलत्कुण्डलहारविभूषितानां[4] म् ।
कुरुते विभुतादिवश्यतीना[5]ममरेन्द्रः सुकृतादपेतसाक[6]ः ॥ ७५ ॥
इति मधुरवचोभिरर्थवद्भिः समपनयन्नुरनुष्ठितान्पदार्थान् ।
अधिगतनयहेतुवादमार्गः स्फुटमवदन्नृपतिस्तदा सभायाम् ॥ ७६ ॥

वह ऐसी स्वर्गीय सुन्दरियोंका पति होता है जिनके निर्मल आकर्षक वस्त्रों तथा सोने आदि बहुमूल्य धातुओंसे बने भूषणोंपर कभी धूल या मैल बैठता ही नहीं है। वे सुन्दर सुगन्धित मालाओं और पुष्पोंसे सजी रहती हैं, वे सब कभी मुरझाते नहीं हैं। उनकी रूपलक्ष्मी शुभ तथा आकर्षक होती है, ललित कलाओंमें पारंगत होती है तथा कोई भी ऐसा गुण नहीं है जो उनमें न पाया जाता हो ॥ ७३ ॥

वे देवाङ्गनाएँ जब कभी बोलती हैं तो उसके पहिले मुस्कराती हैं उनके शब्द अत्यन्त प्रिय होते हैं, उनकी चेष्टाएँ प्रीतिको बढ़ाती हैं तथा सुरतिको उत्तेजित करती हैं। वेषभूषा कुलीन एवं उदात्त नायिकाओंके उपयुक्त होती है, हावभाव आदि विलास शिष्ट और इष्ट होते हैं तथा रूठना आदि विभ्रम परम हृदयहारी होते हैं। ऐसी प्रियाओंके साथ पुण्यात्मा स्वर्गमें सदा विलास करते हैं ॥ ७४ ॥

देवताओंके राजा इन्द्रके गलेमें पड़े हार तथा कानोंके कुण्डलोंकी कान्ति तथा उद्योत इतने विशाल होते हैं कि यदि एक साथ एक दो नहीं हजारों करोड़ सूर्य उदित हो जाँय तो उनकी सम्मिलित प्रभा भी उसकी समता न कर सकेगी। ऐसा इन्द्र जो अपने जीवनमें कभी शोककी कल्पनाको भी नहीं जानता है। वह ही अपने पूर्वभवमें अर्जित पुण्यके प्रभावसे देवगतिमें चिरकाल पर्यन्त स्वर्गके स्वामियोंकी भी प्रधानता करता है ॥ ७५ ॥

धर्मज्ञान प्रशंसा

राजसभामें उन्नत सिंहासनपर विराजमान सम्राट वरांगराजने गम्भीर अर्थपूर्ण सरल तथा मधुर वचनोंके द्वारा

---

१. [अरजोऽम्बर°]। २. [पतिभावं]। ३. म °सहस्र प्रभा°। ४. °हारभूषितानाम्°। ५. [विभुतां दिवस्पतीनाममरेन्द्रः]। ६. (°शोकः°)।

अबुधहृदयवञ्चनानिमित्तं परिपठितं शठवादिभिर्द्विजैर्यत् ।
पुनरपि नृपतिर्विशालबुद्धिः कथयितुमारभते स्म वेदगुह्यम् ॥ ७७ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिते
परवादिविघातको नाम चतुर्विंशतितमः सर्गः ।

मिथ्या-दृष्टि मतप्रवर्तकों द्वारा चलाये गये कुमार्गोंके कुतर्कोंका खंडन किया था, और सप्त नय तथा सप्त भंगयुक्त परिपूर्ण ज्ञानके साधक मार्गको समझाया था। यह सब उपदेश उस समय उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट तथा आशुबोध शैलीमें किया था ॥ ७६ ॥

जो पुरुष भोले तथा अज्ञानी हैं उनके सरल हृदयको ठगनेकी अभिलाषासे स्वार्थी दुष्ट तथा हठी विद्यावृत्तिप्रधान द्विजोंने जो कुछ भी वेद-ज्ञानमार्गके नामपर अव्यवस्थित उपदेश दिये हैं, उस समस्त ज्ञानके रहस्यको स्पष्ट कर देनेके ही लिए उदार विचार, सन्मति तथा सम्यक्दृष्टि सम्राटने फिरसे व्याख्यान देना प्रारम्भ किया था ॥ ७७ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
परवादिघातक नाम चतुर्विंशतितम् सर्ग समाप्त ।

अथावनीन्द्रः स महासभायां प्रकाशयन्धर्मकथापुराणम् ।
मिथ्यामहामोहमलीमसानां चित्तप्रसादार्थमिदं जगाद ॥ १ ॥
अष्टैकं[1] एवात्र यदि प्रजानां कथं पुनर्जातिचतुष्प्रभेदः ।
प्रमाणदृष्टान्तनयप्रवादैः परीक्ष्यमाणो विघटामुपैति ॥ २ ॥
चत्वार एकस्य पितुः सुताश्चेत्तेषां सुतानां खलु जातिरेका ।
एवं प्रजानां च पितैक एव पित्रैकभावाच्च न जातिभेदः ॥ ३ ॥

पञ्चविंश सर्ग

वर्ण व्यवस्था

आनर्तपुरकी आदर्श राजसभामें विराजमान विशाल पृथ्वीके पालक सम्राट वरांग सत्यधर्म, उसके पालक, शलाका (आदर्श) पुरुषों की जीवन गाथा तथा अन्य पुराणोंके रहस्य तथा आदर्श अपने मंत्री, आदि सब ही अधिकारियों तथा जनताके हृदयमें बैठा देना चाहते थे क्योंकि ऐसा किये बिना उन सबके चित्तको वह कालिमा नहीं धुल सकती थी जो कि विशेष रूपसे मिथ्यात्वके कारण तथा साधारणतया कर्मोंकी कृपासे उनके भीतर घर कर चुकी थी। इस उद्देश्यको सफल करनेके लिए ही उन्होंने फिर अपने व्याख्यानको प्रारम्भ किया था ॥ १ ॥

'समस्त संसारकी प्रजामें यदि अपनी अनेक साधारण योग्यताओंके कारण ऐक्य हो है, तो यही प्रश्न उठता है कि मनुष्य-वर्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार (वर्गों) जातियोंमें किस आधारपर विभक्त किया गया है। मनुष्यके इन चार भेदोंको जब हम प्रमाण, नय तथा इनको विशद करके समझानेमें समर्थ दृष्टान्तोंको विस्तृत तथा सूक्ष्म कसौटीपर (युक्ति-शास्त्र) कसते हैं तो यह जाति व्यवस्था बिल्कुल उलझ जाती है ॥ २ ॥

यों समझिये; एक पिताके चार पुत्र पैदा हुए, उन चारोंकी अवस्था, रंगरूप आदि सब ही बातोंमें तारतम्य होने पर भी इतना निश्चित है कि उनकी जाति एक ही होगी। पूर्ण विश्वके मनुष्योंका उत्पादक वैदिकों ब्रह्मा ('मनुष्य जाति'-नामकर्म) एक ही है, और जब कि मूल उत्पादक एक ही है तो कोई कारण नहीं कि उनकी जातियां अलग-अलग हों ॥ ३ ॥

---

१. [अस्त्यैक]।

फलान्ययोदुम्बरवृक्षजातेर्यथाग्रमध्यान्तभवानि यानि ।
रूपाकृतिस्पर्शसमानि[1] तानि तथैकतो जातिरपि प्रचिन्त्या ॥ ४ ॥
ये कौशिकाः काश्यपगौतमाश्च कौण्डिन्यमाण्डव्यवसिष्ठगोत्राः ।
आत्रेयकौत्साङ्गिरसाः सगार्ग्या मौद्गल्यकात्यायनभार्गवाश्च ॥ ५ ॥
गोत्राणि नानाविधजातयश्च मातृस्नुषामैथुनपुत्रभार्याः ।
वैवाहिकं कर्म च वर्णभेदः सर्वाणि चैवयानि[2] भवन्ति तेषाम् ॥ ६ ॥
न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुभ्रा न क्षत्रियाः किंशुकपुष्पगौराः ।
न चेह वैश्या हरितालतुल्याः शूद्रा न चाङ्गारसमानवर्णाः ॥ ७ ॥

किसी भी वटके विशाल वृक्षमें बिलकुल नीचेकी डालसे आरम्भ करके शिखापर्यन्त फल आते हैं। नीचे, ऊपर, बीच, दांयी, बाईं ओर आदि अनेक भागोंमें उत्पन्न होकर भी उन सबके मन्द लाल रंग, निश्चित गोल आकार, घन तथा मृदु स्पर्श आदि सब ही गुण समान होते हैं, फलतः उनको एक ही जाति होती है। इसी दृष्टिसे विचार करनेपर मनुष्य जाति भी एक ही प्रतीत होती है ॥ ४ ॥

विविध वंश

हमारे संसारमें कौशिक (विश्वामित्र) काश्यप, गौतम, कौंडिन्य, माण्डव्य तथा वसिष्ठ गोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अत्रि (आत्रेय) कुत्स (कौत्स) अंगिरस (आंगिरस) गर्ग (गार्ग्य) मुद्गल (मौद्गल) कात्यायन तथा भृगु (भार्गव) ऋषिके बाद इन सबके कुल भी सुविख्यात रहे हैं ॥ ५ ॥

इस क्रमसे हम देखते हैं कि माता, पुत्रवधु, साला अथवा मामा, पुत्र, पति-पत्नी आदिके विविध गोत्र ही नहीं हैं, अपितु उनकी प्रधानताको प्रचलित रखनेकी प्रेरणासे अनेक जातियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। प्रत्येक जाति और गोत्रकी विवाह व्यवस्था पृथक्-पृथक् है, अनेक वर्ण हैं। किन्तु निश्चय दृष्टिसे देखनेपर यही प्रतीत होता है कि उक्त असंख्य वर्गोंमें विभक्त मनुष्य जातिकी सब ही प्रवृत्तियाँ एक समान हैं ॥ ६ ॥

सूक्ष्म पर्यवेक्षण करनेपर यही निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मण पूर्णचन्द्रकी शीतल किरणोंके तुल्य धवल नहीं हैं, क्षत्रियोंका बाह्यरूप तथा आचरण भी किंशुक पुष्पके समान लालिमायुक्त गौर नहीं है, तृतीय वर्गमें विभक्त वैश्योंका आचार-विचार भी हरिताल पुष्पके समान हो नील-हरे रंगका नहीं है तथा अन्तिमवर्ण शूद्रोंका शरीर तथा मन भी बुझे हुए अंगारके (कोयले) समान कृष्णवर्ण नहीं ही होता है ॥ ७ ॥

१. [रूपाकृति]। २. क चैत्यानि।

पादप्रचारैस्तनुवर्णकेशैः सुखेन दुःखेन च शोणितेन ।
त्वङ्मांसमेदोऽस्थिरसैः समामाश्चतुःप्रभेदाश्च कथं भवन्ति ॥ ८ ॥
कृते युगे नास्ति च वर्णभेदस्त्रेताप्रवृत्तावथवाथ भृत्यम् ।
आभ्यां युगाभ्यां च निकृष्टभावाद्द्वापरं वर्णकुलाकुलं तत् ॥ ९ ॥
इति प्रवादैरतिलोभमोहैर्द्वेषैः पुनर्वर्णविपर्ययैश्च ।
विश्रम्भघातैः स्थितिसत्यभेदैर्युक्तः कलिस्तत्र भविष्यतीति ॥ १० ॥
क्रियाविशेषाद्व्यवहारमात्राद्दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात् ।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ॥ ११ ॥

चारों वर्णोंके मनुष्योंकी त्वचा, मांस, रक्त, मज्जा, हड्डी तथा शुक्र आदि समस्त रस एक ही प्रकारके होते हैं। उनके चलने, उठने, बैठने, शरीरके साधारण निर्माण, रंगरूप, केश आदि अंगों तथा चेष्टाओंमें भी कोई भेद नहीं होता है। सुख, शोक, चिन्ता, दुख, प्रसन्नता, श्रम, आदि भावोंका विचार करने पर तो मनुष्यमात्रमें कोई भी भेद दृष्टिगोचर होता ही नहीं है ॥ ८ ॥

जहाँतक पौराणिक ख्यातोंका सम्बन्ध है वे स्पष्ट कहते हैं कि कृतयुगमें किसी भी प्रकारका वर्ण-विभाजन न हुआ था। सत्युगके समाप्त होनेपर त्रेताका आरम्भ हुआ तब ही कुछ स्वार्थान्ध पुरुषोंने सेवा करानेके लिए एक भृत्यवर्गकी नींव डाली थी। सत्युग और त्रेताकी अपेक्षा द्वापरयुगमें मनुष्यकी चिन्ता तथा आचरण अधिक दूषित हो गये थे अतएव इस युगमें वर्णों तथा उनके भी उपभेदोंका बाजार गर्म हो गया था ॥ ९ ॥

इनके बाद कलियुग ऐसा होगा जिसमें उक्त प्रकारके निराधार प्रवाद फैलाये जायेंगे। उस चतुर्थ युग में मनुष्योंका सामान्यरूपसे मोह तथा विशेष कर द्वेष और लोभ बढ़ जायंगे। चारों वर्णके लोग अपनी मर्यादाका लंघन करेंगे फलतः पूरी व्यवस्था उलट जायगी। आपसमें पुरुष एक दूसरेके साथ विश्वासघात करेंगे तथा किसी विषयपर दृढ़ आस्था न करेंगे। आचार-विचारकी मर्यादा तथा सत्य आदिका लोप करेंगे ॥ १० ॥

जो शान्त परिणाम उदाराश्य पुरुष हैं उनके मतसे, मनुष्यको परमप्रिय (पठन, रक्षणादि) कर्म अथवा व्यवसाय, उसका आचरण तथा व्यवहार नियत हैं दया, क्षमा एवं आदि गुणोंका पालन तथा, खेती, शिल्प, अभिरक्षा, आदि आजीविकाके उपायोंमें भिन्नता होनेके कारण ही चारों वर्णोंका विभाजन हुआ है। इन कारणोंके अतिरिक्त दूसरे और कोई कारण नहीं हैं जिनके आधारपर वर्णव्यवस्थाका महल खड़ा किया जा सके ॥ ११ ॥

वेदाः प्रमाणं यदि यस्य पुंसस्तेन ध्रुवो यज्ञविधिस्त्वभीष्टः ।
हिंसानुबन्धाः खलु सर्वयज्ञाः हिंसा परप्राणिविहिंसनेन ॥ १२ ॥
प्राणातिपातश्च महानधर्मः सर्वेषु वर्णाश्रमिणां मतेषु ।
अधर्मतोऽन्धे तमसि प्रविश्य जीवः समाप्नोति विचित्रदुःखम् ॥ १३ ॥
यज्ञे[1] वधे नैव वधोऽस्ति कश्चिद्वध्यो ध्रुवं याति सुरेन्द्रलोकम् ।
इदं वचो धूर्तविटस्य वेद्यं दयोपशान्तिश्रुतिवर्जितस्य ॥ १४ ॥
स्ववन्धुमित्रान्प्रियपुत्रपौत्रान्[2] दारिद्र्यदुःखार्तिवियोगखिन्नान् ।
सुखार्थिनस्तान्सुगतिप्रकाशान् जुहुर्न[3] चेत्तथ्यमिदं वचः स्यात् ॥ १५ ॥

यज्ञकी हिंसा

जो व्यक्ति वेदोंमें कहे गये प्रत्येक उपदेशको प्रमाण मानते हैं, उन्हें वेदोंमें वर्णित विविध यज्ञोंको सत्य ही न मानना पड़ेगा, अपितु उन सबको करना भी उनका अनिवार्य तथा अभीष्ट कर्त्तव्य हो जायगा। कोई भी यज्ञ ऐसा नहीं है जिसमें हिंसा का उपक्रम न करना पड़ता हो और यह तो निश्चित ही है कि जब हिंसा की जायगी तो कुछ निरपराध प्राणियोंको अपने जीवनसे हाथ धोने ही पड़ेंगे ॥ १२ ॥

यह कौन नहीं जानता है कि प्राणोंको नष्ट करनेसे प्रत्येक अवस्थामें महान पाप ही होता है। कोई भी धर्म, आश्रम अथवा वर्ण हिंसाको पुण्यकार्य नहीं मानता है। निष्कर्ष यह हुआ कि वेदके अनुसार यज्ञ-यागादि करके जीव अधर्मको कमायेंगे और जब उसका फल उदयमें आयेगा तो वे घोर अन्धकारपूर्ण नरक आदि योनियोंमें जन्म लेकर विविध, विचित्र तथा भीषण दुःखोंको सहेंगे ॥ १३ ॥

यज्ञमें जो प्राणी बलि किया जाता है उसके प्राण लेनेमें कोई हिंसा नहीं है, क्योंकि जो प्राणधारी मारा जाता है उसका उद्धार हो जाता है, वह सीधा स्वर्ग चला जाता है। यह वचन किसी ऐसे धूर्त अथवा दुराचारी पुरुषके मुखसे निकले हैं जो सत्य शास्त्रका अक्षर भी नहीं जानता था तथा जिसपर दया, शान्ति आदि सद्गुणोंकी छांह तक नहीं पड़ी थी ॥ १४ ॥

जो पुरुष यज्ञ करते हैं वे सांसारिक दुःखों तथा अन्य मानसिक व्यथाओंसे व्याकुल होते हैं तथा इनसे बचकर सुखभोगके लिए तरसते हैं। उनके सगे भाई-बन्धु, मित्र, प्राणाधिका पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि भी दरिद्रता, रोग आदि अप्रिय संयोगोंके कारण जीवनसे खिन्न हो जाते हैं और चाहते हैं कि किसी भी प्रकार उक्त विपत्तियोंसे छुटकारा पाकर सुखीरूपसे जीवन निर्वाह करें। इन परिस्थितियोंके रहते हुए यदि ऊपरका वाक्य (यज्ञमें मरे पशु आदि स्वर्ग जाते हैं) सत्य होता तो यज्ञकर्ता सबसे पहिले अपने

१. [याज्ञे]। २. म °पौत्रपुत्रान्। ३. क जहुर्न।

पशूनथाज्ञानगतीननाथान्न वाञ्छतः स्वर्गसुखं कदाचित् ।
आहारमात्राभिरतानभद्रान् हत्वा जडार्न्कि लभते वराकान् ॥ १६ ॥
यद्यत्र सत्त्वान्विमतोन्निहत्य वेदापदेशाद्विगतानुकम्पैः ।
द्यौर्गम्यते वेदकृतात्मभिस्तैः कैर्गम्यते श्वभ्रसुखं वदन्तु ॥ १७ ॥
स्वायंभुवैर्यज्ञविधावहिंसा प्रोक्ता पुनर्जीवदयार्थमेव ।
वर्षत्रयप्रोषितपिण्डपिण्डैर्यदिष्यते सत्रिसमैः[1] पुराणैः ॥ १८ ॥
नभश्चरः सर्वनृपप्रधानो वसुर्महात्मा वसुधातलेऽस्मिन् ।
एकेन मिथ्यावचनेन राजा रसातलं सप्तममाससाद ॥ १९ ॥

सगे सम्बन्धियोंका ही होम करते ॥ १५ ॥

संसारके भोले-भाले पशुओंको अपने हित-अहितका ज्ञान ही नहीं होता है। मनुष्यके बन्धनमें पड़कर उनके निर्वाहका कोई दूसरा सहारा ही नहीं रह जाता है। कूटबुद्धि मनुष्यके विरुद्ध कोई भी शक्ति उनकी रक्षक नहीं हो सकती है। वे इतने साधारण प्राणी होते हैं कि दिन-रात अपने पेटको भरनेकी ही चिन्तामें लगे रहते हैं। वे कभी भी स्वर्ग जानेकी अभिलाषा नहीं करते हैं। तब समझमें नहीं आता कि इन मूक प्राणियोंको मारनेसे कौन-सा कार्य सध सकता है ॥ १६ ॥

वेदोंकी पूर्वापर विरोधयुक्त शिक्षाओंपर विश्वास करके यदि कुछ ऐसे लोग जिनमें दया और क्षमाका नाम भी नहीं है, वे ही ज्ञानहीन भोले-भाले प्राणियोंकी बलि करते हैं, तो प्रश्न यही है कि यदि ऐसा भयंकर कुकर्म करके भी वे लोग स्वर्ग चले जाते हैं, तो बताइये विविध दुःखोंसे व्याप्त करक कुण्डमें कौन गिरेंगे ? ॥ १७ ॥

प्रासुक-बलि

अपने पुरुषार्थके प्रतापसे परमपदको प्राप्त स्वयंभू वीतराग (आदिनाथ) प्रभुने पूजा तथा विधानके समय पूर्ण यत्न-पूर्वक जो अहिंसा पालन करनेका उपदेश दिया है उसका प्रधान उद्देश्य जीवदया ही है। इसीलिए उन्होंने कहा था कि तीन वर्ष तक रखे रहे जौ, चावल आदि अन्नोंकी ही बलि होमके समय करनी चाहिये क्योंकि वे पुराने होकर सत्रि (वनस्पतिकायिक समिधा) के समान हो जाते हैं ॥ १८ ॥

राजा, चक्रवर्ती, विद्याधरों आदिसे परिपूर्ण इस पृथ्वीपर महाराज वसु हुए थे। उन्हें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध थी, उनका वैयक्तिक आचार-विचार इतना उन्नत था कि लोग उन्हें महात्मा मानते थे, समस्त राज-मण्डलके प्रधान तो वे थे ही। किन्तु इन यज्ञोंके विषयमें ही उन्हें एक झठ वाक्य बोलना पड़ा था, जिसके फलस्वरूप वे सीधे सातवें नरक जा पहुँचे थे ॥ १९ ॥

१. क सत्रितयैः ।

अद्यापि तस्य क्षितिपोत्तमस्य द्विजातिभिर्मन्त्रपदप्रवीणैः ।
उत्थापनं यत्क्रियतेऽनभिज्ञैस्तदेव पर्याप्तमिहात्मबोधः ॥ २० ॥
साकेतपुर्यां सुलभानिमित्तं कृतं निदानं[1] मधुपिङ्गलेन ।
पुराबराभ्यागमनं च तस्य को नाभ्युणोद्भारतजातमर्त्यः ॥ २१ ॥
तस्माच्च मायामदलोभरागैर्द्वेषेण रोषेण च संनिबद्धाः ।
वेदाश्च वेदाध्ययनप्रसक्ता हितार्थिभिस्त्याज्यतमा मनुष्यैः ॥ २२ ॥
दत्तं पुरा क्रूरनृपेण दानं किमिच्छकं सर्वजनाय शक्त्या ।
इति प्रतीता किल तस्य कीर्तिर्यदुप्रवीरस्य महीतलेऽस्मिन् ॥ २३ ॥

ज्ञानी पुरुष जानते ही हैं कि वर्तमानमें भी यज्ञयागादिमें लीन बड़े-बड़े ब्राह्मण पण्डित जो कि मन्त्रोंके पाठ, सिद्धि, आदि प्रक्रियाके विशेषज्ञ हैं, वे भी यद्यपि हिंसा सम्बन्धी रहस्यको नहीं समझते हैं, तथापि अनेक मंत्रपाठ करके राजा बलिका (नरकसे) उत्थापन करते हैं। महात्मा राजा बलिकी यह सब दुर्दशा ही आत्मज्ञानियोंकी आँखें खोल देनेके लिए काफी है ॥ २० ॥

मधुपिंगल नामके राजर्षिने पुराने युगमें सुलसाको प्राप्त करनेके लिए ही साकेतपुरीमें (अयोध्या) निदान (किसी वस्तु विशेषको चाहना तथा उसीके लिए सब कार्य करना) यज्ञ किया था। उस समय वह उस श्रेष्ठ नगरपर आया था इस समस्त वृत्तान्तको कौन ऐसा मनुष्य है जो भारतवर्षमें जन्मा हो और न जानता हो ॥ २१ ॥

इस सब वर्णन तथा युक्तियोंको देखनेके पश्चात् यही परिणाम निकलता है कि माया, अहंकार, लोभ, राग, द्वेष, क्रोध आदि सब ही कुभावोंसे प्रेरित होकर वेदोंकी रचना की गयी है। अतएव जो पुरुष वास्तवमें आत्माका हित चाहते हैं उन्हें वेद तथा वेदोंके पठन-पाठन, प्रचार आदि कर्मोंमें लीन व्यक्तियोंकी संगतिकी अवश्य ही छोड़ देना चाहिये।

हिंसाकी घातकता

प्राचीन युगकी ही घटना है कि यदुवंशमें उत्पन्न महाराज [अ] क्रूरने सब ही अभावग्रस्त व्यक्तियोंको उनकी इच्छाके अनुसार देना-[किमिच्छ] दान दिया था। यही कारण है कि इस पृथ्वीतलपर यदुवंशके उस वीर शिरोमणि महापुरुषकी यशगाथा आज भी जनताको याद है, तथा लोग उसे कहने सुननेमें गौरवका अनुभव करते हैं ॥ २३ ॥

---

१. क निधानं ।

तेनान्नरक्षार्थमदुष्टबुद्ध्या स्वाकारितः[1] काष्ठमयोऽतिरौद्रः ।
निर्भर्त्सितस्तेन पुनर्द्विजान्धः पञ्चत्वमापत्सहसातिभीतः ॥ २४ ॥
एकस्य विप्रस्य विराधनेन श्वभ्रं गतः क्रूर इति श्रुतिश्चेत् ।
समस्तसत्त्वातिनिपातनेन यज्ञेन विप्रा न कथं प्रयान्ति ॥ २५ ॥
धर्मक्रियाया हि दयैव मूलं दया विनष्टा परसत्त्वघातात् ।
तेनाश्नुते दुःखशतानि जीवस्ततो हि हिंसा परिवर्जनीया ॥ २६ ॥
फलं कदल्या न हि [–˘] पायान्नेक्षु[2]र्नतो कोद्रवतो न शालिः ।
ततः सुखैषी सुखमेव कुर्यात्सुखं च दद्यात्क्रियया परेभ्यः ॥ २७ ॥

इन्हीं क्रूर महाराजने लकड़ीका कुत्ता बनवाया था। वह आकार तथा ध्वनि आदिमें अत्यन्त डरावना था। महाराज क्रूरके मनमें किसी भी प्रकारका पाप न होनेपर भी, उन्होंने अन्नकी रक्षा करनेके लिए ही एक दिन उस कुत्तेको ललकार दिया था। वह एक अन्धे ब्राह्मणको अपनी ओर आता देख कर उसपर इतने जोरसे भोंका था कि उसके रौद्र स्वरको अकस्मात् सुनते ही वह ब्राह्मण अत्यन्त भीत होकर मर गया था ॥ २४ ॥

आज भी लोग कहते हैं कि वह उदार तथा सदाचारी राजा क्रूर एक ब्राह्मणके वधमें; परम्परासे कारण होकर भी घोर नरकमें गया है। तब यही सोचना है कि संकल्पकपूर्वक पशु पक्षीसे लेकर मनुष्य तकको यज्ञमें मारनेवाले मंत्रवेत्ता ब्राह्मण लोगोंको कौनसी शक्ति है, जो नरक जानेसे बचायेगी ? ॥ २५ ॥

दया धर्मका मूल

जिस आचार तथा विचारको धर्म नामसे पुकारते हैं, उस समस्त प्रपंचकी मूल भित्ति दया ही है। यह दया ज्यों ही मनुष्य किसी भी जीवकी भाव अथवा द्रव्य हिंसा करता है, त्यों ही दया नष्ट हो जाती है। दयाके नष्ट हो जानेपर इस जीवसे एक दो ही अनर्थ नहीं होते हैं, अपितु सैकड़ों प्रकारके दुःख उसे सहने पड़ते हैं। अतएव प्रत्येक प्राणीका प्रधान कर्त्तव्य है कि दयाकी नींवको उखाड़नेवाली हिंसाको, थोड़ा भी प्रमाद बिना किये निकाल फेंके ॥ २६ ॥

शिंशपा (शीशम) के पेड़को लगाकर उसमेंसे केलेके फल नहीं तोड़े जा सकते हैं, सैवार (पानीकी घास) से गन्नेका रस नहीं निकाला जा सकता है तथा कोदों धान्यसे चावल नहीं बनाये जा सकते हैं। इसी प्रकार बध, बन्धन, आदि कुकर्मोंसे सुख प्राप्ति नहीं हो हो सकती है। जो कोई मनुष्य अपने लिए सुख चाहता है उसका कर्त्तव्य है कि अपनी प्रत्येक चेष्टा तथा भावके द्वारा वह दूसरोंको सुख ही देवे ॥ २७ ॥

---

१. [श्वा कारितः]। २. क °न्नेक्षुर्नता, [°न्नेक्षुर्नडात्]।

द्विजातयो मुख्यतमा नृलोके तद्वाक्यतो लोकगतिः स्थितिश्च ।
देवाश्च तेषां हवनक्रियाभिस्तृप्तिं प्रयान्तीति च लोकवादः ॥ २८ ॥
पत्राणि पुष्पाणि फलानि गन्धान्वस्त्राणि नानाविधभोजनानि ।
संगृह्य सम्यग्बहुभिः समेताः स्वयं द्विजा राजगृहं प्रयान्ति ॥ २९ ॥
प्रवेष्टुकामाः क्षितिपस्य वेश्म द्वास्स्थैर्निरुद्धाः क्षणमीक्षमाणाः ।
तिष्ठन्त्यभद्राः करुणं ब्रुवाणा नालं किमेतत्परिभूतिमूलम् ॥ ३० ॥
यदीश्वरं प्रीतिमुखं स्वपश्यंस्ते मन्यते भूतलराज्यलाभम् ।
पराङ्मुखश्चेन्नृपतिस्तथैव राज्याद्विनष्टा इव ते भवन्ति ॥ ३१ ॥

ब्राह्मत्व विचार

संसारमें एक किंवदन्ती बहुत समयसे चली आ रही है कि मनुष्योंके सब वर्णों तथा वर्गोंमें द्विज (ब्राह्मण) ही सबसे बढ़कर हैं। उनके उपदेश तथा व्यवस्थाके आधारपर ही सांसारिक व्यवहार चलते हैं तथा कर्त्तव्य आदिकी मर्यादाएँ निश्चित होती हैं। इतना ही नहीं जब ब्राह्मण लोग हवन आदि कार्य करते हैं तो देवता लोग उनपर संतुष्ट हो जाते हैं ॥ २८ ॥

इसी विश्वासके सहारे वे ब्राह्मण लोग अनेक धर्मभीरु पुरुषोंसे पत्र, पुष्प, फल सुगन्धि पदार्थ आदि ही नहीं लेते हैं अपितु बहुत प्रकारके वस्त्र तथा नाना विधिके व्यञ्जन ग्रहण करके दाताओंको पुण्यसंचय करनेका शुभ अवसर देते हैं ॥ २९ ॥

किन्तु जब ये पुण्यदाता राजमहलमें प्रवेश करने जाते हैं, तो द्वारपाल इन्हें द्वारके बाहर ही रोक देते हैं। इन्हें भी पृथ्वीपतिके राजसदनमें जानेकी आवश्यकता रहती है, अतएव रोके जाने पर घंटों प्रतीक्षा करते खड़े रहते हैं। इतना ही नहीं आत्मगौरवकी भावनासे हीन द्वारपाल ये द्विज, दीन होकर वचन कहते हैं। क्या यह सब पराभव उनकी शक्तिहीनताको स्पष्ट करनेके लिए काफी नहीं है ? ॥ ३० ॥

देवताओंके प्रिय (मूर्ख) ये ब्राह्मण लोग राजसदनमें प्रवेश पाकर यदि पृथ्वीपतिको प्रसन्न रूपमें देख पाते हैं, तो इनकी प्रसन्नता इतनी बढ़ जाती है कि उन्हें ऐसा अनुभव होता है, मानों उन्होंने समस्त पृथ्वीका राज्य ही पा लिया है। राजमहलमें यदि घुस ही न सके अथवा भीतर जाकर ही यदि राजाको अपने प्रति उदासीन पाते हैं तब तो उन्हें ऐसा ही लगता है मानो वे किसी विशाल साम्राज्यके सिंहासनपरसे घसीटकर भूमि पर फेंक दिये गये हैं ॥ ३१ ॥

भवन्ति रोषान्नृपतेर्द्विजानां दिशो दश प्रज्वलिता इवात्र ।
द्विजातिरोषान्नृपतेः पुनः स्याद्भल्लातकस्नेह इवाश्मपृष्ठे ॥ ३२ ॥
ये निग्रहानुग्रहयोरशक्ता द्विजा वराका परपोष्यजीवाः ।
मायाविनो दीनतमा नृपेभ्यः कथं भवन्त्युत्तमजातयस्ते ॥ ३३ ॥
तेषां द्विजानां मुखनिर्गतानि वचांस्यमोघान्यघनाशकानि ।
इहापि कामान्स्वमनःप्रकल्प्तान्[1] लभन्त इत्येव मृषावचस्तत् ॥ ३४ ॥
रसस्तु गौडो विषमिश्रितश्च द्विजोक्तिमात्रात्प्रकृतिं स गच्छेत् ।
सर्वत्र तद्वाक्यमुपैति बुद्धिमतोऽन्यथा श्राद्धजनप्रवादः ॥ ३५ ॥

तथोक्त मनुष्यवर्गके नेता ब्राह्मणोंपर जब राजाकी वक्रदृष्टि हो जाती है तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि उनके चारों ओर दशों दिशाओंमें भयंकर ज्वाला भभक उठी है। और यदि राज्यके सभी ब्राह्मण सम्मिलित रूपमें राजाके विरुद्ध हो जाँय तो उसका वही प्रभाव राजापर होता है जो कि भिलमें (भल्लातक) के तेलको पत्थरकी चट्टानपर बहानेसे हो सकता है। मनुष्यके मस्तकके समान पत्थर न फूलसे भी सूजता है ॥ ३२ ॥

सोचिये तो, कि जो ब्राह्मण न तो किसीको अनुचित कार्य अथवा पराभवके लिए शिक्षा (सजा) ही दे सकते हैं, न प्रसन्न होकर किसीका कोई भला ही कर सकते हैं। साधारणसे कार्यके समान सिद्धिके लिए संसारभरके छल कपट करते हैं। जो सबसे अधिक दीन हो चुके हैं। इतना ही नहीं जिन विचारोंका भरण-पोषण ही दूसरोंकी कृपापर आश्रित है, वे ही ब्राह्मण समझमें नहीं आता क्यों कर राजाओंसे भी बढ़कर जातिवाले हो सकते हैं ? ॥ ३३ ॥

'ऐसे दीन हीन ब्राह्मणोंके मुखसे निकले हुए आशिष तथा अभिशापमय वचन कभी झूठ हो ही नहीं सकते हैं। उनके द्वारा कहे गये शुभकामनामय मंत्र निश्चयसे पापोंको नष्ट कर देते हैं। दूरकी तो बात हो क्या है; इस जन्ममें ही वे अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती जिन्हें मनमें रखकर मनुष्य द्विजोंकी सेवा करता है।' ये सबकी सब बातें सर्वथा असत्य हैं ॥ ३४ ॥

गुड़के रसमें यदि पहिले हालाहल विष मिला दिया जाय फिर किसी ब्राह्मणके सामने रखा जाय तो उस द्विजकी जिह्वासे मंत्र कह देनेपर ही बिना किसी रासायनिक प्रयोगके ही वह रस शुद्ध ईखका रस हो जाता है, ऐसा उन व्यक्तियोंका प्रचार है जो कि ब्राह्मणोंपर गाढ़ अंध आस्था रखते हैं ॥ ३५ ॥

१. म °मनःप्रकर्षान् ।

इह प्रकुर्वन्ति नरेश्वराणां दिने दिने स्वस्त्ययनक्रियाश्च ।
शान्ति प्रघोष्यन्ति धनाशयैव क्षान्तिक्षयं तेऽप्यनवाप्तकामाः ॥ ३६ ॥
कर्माणि यान्यत्र हि वैदिकानि रिपुप्रणाशाय सुखप्रदानि ।
आयुर्बलारोग्यवपुःकराणि दृष्टानि वैयर्थ्यमुपागतानि ॥ ३७ ॥
सुमन्त्रपूताम्बुहुताग्निसाक्ष्यः[1] पत्न्यो म्रियन्ते च परैर्ह्रियन्ते ।
कन्याश्रितव्याधिविशीर्णदेहा वैधव्यमिच्छन्त्यथवा चिरेण ॥ ३८ ॥
विपत्तिमृच्छन्ति च गर्भ एव केचित्प्रसूतावपि बालभावे ।
दारिद्र्यमन्ये विकलेन्द्रियत्वं द्विजात्मजाश्चेदिह को विशेषः ॥ ३९ ॥

इतना ही नहीं वे तो यह भी कहते हैं कि ब्राह्मणका वाक्य कभी निष्फल होता ही नहीं है। ऐसे अमोघ-वाक्य ब्राह्मण लोग न जाने कितने समयसे प्रतिदिन राजाओंकी क्षेम, कुशल तथा वृद्धि, आदिके लिए प्रतिदिन स्वस्ति-वाचन, अयन, क्रिया आदि अनुष्ठान करते आ रहे हैं, और इसी व्याजसे राजाओंसे धन कमाते हैं। धनकी आशा ही उन्हें प्रतिदिन शान्तिके अनुष्ठान करनेको बाध्य करती है। किन्तु परिणाम तो सब ही जानते हैं। उन दोनोंकी ही अभिलाषाएँ पूर्ण नहीं होती हैं तथा उपद्रवोंमें पड़कर उनका क्षय हो जाता है ॥ ३६ ॥

यज्ञविशेष

वेदोंमें कितने ही यज्ञ-याग ऐसे हैं जिनके अनुष्ठानसे शत्रुओंका नाश हो जाता है। कुछ दूसरे ऐसे बताये हैं जिनके करनेसे स्वर्ग आदि सुख प्राप्त होते हैं, ऐसे अनुष्ठानोंकी भी कमी नहीं है जिनके फलस्वरूप आयु बढ़ जाती है, रोग नष्ट हो जाता है अथवा होता ही नहीं है, बलको असीम वृद्धि होती है, शरीर सुन्दर तथा आकर्षक हो जाता है ॥ ३७ ॥

किन्तु अधिकांश प्रयोगोंमें, ये सब ही निष्फल सिद्ध हुए हैं। संसारमें जतने भी व्याह होते हैं वे उस होमाग्निको साक्षी मानकर किये जाते हैं जिसमें उत्कृष्ट मंत्रोंके सांगोपांग उच्चारण तथा विस्तृत पाठके द्वारा पवित्र की गयी हवन सामग्री, जल, आदिका उपयोग होता है। किन्तु वे पत्नियाँ असमयमें ही मर जाती हैं अथवा दूसरे उनको ले भागते हैं। दूसरा पक्ष (कन्याएँ) भी अनिष्टसे अछूता नहीं रहता है—कभी-कभी लड़कियोंको दारुण रोग हो जाते हैं जो उनके सुकुमार सुन्दर शरीरको जर्जर कर देते हैं अथवा विचारी असमयमें विधवा हो जाती हैं ॥ ३८ ॥

और यौवन काल आदि लम्बे समयको दुःख भर कर बिताती हैं। दूसरोंकी तो बात ही क्या है ? तथाकथित सर्वशक्तिमान् ब्राह्मणोंकी कितनी ही सन्तानें गर्भमें ही मर जाती हैं। दूसरे कितने ही जन्म लेते ही रोगग्रस्त होते हैं अथवा मर जाते। [४९६]

---

१. क °साक्ष्यः ।

यथा नटो रङ्गमुपेत्य चित्रं नृत्तानुरूपानुपयाति वेषान् ।
जीवस्तथा संसृतिरङ्गमध्ये[1] कर्मानुरूपानुपयाति भावान् ॥ ४० ॥
न ब्रह्मजातिस्त्विह काचिदस्ति न क्षत्रियो नापि च वैश्यशूद्रे ।
ततस्तु कर्मानुवशा हितात्मा[2] संसारचक्रे परिबंभ्रमीति ॥ ४१ ॥
अपातकत्वाच्च शरीरदाहे देहं न हि ब्रह्म वदन्ति तज्ज्ञाः ।
ज्ञानं च न ब्रह्म यतो निकृष्टः शूद्रोऽपि वेदाध्ययनं करोति ॥ ४२ ॥
विद्याक्रियाचारुगुणैः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत्स विप्रः ।
ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्तं तं ब्राह्मणं ब्रह्मविदो वदन्ति ॥ ४३ ॥

हैं। अन्य कितने ही ऐसे होते हैं, जो किसी प्रकार बाल्य अवस्थाको पार करते-करते ही नष्ट हो जाते हैं। असंख्यात ब्राह्मण बालकोंकी सब इन्द्रियाँ तक पूरी नहीं होती हैं। और शेष लगभग सब ही निर्धनताको अपनी जीवनसंगिनी बनाते हैं। तब यह सोचिये कि उनमें और दूसरे लोगोंमें क्या भेद होता है ? ॥ ३९ ॥

ब्राह्मणत्व जातिकी निस्सारता

अभिनय करनेमें मस्त नट जब रंगस्थलीपर आता है तो वह उन उन विचित्र हाव-भावोंको करता है तथा वेशोंको धारण करता है जो कि नाटककी कथावस्तुके अनुकूल होते हैं। यह विस्तृत संसार भी विशाल रंगमंच है, इसपर संसारी जीवरूपी अभिनेता आता है तथा उन सब शरीरों धारण करता है तथा उन्हीं शुभ अशुभ कर्मोंको करता है जो कि पूर्व अर्जित कर्मोंके परिपाक होनेपर उसे प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥

इस संसारमें ब्राह्मण जाति नामकी कोई निश्चित रंग-रूप युक्त वस्तु नहीं है, क्षत्रियोंको भी कर्म (विधि) विशेष चिह्न युक्त करके नहीं भेजते हैं तथा वैश्यों और शूद्रोंका भी यही हाल है। सत्य तो यह है कि आत्म-ज्ञानहीन यह पामर आत्मा कर्मोंको पाशमें पड़कर, उनके संकेतके ऊपर ही संसार चक्रमें नाचता फिरता है ॥ ४१ ॥

आत्मा तथा शरीरके विशेष रहस्यके पण्डितोंका कथन है कि मृत शरीरको भस्म कर देनेमें कोई पातक नहीं है, उसे वे शरीर न कहकर ब्रह्म ही कहते हैं। यह कौन नहीं समझता है कि तब ज्ञान साक्षात् ब्रह्म (शरीर) से किसी भी अवस्थामें बड़ा नहीं हो सकता है। किन्तु क्या कारण है कि जिस शूद्रको वर्णव्यवस्थाके प्रतिष्ठापकोंने सबसे नीच कहा है वह भी वेदका अध्ययन करता है ॥ ४२ ॥

कर्मणा वर्ण

कोई व्यक्ति ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होनेपर भी यदि ब्राह्मणत्वके लिए परम आवश्यक विद्या, सदाचार तथा अन्य आदर्श

---

१. म संवृति । २. [कर्मानुवशाद्धतात्मा]।

व्यासो वसिष्ठः कमठश्च कण्ठः शक्त्युद्गमौ द्रोणपराशरौ स ।
आचारवन्तस्तपसाभियुक्ता ब्रह्मत्वमायुः[1] प्रतिसंपदाभिः[2] ॥ ४४ ॥
यः शङ्करस्योज्झिततनिर्मलानि पादेन मोहाद्यदि संप्रबुद्धिः[3] ।
स षष्टिवर्षाणि निकृष्टयोनौ कृमिर्भवेदित्यवनौ श्रुतिः स्यात् ॥ ४५ ॥
पुरा निविष्टा शिरसीश्वरस्य गङ्गापि नैर्मल्यमतो जगाम ।
यः स्नाति शौचं प्रकरोति तस्यां कां वा गतिं यास्यति सोऽनुनेयः ॥ ४६ ॥
योऽश्नाति गङ्गोदकमादरेण[4] पुनाति तस्यादशनाकुलं तत्[5] ।
इति प्रवादो जगति प्रतीतो व्यर्थो भवेत्सोऽपि परीक्ष्यमाणः ॥ ४७ ॥

गुणोंसे अछूता ही रह जाता है तो केवल जन्म ही उसे ब्राह्मण नहीं बना सकेगा। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी लोग उसे ही वास्तविक ब्राह्मण कहते हैं जो द्विजके उपयुक्त ज्ञान, स्वभाव, संयम तथा अन्य गुणोंसे भूषित होता है ॥ ४३ ॥

कृष्ण द्वीपायन व्यास (पिता ब्राह्मण माता केवटी) राजर्षि वसिष्ठ (क्षत्रिय) कमठ कण्ठ (अनुलोम) शस्त्र विद्या तथा शारीरिक शक्तिके उद्गम स्रोत द्रोणाचार्य (ब्राह्मण) तथा पराशर (अनुलोम ब्राह्मण) ऋषि ये सबके सब ब्रह्मत्वको प्राप्त कर सके थे। यद्यपि जन्मसे वे सब ही ब्राह्मण नहीं थे तो भी उनका वह आचार तथा तपस्या थी जिसने उन्हें ब्रह्ममें लीन कर दिया था ॥ ४४ ॥

गंगा विचार

श्री शंकर (महादेव) जीको चढ़ायी गयी निर्माल्य द्रव्यके अवशिष्ट भागको, जान बूझकर नहीं असावधानीसे ही जो पैरसे स्पर्श कर लेता है वह मनुष्य संसारकी सबसे निकृष्ट योनिमें क्षुद्र कीट होकर साठ वर्षपर्यन्त महा दुःख पाता है, ऐसी एक धारणा समस्त पृथ्वीपर फैली हुई है ॥ ४५ ॥

गंगा भी वैदिक कथाके अनुसार जब वह पृथ्वीपर आयी थी तो उसे शंकरजीने अपने मस्तकपर ही झेला था, इसी कारणसे वह भी परम निर्मल हो सकी है। किन्तु लोग उसमें स्नान करते हैं, तैरते हैं, इतना ही नहीं अपितु मल त्याग करते हैं (विशेषकर वर्तमानमें तो नगरोंका सब मल उसीमें बहाया जाता है) ऐसे लोगोंको क्या दुर्गति होगी। उसका अनुमान करना भी कठिन है ॥ ४६ ॥

जो व्यक्ति श्रद्धासे गद्गद होकर पवित्र गंगाजलको पीता है उसके कुलकी दश पीढ़ी पीछे और आगामी पीढ़ियोंमें उत्पन्न हुए लोगोंको वह गंगाजल पवित्र कर देता है। इस प्रकारका प्रवाद इस संसारमें प्रचलित ही नहीं है अपितु लोग उसपर विश्वास भी करते हैं। किन्तु, यदि इसको भी युक्तिकी कसौटीपर कसा जाय तो यह भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा ॥ ४७ ॥

१. [ब्रह्मत्वमापुः]। २. म °संप्रदाभिः। ३. [संप्रमर्षेत्]। ४. क गन्धोदक°। ५. [तस्यादश नून् कुले]।

भीष्मो हि गङ्गातनयो महात्मा महारथो युद्धमुखे च शूरः ।
शरार्दितः शान्तनजो[1] नृपर्षिः क्षेत्रे कुरूणां निपपात धीमान् ॥ ४८ ॥
आगर्भतो घातसुखस्य[2] [—][3] नोद्घाटितं धर्ममहाकवाटम् ।
गङ्गाकुरुक्षेत्रमथाजिशौर्यं निरर्थकं तत्त्रयमित्युशन्ति ॥ ४९ ॥
षाण्मासिकं तेन तपोऽतिघोरं शरासनेन क्रियते स्म यस्मात् ।
तस्मात्तपोमूलमिदं समस्तं जगच्च सेन्द्रासुरमानुषाख्यम् ॥ ५० ॥
तीर्थानि लोके विविधानि यानि तपोधनैरध्युषितानि तानि ।
स्तुत्यानि गम्यानि मनोहराणि जातानि पुंसां खलु पावनानि ॥ ५१ ॥

महाराज शान्तनुके औरस पुत्र राजर्षि भीष्म गंगाजीके साक्षात् पुत्र थे, उनका आचार भी लोकोत्तर था, अकेले ही कितने ही महारथियोंके साथ युद्ध करते थे। इतना ही नहीं उनकी वीरताका वास्तविक प्रदर्शन तो तब ही होता था जब वे घोर संग्राममें लीन हो जाते थे। किन्तु जब इन मतिमान, महात्माको भी अर्जुनका बाण लगा था, तो वे उसके आघातसे निश्चेष्ट होकर कुरुक्षेत्रमें धराशायी हो गये थे ॥ ४८ ॥

गंगाजीने गर्भ अवस्थासे लेकर ही जिस पुत्रके मुखको वात्सल्यसे विगलित होकर चूमा था उसकी ही जब युद्धमें मृत्यु आयी तो उसके लिए भी गंगाजीने धर्मरूपी द्वारके किवाड़ न खोले थे। क्या इस दृष्टान्तसे पतितपावनी गंगाकी निस्सारता सिद्ध नहीं होती है क्या अपितु वैदिक आम्नायमें पवित्र करनेकी अपनी सामर्थ्यके लिए प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र तथा युद्धके पराक्रमकी भी निष्फलता प्रकट हो गयी थी ॥ ४९ ॥

महात्मा भीष्मने पूरे छः माह पर्यन्त शरासनमुद्रा को धारण करके अतिघोर तप किया था तब कहीं उनका उद्धार हो सका था (वैदिक मान्यशरों की अर्जुनकृत शय्या पर नहीं) इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवकी सद्गति या दुर्गतिका मूल कारण उसका तप ही है। मनुष्य जन्म या मनुष्य योनिके सुख दुख ही नहीं अपितु देव, इन्द्र, आदिके सुखोंका मूल कारण भी शुद्ध तप ही है ॥ ५० ॥

तीर्थयात्रा विचार

पूरे देशमें फैले हुए जिन, जिन स्थानों पर उन उग्र तपस्वियोंने निवास किया है जिनका लगातार घन निरतिचार तप हो था वे सबके सब आज हमारे विविध तीर्थक्षेत्र हो गये हैं। दर्शन करनेके लिए मनुष्य वहाँ जाते हैं, दूर रहते हुए भी उनकी स्तुति करते हैं तथा उनके मन उधर इतने आकृष्ट हो जाते हैं कि वे सर्वदा उन्हीं (तीर्थों) के विषयमें सोचते हैं। वहाँ पहुँचनेपर संसारी मनुष्य अपनी कुप्रवृत्तियोंको भूल जाते हैं फलतः वे उन्हें पवित्र करते हैं ॥ ५१ ॥

१. क शातनचो, [शान्तनवो]। २. क पूतसुखस्य, [घ्रात°]। ३. [तस्य]।

यथैव लोके गुडमिश्रितानि पिष्टानि माधुर्यमभिव्रजन्ति ।
तपःप्रकृष्टैरुषितानि यानि स्थानानि तीर्थान्यभवंस्तथैव ॥ ५२ ॥
यः कार्तिकेयः स तपश्चकार कुमारकाले भगवान्कुमारः ।
सिद्धिं च तस्मिन्नतुलामवाप तेनाभवत्स्वामिगुहं[1] पवित्रम् ॥ ५३ ॥
यस्याः कुमार्यास्तपसः प्रभावात्प्रकाशिता सा खलु दक्षिणाशा ।
ततः कुमारी वरधर्मनेत्री बहुप्रजानामभवत्स तीर्थम् ॥ ५४ ॥
भागीरथिश्चक्रधरस्य नप्ता वर्षाण्यनेकानि तपः प्रचक्रे ।
अधोगतानुद्धरणाय धीरो भागीरथो पुण्यतमा ततोऽभूत् ॥ ५५ ॥

साधारण गृहस्थ भी जानता है कि किसी भी अन्नका आटा अथवा पीठीको गुड़में मिला देनेपर, स्वयं मधुरताहीन होनेपर भी, वह बिल्कुल मीठा हो जाता है। ठीक यही क्रम स्थानोंकी पवित्रताका है, जिन स्थानों पर घोर तपस्वी, परम ज्ञानी शुद्धात्मा ऋषियोंने निवास किया है वह तीर्थस्थान तथा उसका वातावरण भी उसी प्रकार पावक हो जाता है जैसे पिसान ॥५२॥

तीर्थोंका इतिहास

शंकरजीके पुत्र कुमार कार्तिकेयने विशेष आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त करनेके लिए अपनी कुमार अवस्थामें ही जो घोर तप किया था, उसके कारण उन्होंने अपनी उस सुकुमार अवस्थामें ही ऐसी सिद्धि प्राप्त कर ली थी कि उसकी तुलना करना ही असंभव है। इस कारणसे ही स्वामि कार्तिकेयका तपस्थान (कुमारगिरि) परम पवित्र माना गया है ॥ ५३ ॥

जिस कुमारीकी घोर तथा लम्बी तपस्याके प्रभावसे ही विशाल दक्षिण दिशा प्रकाशमें आयी थी, उसकी तपसाधना का ध्यान आज भी कुमारी-तीर्थ नामसे प्रसिद्ध है। तथा आदर्श धर्ममार्गकी पथ-प्रदर्शिकाके रूपमें आज भी वह कन्याकुमारी बहुसंख्य जनताके द्वारा श्रद्धापूर्वक पूजी जाती है ॥ ५४ ॥

सगर चक्रवर्तीके नाती राजा भागीरथने जिस स्थानपर एक दो नहीं अनेक वर्ष पर्यन्त घोर तप किया था, वह भी किसी व्यक्तिगत स्वार्थसे प्रेरित होकर नहीं, बल्कि जो पूर्वज अपने मन्द आचरणके द्वारा अधोगतिमें चले गये थे उनका उद्धार करनेकी अभिलाषासे अभिभूत होकर किया था। वह स्थान भी धीर वीर भगीरथके नामसे आज भी परम पवित्र तीर्थ है ॥ ५५ ॥

---

१. म °सामिगुहं ।

कुरुर्महर्षिः कुरुवंशजातः कुमारभावे स तपस्त्वतप्तम् ।
प्रजाहिताय प्रथितप्रभावस्ततः कुरुक्षेत्रमभूत्प्रधानम् ॥ ५६ ॥
आतापयोगं परिगृह्य धीराः पाण्डोः सुताः क्लेशविनाशनाय ।
प्रचक्रिरे तत्र तपोऽतिघोरं मातापनोतेन पवित्रमासीत् ॥ ५७ ॥
श्रीपर्वते श्रीः किल संचकार तपो महद्वर्षसहस्रमुग्रम् ।
श्रीपुष्करेऽतप्त हि पुष्कराख्यः कैलासशैले वृषभो महात्मा ॥ ५८ ॥
तमुज्जयन्तं धरणीधरेन्द्रं जनार्दनक्रीडवनप्रदेशम् ।
यो दिव्यमूर्तिर्यदुवंशकेतुः सोऽरिष्टनेमिर्भगवान्बभूव ॥ ५९ ॥

कुरुवंश प्रधान राजवंश रहा है, इसी वंशमें बहुत समय पहिले एक कुरु नामके महात्मा उत्पन्न हुए थे। उन्हें अपनी प्रजासे इतना अधिक प्रेम था कि उसको सब दृष्टियोंसे सम्पन्न बनानेके लिए ही उन्होंने अपने सुखों तथा भोगोंकी उपेक्षा करके कुमार अवस्थामें ही कठोर तप किया था। इस तपस्यामें सफल होनेपर उनका प्रभाव इतने व्यापक क्षेत्रमें प्रसिद्ध हो गया था कि लोग अपनी उलझनोंसे छुटकारा पानेके लिए उनके पास जाते थे तब ही से कुरुक्षेत्र प्रधान तीर्थ हो गया है। ॥ ५६ ॥

सांसारिक सुख-दुखोंके अनेक उतार चढ़ाव देखनेके बाद महाराज पाण्डुके पुत्रोंको जगतसे वास्तविक वैराग्य हो गया था। वे इन क्लेशोंको मूलसे ही नष्ट कर देना चाहते थे। इसी अभिलाषासे प्रेरित होकर उन स्वाभाविक धीर तथा गम्भीर पाण्डवोंने प्रव्रज्या ग्रहण करके आतापनयोग लगाया था। उनके अतिघोर आतापनयोगका स्थान भी पूर्वोक्त कुरुक्षेत्र ही था। पाण्डवोंकी उग्रतपस्यासे उनको आत्मशुद्धि ही नहीं हुई थी अपितु कुरुक्षेत्र भी परम पवित्र हो गया था ॥ ५७ ॥

श्रीपर्वत (कर्नूल जिलेका पहाड़) वर्तमानमें सुविख्यात तीर्थ है, वहाँपर श्री नामके महर्षिने लगातार एक हजार वर्ष पर्यन्त उग्र तथा विशाल तपको सांगोपांग विधिपूर्वक किया था। पुष्कर नामके किन्हीं महर्षिने जिस स्थान पर सावधानीसे तपस्या की थी वही स्थान आज श्री पुष्करजी नामसे विख्यात है। इस युगके प्रवर्तक श्री ऋषभदेव तीर्थंकरने कैलाश पर्वतकी शिखरपर ही तपस्या करके आठों कर्मोंको विनष्ट किया था ॥ ५८ ॥

धारणीधरोंके अग्रगण्य गिरनार (ऊर्ज्जयन्त) पर्वतको कौन नहीं जानता है, जिसके वन किसी समय जनार्दन श्रीकृष्ण की रास क्रीड़ाओंके द्वारा झंकृत हो उठते थे। उसी गिरनार पर्वतपर यादव वंशके मुकुटमणि, अलौकिक सौन्दर्य और सुगुणोंके भण्डार श्री नेमिकुमारने उग्र तपस्या की थी तथा कर्मोंको नाश करके कैवल्य प्राप्त करके अरिष्ट नेमि हो गये थे ॥ ५९ ॥

१. [तपस्त्वतप्त]।

गवामसृक्क्षीरघृतैश्च देवास्तृप्ताः परांस्तेऽपि च तर्पयन्ति ।
देवाश्रयान्मेध्यतमास्तु गावः पूताश्च पुण्या इति घोषणैषा ॥ ६० ॥
गोदानतस्ते च सुरर्षिसंघा दत्ता द्विजेभ्यः सकला भवन्ति ।
पितृभ्य एवं बहुसारमौल्यं दत्तं भवत्यत्र हि गोप्रदानात् ॥ ६१ ॥
आरोहदाहस्य धनप्रतोदं प्रदोहवाहो दमनक्रियाभिः ।
प्रपीडिताः क्लेशगणान्भजन्ते देवर्षिसंघातसुखानि तेषाम् ॥ ६२ ॥
कुदृष्टिदृष्टान्तवचोऽभिधानाद्देवाश्च दासा इव वर्णितास्ते ।
तेषां विरोधाच्चरितादवश्यं जगत्प्रणाशं स्वयमभ्युपैति ॥ ६३ ॥

गायका देवत्व

'गायोंका दूध, घी, रक्त, मज्जा आदि का उपहार करनेसे स्वर्गवासी देवता अत्यन्त तृप्त होते हैं। जब वे स्वयं संतुष्ट रहते हैं तो अपने भक्तोंकी मनोकामनाओंको भी बिना विलम्ब पूर्ण करते हैं। गायोंके अंग अंगमें देवताओंका निवास है। यही कारण है कि संसारमें कोई भी वस्तु गायकी अपेक्षा अधिक पवित्र नहीं है। वे स्वयं पवित्र हैं और दूसरोंको भी पवित्र करती हैं। इत्यादि घोषणाएँ संसारमें प्रचलित हैं ॥ ६० ॥

ब्राह्मणको भक्तिपूर्वक गायदान देनेसे समस्त देवता तथा ऋषि लोग संतुष्ट हो जाते हैं, तथा उन्हें विशेष फलकी प्राप्ति होती है। यदि इस लोकमें ही किसीके उत्तराधिकारी गोदान देते हैं तो उनके स्वर्गीय पितृ पुरुष केवल शान्ति और सफलताको ही नहीं पाते हैं। क्योंकि उनके निमित्तसे दिया गया गोदान साधारण गोदान न रहकर उनके लिए स्वर्गलोकके सुखोंके मुकुटका समर्पण ही हो जाता है ॥ ६१ ॥

किन्तु इन विशेषताओंकी खान गाय अथवा बैलपर सवारी की जाती है, भार लादा जाता है, वेगसे चलने, वशमें रखने आदिके लिए लगातार कोंचा छेदा जाता है, बलप्रयोग करके दुही जाती है, हल आदिमें जुतते हैं, थोड़ेसे अपराधके लिए भयंकर दमन किया जाता है। अनेक प्रकारके कष्ट उन्हें सहना पड़ते हैं, जीवनभर पीड़नसे पाला नहीं छूटता है। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि उनकी इस विपत्तिकी देवता तथा ऋषि बिना किसी असुविधाके उपेक्षा ही करते हैं ॥ ६२ ॥

मिथ्यादृष्टी उपदेशकोंने कुछ दृष्टान्तोंको देकर देवोंके स्वरूपको समझाया है, उन सबको सूक्ष्मदृष्टिसे देखनेपर ऐसा लगता है कि देवोंकी बहुत कुछ दासों ऐसी ही अवस्था है। तो भी किसी रूपमें उन देवताओंका विरोध करनेसे ही सचराचर जगत् किसी बाहिरी कारण-कलापके बिना स्वयमेव विनष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥

द्विजैश्च काकैर्यदि भुक्तमन्नं मृतान्पितॄंस्तर्पयते परत्र ।
पुरार्जितं तत्पितृभिर्विनष्टं शुभाशुभं तेन हि कारणेन ॥ ६४ ॥
[1]स्वस्नात्सुताद्यः स्वयमेव पुत्रो जातिश्च[2] जातिस्मर एवं कश्चित् ।
विनाशभुङ्क्ते[3] पितृपिण्डमन्नं ततो ह्यशक्यं पितृकार्यमेतत् ॥ ६५ ॥
पितुश्च पुत्रस्य च तामसः स्यात्पुत्रो विषान्नं प्रददौ द्विजेभ्यः ।
तद्वर्जितं तैरनृतार्थवद्भिरतश्चः मिथ्या पितृकार्यमत्र ॥ ६६ ॥
यादृंशि दानानि पुरा द्विजेभ्यो दत्तानि नानारसवर्णवन्ति ।
फलन्ति तादृंशि नृणामयत्नाज्जन्मन्यमुत्रेति जनप्रवादः ॥ ६७ ॥

स्वर्गीय माता पिताकी सेवा सुश्रुषा करनेके लिए लोग उनका वार्षिक श्राद्ध करते हैं जिसमें पूजाका पिण्ड काक पक्षी खाते हैं तथा मिष्टान्न ब्राह्मण खाते हैं। इन प्राणियोंके द्वारा खाया गया भोजन ही यदि परलोकवासी माता पिताकी भूख-प्यास को शान्त कर देता है, तो इसका यही निष्कर्ष निकलेगा कि तर्पण कर्ताओंके पितरों द्वारा कमाये गये शुभ-अशुभ पूर्वोपार्जित सब ही कर्म नष्ट हो जाते हैं और उन्हें परान्नभोजी होना पड़ता है ॥ ६४ ॥

पितृतर्पण

कोई कोई ऐसा विचित्र पुरुष होता है कि वह अपने पूर्व जन्मको स्मरण रखता है और मोहसे आकृष्ट होकर अपनी ही लड़कीके उदरसे पुत्ररूपमें जन्म ग्रहण करता है। दूसरी तरफ उसका तर्पण भी चलता ही रहता है और वह पिण्डदानको खाता भी रहता है। इस प्रत्यक्ष दृष्ट घटनाका तो यही परिणाम निकलता है कि यहाँसे पितरोंका तर्पण कठिन ही नहीं, असंभव है ॥ ६५ ॥

यह भी सम्भव है कि कोई पुत्र तामसिक हो अथवा पिता ही तामसी प्रकृतिका व्यक्ति रहा हो। ऐसी अवस्थामें वह तर्पणकर्त्ता कुभावनासे प्रेरित होकर विष मिला भोजन ही ब्राह्मणोंको दे देता है, किन्तु असत्य मान्यताओंका प्रचार करनेवाले तथा पितरों तथा पुत्रोंके माध्यम उन ब्राह्मणोंके द्वारा अपने प्राणोंके भयके कारण वह विषैला भोजन छुआ भी नहीं जाता है। इससे स्पष्ट है कि तर्पणका भोजन ब्राह्मणोंके ही पेटमें रह जाता है तथा पितरों की तृप्ति की बात सर्वथा कपोलकल्पित है ॥ ६६ ॥

मनुष्य अपने पूर्व जन्ममें मनुष्योंके अग्रगण्य ब्राह्मणोंको जिन विविध रसोंसे आप्लावित, जिस-जिस रंग तथा आकारके जो-जो दान देते हैं, उन्हें अपने इस (अगले) जन्ममें बिना किसी विशेष प्रयत्नके ही जो फल मिलते हैं उनका आकार, रूप, रस

१. [स्वस्मात्]। २. [जातश्च]। ३. [विनाशि]।

श्वभिः शृगालैरपि गृध्रकाकैः सगर्दभैः सूकरचासकूमैः[१] ।
यान्यत्र लब्धान्यशुचीनि तैश्च दत्तानि तान्येव तु किं द्विजेभ्यः ॥ ६८ ॥
नापुत्रका लोकमिमं जयन्ति नापुत्रकाः स्वर्गगतिं लभन्ते ।
इतीह पक्षो यदि यस्य पुंसः कुमारभूरि प्रति नो निविष्टाः ॥ ६९ ॥
यद्यच्च लोके बहुभिर्न दृष्टं तत्तत्प्रमाणं यदि यस्य न स्यात् ।
वेदश्रुतीहासपुराणधर्मास्ते ब्राह्मणैकेन न तु प्रदिष्टाः ॥ ७० ॥
असत्प्रसूतिस्त्वसतो यदि स्याच्छशस्य शृङ्गान्मृगतृष्णिका स्यात् ।
सतः प्रसूतिस्त्वसतो यदि स्याद्वटस्य बीजं शशशृङ्गतः स्यात् ॥ ७१ ॥

तथा प्रकार सब ही गुण उनके दानकी वस्तुके हो समान होते हैं, ऐसी एक किंवदन्ती हमारे संसारमें प्रचलित है ॥ ६७ ॥

ब्राह्मण दानका रहस्य

अब देखिये कुत्ते और सियारके जन्मको भरनेवाले क्या पाते हैं ? गीध और काक किन वस्तुओंपर टूटते हैं ? गदहे और सुअर किन वस्तुओंपर जोते हैं ? तथा चाष (नीलकण्ठ) और कछुओंकी जीविका क्या है ? ये सबके सब इस जन्ममें अशुचि और बीभत्स पदार्थोंको छोड़कर और क्या पाते हैं ? तो क्या मान लिया जाय कि इन सबने पूर्वभवमें ब्राह्मणोंको अशोभन, अपवित्र पदार्थ ही दिये होंगे ॥ ६८ ॥

जिसके पुत्र नहीं पैदा होते हैं वह इस संसारका भी पार नहीं पाता है, जो पुत्रहीन हैं वे सब स्वर्गको गमन करनेका सुअवसर तो पा ही नहीं सकते हैं । इत्यादि सिद्धान्तको जो सज्जन मानता है तथा इसका प्रचार करता है, मालूम होता है कि उसका विचार अथवा दृष्टि उन बहुसंख्य महात्माओंकी ओर गयी ही नहीं है जो कि आजीवन ब्रह्मचारी रहे थे ॥ ६९ ॥

जिन पदार्थोंको अथवा घटनाओंको इस लोकके बहुसंख्य पुरुषोंने सावधानीके साथ नहीं देखा है, वह वस्तुएँ तथा उनके स्वरूप प्रामाणिक नहीं हैं, जिस विचारकका मूल सिद्धान्त यही है; क्या उसे यह ज्ञात नहीं है कि चारों वेद, श्रुतियां समस्त स्मृतियां, इतिहास, पुराण तथा अन्य समस्त धर्मशास्त्रोंको केवल एक ब्रह्मा ही ने तो अपनी अशरीर वाणीके द्वारा प्रकट किया था, फिर भी वे प्रमाण क्यों हैं ॥ ७० ॥

प्रमाण मीमांसा

एक असत् (वह पदार्थ जो किसी इन्द्रियसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है तथा जिसकी सत्ताको किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया जा सकता है) पदार्थसे यदि किसी दूसरे असत् पदार्थकी उत्पत्ति संभव है तो सियारके सींगसे मृगतृष्णा क्यों न

१. क शूकरभास°, [सूकरचाष°]।

असत्प्रसूतिश्च सतो यदि स्याद्गोशृङ्गतः किं न भवेच्च पुष्पम् ।
सतः प्रसूतिस्तु सतो यदि स्यादग्नेर्जलं वानलकोऽम्बुतो[1] वा ॥ ७२ ॥
द्रव्ये सति क्षेत्रयुते च काले भावे च भावान्तरसंनिबद्धाः ।
भवन्ति भावा भुवनत्रयस्य सहेतुकाः केचन निर्निमित्ताः ॥ ७३ ॥
नाप्तो हि रुद्रस्त्रिपुरप्रणाशादुमापतित्वाद्रतिसंभवाच्च ।
अनङ्गभङ्गादसुरोपघाताज्जटाक्षिसूत्रवृषवाहनाच्च ॥ ७४ ॥
अग्निर्मुखं वेदसुरेश्वराणां योऽपीश्वरस्यापि मुखं ध्रुवं सः ।
आत्मानमात्मैव च वर्षयेद्यः सोऽन्यान्कथं मुञ्चति वञ्चितात्मा ॥ ७५ ॥

उत्पन्न होगी ? सत् पदार्थ, यदि किसी असत् पदार्थसे उत्पन्न हो सकता है, तो इस अवस्थामें कोई कारण नहीं कि सियारके सींगोंसे वटके बीज उत्पन्न न हों ॥ ७१ ॥

सद्भावमय किसी पदार्थसे यदि असत् पदार्थ उत्पन्न हो सकता है, तब तो स्पष्ट आकार, रूप, आदि युक्त गायके सींगपर आकाशकुसुम खिल ही जाना चाहिये। तथा यदि किसी सद्भूत पदार्थसे किसी भी सत्स्वरूप पदार्थकी उत्पत्ति शक्य मानी जायेगी तो अग्निसे जलकी उत्पत्ति होने लगेगी अथवा शीतलस्वभाव जलसे उष्ण प्रकृति आग ही भभक उठेगी ॥ ७२ ॥

कारणता विचार

संसारके समस्त पदार्थोंकी सृष्टिका साधारण नियम यही है कि उपादानकारण भूत द्रव्य जब अपने उपयुक्त क्षेत्रपर पहुँच जाता है, समय और भाव उसको उत्पत्तिके अनुकूल हो जाते हैं तथा अन्य साधन सामग्री एकत्रित हो जाती है तब ही तीनों लोकोंमें पदार्थोंका उत्पाद-व्यय प्रारम्भ हो जाता है, कोई भी वस्तु अकारण ही उत्पन्न नहीं होती है ॥ ७३ ॥

निस्सन्देह महादेवजीने त्रिपुर राक्षसका वध किया था, वे गिरिराज दुलारी उमा ऐसी रूप तथा शक्तिवती स्त्रीके पति थे, रतिके कारण ही उनका आविर्भाव हुआ था, विश्वविजयी कामदेवको उन्होंने भस्म कर दिया था, अनेक आततायी असुरोंका संहार किया था, केश संस्कार छोड़कर लम्बी-लम्बी जटा रख ली थीं, हालाहलपूर्ण सांपोंकी माला बनायी थी तथा नन्दी ऐसे जंगली बैलपर सवारी करते थे, किन्तु इन कारणोंसे ही वे सत्य आप्त नहीं हो सकते हैं ॥ ७४ ॥

पुराणोंमें जो यह लिखा है कि अग्नि ही सुर-असुर तथा ईश्वरका मुख (हवन सामग्री ग्रहण करनेका द्वार) है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि वह अग्नि ईश्वरका भी मुख अवश्य होगी। तब वह अग्निरूपी मुख यज्ञके देवताओंतक हवन सामग्री भेजकर अपने आप ही अपनेको ठगता (भूखा रखता) होगा। निष्कर्ष यही निकला कि जो अपनेको ही ठगता है वह दूसरोंको

१. क वानलतोऽम्बुतो वा ।

ब्रह्मापि नाप्तो हरिसारथिः[1] स्यान्निशुम्भशुम्भासुरमर्दनाच्च ।
तिलोत्तमाङ्गप्रतिदर्शनेन चक्रे यतो वक्त्रचतुष्टयत्वम् ॥ ७६ ॥
नाप्तो हि विष्णुर्बलिबन्धनेन तुरङ्गमास्यप्रविदारणाच्च ।
अनोर्विनाशाद्गजदन्तकर्षाच्चाणूरकंसाहिसुराभिघातात् ॥ ७७ ॥
यो गर्दभाय प्रतिनर्दनाय नमश्चकारार्थितया स विष्णुः ।
अरातिभीतः सुचुकुन्दनान्तः[3] पर्यङ्कदेशातिथितां प्रयातः ॥ ७८ ॥
वज्रायुधो गौतमभार्ययासौ विभिन्नवृत्तः किल तेन शप्तः ।
उमासुतः सोऽपि कुमारनामा भग्नव्रतोऽभूद्धनगोचरिण्या ॥ ७९ ॥

वंचनासे कैसे बचायेगा ॥ ७५ ॥

ईश्वरत्व विचार

विष्णु (हरि) के समान शील, व्यसन आदिका आधार ब्रह्मा भी शुम्भ तथा निशुम्भको आपसमें लड़ाकर परास्त करके अथवा अन्य राक्षसोंका वध करनेके कारण ही आप्त पदको नहीं पा सकता है। कौन नहीं जानता है कि जिस समय वह समाधिमें लीन था उसी समय तिलोत्तमा नामकी अप्सराने आकर उनपर अपने रूपकी पाश फेंकी थी, जिससे विह्वल होकर उन्होंने उसे देखनेके लिए अपने चार मुख बनाये थे ॥ ७६ ॥

यादव वंशमें उत्पन्न श्रीकृष्ण रूपधारी विष्णुने आततायी राजा बलिको बन्धनमें डाला था घोड़ेका मुख बनाकर उपस्थित हुए दैत्य (हयग्रीव) का मुख ही चीर कर दो कर दिया था। अनु (ययातिका पुत्र) की जीवन लीलाको समाप्त कर दिया था, कंसके द्वारा छोड़े गये मदोन्मत्त हाथीका दाँत पकड़कर उखाड़ लिया था, चाणूरमल योद्धा तथा प्रजापीड़क कंसका बध किया था तथा यमुनामें पड़े कालिया नागको भी समुचित शिक्षा (वशीकरण) दी थी। किन्तु यह सब होते हुए भी वे आप्तके वीतराग स्वरूप तक न पहुँच सके थे ॥ ७७ ॥

स्वार्थभावनासे प्रेरित होकर जिस विष्णुने गदहे ऐसे साधारण पशुके सामने प्रणत होकर नमस्कार केवल इसलिए किया था कि वह शत्रुके नादका उत्तर देनेके लिए एक बार और रेंक दे। मुचुकुन्द नामके प्रबल शत्रुसे तो वे इतने अधिक डर गये थे कि उससे बचनेके लिए वे अपने पलंगके एक कोनेमें ही सिमट छिप गये थे, तब वे कैसे आप्त हो सकते हैं ॥ ७८ ॥

पुराणोंके अनुसार आदर्श पालक तथा वज्ररूपी महान शस्त्रके धारक इन्द्र महाराजाने भी कामके आवेशमें आकर अपने सदाचारको छोड़ दिया था और गौतमकी पत्नीसे अनाचार किया था। फलस्वरूप गौतमजीका अभिशाप भी भोगना पड़ा था। पार्वतीके प्रतापी पुत्र कुमार कार्तिकेयका आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत भी धनगोचरीणी नामक सुन्दरीके कटाक्षोंसे टूट गया था ॥७९॥

१. क हरिः । २. क निःशुम्भ° । ३. [मुचुकुन्द°] ।

त्रिशूलवज्रायुधचक्रहस्ता धनुर्गदाशक्त्यसिपाणयश्च ।
सतोमरा देववरा यदि स्युश्चोराः[1] सुखल्वत्र हि कीदृशाः स्युः ॥ ८० ॥
स्त्रीभूषणै रागिण एव देवाः क्रोधोऽस्ति तेषां स हि सापशुध्यै[2] ।
परिग्रहैरायुधसंग्रहैश्च भयं सुराणामपि लोकसिद्धम् ॥ ८१ ॥
नैरात्म्यशून्यक्षणिकप्रवादाब्द्बुद्धस्य रत्नत्रयमेव नास्ति ।
रत्नत्रयाभावतया च भूयः सर्वं तु न स्यात्कुत आप्तभावः ॥ ८२ ॥
मषैव [3]यत्नात्करुणाभिमानो न तस्य दृष्टा खलु सत्त्वसंज्ञा ।
तया विना का करुणोपपत्तिः कृपाकथा बालकवञ्चनैषा ॥ ८३ ॥

यदि जगत्के पूज्य न्यायाधीश तथा शुद्ध स्वाभावयुक्त देवता ही हाथोंमें त्रिशूल, वज्र, चक्र, आदि घातक शस्त्र लेकर घूमेंगे, विशाल धनुष, भारी गदा, शक्ति, खड्ग, आदि शस्त्रोंको छोड़ नहीं सकते हैं तथा तोमर परमप्रिय होगा, तो फिर यह सोचिये कि चोर, डकैत, आदि पापकर्मरत पुरुष कैसे एवं क्या होंगे और क्या लेकर घूमेंगे ॥ ८० ॥

यदि देवताओंको स्त्रियों, भूषणों आदिकी उत्कट चाह होती है, उन्हें भीषण क्रोध आता है तथा उसका अन्त अक्सर अभिशापके रूपमें होता है। वाहन विमान आदि दुनिया भरके परिग्रह रखते हैं, भाँति-भाँतिके शस्त्र जुटाते हैं, इत्यादि प्रवृत्तियाँ तो यही सिद्ध करती हैं कि हम संसारी लोगोंके समान देवताओंको भी भय लगता है ॥ ८१ ॥

सुगत मीमांसा

बौद्धधर्मके प्रवर्तक महात्मा बुद्ध न तो आत्माका अस्तित्व स्वीकार करते थे, सचराचर विश्वको वास्तविक न मानकर उसे शून्य मानना ही उन्हें अभीष्ट था और किसी भी पदार्थको चिरस्थायी न कहकर क्षणिक ही कहते थे, फलतः रत्नत्रय भी उनके दर्शनसे सिद्ध नहीं हो सकता है। जब रत्नत्रयका ही अभाव हो गया तो फिर किस आधारपर संसारके समस्त भाव सिद्ध हो सकेंगे, सब वस्तुएँ अभाव स्वरूप हो जायेंगी और उनकी आप्तताकी भी वही दुर्दशा होगी ॥ ८२ ॥

महात्मा बुद्ध अपनी परम करुणाके लिए विख्यात हैं, किन्तु उनका यह करुण भाव झूठ ही है, क्योंकि उनके उपदेशके अनुसार उनके यहाँ न तो आत्माका ही अस्तित्व है और न उसमें उठनेवाले भावोंका। आत्मा तथा चेतनाके बिना समझमें नहीं आता कि करुणा कहाँ उत्पन्न होगी ? फलतः करुणाके विषयमें उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह सब भोले लोगों की शुद्ध वंचना ही प्रतीत होती है ॥ ८३ ॥

१. [चोरास्तु खल्वत्र]। २. [शापशुद्धयै]। ३. [यस्मात्]।

प्राणान्तकृद्ब्रह्मवचो दुरन्तं रुद्रस्तु सर्वत्र हि रौद्र एव ।
विष्णुः शठात्मा रतिरोषयुक्तो बुद्धस्तु रौद्रो निरनुग्रहश्च[1] ॥ ८४ ॥
ब्रह्मादयो यद्यनवाप्तकार्या आयुष्यमाप्तुं न हि शक्नुयुश्चेत् ।
के नो भवन्त्यात्मगुणोपपन्नास्तेभ्योऽधिकांस्तान्वद पार्थिवाप्तान् ॥ ८५ ॥
ये दर्शनज्ञानविशुद्धलेश्या जितेन्द्रियाः शान्तमदा दमेशाः ।
तपोभिरुद्भासितचारुदेहा आप्ता गुणैराप्ततमा[2] भवन्ति ॥ ८६ ॥
निद्राश्रमक्लेशविषादचिन्ताक्षुत्तृड्जराव्याधिभयैर्विहीनाः ।
अविस्मयाः स्वेदमलैरपेता आप्ता भवन्त्यप्रतिमस्वभावाः ॥ ८७ ॥

ईश्वर वाक्य ?

ब्रह्माके मुखसे निकले वचनोंके नामपर जो मंत्र आदि जनसाधारणको मान्य हैं, वे प्राणोंकी बलिकी प्रेरणा देते हैं आपाततः उनका फल भी अच्छा हो ही नहीं सकता। (गजासुरबधक) रुद्रजी अपने प्रत्येक कार्य तथा भावमें निरपवादरूपसे सर्वत्र रौद्र (निर्दय) ही हैं। विष्णु भी पूरे महात्मा (व्यंग्य) हैं—न वे प्रेम प्रपंचको ही छोड़ सके हैं और न उनके क्रोधसे ही जगतके प्राणियोंको अभयदान प्राप्त हो सका है। महात्मा बुद्धका भी क्या कहना है मांस भोजन आदिकी अनुमति देकर उन्होंने हिंसाको प्रश्रय दिया है तथा करुणा आदिके उपदेशके विरुद्ध आचरण करनेकी अनुमति देकर जगतके प्राणियोंपर कोई विशेष अनुग्रह नहीं किया है ॥ ८४ ॥

ब्रह्मा, आदि जगतके तथोक्त सृष्टा, रक्षक तथा संहारक भी यदि अपने मनके माफिक काम या बढ़ा करके अपनी इच्छितको जीतेजी पूर्ण नहीं कर सके तो भी वे असमयमें किसी मनुष्य या प्राणीकी आयुको अपना बल प्रयोग करके समाप्त नहीं सकते हैं। किन्तु हम राजाओंरूपी लौकिक आप्त उन सबकी अपेक्षा अपनी शक्ति तथा पुरुषार्थको दूसरोंपर अधिक दिखा सकते हैं, तब हमारा वे लोग क्या भला-बुरा कर सकते हैं ॥ ८५ ॥

'सांचो देव'

जिनके आत्मा सम्यक्दर्शन तथा ज्ञानरूपी सूर्यके आलोकसे प्रकाशित हो उठे हैं, निर्दोष उग्र तपस्याके प्रभावसे जिनकी देहसे एक अलौकिक कान्ति बिखर उठती है, इन्द्रियोंरूपी घोड़े जिनके संकेतपर चलते हैं, मन तथा इन्द्रियोंके परिपूर्ण दमनकर्ता, ज्ञानादिके आठों प्रकारके मदसे अति दूर, जिनकी अन्तरंग लेश्या (भाव) अत्यन्त निर्मल हो चुके हैं ऐसे अनेक गुणोंके भंडार महर्षि या मुनि ही सत्य आप्त हो सकते हैं ॥ ८६ ॥

ऐहिक परिश्रम, निद्रा तथा क्लेशको जिन्होंने जीत लिया है, विषाद, चिन्ता तथा आश्चर्य जिनसे हार कर शान्त हो

१. क निरनुग्रहश्च । २. म गुणैरात्मतमा ।

द्वेषश्च रागश्च विमूढता च दोषाशयास्ते जगति प्ररूढाः ।
न सन्ति तेषां गतकल्मषाणां तानर्हतस्त्वाप्ततमा वदन्ति ॥ ८८ ॥
अर्हन्त एवाभयदानदक्षा अर्हन्त एवाप्रतिवीर्यसत्त्वाः ।
अर्हन्त एवामलसत्त्वरूपा अर्हन्त एवातिशयर्द्धियुक्ताः ॥ ८९ ॥
अर्हन्त एवाकृपया विहीना अर्हन्त एवारिभयैरपेताः ।
अर्हन्त एवाचलचारुसौख्या अर्हन्त एवातुलमोक्षभासः[1] ॥ ९० ॥
अर्हन्त एव त्रिजगत्प्रपूज्या अर्हन्त एव त्रिजगच्छरण्याः ।
अर्हन्त एव त्रिजगद्वरेण्या अर्हन्त एवाखिलदोषमुक्ताः ॥ ९१ ॥

गये हैं, भूख, प्यास, रोग तथा व्याधि जिनको छू भी नहीं सकती हैं, पसीना, मूत्र, आदि मल जिनकी दिव्य देहको दूषित नहीं करते हैं। वही महापुरुष सत्य आप्त हो सकते हैं। उनके स्वभाव तथा अन्य गुणोंके उपमान वहाँ स्वयं हो सकते हैं, कोई दूसरा नहीं ॥ ८७ ॥

हमारे विश्वमें कोई भी आत्मा ऐसा नहीं है जो राग-द्वेषके रंगसे न रंगा हो, महामूर्खता तथा दोष करनेकी प्रवृत्ति किस जीवमें नहीं है ? किन्तु संसार भरमें व्याप्त ये सब दोष उन अर्हन्त केवलीमें ही नहीं होते हैं क्योंकि उन्होंने अपने समस्त पापकर्मोंकी कालिमाको धो कर फेंक दिया है और वे ही परमात्मा हैं ॥ ८८ ॥

यही कारण है कि आचार्योंने उन्हें ही सत्य आप्त माना है। श्री एकहजार आठ अर्हन्त केवली प्रभु ही विशुद्ध अहिंसाके प्रचारक होनेके नाते सारे संसारको अभयदान दे सकते हैं। आठों कर्मोंके समूल नष्ट हो जानेके कारण अर्हन्त प्रभुकी ही शक्ति तथा सामर्थ्य ऐसी हो गयी है कि उसकी कोई दूसरा समता नहीं कर सकता है। कर्मकालिमा नष्ट हो जानेके कारण अर्हन्तदेवके ही अन्तरंग और रूप निर्मल हो गये हैं। अर्हन्त केवली ही विविध अतिशयों तथा ऋद्धियोंके स्वामी होते हैं। अर्हन्तदेवमें अकृपाकी छाया भी नहीं पायी जा सकती है ॥ ८९ ॥

वीतराग अर्हन्तका इस संसारमें न तो कोई शत्रु ही है और न उन्हें किसीसे कोई भय ही है। अर्हन्तदेवका क्षायिक सुख ऐसा है जो कभी नष्ट नहीं होता है और अनन्तकालतक भी उसकी चारुता नहीं कमती है। अर्हन्त प्रभुने ही उस मोक्ष महापदको प्राप्त किया है, जिसकी छटाकी तुलना किसी अन्य पदार्थसे हो हो नहीं सकती है ॥ ९० ॥

इन योग्यताओंके कारण वीतराग अर्हन्त ही तीनो लोकके प्राणियोंके परमपूज्य हैं, हितोपदेशी तथा आत्मपुरुषार्थी अर्हन्त प्रभु ही संसारका सहारा हैं। अर्हंतदेव ही तीनों लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ आत्मा हैं। तथा अर्हंतकेवली ही क्षुधा, तृषा आदि

१. [°भाजः]।

तानर्हतस्त्वाप्ततमान्विदित्वा तद्वाक्यनीतार्थमतं प्रपन्नाः ।
संसारनिष्ठामुपगम्य धीरा निर्वाणसौख्यं परमाप्नुवन्ति ॥ ९२ ॥
तैस्तैः पुनर्लौकिकवैदिकाद्यैरनेकशास्त्रार्थमतिप्रवीणैः ।
विवक्तुभिर्वीक्षितपक्षरागैः स्वपक्षसिद्धि निजगाद राजा ॥ ९३ ॥
कुहेतुदृष्टान्तविनष्टमार्गान्कुज्ञाननीत्यावृतलोचनांस्तान् ।
निरुत्तरैर्वाक्यपदैर्नरेन्द्रो विबोधयामास तदा सदस्याम्[1] ॥ ९४ ॥
प्रधानमन्त्रीश्वरशिष्टवर्गाः पुरोहितामात्यसभाविदश्च ।
प्रबुद्धपद्मप्रतिमाननास्ते भृशं प्रहृष्टा गतपक्षरागाः ॥ ९५ ॥

अठारहों दोषोंसे सर्वथा परे हैं ॥ ९१ ॥

उपसंहार

जो पुरुष इन अर्हन्तकेवलियोंको युक्तिकी कसौटीपर कस लेनेके बाद परम आप्त मान लेते हैं। फिर उनके उपदेश वाक्योंके द्वारा बतायी गयी क्रियाओं तथा भावोंको जो प्रयोग रूपमें लाते हैं, वे धीर-वीर पुरुष अनादि तथा अनन्त संसारमें एक निश्चित लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं, उनका निजी संसारचक्र रुक जाता है तथा वे सर्वश्रेष्ठ मोक्ष सुखको प्राप्त करते हैं ॥ ९२ ॥

सम्राट वरांगने समस्त लौकिक तथा वैदिक सम्प्रदायोंका विवेचन उन्हीं वाक्योंके आधारपर किया था, जिन्हें कि अनेक शास्त्रोंके प्रकाण्ड पंडित महामतिमान धर्मोंके उपदेष्टाओंने अपने-अपने पक्षका पूर्ण पक्षपात करके लिखा था। इस शैलीसे प्रतिवादियोंके पक्षपातको सिद्ध करके उन्होंने अपने मतकी पुष्टि की थी ॥ ९३ ॥

सम्राट वरांगने विशेष कर उन लोगोंको समझानेके लिए जिनकी आँखें मिथ्याज्ञान और मिथ्या नैतिकतारूपी पर्दासे ढँक गयी थी। तथा मिथ्या हेतु और भ्रान्त निदर्शनों को सुनते-सुनते जो कि सत्यमार्गसे भ्रष्ट हो गये थे। इन लोगोंको सम्राटने प्रबल, अकाट्य युक्तिपूर्ण वाक्यों द्वारा समझाया था। जिनका उत्तर न दे सकनेके कारण वे सब चुप हो गये थे ॥ ९४ ॥

प्रधान मंत्री, श्रीमान्, पुरोहित, राज्यके शिष्ट पुरुष, अमात्य, तथा समस्त सदस्योंने सम्राटके उपदेशको सुन कर अनादिकालसे बँधे हुए अपने मतके विवेकशून्य हठको तुरन्त ही छोड़ दिया था। उस दिनसे वे वास्तविक सत्यको पहिचान सके थे फलतः उनकी प्रसन्नताकी सीमा न थी, उसीके आवेशमें सुन्दर स्वस्थ तथा प्रसन्न मुख विकसित कमलोंकी भाँति चमक उठे थे ॥ ९५ ॥

---

१. [सदस्यान्]।

नरेन्द्रसद्वाक्यविबुद्धतत्त्वाः प्रसन्नबुद्धीन्द्रियरागमोहाः ।
विपन्नमिथ्यात्वकषायदोषाः शान्ता बभूवुर्बहवोऽपि तत्र ॥ ९६ ॥
इति विमतिमतिप्रबोधनार्थं स्वमभिमतं च [1]धृतिप्रबृंहणाय ।
सुहृदयपरिनिर्मलत्वमिच्छन्सदसि जजल्प मनोहरैर्वचोभिः ॥ ९७ ॥
पुनरपि जिनशासनातिभक्तः परसमयानपविध्य भूमिपालः ।
स्वसमयममितार्थमुत्तमश्रीर्निगदितुमप्रतिमं मनः प्रचक्रे ॥ ९८ ॥

इतिधर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
मिथ्याश्रुतिविघातको नाम पञ्चविंशतितमः सर्गः ।

सम्राटके उपदेशको सुनते ही उनको तत्त्वोंका रहस्य समझमें आ गया था, उनकी बुद्धि निर्मल हो गयी थी अतएव इन्द्रियाँ शुद्ध आचरणकी ओर उन्मुख हुई थीं तथा मोह, राग शान्त हो गये थे। मिथ्यात्व, क्रोध, लोभ, आदि कषायोंकी जड़ खुद गयी थी। परिणामस्वरूप कितने ही श्रोताओंने तुरन्त ही आध्यात्मिक शान्तिका अनुभव किया था ॥ ९६ ॥

भाषणका उद्देश्य

भरी पूरी राजसभामें पूर्वोक्त मधुर वचनों द्वारा भाषण देनेमें सम्राट वरांगके समक्ष तीन उद्देश्य थे—सबसे पहिले तो वे यह चाहते थे कि ज्ञानहीनताके कारण लोगोंको जो मिथ्या मार्गपर आस्था हो गयी है वह नष्ट हो जाय। दूसरे उनके विचारसे यह आवश्यक था कि लोग अपने मतको समझें, तथा जो समझते हैं उनकी भी आस्था दृढ़ हो। तीसरे उनमें ही सुदृष्टिसे इन प्रभावोंको स्थिर बनानेके लिए हृदयको परिपूर्ण स्वच्छ कर देना अनिवार्य था ॥ ९७ ॥

पृथ्वीपालक सम्राट वरांग जिन-शासनके दृढ़ भक्त थे, उनकी ज्ञानश्री लौकिकके ही समान विशाल थी। अपनी पूर्वोक्त वक्तृताके द्वारा यद्यपि वे दूसरे मतोंकी निस्सारताको स्पष्ट कर चुके थे तो भी वे अपने मतके विषयमें कहना चाहते थे जो कि अनुपम तथा अनन्त ज्ञानका भण्डार है। अतएव उन्होंने और भी कुछ कहनेका निर्णय किया था ॥ ९८ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
मिथ्याश्रुतिविघातक नाम पञ्चविंशतितम सर्ग समाप्त ।

---

१. म द्धृति° ।

षड्विंशः सर्गः

अर्हन्मतमिदं पुण्यं स्याद्वादेन विभूषितम् । अन्यतीर्थैरनालीढं वक्ष्ये द्रव्यानुयोजनम् ॥ १ ॥
अनन्तपर्ययं द्रव्यं सामान्यादिकमिष्यते । तच्च द्वेधा विनिर्दिष्टं जीवाजीवस्वभावतः ॥ २ ॥
तदेव त्रिविधं प्रोक्तं गुणैर्द्रव्यैश्च पर्ययैः । चतुर्धा भिद्यते तच्च रूपारूपक्रियागुणैः ॥ ३ ॥
पञ्चास्तिकायभेदेन पञ्चधा भिद्यते पुनः । तदेव भिद्यते षोढा षड्द्रव्यप्रविभागतः ॥ ४ ॥

षड्विंश सर्ग

जीवादि तत्त्व

श्री एक हजार आठ अर्हन्त केवलीके द्वारा उपदिष्ट आर्हत जैनधर्मकी यही विशेषता है कि इसमें प्रत्येक वस्तुका विचार एक ही दृष्टिसे नहीं किया गया है अपितु स्याद्वाद (स्यात् = हो +, वाद-अर्थात् अनेक दृष्टियोंसे विचार करनेकी शैली) दृष्टिसे ही पदार्थोंको देखा है। आर्हत् दर्शनकी इस विशेषताको दूसरे दार्शनिकोंने समझने तथा जाननेका प्रयत्न भी नहीं किया है, अतएव वे पदार्थके एक अंगको ही उसका पूर्ण स्वरूप मानकर आपसमें विवाद करते हैं। अब मैं जैन-धर्मके अनुसार द्रव्योंके स्वरूप तथा विभागको कहता हूँ ॥ १ ॥

एक द्रव्यकी पर्यायें तथा गुण अनन्त होते हैं। जब हम सामान्य दृष्टिसे देखते हैं तो द्रव्यको एक ही पाते हैं। द्रव्यत्व सामान्यसे नीचे उतरकर जब हम द्रव्योंके प्रधान तथा स्थूल स्वभावपर दृष्टि डालते हैं तो चेतनामय (जीव) तथा चेतनाहीन (अजीव) स्वभावोंकी अपेक्षासे द्रव्यके दो प्रधान भेद हो जाते हैं ॥ २ ॥

गुणों और पर्यायोंके समूह को ही द्रव्य कहते हैं। इन तीनोंकी अलग-अलग सत्ताका अनुभव होता है अतएव द्रव्य, पर्याय तथा गुणकी अपेक्षा तीन भेद हो जाते हैं। रूप (वर्ण तथा आकार) अरूप (विवर्णनिराकार) क्रिया (परिस्पन्द आदि) तथा गुणोंकी अपेक्षासे देखनेपर यही द्रव्य चार प्रकारका हो जाता है ॥ ३ ॥

अस्तिकाय (बहुप्रदेशी द्रव्य) स्वरूपको प्रधानता देकर विचार करनेसे द्रव्यके पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति यह पाँच भेद हो जाते हैं। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश तथा कालको सामने रखते हुए द्रव्यत्व-सामान्यके ही विशिष्ट उसी एकरूप द्रव्यत्वके छह भेद हो जाते हैं ॥ ४ ॥

जीवपुद्गलकालाश्च धर्माधर्मौ नभोऽपि च[1] । षड्द्रव्याण्युदितान्येवं तेषां लक्षणमुच्यते ॥ ५ ॥
उपयोगलक्षणा जीवा उपयोगो द्विधा स्मृतः । ज्ञानेन दर्शनेनापि यदर्थग्रहणं हि सः ॥ ६ ॥
जीविष्यन्ति च जीवन्ति जीवा यच्चाप्यजीविषु[2] ।
ते च जीवास्त्रिधा भिन्ना भव्याभव्याश्च निष्ठिताः ॥ ७ ॥
अश्रद्दधाना ये धर्मं जिनप्रोक्तं कदाचन । अलब्धतत्त्वविज्ञाना मिथ्याज्ञानपरायणाः ॥ ८ ॥
अनाद्यनिधनाः सर्वे मग्नाः संसारसागरे । अभव्यास्ते विनिर्दिष्टा अन्धपाषाणसंनिभाः ॥ ९ ॥
अर्हद्भिः प्रोक्ततत्त्वेषु प्रत्ययं संप्रकुर्वते । श्रद्धावन्तश्च तेष्वेव रोचन्ते ते च नित्यशः ॥ १० ॥

अर्हन्तकेवलीके उपदेशके अनुसार ही आचार्योंने शास्त्रोंमें जीव, पुद्गल (अजीव), काल, धर्म, अधर्म तथा आकाश इन छह प्रधान पदार्थोंका द्रव्यरूपसे वर्णन किया है। तदनुसार ही अब इनकी परिभाषा आदिको कहता हूँ ॥ ५ ॥

जीव तत्त्व

जीवका असाधारण लक्षण है उपयोगमयता (जीवो उवओ गमयो = दर्शन ज्ञान मयता) । जीवके अविच्छेद्य लक्षण उपयोगके भी दो प्रधान विभाग हैं—पहिला है दर्शनोपयोग तथा दूसरा ज्ञानोपयोग है। क्योंकि इन दो प्रधान (उपयोगों) प्रवृत्तियोंके द्वारा ही वह समस्त पदार्थोंका ग्रहण करता है ॥ ६ ॥

जो अनादि भूतकालमें जीवित थे, वर्तमानमें अपने चेतन लक्षण युक्त होकर जीवित हैं तथा आगामी अनन्तकाल पर्यन्त जो अपने असाधारण स्वरूप (चैतन्य) को न छोड़ेंगे, ऐसे जीव अपनी अन्य प्रवृत्तियोंके कारण तीन विभागोंमें विभक्त किये गये हैं। उन विभागोंके नाम हैं एक—भव्य, दो—अभव्य तथा तीसरे—मुक्त ॥ ७ ॥

अभव्य

वीतराग तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनिके कारण जिस सत्य धर्मका प्रकाश हुआ था उसपर जो जीव कभी विश्वास नहीं करते हैं, मिथ्या तथा भ्रान्त ज्ञानको ग्रहण करने तथा पुष्ट करनेके लिए जो सदा तत्पर रहते हैं, फलतः जगतके मूल तत्त्वोंका वास्तविक ज्ञान उनके हाथ नहीं हो आता है ॥ ८ ॥

अपनी इन प्रवृत्तियोंके कारण जो जीव जन्म, जरा, मरणमय अथाह संसार समुद्रमें एक दो भव पहिलेसे नहीं अपितु अनादिकालसे बिलकुल डूबे हुए हैं। इतना ही नहीं, आगे अनन्तकाल पर्यन्त डूबे भी रहेंगे, ऐसे जीवोंको ही केवली भगवानने अभव्य कहा है। ये लोग उस अन्धे पत्थरके समान हैं जो सैकड़ों कल्प बीतनेपर भी थोड़ा सा निर्मल नहीं होता है ॥ ९ ॥

ज्ञानावरणी कर्मका समूल नाश हो जानेपर केवलज्ञान विभूषित तीर्थंकर देवने, जिन जीव, आदि सात तत्त्वोंका

---

१. म धर्माधर्मनभांसि च । २. [ये चाप्यजीविषुः]।

अनादिनिधने काले निर्यास्यन्ति त्रिभिर्युताः । भव्यास्ते च समाख्याता हेमधातूपमाः स्मृताः ॥ ११ ॥
सर्वकर्मविनिर्मुक्ताः सर्वभावार्थदर्शिनः । सर्वज्ञाः सर्वलोकार्च्याः सर्वलोकाग्रधिष्ठिताः ॥ १२ ॥
निर्बन्धा निःप्रतीकाराः समसौख्यपरायणाः । ये च सर्वोपमा[1] नीतास्ते सिद्धाः संप्रकीर्तिताः ॥ १३ ॥
षट्प्रकारविभक्तं तत्पुद्गलद्रव्यमिष्यते । तस्य नाम विभक्तं तत्प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ॥ १४ ॥
स्थूलस्थूलं तथा स्थूलं स्थूलसूक्ष्मं यथाक्रमम् । सूक्ष्मस्थूलं च सूक्ष्मं च सूक्ष्मसूक्ष्मेण षड्विदुः ॥ १५ ॥

विवेचन किया था उनपर ही जो श्रद्धा करते हैं, उन्हें मानकर उसके अनुकूल आचरण करते हैं वे श्रद्धालु पुरुष दिनों-दिन अपनी आन्तरिक शुद्धिको बढ़ाते हैं ॥ १० ॥

भव्यजीव

उनका संसार भ्रमण तो अनादि ही होता है किन्तु शुभ अवसर आते ही वे सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र मय रत्नत्रयको धारण करते हैं। तब उनका आगामी संसार सान्त (कुछ भव बाद समाप्त) हो जाता है। ऐसे जीवोंको भव्य कहा है। ये साधु पुरुष उस मलीन मूल धातुके समान हैं, जो शुद्धिके उपाय जुटते ही शुद्ध स्वर्ण हो जाती है ॥ ११ ॥

मुक्तजीव

ज्ञानावरणी, मोहनीय आदि आठों कर्मोंके बन्धनोंसे मुक्त, तीनों लोकों तथा कालोंके समस्त पदार्थ तथा सूक्ष्म भावोंके विशद रूपसे ज्ञाता, अतएव वास्तवमें सर्वज्ञ, हितोपदेशक होनेके कारण समस्त लोकोंके परमपूज्य, षड्द्रव्यमय लोकके ऊपर (उसके बाहर) आत्मस्वरूप में विराजमान हैं ॥ १२ ॥

संसारके समस्त बन्धनोंसे परे, जिनको न तो किसीका प्रतीकार करना है तथा न कोई उनका प्रतीकार ही कर सकता है, सांसारिक सुखोंसे सर्वथा भिन्न क्षायिक आध्यात्मिक सुखसे परिपूर्ण तथा इस जगतके किसी भी पदार्थकी उपमा देकर जिनके स्वरूपको नहीं समझाया जा सकता है, उन्हीं लोकोत्तर आत्माओंको, जो लोक के ऊपर निष्ठित हैं, उसे मुक्त-जीव कहते हैं ॥ १३ ॥

अजीव

द्वितीय द्रव्य पुद्गलको भी स्थूलरूपसे छह भागोंमें विभक्त किया है। अब उसीका वर्णन करते हैं। पहिले उसके छहों भेदोंको गिनाते हैं इसके उपरान्त क्रमशः छहों प्रकारके पुद्गलोंके स्वरूपका कथन करेंगे ॥ १४ ॥

प्रथम भेदका नाम स्थूलस्थूल (अत्यन्त स्थूल), स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, फिर इसी क्रमसे सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म तथा सूक्ष्म-सूक्ष्म (अत्यन्त सूक्ष्म) ये छह भेद पुद्गल द्रव्यके आकार-प्रकार आदिको सामने रखते हुए किये गये हैं ॥ १५ ॥

१. [सर्वोपमातीताः]।

भूम्यद्रिवनजीमूतविमान्भवनादयः । कृत्रिमाकृत्रिमद्रव्य स्थूलस्थूलमुदाहृतम् ॥ १६ ॥
तनुत्वद्रव्यभावाच्च छेद्यमानानुबन्धि यत् । तैलोदकरसक्षीरघृतादि स्थूलमुच्यते ॥ १७ ॥
चक्षुर्विषयमागम्य ग्रहीतुं यन्न शक्यते । च्छायातपतमोज्योत्स्नं स्थूलसूक्ष्मं च तद्भवेत् ॥ १८ ॥
शब्दस्पर्शरसो गन्धः शीतोष्णे वायुरेव च । अचक्षुर्ग्राह्यभावेन सूक्ष्मस्थूलं तु तादृशम् ॥ १९ ॥
पञ्चानां वैक्रियादीनां शरीराणां यथाक्रमम् । मनसश्चापि वाचश्च वर्गणा याः प्रकीर्तिताः ॥ २० ॥
तासामन्तरवर्तिन्यो वर्गणा या व्यवस्थिताः । ताः सूक्ष्मा इति विज्ञेया अनन्तानन्तसंहताः ॥ २१ ॥

यहाँ पर कुछ ऐसे पदार्थोंको गिनाते हैं जो स्थूलस्थूल कोटिमें आते हैं—पृथ्वी उनमें अग्रगण्य हैं उसके बाद पर्वत, वन, जलधर, स्वर्गोंके विमान, पृथ्वी पर निर्मित भवन, आदिके समान जितने भी पदार्थोंको मनुष्यने बनाया है अथवा प्रकृतिके द्वारा ही बनाये या बन गये हैं, ये सब स्थूलस्थूल ही कहे जायंगे ॥ १६ ॥

जिन द्रव्योंके आकारमें तनुत्व (छोटा या दुबलापन) स्पष्ट है तथा जो छेदन करके बने हैं अथवा पीसनेके बाद या पेलनेसे उत्पन्न हैं ऐसे तेल, पानी, घी, दूध तथा अन्य समस्त रसोंको स्थूल (घन तरल) पदार्थ कहा है ॥ १७ ॥

संसारमें ऐसे भी पदार्थ हैं जो आखोंसे स्पष्ट दिखायी देते हैं किन्तु स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ग्रहण (छुये) नहीं किये जा सकते हैं। उदाहरणके लिए प्रकाशमें पड़नेवाली पदार्थोंकी छाया, सूर्यकी धूप, अन्धकार, विद्युतका प्रकाश, चन्द्रिका, आदि पदार्थों को देखिये, वे सबके सब स्थूल-सूक्ष्म पदार्थोंकी ही कोटिमें आते हैं ॥ १८ ॥

सूक्ष्मस्थूल

इन पदार्थोंके ठीक विपरीत स्वभाव युक्त पदार्थोंके वर्गमें शब्द, कोमल-कठोर, आदि स्पर्श, मधुर, अम्ल, आदि रस (स्वाद), गन्ध, शीत, उष्ण तथा वायु ऐसे पदार्थ आते हैं। इनमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जिसे आँख देख सकती हो किन्तु अन्य इन्द्रियोंको इनका साक्षात् अनुभव होता है इस जातिके पदार्थोंको ही सूक्ष्म स्थूल कहते हैं ॥ १९ ॥

औदारिक [वैक्रियक], आहारक, कार्मण तथा तैजस, ये पाँच प्रकारके शरीर होते हैं। इनकी उत्पत्तिमें सहायक परमाणुओंको शास्त्रोंमें वर्गन नाम दिया है। इसी विधिसे मन तथा वचन जो कि दृश्य मूर्तिमान नहीं हैं इनकी भी अलग अलग वर्गणाएं (परमाणुसमूह) होती हैं ॥ २० ॥

उक्त शरीरों तथा मन-वचनकी उत्पत्तिमें साक्षात् सहायक वर्गणाओंके भीतर भी दूसरी वर्गणाएं रहती हैं। इनके क्रम तथा कार्य समुचित रूपसे व्यवस्थित हैं। इन समस्त वर्गणाओंको ही सूक्ष्म पुद्गल कहते हैं। इनका प्रमाण अनन्तानन्त है। तथा ये भी स्कन्ध (अनेक परमाणुओंका समूह) ही होती हैं ॥ २१ ॥

असंयुक्तास्त्वसंबद्धा एकैकाः परमाणवः । तेषां नाम समुद्दिष्टं सूक्ष्मसूक्ष्मं तु तद्बुधैः ॥ २२ ॥
धर्माधर्मौ यथासंख्यं गतिस्थित्योस्तु कारणम् । तत्परिद्धामिनामेतौ[1] तयोः शेषः[2] समो मतः ॥ २३ ॥
यथोदकं तु मत्स्यानां गतिकारणमिष्यते । स्थानक्रियासमेतानां महीवाधर्म उच्यते ॥ २४ ॥
धर्मद्रव्यं त्रिधा भिन्नमस्तिदेशाप्रदेशतः । अधर्मश्च त्रिधा प्रोक्तश्चास्तिदेशप्रदेशतः ॥ २५ ॥
अस्तिकस्तु[3] स्वपर्यायैर्लोकमापूर्य धिष्ठितः । देशः संक्षेपभागस्तु प्रदेशोऽसंख्यभागताम् ॥ २६ ॥
वर्तनालक्षणः कालस्त्रिधा सोऽपि प्रभिद्यते । अतीतोऽनागतश्चैव वर्तमान इति स्मृतः ॥ २७ ॥

वर्गणाओंसे भी अधिक सूक्ष्म परमाणु होते हैं। वे एक-एक परमाणु किसी दूसरे परमाणुसे मिले नहीं रहते है। परमाणुओंमें आपसमें कोई सम्बन्ध भी नहीं रहता है। एक एक परमाणुको अलग अलग बिखरा समझिये इस आकार प्रकारके परमाणुओंको ही द्रव्यके विशेषज्ञोंने सूक्ष्म-सूक्ष्म पुद्गल नामसे कहा है ॥ २२ ॥

धर्म-अधर्म

पुद्गल द्रव्यके बाद धर्म और अधर्म द्रव्यको गिनाया है। इनमेंसे क्रमशः धर्मद्रव्य गमन करनेवालोंकी गतिमें अप्रेरक सहायक होता है और अधर्म द्रव्य ठहरनेमें तटस्थ सहायक होता है। इन दोनों द्रव्योंकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह उन्हीं प्राणियोंकी सहायता करते हैं जो गति तथा स्थिति क्रियामें स्वयं प्रवृत्त हो जाते हैं—ये दोनों प्रेरणा नहीं करते हैं ॥ २३ ॥

उदाहरणके लिए जलको लीजिये—जो मछलियां चलना (तैरना) चाहती हैं, यानी उनके तैरनेमें सहायता देता है, यही अवस्था धर्म द्रव्यकी है। जो व्यक्ति चलते-चलते थक गये हैं और रुकना चाहते हैं तो किसी उपयुक्त स्थानपर रुक (बैठ) जाते हैं। इसी ढंगसे अधर्म द्रव्य भी समतल भूमि या छाया के समान रुकनेमें सहायक होता है ॥ २४ ॥

सामान्य दृष्टिसे एक धर्म द्रव्यके ही विशेषणोंकी अपेक्षासे तीन भेद हो जाते हैं प्रथम अस्ति-धर्मद्रव्य, द्वितीय देश-धर्मद्रव्य तथा तृतीय प्रदेश-धर्मद्रव्य है। ठीक इसी रूपसे अधर्मद्रव्यके भी अस्ति-अधर्मद्रव्य, देश-अधर्मद्रव्य तथा प्रदेश-अधर्मद्रव्य ये तीन स्थूल भेद हैं ॥ २५ ॥

जिसे अस्ति-धर्म अथवा अधर्म-द्रव्य कहा है वह उसके विशाल व्यापक रूपका द्योतक है जिसके द्वारा उन्होंने पूर्ण लोकाकाशको व्याप्त कर रखा है। निश्चित परिमाणमें व्याप्त दोनों द्रव्योंका (देश-धर्म अथवा देश-अधर्मद्रव्य) विशेषण होता है तथा देशके भी असंख्यातवें भागको प्रदेश धर्मद्रव्य अथवा प्रदेश अधर्मद्रव्य कहते हैं ॥ २६ ॥

काल

काल द्रव्यकी परिभाषा या कार्य है वर्तना, परिणाम आदि कराना है। जगतके निखिल पदार्थोंको परिवर्तित करानेमें

१. [परिणामिनावेतौ]। २. [तयोरेषः]। ३. म आस्तिकस्तु।

वर्तमानमुपस्पृश्य व्यतीतोऽतीत उच्यते । वर्तमानस्तु संप्रष्टुरुपस्थास्यत्यनागतः ॥ २८ ॥
उभयोरन्तरालः स्याद्वर्तमानस्तु संप्रति । एष कालविभागस्तु कालविद्भिरुदाहृतः ॥ २९ ॥
समयावलिनाडयश्च मुहूर्तदिनरात्रयः । पक्षमासर्तुवर्षाश्च युगाद्याः कालपर्ययाः ॥ ३० ॥
आकाशं व्यापि सर्वस्मिन्नवगाहनलक्षणम् । तच्च प्रोक्तं द्विधा भूयो लोकालोकसमन्वितम् ॥ ३१ ॥
द्रव्यैस्तु पञ्चभिर्व्याप्य[1] लोकाकाशं प्रतिष्ठितम् । अलोके खलु पञ्चानां द्रव्याणां नास्ति संभवः ॥ ३२ ॥
परिणामाज्जीवभावान्नित्यत्वात्कारणादपि । कर्तृत्वात्सक्रियत्वाच्च मूर्तिमत्त्वाद्विभुत्वतः ॥ ३३ ॥

समर्थ काल द्रव्यके भी प्रधान तीन ही भेद हैं। वह काल जो बीत गया है, काल जो कि वर्तमान है तथा वह समय जो अब तक आया नहीं किन्तु अवश्य आता है अर्थात् भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् ॥ २७ ॥

वर्तमान क्षणके पहिलेका जितना भी अनादि समय था वह सब अतीत (भूत) काल कहलाता है। तथा वर्तमान क्षणके तुरन्त बाद ही उपस्थित होने योग्य उस समयको जो कि अब तक उपस्थित नहीं हुआ है; किन्तु होगा अवश्य, उस अनन्तकालको भविष्य कहते हैं ॥ २८ ॥

तथा इन दोनों (भूत तथा भविष्यत्) कालोंके बीचमें जो पड़ता है, जिसे हम लोग संप्रति (अब), आदि शब्दोंसे प्रकट करते हैं उसे ही वर्तमानकाल कहते हैं। मोटे रूपसे कालके यही प्रधान भेद हैं, जिनके विषयमें कालद्रव्यके विशेषज्ञोंने व्याख्या की (लिखा) है ॥ २९ ॥

व्यवहारकी दृष्टिसे ही कालद्रव्यके समय (एक परमाणु परिस्पन्दकाल), आवलि (असंख्यात-समय), नाड़ी (२४ मिनट), मूहूर्त, आदि सूक्ष्म भेद किये गये हैं। इन्हींके समूह रूपका दिन, रात, पक्ष, मास, शरद आदि ऋतु, वर्ष, तीर्थंकरोंके युग, आदि भी कालकी ही पर्यायें हैं ॥ ३० ॥

आकाश सब स्थानोंपर व्याप्त है। जगतको तथा उसके स्वरूपको निश्चित करनेवाली समस्त द्रव्योंको जो अवकाश देता है उसे ही आकाश कहते हैं। आधेय पदार्थोंकी अपेक्षासे आकाशद्रव्यके भी दो प्रधान भेद कर दिये हैं—लोकाकाश तथा अलोकाकाश ॥ ३१ ॥

आकाशद्रव्य

जिस आकाश खण्डमें धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल तथा जीव ये पाँचों द्रव्य व्याप्त हैं उसे ही शास्त्रकारोंने लोकाकाश नाम दिया है। अलोकाकाश इसका ठीक उल्टा है क्योंकि वहाँपर इन पाँचों द्रव्योंका नाम तथा निशान भी नहीं है ॥ ३२ ॥

विशेष विचारक विद्वानोंको विविध भेद-प्रभेद-युक्त इन सब द्रव्योंको इनके साधक हेतुओंके द्वारा जानना चाहिये। जैसे

१. [पञ्चभिर्व्याप्तं]।

एकक्षेत्रात्तथैकत्वात्सप्रदेशाद्यथाक्रमम् । सर्वं तद्विविधं[1] द्रव्यं विज्ञातव्यं विचक्षणैः ॥ ३४ ॥
जीवाश्च पुद्गलाश्चैव परिणामगुणान्विताः । परिणामं न गच्छन्ति शेषाणीति विदुर्बुधाः ॥ ३५ ॥
जीवद्रव्यं हि जीवः स्याच्छेषं निर्जीव उच्यते[2] । मूर्तिमत्पुद्गलद्रव्यममूर्तं शेषमिष्यते ॥ ३६ ॥
धर्माधर्मवियज्जीवास्ते नैकक्षेत्रवर्तिनः । एकक्षेत्रस्तु कालः स्यादेको नैकश्च पुद्गलः ॥ ३७ ॥
परमाणुश्च कालश्च निःप्रदेशावुदाहृतौ । शेषाणि सप्रदेशानि वर्णितान्यृषिसत्तमैः ॥ ३८ ॥
धर्माधर्मैकजीवाश्च असंख्येयाः प्रदेशतः । प्रदेशा नियतोऽनन्ता इति सर्वविदां मतम् ॥ ३९ ॥

कि; ये सबकी सब परिवर्तनशील हैं, जीव मय अथवा जीव हैं, द्रव्यत्वकी अपेक्षासे जगत् सृष्टिके कारण हैं अपने विकारों या परिवर्तनोंके कर्ता भी स्वयं ये ही हैं। इनके कार्य तथा क्रियाएँ सत् (अस्तित्व) रूपमें हमारे सामने उपस्थित हैं तथा ये स्वयं समर्थ हैं ॥ ३३ ॥

कितने ही इनमें मूर्तिमान (साकार) हैं तथा व्यापक भी हैं। इन सब ही द्रव्योंका निवास स्थान एक ही है, अपने-अपने द्रव्यत्वकी अपेक्षा ये सब ही एक हैं। तथा क्रमशः एक ही प्रदेशमें छहों द्रव्य पाये जाते हैं। यथोचित रूपसे उपयोग करने-विचारने पर ये विकल्प हेतु उनकी सत्ताको सिद्ध करते हैं ॥ ३४ ॥

द्रव्योंका विशेष

जीव आदि छहों द्रव्योंमें जीव तथा पुद्गल द्रव्योंका ही कालके कारण परिणमन (परिवर्तन) होता है। इनके अतिरिक्त शेष धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल द्रव्योंमें किसी भी प्रकारका कोई परिणमन होता ही नहीं है, ऐसा द्रव्योंके विशेषज्ञ केवली, आदि महापुरुषोंने कहा है ॥ ३५ ॥

छहों द्रव्योंमें केवल जीव द्रव्य ही ऐसा है जिसमें चेतना पायी जाती है, शेष धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल ये पाँचों ही अजीव द्रव्य हैं। एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जिसकी मूर्ति (स्थूल आकार) होती है शेष पाँचों द्रव्य सर्वथा अमूर्तीक (आकारहीन) हैं ॥ ३६ ॥

धर्म, अधर्म, आकाश तथा जीव ये चारों द्रव्य ऐसे हैं कि इनका आधार केवल एक क्षेत्र (एक निरपेक्ष परमाणु) हो ही नहीं सकता है। केवल काल द्रव्य ही ऐसा है जिसका एक-एक परमाणु रत्नोंकी राशिमें रखे रत्नोंके समान अलग-अलग है। पुद्गल द्रव्यमें दोनों योग्यताएँ हैं, वह एक तथा अनेक क्षेत्र अवगाही है ॥ ३७ ॥

पुद्गल द्रव्यका परमाणु (जिससे छोटा भाग होना अशक्य है) तथा काल द्रव्य ऐसे हैं कि इन दोनोंके और अधिक प्रदेश नहीं किये जा सकते हैं। केवलज्ञानरूपी नेत्रधारी ऋषियोंका कथन है कि बाकी सब द्रव्य ऐसे हैं कि उनके एक भागमें भी अनेक प्रदेश होते हैं ॥ ३८ ॥

धर्म, अधर्म तथा एक जीव द्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या असंख्यात है। केवलज्ञानरूपी नेत्रसे समस्त द्रव्य, पदार्थोंके द्रष्टा

१. म तद्द्विविधं । २. क निर्जीवमुच्यते ।

जीवाश्च पुद्गलाश्चैव कालश्च बहवः स्मृताः । धर्माधर्मैवथाकाशमेकैकं वर्णितं जिनैः ॥ ४० ॥
पुद्गला जीवकायाश्च नित्यानित्या इति स्मृताः । कालद्रव्यमनित्यं तन्नित्यान्येवेतराणि च ॥ ४१ ॥
सत्क्रियाः पुद्गला जीवा निःक्रियाणीतराणि च । आकाशं च विभुद्रव्यं शेषमव्यापि तद्विदुः ॥ ४२ ॥
कार्यकारणसंयुक्तं पुद्गलद्रव्यमुच्यते । शेषाण्यकारणान्येव न कार्याणि कदाचन ॥ ४३ ॥
कर्तृ कर्तृत्वसंयुक्तं पुद्गलद्रव्यमुच्यते । द्रव्याण्यन्यान्यकर्तृणि सर्वाणीत्यार्हतं मतम् ॥ ४४ ॥
तेषामधिगमोपायः प्रमाणनयवर्त्मना । प्रत्यक्षं च परोक्षं च प्रमाणं तद्विधा स्मृतम् ॥ ४५ ॥

सर्वज्ञ प्रभुके वचनोंके अनुसार ही आकाश द्रव्यके प्रदेशोंका परिमाण अनन्त है। जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य तथा काल द्रव्य अनेक हैं ॥ ३९ ॥

द्रव्य परिमाण

श्री जिनेन्द्रप्रभुकी दिव्यध्वनिमें कहा गया है कि धर्म, अधर्म तथा आकाश ये तीन द्रव्य ही ऐसे हैं जो एक-एक होकर भी समस्त लोकको व्याप्त किये हुए हैं ॥ ४० ॥

पुद्गल तथा शरीर बन्धनको प्राप्त जीव ये दोनों द्रव्य नित्य तथा अनित्य दोनों ही प्रकारके हैं। केवल काल द्रव्य ही ऐसा है जो अनित्य है, शेष धर्म, अधर्म, आकाश तथा शुद्ध स्वरूपी जीव, ये सब द्रव्य नित्य ही हैं ॥ ४१ ॥

पुद्गल तथा जीव इन दोनों द्रव्योंमें हिलन-डुलन आदि सब ही क्रियाएँ होती हैं। शेष चारों द्रव्योंमें स्वतः कोई क्रिया नहीं होती है। समस्त द्रव्योंमें एक आकाश ही व्यापक तथा विभु द्रव्य है, शेष पाँचोंके पाँच द्रव्य अव्यापि हैं ॥ ४२ ॥

पुद्गल द्रव्यकी ही यह विशेषता है कि वह कार्य भी होता है और दूसरोंका कारण भी बनता है; किन्तु शेष जीव, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये पांचों द्रव्य कारण ही होते हैं, किसी दूसरेके कार्य न कभी थे, न हैं, और न होंगे ॥ ४३ ॥

अर्हन्त केवलीके उपदेशके आधारपर प्रचलित जैनदर्शन कहता है कि केवल पुद्गल द्रव्य ही कर्ताकी अपेक्षा करता है तथा स्वयं भी कर्तृत्ववान् या कर्ता होता है, किन्तु शेष पांचों द्रव्योंको यही विशेषता है कि कोई अन्य द्रव्य कभी भी उनका कर्ता नहीं होता है ॥ ४४ ॥

इन पांचों द्रव्योंका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेके उपाय दो ही है प्रथम है प्रमाण (वस्तुको सकल पर्यायोंका ज्ञान) तथा नय (एक अंशका ज्ञान) दूसरा है। प्रमाणको साधारणतया प्रत्यक्ष (साक्षात् ज्ञान) तथा परोक्ष (परम्परासे ज्ञान) इन दो भागोंमें विभक्त किया है ॥ ४५ ॥

प्रत्यक्षं भिद्यते त्रेधा सावधिश्चित्तपर्ययः । रूपिद्रव्यनिबद्धौ तौ केवलं विश्वगोचरम् ॥ ४६ ॥
परोक्षं तर्हि[1] निर्दिष्टं द्विधा तत्त्वार्थदर्शिभिः । सप्रभेदा मतिश्चैव द्विविकल्पमपि श्रुतम् ॥ ४७ ॥
संक्षेपतो नयौ द्वौ तु द्रव्यपर्यायसंसृतौ[2] । तन्मात्रस्याभिवित्सायामर्थशब्दविशेषितौ ॥ ४८ ॥
तयोर्भेदा नया जैनैराख्याता नैगमादयः । नीयते यैरशेषेण लोकयात्रा विशेषतः ॥ ४९ ॥
नैगमः संग्रहश्चैव व्यवहारस्तथैव च । द्रव्यार्थिकनयस्यैते भेदाः प्रोक्ताः मनीषिभिः ॥ ५० ॥
ऋजुसूत्रश्च शब्दश्च तथा समविरूढकः[3] । इत्थंभूतश्च चत्वारो विकल्पाः पर्ययार्थिनः ॥ ५१ ॥
नाम च स्थापना चैव द्रव्यं द्रव्यार्थिकस्य च । निक्षेपादित्रयः प्रोक्ता भाव एवेतरस्य च ॥ ५२ ॥

ज्ञान कारण

प्रत्यक्षके भी तीन भेद किये हैं उनमेंसे पहिला है अवधिज्ञान (निश्चित मर्यादाके भीतर स्थित इन्द्रियोंसे दूर पदार्थोंका ज्ञाता) तथा मनःपर्यायज्ञान (मानसिक भावोंको भी निश्चित सीमाओंमें जाननेवाला ज्ञान) ये दोनों रूपी अथवा मूर्तिमान द्रव्यको ही जानते हैं किन्तु तीसरा प्रत्यक्ष केवलज्ञान तो विश्वके समस्त पदार्थोंको सर्वथा ही जानता है ॥ ४६ ॥

तत्त्वमीमांसामें पारंगत आचार्योंने परम्परया पदार्थोंके ज्ञाता परोक्षज्ञानके दो ही भेद किये हैं । उनमें अपने अनेक प्रभेदों युक्त मतिज्ञान पहिला है तथा दो भेदोंमें विभक्त श्रुतज्ञान दूसरा है ॥ ४७ ॥

नय प्रमाण

पदार्थको किसी एक अपेक्षासे ही जाननेवाला नयज्ञान संक्षेपसे दो भागोंमें ही विभक्त है क्योंकि उसके आधार द्रव्य तथा पर्याय भी दो ही हैं । क्योंकि नय पदार्थकी एक निश्चित अवस्थाको ही जानना चाहता है । आपाततः उसके अनुकूल ही शब्द अर्थको विशेष रूपसे उपयोगमें लाता है ॥ ४८ ॥

जैनाचार्योंने इन दोनों नयोंके ही नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत ये प्रधान भेद किये हैं । इन नयोंके सहारे ही संसारके समस्त व्यवहार बिना अव्यवस्थाके चलते हैं ॥ ४९ ॥

पूर्वोक्त द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद हैं जिनके नाम नैगम, संग्रह तथा व्यवहार हैं । इन तीनों भेदोंको लेकर ही प्रखर बुद्धि विचारकोंने इस संसारके अनेक विषयोंकी व्यवस्था की है ॥ ५० ॥

वस्तु तत्त्वके विशेष परीक्षक आचार्योंने पर्यायार्थिक नयके ऋजुसूत्र, शब्दनय और उससे भी सूक्ष्म विषयग्राही समभिरूढ तथा इत्थंभूत (एवंभूत) ये चार प्रधान विकल्प किये हैं ॥ ५१ ॥

निक्षेप

जगतके सचराचर पदार्थोंको नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव आदिकी कल्पना करके भी जाना जाता है, इसीलिए इन्हें

१. (तद्धि) । २. (°संश्रितौ) । ३. (समभिरूढकः) ।

न हि द्रव्यार्थिको नाम नयः कश्चिदवस्थितः। पर्यायार्थिको वापि किंतु भावाव्यवस्थितिः ॥ ५३ ॥
उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति नियमात्पर्यायवाचिनः। न जायन्ते न नश्यन्ति भावा द्रव्यार्थिकस्य च ॥ ५४ ॥
ऋते द्रव्यान्न पर्याया द्रव्यं वा पर्ययैर्विना। स्थित्युत्पत्तिनिरोधोऽयं द्रव्यलक्षणमुच्यते ॥ ५५ ॥
प्रोक्ता स्थित्यादयस्तेऽपि तयोः प्रत्येकलक्षणम्। न भवन्ति यतस्तस्मान्न तत्त्वं तौ नयौ स्मृतौ ॥ ५६ ॥
न संभवति संसारे द्रव्यार्थिकनयस्य यत्। न पर्ययोऽर्थिकस्यापि[1] यद्ध्रौव्यच्छेदवादिनौ ॥ ५७ ॥
सुखदुःखोपभोगस्तु नित्यस्यापरिणामिनः। घटते नाप्यनित्यस्य सर्वथोच्छेददर्शनात् ॥ ५८ ॥

निक्षेप कहते हैं। इन चारों निक्षेपोंमेंसे प्रारम्भके तीन अर्थात् नाम, स्थापना तथा द्रव्यका व्यवहार उस समय होता है जब हम द्रव्यार्थिक नयसे पदार्थोंको जानते हैं। शेष चौथा भाव-निक्षेप पर्यायार्थिक नयसे ज्ञान करते समय ही उपयोगी होता है ॥ ५२ ॥

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि द्रव्यार्थिक नय नामके किसी नयकी पदार्थ जानने की प्रक्रिया, आदि साधन पूर्णरूपसे निश्चित हैं। पर्यायार्थिक नयकी भी यही अवस्था है जो कि द्रव्यार्थिक नयकी है। इस सबका इतना ही सार है कि प्रति क्षण परिवर्तित होते हुए भाव ही इन नयोंके विषय हैं ॥ ५३ ॥

पर्यायार्थिक नयके ज्ञेय-विषय क्षण-क्षण पर उत्पन्न होते हैं तथा उसी क्रमसे नष्ट भी होते रहते हैं। किन्तु द्रव्यार्थिक नयके विषयोंकी अवस्था इसके सर्वथा विपरीत है, क्योंकि वे न तो उत्पन्न ही होते हैं और न नष्ट नहीं होते हैं ॥ ५४ ॥

यह भी निश्चित है कि यदि द्रव्य न हो तो पर्यायोंका आविर्भाव सर्वथा असंभव है। इसी क्रमसे देखिये यदि पर्यायें न हों तो द्रव्यका सद्भाव भी असंभव हो जायगा, क्योंकि द्रव्यकी परिभाषा ही स्थिति, उत्पत्ति तथा विनाशका समुदाय है ॥ ५५ ॥

उत्पादत्रय

स्थिति (ध्रौव्य) उत्पत्ति (उत्पाद) तथा निरोध (व्यय) इन तीनोंके विशद लक्षणोंको भी शास्त्रोंमें अलग-अलग करके बताया है। किन्तु इतनेसे ही अभीष्ट पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है, यही कारण है कि लोक व्यवहारमें साधक होते हुए भी ये दोनों नय प्रमाण नहीं हैं ॥ ५६ ॥

संसारके पदार्थोंमें न तो द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे व्यवहार चल सकता है, और न पदार्थोंको पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे ही कहा जा सकता है, क्योंकि ये दोनों द्रव्यके ध्रौव्य भावके प्रतिकूल पड़ते हैं ॥ ५७ ॥

यदि द्रव्यार्थिक नयके अनुसार नित्य ही माना जाय तो उसमें किसी भी प्रकारके परिवर्तनके लिए स्थान नहीं रह जायेगा फलतः सुख, दुःख, उपभोग जो कि परिणाम (बदलने) के ही प्रतिफल हैं वे कैसे बनेंगे। यदि सर्वथा अनित्य ही माना जाय तो भी ये सब भाव न बन सकेंगे क्योंकि आधार भूत पदार्थ सर्वथा ही नष्ट (असत्) हो जायगा ॥ ५८ ॥

१. [पर्यायार्थिकस्यापि]।

योगतः कर्म बध्नाति स्थितिस्तस्य कषायतः । एकान्तनित्यानित्यत्वान्न बन्धस्थितिकारणम् ॥ ५९ ॥
तस्मादुक्ता नयाः सर्वे स्वपक्षाभिनिवेशिनः । मिथ्यादृशस्त एवैते तत्त्वमन्योन्यमिश्रिताः ॥ ६० ॥
मणयः पद्मरागाद्याः पृथक्पृथगथ स्थिताः । रत्नावलीति संज्ञां ते न विदन्ति महार्घिणः ॥ ६१ ॥
यथैव कुशलैरेते यथास्थाने नियोजिताः । रत्नावल्यो हि कथ्यन्ते प्रत्येकाख्यां त्यजन्ति च ॥ ६२ ॥
तथैव च नयाः सर्वे यथार्थं विनिवेशिताः । सम्यक्त्वाख्यां प्रपद्यन्ते प्राक्तनीं संत्यजन्ति च ॥ ६३ ॥
द्रव्यार्थिकनयस्यात्मा कर्मकृत्फलभुत्क्षमः । पर्यायार्थिकयस्यान्यः[1] कर्ता भोक्ता तथापरः ॥ ६४ ॥

मन, वचन तथा कायके योगों (क्रियाओं) के द्वारा ही जीव नूतन कर्मोंका बन्ध करता है तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, आदि कषायोंकी कृपासे नूतन बद्धकर्मोंकी स्थिति पड़ती है। किन्तु जहाँ पर केवल योग अथवा कषाएँ नित्य होंगी, तथा केवल अनित्य होंगी वहाँ पर न किसीका बन्ध होगा और न स्थिति ॥ ५९ ॥

यही कारण है कि अपने अपने विषय (एक ही पक्ष) के सत्य घोषित करके दूसरी अपेक्षाओं (अनित्यादि) को मिथ्या घोषित करनेवाले परस्पर निरपेक्ष नयोंको मिथ्या नय कहा है। किन्तु जब ये ही नय परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा करने लगते हैं तो इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान सत्य ज्ञान हो जाता है ॥ ६० ॥

सापेक्षत्रय

पद्मराग, आदि प्रत्येक मणि ही बहुमूल्य होता है। किन्तु, यदि ये सब महामणि अलग-अलग एक यहाँ, एक वहाँ पड़े रहें तो वे महामूल्य होकर भी रत्नावली (हार) इस नाम तक को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, यही अवस्था निरपेक्ष नयोंकी है ॥६१॥

जो पुरुष हार बनानेकी कलामें निपुण हैं वे इन्हीं बिखरे हुए मणियोंको सक्रम एकत्र करके जब उचित स्थान पर पिरो देते हैं तो उनकी कान्ति अनेक गुनी हो जाती है और उसी समय वे रत्नहार इस नामको भी पा जाते है। उस समय उनके अपने-अपने पृथक् नाम लुप्त हो जाते हैं। यही अवस्था नयविज्ञान को है ॥ ६२ ॥

नैगम, आदि सब नय जब अपने आंशिक ज्ञानको पूर्ण पदार्थके ज्ञानमें यथास्थान समर्पित कर देते हैं। तब उनके द्वारा दिया गया ज्ञान पूर्ण होता है फलत वे सब ही नय सत्य हो जाते हैं और अपने पहिले नाम नैगमादि नयको छोड़कर प्रमाण नामको प्राप्त करते हैं ॥ ६३ ॥

द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे जो आत्मा अपने एक जीवन में अनेक शुभ-अशुभ कार्य करता है, वही आत्मा अपने इसी जन्म अथवा दूसरे जन्ममें उनके फलोंको भोगता है। इस ही आत्माको जब हम पर्यायार्थिक नयकी कसौटी पर कसेंगे तो कर्म करनेवाला आत्मा कोई होगा और उसका फल भोगनेवाला दूसरा पर्याय हो जायगो ॥ ६४ ॥

१. क °यस्यायम्, [पर्यायार्थिनयस्यान्यः] ।

[द्रव्यार्थिकस्य यः कर्ता स एव फलमश्नुते । पर्यायार्थिकयस्यान्यः[1] कर्ता भोक्ता तथापरः] ॥ ६५ ॥
तस्मात्सर्वप्रपञ्चोऽयं लोकयात्रासमन्वितः । नययोरनयोर्भेदान्न संभवति युक्तिभिः ॥ ६६ ॥
गुणप्रधानभावेन यदा त्वेतौ परस्परम् । अपेक्षेते तदा तत्त्वं भजतो[2] भजनाश्रितौ ॥ ६७ ॥
अयमेव महापन्थाः पुंसां निःश्रेयसार्थिनाम् । अविरोधात्ततोऽन्यस्तु मिथ्यात्वप्रतिपादकः ॥ ६८ ॥
यावन्तो वचसां मार्गा नयास्तावन्त एव हि । तावन्ति परतीर्थानि यावन्तो नयगोचराः ॥ ६९ ॥

विशद विवेचन

दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि द्रव्यार्थिक नयके अनुसार जो कर्ता है वही अपने कर्मोंके परिणाम (फल) को भरता भी है। किन्तु पर्यायार्थिक नयकी व्यवस्था इसके बिल्कुल प्रतिकूल है, उसकी दृष्टिमें जिस पर्यायमें कार्य किया गया था वह बहुत शीघ्र (प्रतिक्षण) बदल जाती है। फलतः जो रूप कर्मोंका कर्ता है वही भोक्ता नहीं होता है ॥ ६५ ॥

संसारके व्यवहारोंको चलानेमें अति उपयोगी उक्त प्रकारका सबका सब एकांगी ज्ञान द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयोंके भेदोंके द्वारा तब तक ही सुचारु रूपसे चलता है जब तक ये सब नय परस्पर सापेक्ष हैं। ज्योंही ये परस्पर निरपेक्ष हो जायँगे, त्यों ही उक्त समस्त प्रपंच तर्ककी कसौटी पर कसते ही मिथ्या सिद्ध होंगे ॥ ६६ ॥

किन्तु जिस समय इन दोनों नयोंमेंसे एक प्रधान हो जाता है तथा दूसरा अप्रधान (गौण) हो जाता है उस समय ये परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरेके पूरक हो जाते हैं। उस समय इनके द्वारा दिया गया आंशिक ज्ञान तत्त्व-ज्ञान होता है क्योंकि पदार्थोंको जाननेका यही प्रकार है ॥ ६७ ॥

जो पुरुष तत्त्वज्ञान प्राप्त करके परम निश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए स्याद्वादमय पदार्थ-परीक्षा ही एकमात्र सीधा, सरल मार्ग है, क्योंकि इस पर चलनेसे पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला विरोध अपने आप ही लुप्त हो जाता है। इसके सिवा जितने भी एकान्तमय मार्ग हैं वे पदार्थकी अनेक धर्म-पूर्णताको उपेक्षा करनेके कारण सत्य मार्ग नहीं कहे जा सकते हैं ॥ ६८ ॥

सत्य तो यह है कि नयोंकी संख्याका निश्चित प्रमाण (संख्या) कहा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि प्राणी जितने प्रकारसे शब्दों द्वारा अपने भावोंको प्रकट कर सकता है उतने ही नय होते हैं। जब कोई विचारक किसी एक ही नयके विषयको लेकर उसे ही पदार्थका सत्य या पूर्ण, स्वरूप मानने लगता है तो वह मिथ्या-मार्ग हो जाता है। आपाततः जितने नय हैं, मिथ्या मार्गोंकी संख्या भी उतनी ही हो सकती है ॥ ६९ ॥

१. क पुस्तक एव। २. क भजते।

अस्त्यात्मा स हि कर्ता च ध्रुवो भोक्ता च मुक्तिमान् । अस्त्येव मुक्त्युपायश्च षोढा मिथ्यात्वमुच्यते ॥ ७० ॥
नास्त्यकर्ता न भोक्ता च भङ्गुरो न च मुक्तिमान् । नास्त्येव मुक्त्युपायश्च षोढा मिथ्यात्वमुच्यते ॥ ७१ ॥
प्रकृतेः पुरुषात्कालात्स्वभावान्नियतेरपि । दैवादीश्वरतश्चापि यदृच्छातो विधानतः ॥ ७२ ॥
सर्वप्रपञ्चसंसिद्धिरेतेभ्यः संप्रचक्ष्यते । केचिदेकान्ततस्तेषां मिथ्यात्वं न निवर्तते ॥ ७३ ॥
तस्मादेवार्हतं युक्तमनेकान्तावलम्बनात् । अविरोधस्तु सर्वत्र सद्भूतार्थप्रदर्शनात् ॥ ७४ ॥

नय तथा मिथ्यात्व

आत्माके अस्तित्वको लेकर भी छह प्रकारका मिथ्यात्व हो सकता है, यथा आत्मा है ही, वही कर्ता है, आत्मा सर्वथा ध्रुव ही है, आत्मा ही भोक्ता है, ज्ञान, आदि प्राप्त करके इस आत्मा ही को अष्ट कर्मोंसे मुक्ति मिलती है, तथा मोक्ष प्राप्तिके निश्चित उपायोंके विषयमें शंका नहीं ही की जा सकती है ॥ ७० ॥

उपर्युक्त एकान्तमय वचनोंके विपरीत जब दूसरा नयवादी आत्माके अभावपर ही जोर देता है तो वह निम्नलिखित छह मिथ्यात्वोंको उत्पन्न करता है। आत्माका अस्तित्व ही नहीं है, किसी भी कार्यका कर्ता हो ही नहीं सकता है, कर्मोंके फल को भोग ही नहीं सकता है, क्योंकि वह एक क्षणमें ही नष्ट हो जाता है, तथा आत्माको मुक्ति प्राप्त भी नहीं ही होती है, और न कोई मुक्तिके उपाय ही हैं ॥ ७१ ॥

कितने ही ऐसे विचारक हैं जो पूर्वापर विरोधकी चिन्ता न करके यही कहते हैं कि संसारका समस्त प्रपञ्च प्रकृतिकी कृपा से हो जाता है, अथवा पुरुषका साक्षी होना ही जगत् प्रपंचका कारण है, तोसरोंका कथन है कि प्रकृति पुरुष आदि कुछ भी नहीं हैं समय ही सब कुछ करता है, कुछ लोगोंका मत है इससे भी आगे हैं, वे कहते हैं कि जगत्का स्वभाव ही इस प्रकार है ॥ ७२ ॥

प्रकृति पुरुष

पाँचवें कहते हैं कि जगत् प्रपंचका होना तथा मिटना पूर्वनिश्चित (नियति) है, दूसरोंका मत है कि पूर्वोक्त कोई बात नहीं है, केवल दैव ही संसारकी सृष्टिके लिये उत्तरदायी है, सातवें पक्षके समर्थक और भी अकर्मण्य हैं क्योंकि वे ईश्वरको जगत् सृष्टा कहते हैं, अन्य लोग इससे भी एक पग आगे गये हैं क्योंकि उनके मतसे ईश्वरकी अनियंत्रित इच्छा ही संसारको उत्पन्न कर देती है—तथा नौवें पथवादी कहते हैं कि चूँकि (यतः) ऐसा होना अनिवार्य (विधान) था इसीलिये सृष्टि हो गयी है। इस ढंग के अनेक कारणोंको नयवादी लोग संसार सृष्टिका कारण मानते हैं। उनका मिथ्याज्ञान इतना दृढ़ हो गया कि युक्तिवाद उसे सरलतासे दूर नहीं कर पाता है ॥ ७३ ॥

इन सब मतोंकी परीक्षा करनेके उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि श्री अर्हन्त केवलीके द्वारा कहा गया, वस्तुके अनेक धर्मोंका विचारक तथा स्याद्वादमय अनेकान्त ही सत्य है, क्योंकि उसका अवलम्बन करनेसे कहीं भी कोई विरोध नहीं आता है। इतना ही नहीं, अपितु पदार्थ जैसा है उसके उसी स्वरूपका ज्ञान भी प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

अविरोधः कुतः स्याच्चेदेकपक्षपरिग्रहात् । स पुनः केन चेत्युक्ते नयद्वयपरिग्रहात् ॥ ७५ ॥
[स्याद्वादः खलु पूर्वस्मिन्परस्मिन्नुभयोरपि । उभयोः पादयोर्न स्यादिति केचित्प्रचक्षते][1] ॥ ७६ ॥
स्याद्वादस्तु विशेषेण सर्वत्र यदि कल्प्यते । अथवा न प्रकल्प्येत दोषस्तस्य प्रसज्यते ॥ ७७ ॥
कस्तत्र दोष इति चेदेकान्तत्वं प्रसज्यते । एकान्तवादतः किं न लोकयात्रा विनश्यति ॥ ७८ ॥
लोकयात्राप्रसिद्ध्यर्थं युक्तिवादः प्रकल्प्यते । दृष्टान्तास्तस्य चत्वारस्तैर्व्यक्तिमभिगच्छति ॥ ७९ ॥
जीवः स स्यान्मनुष्यस्तु नाजीवो मृद्घटस्तथा । सद्द्रव्यमिति[2] सर्वत्र स्याद्वादस्य विकल्पना ॥ ८० ॥

यदि केवल एक ही नयसे ग्रहीत निरपेक्ष ज्ञानको पूर्ण-स्वरूप मानकर उसी पक्षको ग्रहण किया जाय तो पदार्थ-ज्ञानमें अविरोध कैसे होगा ? वह कौन-सा प्रेरक कारण है जिसके द्वारा अविरोधका प्रादुर्भाव होगा ? इस प्रकार शंका उत्पन्न होनेपर कहा जा सकता है कि सापेक्ष दो नयोंको माननेसे कार्य चल जायगा ॥ ७५ ॥

एकान्तापत्ति

कुछ लोगोंका यह भी मत है कि स्याद्वाद दृष्टि पहिले नयसे उत्पन्न ज्ञानमें भी रहेगी और दूसरे नयके द्वारा जाने गयेमें भी होगी। फलतः दोनोंके द्वारा पाया गया ज्ञान भी स्याद्वाद (समन्वय) मय होगा तथा जो वस्तुज्ञान दोनों नयोंसे नहीं जाना गया है वह ही स्याद्वादसे बाहर जायगा ॥ ७६ ॥

तात्पर्य यह कि किसी भी दृष्टि अथवा अपेक्षासे प्राप्त ज्ञानके साथ स्याद्वादसूचक 'स्यात्' पद लगा ही रहना चाहिये, इस व्यवस्थामें कोई अपवाद करना सुकर नहीं है। क्योंकि ज्यों ही हमने अपने नय ज्ञानको स्यात् विशेषणसे अलग किया त्यों ही (एकान्त या हठ-वाद) भयंकर दोष उत्पन्न हो जाता है ॥ ७७ ॥

परिहार

प्रतिवादी पूछेगा कौन-सा दोष आता है तो सीधा उत्तर है कि मिथ्यात्वका मूल श्रोत्र एकान्त आ टपकता है। एकान्त-वादी कह सकता है इससे क्या हानि है ? तो उससे यही पूछना चाहिये, कि क्या एकान्तवादका प्रश्रय लेनेसे संसार-यात्रा (लोक-व्यवहार) ही समाप्त हो जाती है क्योंकि बहिनके 'भाई' की पत्नी तो 'पति' ही मानती है। जब कि व्यक्ति एक ही है ॥ ७८ ॥

संसारमें जितनी भी युक्तियोंका आविष्कार हुआ है तथा उन्हें प्रामाणिक माना जाता है, उन सबका एकमात्र उद्देश्य यही है कि संसारका व्यवहार निर्दोष रूपसे चलता रहे। इस ही सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिए चार दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं, जिनके द्वारा इसका रहस्य स्पष्ट हो जाता है ॥ ७९ ॥

छहों द्रव्योंमें प्रधान द्रव्य जीव है। उसकी सबसे पहिली विशेषता यह है कि वह द्रव्य भी है, वह अजीव मिट्टीके घड़ेके

---

१. म पुस्तक एव । २. म स द्रव्यमिति ।

स्याद्वादः खलु पूर्वस्मिन्परस्मिन्नुभयोरपि । उभयोः पादयोर्न स्यादिति केचित्प्रचक्षते ॥ ८१ ॥
अनेकान्तोऽपि चैकान्तः स्यादित्येवं वदेत्परः । अनेकान्तोऽप्यनेकान्त इति जैनी श्रुतिः स्मृता ॥ ८२ ॥
तस्यानेकान्तवादस्य लिङ्गं स्याच्छब्द उच्यते । तदुक्तार्थे विनाभावे लोकयात्रा न सिध्यति ॥ ८३ ॥
नयानामपि सामग्री प्रकृत्यादीनां च संहतिः । सम्यक्त्वमिति विज्ञेयं नान्यच्छ्रेयोऽस्त्यतः परम् ॥ ८४ ॥
प्रमाणनयनिक्षेपक्रमोपहितं पुनः । एकान्तैकात्मकं वस्तु भावाभावोपबृंहितम् ॥ ८५ ॥
द्रव्यार्थिकव्यवस्थायामेकं स्यात्पर्यायार्थिनः । अनेकमिति निर्दिष्टं तदेव जिनशासने ॥ ८६ ॥

समान भी नहीं है, और मनुष्य भी जीव है तब वह मिट्टी घड़े आदिके समान नहीं है। इन सब विकल्पोंके साथ स्यात् पद जोड़ने-सत्य प्राप्त ज्ञान होता है ॥ ८० ॥

इसपर कोई प्रतिवादी शंका करता है कि ऐसा होना असंभव ही है कि पहिला विकल्प भी स्याद्वाद हो दूसरा भी स्याद्वाद-मय हो, दोनों भी स्याद्वाद दृष्टिके अनुकूल हों तथा दोनों विकल्प रहनेपर भी स्याद्वाद दृष्टिकी प्रतिकूलता न होती हो ॥ ८१ ॥

यदि इन बातोंको स्वीकार कर लिया जाय तो इसका मतलब यही होगा कि आपका अनेकान्त भी एक प्रकारका शुद्ध एकान्त है ? उसकी इस शंकाका समाधान करनेके लिए ही (परमपूज्य समन्तभद्र आदि आचार्यों) ने कहा है कि अनेकान्तमें भी अनेकान्त घटता है ॥ ८२ ॥

इस अनेकान्तका प्रधान लिंग (द्योतक चिह्न) स्यात् शब्द है क्योंकि वह, यह सूचित कर देता है कि यही ज्ञान सब कुछ नहीं है। यदि स्यात् शब्दके इस अर्थकी उपेक्षा करके पदार्थोंके स्वरूपको माना जायगा तो अनेक विरोध खड़े होकर, लोक व्यवहारका चलना ही असंभव कर देंगे ॥ ८३ ॥

नैगम, संग्रह, आदि सातों नयोंके द्वारा प्राप्त किये गये परस्पर सापेक्ष; (निरपेक्ष नहीं) ज्ञान तथा प्रकृति, स्थिति, आदिके मिले हुये कार्य (ज्ञान) को ही शुद्ध सम्यक्त्व (सत्य श्रद्धा) कहा है। इस प्रकारके सत्य श्रद्धानके विना कोइ दूसरा मनुष्यका उपाय अधिक कल्याण (यथार्थ ज्ञान) नहीं कर सकता है ॥ ८४ ॥

जब ज्ञाता संसारके किसी भी पदार्थको प्रत्यक्ष, आदि प्रमाण, नैगम, आदि नय तथा नाम, स्थापना, आदि निक्षेपोंकी अपेक्षासे क्रमपूर्वक देखना प्रारम्भ करता है, तो एक ही वस्तु एक विशेषतामय तथा अनेक विशेषताओंसे पूर्ण दिखती है। जो वस्तु स्वपर्याय-भाव रूपमें सामने (सत्) आती है वही दूसरेकी अपेक्षासे अभावमय (असत्) प्रतीत होती है ॥ ८५ ॥

श्री अर्हन्त केवलीके द्वारा कथित जैन आगममें द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता होनेपर सब पदार्थ द्रव्यरूपमें एक (द्रव्यत्व-मय ही हैं किन्तु जब उन्हें पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे जाँचते हैं तो वे पदार्थ पर्याय (मिट्टीके घड़े (थाली) भेदसे अनेक हो जाते हैं ॥ ८६ ॥

पितृपुत्रादिसंबन्ध[1] एकस्मिन्पुरुषे यथा। न ह्येकस्य पितृत्वेन सर्वेषामपिता भवेत् ॥ ८७ ॥
चतुर्विधस्वभावोऽयं पर्यायो वस्तुनः स च। प्रमेयत्वं हि हेतुः स्याद्घटो दृष्टान्त उच्यते ॥ ८८ ॥
तस्मात्तत्त्वपरीक्षायामिदमेव समञ्जसम्। स्वायंभुवं प्रवचनं विद्वद्भिः समुपासितम् ॥ ८९ ॥
मिथ्यावादसमूहस्य भद्रं जैनस्य धर्मतः[2]। अमृतः स्वादुतः[3] पुंसां सुगमश्च सुमेधसाम् ॥ ९० ॥
श्रद्धां कुर्वन्ति ये तस्मिन्नेधन्ते[4] भावतश्च ये। ते सम्यग्दृष्टयः प्रोक्ताः प्रत्ययं ये च कुर्वते ॥ ९१ ॥
तन्मूले ज्ञानचारित्रे मुक्तेरेतानि साधनम्। रत्नत्रयमिदं प्रोक्तं सोपानं स्वर्गमोक्षयोः ॥ ९२ ॥

एक ही मनुष्य किसीका पुत्र होता है तथा दूसरेका पिता होता है, इस विधिसे उसके अनेक व्यक्तियोंकी अपेक्षा अनेक सम्बन्ध होते हैं। ऐसा तो कभी नहीं देखा गया है कि किसी एक आदमीका पिता होनेके कारण उसका सारे संसारके व्यक्तियों का पिता हो और उसका कोई दूसरा सम्बन्ध (पुत्र, भाई, आदि) ही न हो ॥ ८७ ॥

सापेक्षता वाद

प्रत्येक वस्तुके स्वभावको स्थूल रूपसे चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, यही स्वभाव-भेद पर्याय भी कहा जाता है। इन सबको सिद्ध करनेके लिये प्रमेयत्व (प्रमाणके द्वारा जानने योग्य होना) हेतु होता है तथा साक्षात् देखे गये घट, आदि उदाहरण होते हैं ॥ ८८ ॥

यही कारण है कि तत्त्व मीमांसाके समय स्याद्वाद ही अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है, तथा सत्यज्ञानको कराता है। इस स्याद्वादका उपदेश उन तीर्थंकरोंने दिया था जो अपनी उग्र साधनाके द्वारा पूर्णताको प्राप्त कर सके थे 'स्वयंभू' इस संज्ञाके वास्तविक अधिकारी हो सके थे ॥ ८९ ॥

यही कारण है कि सब ही दर्शनके उदार विचारकोंने इसे अपनाया है। आठों कर्मोंके विजेता केवली जिनेन्द्रोंके धर्म का अनुसरण करनेसे ही एकान्त-ग्राही मिथ्यामतोंके समूहका भी उद्धार हो जाता है। इसका आश्रय लेकर मनुष्य मरणके परे हो जाते हैं, यह कोई क्लिष्ट मार्ग नहीं है अपितु स्वाभाविक होनेके कारण विवेकी पुरुषोंके लिये अत्यन्त सरल है ॥९० ॥

माहात्म्य

जो विवेकी पुरुष स्याद्वादपर आस्था करते हैं तथा अन्तरात्मासे उसको ग्रहण करके दिनों-दिन ज्ञानको विकसित करते हैं, वेही सन्मार्ग-गामी जीव सम्यक्-दृष्टी संज्ञाको प्राप्त करते हैं, क्योंकि वे पदार्थ साक्षात्कारके इस प्रधान उपाय पर आस्था करते हैं ॥ ९१ ॥

स्याद्वाद रसायन

सत्य श्रद्धा होते ही मिथ्याज्ञान सम्यक्-ज्ञान हो जाता है तथा कदाचार अथवा अनाचार ही सम्यक्-चारित्र हो जाता है

१. क °संबन्ध। २. [धर्मकः]। ३. [स्यादतः]। ४. म तस्मिन्नेदं ते।

एतन्मृत्युजराजातिसंततातङ्कभेषजम् । निर्वाणस्वास्थ्यसंधानं पवित्रं परमं शिवम् ॥ ९३ ॥
त्रयाणां समवायेन मुक्तिमार्गः प्रशस्यते । त्रिविष्टपैकदृष्टान्तात्प्रत्येकं न प्रसिध्यति ॥ ९४ ॥
तथापि तेषु सम्यक्त्वं श्रेष्ठमित्यभिधीयते । महीसलिलजीवानां सति योगे तु जीववत् ॥ ९५ ॥
दर्शनाद्भ्रष्ट एवानुभ्रष्ट इत्यभिधीयते । न हि चारित्रविभ्रष्टो भ्रष्ट इत्युच्यते बुधैः ॥ ९६ ॥
महता तपसा युक्तो मिथ्यादृष्टिरसंयतः । तस्य सर्वज्ञसंदृष्ट्या संसारोऽनन्त उच्यते ॥ ९७ ॥
सम्यग्दृष्टेस्तु संसारो यद्युत्कृष्टो भवेत्पुनः । सागराणां तु षट्षष्टिः नातः परतरो भवेत् ॥ ९८ ॥

ये तीनों ही मिले हुए मोक्षप्राप्तिके परम उपाय हैं। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र ये तीनों ही 'रत्नत्रय' कहलाते हैं। यह रत्नत्रय तो स्वर्ग तथा मोक्षकी सीढ़ियोंके समान हैं ॥ ९२ ॥

यह रत्नत्रय जन्म, जरा, मरणके अनादि चक्रस्वरूप सांसारिक भयोंकी अचूक औषधि है तथा मोक्षरूपी परिपूर्ण स्वास्थ (स्व-आत्ममें स्थ-स्थिर अर्थात् आत्मास्वरूपमें लीन होना) को देनेवाले हैं। ये तीनों परम पवित्र हैं तथा आत्माके कल्याणकारी या मोक्ष हैं ॥ ९३ ॥

रत्नत्रय

सम्यक्-दर्शन, आदि तीनों रत्न जब किसी एक आत्मामें इकट्ठे हो जाते हैं, उस समय ही ये मोक्षके सीधे तथा शुभ मार्ग बन जाते हैं। तीनों लोकोंके; एक दृष्टान्तके समान हो इनमें से एक, एकको प्राप्त करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ ९४ ॥

तो भी इन तीनोंमें सम्यक्-दर्शनको बाकी दोनोंसे श्रेष्ठ बताया है क्योंकि किसी पदार्थ (वृक्ष) की उत्पत्तिके लिये जीव (बीज) पृथ्वी तथा, जल तीनों आवश्यक होते हैं, तो भी इन तीनोंमें दर्शन (बीज) ही प्रधान होता है क्योंकि उसके बिना शेष दो भी व्यर्थ (पौधा नहीं) हो जाते हैं ॥ ९५ ॥

दर्शनकी प्रधानता

जब कोई आत्मा सम्यक्दर्शनमें दोष लाकर उससे पतित हो जाता है तो उसे वास्तवमें भृष्ट कहा जाता है। किन्तु यदि कोई आत्मा केवल चारित्र या ज्ञान से भृष्ट हो जाता है तो शास्त्र अथवा आचार्यगण उसे भृष्ट नहीं मानते हैं ॥ ९६ ॥

कोई जीव अत्यन्त कठोर तथा विशाल तपस्याको साधनामें सफल हो चुका है किन्तु उसे सम्यक्दर्शनकी सिद्धि नहीं हुई है, तो त्रिकाल तथा त्रिलोक के ज्ञाता सर्वज्ञकी दृष्टिमें वह असंयमी ही है तथा उसका संसार भ्रमण उतना तप करनेके बाद भी अनन्तकाल पर्यन्त चलनेवाला है ॥ ९७ ॥

किन्तु जिस चारित्रहीन असंयत पुरुषको सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति हो चुकी है उसको यदि अधिकसे अधिक ही इस संसार-में भ्रमण करना पड़ा तो भी उसे यहाँपर छ्यासठ सागर प्रमाण समय पर्यन्त ही रहना पड़ेगा, इससे अधिक वह किसी भी अवस्था में इस संसारमें नहीं रह सकता है ॥ ९८ ॥

क्रियाहीनं च यज्ज्ञानं न तु सिद्धिं प्रयच्छति । परिपश्यन्यथा पङ्गुमुग्धो[1] दग्धो दवाग्निना ॥ ९९ ॥
ज्ञानहीना क्रिया चापि नात्र कार्यं प्रसाधयेत् । नेत्रहीनो यथा धावन्पतितस्त्वनलार्चिषि[2] ॥ १०० ॥
तौ यथा संप्रयुक्तौ तु दवाग्निमधिगच्छतः । तथा ज्ञानचरित्राभ्यां संसारान्मुच्यते पुमान् ॥ १०१ ॥
पुमानर्थानथाप्रेप्सुः संपन्नः साधनैरपि । दैवहीनः क्रियावांस्तु[3] न कर्मफलमश्नुते ॥ १०२ ॥
संपन्नो दैवसंपत्त्या साधनैश्च समन्वितः । पुमान्पौरुषहीनस्तु सोऽपि नार्थं स गच्छति ॥ १०३ ॥
युक्तौ विचार्यमाणायां य एवोभयवान्भवेत् । स एवेप्सितभागग्नेर्दण्डोऽरण्य[4] इवोद्भवेत् ॥ १०४ ॥

किसी आत्माको परिपूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हो चुकी हो तो भी यदि उसमें किसी भी प्रकार चारित्र नहीं है, तो उसे कभी भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है। जैसा कि प्रसिद्ध ही है कि विचारा लंगड़ा पुरुष जो कि आती हुई दावाग्निको स्पष्ट देख कर भी पैरोंसे विकल होनेके कारण उसीमें जल कर भस्म हो गया था ॥ ९९ ॥

इसी विधिसे यदि किसी आदमीका आचरण तो बहुत विस्तृत तथा निर्दोष है किन्तु ज्ञानसे दर्श-स्पर्श भी नहीं है, तो उसे भी सिद्धि न मिलेगी। उसकी वही अवस्था होगी जो कि उस अन्धेकी होती है जो आगके तापको अनुभव करके इधर-उधर भागता है और आगकी लपटमें जा पड़ता है ॥ १०० ॥

अंध-पंगु मिलन

यदि किसी संयोगवश आँखों वाला लंगड़ा और पैरों वाला अन्धा ये दोनों एक दूसरेसे मिल जायें तो वे सम्मिलित प्रयत्न करके दावाग्निसे बच कर प्राण-रक्षा कर ही लेते हैं। इसी विधिसे जब आत्मा ज्ञान तथा चारित्र दोनोंको ही प्राप्त कर लेता है तो वह विशेष प्रयत्नके बिना ही संसार दावानलसे पार हो जाता है ॥ १०१ ॥

दैव-पुरुषार्थ

संसारमें देखा जाता है कि कोई मनुष्य किन्हीं कार्योंको करना चाहता है, उन कार्योंकी सफलताके लिए उपयोगी सब साधनोंको भी वह जुटा लेता है। जब क्रमशः सब तैयारियाँ हो लेती हैं तो वह कार्यको सफल करनेके लिए पूर्ण प्रयत्न करता है। तो भी उसके हाथ असफलता ही लगती है क्योंकि दैव (पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्म) उसके अनुकूल नहीं होते हैं ॥ १०२ ॥

इसका दूसरा भी पक्ष होता है, कोई मनुष्य कार्यकी सिद्धिके लिए आवश्यक समस्त साधन सामग्रीसे सुसज्जित है, पूर्वकृत शुभकर्मोंका परिणाम भी सर्वथा उसके अनुकूल है, तो भी उसको अपने अभीष्ट कार्यमें सफलता केवल इसलिए नहीं मिलती है कि उसने पुरुषार्थको भलीभाँति नहीं किया था ॥ १०३ ॥

इन दोनों दृष्टान्तोंको जब युक्तिपूर्वक विचारते हैं तो इसी निष्कर्षपर आते हैं कि जिस पुरुषमें अनुकूल दैव तथा उपयुक्त पुरुषार्थ ये दोनों बातें होंगी वह आदर्श पुरुष निश्चयसे अपने सब ही अभीष्ट कार्योंमें सफलता प्राप्त करेगा। वैसा ही समझिये जैसा कि उस व्यक्तिका हाल होता है जो ठीक (शमी) लकड़ीके डंडोंको रगण कर वनमें भी आग उत्पन्न कर लेता है ॥ १०४ ॥

---

१. [पङ्गुमुग्धो]। २. [पतितस्त्वनलार्चिषि]। ३. क °दैवहीनक्रिया°। ४. [°भागग्नेर्दण्डो°]।

एवं जने[1] क्रियायुक्तस्त्रिगुप्तः संयतेन्द्रियः । निर्धूय सर्वसंकल्पान् ध्रुवमेत्यचलं पदम् ॥ १०५ ॥
द्रव्याणि षट् च गतिभेदसमन्वितानि युक्त्या प्रमाणनयमार्गविकल्पितानि ।
तान्येव तत्त्वपदवीसमुपाश्रितानि स्वैर्लक्षणैरभिहितानि नरेश्वरेण ॥ १०६ ॥
कालस्य हानिमथ वृद्धिमपि प्रसंख्यं संज्ञां च तस्य खलु भारतवर्षभूमौ ।
तस्यां तु कारणमहापुरुषांश्च तेषां नामादि विस्तरविहीनमतोऽभिधास्ये ॥ १०७ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
द्रव्यादिकालो नाम षड्विंशतितमः सर्गः ।

इसी प्रकार जिस पुरुषने मन, वचन तथा कायकी चेष्टाओंको वशमें कर लिया है, इन्द्रियोंको संयत कर दिया है तथा प्रति समय चारित्रके पालनमें प्रयत्नशील है, वह पुरुषार्थी आत्मा समस्त संकल्प विकल्पोंको समूल नष्ट करके उस ध्रुव तथा अडिग पदको पाता है जिसका मधुर नाम निर्वाण है ॥ १०५ ॥

उपसंहार

सम्राट- वरांगने जीव, आदि छहों द्रव्योंको उनके स्वरूप, परिणाम तथा भेदोंके सहित समझाया था। प्रमाण तथा नयके स्वरूप, उनके द्वारा पदार्थोंकी परीक्षा करनेकी शैली आदि प्रमाणोंके स्वरूपको अकाट्य युक्तियों द्वारा श्रोताओंके हृदयमें बैठा दिया था। प्रमाण-नय, आदि किस अवस्थामें तत्त्वपदको पाकर मोक्षमार्गकी दिशामें ले जाते हैं तथा रत्नत्रयकी अपनी अपनी परिभाषा तथा योग्यता क्या है इन सब विषयोंका विशद विवेचन किया था ॥ १०६ ॥

वाच्य विषय

इसके आगे बतायेंगे कि भरतक्षेत्र भूमिपर किस प्रकार काल परिवर्तन होता है उसके परिवर्तनमें कौनसे महापुरुषों (शलाका पुरुषों) का विशेष हाथ रहता है। कालोंके नाम क्या हैं, उनमें किस प्रकार आयु, बल, ज्ञान, आदिकी हानि होती है तथा इन्ही गुणोंकी वृद्धिकी भी क्या प्रक्रिया है। शलाका पुरुषोंके नाम तथा चरित्र क्या थे। इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि ये सब वर्णन विस्तारसे नहीं हो सकेंगे ॥ १०७ ॥

चारों वर्ग सलन्वित, सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
द्रव्यादिकाल नाम षड्विंशतितम सर्ग समाप्त ।

---

१. [जनौ]।

सप्तविंशः सर्गः

ततो नरेन्द्रः प्रथमानुयोगं प्रारब्धवान्संसदि वक्तुमुच्चैः ।
सभा पुनस्तस्य वचोऽनुरूपं शुश्रूषयाभावहिता बभूव ॥ १ ॥
कालायुषी क्षेत्रमतो जिनांश्च जिनान्तरं चक्रभृतस्तथैव ।
प्रख्यातवंशौ बलवासुदेवौ तयोश्च शत्रूंश्च निशामयध्वम् ॥ २ ॥
कालं पुनर्योगविभागमेति निगद्यतेऽसौ समयो विधिज्ञैः ।
संख्याव्यतीताः समयाश्च दृष्टा एका बुधैः सावलिकेति तेऽपि ॥ ३ ॥
शब्दः स एके गणनाव्यतीतास्ताः सप्तभिस्तोकमुदाहरन्ति ।
स्तोकैर्लवः सप्तभिरेव चैकस्तेनाधिकास्त्रिंशदथाष्टयुक्ताः ॥ ४ ॥

सप्तविंश सर्ग

गत अध्यायमें छह द्रव्योंका वर्णन समाप्त करनेके पश्चात्, सम्राट वरांगने अपनी राजसभामें प्रथमानुयोग (शलाका पुरुषोंका जीवन चरित्र तथा अन्य पुराण और धर्म कथाओं) का व्याख्यान प्रारम्भ किया था। उनका स्वर उच्च तथा स्पष्ट था। उनके वचन तथा उत्साहके अनुरूप ही राजसभाकी श्रद्धा तथा भाव थे, फलतः शास्त्र सुननेकी इच्छासे प्रेरित होकर वहाँ पर उपस्थित सब ही श्रोता सर्वथा सावधान और चैतन्य हो गये थे ॥ १ ।

सम्राटने सभाको सम्बोधन करते हुए कहा था कि आप लोग इस जगतके क्षेत्र-विभाग, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी आदि काल-परावर्तन; इनमें होने वाले युगप्रवर्तक तीर्थंकर, एक तीर्थंकरके निर्वाणसे लेकर दूसरे तीर्थंकर जन्म पर्यन्त पड़े सामयिक अन्तराल, चक्रवर्ती, बल (बलभद्र) तथा वसुदेव जिनके कुल इस धरणीपर प्रसिद्ध थे तथा इन सब लोगोंके प्रबल प्रतिद्वन्दियोंके वर्णनको ध्यानसे सुनें ॥ २ ॥

उत्थानिक

यद्यपि रत्नोंकी राशिमें पड़े प्रत्येक रत्नके समान कालका प्रत्येक क्षण अलग-अलग है तो भी व्यवहारिक दृष्टिसे इनके भी विभाग किये गये हैं। इस विभाजनके विशेषज्ञोंने इसके लिए समय संज्ञाका भी प्रयोग किया है। जब इतने अधिक समय बीत जाते हैं कि उनको गिनना कठिन हो जाता है, तो समयके प्रमाणकी व्यवस्था करने वाले विद्वान उस अन्तरालको 'आवलिका' अथवा आवली संज्ञा देते हैं ॥ ३ ॥

किन्हीं आचार्योंका यह भी मत है कि गणनासे परे (असंख्यात) आवलियोंके बीत जानेपर एक शब्द होता है। साधारणतया सात आवली प्रमाण समय बीतनेपर एक स्तोक होता है। सात 'स्तोक' समय बीतने पर एक 'लव' होता है और इस

एको मुहूर्तः खलु नाडिके[1] द्वौ[2] त्रिंशन्मुहूर्ता दिनरात्रिरेका ।
त्रिपञ्चकैस्तैर्दिवसैश्च पक्षः पक्षद्वयं मासमुदाहरन्ति ॥ ५ ॥
ऋतुस्तु मासद्वय एक उक्त एषां त्रयं स्यादयनं तथैकम् ।
वर्षं तथा द्वे अयने वदन्ति संख्याविभागक्रमकौशलज्ञाः ॥ ६ ॥
दशाहतां वृद्धिमतः परं तु संख्यां प्रवक्ष्यामि यथाभिधानाम् ।
एकं दशैवाथ शतं सहस्रं दशाहतं तद्ध्युतं वदन्ति ॥ ७ ॥
दशाहतं तं त्वयुतं हि लक्ष्या शताहतां तां च वदन्ति कोटीम् ।
लक्ष्या ह्यशीति त्वधिका चतुर्भिः पूर्वाङ्गमेकं मुनिभिः प्रदिष्टम् ॥ ८ ॥

कालवर्णन

लवके प्रमाणसे आठ युक्त तीस अर्थात् अड़तीस[3] [अड़तालीस] लवोंसे कुछ अधिक समय तक बीत जानेपर एक मुहूर्त होता हैं ॥ ४ ॥

एक मुहूर्त दो नाड़ीके बराबर होता है। एक दिन तथा रात्रिमें कुल मिलाकर तीस मुहूर्त होते हैं। पाँच दिन-रातके प्रमाण समयमें तीनका गुणा करनेपर अर्थात् पन्द्रह दिन-रातका एक पक्ष होता है, तथा मास उसे कहते हैं, जिसमें दो पक्ष (पखवारे) अथवा तीस दिन-रातका बीते हों। एक ऋतुमें दो मास होते हैं ॥ ५ ॥

समय विशेषज्ञोंका कथन है कि तीन ऋतुएँ बीत जानेपर अयन (सूर्यकी दक्षिण तथा उत्तर गति) होता है। दो पूरे अयन समाप्त होनेपर एक वर्ष होता है। इस विधिसे समयका विभाग करके विशेषज्ञोंने समयके परिणामको निश्चित करनेका प्रयत्न किया है ॥ ६ ॥

इसके आगे आचार्योंने जो प्रमाण दिये हैं वे सब एक दूसरेसे (अथवा पहिलेसे अगला) दश गुने हैं क्योंकि ऐसा करने से संख्या देनेमें सरलता रहती है। एक प्रारम्भ करनेका मूल स्थान है, इससे दशगुना दश हैं, दशके दशगुने सौ हैं, दश सौ एक एक हजार होते हैं तथा हजारमें भी दशका गुणा करनेपर दश हजार होते हैं, इन्हें शास्त्रोंमें 'अयुत' संज्ञा दी है ॥ ७ ॥

एक अयुतको दशसे गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है उसको लक्ष (लाख) कहते हैं। एक लाखको सौसे गुणा करने पर जो प्रमाण आता है उसे कोटि (करोड़) कहते हैं। एक लाखमें अस्सीका गुणा करनेपर जो आये उसमें चार लाख और जोड़ देनेपर जो (चौरासी लाख) प्रमाण होता है उसको शास्त्रोंके विशेषज्ञ मुनियोंने 'पूर्वांग' संज्ञा दी है ॥ ८ ॥

१. म नाधिके । २. [द्वे] । ३. अड़तालीस ।

कृतिस्तु तस्यैव हि पूर्वमेकं पूर्वाङ्गमाहुः कृतिताडितं तत् ।
तेनाहतं तच्च हि सर्वमेकं[1] सर्वाहतं चापि [घ] नाङ्गमाहुः ॥ ९ ॥
ततः परं तस्य परस्परेण गुण्यं च विन्द्याद्गुणकारकं च ।
तेषां तु संज्ञाः क्रमतः प्रवक्ष्ये पृथक्पृथक्पूर्वमुनिप्रणीताः ॥ १० ॥
ततो नतं तन्नलिनाङ्गमस्मात्ततश्च भूयो नलिनं निराहुः ।
ते द्वे महाशब्दयुते च पूर्वे पद्मं ततः स्यात्कमलं च तस्मात् ॥ ११ ॥
ततः परं तत्कुमुदं तुटीयं ततश्च भूयोऽथ टटं निराहुः ।
ततश्च विद्यां डमनं[2] तथाहं[3] महं ततस्त्यात्प्रयु[4]तं प्रतर्क्यम् ॥ १२ ॥

गणनाक्रम

उसकी (पूर्वांगकी) ही एक कृति (वर्ग-बीस गुना) को पूर्व कहते हैं तथा पूर्वमें कृतिका गुणा करते पूर्वांग हो जाता है। एक पूर्वमें एक पूर्वांगका गुणा कर देनेसे एक सर्व आता है तथा एक सर्व में पूर्वांगका गुणा करनेसे एक धनांग होता है ॥ ९ ॥

इसके आगे यही नियम समझना चाहिये कि अन्तिम संख्या (गुण्य) में उससे पहिलेकी संख्या (गुणक) का गुणा करने से आगे-आगेके प्रमाण निकल आते हैं। इस विधिसे जो समयकी संख्याएँ निकलती हैं उनके नामोंको इसके बाद उसी उसी ढंग तथा क्रमसे कहता हूँ कि जिस क्रमका अनुसरण करके तपोधन ऋषियोंने समस्त संख्याओंके अलग-अलग प्रमाण निकाले थे ॥१०॥

पर्वमें धनांगका गुणा करनेपर 'नत' होता है, नतके बाद 'नलिनांग' प्रमाण आता है, इसके आगे उक्त प्रक्रियाका अनुसरण करनेपर 'नलिन' होता है। इसके उपरान्त 'पद्म' प्रमाण निकलता है। पद्मके बाद 'महापद्म' निकलता है। पद्म तथा महापद्मका गुणा करनेपर 'कमल' प्रमाण निकलता है ॥ ११ ॥

महापद्ममें कमलका गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है उसकी संज्ञा 'कुमुद' है। कमल और कुमुदका गुणा करनेपर 'तुटीय' होता है। कुमुद तथा तुटीयका गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है उसे 'टट' कहा है। इसके आगे उक्त विधिसे ही विद्या, डमन, अहें, मह (अथवा महत्) आते हैं। इसके आगे जो संख्या आयी है उसे 'प्रयुत' नाम दिया गया है ॥ १२ ॥

१. क पर्वमेकं। २. क दमनं। ३. क तदाहं। ४. [महत्ततः स्यात्]।

ततः शिरोषं त्वतिसंयुतं च प्रहेलिका चापि च चर्चिका च ।
संख्याव्यतीतं च ततः प्रमाणमौपम्यगम्यं मुनयो वदन्ति ॥ १३ ॥
संख्येयमादौ प्रवदन्ति तज्ज्ञास्ततस्त्वसंख्येयमनन्ततां च ।
एकैकमेषां त्रिविधप्रकारं नवप्रकारं द्वयमामनन्ति ॥ १४ ॥
व्यवहारपल्यं प्रथमं वदन्ति न तेन किंचिद्व्यवहार्यमस्ति ।
उद्धारपल्यं च ततो द्वितीयमद्धारपल्यं ज पुनस्तृतीयम् ॥ १५ ॥
विष्कंभमानं खलु योजनं स्यात्परिक्षिपन्तं त्रिगुणाधिकं च ।
उत्सेधतो योजनमेव यस्य तत्पल्यमाहुर्गणितप्रधानाः ॥ १६ ॥
एकाह्निकं सप्तदिनानि यावज्जातस्य रोम्णां खलु बर्करश्च[1] ।
अनेककल्पप्रतिखण्डितानां निरन्तरं तिन्दुसमं प्रपूर्णम् ॥ १७ ॥

इसके बाद शिरोष, अतिसंयुत, (अथवा अतिशिरोष) प्रहेलिक तथा चर्चिक संख्याएँ निकलती हैं। चर्चिका अन्तिम संख्या-प्रमाण है। इसके आगे जो प्रमाण हैं उन्हें अंकों द्वारा नहीं कहा जा सकता है। (असंख्य) ज्ञानी मुनियोंका कथन है कि उन सबका प्रमाण सादृश्य (उपमा) देकर ही समझाया जा सकता है वे उपमा-प्रमाण हैं ॥ १३ ॥

संख्याशास्त्रके पंडितोंका मत है कि संख्यात (जिनके अन्तिम प्रमाणको बता चुके हैं) उपमा-प्रमाणका मूल है। उससे आगे बढ़ते ही असंख्यात हो जाता है और बढ़ते-बढ़ते अनन्त तक जाता है। इन संख्यात, असंख्यात तथा अनन्तमें प्रत्येकके तीन-तीन[2] भेद हैं। इस प्रकार सब मिलकर नौ (सात) होते हैं। ये भी दो, दो प्रकारके हैं अतएव समूहित संख्या अठारह चौदह हो जाती है ॥ १४ ॥

उपमा प्रमाण

उपमा-प्रमाणके प्रथम भेदके सर्वप्रथम प्रभेदका नाम व्यवहार-पल्य है। यद्यपि इसका नाम व्यवहार-पल्य है तो भी इससे कोई व्यवहार नहीं मिलता है क्योंकि इसमें किसी काल या वस्तुका प्रसाण नहीं दिया है। व्यवहार पल्यके आगे उद्धार-पल्य गिनाया है तथा इस शृंखलामें अद्धापल्य तीसरा अथवा अन्तिम है ॥ १५ ॥

गणित शास्त्रके आचार्योंने पल्यके प्रमाणको इस क्रमसे बताया है—एक गोल गर्त खोदिये जिसके विष्कम्भ (व्यास) का प्रमाण एक योजन हो, आपाततः उसकी परिधि व्यासके तिगुनेसे भी अधिक होगी। इस गर्तकी गहराई भी पूरी एक योजन होती है। इस गर्तको ही पल्य कहते हैं ॥ १६ ॥

जिन बकरोंको जन्म के एक दिनसे लेकर अधिकसे अधिक सात दिन हुये हैं उनके कोमल रोमोंको लेकर अत्यन्त सूक्ष्म

१. [बर्करस्य]। २. संख्यात के सिवाय असंख्यात-अनन्त ही परीत, युक्त तथा द्विक हैं।

पूर्णे तथा वर्षशते च तस्मादेकैकमुद्धृत्य हि लोमखण्डम् ।
निष्ठां प्रयाते खलु रोमराशौ पल्योपमं तं प्रवदन्ति कालम् ॥ १८ ॥
तेषां पुनः स्यादथ पल्यनाम्नां दशाहृतां सा खलु कोटिकोटिः ।
प्रमाणमेतत्खलु सागरस्य निगद्यते वीतमलैर्जिनेन्द्रैः ॥ १९ ॥
ततश्च तस्माद्व्यवहारपल्याद्वालाग्रमेकं परिगृह्य सूक्ष्मम् ।
अनेककोटयब्दविखण्डितं तत्तस्यातिपूर्णं निचितं समन्तात् ॥ २० ॥
पूर्णे समासान्तशते[1] ततस्तु एकैकशो रोम समुद्धरेच्च ।
क्षयं च जाते खलु रोमपुञ्ज उद्धारपल्यस्य हि कालमाहुः ॥ २१ ॥

टुकड़े किये जांय। जब वे और काटने योग्य न रहें तो उन रोमोंके टुकड़ोंसे उक्त गर्तको उसी तरह ठसाठस भर दें जैसा कि तिन्दु (अलावा) भरा जाता है ॥ १७ ॥

इस विधिसे उक्त गर्त (पल्य) को भरा जानेपर जब एक सौ वर्ष व्यतीत हो जाएं तो एक रोम खण्ड निकाला जाय। इस प्रक्रियासे एक एक रोम खण्डको निकालते-निकालते जितने समयमें पूरा पल्य खाली हो जाय और एक भी रोम शेष न रह जाय उस विशाल समयको राशिको 'पल्य' कहते हैं ॥ १८ ॥

व्यवहार-पल्य

करोड़कोटिको कोटिसे गुणा करनेपर कोटि-कोटि संख्या निकलती है। पल्यके समयके प्रमाणमें दस कोटि-कोटिका गुणा करनेपर जो अपरिमित समय राशि आवेगी, उतने भारी समयको आठों कर्मों रूपी मलिनताको नष्ट करने वाले श्री एक-हजार-आठ जिनेन्द्र देवने सागरका प्रमाण कहा है ॥ १९ ॥

व्यवहार पल्यके गर्तमें जो रोम भरे गये थे। उनमेंसे अलग-अलग एक-एक रोम-खण्डको अनेक करोड़ वर्षों पर्यन्त टुकड़ा-टुकड़ा किया जाय। इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म रोमके खण्डोंसे दूसरे गर्तको भरा जाय। इस विधिसे गर्त परिपूर्ण हो जानेपर सौ-सौ वर्षों बाद उसमें से एक-एक रोम खण्ड निकाल कर बाहर किया जाय ॥ २० ॥

इस प्रक्रियाके अनुसार जितने समयमें रोम राशि समाप्त हो जाये, उन समस्त वर्षोंके प्रमाणको शास्त्रकारोंने उद्धार-पल्यका समय कहा है ॥ २१ ॥

---

१. म समाशान्त° ।

पल्योपमानां खलु कोटिकोटी दशाहृता सागरमेकमाहुः ।
अनेन मानेन मिता मुनीन्द्रैर्द्वीपाः समुद्रा द्वितियार्धसंख्याः ॥ २२ ॥
उद्धारपल्यात्प्रतिगृह्य चैकं तद्रोमखण्डं शतशः प्रकल्प्यम् ।
अनेककोटयब्दमुहूर्तखण्डं पूर्णं च तेषां निचितं च पल्यम् ॥ २३ ॥
पाते तथैवाब्दशते क्रमेण रोमैकमेकं तत उद्धरेच्च ।
निष्ठां प्रयाते खलु रोमराशावद्धारपल्यं समुदाहरन्ति ॥ २४ ॥
तेषां दशघ्ना खलु कोटिकोटी तन्मानमाहुः किल सागरस्य ।
दिवौकसां नारकपुंस्तिरश्चामिति स्थितिः कर्मभवाभुवां[1] च ॥ २५ ॥

उद्धारपल्य

जैसा कि पहिले कह चुके है कि कोटि-कोटि प्रमाण पल्योंको दशका गुणा करनेपर जो समय आता है वह एक सागर कहा जाता है। मुनियोंके मुकुटमणि श्री केवली भगवान्ने सागरोंमें ही दो तथा आधे अर्थात् ढाई [द्वीप]के प्रमाण मध्यलोकके समस्त द्वीपों और समुद्रोंकी संख्या कही है ॥ २२ ॥

कल्पना कीजिये कि उद्धारपल्यके गर्तमें भरे गये रोमके एक खण्डको निकाल कर उसके उतने टुकड़े करें जितने कि कोड़ा-कोड़ि वर्षोंके मुहूर्तोंमें हो सकते हैं। फिर इन सब टुकड़ोंको लेकर पूर्वोक्त प्रमाणके गर्तको खूब ठोक ठोक कर भर देवे और जब पल्य (गर्त) भार जाये ॥ २३ ॥

अद्धापल्य

जैसा कि पहिले कह चुके हैं उसी क्रमसे जब सौ वर्ष बीत जांय तो गर्तमें से एक रोम खण्ड निकाले। इस गतिसे एक, एक रोम तब तक निकालता रहे जब तक कि समस्त रोम राशि समाप्त न हो जाय। इस विधिसे पल्यको खाली करनेमें जितना समय लगे उसको 'उद्धापल्य' कहते हैं ॥ २४ ॥

दश कोटि कोटिसे गुणित उद्धापल्यके समयकी राशिसे जो गुणनफल आयेगा वही समयका सागर प्रमाण होगा। सौधर्म आदि स्वर्गोंमें उत्पन्न देव, सातों नरकोंके नारकी मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंकी आयुको संख्या इन्हीं सागरों के द्वारा शास्त्रोंमें बतायी गयी है (पल्य तथा सागरके व्यवहार, उद्धार तथा अद्धाभेद हैं ॥ २५ ॥

१. क कर्मभवाभवां ।

ततस्तु तेषां खलु सागराणां दशाहृतास्ता अपि कोटिकोटीः ।
उत्सर्पिणीं तां प्रवदन्ति तज्ज्ञा भूयस्ततस्तामवसर्पिणीं च[1] ॥ २६ ॥
उत्सर्पिणी वाप्यवसर्पिणी च अनाद्यनन्ताविह यौतकाले[2] ।
तौ भारतैरावतयोः प्रदिष्टौ पक्षौ यथैवात्र हि शुक्लकृष्णौ ॥ २७ ॥
सुशब्दपूर्वास्तु भवन्ति तिस्रो दुस्सूपसर्गं प्रहिते समे द्वे ।
तथातिदुर्भ्यां सहिता समैका एकस्य कालस्य हि षट् प्रभेदाः ॥ २८ ॥
आद्यश्च[3] संख्याः कथिताश्चतस्रस्ततो द्वितीयस्य पुनश्चतस्रः ।
ततो द्वितीयस्य पुनश्च तिस्र उदाहृते द्वे च तृतीयकस्य ॥ २९ ॥

असंख्य वर्षोंकी राशि रूप सागरमें कोटि-कोटिका गुणा करके फिर उसमें दशका गुणा किया जाय और जो फल आवे उतने विशाल समयको संसार-परिवर्तनके पंडित उत्सर्पिणी (विकासशील) काल कहते हैं। तथा जिस क्रमसे विकास हुआ था उसी क्रमसे घटते-घटते जब सृष्टि वहीं पहुँच जाती है जहाँसे प्रारम्भ किया था उस समय (दश कोडाकोड़ि सागर प्रमाण) को अवसर्पिणी (ह्रासशील) काल कहते हैं ॥ २६ ॥

युगचक्र

इस प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामसे जो दो विशाल कालके प्रमाण कहे हैं ये दोनों एक दृष्टिसे अनादि और अनन्त हैं। इन दोनों कालोंका पूरा चक्कर हमारे जम्बूद्वीपके भरत तथा ऐरावत क्षेत्रों दोनोंमें उसी विधिसे लगता है जिस गति-विधिके साथ हम लोगोंके प्रत्येक चांद्र-मासमें शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष लगते हैं ॥ २७ ॥

प्रत्येक उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी क्रमशः छह, छह उपकालोंमें विभाजित हैं। इन छह भेदोंमें पहिले तीन कालोंके पहिले विशेषण रूपमें 'सु' शब्द लगा हुआ है (सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा) इनके आगेके दो भेदोंके साथ 'दु' तथा 'सु' दोनों उपसर्गोंका प्रयोग हुआ है (दुषमा-सुषमा, दुषमा) तथा अन्तिम छठे भेदके पहिले अति तथा 'दुःदुः' उपसर्ग लगे हुए हैं (अति दुःषमा अथवा दुःषमा-दुषमा) ॥ २८ ॥

युगोंके नाम

प्रथम काल सुषमा-सुषमाका प्रमाण चार कोटि-कोटि सागर प्रमाण है, दूसरे परिवर्तन अर्थात् अवसर्पिणीके सुषमा-सुषमा आदि कालोंका भी यही प्रमाण है। दूसरे विभाग सुषमाका प्रमाण तीन कोड़ाकोडि सागर प्रमाण है तथा तीसरे सुषमा-दुःषमाका समय दो कोड़ाकोडि सागर हो है ॥ २९ ॥

१. क °सर्पिणीं तां । २. [यौ च कालौ] । ३. [आद्यस्य] ।

स्यात्सागराणां खलु कोटिकोटयश्चतुर्थकालस्य हि कोटिकोटी ।
सप्ताहता षट् च सहस्रहीना त्रिसप्तसप्ताष्टसमासहस्रम् ॥ ३० ॥
स्यान्मानमेतत्किल पञ्चकस्य षष्ठस्य कालस्य तदेव मानम् ।
त्रैकाल्यविद्भिः कथितं यथावच्चतुर्थकालस्य हि मध्यकाले ॥ ३१ ॥
उत्पेदिरे कारणमानुषास्ते जिनाश्चतुर्विंशति तत्र जाताः ।
ते चक्रिणो द्वादश राजवर्या नव प्रदिष्टा खलु वासुदेवाः ॥ ३२ ॥
नवैव तेषां प्रतिशत्रवश्च प्रतिश्रुतिश्चैव हि संमतिश्च ।
क्षेमंकरस्तत्र तृतीय आसीत्क्षेमंधरश्चापि चतुर्थकः स्यात् ॥ ३३ ॥

तृतीय काल तकका प्रमाण जैसा कि अभी कहा है कोड़ाकोड़ि सागर प्रमाण ही है, किन्तु चतुर्थ कालका प्रमाण छह में सातका गुणा करनेपर जो (ब्यालीस) आवे उतने (ब्यालीस) हजार वर्ष हीन एक कोड़ाकोड़ि सागर है। अर्थात् चौथा-पांचवा एवं षष्ठ कालका मिलकर एक सागर मात्र है ॥ ३० ॥

पञ्चम काल दुःषमाका प्रमाण सातमें तीनका गुणा करनेपर जो आवे उतने हजार वर्ष (इक्कीस हजार) है तथा छठे काल दुषमा-दुषमाका प्रमाण भी उतने (इक्कीस) हजार वर्ष शास्त्रोंमें मिलता है। तीनों लोकों तथा तीनों कालोंके द्रव्यों तथा पर्यायोंके ज्ञाता अर्हन्त केवलीने अपनी दिव्य ध्वनिमें कहा था कि चतुर्थ काल दुःषमा-सुषमाके आधे भागके बीत जानेके उपरान्त उसके ठीक मध्य समयमें ही ॥ ३१ ॥

युग प्रमाण

इस भारत क्षेत्रमें जो कि हम लोगोंकी पुण्य तथा पितृभूमि है वे चौबीस महापुरुष उत्पन्न हुये थे जो कि भोगभूमिके नष्ट हो जानेके बाद मनुष्य वर्गको कर्मभूमिके लिये आवश्यक जीविका तथा जीव उद्धारके मार्गपर चलानेमें कारण हुये थे। अनादि-कालसे बँधे हुये आठों कर्मोंको नष्ट करके जिन्होंने सार्थक 'जिन' नामका प्राप्त करके मुक्तिको प्रस्थान किया था।

शलाका पुरुष

—चौबीस तीर्थंकरोंके तीर्थकालमें ही भरत आदि बारह चक्रवर्ती उत्पन्न हुये थे, नौ वासुदेव बलभद्र तथा नौ ही नारायणोंका भी आविर्भाव हुआ था ॥ ३२ ॥

नारायणोंके भयंकर शत्रु श्रेष्ठ राजाओंकी भी संख्या नौ ही है इन्हें शास्त्रोंमें प्रति-नारायण शब्दसे कहा है जिस समय भोगभूमिका ह्रास होने लगा था उस समय सबसे पहिले प्रतिश्रुति नामके गणनायक हुये थे, उनके बाद सन्मतिका आविर्भाव हुआ था। तीसरे पथप्रदर्शकका नाम क्षेमंकर था उनके उत्तराधिकारी जननेता श्री क्षेमंधर चौथे महापुरुष थे ॥ ३३ ॥

सीमंकरः पञ्चमको बभूव सीमंधरः षष्ठ उदाहृतश्च ।
ततश्च राजामलवाहनः स्याच्चक्षुष्मता तेन तथाष्टमस्तु[1] ॥ ३४ ॥
ततो यशस्वानभिचन्द्रसंज्ञश्चन्द्राभनामा मरुदेवसाह्वः ।
प्रसेनजिन्नाभिरनन्तरश्च ततः प्रसूतो वृषभो महात्मा ॥ ३५ ॥
तस्याग्रपुत्रो भरतो बभूव एते स्मृता वंशकरा विशिष्टाः ।
यशस्विनः षोडशभूमिपालास्त एव लोके मनवः प्रदिष्टाः ॥ ३६ ॥
नाभेय आद्योऽजितशंभवौ च ततोऽभिनन्दः सुमतिर्यतीशः ।
पद्माभनामा च तथा सुपार्श्वः चन्द्रप्रभश्चैव हि पुष्पदन्तः ॥ ३७ ॥

चौदह मनु

पाँचवें मनुका नाम सीमंकर था। कर्मभूमिके छठे पथप्रदर्शक सीमंधर नामसे सुविख्यात थे। श्रीसीमंकर पंचम कुलकर थे। तथा छठे को सीमंधर कहा है इसके उपरान्त राजा अमल (विमल)-वाहनने अपने तेजके द्वारा मनुष्योंको व्यवस्था की थी। राजा अमल वाहनके स्वर्ग सिधार जानेके उपरान्त आठवें व्यवस्थापक श्रीचक्षुष्मान् हुये थे। चक्षुष्मान्के शरीर त्यागके उपरान्त आगे कहे गये चार महापुरुषों कुलकरोंने प्रजाकी यथाशक्ति प्रगति की थी ॥ ३४ ॥

नौवेंका नाम यशस्वी, दशमें को जनता अभिचन्द्र संज्ञासे जानती थी, ग्यारहवें चन्द्राभ नामसे ख्यात थे तथा बारहवें का आकर्षक नाम मरुदेव था। तेरहवें जनगणनायकका शास्त्रोंने प्रसेनजित नामसे उल्लेख किया है तथा अन्तिम महापुरुष श्री नाभिको कौन नहीं जानता है, क्योंकि इस युगके आदि पुरुष श्री ऋषभदेव उन्हींसे उत्पन्न हुये थे। ये चौदह कुलकर महापुरुष ऐसे थे कि इन्हींसे समस्त पूज्य वंश चले हैं ॥ ३५ ॥

प्रथम तीर्थंकर श्री पुरुदेवके ज्येष्ठ पुत्र महाराज भरत चक्रवर्ती थे। प्रजाकी हितसाधना करके इन्होंने निर्मल, विपुल यश कमाया था। भोगभूमिके क्रमिक ह्रासके कारण प्रजा दुखी हो गयी थी पृथ्वीपर अव्यवस्था छा गयी थी, उस अव्यवस्थाके युगमें इन लोगोंने पृथ्वीका संरक्षण किया था। यही कारण है कि ये महापुरुष हमारे जगतमें मनु (स्वयं जाता) नामसे विख्यात हैं ॥ ३६ ॥

हमारे चतुर्थ कालमें नाभि महाराजके पुत्र श्रीऋषभदेव सबसे पहिले तीर्थंकर हुये थे। उनके बहुत समय बाद दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथ तथा तीसरे श्री शंभवनाथका आविर्भाव हुआ था। श्री अभिनन्दननाथ चौथे तीर्थंकर थे। यतियोंके ईश श्री सुमतिनाथ पाँचवें तीर्थंकर थे। छठें तीर्थंकरका शुभनाम श्री पद्माभ था, सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ थे। भगवान सुपार्श्वनाथके उपरान्त अष्टम तीर्थंकर श्रीचन्द्रप्रभुका आविर्भाव हुआ था ॥ ३७ ॥

१. क तथोष्टमस्तु, [ततोऽष्टमस्तु]।

श्रीशीतलाख्यो मुनिराजकेतुः श्रेयो जिनेन्द्रो वरवासुपूज्यः ।
ततो जिताशो विमलो यतीशोऽप्यनन्तजिद्धर्मजिनौ च शान्तिः ॥ ३८ ॥
कुन्थुस्त्वरो मल्लिरतुल्यवीर्यः श्रीसुव्रतोऽयो नमिरिन्द्रवन्द्यः ।
अरिष्टनेमिस्त्वथ पार्श्वदेवः श्रीवर्धमानेन जिनाः प्रदिष्टाः ॥ ३९ ॥
आद्यश्च चक्री भरतेश्वरोऽभूत्ततो द्वितीयः सगरो महात्मा ।
तृतीय आसीन्मघवान्नरेन्द्रः सनत्कुमारश्च चतुर्थकोऽभूत् ॥ ४० ॥
शान्तिश्च कुन्थुस्त्वथ सप्तमोऽरः सुभौमनामा च महादिपद्मः ।
हरिश्च तस्माज्जयसेननामा श्रीब्रह्मदेवश्च ततोऽन्तिमोऽभूत् ॥ ४१ ॥

चौबीस तीर्थंकर

भगवान् पुष्पदन्त नौवें तीर्थंकर थे। दशम तीर्थंकर श्री शीतलनाथ प्रभु परम तपस्वी मुनिराजोंके द्वारा परमपूज्य थे। एकादशम तीर्थंकर श्री श्रेयान्सनाथ मूर्तिमान कल्याण ही थे। महाराज वासुपूज्य तीर्थंकरकी विशिष्टताके विषयमें तो कहना ही क्या है क्योंकि उन बालयतिके चरणोंमें इन्द्रादि देव भी लोटते थे। श्री विमल तीर्थंकरने आशाओंको विमल कर दिया था। भगवान् अनन्तनाथ साक्षात् यतीश थे। मूर्तिमान धर्मके समान श्री धर्मनाथ तथा विश्वशान्तिके प्रतिष्ठापक श्री शान्तिनाथ क्रमशः पन्द्रहवें और सोलहवें तीर्थंकर थे। श्री शान्तिनाथके बाद कुन्थुनाथ और अरनाथ तीर्थंकर हुये थे ॥ ३८ ॥

उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ 'यथा नाम तथा गुण' थे क्योंकि उनके बलवीर्यकी कोई सीमा ही न थी। उनके उपरान्त श्रीसुव्रत (मुनिसुव्रत) नाथने धर्मका प्रचार किया था। श्रीनमिदेवके चरणोंको पूज कर इन्द्रने अपनी पर्याय सफल की थी। बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथको कौन नहीं जानता है वे समस्त अरिष्टोंके लिए उपरोधक ही हैं। तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ तथा अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान जिन तो आज भी हमारे सामने ऐतिहासिक हैं ॥ ३९ ॥

श्री आदिनाथके पुत्र महाराज भरत इस चक्रवर्ती युगके सबसे पहिले चक्रवर्ती थे। उनके पीछे महाराज सगरने षट्खंड भरत क्षेत्रको विजय करके दूसरे चक्रवर्तीका पद पाया था। तीसरे चक्रवर्ती महाराज मघवान थे तथा चौथे चक्रवर्ती श्री सनत्कुमार थे जो कि वास्तवमें मनुष्योंके इन्द्र ही थे ॥ ४० ॥

बारह चक्रवर्ती

सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ पाँचवें चक्रवर्ती थे भगवान् कुन्थुनाथ तीर्थंकर छठे चक्रवर्ती थे। तीर्थंकर श्री अरनाथ भी सातवें चक्रवर्ती थे। इन तीनों तीर्थंकर चक्रवर्तियोंके पीछे सुभौम तथा महापद्म क्रमशः आठवें और नौवें चक्रवर्ती हुये थे। महाराज हरि [षेण] दशम चक्रवर्ती थे। उनके स्वर्ग जानेके काफी समय बाद श्री जयसेन हुये थे तथा श्री ब्रह्मदेव अन्तिम चक्रवर्ती हुये थे ॥ ४१ ॥

आद्यस्त्रिपिष्टश्च ततो द्विपिष्टस्तस्मात्स्वयंभूः पुरुषोत्तमश्च ।
नृसिंहनामापि च पुण्डरीको दत्तश्च नारायणकृष्णसाह्वः ॥ ४२ ॥
गुणैरुपेतो विजयोऽचलश्च धर्मस्ततोऽभूदथ सुप्रभश्च ।
ततः सुदृष्टोऽपि च नन्दिनामा स्यान्नन्दिमित्रश्च हि रामपद्मौ ॥ ४३ ॥
ग्रीवोऽश्वपूर्वस्त्वथ तारकश्च समेरको वै मधुकैटभश्च ।
ततो निशुम्भो बलिपार्थिवश्च प्रह्लादको रावणकृष्णशत्रू ॥ ४४ ॥

नौ वासुदेव (नारायण)

इस युगके सर्वप्रथम वासुदेवकी ख्याति त्रिपिष्ट नामसे थी। उनके उपरान्त द्विपिष्ट दूसरे वासुदेव हुये थे, तीसरे वासुदेव को जनता स्वयंभू नामसे जानती थी। चतुर्थ वासुदेवको पुराणकारोंने पुरुषोत्तम संज्ञाके द्वारा उल्लेख किया है। पाँचवें वासुदेव श्रीपुरुष-सिंह 'यथा नाम तथा गुणा' थे। छठे वासुदेव श्री (पुरुष) पुण्डरीक थे। इनके उपरान्त श्रीपति-(पुरुष) दत्त तथा नारायण (लक्ष्मण) क्रमशः सातवें आठवें वासुदेव थे तथा श्रीकृष्णजी अन्तिम (अर्द्ध चक्री) वासुदेव थे ॥ ४२ ॥

प्रथम नारायण श्री विजय गुणोंके भण्डार थे, उनके उपरान्त अचल दूसरे नारायण हुये थे। अचलके बाद काफी समय बीत जानेपर नारायण श्री (सु-) धर्मका आभिर्भाव हुआ था। इनके भी इस संसारसे सिधार जानेके बाद चौथे नारायण सुप्रभ की प्रभासे यह देश भासित हो उठा था। इसके बाद भरतक्षेत्र पाँचवें नारायण श्री सु-दृष्ट (-दर्शन) की क्रीड़ास्थली बना था। छठे नारायणका नाम नन्दि था, सातवें नन्दिमित्र नामसे ख्यात थे, आठवें सुप्रसिद्ध राम थे तथा अन्तिम नारायणका नाम श्री पद्म (बलदेव) था ॥ ४३ ॥

प्रति नारायण

प्रथम प्रतिनारायणके नाममें ग्रीवशब्दके पहिले अश्व आता था अर्थात् उनका नाम अश्वग्रीव था। दूसरे महापुरुष तारक थे। तीसरे प्रतिनारायण समेरक (मेरक) नामसे ज्ञात थे। चौथे मधुकैटभकी ख्याति भी कम नहीं है। इनके इस संसार से सिधार जानेके बहुत समय बाद निशुम्भका आतंक फैला था। राजा बलिका तो कहना ही क्या है। प्रह्लाद (प्रहरण) सातवें प्रतिहारायण थे। रावण रामके शत्रु थे तथा श्रीकृष्णके प्राण वियोगके कारण श्री जरतसिंध अन्तिम प्रतिनारायण थे ॥ ४४ ॥

नाभेयतीर्थे भरतो बभूव तथाजितोऽभूत्सगरो[1] नृपेन्द्रः ।
त्रिपिष्ट आसीत्खलु शैतले च द्विपिष्टकः श्रेयसि तीर्थजातः ॥ ४५ ॥
अभूत्स्वयंभूर्भवरवासुपूज्ये स वैमले वै पुरुषोत्तमश्च ।
दातुश्च[2] तीर्थे मघवान्नृपेन्द्रः सनत्कुमारो नरसिंहराजः ॥ ४६ ॥
शान्तिश्च कुन्थुस्त्वरराट्त्रयोऽपि आर्हन्त्यचक्रत्वगुणोपपन्नाः ।
श्रीपुण्डरीकश्च सुभौमराजोऽप्यरस्य तीर्थे तु बभूवतुस्ते[3] ॥ ४७ ॥
श्रीमल्लितीर्थे च महादिपद्म[4] नारायणो दत्तहरी[5] च जातः ।
नमेः सुतीर्थे जयधर्मकृष्णे स ब्रह्मदत्तश्च बभूव नेमेः (?) ॥ ४८ ॥

तीर्थंकर काल तथा वासुदेवादि चक्रवर्ती

इस युगके आदि पुरुष महाराज श्री ऋषभदेव तीर्थंकरके कालमें प्रथम चक्रवर्ती श्री भरतजी हुये थे। दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथके तीर्थंकालमें ही महाराज सगर चक्रवर्तीने षट्खण्डकी विजय की थी। प्रथम वासुदेव श्री त्रिपिष्टका आविर्भाव दशम तीर्थंकर श्री[1] शीतलनाथके तीर्थंकालमें हुआ था। श्री श्रेयान्सनाथके तीर्थंकालमें ही द्वितीय वासुदेव द्विपिष्टका राज्य हुआ था ॥ ४५ ॥

परमपूज्य बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्यके तीर्थंकालमें तृतीय वासुदेव स्वयंभूने राज्य किया था तथा तेरहवें तीर्थंकर श्री विमलनाथके तीर्थंकालकी शोभा पुरुषोत्तम नाम चतुर्थ वासुदेवने बढ़ायी थी। परमदानी श्री[3] धर्मनाथ तीर्थंकरके कालमें तृतीय चक्रवर्ती महाराज मघवानका सम्राज हुआ था। पन्द्रहवें तीर्थंकरके तीर्थंकालमें ही चौथे चक्रवर्ती श्री सनत्कुमार तथा पञ्चम वासुदेव श्री नृसिंह हुये थे ॥ ४६ ॥

सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ, सतरहवें श्री कुन्थुनाथ तथा अठारहवें श्री अरनाथ ये तीनों महात्मा तीर्थंकर तथा चक्रवर्तीके गुणों और शक्तियोंसे सम्पन्न थे। षष्ठ वासुदेव श्री पुण्डरीक तथा अष्टम चक्रवर्ती श्री सुभौम इन दोनों शलाका पुरुषोंका प्रताप भगवान अरनाथके तीर्थंकालमें (अर-मल्लिनाथ जिनके अन्तरालमें) ही चमका था ॥ ५७ ॥

उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथके तीर्थंकालमें नवम चक्रवर्ती श्री महापद्म, सातवें वासुदेव श्रीदत्त दशम चक्रवर्ती श्री हरिण तथा आठवें वासुदेव श्री नारायणका राज्य हुआ था। बीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथके तीर्थंकालमें ग्यारहवें चक्रवर्ती श्री जयसेन; तीसरे नारायण श्रीधर्म का लीला मधुर प्रताप चमकता था इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथके तीर्थंकालमें अन्तिम चक्रवर्ती श्री ब्रह्मदत्तने षट्खण्ड भारतको विजय की थी तथा अन्तिम वासुदेव श्री कृष्णजीका आविर्भाव हुआ था ॥ ४८ ॥

१. [तथाजितेऽभूत्]। २. [धर्मस्य]। ३. [बभूवतुस्तौ]। ४. क महादिपद्मा, [पद्मो]। ५. म नारायणोऽदत्त हरी। ६. क्रम भेद है। त्रिलोकसार, आदि ग्रन्थोंमें निशुम्भ चौथे। मधुकैटभ इनके बाद हुए हैं। ७. परिशिष्ट देखें।

स सप्तहस्तो जिनवर्धमानः पार्श्वो जिनेन्द्रो नवहस्तदीर्घः ।
आद्यो जिनेशस्तु समुच्छ्रयेण सवर्ष्मणा[1] पञ्चधनुः शतानि ॥ ४९ ॥
अथाष्टपञ्चाष्टकसंस्मितानामूनानि[2] कुर्यात्क्रमशो जिनानाम् ।
दशाहताः पञ्चदशाथ पञ्च धनूंषि नाभेयसमुच्छ्रयात्तु ॥ ५० ॥
शताहतं तच्च सहस्रमेकं द्विसप्तषड्व्याहतपूर्वनाम्नाम् ।
आयुस्स्मृतं नाभिसुतस्य सम्यग्द्विसप्ततिश्चाप्यजितस्य पूर्वाः ॥ ५१ ॥
स्यात्षष्टिरेका जिनशंभवस्य दशोदिता पञ्चसु तीर्थकृत्सु ।
क्रमेण च द्वे खलु पुष्पदन्तः श्रीशीतले त्वेकमुदाहरन्ति ॥ ५२ ॥

तीर्थंकरोंका उत्सेध

अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान जिनराजके शरीरका उत्सेध (ऊँचाई) सात हाथ प्रमाण थी। तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वप्रभुके दिव्य औदारिक शरीरका उत्सेध केवल नौ हाथ प्रमाण था। इस विधिसे बढ़ते-बढ़ते शास्त्र कहते हैं कि प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ प्रभुके अपने प्रशस्त शरीरका उत्सेध (पांच गुणित सौ अर्थात्) पाँच सौ धनुष प्रमाण था ॥ ४९ ॥

महाराज नाभिनन्दनके पुत्र प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेवके शरीरकी ऊँचाईमेंसे क्रमशः (पाँच गुणित दश) पचास-पचास धनुष कम करनेसे अजित आदि आठ तीर्थंकरों की ऊँचाई आती, तथा इसके आगे दश-दश धनुष कम करनेपर क्रमशः शीतल, आदि पाँच तीर्थंकरोंका उत्सेध आता है। इसके आगे पाँच-पांच घटानेसे धर्मादि तीर्थंकरोंके उत्सेधका प्रमाण निकल आता है, इस क्रमसे नेमिनाथका उत्सेध दश धनुष है ॥ ५० ॥

महाराज नाभिनाथके पुत्र श्री ऋषभदेव तीर्थंकरकी आयुका गणित इस प्रकार है—एक हजारमें सौ का गुणा करिये (एक लाख) उसमें दो गुणित सात गुणित छह अर्थात् चौरासी लाख पूर्व वर्ष प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेवकी आयु थी। द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितप्रभुकी अवस्था भी परिपूर्ण बहत्तर लाख पूर्व वर्ष थी ॥ ५१ ॥

तीर्थंकरोंकी आयु

तृतीय तीर्थंकर श्री शंभवनाथको आयु केवल साठ लाख पूर्व शास्त्र बतलाते हैं। इनके बादके पाँच तीर्थंकरों अर्थात् श्री अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ तथा चन्द्रप्रभदेवकी आयुका प्रमाण क्रमशः दश, दश लाख पूर्व कम (५०, ४०, ३०, २०, १०) थी। शास्त्रोंमें वर्णित नौवें तीर्थंकर श्री पुष्पदन्त प्रभुकी आयु दो लाख पूर्व वर्ष थी। श्री शीतल-

१. म सवर्षणा। २. [संस्थिताना°]।

[1]द्विसप्तषट्ताड्यसमासहस्रं शताहतं श्रेयसमायुरुक्तम् ।
द्विसप्ततिश्चापि हि वासुपूज्ये षष्टिस्तथायुर्विमले जिनेन्द्रे ॥ ५३ ॥
त्रिंशद्दशैकं च तथा त्रयाणां शून्यत्रयं पञ्चनवैककुन्थोः ।
षड्वर्जिता स्यान्नवतिस्त्वरस्य मल्लिस्त्रिशून्योत्तरपञ्च पञ्च ॥ ५४ ॥
त्रिंशत्सहस्रं मुनिसुव्रतस्य नमेः सहस्रं दशसंगुणं तत् ।
नेमेः सहस्रं शतमेव[2] पार्श्वे द्विसप्ततिः स्यात्खलु वर्धमाने ॥ ५५ ॥
समुद्रकोटीस्त्वजितेन ताड्या शताहता पञ्चगुणा च भूयः ।
तदन्तरं स्याद्वृषभे जिनेशे चेति प्रदिष्टं हि पुराणविद्भिः ॥ ५६ ॥

देवकी आयु केवल एक लाख पूर्व वर्ष ही थी ॥ ५२ ॥

ग्यारहवें तीर्थंकर श्री श्रेयान्सनाथकी आयुका प्रमाण इस विधिसे निकलता है—एक हजारमें सौका गुणा करनेपर जो (लाख) आवे उसमें दो गुणित सातमें गुणित छह (चौरासी) का गुणा करनेपर जो फल आवे उतने लाख (चौरासी लाख) वर्ष ही उनकी आयु थी। श्री वासुपूज्य प्रभुकी आयु बहत्तर लाख वर्ष थी तथा तेरहवें तीर्थंकर श्री विमलनाथकी आयु साठ लाख वर्ष थी ॥ ५३ ॥

विमल प्रभुके उपरान्त उत्पन्न हुए तीनों तीर्थंकरों श्री अनन्तनाथ, श्री धर्मनाथ तथा शान्तिनाथ प्रभुकी आयु क्रमसे तीस लाख, दश लाख तथा एक लाख वर्ष थी। सतरहवें तीर्थंकर श्री कुन्थुनाथ प्रभुकी आयु केवल तीन शून्य सहित पंचानवे अर्थात् पंचानवें हजार वर्ष थी। श्री अरनाथ प्रभुकी आयुका प्रमाण छह कम नब्बे हजार (चौरासी हजार) वर्ष थी तथा शास्त्रोंमें लिखा है कि उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथकी आयु तीन शून्य युक्त पाँच, पाँच (पचपन हजार) वर्ष थी ॥ ५४ ॥

बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत नाथकी आयुको शास्त्र तीस हजार वर्ष बतलाते हैं। (एक हजारमें दशका गुणा करनेपर जो आवे) उतने ही दश हजार वर्ष इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथकी अवस्था थी। बाईसवें तीर्थंकर यदुपति श्री नेमनाथकी आयु केवल एक हजार वर्ष ही थी। पार्श्वप्रभुकी आयु भी शुद्ध सौ वर्ष थी तथा ज्ञातिपुत्र श्री वर्द्धमान प्रभुकी अवस्था केवल बहत्तर वर्ष ही थी ॥ ५५ ॥

अन्तराल

पुराणोंके पंडितोंका मत है कि प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव तथा अजितनाथके बीचके अन्तरालको निकालनेके लिए

---

१. म षट्तोद्य° । २. क शतमेव पार्श्वे ।

त्रिंशद्दशातो नवतिः प्रदिष्टा अतः सहस्रं नवतिस्तथातः ।
शतं सहस्रं नवसंगुणे द्वे स्यात्सप्तमस्यान्तरमर्हतस्तु ॥ ५७ ॥
ततोऽन्तरं तन्नवतिस्तु कोट्यो नवैव कोट्यो नवमान्तरं तत् ।
समुद्रकोटीगणितप्रमाणात्स्यादर्हतामन्तरकं नवानाम् ॥ ५८ ॥
षट्षष्टिसंख्या नियुतप्रमाणं षड्विंशतिश्चापि सहस्रपिण्डः ।
शतेन युक्ता किल सागराणां कोटी तथोना दशमान्तरं स्यात् ॥ ५९ ॥
षट्घ्ना नवत्रिंशदथो नवाथ चत्वार एव त्रितये तथान्यत् ।
पादोनपल्योनसमुद्रसंख्या षण्णां जिनानामिदमन्तरं स्यात् ॥ ६० ॥

निम्नलिखित गणित करना पड़ेगा—समुद्रसे दशगुणित पाँचका आदिनाथ स्वामीके निर्वाणके बाद गुणा करे जो फल आये उतने कोटि सागर (पचास कोटि सागर) प्रमाण वर्ष बीत जानेपर अजितनाथ हुए थे। यही प्रथम तथा द्वितीय तीर्थंकरके बीचका अन्तराल होगा ॥ ५६ ॥

भगवान् अजितनाथ और शंभवनाथके बीचमें तीस कोटि सागरका अन्तराल था। श्री शंभवनाथ और अभिनन्दननाथके बीचका अन्तराल दश कोटि सागर वर्ष था तथा चौथे और पाँचवें तीर्थंकरोंका अन्तराल नौ लाख करोड़ सागर वर्ष प्रमाण है। पाँचवें तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ तथा पद्मप्रभुके बीचका अन्तराल नब्बे हजार करोड़ वर्ष है ॥ ५७ ॥

तथा छठे तीर्थंकर और श्री सुपार्श्वनाथका अन्तराल हजार कोटिमें नौका गुणा करनेपर जो (नौ हजार कोटि) आवे उतने वर्ष होता है। सप्तम तीर्थंकर और श्री चन्द्रप्रभके बीचमें नौ सौ करोड़ वर्षका अन्तराल पड़ा था। आठवें तथा नौवें तीर्थंकरोंके अन्तरालका प्रमाण केवल नब्बे करोड़ वर्ष था। नौंवा अन्तराल केवल नौ करोड़ सागर वर्ष है इस प्रकार श्री आदिनाथ प्रभुसे लेकर भगवान शीतल पर्यन्त जो नौ अन्तराल गिनाये हैं ये सबके सब कोटि सागर वर्षोंमें गिनाये हैं ॥ ५८ ॥

छ्यासठ नियुत (= अयुत सौ सहस्र) तथा छब्बीस हजारके पिण्ड (युक्त) को सौ सागरने मिलाकर जो प्रमाण आवे उसको एक कोटि सागरमें से घटा दिया जाय अर्थात् सौ सागर छ्यासठ लाख छब्बीस हजार वर्षको एक कोटिसागरमें से घटाने पर जितना शेष रह जाय उतने वर्षका ही अन्तराल भगवान शीतलनाथके मोक्ष तथा श्रेयान्सनाथके आविर्भावके बीचमें पड़ा था ॥ ५९ ॥

छह गुणित नौ अर्थात् चउअन, तीस, नौ, चार सागर तथा तीन चौथाई (३/४) पल्य कम तीन सागर क्रमशः श्री श्रेयान्सनाथ तथा वासुपूज्य प्रभु, वासुपूज्य और विमलनाथ प्रभु, विमलनाथ और अनन्तनाथ प्रभु, अनन्तनाथ और पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ तथा धर्मनाथ एवं शांतिनाथके बीचमें अन्तराल थे। यह सब प्रमाण सागरोंकी संख्यामें कहे हैं। ये छह तीर्थंकरोंके बीचके पाँच अन्तराल हैं ॥ ६० ॥

शान्तेऽन्तरं प्रोक्तमथार्धपल्यं कोटीसहस्रोनकृतं समानम् ।
अरार्धपल्यं किल कौन्थवं तत्कोटीसहस्रैकसरान्तरं[1] स्यात् ॥ ६१ ॥
लक्षाहृताः षण्णवकास्तु वर्षाः षडेव वर्षास्तु नमेस्तु पंच ।
सहस्रताडयास्तु पुनस्त्र्यशीतिरर्षाष्टमैश्चापि शतैः[2] समेताम् ॥ ६२ ॥
पंचाशता[3] द्वे च शते समेते पार्श्वान्तरं तं कथितं यथावत् ।
त्रिसप्तसंख्यं च सहस्रमेकं वीरस्य तीर्थान्तरमुक्तमेतत् ॥ ६३ ॥
चतुर्थभागोऽथ पुनर्द्विभागः पादोनभागः परिपूर्णभागः ।
पादोनकश्चापि पुनर्विभागः पल्यस्य तस्यापि चतुर्थकश्च ॥ ६४ ॥

शेष अन्तराल

शान्ति-कुन्थुनाथ प्रभुके बीचमें जो अन्तराल पड़ा था उसका प्रमाण आधा पल्य है। एक सहस्र करोड़ वर्ष घटा देनेसे चौथाई पल्यमें जो शेष रह जाय वही सतरहवाँ अन्तराल था। श्री कुन्थुनाथ प्रभु तथा अरनाथके बीचमें यही एक पल्यके आधेके आधा (हजार कोटि वर्ष हीन चौथाई पल्य) अन्तराल पड़ा था। इनके बाद जो अठारहवाँ अन्तराल पड़ा था वह केवल एक सहस्र करोड़ वर्ष ही था ॥ ६१ ॥

एक लाख गुणित चउअन वर्ष अर्थात् चउअन लाख वर्षका मल्लिनाथ तथा मुनिसुव्रतनाथके बीचमें अन्तराल पड़ा था। भगवान मुनिसुव्रतनाथके निर्वाणके छह लाख वर्ष बाद श्री नमिनाथका जन्म हुआ था। इनके तथा नेमिनाथके बीचमें केवल पाँच लाख वर्षका ही अन्तराल पड़ा था। यादवपति श्रीनेमिनाथ भगवानके निर्वाण (गिरिनारसे मुक्ति पधार जानेपर) एक हजार गुणित तेरासी गुणित हजार वर्ष युक्त आधा कम आठ सौ (८३७५० वर्ष) वर्ष बाद ॥ ६२ ॥

काशीमें श्रीपार्श्वनाथप्रभुका आविर्भाव हुआ था। भगवान महावीर पार्श्वनाथ प्रभुके निर्वाणके पचास अधिक अधिक दो सौ वर्ष बाद हुए थे। भगवान महावीरके तीर्थका काल सात गुणित तीन अर्थात् इक्कीसमें एक सहस्रका गुणा करनेपर जो (इक्कीस सहस्र) आवे उतने वर्ष परिमाण है ॥ ६३ ॥

धर्मोच्छेद काल

एक पल्यका चौथाई भाग, पल्यके दो भाग (आधा पल्य), एक चौथाई कम अर्थात् तीन चौथाई पल्य, पूराका पूरा पल्य, फिर एक चौथाई कम पल्य = तीन चौथाई पल्य, फिर उसके दो भाग अर्थात् आधा, इसके बाद पूर्ववत् फिर पल्यका चौथाई भाग ये सात समयके प्रमाण इसलिए बताये हैं कि ॥ ६४ ॥

१. म °मतान्तरं स्यात् । २. म शतैः । ३. म पञ्चाशताद्वे ।

एतावता कालपरिच्छदेन तीर्थस्य विच्छेद उदाहृतश्च ।
सपुष्पदन्तादिषु सप्तसु स्यादाद्यन्तयोः संतत ऐव जातः ॥ ६५ ॥
नाभेयशान्ती ह्यथ कुन्थुधर्मविमोह सर्वार्थविमानमुख्यात्[1] ।
नन्दाजितौ तौ विजयाद्विमानात्तौ वैजयन्तात्सुमतीन्दुभासौ ॥ ६६ ॥
नेमिस्त्वथारस्य[2] हि तौ जयन्ताम्मल्लिर्नमिश्चाप्यपराजिताख्यात् ।
तौ प्राणतात्पार्श्वमुनिव्रताख्यावभ्यागतावप्रतिमप्रतापौ ॥ ६७ ॥
श्रेयांस्तथानन्तजिदन्तिमश्च पुष्पोत्तरादायसुरप्रमेयाः ।
शुक्रान्महादेरथ वासुपूज्यः श्रीशीतलस्त्वारुणतश्च्युतत्वात् ॥ ६८ ॥

इतना विशाल समय ऐसा था जिसमें क्रमशः भगवान पुष्पदन्त आदि शान्तिनाथ पर्यन्त तीर्थंकरोंके बाद अन्तरालमें केवली भगवान प्रणीत आर्हत् धर्मका एक दृष्टिसे सर्वथा लोप ही हो गया था। इन सात कुसमयोंको छोड़कर भगवान आदिनाथ-से लेकर वीरप्रभुके समय पर्यन्त जैनधर्मकी धारा सदा ही बहती रही है ॥ ६५ ॥

प्रथम तीर्थंकर श्री आदि-जिनका, सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ, सतरहवें तीर्थंकर श्री कुन्थुनाथ तथा पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ ये चारों महात्मा सर्वार्थसिद्धि विमानकी आयु पूर्ण होने पर अपने उक्त भवोंमें आये थे। भगवान् अजितनाथ तथा चौथे तीर्थंकर श्री अभिनन्दननाथ विजय नामके विमानकी आयु पूर्ण होने पर तीर्थंकर पर्यायमें आये थे तथा छठे तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ तथा चन्द्रप्रभ भगवानने वैजयन्त नामके स्वर्गसे आकर तीर्थंकर रूपसे जन्म ग्रहण किया था ॥ ६६ ॥

यादवपति श्री नेमिनाथ तथा अठारहवें तीर्थंकर श्री अरनाथ जयन्त नामके स्वर्गसे आये थे। श्री मल्लिनाथ भगवान तथा इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथ अपराजित स्वर्गमें अपनी आयुको समाप्त करके इस धरिणीपर पधारे थे। भगवान मुनि-सुव्रतनाथ तथा तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ प्राणत स्वर्गसे आये थे ॥ ६७ ॥

इन दोनों सद्धर्म प्रवर्तकोंका प्रताप ऐसा था कि उसका वर्णन करनेका तात्पर्य होगा उसको संकुचित कर देना। भगवान श्रेयान्सनाथ, अनन्तनाथ तथा अन्तिम तीर्थंकर श्री वीरप्रभु अमित गुणोंके भण्डार थे। ये तीनों महापुरुष पुष्पोत्तर नामके स्वर्गसे आकर पृथ्वीपर जन्मे थे। जिस शुक्रके आदिमें महाविशेषण लगा है ऐसे महाशुक्र नामके दशमें स्वर्गके जीवनको समाप्त करके भगवान वासुपूज्यने जन्म लिया था तथा दशम तीर्थंकर श्री शीतलनाथ प्रभु तेरहवें स्वर्ग आरुणसे च्युत होकर इस धरापर पधारे थे ॥ ६८ ॥

---

१. क °विमानसंख्यात् । २. [नेमिस्त्वथारस्य च] ।

सहस्रपूर्वाद्विमलस्त्वरान्तादथारुणाख्यात्खलु पुष्पदन्तः ।
ग्रैवेयकाधः प्रथमाद्विमानादभ्यागतः संभवसंयतेन्द्रः ॥ ६९ ॥
सुपार्श्वनामा किल मध्यमाख्यादूर्ध्वं च पद्मप्रभ आययौ सः ।
इत्यर्हतां कारणभावितानामभ्यागतिर्वः कथिता मयेयम् ॥ ७० ॥
आद्यस्तु नाभिर्जितशत्रुनामा तृतीय आसीज्जितराजसंज्ञः[1] ।
स्वयंवरश्चैव हि मेघराजः स्यात्सुप्रतिष्ठश्च महाबलश्च ॥ ७१ ॥
सुग्रीवनामा सुदृढो रथान्तो विष्णुर्वसुः स्यात्कृतवर्मसंज्ञः ।
श्रीसिंहसेनस्त्वथ भानुराजः स विश्वसेनः किल शौर्यधर्मा ॥ ७२ ॥

भगवान पुष्पदन्त भी इसी आरुण स्वर्गसे आकर पृथ्वीपर जन्मे थे। तीर्थंकर रूपसे जन्म लेनेके पहिले विमलनाथ तीर्थंकर शतार स्वर्गमें थे तथा अरनाथ इसके आगेके सहस्रार स्वर्गमें थे। नव ग्रैवेयकोंके नीचेके प्रथम विमानसे भगवान शंभवनाथ पधारे थे जिन्होंने इन्द्रियों और नो इन्द्रियोंको सरलतापूर्वक ही संयत कर दिया था ॥ ६९ ॥

सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ प्रभु मध्यम ग्रैवेयक विमानसे आ कर काशीमें जन्मे थे। छठे तीर्थंकर श्री पद्मप्रभदेवने ऊर्ध्व ग्रैवेयककी आयु समाप्त करके इस धराधामको सुशोभित किया था। इस क्रमसे चौबीसों तीर्थंकर कहाँसे आकर तीर्थंकर-रूपमें उत्पन्न हुए थे, यह मैंने आपको बतलाया है। ये चौबीसों महापुरुष ऐसे थे जिन्होंने षोडश भावनाओंका ध्यान करके उक्त पदको प्राप्त किया था ॥ ७० ॥

आदिपुरुष ऋषभनाथजीके पिता श्री नाभिराज थे। दूसरे तीर्थंकर श्री अजितप्रभुके पिता श्री जितशत्रु थे। तीसरे तीर्थंकरके पूज्य पिताका प्रातःस्मरणीय नाम जितराज था। चौथे तीर्थंकर अभिनन्दननाथके पूज्य पिता स्वयंवर महाराज थे। महाराज मेघराजसे पांचवें तीर्थंकरका जन्म हुआ था ॥ ७१ ॥

तीर्थंकर जनक

भगवान पद्मप्रभ तथा सुपार्श्वनाथके परमपूज्य पिता क्रमशः महाराज महाबल तथा सुप्रतिष्ठ थे। श्री पुष्पदन्त भगवानके पिता महाराज सुग्रीव थे। भगवान शीतलनाथ महाराज दृढ़रथके आत्मज थे। महाराज विष्णुके पुत्र ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयान्सनाथ थे। भगवान वासुपूज्यके पूज्य पिता महाराज वसु थे। महाराज कृतवर्मके पुण्य प्रतापसे उन्हें विमल प्रभु पुत्ररूपमें प्राप्त हुए थे। महापुरुष सिंहसेन, भानुराज, विश्वसेन तथा शौर्यधर्म क्रमशः भगवान अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ तथा कुन्थुनाथके पिता थे ॥ ७२ ॥

---

१. म °राजहंसः ।

सुदर्शनश्चैव हि कुम्भराजः सुमित्रनामा जयधर्मराजः ।
समुद्रपूर्वो विजयोऽश्वसेनः सिद्धार्थराजः पितरोऽर्हतां च ॥ ७३ ॥
आद्याभवत्सा मरुदेव्यतश्च तथा द्वितीया विजयादिसेना ।
सिद्धार्थसंज्ञा किल मङ्गला च सौम्या च देवी पृथिवी[1] तथैव ॥ ७४ ॥
सा लक्ष्मणासोन्नवमी च नाम्ना नन्दा च देवी खलु वैष्णवी च ।
जया तथा श्यामिनिका च देवी सर्वश्रिया सुव्रतयोरवाचा ॥ ७५ ॥
पद्मालया मित्रसमाह्वया च सरक्षिला विश्रुतसोमदेवी ।
सा वप्रिणी चैव शिवाग्रदेवी सन्नह्मदत्ता प्रियकारिणी च ॥ ७६ ॥

भगवान अरनाथ और मल्लिनाथके पूज्य पिता महापुरुष सुदर्शन तथा कुम्भराज थे। मुनिसुव्रतनाथके पिता महाराज सुमित्र थे, भगवान नमिनाथके पिता जयधर्म नामसे विश्वविख्यात थे। यादवपति समुद्रविजयको कौन नहीं जानता है, भगवान नेमिनाथने इन्हींके घरके अंधकारको दूर किया था। काशीपति महाराज अश्वसेनके पुत्र भगवान पार्श्वनाथ थे तथा ज्ञातृवंशके प्रधान लिच्छविराज महाराज सिद्धार्थके पुत्र अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर थे ॥ ७३ ॥

तीर्थंकर माता

भगवान पुरुदेव प्रातः स्मरणीयाजगन्माता मरुदेवीकी कुक्षिसे उत्पन्न हुए थे। भगवान अजितानाथकी, माताके पुण्य नाममें सेना शब्दके पहिले विजय शब्द आता है-विजयसेना थीं। भगवान शंभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ तथा सुपार्श्वनाथकी परमपूज्य माताओंके नाम क्रमशः सिद्धार्था, मंगला, सौम्या, देवी तथा पृथ्वी महारानी थीं ॥ ७४ ॥

चन्द्रावदात चन्द्रप्रभकी माता महारानी लक्ष्मणा थी। नवम तीर्थंकर भगवान पुष्पदन्तकी माताका शुभनाम नन्दा था। दशमें तथा ग्यारहवें तीर्थंकरोंको क्रमशः महारानी देवी तथा वैष्णवीने जन्म दिया था। भगवान वासुपूज्य, पूज्य माता श्री जयादेवीसे जन्मे थे। तेरहवें, चौदहवें तथा पन्द्रहवें तीर्थंकरोंकी माताओंके नाम क्रमशः श्यामनिकादेवी, देवी तथा सर्वश्री थीं। भगवान शान्तिनाथने परम पूज्य माता श्री सुव्रताकी कुक्षिसे जन्म लिया था। ॥ ७५ ॥

भगवान कुन्थुनाथ, पूज्यमाता पद्मालयाके गर्भमें पधारे थे। भगवान अरनाथ महारानी मित्रसमाकी आँखोंकी ज्योति थे। भगवान मल्लिनाथ तथा मुनिसुव्रतको जन्म देकर क्रमशः श्रीमती सरलाक्षि देवी तथा विश्वविख्यात सोमदेवीने अपने मातृत्वको सफल किया था। भगवान नमिनाथने प्रणवादेवीको कुक्षिमें नौ मास वास किया था तथा यादवपति नेमिनाथरूपी भानुका

१. क पृथुवी।

बभूवुरेता जिनमातरश्च अनन्यनारीसदृशैर्गुणौघैः ।
नाम्नोपदिष्टाः प्रथिताः पृथिव्यां[1] ततः परं दानपतीन्प्रवक्ष्ये ॥ ७७ ॥
श्रेयांस्तु दानाधिपतिः स आद्यो ब्रह्मा सुरेन्द्रस्त्वथ चन्द्रदत्तः ।
स पद्मजिच्चैव हि सोमदेवो महेन्द्रसोमौ खलु पुष्पदेवः ॥ ७८ ॥
पुनर्वसुर्नन्दसुनन्दनौ[2] च जयाभिधानो विजयस्तथैव ।
स धर्मसिंहश्च सुमित्रनामा स्याद्धर्ममित्रस्त्वपराजितश्च ॥ ७९ ॥
नन्दी तथैवर्षभदत्तनामा ततः सुदत्तो वरदत्तसंज्ञः ।
धर्मो महात्मा बकुलाभिधानः प्रवर्ततस्तैरवदानधर्मः[3] ॥ ८० ॥

उदय शिवदेवीकी पुण्यकुक्षिरूपी उदयाचलकी गुफासे हुआ था। काशीकी महारानी ब्रह्मदत्ताको ही पार्श्वप्रभुकी माता होनेका सौभाग्य प्राप्त था तथा अन्तिम तीर्थंकर वीरप्रभुकी पूज्यमाता प्रियकारिणी (त्रिशला) देवी थी ॥ ७६ ॥

इन सब माताओंने जगद्धितैषी परम पूज्य तीर्थंकरोंके प्रसवकी पीड़ा सही थी। इनके गुणों की माला अद्भुत थी स्त्रीवेद सामान्य होने पर भी इनमें तथा साधारण स्त्रियोंमें कोई समता न थी। यही कारण है कि आज भी हम उनके नाम लेते हैं तथा वे समस्त संसारमें विख्यात हैं। इसके बाद उन महापुरुषोंके नामोंका उल्लेख करेंगे जिन्होंने दिगम्बर मुनिरूपधारी तीर्थंकरोंको आहारदान देकर महादानी पदवीको प्राप्त किया था ॥ ७७ ॥

आहारदाता

राजा श्रेयान्सको कौन नहीं जानता है जिन्होंने आदीश्वर प्रभुको आहारदान देकर दानतीर्थका प्रवर्तन किया था। महापुरुष ब्रह्मा, सुरेन्द्र तथा चन्द्रदत्तने अजितप्रभु, शंभवजिन तथा अभिनन्दननाथको आहारदान देकर परम पुण्यको संचित किया था। भगवान सुमतिनाथ तथा पद्मप्रभके आहारदान दाता श्री पद्म तथा अजित थे। महापुण्यात्मा सोमदेव, महेन्द्रसोम तथा पुष्पदेव भगवान सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ तथा पुष्पदन्त प्रभुको आहार दान देकर इनकी तपस्यामें साधक हुए थे ॥ ७८ ॥

श्री शीतलनाथ जब चर्याको निकले तब महात्मा पुनर्वसुने अपने द्वार पर उनके पदग्रहण-प्रतिग्रहण (पड़गाहना) करके नवधाभक्ति पूर्वक आहार दिया था। पुण्याधिकारी नन्द, सुनन्द, जयदेव तथा विजयदेवको श्रेयान्सनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ तथा अनन्तनाथके पदग्रहण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। परम धार्मिक श्री धर्मसिंह, सुमित्र, धर्ममित्र तथा अपराजितने भगवान धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरनाथकी तपस्यामें आहारदान सहायता की थी ॥ ७९ ॥

महापुरुष नन्दीने मल्लिनाथ भगवानको आहारदान देकर पुण्यका बन्ध किया था। इसी मार्गपर चलकर परम धार्मिक

१. क पृथुव्यां। २. म °नन्दगौ। ३. [°तैरथ दानधर्मः]।

आद्यो जिनेन्द्रस्त्वजितो जिनश्च अनन्तजिच्चाप्यभिनन्दनश्च ।
सुरेन्द्रवन्द्यः सुमतिर्महात्मा साकेतपुर्यां किल पञ्च जाताः ॥ ८१ ॥
कौशावकश्चैव[1] हि पद्मभासः श्रावस्तिकः स्याज्जिनसंभवश्च ।
चन्द्रप्रभश्चन्द्रपुरे प्रसूतः श्रेयाञ्जिनेन्द्रः खलु सिंहपुर्याम् ॥ ८२ ॥
वाराणशौ[2] तौ च सुपार्श्वपार्श्वौ काकंदिकश्चापि हि पुष्पदन्तः ।
श्रीशीतलः खल्वथ भद्रपुर्यां चंपापुरे चैव हि वासुपूज्यः ॥ ८३ ॥
काम्पिल्यजातो विमलो मुनीन्द्रो धर्मस्तथा रत्नपुरे प्रसूतः ।
श्रीसुव्रतो राजगृहे बभूव नमिश्च मल्लिर्मिथिलाप्रसूतौ ॥ ८४ ॥

श्री ऋषभदत्त, सुदत्त, वरदत्त तथा धर्मदेवने भगवान मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ तथा पार्श्वप्रभुके तपको बढ़ाया था। जब भगवान महावीर दानतीर्थको प्रवर्तन करानेकी अभिलाषासे चर्याको निकले उस समय महात्मा बकुलने उनका प्रतिग्रहण करके जगतको दानधर्मकी शिक्षा दी थी ॥ ८० ॥

जन्मनगरी

भगवान महावीरके समयमें उत्तरकोशल नामसे विख्यात देशकी राजधानी साकेतपुरी (अयोध्या) प्रथम जिनेश्वर श्री ऋषभदेव, अजितजिन, चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ, चौथे तीर्थंकर अभिनन्दनाथ, देवों तथा देवेन्द्रोंके परमपूज्य महात्मा सुमतिनाथ; पाँच-कल्याणोंके अधिपति इन पाँचों जिनराजोंने जन्मग्रहण करके उसकी शोभा तथा ख्यातिको बढ़ाया था ॥ ८१ ॥

षष्ठ तीर्थंकर भगवान पद्मप्रभ कौशाम्बी (कोसम-जिला इलाहाबाद) में जन्मे थे। अष्टकर्मजेता भगवान शंभव श्रावस्ती नगरीमें उत्पन्न हुए थे। भगवान चन्द्रप्रभ गंगाके किनारे स्थित चन्द्रपुरीमें जन्मे थे, ग्यारहवें तीर्थङ्कर श्री श्रेयांसनाथके जन्म महोत्सवका समारोह सिंहपुर (सारनाथ) में हुआ था ॥ ८२ ॥

भगवान सुपार्श्वनाथ तथा पार्श्वनाथके गर्भ तथा जन्म कल्याणकोंकी लीलाका क्षेत्र काशी ही बनी थी। श्री पुष्पदन्त प्रभुकी जन्मस्थली काकंदीपुरी थी। परम पवित्र भद्रपुरीमें भगवान शीतलनाथने जन्म लिया था ॥ ८३ ॥

तथा भगवान वासुपूज्यने चम्पापुरीके महत्त्वको बढ़ाया था। भगवान विमलनाथ कम्पिलापुरीमें उत्पन्न हुए थे। केवलियोंके भी गुरु श्री धर्मनाथ प्रभुने रत्नपुरमें जन्म लिया था। बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथने राजगृहके माहात्म्यको बढ़ाया था। भगवान नमिनाथ तथा मल्लिजिनेन्द्रका जन्म-कल्याणक मिथिलापुरीमें हुआ था ॥ ८४ ॥

१. [कौशाम्बिक°]। २. म वाणारसौ।

अरिष्टनेमिः किल शौर्यपुर्यां वीरस्तथा कुण्डपुरे बभूव ।
अरश्च कुन्थुश्च तथैव शान्तिस्त्रयोऽपि ते नागपुरे प्रसूताः ॥ ८५ ॥
इक्ष्वाकुवंश्याः खलु षोडशैव चत्वार एवात्र कुरुप्रवीराः ।
द्वौ चोपदिष्टौ हरिवंशजातावुग्रस्तथैकः किल नाथ एकः ॥ ८६ ॥
सुवर्णवर्णः खलु षोडशैव चन्द्रप्रभौ द्वौ च जिनौ जिताशौ ।
द्वौ द्वौ च संध्याञ्जनतुल्यवर्णौ द्वावेव दूर्वाङ्कुरकाण्डभासौ ॥ ८७ ॥
अरिष्टनेमिर्मुनिसुव्रतश्च द्वावप्यमू गौतमगोत्रजातौ ।
शेषा जिनेन्द्रा ऋषभादिवर्याः ख्याताः पुनः काश्यपगोत्रवंश्याः ॥ ८८ ॥

भगवान अरनाथ, कुन्थुनाथ तथा शान्तिनाथ प्रभुका जन्मस्थान अत्यन्त विख्यात नागपुर था। बाईसवें तीर्थङ्कर यादवपति श्री नेमिनाथने शौर्यपुरीमें ही सबसे पहिले अपने कमल नयनोंको खोल कर माता शिवदेवीके यौवन तथा कुक्षिको सफल किया था। भगवान महावीरने सबसे पहिले सूर्यका प्रकाश कुण्डलपुरमें ही देखा था ॥ ८५ ॥

तीर्थंकर वंश

परमपूज्य चौबीसों तीर्थंकरोंमेंसे सोलहको जन्म देनेका सौभाग्य जगद्विख्यात इक्ष्वाकु वंशको ही है, शेष आठमें से चार धर्म प्रवर्तकोंका पितृवंश वीरोंका वंश कुरुवंश ही था। शेष चारमें से दो ने हरिवंशको पवित्र करके उसका माहात्म्य बढ़ाया था। शेष दो में से एकने उग्रवंशके प्रतापको उग्र किया था तथा शेष अन्तिम तीर्थंकर महावीरने नाथवंशको सनाथ किया था ॥ ८६ ॥

शरीरवर्ण

समस्त आशा पाशको छिन्न-भिन्न करनेवाले दो चन्द्रप्रभ तथा पुष्पदन्त तीर्थंकरोंके शरीरका रूप चन्द्रमाकी कान्तिके समान था। दो तीर्थंकरों (पद्मप्रभ-वासुपूज्य) के सुन्दर शरीरका वर्ण संध्याकी लालिमाके समान ही ललाम था तथा दूसरे दो दो प्रभुओं (मुनिसुव्रत-नेमिनाथ) की कायाकी कान्ति मेघोंके समान श्याम थी। सुपार्श्व-पार्श्वनाथकी देहछवि नूतन जात दूबके अंकुरोंके समान हरी थी तथा शेष सोलह तीर्थंकरोंके वज्रवृषभनाराचसंहनन युक्त शरीरका रूप सोनेके समान था ॥ ८७ ॥

तीर्थंकर गोत्र

बीसवें तीर्थङ्कर भगवान मुनिसुव्रतनाथ तथा अहिंसावतार यादवपति श्री नेमिनाथ, ये दोनों महापुरुष ही ऐसे थे जिन्होंने गौतम गोत्रमें जन्म लिया था। इन दोनों प्रभुओंके अतिरिक्त शेष ऋषभदेव आदि सबही तीर्थङ्करोंने काश्यप गोत्रकी ही ख्यातिको बढ़ाया था ॥ ८८ ॥

मल्लिश्च पार्श्वौ वसुपूज्यपुत्रोऽप्यरिष्टनेमिश्च तथैव वीरः ।
कौमारकाले वयसि प्रयाता भुक्त्वा भुवं ते प्रययुश्च शेषाः ॥ ८९ ॥
अरिष्टनेमिर्वृषभो जिनेन्द्रः स वासुपूज्यश्च जिनो महात्मा ।
पल्यङ्कृतः सिद्धिमुपागतास्ते स्थित्यैव शेषाः परिनिर्वृताः स्युः ॥ ९० ॥
कैलासशैले वृषभो महात्मा चम्पापुरे चैव हि वासुपूज्यः ।
दशार्हनाथः पुनरूर्जयन्ते पावापुरे श्रीजिनवर्धमानः ॥ ९१ ॥
शेषा जिनेन्द्रास्तपसः प्रभावाद्विधूय कर्माणि पुरातनानि ।
धीराः परां निर्वृतिमभ्युपेताः संमेदशैलोपवनान्तरेषु ॥ ९२ ॥

बालब्रह्मचारी

घोर तप करके अन्तमें मोक्ष महापदको प्राप्त हुए चौबीसों तीर्थङ्करोंमें महाराज वसुके जगत्पूज्य पुत्र बारहवें तीर्थङ्कर श्री वासुपूज्य उन्नीसवें तीर्थङ्कर श्री मल्लिनाथ, बाईसवें तीर्थङ्कर यादवनाथ श्री नेमिकुमार, तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वप्रभु तथा अन्तिम तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामी, इन पाँचों तीर्थङ्करोंने मनुष्य जीवनके परम प्रलोभन गृहस्थाश्रमको ठुकरा कर कुमार अवस्थामें ही जिनदीक्षा ग्रहण की थी। शेष सब ही भोग विलास करके ही विरक्त हुए थे ॥ ८९ ॥

निर्वाणमुद्रा

जिनेन्द्रोंके आदर्श आदि पुरुष श्री ऋषभदेव, बारहवें तीर्थङ्कर वासुपूज्य तथा कामजेता भगवान नेमिनाथ इन तीनों महात्माओंको पद्मासन (पालथी) अवस्थामें ही मुक्ति प्राप्त हुई थी। इनके अतिरिक्त अजितप्रभु आदि शेष इक्कीस तीर्थङ्करों-को खड़े-खड़े (खड्गासनसे) ही निर्वाण प्राप्त हुआ था ॥ ९० ॥

निर्वाणक्षेत्र

प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव कैलाशगिरिके शिखरसे मोक्ष गये हैं। बारहवें तीर्थङ्कर भगवान वासुपूज्य चम्पा देश (मन्दारगिरी) से मुक्ति गये हैं। दशार्हं (दशार्ण) देशके राजकुमार यादवनाथ भगवान नेमिकुमारको उर्जयन्तगिरि (गिरनार) से निर्वाण-प्राप्ति हुई थी तथा अन्तिम तीर्थङ्कर नाथपुत्र वर्द्धमानका पावापुरीके पद्मसरसे ही निर्वाण कल्याणक हुआ था ॥ ९१ ॥

शेष बीसों महाराजोंने उग्र तपस्या करके ऐसी आत्मशुद्धि प्राप्त की थी, कि उसके प्रभावसे उनके अनादिकालसे बँधे कर्म भी नष्ट हो गये थे। फलतः उनके आध्यात्मिक बन्धन विगलित होते ही वे सबके सब धीर वीर आत्मा परमपूज्य सम्मेदाचल-के अलग-अलग शिखरोंपरसे मोक्ष महालयको प्रयाण कर गये थे ॥ ९२ ॥

इति कुलकरदेवदातृमुख्या हलधरकेशवचक्रपाणयश्च ।
इह च नरवराः श्रुता मया ये परिकथिता भवतां समासतस्ते ॥ ९३ ॥
युगवरपुरुषप्रपञ्चनं यत्तदनुनिशम्य महीपतेर्यथावत् ।
प्रथितपृथुधियः सुमन्त्रिणस्ते प्रतिविविदुः परमार्थमादधुश्च ॥ ९४ ॥

इतिधर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
प्रथमानुयोगो नाम सप्तविंशतितमः सर्गः ।

उपसंहार

अपने इस लघु जीवनमें मैंने सोलह कुलकरों, चौबीस सत्यदेवों, तीर्थ-बारह चक्रवर्तियों, नौ वासुदेवों, नौ नारायणों, नौ प्रतिनारायणों, चौबीस आहारदाताओं तथा तीर्थंकङ्करोंके जन्मके प्रधाननिमित्त कारण उनकी जननियों तथा पिताओं आदि जिन-जिन महापुरुषोंके विषयमें मैंने जो कुछ भी सुना था उन सबके विषयमें संक्षेपसे आपको बतलाया है ॥ ९३ ॥

सच्छ्रोता

सम्राट वरांगके राजसेवक मंत्री लोग अपनी कुशाग्रबुद्धिके लिए सुविख्यात थे। जब इन सबने सम्राटके मुखारविन्दसे ही इस युगके प्रवर्तक परमपूज्य शलाका पुरुषोंके चरित्रको ठीक क्रम तथा सम्बन्धके साथ सुना तो उसे समझनेमें उन्हें विलम्ब न लगा था। इतना ही नहीं थोड़े ही समयमें वे परम तत्त्वोंके स्वरूपको समझ कर उसपर अपनी अडिग श्रद्धाको भी लगा सके थे ॥ ९४ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
प्रथमानुयोग-नाम सप्तवि- तितम सर्ग समाप्त ।

अष्टाविंशः सर्गः

अथान्यदानर्तपुराधिपस्य संप्राप्तकल्याणफलोदयस्य ।
नित्यप्रवृत्तोत्सवसत्क्रियस्य सबन्धुमित्रार्थिजनप्रदस्य ॥ १ ॥
धर्मार्थकामोन्नतिनायकस्य गुणाकरस्याप्रतिपौरुषस्य ।
नृपस्य तस्याग्रमहामहिष्या बभूव गर्भोऽनुपमाह्वदेव्याः ॥ २ ॥
जाते च गर्भे जगतस्तदानीमभूतभूतप्रमदोऽतिमात्रम्[1] ।
विनाशमीयुः पुनरीतयश्च प्रशान्तवैरा रिपवो बभूवुः ॥ ३ ॥
ततः प्रपूर्णे नवमे च मासे प्राचीव दिग्भानुमुदग्रभासम् ।
देवी पृथुश्री[2]कनकावदातं कुलध्वजं सा सुषुवे कुमारम् ॥ ४ ॥

अष्टाविंश सर्ग

पुत्रजन्म

आनर्तपुरके अधिपति सम्राट वरांगकी समस्त अभिलाषाएँ ही पूर्ण नहीं हुई थीं, अपितु संसारमें जितने भी अभ्युदय तथा श्रेय हो सकते थे वे सब अपने आप ही उसकी शरणमें आ पहुँचे थे। वे प्रतिदिन प्रातःकालसे संध्या समयतक सत्कार्य तथा पुण्यमय उत्सवोंमें ही व्यस्त रहते थे। अपने स्नेही बन्धु-बान्धवों, अभिन्न हृदय मित्रों तथा अभावग्रस्त अर्थिजनों (याचकों) को उनके पद, मर्यादा और आवश्यकताके अनुकूल भेंट, आदि देनेमें वे कभी प्रमाद न करते थे ॥ १ ॥

उनके संरक्षणमें पूरा साम्राज्य परस्पर विरोधको बचा कर धर्म-अर्थ-तथा काम पुरुषार्थोंका विकास कर रहा था। समस्त गुणोंकी खान सम्राट जनताके आदर्श थे तथा उनका पौरुष अनुपम था। ऐसे सर्व सम्पन्न कर्त्तव्यपरायण सम्राट वरांगकी पट्टरानी साम्राज्ञी श्रीमती अनुपमादेवीके उक्त धर्म महोत्सवके कुछ ही दिन बाद गर्भ रह गया था ॥ २ ॥

साम्राज्ञीको गर्भ रहते ही उस समय समस्त राष्ट्रोंमें कुछ ऐसा परम उत्कृष्ट प्रमोद छा गया था जैसा कि उसके पहिले कभी किसीको हुआ ही न था। अतिवृष्टि, चौर्य, मरी, आदि छहों ईतियोंका कहीं पर चिन्ह भी शेष न रह गया था। केवल शत्रुओं-में ही नई अपितु जिन पुरुषों अथवा प्राणियोंमें स्वाभाविक वैर था उनका वह वैरभाव भी उस समय लुप्त हो गया था ॥ ३ ॥

इस क्रमसे जब गर्भ अवस्थाके पूर्ण नौ मास समाप्त हो गये तब महारानीका स्वाभाविक सौन्दर्य मातृत्वके भारसे आनत मंडित होकर अवर्णनीय विशाल शोभाको प्राप्त हुआ था। शुद्ध स्वर्णके सदृश निर्दोष कान्तिमान कुलकी ख्याति और

१. [°मभूदभूत°]। २. [पृथुश्रीः]।

सामुद्रहोराफलजातकज्ञ[1] दृष्ट्वा कुमारं पृथुराज्यभारम् ।
प्रशस्य पुण्यार्पितभारतीभिः सुगात्र इत्येव हि नाम चक्रुः ॥ ५ ॥
निदाघमासे[2] व्यजनं यथैव करात्करं सर्वजनस्य याति ।
तथैव गच्छन्प्रियतां कुमारो वृद्धिं च बालेन्दुरिव प्रयातः ॥ ६ ॥
रूपेण वर्णेन गतिस्थितिभ्यां वाक्येन दृष्टा[3] वपुषा श्रिया[4] च ।
विज्ञानशीलस्थिरमित्रभावैः पित्रा समो राजसुतो बभूव ॥ ७ ॥
प्रमत्तमातङ्गविलासगामी शरत्प्रपूर्णामलचन्द्रकान्तः ।
विचित्रसल्लक्षणमण्डिताङ्गो रेजेऽतिमात्रं नयनाभिरामः ॥ ८ ॥

यशके प्रसारक पुत्रको साम्राज्ञीने उसी भाँति उत्पन्न किया था जिस प्रकार पूर्वदिशा प्रबल प्रतापी तथा उदार उद्योतमय बाल-भानुको प्रकट करती है ॥ ४ ॥

भविष्यवक्ता विशेषज्ञोंने उसी समय सामुद्रिक शास्त्र, होरा (होड़ा) चक्र (गृहचक) फलित तथा अन्य निमित्तोंसे भलीभाँति विचार करके यही कहा था कि इस शुभ मुहूर्तमें उत्पन्न राजपुत्र विशाल साम्राजका एकक्षत्र राजा होगा। स्तुतिपाठकों, गुरुजनों, आदिने पुण्य वचनों द्वारा उसकी प्रशंसा करके उसका नामकरण 'सुगात्र' नामसे किया था ॥ ५ ॥

ग्रीष्मऋतुके दोनों महीनोंमें लोग भी भीषण आतपसे उद्विग्न रहते हैं उस समय विजना मनुष्योंके हाथों-हाथ हो घूमता रहता है कभी भूमिपर नहीं रखा जाता है राजपुत्र सुगात्र भी कुटुम्बियों, बन्धुबान्धवों आदिको इतना अधिक प्यारा था कि सदा ही लोग उसे हाथों-हाथ लिये फिरते थे। वह द्वितीयाके कलाचन्द्रके सदृश दिन दूना और रात चौगुना बढ़ रहा था ॥ ६ ॥

राजशिशु

राजपुत्र सुगात्रका शरीर, आकार, दृष्टि, शरीरका रंग, चलना, उठना-बैठना, शरीरकी कान्ति तो पिताके समान थे ही। इन बाह्य सादृश्योंके अतिरिक्त उसका उदार स्वभाव, प्रत्येक विषयका सूक्ष्म तथा सर्वांग ज्ञान, विचारशक्ति, विनम्रता आदि भाव तथा दृढ़मैत्री ये सब गुण भी उसमें उसी मात्रामें वर्तमान थे जिस मात्रामें उसके पितामें थे फलतः पिता पुत्रमें कोई विषमता थी ही नहीं ॥ ७ ॥

किशोर अवस्थामें ही जब वह चलता था तो ऐसा लगता था मानों मदोन्मत्त हाथी चला जा रहा है। उसकी वासना हीन निर्मल कान्तिको देखते ही शरद् ऋतुके पूर्ण चन्द्रमाका ध्यान हो आता था। उसके शरीरमें अनेक विचित्र शुभ लक्षण थे। इन सब कारणोंसे उसकी शोभाकी कोई सीमा ही न थी ॥ ८ ॥

१. [°जातकानि]। २. क निदाह°। ३. क दृष्ट्वा, [दृष्ट्या]। ४. म क्रिया।

स नीतिचक्षुर्मतिमान्विधिज्ञः कलाविदग्धो व्यसनादपेतः ।
शुचिश्च शूरः सुभगश्च नित्यं बालोऽप्यबालो गुणशीलवृत्तैः ॥ ९ ॥
किं देवविद्याधरकिन्नराणां सुतः प्रवक्ष्यावनिमाजगाम ।
आहोस्विदङ्गावयवैरनङ्गो विस्मापनाय स्वयमागतः स्यात् ॥ १० ॥
तथैव शेषाश्च महेन्द्रपत्न्यः सुरेन्द्रपत्नीसमचारुशीलाः ।
अतुल्यरूपांस्तनयानविन्दन् शुभोदये[1] सत्कृतयो यथैव ॥ ११ ॥
अमात्यसेनापतिमन्त्रिपुत्राः सुताश्च सामन्तनरेश्वराणाम् ।
पुनः [2]प्रधानर्द्धितमात्मजाश्च नरेन्द्रपुत्रैः सहसंप्रदानाः[3] ॥ १२ ॥

वह उन सबहीके नेत्रोंके लिए रसायन था। नेत्र इन्द्रिय अविकल होनेपर भी कुमार सुगात्रकी वास्तविक आँखें नीति-शास्त्र था। उसकी मति सत्पथ पर ही चलती थी। प्रत्येक कार्यकी सफल विधिको वह जानता था। पुरुषकी बहत्तर ही कलाओं-का पंडित था, परस्त्रीगमन, मदिरापान, आदि व्यसनोंसे अछूता था। उसके आचार-विचार पवित्र थे। पिताके समान शूर था। प्रतिदिन देखनेपर भी वह सुभगतर ही लगता था। अवस्थाके कारण बालक होनेपर भी अपने गुणों, शील तथा कार्योंके द्वारा वह वृद्ध के समान अनुभवी ही था ॥ ९ ॥

उसकी क्षमताओंका ध्यान आते ही जनताको ऐसा लगता था कि कोई देवकुमार अथवा विद्याधरकुमार अथवा कोई किन्नरपुत्र ही अपने लोगोंको बिना बतलाये पृथ्वीपर चला आया है। दूसरे ही क्षण जब उसके शरीरको देखते थे तो उन्हें यही आशंका होती थी कि मनुष्य लोकको आश्चर्यमें डालनेके ही लिए मनसिज कामदेव, जिसका शरीर ही नहीं है वही सांगोपांग शरीर धारण करके पृथ्वीपर आ पहुँचा है ॥ १० ॥

अन्य पुत्र

साम्राज्ञी अनुपमादेवीके समान ही सम्राटकी दूसरी सब रानियोंको भी पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई थी। इन सब रानियोंकी चारुता, स्वभाव तथा अन्य प्रवृत्तियाँ देवराज इन्द्रकी पत्नीके समान थीं। फलतः उनसे जो पुत्र पैदा हुए थे उन सबका रूप तथा अन्य गुण अतुल थे। इन पुत्रोंका जन्म वैसा ही था जैसा कि शुभकर्मोंके उदय होनेपर भले कार्योंका परिणाम होता है ॥ ११ ॥

इसी अवसरके आगे-पीछे उत्पन्न हुए आमात्यों, सेनापतियों तथा मन्त्रियोंके पुत्र, इन बालकोंके ही समवयस्क सामन्त राजपुत्र, नगरकी श्रेणियों तथा गणोंके प्रधानोंके पुत्र तथा नगरके जो कुलीन पुरुष थे उन सबके पुत्र भी राजपुत्र सुगात्र आदिके साथ ही रहते खेलते थे ॥ १२ ।

---

१. क शुभोदया । २. म पुरःप्रधान°, [पुरप्रधान°] । ३. क °संप्रधानाः ।

समानशीलाः समरूपवेषा गुणैः समेताः सदृशाः क्रियाभिः ।
परस्परस्नेहनिबद्धभावाः शिशिक्षिरे राजसुतैः कलाश्च ॥ १३ ॥
यस्यात्मजा नागकुमारकल्पा बलं च यस्यारिजनप्रमाथि ।
यस्यासमो वैश्रवणो धनेन विभूतिरिन्द्रप्रतिमा च यस्य ॥ १४ ॥
यस्योरुनीत्या रिपवो हि[1] नाशा गता विनाशं सकलत्रपुत्राः[2] ।
प्रजाश्च सर्वर्द्धिगुणैरुपेता वर्णाश्रमांस्तस्थुरथ स्वमार्गैः[3] ॥ १५ ॥
अन्यायवृत्तिर्न बभूव लोके राज्ये च यस्यर्द्धिमभिप्रयाते ।
नवैर्नवैरर्थसुमित्रपुत्रैः स राजवर्योऽनुबभूव भोगान् ॥ १६ ॥

उन सब बालकोंका एक-सा शील था। उन सबका वेशभूषा एक ही शैलीकी थी। रूपमें भी वे सब एकसे ही थे। सबके सब बालक सद्गुणोंके भंडार थे। उठना बैठना, पढ़ना-खेलना आदि क्रियाओंमें इतनी समता थी कि उनमें भेद करना ही कठिन था। परस्पर का स्नेह तथा बन्धुत्व इतना बढ़ा हुआ था कि वे सब सहोदर ही मालूम देते थे। इस प्रकार वे सबही राजपुत्रोंके साथ-साथ मनुष्यके लिये परम उपयोगी बहत्तर कलाएँ सीख रहे थे ॥ १३ ॥

आदर्श पिता

सम्राट वरांगके सब पुत्र रूप, शील, पराक्रम, आदिमें नागकुमार देवोंके पुत्रोंके समान थे। उनका निजी बल तथा कोश, सैन्य, आदि बल शत्रुओंका सहज ही मान मर्दन करनेमें समर्थ था। जहाँ तक सम्पत्तिका सम्बन्ध है साक्षात् वैश्रवण (कुबेर) भी उनकी समता नहीं कर सकते थे। आनर्तपुराधीशके वैभव तथा भोग सामग्रीका तो कहना ही क्या है ? वह इन्द्रकी विभूतिकी समता करती थी ॥ १४ ॥

उनकी राजनीति इतनी गम्भीर, सफल तथा दूरगामिनी थी कि उसके ही कारण उनके शत्रु केवल अपने राज्योंसे ही वंचित न हुए थे अपितु स्त्री बच्चोंके साथ समूल नष्ट हो गये थे। सम्राजकी समस्त प्रजा सब तरहकी सम्पत्ति तथा नागरिकोंके आदर्श गुणोंसे सुशोभित थी। सारे राज्यको प्रजा अपने-अपने धर्मों, वर्णों तथा आश्रमोंकी मर्यादाका विधिवत् पालन करती थी ॥ १५ ॥

अन्याय युक्त प्रवृत्तिका पूरे राज्यमें कहींपर भी नाम तक न सुनायी देता था क्योंकि उनका राज्य दिनों-दिन आध्यात्मिक और आधिभौतिक संपत्तियोंकी वृद्धि कर रहा था। सम्राट वरांगको सदा ही नूतन मित्रों तथा पुत्रादि प्रियजनोंका समागम तथा अद्भुत संपत्तियोंकी प्राप्ति हो रही थी। फलतः वे प्रचुर मात्रामें भोगोंका रसास्वादन कर रहे थे ॥ १६ ॥

१. [हताशा]। २. क °पुत्रम्। ३. म स्वमार्गे।

महामहप्रीतिपुरस्सराणि पुण्याहमङ्गल्यशुभक्रियाणि ।
महोत्सवानन्दसमन्वितानि वर्षाण्यनेकानि गतानि तस्य ॥ १७ ॥
कदाचिदीशानसमानतेजा जाज्वल्यमानोत्तममौलिलीलः ।
मृगेन्द्रसत्कुण्डलघृष्टगण्डो ज्वलत्प्रलम्बोत्तमहेमसूत्रः ॥ १८ ॥
रत्नोत्पलालिङ्गितहारवक्षा निबद्धकेयूरसुपीनबाहुः ।
विमिश्ररक्तोत्पलमाल्यधारी दुकूलवस्त्रोज्ज्वलगात्रयष्टिः ॥ १९ ॥
सुगन्धिसच्चन्दनकुङ्कुमाक्तस्तुरुष्ककालागरुधूपिताङ्गः ।
शान्तः पुनः कान्तवपुर्नरेन्द्रः सुखं निषण्णो वरहर्म्यपृष्ठे ॥ २० ॥

जिनेन्द्र देवकी महामह (राजपूजा) आदि पूजाओंको करनेका सम्राटको अद्भुत चाव था। कोई ऐसा दिन न जाता था जिस दिन पुण्याह (स्तुति-पूजा) आदि कोई कल्याणकारी तथा शुभबन्धका कारण प्रशस्त कार्य न किया जाता हो। धार्मिक कार्योंके साथ-साथ ही प्रतिदिन कोई महोत्सव अथवा आनन्द-प्रसंग ऐसे मनोविनोद भी चलते थे। इस विधिसे सम्राटके अनेक वर्ष बीत चुके थे ॥ १७ ॥

भोगरति

एक दिनकी घटना है कि सम्राट राज प्रासादकी छतपर बैठे थे। उस समय उनके तेजस्वी रूपको देखते ही प्रतापी इन्द्रका स्मरण हो आता था। उनके विशाल मस्तकपर जो उत्तम मुकुट बँधा था उसकी प्रभासे आसपासका वातावरण प्रकाशित हो रहा था। उज्ज्वल तथा रमणीय कुण्डल उसके गालोंको छू रहे थे, इनपर महा इन्द्रनीलमणिका काम किया गया था। कंधेपर उत्तम सोनेका सूत्र पड़ा था जो कि धातुकी निर्मलताके कारण अनुपम तेजसे चमक रहा था ॥ १८ ॥

विशाल वक्षस्थलको हार घेरे हुए था उसमें भाँति-भाँतिके रत्न पिरोये गये थे। पुष्ट तथा पीन भुजदण्डोंपर सुन्दर तथा महार्घ केयूर बँधे हुए थे। लाल मणियोंकी माला गलेमें सुशोभित हो रही थी, इसके बीच-बीचमें पिरोये गये अरुण रंगोंके मणियों-की शोभा तो अलौकिक थी। स्वभावसे सुन्दर तथा स्वस्थ शरीरकी शोभा उस समय पहिरे गये धवल निर्मल वस्त्रों के कारण निखर उठी थी ॥ १९ ॥

सुगन्धि श्रेष्ठ चन्दनका लेप तथा कुंकुमसे सारा शरीर व्याप्त था। स्नान के उपरान्त तुरुष्क (गुग्गुल) तथा कालागरु चन्दनकी धूपका धुंआ दिया गया था जिसके कारण शरीरसे सुगन्ध के झोंके आ रहे थे। सम्राटके सुन्दर शरीरकी कान्ति देखते ही बनती। वे उस समय स्वभाव से भी अत्यन्त शान्त थे ॥ २० ॥

नृपो विरेजे मदशालिनीनां मध्ये स्थितः पार्थिवसुन्दरीणाम् ।
शशीव कान्त्या निजया समेतः सुतारकामध्यगतोऽम्बरे ह ॥ २१ ॥
यथालकायां सुरसुन्दरीभिः सहैव रेमे भगवान्महेन्द्रः ।
मदेन विभ्राजितलोचनाभो रेमे चिरं भूमिपतिस्तथैव ॥ २२ ॥
निजांशुभिर्व्याप्तदिगन्तराणि[2] ज्योतींषि पश्यन्प्रतिदर्शयंश्च ।
प्रियाङ्गनाभ्यः प्रियमावहंश्च निशामुखं भूपतिरध्युवास ॥ २३ ॥
शरत्प्रदोषे विगताभ्रवृन्दान्यवचित्रनक्षत्रगणाभिरामान् ।
विभासयन्ती भुवमन्तरिक्षमुल्का पपाताशु सविस्फुलिङ्गा ॥ २४ ॥

सम्राट के चारों ओर उनकी रानियाँ बैठी हुयीं थीं यौवन मदके पूरमें सराबोर उन अनुपम सुन्दरी रानियोंके बीचमें बैठे वरांगराज ऐसे मालूम देते थे जैसा कि अपनी पूर्ण चन्द्रिकाके साथ आकाशमें उदित हुआ चन्द्रमा तब लगता है जब कि उसके चारों ओर समस्त तारिकाएँ भी चमकती रहती हैं ॥ २१ ॥

देवराज इन्द्र अपनी राजधानी अलकापुरीमें स्वर्गीय सुन्दरियों अप्सराओंके साथ जिस निःशंक रूपसे विविध केलियाँ तथा विहार करता है। उसी प्रकार सम्राट वरांग आनर्तपुरीमें अपनी लोकोत्तर रूपवती पत्नियोंके साथ रमण करते थे। इन रानियों की बड़ी-बड़ी आँखें यौवन तथा मन्दिराके मदके कारण अत्यन्त मनोहर हो जाती थीं ॥ २२ ॥

रात्रिका प्रारम्भ प्रदोषमें गुरु, शुक्र, आदि ज्योतिषी देवोंके विमान आकाशमें चमक रहे थे, उनकी परिमित आभासे आकाशतल व्याप्त था। इन ग्रहों तथा तारोंकी कान्ति से आकृष्ट होकर सम्राट स्वयं उन्हें देख रहे थे और अपनी रानियोंको दिखा रहे थे। इसी अन्तरालमें सम्राट प्राण-प्यारियोंको प्रसन्न करनेवाली अन्य चेष्टाएँ भी करते जाते थे। वे परिपूर्ण आनन्द मुद्रामें छतपर बैठे थे ॥ २३ ॥

वह शरद् ऋतुकी रात्रिका प्रथम प्रहर था। आकाश मेघोंसे शून्य था फलतः अनेक भाँतिके अद्भुत तारोंकी आभासे से विभासित हो रहा था। ऐसे शान्त वातावरणसे युक्त आकाशसे अकस्मात् ही बिजली टूटी थी, उसके विस्फुलिंग (तिलंगे) चारों ओर फैल गये थे और एक क्षणके लिए अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी भी आलोकित हो उठे थे ॥ २४ ॥

---

१. क °लीनः] २. म °व्याप्य ।

तामापतन्तीं प्रभया परीतामतिप्रवृद्धाग्निशिखामिवोल्काम् ।
समीक्ष्य राजा सह सुन्दरीभिर्विरागतां तत्क्षणतो जगाम ॥ २५ ॥
ताराभिराभिः परिवेष्टिता सा यथैव चोल्का खतलात्पपात ।
प्रियाङ्गनाभिः परिवार्यमाणो राज्यात्प्रयास्यामि तथाहमस्तम् ॥ २६ ॥
चतुर्विधेनापि महाबलेनचस्वबन्धुभिर्मित्रजनैः परीतः ।
अहं पुरा दुर्दमितेन तेन नीतोऽस्मि दूरं हयसत्तमेन ॥ २७ ॥
एवं पुनर्धर्मपथादपेतो जन्माटवीषु प्रविनष्टचेताः ।
स्वदुष्कृतोपात्तहयाधिरूढः परिभ्रमिष्यामि तथेत्यनैषीत्[1] ॥ २८ ॥

वैराग्य

आकाशसे गिरती हुई उस उल्काकी प्रखर प्रभापर दृष्टि न ठहरती थी। उसे देखकर ऐसा भान होता था कि बेहद बढ़ी हुई अग्निकी ज्वाला ही आकाशसे गिर रही है। सम्राट वरांगने अपनी सुकुमार सुन्दर पत्नियोंके साथ ही उसे आकाशसे टूटते देखा था, तो भी उन्हींपर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा था कि उन्हें भी उसी क्षण गाढ़ वैराग्य हो गया था। अकस्मात् ही उनके मुखसे निम्न वाक्य निकल पड़े थे ॥ २५ ॥

वैराग्य-भावना

सुकुमार ज्योतियुक्त तारिकाओंसे घिरी हुई यह उल्का जिस प्रकार आकाशसे अकस्मात् गिरकर कहीं लीन हो गयी है, इसी प्रकार अनुपम रूपवती इन प्राण-प्यारी पत्नियोंसे घिरा हुआ मैं भी किसी दिन इस राज्य पदसे च्युत होकर न जाने कहाँ लुप्त हो जाऊंगा ॥ २६ ॥

जब मैं उत्तमपुरका युवराज था उस समय भी मेरी हस्ति, अश्व, रथ तथा पदाति इन चारों प्रकारकी सेनामें कोई त्रुटि न थी, मेरे लिए प्राणों तकका मोह न करनेवाले बन्धुबान्धवों तथा मित्रोंकी कमी न थी तो भी वह बलवान दुष्ट घोड़ा मुझे बहुत दूर किसी अज्ञात स्थानको ले भागा था और उसे कोई भी न रोक सका था ॥ २७ ॥

किन्तु अनादिकालसे लगे रोगकी वह क्षणिक व्यक्ति ही थी, क्या मैं पूर्व जन्ममें किये गये पाप कर्मोरूपी दुर्दम घोड़ेपर आरूढ़ होकर आज भी, इस क्षण भी जन्म-मरण रूपी महावनोंमें नहीं घूम रहा हूँ ? क्या मेरा वास्तविक चित्त (विवेक) नष्ट नहीं हो चुका है ? क्या उस भ्रमणके समान आज भी मैं धर्ममार्ग रूपी राजपथसे पुनः भृष्ट नहीं हो गया हूँ ॥ २८ ॥

१. क तथैवनैषीत् ।

निःश्वस्य दीर्घं स्वशिरः प्रकम्प्य निर्भिद्य संसारमपारदुःखम् ।
उत्थाय तस्यां नृपतिः सभायां स्ववासगेहं प्रविवेश धीमान् ॥ २९ ॥
प्रविश्य तं भोगविरक्तचित्तस्तत्त्वार्थमार्गाभिनिविष्टबुद्धिः ।
नैस्संग्यमास्थातुमना नरेन्द्रो लोकस्थितिं चिन्तयितुं प्रवृत्तः ॥ ३० ॥
अनित्यभावं ह्यशरण्यतां च संसारमेकत्वमथान्यतां च ।
अशौचमथास्रवसंवरौ च सनिर्जरं बोधिसुदुर्लभत्वम्[1] ॥ ३१ ॥
इमं च लोकं परलोकभावं शुभाशुभं कृत्यमकृत्यतां च ।
गत्यागतिं बन्धविमुक्तिमार्गं विचिन्तयामास यथास्वभावम् ॥ ३२ ॥

उनके चित्तने ही उत्तर दिया था कि वास्तवमें सब बातें वैसी ही थीं। दुःख और पश्चातापके कारण उनके मुखसे अनायास ही लम्बी श्वास निकल पड़ी थी, भूल स्वीकारका द्योतन करनेके लिए उन्होंने शिर हिलाया था, संसारके अपार तथा भीषण दुःखोंका स्मरण करके वे कांप उठे थे। इन्हीं विचारोंमें लीन होकर वे उस विलास सभासे उठ गये थे। और अपने एकान्त गृहमें चले गये थे ॥ २९ ॥

संसारके विषय भोगसे उन्हें स्थायी विरक्ति हो चुकी थी। आत्माके पूर्ण विकासके साधक तत्त्व मार्गपर उन्हें पूर्ण आस्था हो चुकी थी। वे परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि होनेका निर्णय कर चुके थे। फलतः ज्यों ही वे एकान्तमें पहुँचे त्यों ही उन्होंने जगतके स्वभाव तथा अन्य बातोंका गम्भीर विचार प्रारम्भ कर दिया था ॥ ३० ॥

बारह भावना

संसारके स्वरूपकी भावना करते ही उनके सामने उसकी अनित्यता नग्न रूपमें खड़ी हो गयी थीं। आत्माकी अशरणता के ध्यान से ही वे काँप उठे थे। संसारकी निस्सारता, सुखदुःखमें जीवका अकेलापन, बन्धु-बान्धवोंसे सर्वथा पृथक्ता, जगत तथा कायाकी अपवित्रता, कर्मोंका आस्रव तथा संवर, कर्मोंका समूल नाश (निर्जरा), तत्त्वज्ञानकी दुर्लभता, इस लोकका आकार तथा अधो, मध्य तथा ऊर्ध्वलोक आदि विशेष विभाग ॥ ३१ ॥

लोक भावना

शुभ कर्मोंकी उपादेयता तथा अशुभ कर्मोंका त्याग मय धर्म तथा क्या कर्त्तव्य या आत्माका स्वभाव है तथा कौनसे अकर्त्तव्य पर-स्वभाव हैं, इत्यादि रूपसे आत्मतत्त्व आदि भावनाएं उनके हृदयमें जाग्रत हुई थीं। जीवकी क्या गति हो सकती है, किन कारणोंसे दुर्गति होती है, बन्ध तथा मोक्षके प्रयोजक कौनसे कार्य हैं इन सब विचारणीय विषयोंकी सम्राटने निश्चयदृष्टिसे चिन्ता की थी ॥ ३२ ॥

१. क °सुदुर्लभं च ।

अमेयवीर्यद्युतिसत्त्वशौर्या दिवौकसस्त्वष्टगुणर्द्धियुक्ताः ।
दिवस्पतिं वज्रधरं महेन्द्रं दिवः पतन्तं न हि वारयन्ति ॥ ३३ ॥
द्विसप्तरत्नाधिपतिं निधीशं महौजसं मन्दरसारवीर्यम् ।
सुरक्षमाणं गणबद्धदेवैर्नैवान्तको मुञ्चति चक्रपाणिम् ॥ ३४ ॥
जगत्प्रधानाः पुरुषाः पुराणा ब्रह्मा हरो विष्णुरिति त्रयोऽपि ।
तानप्युदारान्विवशीचकार न मृत्युतो वीर्यतमोऽस्ति कश्चित् ॥ ३५ ॥
हलीशवागीशगणेश्वराश्च विद्येश्वराः सर्वभुवामधीशाः ।
योगीश्वरा ये च महर्षयश्च पतन्ति कालेन निपात्यमानाः ॥ ३६ ॥

इसी प्रसंगमें उन्हें स्मरण आया था कि स्वर्गके सम्राट इन्द्रके अनुयायी सब देव स्वयं ही अपरिमित शारीरिक बल, तेज, साहस तथा पराक्रमके स्वामी होते हैं, उनकी निवासभूमि मरणशील मनुष्यके वासस्थलसे सर्वथा विलक्षण है। इन सब योग्यताओंके अतिरिक्त वे अणिमा, लघिमा, आदि आठ ऋद्धियोंके स्वामी भी हैं। इनके स्वामी इन्द्रका तो कहना ही क्या है, उनके पास इन सब योग्यताओंके साथ-साथ वज्र ऐसा महान आयुध भी रहता है, किन्तु आयु समाप्त होने पर जब महेन्द्रका पतन होता है तो उन्हें कोई भी नहीं बचा पाता है ॥ ३३ ॥

मरते न बचावे कोई

द्विगुणित सात अर्थात् चौदह रत्नोंके स्वामी नव-निधियोंके एकमात्र भण्डार, महान तेजस्वी, सुमेरु पर्वतके समान अडिग तथा शक्तिशाली, पूर्व पुण्यसे प्रेरित देवताओं और गणोंके द्वारा सुरक्षित तथा स्वयं भी चक्र ऐसे अमोघ शस्त्रके कुशल परिचालक चक्रवर्ती सम्राटको भी अन्तक (मृत्यु) नहीं ही छोड़ता है ॥ ३४ ॥

ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश ये तीनों महात्मा वैदिक-जगतमें सबसे प्राचीन पुरुष थे, जन साधारणसे सर्वथा विलक्षण होनेके यह कारण ही उनके प्रधान थे। तथा इनके विचार व्यवहार अत्यन्त उदार थे, किन्तु अन्तकने इन्हें भी इहलीला समाप्त करनेके लिए सर्वथा विवश कर दिया था। भला कोई भी प्राणी; क्या मृत्युसे भी अधिक शक्तिशाली है ॥ ३५ ॥

हलधर, विद्याधर, गणधर, व्याख्यान कलाके अवतार तथा समस्त संसारके एकक्षत्र राजा लोग अपने-अपने क्षेत्रमें अजेय थे। संसार छोड़कर उग्र तपस्या करनेवाले योगीश्वर, तथा लोकोत्तर ऋद्धियोंको अलौकिक सिद्धियोंको कौन नहीं जानता है। किन्तु जब कालने इनपर ठोकर मारी थी तब ये सब भी पके पत्तेके सदृश चू गये थे ॥ ३६ ॥

तादृग्विधानां जगदीश्वराणां प्रकाशवंशामितपौरुषाणाम् ।
न चास्ति चेन्मृत्युपथा विमुक्तो ह्यस्मद्विधानां च कथैव नास्ति ॥ ३७ ॥
निदाघमासोत्थमहादवाग्निर्दहत्यरण्ये तृणपर्णकाष्ठम् ।
चराचरं लोकमिदं समस्तं कालाग्निरेवं खलु दंदहीति ॥ ३८ ॥
लोहाय नावं जलधौ भिनत्ति सूत्राय वैडूर्यमणिं दृणोति[2] ।
सुचन्दनं चौषधि भस्मनाऽसौ[3] यो मानुषत्वं नयतीन्द्रियार्थैः ॥ ३९ ॥
हस्तागतं प्राणबलप्रदं च त्यक्त्वामृतं स्वादुरसोपपन्नम् ।
प्रदाय मौल्यं मतिमन्दभावात्पिबेद्विषं हालहलं दुरन्तम् ॥ ४० ॥

इन महापुरुषोंके वंशोंकी आज भी ख्याति है। इन लोगोंका पराक्रम तथा पुरुषार्थ असीम था। छोटे-मोटे राष्ट्र नहीं अपितु कितनी ही दृष्टियोंसे ये लोग सारे संसारके ही रक्षक थे। किन्तु जब ऐसे महापुरुषोंको भी मौतकी धारसे छुट्टी न मिली तो मेरे ऐसे क्षुद्र जन्तुकी तो बात ही नहीं उठती है ॥ ३७ ॥

ग्रीष्म ऋतुके दिनोंमें जो आग जंगलमें लगती है वह संयोगवश भीषण दावाग्निका रूप धारण करके घास, पत्ते, लकड़ी आदिकी विपुल राशिको अनायास ही जलाती जाती है। क्या कालरूपी भयंकर अग्नि स्थावर तथा जंगम जीवों, तथा अजीवोंसे परिपूर्ण इस संसाररूपी महा वनको बिना रुके अनादिकालसे नहीं जलाती आ रही है ? ॥ ३८ ॥

जो मनुष्य इस अनुपम मनुष्य पर्यायको इन्द्रियोंकी तृप्ति करनेमें ही व्यतीत कर देता है वह व्यक्ति अगाध, अपार पारावारमें दो चार कौलोंके लिए अपनी लोहेकी नौकाको तोड़ता है। अथवा एक तागा बनानेके लिए वैडूर्यमणिको पीसता है अथवा थोड़ी-सी भस्मके लिए श्रेष्ठ तथा सुगन्धित चन्दनको जलाता है ॥ ३९ ॥

दुर्लभ नर पर्याय

अथवा यों कह सकते हैं कि किसी व्यक्तिको संयोगवश सुस्वादु रससे परिपूर्ण अमृत मिल गया है जिसे पीकर उसकी प्राण शक्ति तथा अन्य क्षमताएं इतनी बढ़ सकती हैं कि मृत्यु उसे छू भी न सके। किन्तु वह व्यक्ति मन्दमति होनेके कारण हाथमें आये अमृतके पात्रको भूलसे छोड़कर और मूल देकर विषको पीता है जिसका परिणाम कभी अच्छा हो ही नहीं सकता है ॥ ४० ॥

---

१. (°पथाद्विमोक्षो)। २. (दृणाति)। ३. क °भस्मनासा, (°भस्मनेऽसौ)।

तथैव लोकद्वयसौख्यमूलं विहाय धर्मं हततत्त्ववुद्धिः ।
पापाकुलं कर्म यदीह कुर्यां सतां भविष्यामि विगर्हणीयः ॥ ४१ ॥
यथैव शालीक्षुफलप्रदाने सुक्षेत्रयज्ञो निवपेदलाबुम् ।
तथैव निर्वाणफलप्रदाने नृत्वावनौ[1] शोकफलं वपेयम् ॥ ४२ ॥
रत्नाकरं द्वीपवरं प्रविश्य महार्घ्यरत्नानि च तानि दृष्ट्वा ।
नरो न संगृह्य हि रिक्तपाणिः पश्चादवाप्नोति निवृत्तयात्राम्[2] ॥ ४३ ॥
एवं सुमानुष्यमवाप्य दुःखाद्रूपादिभिश्चापि गुणैर्युतोऽपि ।
नरत्नसारं यदि नादधीयं[3] मुग्धस्त्ववश्यं निहितो[4] भवेयम् ॥ ४४ ॥

ठीक यही अवस्था मेरी भी होगी यदि मैं तत्त्वज्ञानसे विमुख होकर उस धर्मको छोड़ दूँगा, जो कि इसलोक और परलोक दोनोंमें ही सब सुखोंको देता है तथा उन कर्मोंमें लीन हो जाऊँगा जो प्रत्येक अवस्थामें पापबंधके कारण होते हैं। उस समय मुझसे बढ़कर निन्दनीय और कौन होगा ॥ ४१ ॥

आत्मचिंतन

यदि कोई अज्ञानी किसी उर्वरा सुन्दर भूमिपर अलंबु (तोमरी) को बो दे जिसपर कि धान, ईख आदि सरस पदार्थों-की उत्तम उपज हो सकती थी, तो उसे कौन न हँसेगा ? किन्तु, यदि मैं धर्ममार्गसे विमुख रहता हूँ मनुष्य पर्यायरूपी उत्तम भूमिपर मैं भी तो शोकरूपी फल देनेवाले कुकर्मोंको बोऊँगा, जब कि सुकर्मका बीज लगा कर मैं निर्वाणरूपी फल पा सकता हूँ ॥ ४२ ॥

कोई पुरुष संयोगवश किसी ऐसे श्रेष्ठ द्वीपपर पहुँच जाय जो सब प्रकारके रत्नोंका भण्डार है। वह अपने पैरोंके तले पड़े एकसे एक मूल्यवान रत्नोंको देखे भी, किन्तु उनमेंसे एकको भी उठाकर अपने पास नहीं रखता है। इसी बीचमें समय समाप्त हो जाता है और उसे वहाँसे खाली हाथ ही लौटना पड़ता है ॥ ४३ ॥

इस अज्ञानी पुरुषके समान ही अनेक दुःखमय जन्मोंको व्यतीत करनेके बाद मनुष्य पर्याय प्राप्त है, सौभाग्यसे सुरूप, सुबुद्धि, आदि सबही प्रशस्त गुण भी मुझमें हैं, तो भी यदि मैं मनुष्य जन्मके साररूपी रत्न (धर्मसाधना) को नहीं ग्रहण करता हूँ, तो मुझसे बड़ा मूर्ख और कौन होगा ? उस अवस्थामें मेरा विनिपात भी निश्चित है ॥ ४४ ॥

---

१. म कृत्वा वनौ । २. क निवृत्ति° । ३. क नावदीयं । ४. (निहतो) ।

मोहावृतो विस्मृतधर्मचेष्टो यद्याचरिष्याम्यहमत्र पापम् ।
योनिष्वनेकासु कृतान्तनीतो दुःखान्यनेकान्यहितानि लिप्स्ये[5] ॥ ४५ ॥
नायूंषि तिष्ठन्ति चिरं नराणां न शाश्वतास्ते विभवाश्च तेषाम् ।
रूपादयस्तेऽपि गुणाः क्षणेन सविद्युदम्भोदसमानभङ्गाः ॥ ४६ ॥
समुत्थितोऽस्तं रविरभ्युपैति विनाशमभ्येति पुनः प्रदीपः ।
पयोदवृन्दं प्रलयं प्रयाति तथा मनुष्याः प्रलयं प्रयान्ति ॥ ४७ ॥
विज्ञाय चात्यन्तमनित्यभावमत्राणतामप्यशरण्यतां च ।
तपो जिनैरभ्युदितं यथावद्यद्यत्र कुर्यां न हि वञ्चितोऽस्मि ॥ ४८ ॥

यहाँपर मोहने मेरे विवेकपर पर्दा डाल रखा है। मैं धर्ममय आचार तथा विचारोंको भूल गया हूँ। इस अवस्थामें मैं जिस, जिस पापमय कुकर्मको यहाँ कर रहा हूँ, उस, उस कर्मका कुफल मुझे अनेक दुखों तथा अकल्याणोंके रूपमें उन अनेक जन्मोंमें भरना पड़ेगा जिसमें कृतान्त मुझे मृत्युके बाद घसीटता फिरेगा ॥ ४५ ॥

अनित्य भावना

सांसारिक विषय भोगोंमें लीन मनुष्योंकी आयु चिरकालतक नहीं ठहरती है। वे विभव तथा सम्पत्तियाँ भी सदा नहीं रहती हैं जिनपर फूले नहीं समाते हैं। सौन्दर्य, स्वास्थ्य आदिका उन्माद भी साधारण नहीं होता है किन्तु ये सब गुण भी तो एक क्षणमें उसी प्रकार अदृश्य हो जाते हैं जिस प्रकार समस्त आकाशको आलोकित करनेवाली विद्युत् तथा विचित्र-विचित्र आकारधारी मेघ लुप्त हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

संसारके समस्त शुभकर्मोंका प्रवर्तक रवि जब एक बार उदित होता है तो उसका अस्त भी अवश्यंभावी है। प्रज्वलित किये गये मनोहर प्रदीपका बुझना भी अटल है। तथा आकाश भित्तिपर भाँति-भाँतिकी चित्रकारी करनेवाले मेघ भी क्षणभरमें ही विलीन हो जाते हैं। मनुष्योंकी भी यही गति है, जो उत्पन्न हुए हैं एक दिन उनका मरण अवश्य होता है ॥ ४७ ॥

अशरणता

मनुष्य जीवनको अनित्यताको जानकर, अत्यन्त अशरणताके रहस्यमें पैठ कर तथा सब दृष्टियोंसे इसी निष्कर्षपर आकर कि जीवको दुःखोंसे कोई भी शक्ति नहीं बचा सकती है, परमपूज्य, पूर्णज्ञानी जिनेन्द्र प्रभुने उचित विधि विधानयुक्त तपस्याका उपदेश दिया था यदि मैं उसे नहीं करता हूँ, तो मुझे सब दृष्टियोंसे ठगा गया समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

५. (लप्स्ये)। ६. म °सर्व°।

किमत्र पुत्रैर्द्रविणोपहारैः संसारपाकाङ्कुरशोकमूलैः ।
दारैस्तु किं वा हृदयप्रहारैश्चोरारिसर्पप्रतिमैरशुद्धैः ॥ ४९ ॥
किं बान्धवैर्बन्धमयैः[1] सशल्यैरनर्थसंसिद्धिसमर्थलिङ्गैः ।
आशावपाशैः किमनर्थमूलैरर्थैर्वृथार्थैरितानुबन्धैः ॥ ५० ॥
राज्यैस्तु किं वा बहुचिन्तनीयैः संसारसंवर्धनहेतुभूतैः ।
भोगैः किमायासिभिरप्रशान्तैश्च[2]तुर्गतिक्लेशफलप्रदैस्तैः ॥ ५१ ॥
कः कस्य बन्धुस्त्वथ कस्य मित्रं कस्याङ्गना कस्य बलं धनं वा ।
के कस्य पुत्राः कुलजातिदेशा रूपादयः के क्षणदृष्टनष्टाः ॥ ५२ ॥

पुत्रोंकी प्राप्त करनेसे भी आत्माका क्या लाभ हो सकता है, वे सब संसाररूपी अंकुरके महापरिणाम हैं, सम्पत्ति भी क्या सुख देगी जो कि स्वतः ही समस्त दुखोंका मूल कारण है। जिनके विचारको मनसे निकालना असंभव है ऐसी प्राणाधिका पत्नियां भी किस काम आयेंगी, इन्हें तो साक्षात् हृदय चोर, घातक-शत्रु तथा दारुण सर्प ही समझना चाहिये, क्योंकि वे अनेक अपवित्रताओंकी भण्डार हैं ॥ ४९ ॥

सगे बन्धु-बान्धव भी कौन-सी रक्षा करेंगे ? वे सब मनुष्यके जीवित बन्धन हैं, अनेक प्रकारकी द्विविधाओंको जन्म देते हैं तथा ऐसे समर्थ साधन हैं जो सरलतासे अनेक अनर्थोंको उत्पन्न कर देते हैं । ५० ॥

संसार

अपने पुरुषार्थसे कमायी गयी सम्पत्ति भी किस कामकी है। वह व्यर्थ ही आशाके कठोर पाशमें बांध देती है, सब अनर्थोंकी ओर प्रेरित करती है फलतः संसारके काटोंमें घसीटनेवाले अशुभ बन्धका कारण होती है ॥ ५१ ॥

विपुल पुरुषार्थ और पराक्रमकी नींवपर खड़े किये गये विपुल राज्यसे भी परमार्थकी सिद्धि थोडे होगी ? उसके कारण दिन-रात चिन्ता करनी पड़ती है ! तथा अनेक पाप करनेके कारण संसार भ्रमण भी बढ़ता ही जाता है। विषय-भोगोंकी भी क्या उपयोगिता है ? उनका स्वाद लेनेके लिए पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है, तो भी कभी तृप्ति नहीं होती है । परिणाम होता है चारों गतियोंमें भ्रमण जो कि शोक-दुःखसे परिपूर्ण है ॥ ५१ ॥

ऐकत्वभावना

इस अनित्य लोकमें कौन किसका बन्धु है। कौन किसका मित्र है ? कौन किसकी प्राणधिका प्रिया है ? कैसा शारीरिक, मित्र, सेना आदिका बल हो सकता है ? कहाँ किसका धन है ? कौन लोग किसके पुत्र हो सकते हैं ? कैसा कुलका विचार ?

१. म बन्धुमयैः । २. म ° प्रशान्त्यै° ।

स्वं जीवितं न प्रविगण्य चोरः कस्मै समं वाञ्छति तं प्रयासम् ।
कस्येह चित्तं विमति न धत्ते विद्युद्वपुश्चञ्चलजीवितात्मा ॥ ५३ ॥
तिर्यग्मनुष्यासुरनारकाणां योनिष्वनेकास्वशुभावहासु ।
अनन्तकालं बहुजीवराशौ बंभ्रम्यते कर्मरथाधिरूढः ॥ ५४ ॥
संसारवासे वसतामसूनां शोकाय संक्लेशसहस्रभाजाम् ।
जरा च जातिर्मरणं च तेषामवश्यमेतत्क्षयमभ्युपैति ॥ ५५ ॥
अलाभलाभादिवियोगयोगं मानापमानप्रसवात्मकं यत् ।
सुखासुखं [1]तद्भुवने समस्ते जीवा लभन्ते स्वपुरात्मकेन ॥ ५६ ॥

कैसा जातिका अभिमान? किसका सौन्दर्य? कौन नहीं जानता है कि एक क्षणभरमें ही ये सब देखते-देखते ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ५२ ॥

समझमें नहीं आता कि चोर किसको संतुष्ट करनेके लिए अपने जीवन तककी चिन्ता नहीं करता है और असमय जागरण, असह्य-सहन, आदि भगीरथ प्रयत्नको करता है। किस धीर गम्भीर पुरुषका चित्त इस लोकके कोलाहलमें भ्रान्त नहीं हो जाता है, जब कि सब कार्योंका मूल आधार मनुष्य जीवन ही जलके बुद्बुदके समान अस्थिर और अनित्य है ॥ ५३ ॥

आह! यह जीव कर्मोंरूपी रथपर आरूढ़ होकर तिर्यञ्च, मनुष्य, देव तथा नारक योनियोंके अनेक भेद-प्रभेदोंमें चक्कर काटता है वहाँपर अनन्तकाल पर्यन्त विविध अशुभ तथा दुखोंकी अलग-अलग जीव योनियोंमें उत्पन्न होकर वह भरता है ॥ ५४ ॥

संसारकी विविध अवस्थाओंमें आयु काटनेवाले कर्मोंसे पददलित जीवोंके शोक दुखको बढ़ानेके लिए ही उनके जन्म, जरा तथा मरण होते हैं। वे हजारों तरहके मानसिक तथा कायिक संघर्षोंमें पड़कर चकनाचूर हो जाते हैं। उन्हें जो भी प्राप्त होता है वह निश्चयसे नष्ट हो जाता है, कुछ भी स्थायी नहीं होता है ॥ ५५ ॥

जगत्स्वभाव

अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप जीवोंको इस विस्तृत भुवनमें समस्त सुख-दुःख प्राप्त होते हैं—जो इष्ट है उसकी प्राप्ति नहीं होती है। जो अप्रिय है वह साथ नहीं छोड़ता है। संयोगवश जिस इष्टका समागम हो जाता है उससे वियोग होता है, यदि एक क्षणके लिए अप्रियसे छुटकारा मिलता है तो दूसरे क्षण उससे बड़ा अटल संयोग हो जाता है। मानका अभाव और पद-पद पर अपमान मुख फाड़े खड़ा रहता है ॥ ५६ ॥

१. [तद्भुवने]।

इत्येवमादीन्नृपतिर्विचिन्त्य [1]निर्वेगसंवेग[2]युतासदर्थम् ।
आहूय तं सागरवृद्धिमाप्तं स्वचित्तसंकल्पितमर्थमूचे ॥ ५७ ॥
पिता ममासीन्नृपतिः क्रियातस्त्वं धर्मतो मे पितृतामुपेतः ।
वने भ्रमन्तं कृपया कृतार्थं प्रायुंयुजो मामिह बन्धुवर्गैः ॥ ५८ ॥
[3]महायतां युध्यगमस्तदा मे सदाभिभूतं सुखदुःखमात्रम् ।
स्वतन्त्रमुत्सृज्य च मां गुणज्ञः प्रातिष्ठिपच्छ्रीमति राज्यभोगे ॥ ५९ ॥
ततो गुरुस्त्वं पितृमातृकल्प आपृच्छनीयश्च समर्चनीयः ।
निःशङ्कया तेन वदामि कार्यं तद्रोचतां ते यदि युक्तिमत्स्यात् ॥ ६० ॥

सम्राटके हृदयमें वैराग्यने घर कर लिया था अतएव उसने उक्त दृष्टियोंसे समस्त पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपपर गम्भीर मनन किया था। इसके समाप्त होते ही उसने अपने परम आदरणीय तथा विश्वस्त सेठ सागरवृद्धिको बुलाकर उनसे अपने मनके पूरेके पूरे दुःखका कह डाला था ॥ ५७ ॥

हे मान्यवर ? मेरे पूज्य पिता महाराज धर्मसेन अपने कर्मसे ही मेरे पिता थे किन्तु आपने अपने स्वार्थत्याग तथा स्नेह-के कारण मेरे धर्मपिताके स्थानको प्राप्त किया है। मैं जब जंगल-जंगल मारा फिरता था उस समय आपने ही कृपा करके मुझे शरण दी थी और समस्त बन्धु-बान्धवोंसे मिला दिया था ॥ ५८ ॥

विरक्ति उदय

जब मैं युद्धक्षेत्रमें आहत होकर मरणासन्न हो गया था तब आपने ही सहायता की थी। आपने मेरे सुख-दुःखको उसी प्रकार अनुभव किया है जिस प्रकार लोग निजीको करते हैं। आपने ही राज्यप्राप्तिका अवसर आते ही मुझे उचित कार्य करने-के लिए स्वतन्त्र कर दिया था और विशाल विभव, लक्ष्मीयुक्त राज्यसिंहासनपर बैठा दिया था ॥ ५९ ॥

इन सब कारणोंसे आप मेरे माता-पिताके समान ही नहीं हैं; अपितु हितोपदेशी गुरु भी हैं। आप मेरे परम पूज्य हैं तथा मेरा कर्त्तव्य होता है कि कोई भी कार्य करनेके पहिले आपकी सम्मति अवश्य लूं। यही कारण है कि मैं बिना किसी संकोचके ही आपके सामने अपने कर्त्तव्यको कहता हूँ। यदि आप उसे युक्तिसिद्ध समझें तो मेरी यही प्रार्थना है कि उसे पसन्द करके मुझे करनेकी अनुमति अवश्य देवें ॥ ६० ॥

१. म निर्वेद। २. [°संवेगयुतः]। ३. [सहायतां]।

यथैव मां स्थापितवान्नृपत्वे प्रजाहितायात्र गुणैरुदारैः ।
तथाग्रपुत्रं मम तं सुगात्रं राज्यश्रिया योजय साधु साधुम् ॥ ६१ ॥
मास्मत्स्मर[1] त्वं सुतरां कुमारं राज्यप्रकृत्या सह वर्धय त्वम् ।
अहं पुनः कामविरिक्तभावस्तपश्चरिष्यामि विमुञ्च तात ॥ ६२ ॥
निशम्य वाचं वसुधाधिपस्य संसारनिर्वेदपरायणस्य ।
स्नेहेन तं सागरवृद्धिरित्थं प्रोवाच धर्माश्रयणीयमर्थम् ॥ ६३ ॥
स्वामिन्किमेवं त्वविचार्य कार्यं विचिन्तितं केवलमर्थदूरम् ।
अत्रार्थनीयं मनसापि तादक् न संमतं स्यात्तदयुक्तिमत्त्वात् ॥ ६४ ॥

उत्तराधिकार-प्रस्ताव

हे साधु ? आनर्तपुर तथा इसके पहिले उत्तमपुरमें प्रजाके शुभ तथा सम्पत्तिके लिए जैसे आपने अपनी उदारता तथा दया, दाक्षिण्य, आदि गुणोंसे प्रेरणा पाकर मुझे राजपदपर अभिषिक्त किया था, वैसे ही अब आप मेरे ज्येष्ठपुत्र कुमार सुगात्रको आनर्तपुरको राजलक्ष्मीका स्वामी बनानेका कष्ट करिये क्योंकि कुमार सुगात्र राज्यपदके लिए सुयोग्य हैं ॥ ६१ ॥

आपसे यह भी आग्रह है कि मेरे चले जानेपर आप स्वयं मुझे याद न करेंगे । तथा स्वाभाविक चावसे विस्तृत साम्राज्य तथा प्रजाके साथ-साथ कुमार सुगात्रका भी अभ्युदय करेंगे । यह सब मैं इसलिए कह रहा हूँ कि मुझे लोकके विषय-भोगोंसे विरक्ति हो गयी है । अब तो आप लोगोंका आशीर्वाद लेकर मैं तप करूँगा । हे पिताजी ! अब मुझे छुट्टी दीजिये ॥ ६२ ॥

सम्राट वरांगकी विरक्ति गम्भीर थी वे एक क्षणके लिए भी उधरसे चित्तको न हटा सकते थे, सेठ सागरवृद्धिका स्नेह भी उतना ही गम्भीर और तीव्र था । फलतः सम्राटके वचनोंको सुन चुकने पर उन्होंने निम्न वाक्यों द्वारा अपना अभिमत, जो कि सदा सुनने और समझने योग्य धर्मशास्त्रका सार था—को प्रकट किया था ॥ ६३ ॥

"परिजन हैं रखवारे"

हे सम्राट ? आप यह क्या करते हैं ? मेरा मत है कि आपने इसपर सब दृष्टियोंसे विचार नहीं किया है, केवल उस दूर विषय (मोक्ष) पर ही आपने दृष्टि लगा रखी है जिसे किसीने साक्षात् देखा भी नहीं है । किन्तु इस प्रकारके लक्ष्यों अथवा आदर्शोंको तो मनसे भी नहीं सोचना चाहिये । मैं आपके इस निर्णयसे कैसे सहमत हो सकता हूँ क्योंकि इसका किसी भी तर्कसे समर्थन नहीं होता है ॥ ६४ ॥

१. [मास्मान्°] ।

अदेशकाले प्रतिसंनिबद्धं बलाबलक्षेमविचारहीनम् ।
यत्स्वल्पमप्यत्र हि कार्यजातं प्रारब्धमज्ञैर्न हि सिद्धिमेति ॥ ६५ ॥
इदं हि राज्यं नृपतिर्विशालं[1] जनोऽप्रगल्भस्तरुणः सुतोऽपि ।
स्नेहश्च पित्रोर्जनतानुरागो विचन्तनीयः[2] खलु सर्वमत्र ॥ ६६ ॥
अरातिभिर्दुष्टतमैरनिष्टैः सामन्तराजैरटवीश्वरैश्च ।
पुरा त्वया साधु विराधितैस्तैः सद्यो विनश्यत्यथ राज्यमेतत् ॥ ६७ ॥
प्रमाणभूतस्त्वमिह प्रजानां नीतिप्रगल्भो विदितत्रिवर्गः ।
अतो भवन्तं शिरसाभियाचे मा साहसं कर्म [3]कृथा नरेन्द्र ॥ ६८ ॥

अनुभवहीन पुरुषोंके द्वारा यदि कोई बहुत ही छोटा कार्य अनुचित देश तथा प्रतिकूल समयमें प्रारम्भ कर दिया जाता है, तो वह कार्य बहुत थोड़े परिश्रम तथा सामग्रीसे सिद्ध होने योग्य होनेपर भी, केवल इसीलिए पूर्ण नहीं होता है कि उस कार्यके कर्ताओंने अपनी शक्तिका ठीक लेखा-जोखा न किया था, विरोधी परिस्थितियों तथा शक्तियोंसे अनभिज्ञ रहे थे, तथा वह कार्य किस प्रकार सहज ही हो सकता था इस दिशामें उनका विचार गया ही नहीं था। फिर आनर्तपुरका यह राज्य तो अतिविशाल तथा भगीरथ प्रयत्न साध्य है ॥ ६५ ॥

राजसमाज महाअघ कारन

आपके उत्तराधिकारी कुमार सुगात्र अभी किशोर ही है, आपके समान अनुभव, साहस आदिसे हीन हैं। और विचारे अभी बालक ही हैं। इसके अतिरिक्त आपको माता-पिताका स्नेह तथा, जनताकी प्रगाढ़ राज-भक्ति भी ऐसी वस्तुएं हैं जिनकी एकदम बिना सोचे विचारे उपेक्षा नहीं की जा सकती है। यही सब बातें हैं जिनपर आपको शांत तथा निष्पक्ष होकर विचार करना चाहिये ॥ ६६ ॥

जो शत्रु आपके अभ्युदयमें बाधक थे, आचरण और शासन करनेमें अत्यन्त दुष्ट थे उन्हें आपने कठोर दण्ड दिया था। कितने ही महत्त्वाकांक्षी सामन्त राजाओंको आपने वशमें किया था, प्रजाकी शान्ति तथा समृद्धिके विरोधी अरण्य-चरोंको आपने जंगलोंमेंसे मार भगाया था, तो भी ये सब आपके असह्य प्रतापके कारण शान्त है। किन्तु आपके मुख मोड़ते ही इन लोगोंके अत्याचारोंसे यह साम्राज्य क्षणभरमें ही छिन्न-भिन्न हो जायगा ॥ ६७ ॥

प्रजाकी दृष्टिमें आपकी प्रत्येक चेष्टा प्रामाणिक है फलतः उसे आप पर अडिग विश्वास हैं। इसके भी कारण हैं, आप राजनीतिमें पारंगत हैं तथा धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों पुरुषार्थोंके समन्वय युक्त रहस्य तथा आचरणके आदर्श हैं। अतएव

१. [नृपतेर्विशालं]। २. [विचिन्तनीयं] ३. क वृथा।

निशम्य तत्सागरवृद्धिनोक्तं वचः सदर्थं परिपाकतिक्तम् ।
महीपतिर्मन्दरतुल्यधैर्यः पुनर्बभाषेऽर्थमचिन्त्यमन्यैः ॥ ६९ ॥
नृणां च संपज्जलबुद्बुदाभा तथौवनं द्वित्रिचतुर्दिनानि ।
आयुः पुनश्छिद्रघटाम्बुतुल्यं शरीरमत्यन्तमपायधर्मि[1] ॥ ७० ॥
धनं शरन्मेघचलस्वभावं बलं क्षणेनाभ्युपयाति नाशम् ।
केशास्त्वशुक्ला[2] जरसा भवन्ति मन्दत्वमायान्ति तथेन्द्रियाणि ॥ ७१ ॥
प्रीतिः पराभावमियर्ति सद्यः सुखं च विद्युद्वपुषा समानम् ।
एकैकरूपैरुपयाति मृत्युर्न तस्य लोके विदितः[3] क्षणोऽस्ति ॥ ७२ ॥

मैं मस्तक झुकाकर आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि हे सम्राट! आप इस प्रकारका अतिसाहस न करें, क्योंकि मुझे उसमें कोई लाभ नहीं दिखाता है ॥ ६८ ॥

वैराग्य-हेतु

सेठ सागरवृद्धिका यह कथन संसारकी वास्विकताओंसे परिपूर्ण था तथा लौकिक दृष्टिसे अक्षरशः सत्य था किन्तु इसका परिणाम तो बुरा ही हो सकता था। सम्राट वरांगराज भी सुमेरु पर्वतके समान अपने निर्णयपर स्थिर थे, उन्हें अपनी शक्तिमें अटूट विश्वास था, फलतः धर्म-पिताके वचनोंको सुनकर उन्होंने कुछ ऐसे रहस्यमय भूतार्थोंको उपस्थित किया था जिन्हें दूसरे सोच भी न सकते थे ॥ ६९ ॥

चंचला

मनुष्योंकी लौकिक सम्पत्ति, कौन नहीं जानता है कि पानीके बुद्बुदके समान चंचला है। संसारकी प्रत्येक वस्तुको सुनहला करनेमें पटु यौवन भी दो, चार (बहुत थोड़े समयतक) दिन ही टिकता है। मनुष्य जीवन (आयु) का तो कहना ही क्या है वह तो सैकड़ों छिद्रयुक्त घड़ेमें भरे गये पानीके समान है। शरीर तो हम देखते ही हैं कि बड़े वेगसे प्रतिक्षण नष्ट ही हो रहा है ॥ ७० ॥

जरा

धनकी वही अवस्था है जो शरद् ऋतुमें उड़ते हुए मेघोंकी है। सांसारिक कार्योंका प्रधान निमित्त बल तो एक क्षण-भर ही में न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। वृद्धावस्थाकी दृष्टि पड़ते ही मनुष्यके काले घुंघराले केश क्षणभरमें ही श्वेत हो जाते हैं। समस्त इन्द्रियाँ भी अपने आप ही निःशक्ति हो जाती हैं। मनुष्य जीवनके सुख शान्तिकी आधार-शिला प्रीति भी देखते-देखते ही बदल जाती है ॥ ७१ ॥

मृत्यु

सुखोंकी क्षणभंगुरता तो आकाशमें कौंधनेवाली बिजलीको भी मात करती है। इस लोकमें मृत्यु अलग-अलग अनेक

१. [अपायधर्मि]। २. [केशास्तु शुक्ला]। ३. [विहितः]।

यान्ति क्षयं ते निचयास्तु सर्वे समुच्छ्रितास्तेऽपि च संपतन्ति ।
वियोगमूलाः खलु संप्रयोगा मृत्योर्मुखं याति च जीवलोकः ॥ ७३ ॥
पिता च माता बहुबन्धुवर्गाः सहोदरा मित्रकलत्रपुत्राः ।
नष्टस्मृति कण्ठगतात्मचेष्टं न मृत्युतो मोचयितुं समर्थाः ॥ ७४ ॥
तादृग्विधैर्भोजनमात्रसंख्यैः किं बान्धवैर्मेऽस्ति हि कार्यमेभिः ।
तानप्यहं कर्मपथान्तरस्थान् त्रातुं न शक्तोऽप्यथ निश्चितुं त्वाम्[1] ॥ ७५ ॥
निरन्तरं तस्य नृपस्य वाक्यं श्रुत्वाब्रवीत्सागरबुद्धिरेवम् ।
यत्कर्तुमिच्छस्यनवद्यरूप तदात्मशक्त्या क्रियते मयापि ॥ ७६ ॥

रूपोंमें मनुष्यपर झपटती है। संसारमें कोई भी यह नहीं जानता है कि मृत्यु कब टूटेगी ? ॥ ७२ ॥

(पूर्णता) आयु समाप्त होते ही वे पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं जो हर ओरसे अत्यन्त घने और अभेद्य थे। जो पदार्थ अपनी असीम ऊँचाई-से आकाशका चुम्बन करते थे वे सब भी अन्त समय आते ही लुढ़क कर ढेर हो जाते हैं संसारके समस्त मधुर मिलन विकट वियोगोंके बीज हैं। सारा जीवलोक बिना अपवादके मृत्युके मुखमें समा जाता है ॥ ७३ ॥

अशरणता

माता-पिताका स्नेह अकारण और अनासक्त है, समस्त बन्धु-बान्धवोंकी प्रीति अनुपम है, सगे भाइयों, बहिनों और मित्रोंका भी यही हाल है, पत्नीके प्रेमकी सीमा नहीं है और पुत्रकी सेवापरायणता भी श्लाघ्य है। किन्तु जब मनुष्यके प्राण गलेमें अटक जाते हैं, उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है और चेष्टाएं रुक जाती हैं उस समय उसे कोई भी मृत्युके मुखसे मुक्त नहीं कर सकता है ॥ ७४ ॥

आत्म-शरण

इस कोटिके स्नेही, सगे तथा प्रेमी जन आदि मेरे भोजन आदि साधारण कार्योंमें ही साथ दे सकते हैं और मृत्युके समय व्यर्थ हैं तो आप ही कहिये इन लोगोंसे मेरा क्या भला हो सकता है ? तथा जब ये लोग भी अपने-अपने कर्मों रूपी मार्गपर जोरसे ढकेले जायेंगे मैं भी उनको उस समय बचानेमें निरर्थक रहूँगा। आप इसको निश्चित समझिये ॥ ७५ ॥

सेठ सागरवृद्धिने संसारके स्वरूपका नग्नचित्र उपस्थित कर देनेवाले सम्राटके वचन सुने थे तथा देखा था कि उनके उद्गार रुकते ही नहीं थे। तब उन्होंने इतना ही कहा था हे आर्य ? आपके आचार-विचार पवित्र हैं अतएव आप जो कुछ करना चाहते हैं मैं भी अपनी शक्तिके अनुसार उसी कल्याणकर मार्गपर चलना चाहता हूँ ॥ ७६ ॥

१. [निश्चिनु त्वम्]।

सन्मानमायावनिपैरतीव स्नेहं चकार स्वजनः परश्च ।
वणिक्प्रभुत्वे खलु वर्तमानस्तव प्रसादान्नृपतिस्त्वभूवम् ॥ ७७ ॥
मन्त्रे च युद्धे विषयार्थयोश्च सहायतां ते प्रतिपद्य पूर्वम् ।
अहं त्विदानीं यदि धर्मकृत्ये परित्यजेयं त्वधमोऽस्मि राजन् ॥ ७८ ॥
एवं निगद्य स्थिरधैर्यवीर्यो विचार्य राजा विगतद्विषश्च ।
अन्तःपुरं तस्य हि शासनेन आह्वाययां सागरवृद्धिरास ॥ ७९ ॥
आहूयमानास्त्वरया विभूष्य समेखलानूपुरमन्द्रनादाः ।
वराङ्गना भूपतिमभ्युपेत्य तस्थुः पुरस्ताद्विकृतोपचाराः ॥ ८० ॥

योगमें भी साथ

तुम्हारी कृपा तथा स्नेहके कारण ही मुझसे मेरे अपने सम्बन्धी तथा परजन गाढ़ स्नेह और सन्मान करते हैं। तुमसे मिलनेके पहिले मैं सीधा सादा वणिकोंका ही प्रधान था किन्तु तुमसे मिलते ही बड़े-बड़े राजा महाराजा लोग मेरा हृदयसे आदर करने लगे थे। इतना ही नहीं मैं सार्थपतिके पदसे बढ़ता-बढ़ता महान पृथ्वीपति हो गया था ॥ ७७ ॥

तथा यथाशक्ति आपको सम्मति देता था, युद्धमें सहायता करता था। तुम्हारे सुख दुःखमें हाथ बटाता था। कहनेका तात्पर्य यह कि अब तक मैं तुम्हारे प्रत्येक कार्यमें साथी था। ऐसा होकर भी यदि इस समय मैं धर्मकार्यमें आपको छोड़कर अलग हो जाता हूँ, तो हे सम्राट ! मैं वास्तवमें सबसे बड़ा अधम हूँ ॥ ७८ ॥

वनिता बेड़ी

सम्राट वरांगका धैर्य अडिग था और वीर्य अकाट्य था। लौकिक शत्रुओंको वे पहिलेसे ही जीत चुके थे तथा आत्मिक शत्रुओंको जीतनेके लिए उद्यत थे। धर्मपिताके वचनोंको सुनकर उन्होंने उनपर कुछ समयतक विचार किया था। इसके उपरान्त प्रारम्भ किये गये कार्यको सफलताकी दिशामें ले जानेके लिए धर्मपिताको संकेत किया था जिसके अनुसार वे पूरेके पूरे अन्तःपुरको सम्राटके पास आनेके लिए कह आये थे ॥ ७९ ॥

सम्राटका आह्वान सुनते ही समस्त रानियोंने बड़ी त्वराके साथ अपना शृंगार किया था। कटिप्रदेशपर बँधी मेखलाकी छोटी-छोटी घंटियाँ तथा नूपुरोंसे धीमी-धीमी मधुर ध्वनि हो रही थी। वे सबकी सब कुलीन देवियां क्षणभरमें ही सम्राटके भवनमें जा पहुँची थीं और विनय तथा उपचार करनेके बाद उनके सामने ही बैठ गयी थीं ॥ ८० ॥

स्वभावभद्राः श्रुतिशीलशुद्धा भर्तुः प्रियाचारवचोविभूषाः ।
कृतापराधा इव ता विलोक्य क्षमध्वमित्येवमुवाच राजा ॥ ८१ ॥
तद्वाक्यवाताहतविह्वलाङ्ग्यः प्रम्लानमाला इव दीनवक्त्राः ।
आक्रम्य[1]यन्तः स्रवदश्रुनेत्रा निपेतुरुर्वीपतिपादयोस्ताः ॥ ८२ ॥
हिमाहतानामिव पद्मिनीनां पद्मानि वातातपशोषितानि ।
वियोगभीतानि मुखानि तासां प्रम्लानदृष्ट्याप्रियतां प्रजग्मुः ॥ ८३ ॥
प्रोत्थाप्यमाना वसुधेश्वरेण मुहूर्तमात्रादुपलब्धसंज्ञाः ।
सगद्गदाशक्तकलप्रलापा जजल्पुरित्थं विनयानताङ्ग्यः ॥ ८४ ॥

सबकी सब राजपत्नियाँ स्वभावसे ही सरल और साधु थीं, उनकी शिक्षा तथा आचरण प्रत्येक दृष्टिसे शुद्ध थे। वे वही काम करती थीं, उसी प्रकार हंसती बोलती थीं तथा शृंगार करती थीं जिससे उनका पति प्रसन्न हो। तो भी सम्राटको देखकर उन्हें ऐसा भान हुआ कि उन्होंने कोई अनजाने ही अपराध कर डाला है। विशेष कर जब राजाने 'आप लोग मुझे क्षमा करें।' इस वाक्यसे कहना प्रारम्भ किया था ॥ ८१ ॥

वरांगराजके इस वचन रूपी प्रभञ्जन (आँधी) के थपेड़ेसे उनकी सुकुमार देहलता वेगसे काँप उठी थी। देखते-देखते ही उनके मुख कमल ऐसे दीन, निस्तेज और कान्ति-हीन हो गये थे जैसी कि मुरझायी माला हो जाती है। वे जोर-जोरसे रोने लगी थीं और आँखोंसे आँसुओंकी नदियाँ बह निकली थीं। तथा वे सबकी सब ही सम्राटके चरणोंमें लोट-पोट हो गयी थीं ॥ ८२ ॥

कुसुमसदृशो

प्रबल तुषारपात होनेसे कुमुदिनियोंकी जो दुरवस्था हो जाती है अथवा जोरकी आंधी अथवा प्रखर आतप (धूप) के कारण सूख जाने पर कमलोंकी शोभाका जो हाल होता है, वियोगके डरसे उन सब रानियोंके अति सुन्दर मुखोंका भी यही हाल हो गया था। दृष्टि इतनी मुरझा गयी थी कि उधर देखने तककी रुचि न होती थी ॥ ८३ ॥

सम्राट वरांग उनकी अज्ञानजनित मूर्च्छाको देखकर दयासे विह्वल हो गये थे, अतएव उन्होंने स्वयं ही उन्हें उठा-उठा कर सम्हाला था तथा वे एक मुहूर्त्त भरमें ही चैतन्य हो गयी थीं। किन्तु उनके गले तब भी भरे हुए थे, वे विनय और लज्जाके कारण झुककर खड़ी थीं, तब भी उनके मुखसे वाणी बाहर न हो रही थी तो भी उन्होंने निम्न प्रकारसे निवेदन किया था ॥८४॥

१. [आक्रन्दयन्त्यः]।

भवत्प्रसादोदितसर्वसौख्याः पादद्वयालम्बितजीविताशाः ।
त्यक्तास्त्वया किं करवाम[1] हेऽद्य गच्छाम वा कां गतिमद्य नाथ ॥ ८५ ॥
आधानतः स्नेहनिबद्धरागा नाथेन चात्मप्रियबान्धवास्ताः ।
कृतापराधाश्च वनभर्तृ[2] [–] कथं नु नस्त्यक्तुमियेष भक्ताः (?) ॥ ८६ ॥
अनन्यनाथा विमतीरपुण्या जहीहि नास्मान्नगतोर्वराकाः ।
त्वया विना नेत्रनिमेषमात्रं न शक्नुवं[3] स्थातुमपि क्षितीश ॥ ८७ ॥
जलेन हीना इव पद्मवत्यः करेणवो वोज्झितयूथनाथाः ।
जिजीविषात्मा[4] न वयं नरेन्द्र त्वया विमुक्ता ध्रुवमित्यवैहि ॥ ८८ ॥

हे प्राणनाथ ! आपके अनुग्रहका ही यह फल है कि हम इस अभ्युदय और समस्त सुखोंकी स्वामिनी हो सकी हैं। हमारा जीवन तो आपके दोनों चरण-कमलोंकी निकटतापर ही निर्भर है। इस परिस्थितिमें आपके द्वारा छोड़ दिये जानेपर आज हम क्या करेंगी ? अथवा अब आपके बिना हमारी कौन-सी गति है जिसका हम लोग अनुसरण करें ॥ ८५ ॥

जिस दिनसे हे प्रभो ! आपने पाणिग्रहण किया है उस क्षणसे हमारा स्नेह और प्यार आपपर ही केन्द्रित हो गया है। हमारे सहोदर बन्धु-बान्धव भी उतने प्रिय नहीं हैं जितने कि श्रीचरण हैं। इसके सिवा हे नाथ ! हमने आपके प्रति किसी भी प्रकारका अपराध भी तो नहीं किया है ॥ ८६ ॥

मोह-माया

फिर क्या कारण है कि स्वामी हम सबको छोड़कर चले जाना चाहते हैं। हमारा आपके सिवा कोई दूसरा रक्षक नहीं हो सकता है। हम स्वयं बुद्धिहीन हैं। पुण्यात्मा तो हैं ही नहीं। अतएव आप हम लोगोंको इस रीतिसे न त्यागें। देखिये, आपके सिवा हमारी तो कोई दूसरी गति है ही नहीं। हम सर्वथा दीन हैं। हे क्षितीश ? आपसे वियुक्त होकर हम एक निमेष मात्र समय-के लिए भी जीवित नहीं रह सकती हैं ॥ ८७ ॥

पानी सूख जानेपर कमलिनियोंका जो दुखद अन्त होता है हाथियोंके झुण्डके अधिपति मदोन्मत्त हाथीसे वियुक्त हो जाने पर मत्त हथिनियोंकी जो दयनीय अवस्था हो जाती है, उसी विधिसे हे नरेन्द्र ! तुमसे वियुक्त होकर हम सब भी जीवित न रहेंगी इतना आप अटल तथा ध्रुव सत्य समझिये ॥ ८८ ॥

१. क करवामदेह्य । २. [भर्ता] । ३. [न शक्नुमः] । ४. [जिजीविषामो] ।

इत्थं ब्रुवाणा नृपतिप्रियास्ताः सुताम्रनेत्रान्तजलाविलास्याः ।
स्वस्नेहपाशैरनुबन्धयन्त्यः प्रत्यब्रवीन्निर्गतरागबन्धः ॥ ८९ ॥
यमस्य नाथोऽपि महाप्रतापो वज्रायुधः प्रज्वलितप्रभावः ।
साक्षान्नवीं[1] मृत्युमुखात्सुनालां स्थातुं परः कः पुरुषस्त्रिलोके ॥ ९० ॥
अनेककोटयप्सरसां समूहाः सामानिकाद्यास्त्रिदशेश्वराश्च ।
शक्रालयाच्छक्रमधः पतन्तं न जातु संतारयितुं समर्थाः ॥ ९१ ॥
ये चक्रविक्रान्तदशाङ्गभोगास्तदर्धभोगाश्च सितासिताङ्गाः ।
देवासुरेभ्योऽभ्यधिकप्रभावास्ते मृत्युनीता मम का कथेयम् ॥ ९२ ॥

रोते-रोते रानियोंके नेत्रकमल लाल हो गये थे, मुखकमल अश्रुजलसे परिप्लावित हो रहे थे। उक्त प्रकारके प्रेम तथा भक्ति सूचक वचन कहकर वे सबकी सब सम्राटको अपने स्नेहकी पाशमें फँसा लेना चाहती थीं। किन्तु वरांगराज उस समय रागके बन्धनोंकी पहुँचसे परे थे फलतः रानियोंके वचन सुनकर राजाने इस युक्तिसे उन्हें समझाया था ॥ ८९ ॥

विवेक-नीरोध

संसार भरकी जन्म-मृत्युके तथोक्त नियन्त्रक यमका प्रताप अप्रमेय है। वज्ररूपी सर्व-मारकशस्त्रके धारक इन्द्रका प्रताप तीनों भुवनोंमें व्याप्त है तथा उस सूर्यके विषयमें तो कहना ही क्या है जिसके आतप और उद्योत सृष्टिके जीवनके आधार हैं। किन्तु यह भी मृत्युका सामना नहीं कर पाते हैं। तब तीनों लोकोंमें दूसरा ऐसा कौन पुरुष है जो मृत्युकी प्रतिद्वन्दिता कर सके ॥ ९० ॥

एक इन्द्रके कुटुम्बमें कई करोड़ अतिशय गुणवती अप्सराएँ रहती हैं। प्रत्येक इन्द्रके सहायक तथा सेवक सामानिक, त्रायस्त्रिंश, परिषत्, आत्मरक्ष आदि ही नहीं अपितु अनेक इन्द्र भी होते हैं। किन्तु जब आयुकर्म समाप्त होनेपर इन्द्र अपने विमानसे पतित होता है उस समय उनमेंसे कोई अथवा वे सबके सब भी उसे नहीं रोक पाते हैं ॥ ९१ ॥

जिन्होंने अपने चक्रके पराक्रमसे षट्खण्ड क्षेत्रको पददलित किया था, जो लोग (भोगभूमिया जीव) वस्त्रांग आदि दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे मनवाञ्छित भोग सामग्री प्राप्त करते हैं अथवा जिन विद्याधरोंको पाँचों प्रकारके ही भोग प्राप्त हैं। तथा जिनके शरीर कृष्ण तथा गौर होते हैं। तथा वे महापुरुष जिनका प्रभाव और सिद्धि देवों तथा असुरोंसे भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उन सबको भी मृत्यु घसीट ले गयी थी। तब मुझ कौन पूछेगा (बचायेगा) तब मेरे ऐसे साधारण व्यक्तिकी तो चर्चा ही व्यर्थ है ॥ ९२ ॥

---

१. [साक्षाद्रविः·····स नालं]। क सनालां।

गन्धर्वविद्याधरनागयक्षा योगीश्वराश्चाप्रतिसत्त्ववीर्याः ।
प्रियाः स्वका मृत्युमुखं [1]प्रयान्ति त्रातुं न शेकुर्मम कास्ति शक्तिः ॥ ९३ ॥
जन्मार्णवे मोहमहातरङ्गे जरारुजामृत्युभयप्रकीर्णे ।
निमज्जनोन्मज्जनसंप्रयुक्तं वृथा हि किं मां शरणं वृणीध्वम् ॥ ९४ ॥
इष्टैर्वियोगोऽप्रियसंप्रयोगो जातिर्जराव्याधिरनित्यभावः ।
यदीह न स्युर्मरणानि लोके रतिर्नृजन्मन्यथ कस्य न स्यात् ॥ ९५ ॥
जवेन नृणां वपुरायुरर्था धावन्त्युपस्थास्यति सा जरा च ।
जरापरिक्षीणबलेन्द्रियाणां मृत्युस्ततो नेष्यति कोऽत्र रागः ॥ ९६ ॥

इस पृथ्वीपर उत्पन्नहुम मनुष्योंकी अपेक्षा गन्धर्वों, विद्याधरों, नागकुमारों तथा यक्षोंकी ही शक्तियाँ अनेक गुनी हैं। इनसे भी बढ़कर वे सब परमयोगी थे जिनके योगसिद्ध सत्त्व, पराक्रम तथा साहसके सामने कोई टिक भी न सकता था। किन्तु उनको आँखोंके सामने ही कालने उनकी प्रियाओंको गलेसे नीचे उतार लिया था और वे रक्षा न कर सके थे, तब मुझमें कितनी शक्ति है ॥ ९३ ॥

जन्म मरण मय यह संसार एक महासागर है, मोहरूपी ऊँची, ऊँची भयंकर तरंगें इसमें उठ रही हैं। रोग, बुढ़ापा आदि अनेक भयानक जन्तुओंसे यह व्याप्त है। और मैं स्वयं इसमें निरुद्देश्य होकर बार-बार डूबता उतराता हूँ, तब आप लोग व्यर्थ ही मुझे क्यों अपना सहारा बना रहे हैं ॥ ९४ ॥

रोग, बुढ़ापा-मृत्यु

सौभाग्यसे मनुष्य जीवनमें प्रियजनोंका वियोग न होना तथा अनिष्ट और अप्रिय पदार्थोंका समागम न होता, बार-बार जन्म-मरण न होते। जीवनमें रोग तथा बुढ़ापा न होता। यह जीवन चिरस्थायी होता तथा अपनी और अपने प्रियजनोंकी मृत्यु न होती, तो कोई ऐसा विवेकी जीव न होता जो इसे पाकर फिर छोड़नेका नाम भी लेता ? ॥ ९५ ॥

हम देखते हैं कि मनुष्योंकी आयु, शरीर तथा विभव, वैभव प्रबल वेगसे किसी विपरीत दिशामें दौड़े जा रहे हैं। देखते-देखते ही शैशव, किशोर तथा युवा अवस्थाओंको पार करके बुढ़ापा आ दबाता है। वृद्धावस्थाके पदार्पण करते ही शारीरिक शक्ति विदा लेती है और समस्त इन्द्रियाँ अपने विषयोंके भोगमें शिथिल हो जाती हैं, इस प्रकार दुर्बल देखकर मृत्यु भी ले भागती है तब इससे राग क्यों ? तब इस जीवनसे कैसे प्रीति की जाय ? ॥ ९६ ॥

१. [प्रयान्तीस्त्रातुं]।

एका गतिर्निर्वृतिरस्ति लोके निरस्तरोगान्तकजन्मभीतिः ।
यां प्राप्य नश्यन्ति जरादयस्ते महानदीं प्राप्य यथा तृषाद्याः[1] ॥ ९७ ॥
तां प्राप्तुमिच्छा यदि विद्यते चेद्युष्माकमस्माभिसमा[2] समेताः ।
उपाय एकोऽस्ति मनुष्यलोके धर्मोऽर्हतां प्रापयितुं समर्थः ॥ ९८ ॥
अर्हत्प्रणीतश्रुतिसत्सहायाः सद्दर्शनोन्मीलितशुभ्रनेत्राः ।
चारित्रसन्मार्गमभिप्रपद्य सुखाकरं मोक्षपुरं प्रयामः ॥ ९९ ॥
पुरापि जैनेन्द्रमतप्रपन्ना नरेन्द्रवाक्यप्रतिबुद्धतत्त्वाः ।
नृदेवदेव्यः समयं प्रयाय भर्त्रा सह प्रव्रजनं [3]प्रपद्युः ॥ १०० ॥

वैराग्यमेवाभयम्

इस भयाकुल संसारमें एक ही मार्ग ऐसा है जिसको पकड़ लेनेसे अपने आप ही रोग, यम, जन्म तथा मरण, आदिके भय समूल नष्ट हो जाते हैं, और वह है निवृत्ति। क्योंकि इस मार्गपर चलते ही वृद्धावस्था, आदिका भय उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार महानदी पर पहुँचनेसे भीषण प्यास, आदि शान्त हो जाते हैं ॥ ९७ ॥

यदि आप लोग भी इस संकट तथा भय हीन मार्गको पकड़ना चाहती हैं, तथा आपकी अभिलाषा दृढ़ है तो आप लोग भी हमारे साथ चली आइये। इस संसारके उपद्रवोंसे पार पानेका यहाँ पर केवल एक ही अमोघ उपाय है, और वह है वीतराग प्रभु अर्हन्तके द्वारा उपदिष्ट सत्य धर्म सर्वभय विनाशक 'वैराग्य मेवाभयं' ॥ ९८ ॥

रत्नत्रयमेवशरणम्

केवली भगवानकी दिव्यध्वनिके आधारपर निर्मित पूर्वापर विरोध रहित शास्त्रोंकी सहायतासे सत्य श्रद्धारूपी प्रकाश (सम्यक्दर्शन) के द्वारा हमारे अन्तरंगके निर्मल नेत्र खुल जाते हैं। तब हम शुद्ध आचरणरूपी आदर्श मार्गपर चलने लगे गे और संसार यात्रा समाप्त करके हम लोग समस्त सुखोंके भण्डार मोक्षपुरीमें पहुँच जावें गे ॥ ९९ ॥

मेरे साथ दीक्षा लेना कोई अभूतपूर्व घटना न होगी, क्योंकि पुराने युगमें भी जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट धर्मको स्वीकार करके तथा वैराग्य भावनासे पूर्ण राजा (पति) के उपदेशको सुनकर रानियोंने तत्त्वज्ञानको प्राप्त किया था। तथा अनेक राजाओंकी पत्नियोंने इस प्रकार काल-लब्धिको पाकर अपने पति हो के साथ ही दीक्षा ग्रहण की थी ॥ १०० ॥

'भोग बुरे भवरोग बढ़ावें'

राजाका उपदेश सुनकर रानियोंने मन ही मन विचार किया था; मधुर तथा रस परिपूर्ण भोजन, हमारे रंगरूपके उपयुक्त एक से बढ़कर एक भूषण, विविध प्रकारके विचित्र कौशेय, आदि वस्त्र, सब जातिकी सुगन्धयुक्त माला, पुष्प तथा

१. क तृषाद्यः । २. [°रमा]। ३. [प्रपन्नाः]।

मृष्टान्नपानं वरभूषणानि चित्राणि वस्त्राण्यथ गन्धमाल्यम् ।
प्रासादशय्यासनयानकानि दत्त्वा चिरं नो [1]नृपते बभार ॥ १०१ ॥

चन्द्रांशवः सूर्यगभस्तयश्च खराश्च मह्याः पुरुषाश्च[2] वाताः ।
न पस्पृशुर्दुःखनिमित्तभूता भर्तृप्रदानान्न कदाचिदस्मान् ॥ १०२ ॥

लताः स्वपुष्पस्त[3]बकोत्थिताग्रा यथा न शोभां ददति प्रकृष्टाः ।
द्यौश्चन्द्रहीना च यथा न भाति तथा भवामो नृपतौ प्रयाते ॥ १०३ ॥

अभूषणानादनगन्धमाल्यास्ताम्बूलधूपाञ्जनगन्धहीनाः ।
अमित्रवर्गैः परिभूयमानाः किमास्महे प्रक्षरदक्षितोयाः ॥ १०४ ॥

एवं विचिन्त्यो[1]त्तमधैर्यवन्त्यः कृतप्रतिज्ञा विगतस्पृहाश्च ।
स्वा[2]नेकभवितस्थितिमानसाम्भाः प्रोचुर्नरेन्द्रं गतभोगतृष्णाः ॥ १०५ ॥

सुगन्धित द्रव्य, कोमल शय्या, महार्घ आसन, सुखकर यान तथा सबसे बढ़कर अपना अनुग्रह तथा प्रेम देकर जिस पति-राजाने इतने समयतक हमारा भरण-पोषण किया है ॥ १०१ ॥

उस प्राणपतिके प्रेम तथा प्रबन्धका ही यह प्रताप था कि प्रतिकूल चन्द्रकिरणें, तीव्र तथा दाहक सूर्यकी रश्मियाँ, कंकरीली पथरीली भूमि तथा सूखी उष्ण अथवा तरल शील वायु हमारे शरीरको कभी छू भी न सकती थी यद्यपि इनका संसर्ग ही तीव्र दुःखको उत्पन्न कर सकता था ॥ १०२ ॥

किन्तु अब जब प्राणपति दीक्षा लेकर चले जायेंगे तो हमारी वही दीन-हीन अवस्था हो जायेगी जो कि चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर चन्द्रकान्तिसे व्याप्त आकाशकी होती है, उस समय ढूँढ़नेपर भी उसमें शोभा नहीं मिलती है। अथवा उन लताओंके समान हम सब हो जायेंगी जिनपर एक क्षण पहिले ही सुन्दर, सुगन्धित फूलोंके गुच्छे लहरा रहे हों किन्तु दूसरे ही क्षण खींचकर वे भूमिपर फेंक दी गयी हों ॥ १०३ ॥

सज्जान

क्या हम सब आभूषणोंको फेंककर भोजन, सुगन्धित लेप, माला, ताम्बूल, धूप, अञ्जन 'सुगन्धित तैल' आदि समस्त शृंगारको तिलाञ्जलि देकर भी यहाँ रहेंगी। प्राणपतिके अभावमें शत्रुलोग मिलकर हमारा तिरस्कार करेंगे और हम लोग आँखोंसे आठों धार आँसू बहाती हुई यहीं पड़ी रहें गी ॥ १०४ ॥

जब रानियोंने उक्त सरणिका अनुसरण करके विचार किया तो उनकी सांसारिक भोग विलासकी तृष्णा न जाने कहाँ विलीन हो गयी थी। उन्हें अपने पतिके प्रति एकनिष्ठ भक्ति थी, कुलीन पुत्री तथा वधू होनेके कारण उनका धैर्य भी असाधारण

---

१. [नृपतिर्बभार]। २. [परुषाश्च]। ३. म °स्तबकोत्थिताग्रा। १. क विचित्रोत्तम°। २. [स्वाम्येक]।

यद्यत्र नाथ प्रविहाय राज्यं तपःक्रियायां मतिमादधीथाः ।
समं त्वयैवात्र तपश्चरित्वा संसारनिष्ठामभिसंव्रजामः ॥ १०६ ॥
इति नृपवनिता नृपेण सार्धं प्रविकसितोत्पलचारुपत्रनेत्राः ।
भुवि सुखमपहाय ताश्च सद्यस्तपसि मनांसि समादधुर्वराङ्गयः ॥ १०७ ॥
अथ जिगमिषुतां नृपस्य बुद्ध्वा नरपतयः परितः समेत्य तूर्णं ।
ददृशुरधिकसंभ्रमा नरेन्द्रं त्रिदशपतिं त्रिदशा इव प्रशान्तम् ॥ १०८ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते । स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
तारादर्शननिमित्ते राज्यभोगनिर्वेगो नामाष्टाविंशतितमः सर्गः ।

था, पतिपर उनकी आस्था थी तथा मन उसकी ही सब कुछ मानता था। फलतः पतिके निर्णयको जानते ही उनकी समस्त अभिलाषाएँ तथा महत्त्वाकाक्षाएँ कर्पूर हो गयी थीं। उन्होंने दीक्षा लेनेका निर्णय कर लिया था, अतएव पतिसे यही निवेदन किया था ॥ १०५ ॥

पति-परायणता

'हे नाथ ! यदि आप विशाल राज्य, राज्यलक्ष्मी, विभव, आदिको ठुकरा कर उग्र तपस्या करनेका निश्चय कर चुके हैं, प्रयत्न करनेपर भी यदि आपकी विचारधारा उधरसे विरत नहीं होती है, तो हम सब भी आपके ही साथ तप करेंगी और संसार भ्रमणको पार करके आपके साथ ही परमपदकी दिशामें अग्रसर होवेंगी ॥ १०६ ॥

उक्त निर्णयपर पहुँच सकनेके कारण सुन्दर सुकुमार शरीरधारिणी राजपत्नियोंके उत्पल सदृश सुन्दर तथा मनोहर नेत्र आनन्दके कारण विकसित हो उठे थे। अपने जीवन साथी सम्राट वरांगके साथ उन्होंने भी संसारके समस्त सुखोंको छोड़ दिया था। उस समय उनके भोग विलासोंके प्रेमी चित्त पूर्णरूपसे तपस्यामय हो उठे थे ॥ १०७ ॥

त्यागकी उत्कृष्टता

इसी अन्तरालमें सम्राटके समस्त राजाओंको वरांगराजके वैराग्यका समाचार मिल चुका था यह समझ कर कि सम्राट अब वन चले ही जायेंगे वे सब मित्र तथा सामन्त राजा बहुत शीघ्र ही आनर्तपुरमें आ पहुँचे थे। उनके आश्चर्य तथा आदरका उस समय अन्त न रहा था जब उन्होंने वरांगराजको स्वर्गके अधिपति इन्द्रके समान शान्त और समाहित देखा था ॥ १०८ ॥

चारों वर्ग समन्वित सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
तारादर्शन निमित्त राज्यभोग—निर्वेगनाम अष्टाविंशतितम सर्ग समाप्त ।

[एकोनत्रिंशः सर्गः]

श्रीधर्मसेनप्रमुखा नरेन्द्रा वयोऽनुरूपोज्ज्वलचारुभूषाः ।
सभागृहे रम्यतमे विशाले वराङ्गराजेन सुखं निषेदुः ॥ १ ॥
पिता वराङ्गस्य नरेन्द्रमध्ये स्नेहेन सद्भावपुरस्सरेण ।
परामृशंस्तस्य करं करेण प्रोवाच साम्नावचनीयमर्थम् ॥ २ ॥
राज्यं त्वदायत्तमिदं हि सर्वमाधारभूतस्त्वमिह प्रजानाम् ।
विशेषतो मे नयनं तृतीयं बहिश्चरप्राण इव द्वितीयः ॥ ३ ॥

एकोनत्रिंश सर्ग

सयाना संसार

आनर्तपुरके विशाल तथा रमणीय सभा भवनकी शोभा उस समय सर्वथा दर्शनीय हो गयी थी। उसमें महाराज धर्मसेन आदि वयोवृद्ध राजा लोग सम्राट वरांगराजके साथ शान्तिपूर्वक यथायोग्य स्थानोंपर विराजमान थे। इन सब महारथियोंका निर्मल सरल वेशभूषा उनकी अवस्थाके अनुकूल था। ये सब लोग वरांगराजके वैराग्यभावको लेकर ही चर्चा कर रहे ॥ १ ॥

वयोवृद्ध तथा आदरणीय समस्त राजाओंमेंसे सबसे पहिले वरांगराजके पूज्य पिता महाराज धर्मसेनने ही, अपने पुत्रके सांसारिक कल्याणकी सद्भावना और इसके ममत्वसे प्रेरित होकर बड़े स्नेह और दुलारके साथ वरांगराजके हाथपर हाथ फेरते हुए कहना प्रारम्भ किया था ॥ २ ॥

पिताका प्रेम

वे जो कुछ कहना चाहते थे वह सब, वे बड़ी शान्ति और प्रीतिसे कह रहे थे। 'यह आनर्तपुर तथा उत्तमपुरका समस्त राज्य, हे पुत्र ! तुम्हारे ही आधीन है। इन दोनों विशाल राज्योंमें प्रजाओंके सुख समृद्धिके तुम ही एकमात्र आधार हो। यह तो हुई राष्ट्रकी बात, अब मेरी निजी अवस्था भी सुन लो।तुम मेरी तीसरी आँख हो तथा मेरे बाहर घूमते फिरते मूर्तिमान् प्राण हो ॥ ३ ॥

एक क्षण भर चिन्ता कर के देखो, जब तुम दीक्षा ले कर वनमें चले जाओगे, तो तुम्हारी स्नेहमूर्ति वृद्धामाता, प्रेमप्रतिमूर्ति पतिव्रता पत्नियां, पिताभक्त-पुत्र, आदि सब ही सम्बन्धी, हे बेटा ! तुम्हारे विना अपने प्राणोंको कैसे धारण करेंगे ?

माता च पत्न्यस्तव पुत्रकाश्च प्राणान्त्ययेऽरं[1] कथमत्र वत्स ।
त्वयि प्रयातेऽहमतोऽभियाचे नास्मद्वचो लङ्घितुमर्हसि त्वम् ॥ ४ ॥
विना शशाङ्केन नभो न भाति विना मघोना न विभासते द्यौः ।
विना दयां धर्मपथे[2] न भाति न भाति राज्यं च विना त्वयेदम् ॥ ५ ॥
भारो यथादौ सुकरः प्रवोढुं पश्चादशक्यः स तु गौरवेण ।
एवं तपःश्रीः सुकरावधतुं सुदुर्धरत्वं च शनैः प्रयाति ॥ ६ ॥
आरोहणाद्भारवतो नरस्य दोर्भ्यामपाराम्बुनिधिप्रतारात् ।
सरित्प्रवेगे प्रतियातनोऽपि[3] तपोऽतिकष्टं सुखमास्स्व पुत्र ॥ ७ ॥

अपनी तथा सबकी चिन्ता कर के हो मैं तुमसे एक वर मागता हूँ। देखो, हमारे वचनोंकी उपेक्षा करना तुम्हें शोभा नहीं देता है ॥ ४ ॥

झूठा संसार

सुधसूति चन्द्रमाके अभावमें आकाशकी कोई शोभा ही नहीं रह जाती है। यदि इन्द्र न हो तो सब कुछ होते हुए भी स्वर्गमें कोई आकर्षण और प्रभाव न रह जायगा पूरेके पूरे धर्माचरणमेंसे यदि केवल दयाके सिद्धान्तको निकाल दिया जाय तो समस्त धर्म खोखला हो जायेगा। ऐसे ही यदि तुम चले जाओगे तो इस राज्यमें हमारे लिए कोई आकर्षण और सार न रह जायगा ॥ ५ ॥

तपकी दुष्करता

देखा जाता है कि भारीसे भारी बोझा जब प्रारम्भमें उठाया जाता है तो उसे ले चलना सर्वथा सुकर होता है किन्तु ज्यों, ज्यों आगे बढ़ते जाते हैं त्यों, त्यों उसे एक पग ले चलना असंभव हो जाता है। ऐसे ही तप है। इसको ग्रहण कर लेना अत्यन्त सरल है किन्तु जैसे-जैसे उसमें आगे बढ़ते हैं वैसे ही वह दुष्कर और कठोर होता जाता है ॥ ६ ॥

यह लोक प्रसिद्ध है कि भारी बोझको लेकर उन्नत पर्वत आदि पर चढ़ना अत्यन्त कष्टकर है। अत्यन्त वेगवती पहाड़ी नदीमें प्रवाहके प्रतिकूल चलना उससे भी अधिक कष्टकर है तथा अपार पारावारको हाथोंसे तैरकर पार करना इन दोनोंसे भी दुखमय तथा दुःशक्य है। किन्तु स्वैराचार विरोधिनी जैनी तपस्या इन सबसे अनन्त गुणी कठिन तथा दुखमय है इसलिए हे बेटा इस विचारको छोड़कर सुखपूर्वक राज्यका सुख भोग करो ॥ ७ ॥

---

१. [प्राणान्नयेरन्, °न्वहेरन्]। २. [धर्मपथो]। ३. [प्रतियाततोऽपि]

स्मरानलार्चिःप्रतिदग्धवीर्या भृशन्ति[1] तिर्यग्मनुजासुरेन्द्राः ।
तं कामवह्निं शमितुं कुतस्त्वं शक्नोति[2] पञ्चेन्द्रियगोचरस्थः ॥ ८ ॥
वयं च सद्धर्ममथार्हतां हि बुद्ध्वापि तत्कर्तुमशक्नुवन्तः ।
गृहेषु जीर्णा विषये प्रसक्ताः[3] पुनस्तपस्ते विषमं प्रकर्तुम् ॥ ९ ॥
मास्मत्वरिष्टाः[4] कुरु धीर राज्यं जयारिवर्गान्विषयान्भजस्व ।
सहैव गत्वा च तपोवनानि तपश्चरिष्याम इहेत्यवोचत् ॥ १० ॥
यथोपनीतक्रममादरेण निशम्य वाक्यं पितुरायतश्रीः ।
वराङ्गराजः स्थितधर्मचित्तः प्रत्यब्रवीदात्महिताय धीमान् ॥ ११ ॥

भोगोंकी अजेयता

विगतवार विचार करो, कामरूपी अग्निकी ज्वाला इतनी भीषण है कि उसमें पड़ते ही सुमेरुके समान महाशक्ति भी भस्म हो जाती है। यही कारण है कि विवेकी तीर्यञ्च, मनुष्य, असुर तथा इन्द्र आदि भी ब्रह्मचर्य व्रतसे भ्रष्ट हो गये हैं। ऐसी काम ज्वालाको तुम्हारा ऐसा तरुण पुरुष कैसे शान्त करे गा ? क्योंकि तुम्हारी पांचों इन्द्रियां अत्यन्त जागरूक हैं ॥ ८ ॥

अपनी बुद्धिका अहंकार

आठों कर्मोंके विजेता, वीतराग अर्हन्तदेवसे उपदिष्ट जैन धर्मके तत्त्वों तथा उसके महत्त्वको हम लोगोंने भी खूब समझा है। किन्तु सब कुछ समझ कर भी उसके अनुसार त्याग करनेमें असमर्थ हैं। यही कारण है कि हमारा समस्त जीवन गृहस्थाश्रममें ही बीता जा रहा है। आज भी विषय भोगकी चाह ज्योंकी त्यों बनी हुई है। जब हमारी यह हालत है तो तुम्हारा तप करना तो सर्वथा ही असंगत है ॥ ९ ॥

हे धीर ! शीघ्रता मत करो, जब तक शक्य है तब तक शान्तिपूर्वक राज करो, दुर्दम शत्रुओंको पददलित करो, परम प्रिय विषयोंका यथेच्छ भोग करो। इसके उपरान्त हम लोग गृहस्थाश्रमसे विदा लेंगे और तुम्हारे ही साथ वनमें जा कर हम लोग भी तप करेंगे ॥ १० ॥

सिंह-वृत्ति राजा

जैसा कि उचित और आवश्यक था उसी विनम्रता और सन्मानके साथ वरांगराजने अपने पूज्य पिताके उपदेशको सुना था। किन्तु वे विशेष विवेकी थे उनका चित्त पूर्ण (अनगार) धर्मका पालन करनेका निर्णय कर चुका था। उस समय उनका प्रताप और प्रभाव अपने मध्याह्नपर थे, तो भी वे उन्हें आत्मकल्याणके मार्गसे विमुख न कर सके थे। आत्म-हितपर दृष्टि रखते हुए ही उन्होंने पितासे निवेदन किया था ॥ ११ ॥

१. [भ्रश्यन्ति] २. [शक्नोषि]। ३. प्रशस्ता। ४. [मा त्वं त्वरेथाः]।

धर्मार्थिकामागमसाधनानि व्रजन्ति पूतां सुतरां प्रसिद्धिम् ।
तान्येव तत्साधनसत्क्रियाभिर्विपत्तिमायान्ति गते युवत्वे ॥ १२ ॥
विशीर्णदन्तः शिथिलाङ्गसन्धिः कम्पच्छिरश्चञ्चलपाणिपादः ।
कराग्रदण्डो जरसा परीतः कथं तपस्तप्यति मन्दचक्षुः ॥ १३ ॥
नष्टश्रुतिर्लुप्तशरीरचेष्टः स्खलत्पदव्याकुलमन्दवाक्यः ।
क्षीणेन्द्रियः क्षीणबलः क्षितीश श्रुतार्णवान्तं कथमभ्युपैति ॥ १४ ॥
गृहाद्बहिर्यातुमशक्तिमान्यो यात्वा पुनर्नैव निवर्तितुं वा ।
तादृग्विधः कायपरिग्रहस्य स्थानावियोगस्य च किं समर्थः ॥ १५ ॥

स्वतन्त्रचेता

धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंके परिपूर्ण भोगमें साधक सामग्री मनुष्योंको विना प्रयत्न किये ही प्राप्त होती है तथा मनुष्य अनायास ही उसमें लोकोत्तर रसका आस्वाद करता है। किन्तु जब यौवन ढल जाता है, तो वे सबके सब साधन तथा उनके उपयोगकी सफल प्रक्रियाएं भी ज्योंकी त्यों बनी रहनेपर भी उनका उपयोग सुखकर न होकर दारुण दुखदायी हो जाता है ॥ १२ ॥

जराकी छाया पड़ते ही दाँत टूट जाते हैं, शरीरका एक-एक जोड़ ढीला पड़ जाता है, आँखोंकी ज्योति मन्द पड़ जाती है, शिर कांपने लगता है, हाथ पैर दुर्बल और चंचल हो जाते हैं। बुढ़ापा मनुष्यपर अपना पूर्ण प्रभाव स्थापित कर लेता है, और दृष्टि दुर्बल हो जाती है तथा वह डण्डेका सहारा लेकर चलता है। तब, हे पिताजी! विचारा वृद्ध, मनुष्य कैसे तप करेगा ॥ १३ ॥

हे महाराज! जिस पुरुषके कानोंकी शक्ति नष्ट नहीं तो; मन्द हो गयी है, शरीरमें वेग और तत्परताके साथ कार्य करनेकी सामर्थ्य नहीं रह गयी है, पैर ठिकानेसे नहीं पड़ते हैं, धीरेसे बोलता है और जो कुछ बोलता है वह सब भी अस्पष्ट रहता हैइन्द्रियाँ काम नहीं करतीं तथा शरीर सर्वथा निःशक्त हो गया है ऐसा पुरुष किसके सहारे शास्त्र समुद्रोंका मन्थन करके ज्ञान-रूपी अमृत निकाल सकेगा ॥ १४ ॥

'जो लो देह तोरी'

मनुष्य वृद्ध होकर घरसे बाहर आने-जानेमें भी हिचकता है। यदि साहस करके किसी तरह चला भी जाता है तो उसे लौटकर आना दुष्कर हो जाता है। ऐसा वृद्ध पुरुष क्यों करके अपने विभव तथा प्रभुतासे पृथक् होनेका साहस करेगा? यदि किसी प्रकार इतनी सद्बुद्धि आ भी जाये तो अपनी जीर्ण कायके द्वारा क्षुधा आदि परीषहोंको कैसे सहेगा ॥ १५ ॥

भित्वार्गलं यान्ति चिरं वनान्तं यथा गजा वारयितुं न शक्याः ।
गृहार्गलं तद्वदहं विभिद्य व्रजामि मान्धो [1]वर एष याचे ॥ १६ ॥
बहिर्य[2]यासुर्भवनात्प्रदीप्तात्क्षिपत्यरातिः पुनरेव तत्र ।
दुःखानलादेवमभिप्रया[3]तुमापीपतः पार्थिव शत्रुवन्माम् ॥ १७ ॥
क्षुब्धार्णवाद्दुर्गतिवीचिजालात्कृच्छ्रेण कूलान्तमुपागतं तम् ।
नुदत्यरातिस्तु यथैव तत्र मा नूनुदः संसृतिसागरे माम् ॥ १८ ॥
सुवर्णपात्रे परमान्नमिष्टं बुभु[4]ज्यमानस्य विषं ददाति ।
यथा तथा राज्यविषं द[5]दाति धर्मामृतं भूमिप मे पिपासोः ॥ १९ ॥

सुअवसर मिलते ही स्वतन्त्रता प्रेमी हाथी अपने बांधनेके खम्भेको तोड़कर जब भागते हैं तब उन्हें रोकनेका किसीको साहस नहीं होता है और वे सघन वनमें चले जाते हैं। इसी विधिको आदर्श मानकर मैं भी गृहस्थीके बन्धनरूपी अर्गलाको तोड़कर दीक्षा लेने जाता हूँ। आप मुझे निषेध न करें, मेरी यही याचना है ॥ १६ ॥

'तथोक्त' स्वजन शत्रु हैं

जब भवनमें आग लग जाती है तो समझदार पुरुष बाहर भाग जानेका प्रयत्न करता है किन्तु जो शत्रु होता है वह उसे पकड़कर फिर उसी आगमें जला देता है। मैं भी सांसारिक दुखों रूपी अग्निज्वालासे बाहर निकल रहा हूँ। हे महाराज! आप किसी शत्रुके समान मुझे फिर उसी ज्वालामें मत झोंकिये ॥ १७ ॥

प्रभञ्जन और ज्वारभाटाके कारण क्षुब्ध, ऊँची-ऊँची लहरोंसे आकुल भीषण समुद्रसे बड़े कष्ट और परिश्रमके बाद किनारेपर लगे व्यक्तिको धक्का मारकर शत्रु ही फिर समुद्रमें ढकेल देता है। दुर्गतियों रूपी घातक लहरोंसे व्याप्त संसार-समुद्रमें हे पिताजी! उसी प्रकार आप मुझे फिर मत गिरा दीजिये ॥ १८ ॥

कोई पुरुष सोनेके सुन्दर, स्वच्छ पात्रोंमें जब स्वादु, शुद्ध मिष्टान्न खा रहा हो उसी समय उसे प्राणान्तक विष देना जैसा हो सकता है, वैसा ही मेरे साथ होगा, यदि मुझे राज्यलक्ष्मी रूपी विष पीनेके लिए बाध्य किया गया तो, क्योंकि इस समय मेरे भीतर धर्मरूपी अमृतसे ही शान्त होने योग्य पिपासा भभक रही है ॥ १९ ॥

---

१. [त्वां धीवर]। २. बहिर्यियासुं]। ३. [°प्रयात°]। ४. [बोभुज्य°]। ५. [ददासि]।

शुभक्रियाणां च विघातको यः पापक्रियाणां च सहायभूतः ।
स एव राजन्भव[1]बद्धवैरो रिपोश्च[2] कष्टं त्वतुलो न शत्रुः ॥ २० ॥
रिपुः क[3]दाचि [˘˘] दर्थमङ्ग बलं यशो वेह निहन्ति वा न ।
धर्मस्य ये विघ्नकरा नृघ्नन्ति ते जन्मसहस्रसौख्यम् ॥ २१ ॥
आयुर्बलारोग्यवपुर्वयांसि प्रणश्वराणि क्षणिकं शरीरम् ।
धनानि विद्युद्वपुषा समानि द्वितीय एषोऽपि महांस्तु दोषः ॥ २२ ॥
राज्यं हि राजन्बहुदुःखबीजं चित्ताकुलं व्या[4]कृतिशोकमूलम् ।
वैरास्पदं क्लेशसहस्रमूलं किंपाकपाकप्रतिमं तदन्ते ॥ २३ ॥

संसारमें फँसानेवाले ही शत्रु हैं

स्वाभाविक रुचिपूर्वक किये गये किसी पुरुषके शुभ कर्मोंको जो व्यक्ति बिगाड़ देता है तथा केवल उन कार्योंके करनेमें ही सहायक होता है जो पापानुबन्धी होते हैं। हे महाराज! ऐसे पुरुषोंको ही जन्म-जन्मान्तरका शत्रु समझना चाहिये, वह ऐसा शत्रु है जिससे छुटकारा पाना हो असंभव है, वह बड़े-बड़े कष्ट देता है तथा कोई भी शत्रु उससे बुरा नहीं हो सकता है ॥ २० ॥

कथमेते शत्रवः ?

यदि शत्रु बलवान होता है तो वह आक्रमण करके सम्पत्ति छीन लेता है, युद्धमें सेनाका संहार करता है, कभी-कभी अपने भी किसी अंगको काट देता है, पराजित करके कीर्ति नष्ट कर देता है और यदि बहुत अधिक करता है तो यही कि जीवन ले लेता है। किन्तु जो पुरुष धर्माचरणमें बाधक होते हैं वे महा निर्दय हैं। क्योंकि वे एक दो जन्म नहीं हजारों जन्मोंके सुखको मिट्टीमें मिला देते हैं ॥ २१ ॥

अध्रुव-भावना

इस जीवनको आनन्दमय बनानेवाले सब ही साधन; जैसे लम्बी आयु, अत्यधिक बल, सदा स्थायी स्वास्थ्य, यौवन आदि वय ये सब ही बहुत जल्दी नष्ट हो जाते हैं। सब सुखोंका मूल शरीर ही क्षणिक है। धन सम्पत्तिका भी क्या भरोसा? क्योंकि यह आकाशमें चमकनेवाली बिजलीकी लता है। या संसारका यह दूसरा महा अवगुण है ॥ २२ ॥

हे महाराज! क्या आप नहीं जानते हैं कि इस राज्यके कारण भाँति-भाँतिके दारुण दुःख प्राप्त होते हैं। चित्त सदा ही आकुल रहता है। इसके अधिकतम व्यापारोंका निश्चित फल शोक ही होता है। अपने तथा पराये या सब ही से शत्रुता हो जाती है। हजारों जातिके कष्ट झेलने पड़ते हैं तथा यह सब करके भी अन्तमें इसका फल तुमड़ी (किंपाक) के समान तिक्त ही होता है ॥ २३ ॥

१. म °बद्धबैरी। २. [रिपुश्च···नु शत्रुः]। ३. क कदाच्चियदर्थ°। ४. म व्यावृति°

दुरन्तता राज्यधुरंधराणां धर्मस्थितानां सुखभागिनां च ।
विजानतः साधु[1]समुत्थितस्य कथं रतिः स्यान्मम राज्यभोगे ॥ २४ ॥
निरुत्तरैस्तैर्मधुरार्थगर्भैः सहेतुकैर्भूमिभुजो हि मध्ये ।
मनोहरैर्भूमिपतिर्वचोभिः प्रबोधयां तं पितरं बभूव ॥ २५ ॥
प्रवृद्धवैराग्यरसोदयस्य विशुद्धदृष्टेरविकम्पितस्य ।
पिता[2] स्वपुत्रस्य वचो निशम्य प्रसन्नबुद्ध्या तमुवाच वाचम् ॥ २६ ॥
सर्वान्तरायानतिलङ्घ्य वत्स धर्मान्ति[3]रायो गुरुतामुपैति ।
जानन्नपि स्नेहपरायणत्वाद्बलादवोचं परिणामतिक्तम् ॥ २७ ॥

राज्य रहस्य

बड़े विशाल राज्योंके अधिपति प्रबल प्रतापी राजाओंकी दुर्गतिको मैं जानता हूँ। यह भी मुझे ज्ञात है कि परम धार्मिक लोगों को भी केवल सुख भोग न छोड़ सकनेके कारण कैसी-कैसी विपत्तियाँ झेलनी पड़ी हैं। सौभाग्यसे इस समय मेरे मन में शुद्ध उपयोगकी प्रेरणा हुई है, तब आप ही बताइये कि मुझे राज्य तथा भोगोंमें कैसे आसक्ति हो सकती है ॥ २४ ॥

वरांगराजकी ये सब ही युक्तियाँ ऐसी थीं कि इनका उत्तर देना ही अशक्य था। ये शुभंकर एवं गम्भीर तात्पर्यसे परिपूर्ण थीं। तर्कपूर्ण होनेपर भी मनोहर थीं। फलतः इन वचनोंके द्वारा वे किसी हदतक अपने उन पिताको भी समझा सके थे जो अपनी लोकज्ञता, समझ आदि अनेक दृष्टियोंके कारण विशाल राजसभाके अगुआ बने थे ॥ २५ ॥

दृढ़ताकी-विजय

महाराज धर्मसेन उक्त विवेचनके आधारपर इस निश्चयपर पहुँच गये थे कि उनके पुत्रके हृदयमें वैराग्य रसकी धार ही नहीं बह रही थी अपितु परिपूर्ण बाढ़ आ रही थी, तथा किसी भी प्रकारसे उसे सत्य श्रद्धापरसे थोड़ा भी डिगाना असंभव था। अतएव पुत्रके वक्तव्यको सुनकर उन्होंने प्रसन्तापूर्वक उससे निम्न प्रकारसे वचन कहे थे ॥ २६ ॥

महामोही भी जागे

'हे वत्स ! संसारमें मनुष्यके प्रारब्ध कार्योंमें अनेक प्रकारसे विघ्न बाधाएँ उपस्थित की जा सकती हैं, किन्तु इन सबसे बहुत बढ़कर तथा भव, भवान्तर बिगाड़नेवाली वह बाधा है जो कि धर्मके कार्योंमें डाली जाती है। यह सब भली-भाँति समझते हुए भी पितृस्नेहसे प्रेरित होकर मैंने वे सब वाक्य कहे थे जिनका परिणाम निश्चयसे दुःखदायी ही होता है ॥ २७ ॥

१. क °समस्थितस्य, [°समं स्थितस्य]। २. म पुत्राः। ३. म धर्मान्तराये।

यदि क्षमाद्दात्मनि मोहतो वा स्वकर्मणां गौरवतोऽतिरागात् ।
न्यायादपेतं वचनं यदस्ति क्षमस्व तत्सर्वमुदारबुद्धे ॥ २८ ॥
आबाल्यतः शान्ततमस्य तस्य धर्मानुरागोद्यतसत्क्रियस्य ।
सुनिश्चितां तामवगम्य बुद्धिं मुमोच कृच्छ्रात्तनयं महेन्द्रः[1] ॥ २९ ॥
तथैव पौरान्स्वजनाञ्जनांश्च सेनापतिश्रेष्ठिगणप्रधानान् ।
स्वमातरं कृच्छ्रतरान्नृसिंहो विमोचयामास यथाक्रमेण ॥ ३० ॥
आहूय तं पुत्रवरं विनीतं सुगात्रनामानमनङ्गरूपम् ।
निवेश्य पार्श्वे विनयाद्विनम्रं मध्ये नृपाणामिदमित्युवाच ॥ ३१ ॥

हो सकता है कि स्वयं अत्यन्त निःशक्त हो जानेके कारण, मोहनीय कर्मकी प्रबलतासे, या अन्य पाप-कर्मोंके उदयसे प्रेरित होकर, अपनी गुरुता (लोकज्ञता) के अहंकार द्वारा, अथवा तुमपर अत्यन्त स्नेह होनेके ही कारण मैंने तुम्हें रोकनेके लिए ऐसे वाक्य कहे हों जो नीति और न्यायके सर्वथा विपरीत हों। किन्तु तुम उन सब बातोंका ध्यान न रखना क्योंकि तुम्हारा दृष्टिकोण विशाल है ॥ २८ ॥

निजार्जितमेव

वरांगराज अपने शैशवकालसे विषय विरक्त, शान्त तथा अन्तर्मुख थे, उनका धार्मिक कार्योंकी ओर रुझान तथा सत्कर्म करनेका साहस सर्वविख्यात था। अतएव महाराज धर्मसेनको यह समझते देर न लगी कि वरांगराजकी वैराग्य-बुद्धि अडोल और अकम्प है। तो भी वे बड़े कष्ट और अनुतापके साथ उन्हें (वरांगको) दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति दे सके थे ॥ २९ ॥

इसी क्रमसे उन्होंने अपने समस्त सगे सम्बन्धियोंकी अनुमति प्राप्त की थी। सेनापति, मंत्री, श्रेष्ठी तथा गणोंके प्रधानोंको भी अपने निश्चयसे सहमत कर लिया था, तथा पुरके समस्त नागरिकोंको भी समझाकर अनुकूल करके विदा ले ली थी। पुरुषसिंह वरांगको सबसे अधिक कठिनताका अनुभव तो तब हुआ था जब वे अपनी माताओंसे विदा लेने गये थे, तो भी किसी युक्ति तथा उपायसे उनसे भी आज्ञा ले सके थे ॥ ३० ॥

'नियोगोसुतको'

सबके अन्तमें उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुगात्रको राज्य सभामें बुलाया था। कुमार सुगात्र प्रकृतिसे ही विनीत थे, उसके भी ऊपर; दी गयी सुशिक्षाके भारसे तो वह अत्यन्त विनम्र हो गये थे। शरीरका स्वास्थ्य तथा रूप भी क्या था देखते ही मूर्तिमान अनङ्गका धोखा लगता था। जब वह राजसभामें आ पहुँचे तो वरांगराजने उन्हें अपने पास बैठा लिया था और राजाओंके सामने स्नेहपूर्वक समझाना प्रारम्भ किया था ॥ ३१ ॥

१. म महेन्द्रः ।

मातामहोऽयं तव संनिविष्टः पितामहस्त्वेष गुणैर्गरीयान् ।
गुरुद्वयस्यास्य नृपोत्तमस्य कुरुष्व शुश्रूषणमात्मशक्त्या ॥ ३२ ॥
वृद्धान्गुरून्प्राज्ञतमानुदारान् दयापरानार्यकलांश्च नित्यम् ।
विश्रम्भपूर्वं मधुरैर्वचोभिर्मन्यस्व मान्यानथ मानदानैः ॥ ३३ ॥
अरातिवर्गान्विजयस्व नीत्या दुष्टानशिष्टांश्च सदा प्रशाधि ।
कृपापराधान् शरणागतांस्तान् रक्षस्वपुत्रानिव सर्वकालम् ॥ ३४ ॥
पङ्गुवन्धमूकान्बधिरान्स्त्रियश्च क्षीणान्दरिद्रानगतीननाथान् ।
श्रान्तान्सरोगांश्च विधृष्व सम्यक्पराभिभूतान्परिपालयस्व ॥ ३५ ॥

पूज्य पूजाकार्या

हे सुगात्र ! इधर ये तुम्हारे मातामह (नाना) विराजमान हैं, इनकी ही बराबरीसे तुम्हारे पितामह (दादा) बैठे हैं जो अपने गुणोंके कारण परम पूज्य है। यद्यपि ये दोनों महापुरुष भरतक्षेत्रके श्रेष्ठ राजा हैं तो भी तुम्हारे तो पूज्य पूर्वपुरुष हैं अतएव इसी (पूर्वजत्व) नातेसे तुम इनकी सेवा करनेमें किसी बातकी कमी न रखना ॥ ३२ ॥

जो अपने पूर्वपुरुष हैं, गुरुजन हैं, पूर्ण विद्वान हैं, उदार आचार-विचारशील हैं, दयामय कार्योंमें लीन हैं तथा आर्य-श्रेष्ठ कलाओंके पोषक हैं, ऐसे समस्त पुरुषोंका विश्वास तथा आदर करना, प्रत्येक अवस्थामें इनके साथ मधुर ही वचन कहना। इनके सिवा जो पुरुष माननीय हैं उनको सदा समुचित सन्मान देकर ही ग्रहण करना ॥ ३३ ॥

षडङ्गनीति

जो लोग तुमसे शत्रुता करें उन्हें यान, आसन आदि राजनीतिका आश्रय लेकर पददलित करना। जो स्वभावसे ही दुष्ट हैं तथा कुकार्योंमें ही लीन हैं उनको निष्पक्ष भावसे दण्ड देना। पहिले अज्ञानसे विमूढ़ होकर अपराध करनेके पश्चात् भी जो पश्चाताप करते हुए तुम्हारी शरणमें आ जावें, उनकी उसी प्रकार सर्वदा रक्षा करना जिस प्रकार मनुष्य अपने सगे पुत्रोंकी करता है ॥ ३४ ॥

विलष्टेषुकृपा

जो लंगड़े हैं, लूले हैं, जिनकी आँखें फूट गयी हैं, मूक हैं, बहिरे हैं, अनाथ हैं, स्त्रियाँ हैं, जिनके शरीर जीर्णशीर्ण हो गये हैं, संपत्ति जिनसे विमुख है, जो जीविका-हीन हैं, जिनके अभिभावक नहीं हैं, किसी कार्यको करते-करते जो लोग श्रान्त हों, और अधिक काम करने योग्य नहीं रहे गये हैं, तथा जो सदा ही रोगी रहते हैं, इनका बिना भेद-भावके ही भरण-पोषण करना। जो पुरुष दूसरोंके द्वारा तिरस्कृत हुए हैं अथवा अचानक विपत्तिमें पड़ गये हैं उनका भली-भाँति पालन करना ॥ ३५ ॥

धर्माविरोधेन समर्जयार्थानर्थाविरोधेन भजस्व कामान् ।
कामाविरोधेन कुरुष्व धर्मं सनातनो लौकिक एष धर्मः ॥ ३६ ॥
दातव्यमित्येव जनाय चित्तं[1] प्रदेहि सम्मानपुरस्सरेण ।
भृत्यापराधानविगण्य वत्स क्षमस्व सर्वानहमीशतेति[2] ॥ ३७ ॥
निबद्धवैरानतिदोषशीलान्प्रमादिनो नीतिबहिष्कृतांश्च ।
चलस्वभावान्व्यसनान्तरांश्च जहाति लक्ष्मीरिति लोकवादः ॥ ३८ ॥
अदीनसत्त्वान् क्रियया समेतान् श्रुतान्वितान्क्षान्तिदयोपपन्नान् ।
सत्येन शौचेन दमेन युक्तानुत्साहिनः श्रीस्स्वयमभ्युपैति ॥ ३९ ॥

पारस्पराविरोधेन त्रिवर्ग

सम्पत्ति अवश्य कमाना लेकिन धर्म मार्गका अनुसरण करते हुए, काम सुखका सर्वांगीण भोग करना किन्तु यह ध्यान रखना कि उसके कारण अर्थकी विराधना न हो। इसी क्रमसे उतने ही धर्म (अणुव्रत) का पालन करना जो तुम्हारे काम सेवनमें अड़ंगा न लगाता हो तीनों पुरुषार्थोंके अनुपातके साथ सेवन करनेको यही प्राचीन प्रणाली है ॥ ३६ ॥

जब कभी दान दो तो इसी भावनासे देना कि त्याग करना तुम्हारा ही कर्त्तव्य है। ऐसा करनेसे ग्रहीताके प्रति तुम्हारे हृदयमें सम्मानकी भावना जाग्रत रहेगी। जब-जब तुम्हारे सेवक कोई अपराध करें तो उनकी उपेक्षा ही नहीं अपितु क्षमा भी यही सोचकर करना कि मैं इन सबका स्वामी हूँ ॥ ३७ ॥

पाप मार्गपर पग न पड़े

लोकमें एक सूक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि जो अकारण ही वैर करते हैं, जिनके आचरण दोषोंसे ही परिपूर्ण हो जाते हैं, प्रत्येक कार्य करनेमें जो प्रमाद करते हैं, नैतिकताके पथसे जो भ्रष्ट हो जाते हैं, प्रकृति, जिन पुरुषोंको अत्यन्त चंचल होती है तथा जो वेश्या, मदिरापान, परस्त्री-गमन, आदि व्यसनोंमें बुरी तरह उलझ जाते हैं, ऐसे पुरुषोंको लक्ष्मी निश्चयसे छोड़ देती है ॥ ३८ ॥

इसके विपरीत जो पुरुषार्थी हैं, दीनताको पासतक नहीं फटकने देते हैं, सदा ही किसी न किसी कार्यमें जुटे रहते हैं, शास्त्र ज्ञानमें जो पारंगत हैं, शान्ति और उदारता जिनका स्वभाव बन चुकी है, सत्य जिनका सहचर है, शौच जिनका कवच है और दम जिनका दण्ड है तथा उत्साह ही जिनकी श्वास है ऐसे कर्मयोगियोंके पास सम्पत्तियाँ स्वयं ही दौड़ी आती हैं ॥ ३९ ॥

१. [वित्तं] । २. [सर्वानहमीशितेति] ।

भृत्यांश्च मित्राण्यथ कोशदण्डानमात्यवर्गाञ्जनतां च दुर्गान् ।
बुधैश्च पूजां यदि वाञ्छसि त्वं कुर्वात्मनात्मानमतीव पात्रम् ॥ ४० ॥
भूयोऽर्हतां शासनमागमस्थान्सज्ज्ञानचारित्रतपोविशुद्धान् ।
चतुर्विधं संघमथात्मशक्त्या भजस्व सन्मानय सादरेण ॥ ४१ ॥
गुणैरुपेता गुरवो बहुज्ञा ये शिष्य[1]यन्त्यात्मसुतान् हिताय ।
सतत्त्वसर्वं बहु शिष्ययित्वा[2] समर्पयामास सुतं गुरुभ्यः ॥ ४२ ॥
ततो नृपैर्मन्त्रिवरप्रधानैः सामन्तमुख्यैरभिषिच्य सार्धम् ।
बबन्ध पट्टं स्वयमेव राजा प्रजाहितार्थं कुलवृद्धये च ॥ ४३ ॥

सफलताकी कुंजी

यदि आज्ञाकारी सेवक चाहते हो, अभिन्न हृदय मित्र चाहते हो, असीम कोश, अनुल्लंघ्य दण्ड, राज्यभक्त आमात्य, एवं सदा अनुरक्त प्रजाकी अभिलाषा करते हो, अमेद्य किलोंके नियंत्रण करनेको उत्सुक हो, तथा इन सबसे भी बढ़कर विद्वानोंके द्वारा समर्पित सन्मानको प्राप्त करनेके लिए उत्कंठित हो तो अपनी निजी साधनाके द्वारा अपने आपको इस सबका पात्र बनाओ ॥ ४० ॥

लौकिक योग्यताओंके अतिरिक्त, भगवान अर्हन्तके द्वारा उपदिष्ट धर्मको मत भूलो। जो शास्त्रज्ञ हैं उनकी सत्संगति करो। जो तपस्वी सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र रूपी आभूषणोंसे भूषित हैं उनका सहवास करो, तथा मुनि-आर्यिका, व्रती श्रावक तथा श्राविकाओंसे युक्त चतुर्विध संघको जब-जब अवसर मिले अपनी सुविधा तथा शक्तिके अनुसार सादर वन्दना करो ॥ ४१ ॥

जो गुरुजन स्वयं गुणी तथा विद्वान होते हैं वे अपने पुत्रको उसके ही कल्याणके लिए अपनी बहुज्ञताके अनुकूल उपदेश देते हैं। इसी परम्पराके अनुकूल वरांगराजने जो-जो कुछ भी उपयोगी हो सकता था वह सब कुमार सुगात्रको भलीभाँति समझा-कर उसे अपने पूर्वजोंको सौंप दिया था ॥ ४२ ॥

'राज्य दियो बड़भागी'

अन्तिम उपदेश समाप्त होनेके उपरान्त ही वरांगराजने गुरु तथा मित्र राजाओं, प्रधान आमात्यों, मंत्रियों, प्रधान सामन्तों तथा श्रेष्ठी और गणोंके प्रधानोंके साथ कुमार सुगात्रका राज्याभिषेक स्वयं किया था, क्योंकि ऐसा करनेसे ही उनका अपना वंश चलता रह सकता था और प्रजाका हित भी हो सकता था। अभिषेक-विधि पूर्ण होते ही वरांगराजने अपने हाथोंसे ही कुमार सुगात्रको राजका पट्ट बाँधा था ॥ ४३ ॥

१. [शिक्षयन्त्यात्म°]। २. [शिक्षयित्वा]।

मुक्तावलीं रत्नपरीतमध्यां कण्ठे च देवेन्द्रधनुर्विचित्राम् ।
सूर्यप्रभाहेपितसत्किरीटं[1] निधाय पुत्रस्य हि मूर्ध्नि तस्य ॥ ४४ ॥
श्वेतातपत्रं शरदभ्रशुभ्रं दधार भास्वद्वरहेमदण्डम् ।
अष्टार्धसच्चामरहेममूलं[2] व्युत्क्षेपयामास स सुन्दरीभिः ॥ ४५ ॥
तेषां तु मध्ये वसुधाधिपानां स्वबाहुवीर्योर्जितसद्गुणानाम् ।
रेजे सुगात्रो नवराज्यलक्ष्म्या कान्त्या ग्रहाणामिव शीतरश्मिः ॥ ४६ ॥
नेदुः समन्ताद्बृहदभ्रनादा मृदङ्गभेरीपटहाः सशङ्खाः ।
उत्कृष्टनादां जनतां[3] चकार लब्धेश्वरा भूवनिता तुतोष ॥ ४७ ॥

नूतन राजाका सम्मान

उसे मोतियोंकी माला पहनायी थी जिसमें बीच-बीचमें अद्भुत रत्न पिरोये हुए थे तथा उसके मध्यभागमें परम मनोहर विचित्र इन्द्रधनुष पड़ा हुआ था। राजा सुगात्रके शिरपर जो मुकुट रखा गया था उसकी प्रभासे मध्याह्नके सूर्यका उद्योत भी लजा जाता था ॥ ४४ ॥

राजा सुगात्रके शिरपर जो धवल निर्मल छत्र लगाया गया था वह शरत्कालीन मेघोंके समान निर्मल तथा आकर्षक था, उसका दण्ड उत्तम निर्दोष सोनेका बना था तथा (आठके आधे अर्थात्) चार चमर भी सुन्दरियोंके हाथोंसे उसपर डुरवाये गये थे। इन चमरोंकी डंडियाँ भी सोनेसे बनी थीं ॥ ४५ ॥

उस राजसभामें एक, दो नहीं अनेक ऐसे राजा विराजमान थे जिन्होंने अपने भुजबलके सहारे ही विशाल राज्य तथा महापुरुषोंके लिए आवश्यक गुणोंको अर्जित किया था, तो भी नूतन राजलक्ष्मीसे संयुक्त होकर सुगात्रकी कान्ति इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि वह उस समय वह ऐसा मालूम देता था जैसा कि ग्रहोंके बीचमें चन्द्रमा लगता है ॥ ४६ ॥

राज्याभिषेक महोत्सव

राज्याभिषेककी घोषणा करनेके लिए उस समय पूरी आनर्तपुरीमें हर ओर मृदंग और दुंदुभियाँ बज रही थीं। इनसे विशाल मेघोंकी गर्जना सदृश गम्भीर नाद निकल रहा था। आनन्द विभोर जनता भी उच्च स्वरसे 'जय, जीव', आदि शब्दोंको कर रही थी तथा ऐसा प्रतीत होता था कि नूतन सुयोग्य पतिको पाकर पृथ्वी रूपी तरुणी भी परम संतुष्ट थी हो गयी थी ॥४७॥

१. क सत्किरीटं। २. क हेममालं। ३. [°नादाञ्जनता]।

ततो नृपे निर्वृतिसौख्यरागः स्वपुत्रसंक्रामितराज्यभारः ।
विमुक्तसंगः स्वजनेन सार्धं जगाम तूर्णं जिनदेवगेहम् ॥ ४८ ॥
तत्रार्हतामप्रतिशासनानामष्टाह्निकां शिष्टजनैश्च जुष्टाम् ।
यमोपवासा व्रत यन्त्रितात्मा चकार पूजां परयाविभूत्या ॥ ४९ ॥
पूजावसाने प्रतिमापुरस्तात् स्थित्वा महीन्द्रः सुविशुद्धलेश्यः ।
स्तुत्वा जिनानां तु गुणानुदाराञ्जग्राह शेषां मुदितान्तरात्मा ॥ ५० ॥
स्तोत्रावसाने प्रणिपत्य देवान्प्रदक्षिणीकृत्य जिनेन्द्रगेहम् ।
आरुह्य राजा शिविकामनर्घ्यां दिवाकरांशुद्युतिहारिणीं ताम् ॥ ५१ ॥

'छोड़ बसे वन'

राज्यारोहण संस्कारके समाप्त होते ही सम्राट वरांग, अपने आत्मीयजनोंके साथ तुरन्त ही जिनालयकी ओर चल दिये थे, क्योंकि वैराग्यमें जो अनुपम सुख है उसपर ही उनका आकर्षण था। अपने सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्रको उन्होंने समस्त राजपाट सौंपकर उसके दायित्वोंसे मुक्ति पा ली थी ॥ ४८ ॥

इन उपायोंसे उन्होंने आभ्यन्तर और बाह्य दोनों परिग्रहोंसे छुट्टी पा ली थी। जैसा कि पहिले कह चुके हैं सम्राट वरांगको विश्वास था कि जैनधर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है फलतः उन्होंने उस धर्मके आदर्श अर्हन्त प्रभुकी शिष्ट पुरुषोंके साथ अष्टाह्निक पूजाकी थी इस पूजाकी महार्घ सामग्री तथा अलौकिक सजधज अभूतपूर्व थी। पूजाके दिनोंमें वरांगराजने उपवास, व्रत तथा यम (जीवन पर्यन्त त्याग) ग्रहण करके अपने आत्माको सब दृष्टियोंसे नियंत्रित कर दिया था ॥ ४९ ॥

अष्टाह्निकपूजा

इस कठोर साधनाने वरांगराजकी दोनों लेश्याओं (वर्ण-विचारों) को अति विशुद्ध कर दिया था। जब पूजाविधि समाप्त हुई तब सम्राट आनन्दनिभोर होकर वीतराग प्रभुकी मूर्तिके सामने खड़े हो गये थे। भक्तिसे द्रुत होकर वे कर्मजेता जिनेन्द्र-के विशाल गुणोंकी स्तुति कर रहे थे और एक विचित्र अन्तरंग सुखका अनुभव करते हुए उन्होंने पूजाकी शेषा (आशिष) को ग्रहण किया था ॥ ५० ॥

जब स्तोत्र पाठ समाप्त हो गया तब उन्होंने जिनविम्बको साष्टांग प्रणाम किया था। इसके उपरान्त पूरे जिनालयकी

अत्युच्छ्रितैः केतुभिरुज्ज्वलाङ्गैः सितातपत्रैर्वरचामरैश्च ।
ध्वजैरनेकैर्नयनाभिरामैर्गच्छन्बभौ शक्र इवावनीन्द्रः ॥ ५२ ॥
मृदङ्गशब्दैः पटहस्वनैश्च शङ्खप्रणादैर्गजवाजिघोषैः ।
पुण्यैर्वचोभिर्वरमागधानामभूद्ध्वनिः क्षुब्धसमुद्रतुल्यः ॥ ५३ ॥
पौरैर्जनैर्वर्षधरैरमात्यैः सामन्तवर्गैर्नृपपुङ्गवैश्च ।
पदातिनागाश्वरथाधिरूढैर्वृतो गृहेभ्यो निरगान्नरेन्द्रः ॥ ५४ ॥
रथैश्च काश्चिद्वरवाजियानैर्मनोहराभिः शिविकाभिरन्याः ।
धर्मक्रियायां विनिवेश्य बुद्धिं नृपाङ्गना भूपतिनैव याताः ॥ ५५ ॥

तीन प्रदक्षिणाएं की थीं। इस प्रकार अन्तिम पूजाको समाप्त करके वे जिनालयके बाहर आये थे और उस पालकीपर आरूढ़ हुए थे जिसकी प्रभा सूर्यकी प्रखर किरणोंके उद्योतका भी तिरस्कार करती थी ॥ ५१ ॥

महा-निष्क्रमण

वरांगराजकी पालकीके आगे-आगे गगनचुम्बी केतु लहराते जा रहे थे। उस समय भी पालकीके ऊपर धवल निर्मल छत्र शोभा दे रहा था तथा चमर डुर रहे थे। इनके अतिरिक्त आगे-पीछे अनेक ध्वजाएं फरफरा रही थीं, इनकी शोभा नेत्रोंमें घर कर लेती थी। इस दम्भहीन रूपसे वनको जाता हुआ राजा इन्द्रके समान लगता था ॥ ५२ ॥

'तिन पद घोकहमारी'

मृदंग जोरसे पिट रहे थे, पटहोंकी ध्वनि भी तीव्र और गम्भीर थी, शंखोंकी घोषणा आकाशको व्याप्त कर रही थी। हाथियोंकी गम्भीर चिंघाड़ थी, घोड़े हिनहिना रहे थे; तथा मागध जातिके देव वैराग्य भावनाकी पुष्टिमें सहायक पुण्यमय कीर्तन करते जा रहे थे। इन सब ध्वनियोंने मिलकर उस रोर (तीव्र ध्वनि) को उत्पन्न कर दिया था जो कि समुद्रके क्षुब्ध होनेपर होता है ॥ ५३ ॥

बड़े-बड़े माण्डलिक राजा, प्रधान आमात्य, सामन्तोंके झुण्ड, अनेक श्रेष्ठ नृपति, आनर्तपुरके नागरिक, अन्य सेवक तथा अनुरक्त जनोंके साथ ही सम्राट वरांग अपने राजघरसे बाहर हुए थे। उस समय भी उनको पदाति, गजारूढ़, अश्वारोही तथा रथिकोंकी सेना घेरे हुए थी ॥ ५४ ॥

यथार्थ धर्मपत्नी

सम्राट वरांगकी सब ही रानियोंने धर्मसाधनामें ही अपने चित्तको लगा दिया था अतएव वे सब भी प्राणपतिके साथ-

१. [°वर्षधरै°]।

नृपं प्रयातं प्रसमीक्ष्य केचिद्धर्मप्रियाः पौरजनाः प्रहृष्टाः ।
केचित्पुनर्मोहमहातमोऽन्धा दुर्बुद्धयोऽत्यल्पतमा निनिन्दुः ॥ ५६ ॥
मत्स्यामिषाभ्यां च यथा शृगालः प्रवञ्चितो लोभतया विमूढः ।
यथा च नारी युवरूपलुब्धा[1] भ्रष्टोभयाभ्यां पतितस्कराभ्याम् ॥ ५७ ॥
तथा नरेन्द्रो विपुलांश्च भोगान्प्रत्यक्षभूतं प्रविहाय[2] बालः ।
परोक्षमिच्छन्सुरसौख्यमोक्षं प्रवञ्च्यते जम्बुकपुंश्चलीवत् ॥ ५८ ॥
स्वर्गोऽस्ति नास्तीति कथं हि शक्यं श्रद्धानुसज्ज्ञानवचां[3]वयो यत् ।
इतो गतो वा तत आगतो वा पुमान्यदि स्यात्तदिह प्रमाणम् ॥ ५९ ॥

साथ गृह छोड़कर चल दी थीं। कोई-कोई रानियाँ उत्तम रथोंपर आरूढ़ थी। उन रथोंमें सुन्दर तथा सुलक्षण घोड़े जुते हुए थे। शेष रानियोंने पालकियोंपर बैठना ही पसन्द किया था। ये पालकियाँ बड़ी ही मनोहर थीं ॥ ५५ ॥

भोग विलासको ठुकराकर वनको प्रयाण करते हुए वरांगराजको देखकर, सदाशय पुरुष जिन्हें धर्ममें श्रद्धा थी वे बड़े प्रसन्न हुए थे। कुछ ऐसे भी दुर्बुद्धि थे जो उनकी निन्दा करते थे क्योंकि मोहरूपी महा अन्धकारने उनका ज्ञाननेत्र ही फोड़ दिया था, इसी कारण उनके हृदय इतने पतित हो गये थे ॥ ५६ ॥

खलजन

वे कहते थे कि 'राजा उस मूर्ख शृगालके समान है जिसने लोभमें आकर जलमें मछली पकड़नेके लिए मुख खोलकर दोनों (मुखकी वस्तु तथा मछली)से हाथ धोये थे। अथवा उस कामिनीके समान है जो एक युवकके रूपपर मोहित हो गयी थी किन्तु थोड़ी-सी असावधानीके कारण पति तथा चोर (प्रेमी) दोनोंके द्वारा छोड़ दी गयी थी ॥ ५७ ॥

यही गतिविधि वरांगराजकी दिखती है—ये सामने पड़े हुए विपुल वैभव तथा असीम भोग सामग्रीको इसलिए छोड़ रहे हैं कि इन्हें देवगतिके शुद्ध सुख तथा अतीन्द्रिय मोक्षसुख प्राप्त हो। इनसे बड़ा मूर्ख कौन होगा ? इन सुखोंको किसीने देखा भी है। ये भी शृगाल और पुंश्चलीके समान उभयतः भ्रष्ट होंगे ॥ ५८ ॥

नास्तिकमत

स्वर्ग है अथवा नहीं है इस सिद्धान्तपर कैसे आस्थाको जा सकती है ? क्योंकि यह सब कल्पनाएँ उन लोगोंकी हैं जिन्हें पहिले किसी बातपर श्रद्धा हो गयी थी तथा बादमें उसीकी पुष्टिमें उन्होंने अपने ज्ञानका उपयोग किया था। सत्य तो

१. म °लब्धा। २. [° भृतान्प्रविहाय]। ३. क °वचां चचो, [वतां वचो]।

विमुच्य हस्तागत[1]मर्थकज्ञो वनेऽन्यमर्थं मृ[2]गयेति कश्चित् ।
इदं हि राज्यं प्रविसृज्य वाञ्छेददृश्यमिन्द्रत्वमवाप्तुमज्ञः ॥ ६० ॥
सुसिद्धमन्नं प्रविहाय कश्चित्पुनः प्रपक्वतुं घटते विचेताः ।
स[3]याद्वा न वा संश[4]यितुं तदन्नं राज्यं तथा सिद्धमसिद्धमैन्द्रम् ॥ ६१ ॥
पञ्चेन्द्रियाणां विषयाश्च पञ्च ते सेवितव्या इति सत्प्रवादः ।
सत्स्विन्द्रियेष्वर्थतमेषु सत्सु किमन्यमर्थान्तरमार्गयेद्वा[5] ॥ ६२ ॥
अहो नृपोऽयं निरपेक्षितार्थो व्यामोहितात्मा बत किं करोति ।
न कश्चिदस्यात्महितस्य वक्ता बन्धुः सखा वा खलु विद्यतेऽत्र ॥ ६३ ॥

यह है कि यदि यहाँसे गया कोई व्यक्ति अथवा स्वर्गसे आया कोई प्रत्यक्ष दृष्टा इसका समर्थन करता तब तो इसे प्रमाण मान सकते है ॥ ५९ ॥

जो मूढ है वही हाथमें आयी वस्तुको छोड़कर वनको दौड़ता है और वहाँपर किसी व्यर्थ पदार्थके पीछे टक्कर मारता फिरता है जो व्यक्ति इतने विशाल सम्राजको छोड़कर उस इन्द्रपदकी कामना करता है जिसे किसीने देखा भी नहीं है उसे मूर्ख न कहें तो और क्या कहें ॥ ६० ॥

उत्तम विधि पूर्वक रांधे गये सुस्वाद तथा पवित्र प्रस्तुत भोजनको थालीको पैरसे ठुकराकर जो अज्ञ व्यक्ति भोजनको फिर किसी प्रकारसे पकाना प्रारम्भ कर नीरस करता है जिसमें यह भी संभव है कि उससे पकाया गया भोजन पहिले पकेगा भी या नहीं तथा पक कर भी खाने योग्य होगा या नहीं ? यही परिस्थिति हमारे राजाकी है, आनर्तपुरका विशाल राज्य सामने हैं इन्द्र पदको कौन जानता है, और जाननेसे भी क्या प्रयोजन ? क्योंकि इन्हें वह प्राप्त हो ही जायगा ऐसा विश्वास कौन दिला सकता है ? ॥ ६१ ॥

यावज्जीवं सुखं जीवेत्

पाँचों इन्द्रियोंके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये पाँच विषय हैं। संसारमें यह सत्य मानता भी चली आ रही है कि इन विषयोंका यथेच्छ सेवन करना चाहिये। इन्द्रियोंको परम प्रिय पदार्थ अधिक मात्रामें उपलब्ध हों, तो फिर क्या आवश्यकता है कि कोई भी समझदार व्यक्ति दूसरे पदार्थोंको खोजता फिरे ॥ ६२ ॥

हमें तो इस राजाको देखकर आश्चर्य होता है, प्रतीत होता है कि इसकी बुद्धि बिगड़ गयी है, इसीलिए उपादेय भोग

१. [°गतमर्थमज्ञो, °गतमर्थकं यो]। २. [मृगयेत]। ३. म स्याद्वादवासंशयितुं। ४. [संशयितं]। ५. [°भापयेद्वा]

इत्यवमादीनि वचांस्ययोच्चैः प्रभाषमाणानफलानभार्यान्[1] ।
भद्राः प्रकृत्या श्रुतधर्मतत्त्वा विलोक्य तेभ्यः पुनरित्थमूचुः ॥ ६४ ॥
धर्मात्सुखैश्वर्यधनानि लोके लभन्त इत्येव कथा ततान ।
कुतो भवन्तः समुपागता वा जडा वकज्ञा श्रुतिबाह्यभूताः ॥ ६५ ॥
शालीक्षुगोधूमयवादिधान्यं बीजाद्विना नाङ्कुरतामुपैति ।
तपोमयं बीजमथायनीय[2]ः स्वर्मोक्षसौख्यं लभते न कश्चित् ॥ ६६ ॥
पूजा तपः शीलमपि प्रदानं चत्वारि बीजानि सुखस्य लोके ।
उप्त्वा नरास्तानि महीतलेऽस्मिन् क्रमेण धीराः सुखभागिनः स्युः ॥ ६७ ॥

विषयोंको छोड़ रहा है, समझमें नहीं आता यह सब क्या कर रहा है ? ज्ञात होता है कि इसका कोई भी सगा सम्बन्धी अथवा मित्र ऐसा नहीं है, जो साहस करके इसे समझाये कि वास्तवमें हित क्या है ॥ ६३ ॥

अज्ञानी ऐसे अनेक वचनोंको सम्राटकी समालोचनामें जोर-जोरसे कह रहे थे । उनके ये सब उद्गार निरर्थक ही थे, पर अनार्योंसे और आशा ही क्या की जा सकती थी ? किन्तु ऐसे भी साधु पुरुष थे जो स्वभावसे ही सज्जन थे, जिन्होंने धर्म-शास्त्रके तत्त्वोंका गम्भीर मनन किया था । राजपाट छोड़कर दीक्षा लेनेके लिए जाते हुए सम्राट वरांगपर जब उन लोगोंकी दृष्टि पड़ी तो उन्होंने उन मूढ़ प्राणियोंको उद्देश्य करके कुछ वचन कहे थे ॥ ६४ ॥

नीतिनिपुणाः स्तुवन्तु

'जगतके जन्ममरण चक्रमें पड़े जीव धर्ममय आचरण करके ही स्वास्थ्य, यश, स्नेही कुटुम्ब आदि सुखों, प्रभुता तथा विविध सम्पत्तियोंको प्राप्त करते हैं, इस विश्व विख्यात सिद्धान्तको कौन नहीं जानता है ? पूर्व कर्मोंके बिना अपने आप ही लोग किस कारणसे अपनी वर्तमान पर्यायको पा सके हैं ? आप लोगोंकी मूर्खता वास्तवमें दयनीय है जो आप लोग ऐसी बातें कर रहे हैं, जिनका आगमसे समर्थन नहीं होता है ॥ ६५ ॥

बड़ी साधारण-सी बात है कि धान, ईख, गेहूँ, जौ, आदि जितने भी अनाज हैं, यदि इनके बीज न हों तो किसीकी क्या सामर्थ्य है कि अंकुर उगा दे । इसी प्रकार तपस्या रूपी बीजको त्याग कर यह कभी भी संभव नहीं है कि जीव स्वर्ग और मोक्षरूपी फलोंका स्वाद पा सके ॥ ६६ ॥

जो सुखरूपी फलोंको खानेके लिए उत्सुक हैं उन्हें जानना चाहिये कि जिनपूजा, शुद्ध तप, आदर्श शील तथा विधि-

१. [°फलानभद्रान्] । २. [बीजमथापनीय] ।

कान्तिद्युतिज्ञानविभूतियुक्तं सुखान्वितं धान्यधनान्वितं च ।
समीक्ष्यमाणोऽपि नरो नरं तं सुपुण्यवानेष इति ब्रवीति ॥ ६८ ॥
पुरार्जितश्रीस्तपसां फलेन इहोपभुङ्क्ते मनुजः सुखानि ।
कृत्वेह पुण्यानि महाफलानि सुरासुराणां कुरुते तदैश्यम्[1] ॥ ६९ ॥
एवं च पूर्वार्जितपुण्यपाकादिमां विदित्वा नृपतां नरेन्द्रः ।
विहाय तां देवपतित्वमीप्सुर्वनं प्रयातीति च केचिदूचुः ॥ ७० ॥
त्यजन्ति येऽर्थान्महतश्च भोगांस्त एव धन्याः पुरुषाश्च लोके ।
वयं पुनस्तानसतोऽप्यपुण्यास्त्यक्तुं न शक्ता इति केचिदूचुः ॥ ७१ ॥

पूर्वक दान ये चारों ही सुखरूपी वृक्षके बीज हैं। जो पुरुषार्थी पुरुष इन बीजोंको अपने वर्तमान जीवनरूपी भूमिपर बो देंगे, वे धीर वीर पुरुष ही इस जन्म तथा अगले जन्मोंमें यथेच्छ सुखोंका निरन्तराय भोग कर सकेंगे ॥ ६७ ॥

पुण्यात्मा पुरुषको देखकर ही गुणी पुरुष कह उठते हैं कि यह मनुष्य शुभकर्मोंका कर्त्ता है। क्योंकि उसके शरीरकी कान्ति, मुख मण्डलकी द्युति, प्रत्येक विषयका प्रामाणिक ज्ञान, साथ-साथ चलता हुआ वैभव, उसके आसपासका सुखमय वातावरण, धन तथा अतुल धान्य, आदि ही उसके पूर्व जन्मके शुभकर्मोंका पूर्ण परिचय देते हैं ॥ ६८ ॥

पूर्व भवमें जो आन्तरिक श्री (शान्ति, दया आदि) तथा तपस्या संचित की जाती है, उसीका यह फल है कि मनुष्य अपने वर्तमान भवमें सब प्रकारके सुखों तथा भोगोंका आनन्द लेता है। तथा जो व्यक्ति अपने वर्तमान जीवनमें ऐसे-ऐसे विशाल पुण्यकार्य करता है जिनका परिपाक होनेपर महा फल प्राप्त हो सकते हैं। वही मनुष्य अपने भावी जीवनमें देवों तथा असुरोंकी प्रभुताको प्राप्त करता है ॥ ६९ ॥

सम्राट ज्ञानी हैं

इसी क्रमको समझ सकनेके कारण सम्राट वरांग जानते हैं कि उनके समस्त वैभव पूर्वभवमें आचरित शुभकर्मोंके परिपाक होनेके कारण ही उन्हें प्राप्त हुए हैं। किन्तु वे अगले जन्ममें देवोंके राजा इन्द्र होना चाहते हैं इसीलिए इस विशाल सम्राज्यकी लक्ष्मीको छोड़कर तपस्या करनेके लिए वनको प्रयाण कर रहे हैं ॥ ७० ॥

धन्य यह सुबुद्धि

इस लोकमें वे पुरुषसिंह ही धन्य हैं जो कुबेर सदृश विशाल सम्पत्ति तथा इन्द्रतुल्य प्रचुर भोगविषयोंकी सामग्रीको भी

१. म तदैश्यम् ।

किमास्महे स्वामिनि संप्रयाते वयं हि तेनैव सहाभियामः ।
इति प्रतिज्ञामभिगृह्य केचित्प्रारेभिरे गन्तुमदीनसत्त्वाः ॥ ७२ ॥
एवं हि पौरैरपरीक्षितार्थैः स्वचित्तसंकल्पितवाक्प्रलापैः ।
निगद्यमानो नृपतिर्जगाम पुराद्बहिर्निर्गतरागबन्धः ॥ ७३ ॥
पुरं क्रमेणाप्रतिधीर्व्यतीत्य वनं च नानाद्रुमपुष्पकीर्णम् ।
रक्तोत्पलैर्वाकुलिताम्बुवृन्दैर्नृपः प्रपेदे मणि[1]मन्त्रसिद्धम् ॥ ७४ ॥
तं पर्वतं ज्ञानतपश्चरित्रैर्विस्तीर्णकीर्तिर्मुनिरध्युवास ।
गणाग्रकेतुर्वरदत्तनामा सविग्रहो धर्म इव द्वितीयः ॥ ७५ ॥

बिना हिचकिचाहटके छोड़ देते हैं। हम लोगोंके आन्तरिक पतनकी भी कोई सीमा है ? जो हम लोग कुछ भी पास न होनेपर भी भोगविषयोंके संकल्प तथा आशाको भी नहीं छोड़ सकते हैं ॥ ७१ ॥

जब कि कितने ही लोग इन ज्ञानमय उद्गारोंको कहकर ही तुष्ट हो गये थे तब ही कितने ही पुरुष जिनका आत्मा मरा न था तथा जिनका आत्मबल दीन न हुआ था वे कह उठे थे—अरे! सम्राट जा रहे हैं और हम हाथपर-हाथ धरे बैठे हैं ? हम भी उन्हींके साथ जायेंगे और दीक्षा ग्रहण करेंगे। इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करके वे भी सम्राट्के साथ चल दिये थे ॥ ७२ ॥

समर्थ ज्ञानी

उस समय नागरिकोंके मनमें जो-जो भाव आते थे उन सबको वे अपने वचनों तथा कल्पनाओंसे व्यक्त करते थे। यही कारण था कि उनके पूर्वोक्त उद्गारोंमें किसी भी विषयके विवेचनकी छायातक न थी। पौर-जन अपने मनोभावोंको व्यक्त करनेमें लीन थे और वरांगराज धीरे-धीरे चलते हुए नगरके बाहर जा पहुँचे थे, क्योंकि उनके राग तथा द्वेषके बन्धन टूट चुके थे ॥ ७३ ॥

सो सब नीरस लागे

वरांगराज धीरे-धीरे आगे बढ़ते जाते थे, आनर्तपुर उनके पीछे रह गया था, इसी क्रमसे वे नाना जातिके वृक्षों तथा पुष्पोंसे व्याप्त वनोंको भी पार करते जा रहे थे। इन वनोंमें विशाल निर्मल तालाब थे जो कि लाल कमलोंसे पटे हुए थे। पर सम्राटको इन सबका ध्यान नहीं था क्योंकि उनकी बुद्धि तपमय हो हो रही थी। इस गतिसे चलते-चलते वे मणिमन्त (पर्वतका नाम) सिद्धाचलपर जा पहुँचे थे ॥ ७४ ॥

गुरुदर्शन

यह वही पर्वत था जिसके ऊपर श्री वरदत्त केवली महाराज विराजमान थे। वरदत्त केवली भगवान अरिष्टनेमिके

---

१. क मणिमत्त्व° ।

स केवलज्ञानविशुद्धचक्षुर्महर्षिविद्याधरदेवतार्च्यः ।
धर्मामृतं भव्यजनाय यच्छन्लभौ मुनिर्मेरुरिवातितुङ्गः ॥ ७६ ॥
अदूरतस्तं समवेक्ष्य भूपाः स्ववाहनेभ्यस्त्ववतीर्य तूर्णम् ।
प्रदक्षिणीकृत्य विशुद्ध भावा नेमुः शिरोभिर्मुनिसत्तमं तम् ॥ ७७ ॥
वराङ्गराजः शमितात्मरागः प्रणम्य पादौ वरदत्तनाम्नः ।
स्थित्वा पुरस्तादभिजातहर्षः कृताञ्जलिर्वाक्यमिदं जगाद ॥ ७८ ॥
सर्वज्ञ सर्वार्चित सर्ववन्द्य सर्वाश्रमाणां परमाश्रमस्थ ।
शरण्यभूत त्रिजगत्प्रजानां संसारभीतः शरणागतोऽहम् ॥ ७९ ॥

गणधरोंके प्रधान थे, उनके परिपूर्ण (केवल) ज्ञान, तप तथा चारित्रकी विमल कीर्ति देश-देशान्तरोंमें छायी हुई थी ॥ ७५ ॥

उनके दर्शन करते ही ऐसा लगता था कि वे शरीरधारी धर्म ही थे। उनकी शुद्ध तथा सर्वदर्शी आँख 'केवलज्ञान' ही था, वे इतने बड़े महर्षि थे कि विद्याधर और देव भी सतत उनकी पूजा करते थे। वे भव्यजीवोंके कल्याणके लिए सदा ही धर्मोपदेश रूपी अमृतकी वृष्टि करते रहते थे। उनका ज्ञान तथा चारित्र इतना विशुद्ध था कि वे मनुष्योंमें सुमेरुके समान उन्नत प्रतीत होते थे ॥ ७६ ॥

ज्यों ही राजा लोग पर्वतके निकट पहुँचे और उनकी दृष्टि महाराजके श्रीचरणोंपर पड़ी त्यों ही वे सबके सब एक क्षणमें ही अपने वाहनोंपर से उतरकर भूमिपर आ गये थे। तुरन्त ही उन सबने मुनिराजकी तीन प्रदक्षिणाएं की थीं और मुनिराजके चरणोंमें अपने मस्तकोंको झुक कर प्रणाम किया था ॥ ७७ ॥

वरांगराज भी बड़े भक्तिभावसे श्री केवलीमहाराजके चरणोंमें प्रणाम करके उनके सामने विनम्रता पूर्वक जा बैठे थे। उस समय उनके हर्षका पार न था, मुनिराजके शान्त प्रभावसे उनका मोह और भी शान्त हो गया था। यही कारण था कि वे हाथ जोड़ कर बैठे थे और अवसर मिलते ही उन्होंने अपने मनोभावोंको महाराजपर प्रकट कर दिया था ॥ ७८ ॥

गुरु प्रार्थना

हे सर्वज्ञदेव ? आप मनुष्य, विद्याधर, देव सब हीके पूज्य हैं। संसारके प्राणी आपकी वन्दनाके लिए तरसते हैं। आप स्वयं सर्वोत्तम आश्रम (सयोगकेवली अवस्था) को प्राप्त कर चुके हैं यही कारण है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन चारों आश्रमोंके मनुष्य आपकी पूजा करते हैं। तीनों लोकोंके जीवोंके लिए आप ही एकमात्र आधार हैं। मैं स्वयं संसारसे डरा हुआ हूँ इसीलिए त्राण पानेके लिए आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ७९ ॥

चतुर्गतीनामसुखान्वितानां योनिष्वनेकासु चिरं भ्रमित्वा ।
दुःखान्यनेकान्यनुभूय तत्र श्रान्तो भवन्तं शरणागतोऽस्मि ॥ ८० ॥
नालिङ्गितो यो रजसा कदाचिन्नोपप्लुतो जन्मवियोगशोकैः ।
मृत्योरनालीढपदप्रचारो नयस्व मां देशमृषे तमाशु ॥ ८१ ॥
ततो मुनीन्द्रस्तदनुग्रहायावदन्महामेघगभीरनादः ।
यथा सुखं त्वं विषयेषु राजन्नास्व प्रसाक्षीरिति संदिदेश ? ॥ ८२ ॥
विशुद्धजात्यादिसुदुर्लभत्वं सद्धर्ममार्गे प्रतिबोधनं च ।
विमुक्तिधर्माभिसुदुष्करत्वं सर्वं तदाचष्ट गणप्रधानः ॥ ८३ ॥

दारुणसे दारुण दुखोंके भण्डार नरक आदि चारों गतियोंकी असंख्य योनियोंमें अनादिकालसे टक्कर मार रहा हूँ। वहाँपर अनगिनते दुखोंकी ठोकरें खाते खाते मैं सर्वथा श्रान्त हो गया हूँ, अब, और एक पद भी चलनेकी सामर्थ्य शेष नहीं रह गयी है, इसीलिए आपकी शरणमें आया हूँ ॥ ८० ॥

हे ऋषिराज ! मुझे कृपा करके उसी देशमें ले चलिये जिसमें कुकर्मोंकी धूलि उड़ती ही न हो, जिसकी शान्तिको भंग करके जन्म तथा मरणके तूफान न उठते हों तथा जिस पवित्र स्थानपर मृत्युकी गति ही नहीं, अपितु उसके चरणोंने छुआ भी न हो। हे प्रभो, देर मत करिये ॥ ८१ ॥

चारित्रमेव

वरांगराजकी उक्त प्रार्थनाको सुनकर केवली महाराजने उसके कल्याणकी भावनासे प्रेरणा पाकर उसे समझाना प्रारम्भ किया था। महाराजकी कण्ठध्वनि विषयकी गम्भीरताके अनुकूल मेघ गर्जनाके समान गम्भीर शान्त थी। उन्होंने कहा था—हे राजन् ! अब आप इन्द्रियोंके विषयोंमें लीन मत रहिये, अपनी शक्तिके अनुसार जितनी जल्दी हो सके उन्हें छोड़िये ॥ ८२ ॥

गणधरोंके प्रधान श्रीवरदत्त केवलीने राजाको सब ही बातें समझायी थीं, विशेषकर यह दिखानेका प्रयत्न किया था कि विशुद्ध कुल, शरीर, मति आदि पाना कितना कठिन है, ये सब पाकर भी सत्य धर्मको पाना और उसे हृदयंगम करना और भी दुष्कर है, इतना यदि किसी उपायसे हो भी जाय तो सद्धर्मके पालन करनेकी प्रवृत्ति तथा अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेना तो अत्यन्त ही दुष्कर है ॥ ८३ ॥

चेष्टाप्रधाना जगतः क्रियाश्च चेष्टावतां कर्म न चास्त्यसाध्यम् ।
चेष्टस्व तस्मात्लभते[1] यदिष्टं स्वर्गादिकं मोक्षसुखावसानम् ॥ ८४ ॥
विशालबुद्धिः श्रुतधर्मतत्त्वः प्रशान्तरागः स्थिरधीः प्रकृत्या ।
तत्याज निर्मल्यमिवात्मराज्यमन्तःपुरं नाटकमर्थसारम् ॥ ८५ ॥
विभूषणाच्छादनवाहनानि पुराकरग्राममडम्बखेडैः ।
आजीवितान्तात्प्रजहौ स बाह्यमभ्यन्तरांस्तांश्च परिग्रहाद्यान् ॥ ८६ ॥
अपास्य मिथ्यात्वकषायदोषान्प्रकृत्य लोभं स्वयमेव तत्र ।
जग्राह धीमानथ जातरूपमन्यैरशक्यं विषयेषु लोलैः ॥ ८७ ॥

लौकिक कार्य भी ऐसे हैं कि उनको पूर्ण करनेके लिए चेष्टा करनी पड़ती है तथा जो पुरुष सतत चेष्टा करते हैं उन उद्योगी पुरुषोंको ही सफलताका सुख मिलता है, अतएव हे राजन् ! आप भी उद्योग करें, उसकी कृपासे ही आपको स्वर्ग आदि सुखोंसे लेकर मोक्ष महासुख पर्यन्तके सब ही अभ्युदय प्राप्त होंगे ॥ ८४ ॥

सज्ज्ञानमेव

वरांगराज सन्मतिके अक्षय भंडार थे, धर्मके रहस्यको उन्होंने सुना तथा समझा था, सांसारिक राग उनका शान्त हो चुका था, किसी निर्णयको करके उससे न डिगना ही उनका स्वभाव था। अतएव उन्होंने विशाल साम्राज्यको वैसे ही छोड़ दिया था जैसे कोई निर्माल्य द्रव्यकी ममता करता ही नहीं है तथा अपने गुण तथा रूप युक्त अन्तःपुरको ऐसी सरलतासे भूल गया था जैसे ज्ञानी नाटकके दृश्योंको भूल जाते हैं ॥ ८५ ॥

नगर, खनिकोंके नगर, अडम्ब, खेड़ (ग्राम) आदिसे आरम्भ करके सम्राट वरांगने रथ आदि वाहन, बिछाने ओढ़ने-कपड़े, भूषण आदि सब ही बाह्य परिग्रहोंको ही नहीं उतार फेंका था अपितु इनकी अभिलाषा, राग, द्वेष, अपने जीवनका मोह आदि जितने भी आभ्यन्तर (मानसिक) परिग्रह हो सकते थे उन सबको भी त्याग दिया था ॥ ८६ ॥

मिथ्या तत्त्वोंके श्रद्धान तथा कषाय जनित सब ही दोषोंको धो डाला था तथा लोभरूपी महा शत्रुको (विवेक खड्ग-से) काट डाला था। परम विवेकी वरांगराजने उस शुद्ध बुद्ध रूप (दिगम्बरत्व) को धारण किया था जो कि जन्मके समय प्रत्येक जीवका होता है तथा जिसे वे पुरुष ग्रहण कर ही नहीं सकते हैं जिनकी विषयलोलुपता शान्त नहीं हुई है ॥ ८७ ॥

१ [लभसे] ।

अन्येऽपि सामन्तनृपा महान्तः कौटम्बिकाश्च[1] द्विजसार्थवाहाः ।
नरेन्द्रभक्त्यार्पितमानसास्ते प्रवव्रजुस्तत्र सहैव राज्ञा ॥ ८८ ॥
नरेन्द्रदत्तो वसुमान्वनेशोऽप्यनन्तचित्रौ च मतिप्रगल्भाः ।
प्रवव्रजुः स्वाम्यनुरागबद्धा वणिग्वराः सागरवृद्धिमुख्याः ॥ ८९ ॥
ये भूमिपालाः सुकुमारगात्रा विचित्रभोगप्रतिबद्धसौख्याः ।
राज्यानि संत्यज्य महर्द्धिवन्ति कुर्वन्ति चैतेऽपि तपांसि धीराः ॥ ९० ॥
वयं प्रकृत्या विभवैर्विहीना नित्यं परप्रेषणतत्पराश्च ।
विशेषतः साधु तपश्चराम इत्येवमुक्त्वा हि परे प्रजग्मुः ॥ ९१ ॥

धर्ममें साथी

सम्राटको दिगम्बर दीक्षा लेते देखकर दूसरे कितने ही राजाओं, सामन्तों, कुटुम्बियों, ब्राह्मणों, सेठों तथा अन्य उदाराशय व्यक्तियोंने भी उनके साथ ही प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी, क्योंकि उनके चित्त उस समय भी राजाकी भक्तिसे ओतप्रोत थे ॥ ८८ ॥

विपुल धनराशिका एक मात्र स्वामी, समस्त वनोंके उपजका एकमात्र अधिकारी नरेन्द्रदत्त, अनन्तसेन, चित्रसेन आदि राजाओंने दीक्षा ग्रहण की थी क्योंकि उनकी सुमति हित तथा अहितको परखनेमें पटु थी। सागरवृद्धि आदि राष्ट्रके सब ही सेठोंको सम्राट वरांगके प्रति इतना अधिक अनुराग था कि वही उन्हें उनके (वरांगके) पथपर चलानेके लिए पर्याप्त था ॥ ८९ ॥

फलतः इन सब लोगोंने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी। जिन पृथिवीपतियोंके शरीर अत्यन्त सुकुमार और कोमल थे। जिन्हें नित-नित नये-नये विचित्र भोगों तथा सुखोंका आस्वाद करानेका अभ्यास था। उन्हीं धीर-वीर पुरुषोंने उस दिन अपरिमित सम्पत्ति, सिद्धि तथा विलासके आधार विशाल राज्योंको ठुकरा दिया था तथा मानसिक कल्पनाओंके शत्रु उग्र तप तथा भाँति-भाँतिके शारीरिक क्लेशको कर रहे थे ॥ ९० ॥

"किन्तु हम तो जन्मसे ही विभव और प्रभुतासे दूर हैं, जीविकाको उपार्जन करनेके लिए प्रतिदिन दूसरोंके द्वारा इधर-उधर दौड़ाये जाते हैं, तब हम तो सरलतासे त्याग कर सकते हैं, फिर हम क्यों न तप करें" ऐसा कहकर कितने ही लोगोंने तुरन्त ही दीक्षा धारण कर ली थी ॥ ९१ ॥

१. [कौटुम्बिकाश्च]।

क्षितीन्द्रपत्न्यः कमलायताक्ष्यो विचित्ररत्नप्रविभूषिताङ्ग्यः ।
परीत्य भक्त्यार्पितचेतसस्ता नमः प्रकुर्वन्मुनयो प्रहृष्टाः ॥ ९२ ॥
ततो हि गत्वा श्रमणार्जिकानां समीपमभ्येत्य कृतोपचाराः ।
विविक्तदेशे विगतानुरागा जहुर्वराङ्ग्यो वरभूषणानि ॥ ९३ ॥
गुणांश्च शीलानि तपांसि चैव प्रबुद्धतत्त्वाः सितशुभ्रवस्त्राः ।
संगृह्य सम्यग्वरभूषणानि जिनेन्द्रमार्गाभिरता बभूवुः ॥ ९४ ॥
मन्त्रीश्वरामात्यपुरोहितानां पुरप्रधानर्द्धिमतां गृहिण्यः ।
नृपाङ्गनाभिः सुगतिप्रियाभिर्दिदीक्षिरे ताभिरमा तरुण्यः ॥ ९५ ॥

पतिपरायणा पत्नियां

सम्राट वरांगके साथ-साथ उनकी रानियाँ भी गयी थीं, यद्यपि वे विचित्र आभूषणों तथा रंग बिरंगे वस्त्रोंसे सुसज्जित थीं तो भी उनकी कमलोंके समान सुन्दर, सुकुमार तथा बड़ी-बड़ी आँखोंसे वैराग्य टपक रहा था। उनका चित्त भक्ति रससे ओत-प्रोत था। धर्म साधनका शुभ अवसर पा सकनेके कारण वे अत्यन्त प्रसन्न थीं। फलतः इन्होंने भी परिक्रमा करके ऋषि-राजके चरणोंमें प्रणाम किया था ॥ ९२ ॥

इसके उपरान्त वे क्रमशः अन्य मुनियों और आर्यिकाओंके समीप गयी थीं, तथा आगमके अनुकूल विधिसे उस सबकी विनय तथा वन्दना की थी। वन्दना समाप्त होते ही वे सब सुन्दरियाँ किसी एकान्त स्थानमें चली गयी थीं और वहाँपर उन्होंने उन महा मूल्यवान आभूषणों आदिको उतारकर भूमिपर डाल दिया था ॥ ९३ ॥

क्योंकि वे संसारकी ममता मोहको छोड़ चुकी थी। लज्जा ढकनेके लिए उन्होंने तब केवल एक श्वेत सारी धारण कर ली थी। सोने मणियोंके शारीरिक भूषणोंके स्थानपर उस समय उन्होंने महाव्रतीके गुणों तथा शीलों रूपी आत्माके भूषणोंको धारण किया था। धर्मके तत्त्वोंको भलीभाँति समझकर उन सबने जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट सत्य मार्गके विधिवत् पालनमें मन लगा दिया था ॥ ९४ ॥

अन्य विरक्त

महामंत्रियोंकी पत्नियों, राजाके गुरुजनोंकी जीवन सहचरियों, आमात्य, पुरोहित, नगरके श्रेष्ठी तथा गणोंके प्रधानों तथा सम्पन्न नागरिकोंकी प्राणाधिकाओंने देखा कि अनन्त सुख भोगकी अधिकारिणी राज बधुएँ भी अपने अगले भवोंको सुधारनेके लिए दीक्षा ग्रहण कर रही थीं फलतः उन सब तरुणियोंको विषयरत रहना अशक्य हो गया था और उन्होंने भी तुरन्त ही दीक्षा ग्रहण कर ली थी ॥ ९५ ॥

१. [प्रचक्रुर्मुनये]।

इति नृपतिरपास्य राज्यभारं व्रतगुणशीलतपांसि संबभार ।
प्रमुदितमनसश्च राजपत्न्यः परमतपांस्यभिदध्रिरे हिताय ॥ ९६ ॥
नृपनृपवनिताभिरुज्झितानि वरमकुटाङ्गदहारकुण्डलानि ।
अवनितलमुपागतानि रेजुः कुरुषु यथा तरुजानि भूषणानि ॥ ९७ ॥
नवशरदि भृशं सुपूर्णचन्द्रो व्यपगतमेघमलोमसाश्च तारा ।
ग्रहणमिह [1]तामलेवलक्ष्मीः प्रतिविरराज महो विभूषणैस्तैः ॥ ९८ ॥
यतिपतिमभिवन्द्य सादरास्ते तदनु मुनीन्नवसंयतांश्च भक्त्या ।
नरवरवनिता विमुच्य साध्वीशमुपययुः स्वपुराणि भूमिपालाः ९९ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
वराङ्गदीक्षाधिकारो नामैकोनत्रि[2]शतितमः सर्गः ।

तपसूर

इस घटनाक्रमसे जगतने देखा था कि विशाल साम्राज्य दायित्वसे मुक्ति लेकर सम्राट वरांगने महाव्रत, साधुके गुणों (कर्त्तव्यों) तथा जैनी तपस्याके मार्गको अपना लिया था। यह सब देखकर ज्ञानमती तरुणी राजबधुएँ हृदयसे प्रसन्न ही हुईं थीं तथा अपना कल्याण करनेके लिए उन सबने भी उग्र तपस्याका व्रत लिया था ॥ ९६ ॥

सुकुमारी किन्तु विरक्त राजतरुणियोंके द्वारा शरीरसे उतारकर भूमि पर फेंक दिये गये उत्तम मुकुट, श्रेष्ठतम अंगद, महार्घ्यहार, अद्भुत कुण्डल आदि भूषणोंसे पटी हुई भूमिको देखकर (उत्तर तथा देव) कुरु भोगभूमिकी याद आ जाती जहाँ पर कल्पवृक्षोंसे गिरे भूषन वसन भूमिपर पड़े रहते हैं ॥ ९७ ॥

उन भूषणोंसे पटी हुई भूमिकी शोभा निर्मल शरद ऋतुमें पूर्णिमाके चन्द्रमाकी शीतल धवल कान्तिका अपहरण करती थी। अथवा उसे देखते ही उस आकाशकी, उस श्रीका स्मरण हो आता था जो कि मेघ उड़ जानेपर समस्त ताराओंके निर्मल प्रकाशसे होती है। [अथवा समस्त ग्रहों, नक्षत्रों तथा अन्य ज्योतिषी देवोंके विमानोंसे भासित आकाशकी जो अनुपम शोभा हो सकती है ॥ ९८ ॥

इस विधिसे दीक्षा समारोह समाप्त हो जाने पर साथ आये हुए राजाओं तथा नागरिकोंने अपनी पत्नियोंके साथ यतिपति वरदत्त मुनिकी वन्दना की थी। इसके उपरान्त सब मुनियों, नूतन दीक्षित साधुओं, संयमियों, त्यागी पुरुषों तथा स्त्रियोंकी यथायोग्य विनती करके अपने-अपने नगरको लौट गये थे ॥ ९९ ॥

चारों वर्ग समन्वित सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
वरांगदीक्षाधिकार नाम एकोनत्रिंशतितम सर्ग समाप्त ।

---

१. [ताम्रलेप० । २. [° त्रिंशत्तमः] ।

त्रिंश सर्गः[1]

गतेषु तेषु प्रियबान्धवेषु स्वेभ्यः पुरेभ्यो मुनिसंकथाभिः ।
दीक्षां प्रपन्ना[2] जहृषुर्नृसिंहा वारीविमुक्ता इव मत्तनागाः ॥ १ ॥
निरस्तभूषाः कृतकेशलोचाः प्रसन्नबुद्धीन्द्रियशुद्धभावाः ।
धर्मानुरक्ता मुनिराजपार्श्वं प्रपेदिरे साञ्जलयो यथार्हम् ॥ २ ॥
उपाश्रितांस्तान्कृतमूर्ध्निहस्तान्विलोक्य साधून्विगतेन्द्रियाशान् ।
स्वभावतो भव्यजनानुकम्पी व्रतोपदेशं कथयांबभूव ॥ ३ ॥
स्थानानि जीवस्य चतुर्दशानि तथैव हि स्थातुचरिष्णुतां च ।
सम्यक्त्वमिथ्यात्वविमिश्रितत्वं शशंस सम्यक्त्वफलं[3] यतिभ्यः ॥ ४ ॥

त्रिंश सर्ग

वियोगीजन

वरांगराज तथा अन्य सबही मुमुक्षु जीवोंके दीक्षा संस्कारकी समाप्ति हो जानेपर सम्राटके स्नेही तथा प्रिय बन्धु-बान्धव तथा अन्य सब दीक्षित सज्जनोंके स्वजन (घरके लोग) किसी प्रकार ढाढस बाँध कर अपने-अपने नगरोंके लिए लौट पड़े थे। वे रास्तेमें मुनियोंकी चर्चा करते हुए चले गये थे। इधर जिन पुरुषसिंहों तथा ज्ञानमती देवियोंने दीक्षा ग्रहण की थी उनकी प्रसन्नता उसी सीमा तक जा पहुँची थी जिसको कीचड़से उभरे हाथीका आह्लाद स्पर्श करता है ॥ १ ॥

तपरत योगिनिएँ

नव दीक्षित आर्यिकाओं तथा मुनियोंने समस्त आभूषण उतार डाले थे, सबने ही विधिपूर्वक केशलोंच किया था। मोह ममताकी पाशसे छूट कर बुद्धि निर्मल तथा इन्द्रियाँ सत्पथ-गामिनी हो गयी थीं। मानसिक विचार शुभ तथा शुद्ध हो गये थे। आपाततः धार्मिक रुचि पूर्ण विकासको प्राप्त हुई थी। संयम, साधना आदिके रहस्यको जाननेके लिए वे सब महाराज वर-दत्तकी सेवामें हाथ जोड़े हुए गये थे, अपने-अपने योग्य स्थान पर बैठ गये थे ॥ २ ॥

दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक लगाये हुए इन सब साधुओंको जब केवली महाराजने अपने पास बैठा देखा तो पलक मारते ही वे समझ गये थे कि इन सबने पाँचों इन्द्रियोंके विषयों तथा आशाको जीत लिया है। केवली महाराज बाह्य प्रेरणाके बिना ही अन्य जीवों पर दया करते थे अतएव उन्होंने इन सबको महाव्रतोंकी चर्याके विषयमें विशेष उपदेश दिया था ॥ ३ ॥

चौदह गुणस्थान

पूर्ण लोकमें व्याप्त स्थावर तथा जंगम जीवोंको उनके भावोंकी अपेक्षासे चौदह श्रेणियोंमें बाँटा है, शास्त्रोंमें इन

---

१. क म श्रीनेमिनाथाय नमोऽस्तु तुभ्यम् । नमोऽस्तु नारायणदर्पहारिणे ॥ २. क प्रसन्ना । ३. [सम्यक्त्वफलं] ।

दण्डांस्त्रिगुप्तीश्च[1] चतुष्कषायान्द्रव्याणि षड्जीवनिकायभेदा[2]ः ।
दशप्रकारं श्रमणेन्द्रधर्मं तेभ्यः समाचष्ट समाहितेभ्यः ॥ ५ ॥
सज्ज्ञानचारित्रगतिव्रतानि दशार्धभेदान्यवदत्स तेभ्यः ।
तपोविधिं द्वादशलक्षणं च संसारविच्छित्तिकरं सामाख्यत् ॥ ६ ॥
संज्ञाश्चतस्रः करणानि पञ्च चेर्यापथादीन्समितीश्च पञ्च ।
आवश्यकाः षट्च षडेव लेश्या योगत्रयं चाप्यवदद्यथावत् ॥ ७ ॥

श्रेणियोंको 'गुणस्थान' संज्ञा दी है। केवली महाराजने समस्त यतियों विशद रूपसे यह समझाया था कि मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व ये तीनों क्या हैं और किस प्रकारसे इन तीनों परिणामोंके ही कारण चौदह (मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, उपशान्त मोह, क्षीण मोह, सयोगकेवली तथा अयोगकेवली) गुणस्थान होते हैं ॥ ४ ॥

मुनिधर्म

दण्डों (त्रियोग) के सब भेदों, मन, वचन तथा काय इन तीनोंकी गुप्ति (संयम) क्रोध, मान, माया, तथा लोभ चारों कषायोंका षड् जीव आदि छहों द्रव्योंका स्वरूप, पृथ्वी आदि षड्निकायोंका विस्तार तथा क्षमा, मार्दव आदि दशों प्रकार के मुनियोंके धर्मोंको गुरुवरने भलीभाँति समझाया क्योंकि सब श्रोता भी अपने नूतन आचरणके प्रति पूर्णरूपसे जागरूक थे ॥ ५ ॥

सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्रकी एक-एक विगतका सांगोपांग उपदेश दिया था। चारों गतियोंकी निस्सारताको प्रदर्शित किया था। दशके आधे अर्थात् पाँचों महाव्रतोंकी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार तथा अनाचारको दृष्टियोंसे स्पष्ट किया था। छह प्रकारके बाह्य तथा छह ही प्रकारके अभ्यन्तर तपके विषयमें विशेष कर पूरा-पूरा परिचय दिया था क्योंकि उसको ही निर्दोष साधना करके उन्हें संसार चक्रसे छूटकर शुद्ध आत्मा स्वरूपको प्राप्त करना था ॥ ६ ॥

चारों (आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रह) संज्ञाओं, पाँचों करण (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत) ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेप तथा उत्सर्ग इन पाँचों समितियों, आवश्यक—जिनकी संख्या छह (सामयिक, चतुर्विंशति स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग) है, कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म तथा शुक्ल इन छहों लेश्याओं, शुभ, अशुभ तथा शुद्ध इन तीनों योगोंके स्वरूपको यथाविधि बतलाया था ॥ ७ ॥

१. [°गुप्तीश्च] २. [°भेदान्]।

चतुर्विधन्यासपदप्रपञ्चं नयप्रमाणानि च मार्गणानि ।
अष्टप्रकाराननुयोगभावांस्त्रिप्रपञ्चकांश्चैव गुणप्रभेदान् ॥ ८ ॥
त्रिलोकसंस्थोगतिमार्गतिं[1] च स पुण्यपापास्रवसंवरांश्च ।
बन्धं च मोक्षं च[2] शिवप्रमेयं मुनिर्मुनिभ्यः कथयांबभूव ॥ ९ ॥
श्रुत्वा मुनीन्द्रोदितमप्रमेयमहीनसत्त्वाः शिवसिद्धिमार्गम् ।
शीलान्यथादाय महाव्रतानि सद्यस्तमाचारमधीयते स्म ॥ १० ॥
[3]ततः सशान्तं शिवदत्तसंज्ञं दयापरं क्षाँन्तिमुदारवृत्तम् ।
आधारभूतं नवसंयतास्ते प्रपेदिरे संयमसाधनाय ॥ ११ ॥

ज्ञायकविचार

नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भावके भेदोंसे चार प्रकारके निक्षेप, शब्दनयका प्रपञ्च तथा अंग आदिके पदोंकी गणना, नैगम आदि सातों नय, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण (सांव्यहारिक-परमार्थिक प्रत्यक्ष, परोक्ष-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान तथा आगम) चौदहों मार्गणाओं, आठों प्रकारके अनुयोग तीन प्रकारके भाव तथा पाँचों गुणोंका भी विशद विवेचन किया था ॥ ८ ॥

त्रिलोकसार

तीनों लोकोंकी रचनाका विशेष वर्णन उनमें एक स्थानसे दूसरे स्थानको आने-जानेका क्रम, पुण्य तथा पाप कर्मोंका आस्रव, इनका बंध, संवर तथा निर्जरा तथा मोक्ष जो कि मूर्तिमान कल्याण ही है तथा जिसके स्वरूपका अनुमान नहीं किया जा सकता है। इन सबका पूर्ण उपदेश केवली महाराजने दिया था ॥ ९ ॥

महाराज वरदत्त केवलीने जो उपदेश दिया था उसके महत्त्वका अन्दाज लगाना भी अशक्य था। वह मोक्ष प्राप्तिका साक्षात् उपाय था अतएव उसे सुनकर ही सब नूतन दीक्षित मुनि और आर्यिकाएं सप्तशीलोंको ग्रहण करके तुरन्त ही पञ्च महाव्रतोंकी साधनामें लीन हो गये थे, क्योंकि इन सबको आत्मिक शक्ति और साहस साधारण न थे ॥ १० ॥

आचार्यशरण

केवली महाराजसे पूर्ण उपदेश प्राप्त करके समस्त नूतन संयमी लोग संयमकी साधना करनेकी अभिलाषासे आचार्य वरदत्तजीके चरणोंमें गये थे। आचार्यश्री मूर्तिमान शान्ति थे, दया उनका स्वभाव थी उनका महा चारित्र निर्दोष तथा पूर्ण विकसित था। इन्हीं योग्यताओंके कारण वे समस्त साधुओंको तप साधनाके मूल आधार थे ॥ ११ ॥

१. [°संस्थां]। २. [मोक्षं शिवमप्रमेयं]। ३. [ततश्च शान्तं]। ४. [क्षान्त°]।

ते भव्यसत्त्वा विदितार्थतत्त्वा जन्मान्तरे भावितमुक्तिमार्गाः ।
अनन्तवीर्याः श्रमणत्वमाप्ताः शिशिक्षिरे तच्च सुशिक्षितव्यम् ॥ १२ ॥
वराङ्गराजेन सह प्रयाताः समाहिताः क्षत्रियसंयतेन्द्राः ।
वैराग्यनिर्वेदपरायणास्ते प्रारेभिरे कर्मरिपुं विजेतुम् ॥ १३ ॥
ममत्वदेहप्रतिकारहीना न हि क्वचित्ते प्रतिबद्धरागाः ।
त्यक्तप्रमादा निरवद्यभावा समा बभूवुः प्रजने जने वा ॥ १४ ॥
त्रैलोक्यमप्येकमुहूर्तमात्रादुदीरितो नाशयितुं समर्थः ।
महाबलः कोधकषायमल्लः क्षमाबलेनाप्रतिमैर्निरस्तः ॥ १५ ॥

वरांगराज, आदि मुनि तथा आर्यिकाएं यद्यपि नूतन दीक्षित थे तो भी इन सबने तत्त्वों तथा उनके रहस्यको भलीभांति समझ लिया था। वे सबके सब भव्यजीव थे। उन्होंने अपने पूर्व जन्मोंमें मुक्ति मार्गके साधन ज्ञान, चारित्र आदिका अभ्यास किया था। उनकी मानसिक तथा कायिक शक्तियाँ भी विशाल थीं, इसीलिए वे थोड़े ही समयमें सकल श्रमण हो सके थे। तथा आचार्यश्रीके चरणोंमें बैठकर वह सब शिक्षाएं ग्रहण कर सके थे जो कि मनुष्य जीवनका चरम लक्ष्य है ॥ १२ ॥

वर्द्धमान तप

मुनि वरांगके साथ तपस्यामें लीन वे सब ही क्षत्रिय मुनि लोग साधनामें सफल होनेके लिए पूर्ण प्रयत्न करते थे। आलस्यको छोड़कर साधनामें सदा ही तत्पर रहते थे। उनके आचरण तथा भावोंकी धारा वैराग्य और निर्वेद रूपसे ही बह रही थी। इन योग्यताओंने उन्हें श्रेष्ठ साधु बना दिया था तथा पहिले सांसारिक प्रतिद्वन्दियोंको जीतनेवाले वे सब अब कर्मरूपी शत्रुओंपर टूट पड़े थे ॥ १३ ॥

ममत्व उनको छोड़ चुका था, शरीरके स्नान आदि संस्कार करनेकी उन्हें सुधि ही न थी। ऐसा कोई पदार्थ इस धरणी-पर न था जिसपर उनको थोड़ा-सा भी राग होता। प्रमाद उनसे दूर भाग गया था। भावोंपर मलिनताकी छांह तक न पड़ती थी। उस समय उन्हें एकान्त वन तथा जनाकुल सभामें कोई अन्तर ही न मालूम देता था ॥ १४ ॥

कषाय पराभव

केवल क्रोध कषाय ही इतनी अधिक शक्तिशाली तथा भयंकर है कि यदि वह अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर किसी संयोगवश पूर्णताकी शिखर पर पहुँच जाय, तो केवल एक मुहूर्तमें ही वह तीनों लोकोंको मटियामेट कर सकता है। इस अनुपम मल्लको मुनियोंने क्षमाकी शक्तिसे अनायास ही पछाड़ दिया था ॥ १५ ॥

मानो महाशैल इवातितुङ्गः स मार्दवेनाप्रतिमेन जिग्ये ।
तथैव माया कुटिलस्वभावा जितेन्द्रियैश्चिव जितार्जवेन ॥ १६ ॥
लब्धास्पदः सर्ज इव प्रवृद्धः शाखोपशाखाप्रतिमानमूर्तिः ।
उन्मोलितो[1] लोभकषायवृक्षः संतोषधृत्या क्रियविद्भिराद्यैः[2] ॥ १७ ॥
व्रणाः प्रशल्या[3] इव दुश्चिकित्स्या मिथ्यात्वमायासनिदानशल्याः ।
विमुक्तिमार्गाभिरतैरुदारैर्विवर्जितास्तै ऋषिभिर्विशेषात् ॥ १८ ॥
जिनेश्वराचार्यबहुश्रुतेषु संघे च धर्मे च जिनालये च ।
सम्यक्त्वचारित्रतपस्सु नित्यं भक्ति प्रचक्रुस्तनुरागमोहाः ॥ १९ ॥

मान कषायका अन्त पाना भी दुष्कर है क्योंकि वह सुमेरुके समान उन्नत है, तो भी साधुओंने परिपूर्ण मार्दव (भाव तथा क्रियाकी कोमलता) के द्वारा इसके भी छक्के छुड़ा दिये थे। माया कषायको तो समझना ही कठिन है क्योंकि वह अत्यन्त कुटिल है किन्तु पाँचों इन्द्रियोंके जेता तपस्वियोंने अपनी तीव्र ऋजुता (आर्जव) के द्वारा इसे भी सीधा कर दिया था ॥ १६ ॥

लोभ कषायका तो कहना ही क्या है मनुष्यके हृदयरूपी स्थानको पाकर लोभतरु सर्ज (शालवृक्ष) के समान हर दिशामें फैल जाता है, उसकी शाखाएँ तथा उपशाखाएं इतनी अधिक बढ़ती हैं कि उसके बृहत् आकारकी कल्पना भी दुष्कर हो जाती है। किन्तु वरांग आदि सब ही मुनिलोग अपने आचरणमें प्रवीण आर्यपुरुष थे फलतः उन्होंने संतोष और धृतिरूपी कुठारोंकी मारसे उसको (लोभतरुको) धराशायी ही नहीं किया था अपितु जड़ तकको उखाड़ कर फेंक दिया था ॥ १७ ॥

शल्यत्रयोन्मूलन

जो घाव शल्य-क्रिया (हथियारसे चीड़फाड़) से भी नहीं सम्हलते हैं उनकी चिकित्सा करना अत्यन्त कठिन होता है। आत्माके मिथ्यात्व, माया तथा निदान इन तीनों शल्यों रूपी घावोंको भी इसी जातिका समझिये। किन्तु मुनिवर वरांग तथा उनके समस्त साथियोंको मुक्तिमें आस्था और प्रेम था तथा उसके मार्ग पर चलनेका उत्साह था। यही कारण था कि उन विशाल तपस्वियोंने इन शल्योंको देखते-देखते निकाल फेंका था ॥ १८ ॥

इस साधनाके द्वारा नूतन मुनियोंका सामान्य मोह तथा विशेषकर राग क्षीण हो गया था। वे एक हजार आठ जिनेन्द्र देव, आचार्यों, श्रुतके विशेषज्ञ उपाध्याय, चतुर्विध संघ, धर्म, धर्मायतन, जिनालयकी यथायोग्य भक्ति करते थे। सम्यक्दर्शन, चारित्र तथा तपकी सिद्धिके लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे ॥ १९ ॥

१. [उन्मलितो]। २. [श्रुतविद्भिरार्यैः]। ३. [सशल्या]।

नैसर्ग्यमास्थाय[1] शुभप्रयोगा महर्षयो मन्दरसारधैर्याः ।
चकम्पिरे नैव परीषहेभ्यः प्रभञ्जनैस्तैरचला इवात्र ॥ २० ॥
यथाजिभूमावरिसैन्यमुग्रं पुरा ममर्द स्वपराक्रमेण ।
परीषहारीन्विषयांस्त्रिदण्डांस्तथा [2]ममर्दुर्यतयो जिताशाः ॥ २१ ॥
अर्हद्वचःस्तम्भमुपागमय्य बद्ध्वा तपोयोगमयैश्च पाशैः ।
मनोगजान्मानमदार्द्रगण्डान् [3]ज्ञानाङ्कुशैस्ते शमयांबभूवुः ॥ २२ ॥
दुष्टानिवाश्वानपथप्रपन्नान्पञ्चेन्द्रियाश्वान्विषयानुदारान् ।
संयम्य सम्यग्वररज्जुबन्धैर्महाधियस्ते स्ववशं प्रचक्रुः ॥ २३ ॥

इन सब ही महर्षियोंकी साधना शक्ति सुमेरुगिरिके समान अडिग और अक्षय थी। शुभ बन्धके कारण ध्यान, आसन स्वाध्याय आदिमें ही इनका पूरा समय बीतता था। जिस समय वे आतप आदि योग (निसर्ग) लगाकर ध्यानारूढ़ हो जाते थे उस समय क्षुधा, तृषा आदि परीषह उन्हें थोड़ा-सा भी न डिगा सकते थे। ध्यानस्थ मुनिवरोंको देखकर उन पर्वत शिखरोंका स्मरण हो आता था जिनपर प्रभञ्जनके थपेड़े कोई भी प्रभाव नहीं डाल पाते हैं॥ २०॥

तपसूर

जब ये सब राजर्षि गृहस्थ थे तब इन्होंने युद्ध स्थलमें जाकर अपने प्रचण्ड पराक्रमके द्वारा शत्रुओंकी असंख्य और वीर सेनाको देखते-देखते मसल दिया था। जब मुनिदीक्षा ग्रहण की तब भी आशापाशको छिन्न-भिन्न करके इन्होंने उसी उत्साह तथा लगनके साथ बाईस परीषह, इन्द्रियोंके विषय, तीनों दण्ड आदि शत्रुओंको भी शीघ्रतासे पददलित कर दिया था॥ २१॥

मन मतंगज

उनके उच्छृंखल मन मदोन्मत्त हाथी थे। अहंकार तथा प्रभुताका उन्माद मनरूपी हाथीके मदजलसे गीले उन्नत गण्डस्थल थे किन्तु इन मुनियोंने वीतराग प्रभुके उपदेशरूपी पुष्ट तथा प्रबल खम्भेको पाकर ऐसे उदण्ड हाथियोंको बारह प्रकारके तप तथा तीनों योगों रूपी प्रबल रस्सीको पाशसे फँसा कर उससे बाँध दिया था। तथा ज्ञानके प्रखर अंकुशको मारसे उसका समस्त उन्माद दूर कर दिया था॥ २२॥

इन्द्रियाश्व

पाँचों इन्द्रियाँ कुशिक्षित, कुलक्षण तथा दुष्ट घोड़ोंके समान है, हजार रोकनेपर भी ये कुपथपर ही चलते हैं, तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द ये पाँचों विषय तो इतने अधिक आकर्षक हैं कि इन्हें देखते ही इन्द्रिय-अश्व बिल्कुल बेकाबू हो

१. [वैराग्यमास्थाय]। २. क ममद्दुः। ३. क ज्ञानांशुकै०।

यथा मदान्धाः करिणः प्रयोगैरुपायवन्तो वशमानयन्ति ।
तथेन्द्रियेभान् कुलजातिदृप्तान्[1] ज्ञानाङ्कुशेनात्मवशं प्रणिन्युः ॥ २४ ॥
यथा [2]पुरात्यन्तरदुष्टवर्गानपास्य राज्यं स्वमुखं प्रणिन्युः ।
तथैव रागादिरिपून्विजित्य सुखं निषण्णो मुनितामुपेत्य ॥ २५ ॥
शून्यालये देवगृहे श्मशाने महाटवीनां गिरिगह्वरेषु ।
उद्यानदेशे द्रुमकोटरे वा निवास आसीदृषिसत्तमानाम् ॥ २६ ॥
रात्रिंचरा भीमरवाः शकुन्ताः शार्दूलसिंहद्विपजम्बुकर्क्षाः ।
यत्राकुला भीमभुजंगमाश्च तत्रास वासो यतिपुङ्गवानाम् ॥ २७ ॥

जाते हैं। राजर्षि विशेष ज्ञानी थे इनके स्वभावसे परिचित थे। फलतः सम्यक्चारित्ररूपी पुष्ट रस्सीसे बाँधकर उन्होंने इन्द्रियों-रूपी घोड़ोंकी सारी मस्ती उतार दी थी ॥ २३ ॥

जो पुरुष हाथियोंके पालतू बनानेकी कलामें कुशल हैं तथा एकके बाद एक युक्ति लगाते जाते हैं वे मदोन्मत्तवन्य (जंगली) गजोंको भी बड़ी सरलतासे वशमें कर लेते हैं। इन्द्रियो रूपी जंगली हाथी अपनी उदण्ड परम्परा (कुल) जन्मसे ही अत्यन्त अहंकारी और विद्रोही होते हैं किन्तु सदा प्रयत्नशील राजर्षियोंने इन्हें भी ज्ञानरूपी अंकुशके संकेतपर नचा कर अपने वशमें कर लिया था ॥ २४ ॥

सफल साधक

वरांग मुनि जब राजा थे उस समय उन्होंने अपने शत्रुओंका एकदम सफाया कर दिया था तथा राज्यमें मर्यादाका लोप करने वाले दुष्टोंका नाम तक न सुनायी देता था। परिणाम यह हुआ था कि प्रजा अत्यन्त सुखी और सम्पन्न थी। जब मुनिपदको धारण किया था तब भी उनकी वही अवस्था थी, क्योंकि राग, द्वेष, आदि शत्रुओंका समूल नाश करके वे सुखसे समाधि लगाते थे ॥ २५ ॥

विविध योग

ये ऋषिवर कभी शून्य भवनमें ठहर जाते थे तो दूसरे समय किसी देवालयमें ध्यान करते थे एक दिन श्मशानमें सामायिक लीन होते थे तो दूसरे ही दिन अत्यन्त सघन दुर्गम वनोंके पर्वतोंकी भीषण गुफाओंमें ध्यानारूढ़ हो जाते थे। यदि कभी सुन्दर उद्यानमें समाधिस्थ होनेका अवसर आता था तो वे प्रसन्न न होते थे इसी प्रकार वृक्षके खोखलेमें बैठे रहनेमें भी उन्हें असुविधा न होती थी ॥ २६ ॥

जिस दुर्गम स्थानपर सिंह, केशरी, हाथी, रीछ, जम्बुक, घातक गीध आदि पक्षी, भीषण विषैले सर्प तथा निशाचर रहते थे, जो स्थान इनके कर्णकटु डरावने रोरसे व्याप्त रहता था उसी भयंकर स्थान पर हमारे श्रेष्ठ तपस्वी वरांग आदि मुनि-राज वास करते थे ॥ २७ ॥

---

१. क °येभाः····दृप्ताः । २. [पुरात्यन्तिकदुष्ट°] ।

वर्षासु शीतानिलदुर्दिनासु घोराशनिस्फूर्जथुनादितासु[1] ।
दिवानिशं प्रक्षरदम्बुदासु ते वृक्षमूलेषु निषेदुरार्याः ॥ २८ ॥
स्थलेषु निर्जन्तुषु वीतरागा निषद्य ते स्त्रीपशुवर्जितेषु ।
संसारनिस्सारदुरन्ततां च विचिन्तयामासुरनेकशस्ते ॥ २९ ॥
वने पुनर्भीमतमेऽन्धकारे शिवादिवान्ध्वनिरौद्ररूपे ।
जरारुजामृत्युभयातिभीता निद्रावशं रात्रिषु नैव जग्मुः ॥ ३० ॥
धाराभिधौताङ्गमलाः सुलेश्याः खद्योतमालारचितात्ममाल्याः ।
विद्युल्लतावेष्टनभूषिताङ्गाः प्रज्ञाङ्गरागात्युपभोगशक्ताः ॥ ३१ ॥

वर्षाऋतु-तप

वर्षाऋतुमें जबकि सतत स्थायी मेघोंके कारण दुर्दिन ही रहते थे, शीत प्रभञ्जन बहता था, भयानक बिजली चमकती थी, भीषण गर्जना होती रहती थी, एक क्षणको भी बिना रुके दिन-रात पानी ही बरसता रहता था, उस कष्टकर समयमें भी ये मुनिवर किसी वृक्षके नीचे बैठकर ऐसे ध्यानस्थ हो जाते थे मानो प्रकृतिमें कोई विपर्यास ही नहीं हुआ है ॥ २८ ॥

इन वीतराग मुनियोंके लिए कोई भी स्थान जो कि सूक्ष्मकीट जीव-जन्तुओं तथा स्त्रियोंसे शून्य होता था तथा जहाँ पर पशुओंका उपद्रव न होता था वहीं पर वे बैठ जाते थे। और शान्त चित्तसे एक दो बार ही नहीं अनेक बार संसारकी सार-हीनतासे प्रारम्भ करके उसके दुखदायी परिणामों पर्यन्त गम्भीरतापूर्वक सोचते थे ॥ २९ ॥

वे भीषणसे भीषण वनके भीतर घुस जाते थे, जहाँ पर दिनको भी रात्रिसे अधिक अन्धकार रहता था। रात्रिके समय वहाँपर सियार तथा दिनको न देखनेवाले उल्लू कर्णकटु अशुभ ध्वनि करते थे। किन्तु मुनिवरोंका उधर ध्यान भी न जाता था। संसारमें अवश्यम्भावी जन्म, जरा और मृत्युके भयसे आकुल होकर वे रात भर शुभ ध्यान करते थे और एक क्षणके लिए भी न सोते थे ॥ ३० ॥

दिनरात बरसने वाली मूसलाधार वृष्टिके द्वारा ही उनके शरीरका मैल धुल जाता था और आत्माके समान शरीर भी निर्मल हो जाता था। रात भर चमकनेवाली जुगुनुओंके प्रकाशसे ही उनकी प्रकाशमालाका काम चल जाता था। बिजलीके प्रकाशरूपी वस्त्रसे ही उनका शरीर वर्षाकी रातोंमें लपट जाता था तथा ज्ञानाभ्यासरूपी अंगराग (उबटन) के उपयोगमें ही वे अत्यन्त आसक्त थे ॥ ३१ ॥

१. म °नादिकासु ।

हेमन्तकाले धृतिबद्धकक्षा दिगम्बरा ह्यभ्रवकाशयोगाः ।
हिमोत्करोन्मिश्रितशीतवायुं प्रसेहिरेऽत्यर्थमपारधैर्याः ॥ ३२ ॥
अस्पर्शयोगा मलदिग्धगात्राः प्रसारणाकुञ्चनकम्पहीनाः ।
उच्छ्वासनिःश्वासनिमेषलक्ष्याः[1] संतस्थिरे स्थाणुरिवाप्रकम्प्याः ॥ ३३ ॥
भूतैः प्रभूतैः सपिपाससंघैः सडाकिनीभिः पिशिताशनीभिः ।
घोरैः पुनर्भीमरवानुकारैस्ते [2]निश्चला तस्थुरमा श्मशाने ॥ ३४ ॥
अस्नानभूरिव्रतयोगभाराः स्वेदाक्तमासक्तरजःप्रलिप्ताः ।
निदाघसूर्याभिमुखा नृसिंहा व्युत्सृष्टगात्रा मुनयोऽभितस्थुः ॥ ३५ ॥

शीतकाल तप

जब हेमन्त ऋतु प्रारम्भ हो जाती थी तब वे अपनी धारण शक्तिरूपी धोतीकी कांछ बांध लेते थे। एक तो वे यों ही दिगम्बर थे, इसपर भी वे खुले आकाशके नीचे ही अवकाश योग लगाकर बैठ जाते थे। उस समय अत्यन्त शीतल पवन झकोरे लेती थी तथा हिम (बर्फ) को फेंकती थी, किन्तु इस सबको वे परम शान्तिके साथ सहते थे, क्योंकि उनका धैर्य अपार था ॥ ३२ ॥

जब वे अस्पर्श (शरीर निरपेक्ष अखण्ड समाधि) योग लगाते थे तब उनका सारा शरीर धूल मिट्टी पसीने आदिसे ढक जाता था। उस समय न तो हाथ पैर आदि किसी भी अंगको फैलाते थे और न सिकोड़ते ही थे। कँपने आदिके लिए तो अवकाश ही नहीं था। उस समय वे जीवित हैं इसका पता केवल इसी बातसे लगता था कि उनकी श्वासोच्छ्वास देखी जाती थी, अन्यथा वे वृक्षके ठूटकी भांति अचल होकर ध्यान मग्न रहते थे ॥ ३३ ॥

भूतोंके लिए भी महाभूतोंके समान भीषण भूतों पिशाचोंके समूह द्वारा वे डराये जाते थे। मांस मज्जाको खानेके लिए अभ्यस्त डरावनी डंकिनियाँ उन्हें धमकाती थीं। ये सब बड़े दारुण थे, आकार देखते ही भयसे रोमाञ्च हो आता था तथा इनको कर्कश ध्वनि सुनकर रक्तकी गति रुकने लगती थी, किन्तु वरांग आदि सब ही मुनिराज ऐसे उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी श्मशानमें अचल समाधि लगाये बैठे रहते थे ॥ ३४ ॥

ग्रीष्मतप

जब ग्रीष्म ऋतु आती थी तब वे मुनिवर अनेक कठोर व्रतोंके साथ-साथ अस्नान महायोगको धारण करते थे ग्रीष्मके तापके कारण पूरे शरीरसे पसीना बहता था जिसपर उड़ती हुई धूल बैठ जाती थी और पूरी देह धूलसे लिप्त जाती थी। किन्तु वे मनुष्य-सिंह शरीरकी ममताको छोड़कर जेठके मध्याह्नके सूर्यकी तरफ मुख करके ध्यान करते थे ॥ ३५ ॥

१. क °लक्ष्या। २. [निश्चलं]।

[1]ऊर्ध्वा दिवार्के प्रदहत्यभीक्ष्णं पार्श्वे च वायौ [2]परुषेऽतिवाति ।
अधः पुनस्तप्तमहाशिलासु स्थित्वा [3]प्रदेकुर्घनकर्मकक्षम् ॥ ३६ ॥
निदाघतीक्ष्णार्ककरप्रहारानुरस्स्वथादाय निरस्तपापाः ।
अस्तं प्रयाते च रवौ यतीशाः पराङ्मुखेरा विवनेवतेरु[4]: ॥ ३७ ॥
विशिष्टवातातपवर्षतृप्ताः क्षुव्याधिरोगारतिरोषणानि ।
प्रसेहिरे कर्मरजःक्षपाय महर्षयो मन्दरजःप्रकम्प्याः ॥ ३८ ॥
वीरासनस्वस्तिकदण्डशय्याः पल्यङ्कवज्रोत्कुटिकासना ये ।
स्थानव्रता मौनपराश्च धीरा महाद्रिकुक्षिष्वभिरेमिरेते ॥ ३९ ॥

शिरपर मध्याह्नका सूर्य चमकता था जिसकी प्रखर किरणोंसे सारा वातावरण ही अग्नि ज्वालामय हो रहा था। उनके चारों ओर अत्यन्त उष्ण तथा रूक्ष तीव्र पवन बहता था। जिस शिलापर बैठते थे वह भी जलने लगती है फलतः नीचेसे उसकी दाह रहती है। इस प्रकार सब तरफसे धधकती हुई ज्वालामें वे अपने कर्मों रूपी सघन वनको भस्म करते थे ॥ ३६ ॥

इस दुर्द्धर तपको करनेसे उनके पाप नष्ट हो गये थे, इसीलिए ग्रीष्मऋतुके प्रचण्ड सूर्यकी प्रखर किरणोंसे भीषण प्रहारों-को वे कि सीधे अपने वक्षस्थलपर रोकते थे, और वहीं पर ध्यानमग्न रहते थे किन्तु जब सूर्य अस्त हो जाता था तब वे सब ऋषिराज आतापन योगको समाप्त कर देते थे और पर्वतोंकी गुफाओंकी भीषण दाहमें रात्रि व्यतीत करते थे ॥ ३७ ॥

उपसर्ग-परीषह जय

वे वर्षा, शीत तथा ग्रीष्म ऋतुकी पीड़ाओंको उक्त विधिसे विशेष आकार और प्रकारमें सहकर ही विरत नहीं हो जाते थे अपितु कर्म शत्रुओंका क्षय करनेके लिये भूख, प्यास, रोग, अरति, अकारण क्रोध, आदि उपसर्गोंको प्रसन्नतासे सहते थे। इतना सब सहकर भी वे सुमेरु पर्वतके समान अपनी साधनामें सर्वथा अकम्प थे ॥ ३८ ॥

यदि एक समय वीरासन, स्वस्तिकासन, खड्गासन तथा शय्यासन लगाकर ध्यान करते थे, तो दूसरी वेलामें वे पल्यंकासन, वज्रासन तथा उत्कुटकासन लगाये दृष्टिगोचर होते थे। वे महा पर्वतोंकी गुफाओंमें वास करते थे वहाँपर कभी स्थानका नियम करते थे तो दूसरे समय मौनव्रत धारण कर लेते थे ॥ ३९ ॥

१. [ऊर्ध्वं]। २. क पुरुषे°। ३. म प्रसेदेकुर्घन; [प्रदेहुर्घन°]। ४. [विवरेऽवतेरुः]।

एवं तपःशीलगुणोपपन्ना व्रतैरनेकैः कृशतामुपेताः ।
अभग्नचर्याः स्थितसत्त्वसारास्तेपुः सुतीव्राणि तपांसि शूराः ॥ ४० ॥
निवृत्तलोकव्यवहारिणस्ते जिनेन्द्रवाक्यानुनयप्रवीणाः ।
धर्मानुरागोद्यतधीरचर्या ध्यानैकतानाः सततं बभूवुः ॥ ४१ ॥
तपोभिरापीडितसर्वगात्रा महर्षयो निश्चलमानसास्ते ।
पुरात्मसंक्रीडितकामभोगान्न चैव कांश्चिन्मनसा विदध्युः ॥ ४२ ॥
एकान्तशीला विगतान्तरौद्राः प्रशान्तरागाः श्रुतवीर्यसाराः ।
ध्याने पुनस्ते खलु धर्मशुक्ले दध्युः शुभे पापविनाशनाय ॥ ४३ ॥

'तपरमा तनो तनमें प्रकाश'

इस कठोर मार्गका अनुसरण करके उन्होंने तपस्या, शील तथा साधुपरमेष्ठीके गुणोंको प्राप्त किया था। सदा ही भाँति, भाँतिके अनेक व्रत धारण करनेके कारण उनकी काय अत्यन्त कृश हो गयी थी। तो भी उनका आत्मिक बल और सहन-शक्ति ज्योंकी त्यों बनी हुई थी। चर्यामें कहींसे भी कोई शिथिलता नहीं आ रही थी। तथा प्रतिदिन वे नूतन-नूतन तपोंकी साधना करनेमें लीन थे ॥ ४० ॥

इन तपस्वियोंने संसारके समस्त व्यवहारोंको दूर भगा दिया था। श्रीवीतराग केवलीकी दिव्य-ध्वनिसे निकले आगम वचनोंके मनन तथा आचरणमें लीन थे। धर्मके प्रति उनका अथाह अनुराग था, कठिनसे कठिन चर्यामें उन्हें अक्षय उत्साह था। और सदा ध्यान लगाकर वे सब कुछ ही भूल जाते थे ॥ ४१ ॥

तपःक्लिष्ट काय

वर्षोंसे लगातार किये गये कठिन तपके कारण यद्यपि उनके शरीरका अंग-अंग कृश हो गया था तो भी उन महर्षियोंके मन तथा हृदय सदा ही अडोल अकम्प थे। यद्यपि गृहस्थाश्रममें उन सबने मनचाहे भोग और विषयोंका आनन्द लिया था तो भी प्रव्रज्या ग्रहण करनेके बादसे उन्हें कभी उनका थोड़ा-सा विचार भी न आया था ॥ ४२ ॥

एकान्तमें रहकर साधना करना उनका स्वभाव हो गया था। उनके अन्तरंगमें आर्त तथा रौद्र भावोंकी छाया भी न रह गयी थी। राग द्वेष सर्वथा शान्त हो गये थे। शास्त्रीय ज्ञान ही उनका पराक्रम और सामर्थ्य थी, किन्तु इतना करने पर भी पाप कर्मोंका पूर्ण नाश न हुआ था, फलतः उनका समूल नाश करनेके लिए उन्होंने धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानकी प्रक्रियाको अपनाया था ॥ ४३ ॥

जितेन्द्रियाश्च व्रतभूषिताङ्गाः क्षमाबलास्ते धृतिबद्धकक्षाः ।
दयार्थमेव प्रगृहीतसत्या महीं विजहुः समसौख्यदुःखाः ॥ ४४ ॥
ग्रामैकरात्रं नगरे च पञ्च समूषुरव्यग्रमनःप्रचाराः ।
ते किंचिदप्यप्रतिबाधमाना विहारकाले समिता विजहुः ॥ ४५ ॥
नैकप्रकाराकृतिजन्तुमालां चंचूर्यमाणां वसुधां मुनीन्द्राः ।
पीडां परप्राणिषु नैव चक्रुः पुत्रेषु मातेव दयालवस्ते ॥ ४६ ॥
यस्मिंस्तु देशेऽस्तमुपैति सूर्यस्तत्रैव संवासमुखा बभूवुः ।
यत्रोदयं प्राप सहस्ररश्मिर्यातास्ततोऽथा पुरि [1]वाप्रसंगाः ॥ ४७ ॥

चरमसाधना तथा विहार

पाँचों इन्द्रियाँ उनकी आज्ञाकारिणी हो गयी थीं, पंच महाव्रतोंकी सकल सिद्धि ही उनके शरीरका भूषण बन गयी थी। क्षमा उनका बल हो चुकी थी तथा धृतिकी ही उन्होंने कांछ लगा ली थी। यद्यपि उनके लिए सुख तथा दुःख दोनों ही समान थे तो भी वे लौकिक प्राणियोंकी अवस्थाको समझते थे अतएव उनपर ही दया करके वे देशोंमें विहार कर रहे थे। तथा इस अवस्थामें सत्य ही उनका साथी था ॥ ४४ ॥

किसी भी ग्राममें वे एक रात (आठ पहर) ठहरते थे तथा नगरमें अधिकसे अधिक पाँच दिन ही रहते थे। समस्त यात्रामें न उन्हें जानेकी आकुलता थी और न कोई मानसिक चिन्ता ही थी। विहारके समय वे सब ही मुनि एक साथ विहार कर रहे थे। उन्हें कोई वस्तु या परिस्थिति बाधा न दे सकती थी तथा वे स्वयं किसी भी प्रकारकी असुविधाका अनुभव न करते थे ॥ ४५ ॥

पृथ्वी अनेक प्रकार तथा आकारके जीव जन्तुओंसे ठसाठस भरी हुई है अतएव वे उसी मार्गपर चलते थे जिसपर लोग चल चुकते थे। वे किसी भी रूपमें संसारके प्राणियोंको थोड़ी-सी भी पीड़ा नहीं देना चाहते थे, क्योंकि उनका हृदय वैसे ही वात्सल्य और दयासे व्याप्त था जैसा कि माताका अपने पुत्रोंपर होता है ॥ ४६ ॥

कभी चलते-चलते जिस स्थानपर सूर्य अस्ताचलपर पहुँच जाते थे वहींपर वे आवश्यक विधि समाप्त करके रात्रिको व्यतीत करनेके लिए रुक जाते थे। और ज्योंही सूर्य उदयाचल पर आ जाते थे त्योंही वे उस स्थानसे दूसरे स्थानको प्रस्थान कर जाते थे। जैसे वायुके साथ कोई भार, धन, आदि नहीं होते हैं उसी प्रकार मुनियोंके साथ भी कोई परिग्रह न रहता था ॥ ४७ ॥

१. [ततो वायुरिवाल्पसंगाः]।

यत्रार्हतां जन्मपुराण्यभूवन्प्रवव्रजुर्यत्र च लोकनाथाः ।
यत्रैककैवल्यमभूदतुल्यं यत्रास निर्वाणमृषीश्वराणाम् ॥ ४८ ॥
तांस्तांश्च देशानथ संविहृत्य विशुद्धवाक्कायमनःप्रयोगाः ।
समीक्षमाणाश्च तपोवनानि ववन्दिरे दुष्कृतपावनानि ॥ ४९ ॥
शय्यासनस्थानगतिक्रियासु निष्ठीवनोत्सर्गविधिष्वमूढाः ।
आदाननिक्षेपणभोजनेषु जन्तूनरक्षुः क्रियया समेताः ॥ ५० ॥
नैष्ठुर्यपारुष्यनिरर्थकानि कार्कश्यपैशून्यविकारवन्ति ।
मर्मप्रहाराणि वचांसि वाचा न भाषमाणा यतयो विजह्रुः ॥ ५१ ॥

तीर्थाटन

जिस प्रदेश पर तीर्थंकर भगवानोंके जन्म स्थान होते थे उन नगरोंमें, अथवा संसारके हितैषी तीर्थंकरोंने जिन स्थानों-पर दीक्षा ग्रहण की थी, अथवा परम तपस्वी अर्हन्त भगवानको जिन पुण्य स्थानोंपर केवलज्ञानको प्राप्ति हुई थी अथवा जिस प्रातःस्मरणीय पवित्र धामसे ऋषियोंके भी आदर्श केवली तीर्थंकर मोक्षको पधारे थे, उन सब धन्य देशोंमें उन तपस्वियोंने विहार किया था ॥ ४८ ॥

उनके मन, वचन तथा कायकी चेष्टाएँ दिनों-दिन विशुद्धतर होती जाती थीं। जहाँ कहीं पर भी वे चतुर्विध संघकी निवासभूमि किसी तपोवनमें पहुँचते थे, वहीं रुककर वन्दना करते थे क्योंकि वे स्थान ही आत्माओंके पापमलको धो कर दूर करते हैं ॥ ४९ ॥

किसी जगह बैठते हुए, लेटते हुए, आवश्यक कार्यके लिए स्थान करते समय, चलते समय, किसी भी चेष्टाको करते हुए, थूकनेमें, मलत्यागमें तथा अन्य आचरण विधियोंका अनुष्ठान करते समय, किसी वस्तुको उठाते हुए अथवा रखते समय तथा आहार ग्रहण करनेके अवसरपर वे जागरूक रहते थे और पूर्ण सावधानीसे जीवोंकी रक्षा करते थे, साथ ही साथ किसी भी आचारमें खोट न आने देते थे ॥ ५० ॥

रागद्वेष विजयी

वे सब मुनिराज न तो किसीको निष्ठुर तथा कठोर शब्द कहते थे, कभी निरर्थक एक शब्द भी उनके मुखसे नहीं निकलता था, कर्णकटु तथा चाटुकारिता मय वचन भूलकर भी उनकी जिह्वापर नहीं आ सकते थे। ऐसे शब्द जिन्हें सुनकर श्रोताके हृदयपर किसी भी प्रकारका आघात हो सकता था उनकी तो कल्पना ही उनके लिए अशक्य थी। इस प्रयत्नसे वचन गुप्तिका पूर्ण पालन करते हुए वे देशोंमें विहार कर रहे थे ॥ ५१ ॥

सर्सिंहविक्रान्तितवज्रमध्यान्भद्रोत्तरांश्चाम्लविवर्जितानि ।
चान्द्रायणाख्यप्रमुखानि सम्यगुपोषुरन्यानि च सत्तपांसि ॥ ५२ ॥
ते पारणां कर्तुमथ प्रविश्य बाह्यात्पुरस्य प्रतिसंनिवृत्ता ।
कदाचिदन्तर्नगराच्चरु[1]ष्काद्व्यथाप्रदेशात्त्रिकतश्च याताः ॥ ५३ ॥
एकान्तभिक्षां प्रविलभ्य याता भिक्षात्रयेण प्रतिमानिवृत्ताः ।
गृहेषु सप्तस्ववगुह्य केचिद्ग्रासार्धतोऽर्धोदरिणः प्रयाताः ॥ ५४ ॥
ग्रामान्तरोद्यानवनान्तरे च [2]प्रथान्तरे घोषवति प्रदेशे ।
शिलान्तरे सैन्यनिवेशने च कान्तारदेशे जगृहुश्च भिक्षाम् ॥ ५५ ॥

यदि एक समय वे नृसिंह शार्दूलविक्रीडित व्रत (सिंह-निष्क्रीडित व्रत) करते थे तो दूसरी ही बार वज्रमध्य (विशेष प्रकारका उपवास) नियम धारण कर लेते थे। कुछ समय तक यदि भद्रोत्तर (यह भी आहार चर्या व्रत है) नियम चलता था तो उसीके तुरन्त बाद ही अम्लविवर्जित (नमकका त्याग) प्रारम्भ हो जाता था। चन्द्रायण (उपवास विशेष) आदि जितने भी उत्तम बाह्य तप हैं उनका नियम करके सब तपस्वी उपवास करते थे ॥ ५२ ॥

क्षुधापरिषह

ऐसे लम्बे व्रतोंके बाद वे पारणा करनेके निमित्त चर्या करते थे, किन्तु लाभान्तराय कर्मके उदयसे कोई विघ्न हो जाता था और वे नगरके बाहरसे ही लौट आते थे। दूसरे समय नगरमें प्रवेश करनेके बाद लौटना पड़ता था। अन्य समय निर्विघ्न चर्या करते हुए किसी चौमुहानी अथवा तिमुहानी तक तो पहुँच जाते थे, किन्तु किसी अन्तरायके कारण उससे आगे नहीं बढ़ पाते थे ॥ ५३ ॥

कितने ही मुनिवर केवल एक ही अन्नका आहार लेकर तृप्त हो जाते थे। दूसरे अनेक साधु तीन वस्तुओंसे बनी हुई भिक्षाको पाकर ही लौट आते थे। अन्य साधु सात गृहोंमें भिक्षा लेनेका नियम कर लेते थे तथा मिलने अथवा न मिलने पर भी उससे आगे न जाते थे। कितने ही साधु मूलाचार कथित भिक्षाके परिमाणके ग्रासोंकी संख्या आधी कर देते थे, और आधे खाली पेट ही लौट आते थे ॥ ५४ ॥

कभी किसी ग्राममें जाकर भिक्षा ले लेते थे। दूसरे समय किसी वनमें अथवा उद्यानमें ही भिक्षा ग्रहण करते थे। विधि पूर्ण होनेसे किसी मार्गके किनारे अथवा ग्वालों आदिकी झोपड़ियोंमें भी वे आहार ले लेते थे। यदि पर्वतोंपर अथवा घाटियों-में, सेनाके विश्राम स्थान (स्कन्धावार) अथवा किसी गहन वनमें ही शुद्ध तथा प्रासुक भोजन मिल सकता था तो उसे ग्रहण करनेमें उन्हें कोई विरोध न होता था ॥ ५५ ॥

१. [°चतुष्का°]। २. [पथान्तरे]।

संत्यज्य मृष्टाशनपानखाद्यं स्वाद्यानि वर्णेन्द्रियवर्धनानि ।
तपोऽभिवृद्धयै रसहीनमन्नं प्राभुञ्जताहं न च रात्रिभागे ॥ ५६ ॥
उत्पादनं चोद्गमनं सदोषं संयोजनं क्रोडकृतं पुराणम् ।
अज्ञातमन्नं हरितं त्वदृष्टं विवर्जितं तन्मुनिभिस्त्वयोग्यम् ॥ ५७ ॥
अस्वादुकं निर्लवणं विशुद्धं स्निग्धं च रूक्षं विरसं विवर्णम् ।
अशीतलं वाथ सुशीतलं वा वव्रुश्चिरे तच्च तपोऽभिवृद्धयै ॥ ५८ ॥
प्रतप्तलोहे पतितोऽम्बुबिन्दुर्यथा क्षयं तत्क्षणतोऽभ्युपैति ।
तथा विलिल्ये यतिभिः प्रभुक्तं कदन्नमप्यल्पतया शरीरे ॥ ५९ ॥

नीरसभोजन रत

चिक्कणता बहुल गरिष्ठ भोजन, पान, आदि आहारोंको उन्होंने सर्वथा छोड़ दिया था। स्वादु भोजनकी भी उन्हें अभिरुचि न थी। ऐसा भोजन तो भूल कर भी न ग्रहण करते थे जो इन्द्रियोंको उदीप्त करे अथवा सौन्दर्य आदिको बढ़ाये। शरीरको तपस्याके योग्य बनाये रखनेके लिए ही वे नीरस भोजनको केवल एक बार ग्रहण करते थे और वह भी दिनमें ही, रात्रिको तो किसी भी अवस्थामें कुछ भी ग्रहण न करते थे ॥ ५६ ॥

वह अन्न जिसमें अकुर आदि पड़ सकते हों, एक स्थानपर पकाकर दूसरे स्थानपर लाया गया भोजन, दोषयुक्त विधिसे तैयार किया गया, इधर-उधरसे लाकर इकट्ठा किया गया, विकार उत्पन्न करनेवाला सदोष भोजन, प्राचीन अथवा वासी भोजन, ऐसी वस्तु जिसे वे जानते न हों, हरा पदार्थ, विधिपूर्वक न शोधा गया तथा वह सब पदार्थ जिनका खाना वर्जित है, इन सब पदार्थोंको त्यागकर वे सोधा सादा मुनिके योग्य आहार ग्रहण करते थे ॥ ५७ ॥

बहुत उष्ण अथवा बिल्कुल शीतल, घृतादि युक्त अथवा सर्वथा सूखा, किसी भी स्वादसे हीन अथवा बिना नमकका, सब रसोंसे हीन तथा आकर्षक रंगरूपसे भी दूर पवित्र भोजनको वे किसी भी प्रकारसे गलेके नीचे उतार देते थे क्योंकि तप बढ़ानेके लिए शरीर यन्त्रको चालू रचना ही उनका चरम लक्ष्य था ॥ ५८ ॥

खूब तपाये गये लोहेके तवेपर यदि पानीकी कुछ बूँदें छोड़ी जांय तो वे सब बूँदें एक क्षणमें ही न जाने कहाँ लुप्त हो जाती हैं, इसी प्रकार मुनिवर किसी भी रस रूपके शुद्ध भोजनको अपने उदरमें डाल देते थे और वह नीरस भोजन भी मात्रामें थोड़ा होनेके कारण थोड़े ही समयमें उनकी उदराग्निमें भस्म हो जाता था ॥ ५९ ॥

अक्षस्य संरक्षणमात्रमन्नं ते भुञ्जते प्राणविधारणाय ।
प्राणाश्च ते धर्मनिमित्तमेव धर्मश्च निश्रेयसलब्धये सः ॥ ६० ॥
सामान्यसत्काञ्चनशत्रुमित्रा मानावमानेषु समानभावाः ।
लाभे त्वलाभे सदृशा [1]प्रयोगास्ते वीरचर्या यतयो बभूवुः ॥ ६१ ॥
अखण्डचारित्रमहाव्रतानाम[2]गूढवीर्योरुपराक्रमाणाम् ।
स्वकार्यसंपादनतत्पराणां कुतोऽपि नासीत्तपसि प्रसंगः ॥ ६२ ॥
तेषामृषीणां निरपेक्षकाणामनेकयोगव्रतभूरिभासाम् ।
क्लेशक्षयायैव समुत्थितानां तपोऽभिवृद्धिर्महती बभूव ॥ ६३ ॥

वे उतना ही अन्न खाते थे जितना इन्द्रियोंकी शक्तिको बनाये रखनेके लिए आवश्यक था तथा दूसरा प्रधान उद्देश्य शरीर और प्राणोंका सम्बन्ध बनाये रखना था। प्राण रक्षाका भी उद्देश्य था अधिकसे अधिक धर्म कमाना तथा धर्मार्जनका एकमात्र लक्ष्य मोक्ष महापदकी प्राप्ति ही थी ॥ ६० ॥

कांच-कञ्चन समान

उन ऋषियोंकी दृष्टिमें सोना तथा मिट्टी दोनों ही समान थे, शत्रु तथा मित्र दोनोंपर उनकी एक ही दृष्टि थी, मान करनेसे प्रसन्न न होते थे तथा अपमानके कारण जरा भी कुपित न होते थे। लाभ तथा अलाभ दोनों ही उनके लिए निःसार थे। उनका आचरण वीरोंके उपयुक्त था तथा प्रत्येक विरोधी परिस्थितिमें उनका एक-सा ही व्यवहार होता था ॥ ६१ ॥

उनके अहिंसा आदि समस्त महाव्रत तथा अन्य चारित्रमें कहींपर भी कोई त्रुटि न थी। उनकी असाधारण सहन शक्ति तथा विशाल आत्मशक्तिकी थाह ही नहीं थी। वे अपने प्रधान लक्ष्य आत्मशुद्धिको प्राप्त करनेके लिए सतत प्रयत्न करते थे। इन सब योग्यताओंके कारण उनके तपमें किसी भी तरफसे कोई रुकावट न आती थी ॥ ६२ ॥

वे संसारकी समस्त वस्तुओंकी उपेक्षा करते थे। सदा ही अनेक विधिके व्रतोंका पालन तथा योगोंको धारण करते थे, इनसे प्राप्त तेजके कारण उनकी आभा बहुत बढ़ गयी थी। ऐसा प्रतीत होता था कि वे अपने समस्त क्लेशोंको क्षय करनेके लिए ही घर द्वार छोड़कर निकले थे। इन सब निरन्तराय प्रयत्नोंके द्वारा उन सब ही ऋषियोंकी तपस्यामें अप्रत्याशित वृद्धि हुई थी ॥ ६३ ॥

१. [सदृशप्रयोगा°]। २. म °मनूढ°।

चतुर्थषष्ठाष्टमपक्षमासाचन्द्रायणाद्यैरुपवासयोगैः ।
आतापनैरभ्यवकाशवासैः सवृक्षमूलैः प्रतिमाप्रयोगैः ॥ ६४ ॥
तपोभिरत्युग्रतमैरुदारैः सत्त्वानुकम्पाव्रतभावनाभिः ।
संकल्प्य[1] संवर्धितधर्मरागैः कर्माणि तेषां तनुतामुपेदुः[2] ॥ ६५ ॥
कर्म[3]स्तनुत्वं गतवत्सु तेषु महात्मनां सद्यशसां तपोभिः ।
गते पुनर्वर्षशते यतीनामृद्धिप्रवेका विविधा बभूवुः ॥ ६६ ॥
महर्द्धिभिर्नैकविधा निरीशा दुरासदाभिर्नृसुरासुरैश्च ।
प्रत्यक्षविज्ञानविभूतिभिश्च प्रभावयां जैनमतं बभूव ॥ ६७ ॥

कायक्लेशकी चरमसीमा

चार दिन, छह दिन, आठ दिन, एक पक्ष तथा एक मास पर्यन्त लगातार उपवास करके, चन्द्रायण आदि उपवास बहुत व्रतोंको पाल कर आतापन (ग्रीष्म ऋतुमें) शीतकालमें अभ्यवकाश तथा वर्षा ऋतुमें वृक्षमूल आदि योगोंको धारण करके प्रतिमा (कायोत्सर्ग) प्रयोगोंके द्वारा ॥ ६४ ॥

अत्यन्त कठोर तपोंको दीर्घकाल तक संगोपांग तप कर, प्राणिमात्रपर दया करके तथा सदा ही दयामय भावोंको रख-कर, दिन रात ऐसी ही कल्पनाएँ करते थे जिनके द्वारा धर्मप्रेम दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता था। इन सब साधनाओंके द्वारा उन ऋषियोंके समस्त कर्म अत्यन्त क्षीण हो गये थे ॥ ६५ ॥

रिद्धि-सिद्धि

इन ऋषियोंकी तपस्याकी विमलकीर्ति सब दिशाओंमें फैल गयी थी। उक्त क्रमसे इनके अनादिकालसे बँधे कर्म अत्यन्त क्षीण होते जा रहे थे तथा तपस्या भी चल ही रही थी। इस प्रकार लगभग सौ वर्ष बीत जानेपर इन ऋषियोंमें चारण आदि ऋद्धियोंका बहु मुख उद्रेक हुआ था ॥ ६६ ॥

इस प्रकार वे सब ही ऋषि अनेक जातिकी ऋद्धियोंके स्वामी हो गये थे। वे सब ही ऋद्धियाँ ऐसी थीं जिन्हें चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ पुरुष, सुर तथा असुर भी अनेक प्रयत्न करके सिद्ध न कर सकते थे। इनके साथ-साथ वे मति तथा श्रुत ज्ञानोंकी सीमाको पार करके आंशिक प्रत्यक्ष अवधि तथा मनःपर्ययज्ञानोंके स्वामी हो गये थे। इन समस्त योग्यताओंके द्वारा उन्होंने जैन-मतकी पूर्ण प्रभावना की थी ॥ ६७ ॥

१. [संकल्प्य°] २. [तनुतामुपेयुः]। ३. [कर्म स्वणुत्वं]।

अर्हत्प्रणीतागमदृष्टिसत्त्वाः सहेतुदृष्टान्तवचःप्रगल्भाः ।
नयप्रमाणप्रणिधिप्रवीणा विवादिनां वादमदं विनिन्युः ॥ ६८ ॥
केषांचिदक्षीणमहानसत्वं क्षीराश्रवत्वं वरकोष्ठबुद्धिः ।
संभिन्नता बीजपदानुसारा देवर्द्धिरिष्टैः सगुणैरुपेताः ॥ ६९ ॥
केषांचिदामर्शनमात्रमेव तथा परेषामथ विप्लुषस्तु ।
क्ष्वेला[1]मलाश्चैव तपोधनानां सर्वं च भैषज्यमभूत्परेषाम् ॥ ७० ॥
केचिज्जले पुष्पदले च केचित्फलेषु पत्रेषु मरुस्थलेषु ।
श्रेण्यां च तन्तावथ जङ्घया च प्रयान्ति सम्यक्तपसः प्रभावात् ॥ ७१ ॥

सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञानके स्वामी अर्हन्त केवलीके द्वारा कहा गया आगम ही उनकी निष्पक्ष दृष्टि थी। उनका प्रत्येक कथन तर्क तथा उदाहरणसे पुष्ट होनेके कारण अकाट्य होता था। वे नैगम आदि समस्त नयों (अपेक्षाओं) तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका यथास्थान प्रयोग करनेमें अति कुशल थे। यही कारण था कि उन्होंने मिथ्या सिद्धान्तोंके समर्थकोंका अभिमान चकनाचूर कर दिया था ॥ ६८ ॥

तपरमा तनो तनमें प्रभाव

किन्हीं ऋषियोंकी शक्ति कभी भी क्षीण न हो सकती थी। दूसरोंके बलका अनुमान करना ही असंभव था। किन्हींकी मुद्राको देखकर अथवा उपदेशको सुनकर ऐसा लगता था मानो दूधकी धारमें नहा गये हैं। दूसरोंकी बुद्धि उत्तम कोशके समान थी जिससे प्रत्येक वस्तुका उत्तर सरलतासे प्राप्त किया जा सकता था। दूसरे मुनियोंका ज्ञान फूलकी पंखुरियोंके समान (एकमेंसे दूसरा) खिलता जाता था। अन्य ऋषियोंका बुद्धि बीजपदके ऊपर ही प्रस्फुटित होती जाती थी। इन मुनियोंमें देवोंकी ऋद्धियाँ तथा समस्त सद्गुण व्याप्त थे ॥ ६९ ॥

तपके अतिशय

किन्हीं मुनियोंसे छुई हुई हवा अथवा उनके तपःपूत शरीरके स्पर्शसे ही रोग नष्ट हो जाते थे। दूसरे तपोधनोंका विप्लुष (थूल आदि) ही अनेक रोगोंकी अचूक औषधि होता था। उन ऋषियोंकी नाक तथा मल आदि भी प्राणान्तक रोगोंको शान्त कर देते थे ॥ ७० ॥

शुद्ध तपस्याके प्रभावसे उनको ऐसी-ऐसी सिद्धियाँ हो गयी थीं कि उनमेंसे कितने ही गुरुवर पानीपर चलते थे, दूसरे फूलोंपर चलते थे तो भी उनके डंठल अथवा पौधे न सूखते थे। कुछ ऐसे भी साधु थे जो वृक्षोंमें लगे फलोंपर भी खड़े हो सकते थे, अन्य लोग वृक्षोंके पत्तोंपर खड़े हो जाते थे। ग्रीष्ममें जलते हुए मरुस्थलमें भी वे चल सकते थे। सांकल अथवा तागेपर चलना तो उनके लिए बड़ी साधारण-सी बात थी। वे तलुओंसे न चलकर जांघके ही बल दौड़ सकते थे ॥ ७१ ॥

१. क क्षेला० ।

केचिद्बभूवुर्द्धिमहातपस्का उग्रैश्च दीप्तैश्च महातपोभिः ।
घोरैस्तथा घोरपराक्रमाश्च तपोऽधिकध्यानपराः कृतार्थाः ॥ ७२ ॥
विशिष्टनानर्द्धिगुणोपपन्ना महर्षयः क्षान्तिदयासमेताः ।
निदर्शनं तद्भवमत्परेषां धर्मार्थिनां भव्यजनोत्तमानाम् ॥ ७३ ॥
इत्येवं श्रुतविभवा महर्षयस्ते सच्छीलव्रतगुणभावनाभिरिक्ताः[1] ।
त्यक्ताशाः स्थितमतयः प्रशान्तदोषा स्तीर्थानि प्रवरधियो बभूवुरुर्व्याम् ॥ ७४ ॥
संक्षेपात्पृथुयशसां तपांसि तेषां प्रोक्तानि प्रथितमहागुणोदयानाम् ।
भूयोऽपि क्षितिपतियोषितां तपांसि राजर्षेरमितगुणस्य चाभिधास्ये ॥ ७५ ।

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
महर्षीणां तपोविधानवर्णनो नाम त्रिंशतितमः[2] सर्गः ।

वर्द्धमान तप

अत्यन्त उग्र तथा कराल तपस्याको निर्दोष रूपसे करके कितने ही साधु तपस्याके अन्तको पा गये थे और वास्तवमें महातपस्वी हो गये थे। उनकी साधना घोर तथा कर्मशत्रुओंसे लड़नेका उत्साह तो बड़ा ही भीषण था। प्रत्येक दिन उससे पहिले दिनकी अपेक्षा वे अधिक ध्यान और तप करते थे। इसीलिए वे अपने कार्यमें कृतकृत्य हो सके थे। वे अद्भुत ऋद्धियों तथा उत्तम गुणोंके अक्षय भंडार थे ॥ ७२ ॥

शान्ति तथा दया उन सब ही महर्षियोंका स्वभाव हो गयी थी। जो कि निकट भव्य थे तथा धर्म कमानेके लिए आतुर थे उन सबके लिए वरांग आदि सब ही मुनियोंकी साधना तथा शीघ्र प्राप्त सिद्धि साक्षात् निदर्शन हो गयी थी। द्वादशांग शास्त्रका ज्ञान ही इन सब सकल साधकोंकी संपत्ति थी ॥ ७३ ॥

वे सत्य शील, महाव्रत, साधुपरमेष्ठीके गुण, अनित्य आदि भावनाओंकी सिद्धिमें ही दिन रात लीन रहते थे। उन्होंने लौकिक तथा पारलौकिक सब ही आशाओंको समाप्त कर दिया था। उनकी मति अपने आदर्शपर स्थिर थी, क्षुधा, तृषा आदि दोष शान्त हो गये थे तथा उनके ज्ञानका तो कहना ही क्या था ॥ ७४ ॥

ऐसे परम तपस्वी वे सब मुनिलोग पृथ्वीपर विहार करते थे। इस सतत उग्र तपस्याके उपरान्त उनके आत्मामें अनेक महागुणोंका उदय हुआ था। इनके कारण वरांग आदि ऋषियोंके तपकी कीर्ति सारे संसारमें फैल गयी थी। इसीलिए अत्यन्त संक्षेपसे उसका यहाँ वर्णन किया है। इसके आगे भी पूर्व वरांगराजकी दीक्षित पत्नियोंकी तपसिद्धि तथा यथावसर अमित गुण राजर्षिके विषयमें भी कुछ कहेंगे ॥ ७५ ॥

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द अर्थ रचनामय वरांगचरित नामक
धर्मकथामें तपोविधानवर्णननाम त्रिंशतितम सर्ग समाप्त ।

---

१. [°भिरक्ताः]। २. [त्रिंशत्तमः]।

[एकत्रिंशः सर्गः]

नरेन्द्रपत्न्यः श्रुतिशीलभूषा निर्वेदसंवर्धितधर्मरागाः ।
विशुद्धिमत्यः प्रतिपन्नदीक्षास्तदा बभूवुः परिपूर्णकामाः ॥ १ ॥
दीक्षाधिराज्यश्रियमभ्युपेता अनर्घ्यसत्संयमरत्नभाजः ।
प्रीतिं परां प्रापुरदीनभावा दारिद्र्ययोषा इव रत्नलाभात् ॥ २ ॥
अर्थाननर्थाप्रतिमान्विधिज्ञाः विषोपमांस्ताविषयान्विदध्युः ।
ता मेनिरेऽरीनिव सांपरायांस्तत्त्वार्थदृष्ट्याहतधर्मरागाः ॥ ३ ॥

एकत्रिंश सर्ग

जैसा कि पहिले कह चुके हैं दीक्षाको धारण करके ही भूतपूर्व सम्राट वरांगकी रानियोंका अन्तिम महा मनोरथ पूर्ण हो गया था। शास्त्रोंका ज्ञान तथा शीलोंका निरतिचार आचरण ही उनके सच्चे आभूषण हो गये थे। उनका वैराग्य मौलिक तथा स्थायी था इसीलिए उसके द्वारा उनके धार्मिक अनुरागको पूर्ण प्रेरणा प्राप्त हुई थी तथा उनकी निर्मल मति सर्वथा सत्य-पथपर ही चल रही थी ॥ १ ॥

तपश्चरणमें भी पतिसे पीछे नहीं

प्रव्रज्या ग्रहण करते ही उन्हें दिगम्बर दीक्षा रूपी विशाल साम्राज्यकी अनुपम लक्ष्मी प्राप्त हो गयी थी। इस राज्यके साथ-साथ उन्हें संयम रूपी महारत्न भी मिले थे जिनका मूल्य आंकना ही असंभव था। इस लाभसे वे परम प्रसन्न थीं तथा उनके विचार तथा आचारमें उस समय अबला सुलभ दीनता न थी। उनकी वही अवस्था थी जो कि दरिद्र स्त्रीको अनायास रत्न मिल जानेपर होती है ॥ २ ॥

लौकिक संपत्ति तथा पदार्थोंको वे मूर्तिमान अनर्थ ही समझती थीं। तपस्याकी विधिमें प्रवीण रानियां इन्द्रियोंके प्रिय विषयोंको हालाहलके समान ही प्राणान्तक मानती थीं। सांसारिक मधुर संबन्धोंको वे अमित्र सोचकर छोड़ चुकी थीं। यह सब इसीलिए था कि तत्त्वोंके सत्य स्वरूपके ज्ञानने ही उनमें अडिग धार्मिक प्रेम उत्पन्न कर दिया था ॥ ३ ॥

व्रतानि शीलान्यमृतोपमानि दयादमौ मातृपितृत्वतुल्यौ ।
गुणा विशिष्टा[1] वरभूषणेभ्यो ज्ञानं च दध्युर्नयनं तृतीयम् ॥ ४ ॥
ऐश्वर्यवीर्यद्युतिजातिवित्तैर्विज्ञानशिल्पैर्मदिरामदैश्च[2] ।
पुरापि ता मुक्तिपथं प्रपद्य शान्ता बभूवुर्नरदेवपत्न्यः ॥ ५ ॥
तपोधनानाममितप्रभावा गणाग्रणी संयमनायका[3] सा ।
मुनीन्द्रवाक्याच्छ्रमणार्जिकाभ्यो दिदेश धर्मं च तपोविधानम् ॥ ६ ॥
ताश्च प्रकृत्यैव कलाविदग्धा जात्यैव धीरा विनयैर्विनीताः ।
आचारसूत्राङ्गनयप्रभङ्गानाधीयते स्माल्पतमैरहोभिः ॥ ७ ॥

चारित्र ही संपत्ति

पांचों महाव्रतों तथा शीलोंको वे अमृतके समान जीवन दाता समझती थीं। सब प्राणियोंपर दया और इन्द्रियोंका दमन उस समय उनके निस्वार्थ कल्याण चाहनेवाले माता पिताके स्थानको ग्रहण कर चुके थे। अनगारके विशिष्ट गुणोंने ही सुन्दर भूषणोंकी कमी पूरी कर दी थी, तथा शुद्ध ज्ञान ही उनका तृतीय नेत्र हो गया था ॥ ४ ॥

जब वे एक सम्राटकी पत्नी थीं, उनका ऐश्वर्य अपार था, वीर्यकी सीमा न थी, कान्तिकी सर्वत्र ख्याति थी; जातिमें गौरव था, धनकी गिनती असंभव थी, सांसारिक विषयोंका विशेष ज्ञान था, ललित कलाओंमें कुशलता थी तथा मदिराका वह उन्माद जिसमें भूत, भविष्यत और वर्तमान एक हो जाते हैं। किन्तु यह सब होनेपर भी रानियोंको वह शान्ति न मिली थी जो कि मोक्षमार्गको पाकर उन्हें प्राप्त हुई थी ॥ ५ ॥

श्री वरदत्त केवलीके संघमें एक प्रधान आर्यिका थी जिनका तपजन्य प्रभाव समस्त मुनियों तथा श्रमणोंकी अपेक्षा बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वे आर्यिकाओंके गणकी प्रधान थीं। संयम साधनाकी भी वे स्वामिनी थी। जब महाराज वरदत्तने उन्हें नव दीक्षित आर्यिकाओंको उपदेश देनेका संकेत किया तो उन्होंने उन सबको धर्मका रहस्य तथा तपकी सकल विधिको क्रमसे समझा दिया था ॥ ६ ॥

सद्गुरुसंयोग

आर्यिका दीक्षाको प्राप्त रानियां जन्मसे ही कला, कौशलमें अनुरक्त थीं। अपनी जाति तथा कुलके अनुरूप ही वे धीर तथा गम्भीर थीं। उनकी समस्त शिक्षा तथा अभ्यास विनयके साथ तो हुई ही थी। फलतः बहुत थोड़े ही दिनोंमें उन्होंने पूर्ण आचारको हृदयंगम कर लिया था। बारह अंगोंयुक्त आगमका अध्ययन कर लिया था, सातों नयोंका रहस्य जान लिया था और सप्तभंगीके मूल तत्त्वोंको भली भांति समझ लिया था ॥ ७ ॥

१. [गुणान्विशिष्टान्]। २. [°शिल्पैर्मदिरा°]। ३. म °नासका, [°नायिका]।

महाबलानिन्द्रियकुञ्जरांस्तान् दर्पोच्छ्रितान्गर्वमदावलिप्तान् ।
वशं प्रपन्नान्विवशं प्रणिन्युर्वृद्धत्वकुशैः क्षान्तिशिलानिशातैः[1] ॥ ८ ॥
अनर्थसंपादनशक्तिमान्या[2] मनोमहादण्डधरो महात्मा ।
दूरंगमः प्रेरयितेन्द्रियाणां ताभिर्जितो मोहनृपाग्रयायी ॥ ९ ॥
वाक्कायचित्ते प्रणिधेः प्रयोगं क्षणेऽपि पापास्रवहेतुभूतम् ।
अनर्थकं तत्त्रिविधं गुणिन्यो नोचुर्न चक्रुर्न हि संस्मरंश्च[3] ॥ १० ॥
गणाग्रभूषाः पृथुशीलभारा विच्छिन्नकामाङ्कुरपुष्पबीजाः ।
स्वशक्तितः संपरिगृह्य योगं तनूनि ताः कर्मरजांसि चक्रुः ॥ ११ ॥

पाँचों इन्द्रियां तथा नोइन्द्री (मन) उन मदोन्मत्त हाथियोंके सदृश हैं जिनकी शक्तिकी सीमा नहीं हैं। ये विषयोंकी अभिलाषारूपी दर्पमें चूर होकर विद्रोही हो जाते हैं यौवनके मदसे उन्मत्त होकर अनर्थ करनेपर तुल जाते हैं। इन्हें भी रानियोंने अपने संयत गृहस्थ जीवनमें भी उच्छृंखल नहीं होने दिया था और अब दीक्षित अवस्थामें तो शान्तिरूपी शिलापर तीक्ष्ण किये गये सुमतिरूपी प्रखर अंकुशकी मारसे इनकी सारी मस्ती ही उतार दी थी ॥ ८ ॥

मनस्विनी अब ही हुई

मनुष्यका अनियंत्रित मन ही संसारके समस्त अनर्थोंको जन्म देता है। वह महान् सेना नायकके समान है जिसके नायकत्वमें विषय भोगोंकी निश्चित विजय होती है। वह महात्मा स्वयं ही दूर-दूर तक छापे नहीं मारता है, अपितु पांचों इन्द्रियोंको भी कुमार्गपर दौड़ता है। विश्वविजयी महाराज मोहके इस प्रधान सेनापतिको भी उन रानियोंने पराजित कर दिया था ॥ ९ ॥

अपने मन, वचन तथा कायका अनुचित प्रयोग वे एक क्षण भी न करती थीं, क्योंकि इनके प्रयोगका अवश्यंभावी फल पापकर्मोंका आस्रव होता है। वे गुणवती देवियां भलीभांति जानती थीं कि वैसा प्रयोग त्याज्य है, अतएव भूलसे भी वे न तो व्यर्थ विषयोंपर विचार करती थीं, न अनावश्यक शब्द ही बोलती थीं और न निष्फल कार्य ही करती थीं ॥ १० ॥

उन्होंने सांगोपांग शीलको धारण किया था, कामरूपी विषवृक्षके अंकुर तकको तपकी अग्निमें झोंक दिया था। अतएव अपनी सफल साधनाके कारण वे अपने गण (आर्यिका संघ) की भूषण हो गयी थीं। वे अपनी शक्तिके अनुसार आतप आदि योग लगाकर पूर्व जन्मोंमें बाँधे गये कर्मोंके मैलको कम करती थीं ॥ ११ ॥

१. क °निशान्त्यैः । २. [°शक्तिमान्यो] । ३. क संस्मरश्च, [संस्मरुश्च] ।

उपोष्य पञ्चत्रिषडष्टरात्रं पक्षैश्च मासानपि षट्चतुष्कान् ।
तपःकृशीभूतशरीरसंस्था आहारमाजह्रुरथाल्पमल्पम् ॥ १२ ॥
तपोऽग्निनिर्दग्धविवर्णदेहा व्रतोपवासैरकृशाः कृशाङ्ग्यः ।
विशीर्णवस्त्रावृतगात्रयष्टयस्ताः काष्ठमात्रप्रतिमा बभूवुः ॥ १३ ॥
पुरे वनेऽरातिजने जने वा मानापमानादिषु तुल्यभावाः ।
त्यक्तात्मसंगा निरवद्यचेष्टा धर्मानुरागा वसुधां विजह्रुः ॥ १४ ॥
यथा प्रसूता महतां कुलेषु यथैव वासन् भुवि राजपत्न्यः ।
यथैव विज्ञानपथं प्रपन्नास्तथैव श्वेष्टुः सुतपांसि साध्व्यः ॥ १५ ॥

उपवासादि व्रत

वे तीन दिन, पांच दिन, छह दिन, आठ दिन तथा पक्षों पर्यन्त लगातार उपवास करती थीं। कभी कभी महीनों, चार और छह माह भी उपवास करते बीत जाते थे, इस कठोर तपस्यासे उनके सुकुमार शरीर अत्यन्त कृश हो जाते थे, अतएव व्रतके अन्तमें वे बहुत थोड़ा आहार लेकर पारणा करती थीं ॥ १२ ॥

चिरकाल पर्यन्त तपरूपी अग्निकी लपटोंसे झुलसते रहनेके कारण उनके सुन्दर शरीर विवर्ण हो गये थे। स्वभावसे ही उनकी देह कृश थी, उसपर भी लम्बे-लम्बे व्रत तथा उपवास, फलतः अत्यन्त कृश हो गयी थीं। उनकी सुकुमार देह चिथड़े-चिथड़े साड़ियोंसे लिपटी हुई थीं। इन सब कारणोंसे वे काठसे बनायी गयी पुतलियां सी मालूम देती थीं ॥ १३ ॥

समताभाव

जनाकीर्ण नगर तथा जनशून्य वनमें उनके लिए कोई भेद न था, शत्रु और मित्रमें कोई पक्षपात न था, मान और अपमान दोनोंमें ही उनके एकसे भाव रहते थे। उन्हें अपने देह और आत्माका थोड़ा सा भी मोह न था। उनका प्रत्येक कार्य दोषरहित तथा शुभ होता था ॥ १४ ॥

वे धर्मके अनुरागसे प्रेरित होकर देशोंमें विहार करती थीं। जिस पूर्वपुण्यकी योग्यताके बलपर वे लोकपूज्य उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुई थीं और उसीके अनुरूप वे युवती होनेपर पृथ्वीपालक सम्राटकी प्राणाधिका हुई थीं ॥ १५ ॥

---

१. [पक्षांश्च]। २. [तेपुः]। ३. म साध्यः।

अथैवमुक्तानि तपांसि तासां तपस्विनीनां वरशीलभासाम् ।
वराङ्गराजर्षितपोविधानं संक्षेपतस्तत्पृथगेव वक्ष्ये ॥ १६ ॥
विहाय राज्यश्रियमद्भुतश्रीस्तपःश्रियं संश्रयितुं कृताशः ।
निस्संगिनीं तां प्रतिपद्य दीक्षां जग्राह धीरः स महाव्रतानि ॥ १७ ॥
आचारमादौ समधीत्य धीमान्प्रकीर्णकाध्यायमनेकभेदम् ।
अङ्गानि पूर्वाश्च यथानुपूर्व्यमल्पैरहोभिः सममध्यगीष्ट ॥ १८ ॥
विधूय संकल्परतिप्रसंगं जिनेन्द्रवाक्याधिगतार्थतत्त्वः ।
नानाविधानं प्रतिगृह्य योगं तपश्चकारोग्रतपा महात्मा ॥ १९ ॥

इस विधिसे उन तपस्विनियोंके दुर्द्धर तपोंका वर्णन किया है जिनके तपसे क्लिष्ट शरीरपर परिपूर्ण शीलकी अद्भुत ज्योति थी। इसके उपरान्त राजर्षि वरांगकी तप विधिके विषयमें संक्षिप्त रूपसे कुछ कहते हैं ॥ १६ ॥

हम देख चुके हैं कि तपश्रीको वरण करनेकी अदम्य आशाके कारण ही वरांगराजने विशाल राज्य लक्ष्मीसे सम्बन्ध तोड़ दिया था, क्योंकि उनके आन्तरिक और बाह्य गुणोंकी श्री (शोभा) ही उस राज्यश्रीसे अधिक चारु थी। स्वभावसे ही धीर वीर वरांगराजने जब निर्ग्रन्थ दीक्षाको धारण किया था उसी क्षणसे उन्होंने पाँचों महाव्रतोंका पालन प्रारम्भ कर दिया था ॥ १७ ॥

वरांग ऋषिका तप

महा मतिमान् मुनि वरांगने सबसे पहिले पूर्ण विस्तारपूर्वक आचारांगका अध्ययन किया था। इसके उपरान्त अपने अनेक भेद तथा प्रभेदयुक्त प्रकीर्णक ग्रन्थोंका अध्ययन पूर्वक मनन किया था। इसे भी समाप्त करके शेष अंगों तथा दृष्टिवादके चौदह पूर्वों आदिका क्रमशः अध्ययन किया था। आश्चर्यकी बात तो यही थी कि तुलनात्मक दृष्टिसे उन्हें इन सबके अध्ययनमें बहुत ही थोड़ा समय लगा था ॥ १८ ॥

समस्त संकल्प विकल्पों तथा पूर्वभुक्त रतिके प्रसंगोंकी पापमय स्मृतियोंको उन्होंने हृदय पट परसे सदाके लिए पोंछ दिया था। भगवान् अर्हन्त केवलीके उपदेशके अनुसार ही तत्त्वोंके साक्षात्कारमें वे सदा लीन रहते थे। नाना प्रकारके विविध आतापन आदि योगोंको लगाकर महात्मा वरांग उग्रसे उग्र तपस्या कर रहे थे ॥ १९ ॥

१. म °वर्मामृ°

सज्ज्ञानमत्तद्विरदाधिरूढो दयातपत्रोत्तमपट्टचिह्नः ।
सद्ध्यानचापेरितशीलबाणैर्विव्याध मोहारिमवार्यधैर्यः ॥ २० ॥
चारित्रजात्यश्वमथाधिरूढः स धर्मवर्मावृतगात्रभूषः ।
विज्ञानकुन्तेन हि कर्मशत्रुं निपातयामास यतिर्विभिद्य ॥ २१ ॥
पञ्चेन्द्रियैरप्रतिलब्धवीर्यं रागानिलप्रेरितधूमजालम् ।
[1]संकल्प्यसंवर्धितकामवह्निं ज्ञानाम्बुकुम्भैः शमयांबभूव ॥ २२ ॥
सम्यक्त्वतुङ्गव्रतनेमिबद्धं शीलोपलोत्तेजि[3]ततीक्ष्णधारम् ।
[4]तपोरनुग्रं वरधर्मचक्रं जघान संगृह्य हि कामशत्रुम् ॥ २३ ॥

तपराज्य

राजर्षि वरांग सम्यक्ज्ञान रूपी हाथीपर आरूढ़ थे। दया, दम धर्मरूपी निर्मल तथा धवल छत्र और राजपट्ट उनके तपमय राज्यको घोषित करते थे। तथा शुद्ध धर्म तथा शुक्लध्यानरूपी प्रबल धनुषको उठाकर उसके द्वारा वे शीलरूपी प्रखर वाणोंकी वर्षा करके अपने महाशत्रु मोहके अंग-अंगको भेद रहे थे ॥ २० ॥

इस आध्यात्मिक युद्धमें भी उनका धैर्य अलौकिक और असह्य था। हाथियोंकी श्रेष्ठ जातिमें उत्पन्न सम्यक्चारित्ररूपी रणकुशल हाथीपर आरूढ़ होकर उन्होंने आठों कर्मोंरूपी भव-भवके शत्रुओंसे युद्ध छेड़ दिया था। इस युद्धमें सत्य जैनधर्मका पालन ही उनका कवच था, सम्यक्ज्ञान ही तीक्ष्ण कुन्त (भाला) था, जिसके सटीक आघातोंसे उन्होंने देखते-देखते ही कर्मशत्रुको धराशायी कर दिया था ॥ २१ ॥

पाँचों इन्द्रियोंरूपी द्वारोंसे वीर्यको ग्रहण करनेवाली, प्रेमरूपी प्रबल पवनके झकोरोंकी मारसे कर्त्तव्य विमुखता आदि धुएंके बादलोंसे युक्त तथा काम भोग सम्बन्धी कल्पनाओंरूपी उद्दीपकोंके पड़ते ही भभकनेवाली कामदेवरूपी ज्वालाको राजर्षि वरांगने सम्यक्ज्ञानरूपी बड़े-बड़े जलपूर्ण कुम्भोंसे क्षण भरमें ही बुझा दिया था ॥ २२ ॥

धर्मचक्र

निर्ग्रन्थ तपरूपी रणमें सद्धर्म चक्रके समान था। निर्दोष तथा अष्टांगयुक्त सम्यक्दर्शन तथा अन्य महाव्रत आदि नेमिके समान थे जिसपर धर्मरूपी चक्र कसा गया था। शील उस पाषाण शिलाके समान थे जिसपर घिस कर उक्त चक्रकी धारको तीक्ष्ण किया गया था। इसी भीषण चक्रको उठाकर राजर्षिने कामवासनारूपी शत्रुके मस्तकको छेद दिया था ॥ २३ ॥

१. [संकल्प°]। २. क पापवह्नि। ३. म शीलोपलोत्तेजित°। ४. [तपोरणोग्रं]।

कषायचोरान्विषयारिवर्गान्परीषहान्तपरिमन्थितश्च ।
निर्वेदखड्गेन बलान्निगृह्य स खण्डशः कल्पितवाञ्छिताशः ॥ २४ ॥
उद्दामकामातिबलावलिप्तान्पञ्चेन्द्रियारण्यमतङ्गजांस्तान् ।
तपोऽर्गलैरप्रतिभिद्यरूपैः क्षमोरुवीर्याग्निरुरोध धीरः ॥ २५ ॥
स मानसानिन्द्रियदुष्टचोरान्सद्धर्मरत्नं प्रतिसंजिघृक्षुः ।
प्रज्ञातपःसंयमशृङ्खलाभिर्बबन्ध दुष्टानिव चोरवर्गान् ॥ २६ ॥
लोभोरुवैरान्सह रागभोगान्कामाशयान् क्रोधविषाग्रदंष्ट्रान् ।
इच्छास्फुटानिन्द्रियदुष्टसर्पान्दयाम्बुसेकैः शमयांबभूव ॥ २७ ॥

क्रोध आदि कषायें आध्यात्मिक संपत्तिके लिए चोर हैं, इन्द्रियोंके विषय ही प्रबल शत्रु हैं, परीषह आदि तो आत्माके अन्तरंग तथा घातक शत्रु हैं। इन सबको राजर्षिने आत्मबलसे बलपूर्वक घेर लिया था और वैराग्यरूपी तलवारके द्वारा इनके टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे ॥ २४ ॥

आशा विजय

आशारूपी दानवीके विजेता राजर्षिने पाँचों इन्द्रियोंरूपी जंगली तथा उद्दण्ड हाथियोंको भी धीरज पूर्वक क्षमारूपी विशाल शक्तिका प्रयोग करके रोका था और तपरूपी स्तम्भसे—जिसे तोड़ना उनके लिए असंभव हो गया था—कसके बाँध दिया था। यद्यपि किसीके भी वशमें न आनेवाला प्रदीप्त कामरूपी महाशक्तिके बलका उन्हें (इन्द्रियों) अहंकार था तो भी राजर्षिकी क्षमा युक्तिने उन्हें एक पग चलना तक असंभव कर दिया था ॥ २५ ॥

इन्द्रिय चोर

मानसिक विकार तथा पाँचों इन्द्रियाँ निर्दय चोरोंके समान हैं, जब तक इनका वश चलता है ये सत्य धर्मरूपी रत्नको ले भागनेका ही प्रयत्न करते हैं। किन्तु मुनि वरांगने यथार्थ प्रकाशक प्रज्ञा, घोर तप और संयमरूपी सांकलोंके द्वारा लौकिक चोरों तथा दुष्टोंके समान ही इन इन्द्रिय चोरोंको भी कठोर बन्धनमें डाल दिया था। मनुष्यको विषय लोलुप इन्द्रियाँ प्राणान्तक विषपूर्ण साँपके ही समान हैं, स्पर्श आदि विषयोंकी चाह ही इन साँपोंकी गुंडी हैं ॥ २६ ॥

सब अभिलाषाएँ ही इनका दुष्ट अन्तरंग है तथा क्रोध कषाय ही वह डाढ है जिसमें आशीविष रहते हैं। जीवका लोभ ही वह वैर है जिसको प्रतिशोध करनेके लिए इन्द्रिय सर्प बार-बार डंक मारते हैं। इन साँपोंको भी वरांगराजने दयारूपी मंत्रपूत जलके छींटे देकर शान्त कर दिया था ॥ २७ ॥

१. [° परिपन्थिनश्च]। २. क बलान्विगृह्य ।

कूर्मो यथाङ्गानि निजे शरीरे स्पृष्टः पुनः संहरतेऽन्तरन्तः ।
तथैव संसारभयावकृष्टः स्वानीन्द्रियाण्यात्मनि संजहार ॥ २८ ॥
मोहातिरोगोऽनुववातरोगं द्वेषाभिधानोद्भवपैत्तिकं च ।
तथैव हास्यानि च पञ्च धीमान्यमौषधैस्तान् शमयांबभूव ॥ २९ ॥
कामोत्तरङ्गं रतिवेगतोयं कषायफेनं विषयोरुमत्स्यम् ।
अगाधसंसारमहार्णवं तं विशोषयामास तपोबलेन ॥ ३० ॥
त्रिगुप्तिधारेण दया[1]प्रभासा चारित्रवेगातिसमीरितेन ।
सम्यक्त्ववज्रेण निहत्य धीमान्विचूर्णयामास स कर्मशैलम् ॥ ३१ ॥

अन्तर्मुख साधक

कछुएको जब कहींपर थोड़ा-सा भी छुआ जाता है तो वह हाथ पैर आदि सब ही अंगोंको अपने शरीरमें समेटने लगता है और ज्यों-ज्यों भय बढ़ता है त्यों-त्यों अपने अंगोंको और अधिक समेटता जाता है। इसी विधिसे सांसारिक भयोंसे त्रस्त होकर वरांगराजने अपनी पाँचों इन्द्रियों और नोइन्द्रिय मनकी प्रवृत्तियोंको अपने आत्मामें ही केन्द्रित कर लिया था ॥ २८ ॥

आत्म स्वास्थ्य

शारीरिक वातरोगके समान अत्यधिक बढ़ा हुआ मोह आत्माको भी वात रोगके समान विवश तथा अचेतन कर देता है। द्वेष, आदि पाप-प्रवृत्तियाँ आत्मापर वही कुप्रभाव करती हैं जो विकृत पित्तका शरीरपर होता है तथा हास्य, रति, आदि पाँचों नोकषायें आध्यात्मिक कफ दोषके समान हैं। मतिमान मुनि वरांगने इन आत्माके वात, पित्त और कफको यम (आजीवन त्याग) रूपी औषधि देकर पूर्ण शान्त कर दिया था ॥ २९ ॥

आशा सागर शोषण

अनादि तथा अनन्त संसार अगाध समुद्रके तुल्य है। इस समुद्रमें अभिलाषाओं तथा कामवासनाओंरूपी ऊंची-ऊंची लहरें उठती हैं। प्रेमके अबाध प्रवाह रूपी, चंचल जल लहराता है, क्रोध आदि कषायों रूपी विषाक्त फेन बहता है तथा इन्द्रियोंके भोग्य पदार्थों रूपी बड़ी तथा भयंकर मछलियाँ गोते मारती हैं। इस विशाल समुद्रको भी उन्होंने तपकी दाहसे सुखा दिया था ॥ ३० ॥

कर्मपहाड़ दलन

आठों कर्मोंरूपी अभेद्य तथा उन्नत पर्वतोंको राजर्षि वरांगने सम्यक्त्वरूपी वज्रके प्रहारोंसे तोड़ ही नहीं दिया था अपितु चूर्ण-चूर्ण कर दिया था, क्योंकि सम्यक्त्वरूपी वज्रपर तीनों गुप्तियों रूपी धार रखी गयी थी, दया धर्म ही उस शस्त्रकी

१. म °प्रभासौ ।

अज्ञानतुम्बं विषयोरजानि मोहाभिरागप्रतिबद्धनेमिम् ।
कषाय[1]कृष्णायमतीक्ष्णधारं संसारचक्रं समनुजिगाय (?) ॥ ३२ ॥
कषायवृक्षं विषयोरुकक्षं रागाम्बुसंवर्धितवल्लिगुल्मम् ।
ददाह संसारम[2]टवीं तां तपोऽग्निना निष्कलुषान्तरात्मा ॥ ३३ ॥
यथा पुराभ्यन्तरदुष्टराशिं समूलका [—] विधिना चकार ।
तथा कषायप्रमुखान् दुरन्तान् धीरः समूलोद्धरणं चकार ॥ ३४ ॥
सम्यक्त्वचारित्रतपस्त्रिशूलैर्ध्यानावलीनो निशितैः सुतीक्ष्णैः ।
मनोवचःकायघनीकृतानि बिभेद मिथ्यापटलानि तानि ॥ ३५ ॥

प्रखर चमक थी, तथा सम्यक्-चारित्र रूपी प्रभञ्जनके प्रबल वेगसे वह शस्त्र फेंका गया था। यह संसार एक विशाल चक्राव्यूहके समान है ॥ ३१ ॥

संसारचक्र

अज्ञान इसकी तुम्बी (नार जिसमें अर ठोके जाते हैं) है, इन्द्रियोंके भोग्य पदार्थ ही इस चक्रके अर (डंडे) हैं मोहनीय कर्मसे उत्पन्न सर्वतोमुख सांसारिक राग ही उसकी नेमि (धुरा) है जिसपर वह घूमता है, तथा अत्यन्त कलुषित क्रोध, आदि कषायें ही उसकी लोह निर्मित तीक्ष्ण धार है। ऐसे घातक चक्रको भी राजर्षिकी साधनाने निरर्थक कर दिया था ॥ ३२ ॥

संसाराटवी

यह अपार संसार अत्यन्त घने तथा दुर्गम वनके समान है, क्रोध आदि कषायोंरूपी पुष्ट तथा विशाल वृक्ष इसमें भरे पड़े हैं, विषय भोग रूपी दुर्गम प्रदेश हैं, राग, विशेषकर प्रेम रूपी जलसे सींचा जानेके कारण सांसारिक उचित तथा अनुचित सम्बन्धों रूपी वेलें तथा झाड़ियाँ भरी पड़ी हैं। ऐसी भयानक अटवीको भी वरांगयतिने तपस्यारूपी आगसे भस्म कर दिया था। यह अग्नि भी मुनि वरांगके कलुष कालिमा हीन पवित्र आत्मासे झमकी थी ॥ ३३ ॥

दुष्टभाव दमन

मुनि वरांग जब वरांगराज थे उस समय उन्होंने नगर तथा राष्ट्रमें छिपे हुए छद्मवेशधारी सब ही दुष्टोंको दण्डित ही नहीं किया था, अपितु उनकी सन्ततिको मूलसे नष्ट कर दिया था। तपवीर-धीर वरांगराजने दीक्षा ग्रहण करने पर उसी विधिसे सब ही दुष्ट भावों और कर्मोंको, जिनके अगुआ क्रोधादि कषायें थीं जड़से ही उखाड़ कर फेक दिया था ॥ ३४ ॥

मिथ्यात्व भेदन

राजर्षि वरांग ध्यानमें लवलीन रहते थे। इसी अवस्थामें सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र तथा घोर तप रूपी अत्यन्त तीक्ष्ण त्रिशूलसे मिथ्यात्व रूपी अन्धकारके मोटे तथा अभेद्य पटलको उन्होंने अनायास ही भेद दिया था। मिथ्यात्वके ये पर्त, जो

१. क °कृष्टा°। २. [° महावनं तत्]।

क्रोधं ज्वलन्तं कृपया जिगाय मानं जिगायाप्रति[1]मार्दवेन ।
मायामृजुत्वेन जिगाय धीमान् लोभं विमुक्त्या मतिमान्विजिग्ये ॥ ३६ ॥
शैलाग्रदुर्गान्तरकन्दरेषु [2]नवैरगम्येषु च काननेषु ।
नदीतटस्थद्रुमकोटरेषु वने पितृणामवसत्कदाचित् ॥ ३७ ॥
उद्यानमुत्कृष्टगृहान्तराणि तपोधनानां च पुनर्निवासान् ।
महाटवीं व्यालमृगाभिजुष्टां कदाचिदेको न्यवसन्नृसिंहः ॥ ३८ ॥
सद्ध्यानचारित्रतपःप्रकर्षैः प्रशान्तरागः प्रविधूतपाप्मा ।
विधिज्ञदेशे निरुपद्रवे च ज्ञानोपयोगं स मुनिश्चकार ॥ ३९ ॥

मन, वचन तथा कायकी कुचेष्टाओंसे दिनों-दिन गृहस्थाश्रममें मोटे होते जाते थे ॥ ३५ ॥

दहकती हुई क्रोधकी ज्वालाको कृपाके द्वारा बुझाया था, मानरूपी शिलाको अभूतपूर्व मार्दव (विचारोंकी कोमलता) से गला दिया था, परम ज्ञानी राजर्षिने मायाकी कुटिलताओंको आर्जव (सरलता) से सीधा कर दिया था तथा लोभ रूपी कीचड़को विरक्तिकी दाहसे सुखा दिया था ॥ ३६ ॥

नाना भाँति तप

तप साधनामें लीन मुनि वरांग एक समय शैलके शिखरपर ध्यान लगाते थे तो दूसरे समय उसकी गुफाओंमें चले जाते थे तथा तीसरे समय गहन वनमें जाकर अदृश्य हो जाते थे। उनके निवासस्थान जंगल ऐसे घने होते थे कि मनुष्य उनमें प्रवेश करनेका भी साहस न करते थे। नदीके किनारे खड़े हुए विशाल वृक्षोंके खोखलोंको भी उनका निवासस्थान होनेका सौभाग्य प्राप्त होता था तथा श्मशान भी इसका अपवाद न था ॥ ३७ ॥

कभी वे किसी बगीचेकी शोभा बढ़ाते थे अथवा लोगोंके द्वारा छोड़े गये खण्डहर महलमें जा बैठते थे। तपोधन ऋषियोंकी वासभूमि आश्रम तो उन्हें परम प्रिय थे। किन्तु दूसरे समय वे अकेले ही किसी ऐसे दुर्गम वनमें चले जाते थे जो कि भीषण सापों तथा हिरणोंके राजा सिंहोंसे व्याप्त होते थे ॥ ३८ ॥

ध्यानकी चरम सीमा

उनके धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान ये दोनों शुभ ध्यानोंका, चारित्र तथा तपका इतना अधिक बहुमुख प्रकर्ष हुआ था कि उसके द्वारा समस्त पापोंकी कालिमा धुल गयी थी। और राग आदि भाव शान्त हो गये थे। इसके उपरान्त राजर्षि वरांगने ज्ञानोपयोगकी साधनामें; वहाँ चित्त लगाया था जिस स्थानपर ज्ञानोपयोगकी विधिके विशेषज्ञ रहते थे तथा उपसर्गों या उपद्रवों की आशंका न थी ॥ ३९ ॥

१. म मार्दनेन। २. [नरैरगम्येषु]।

कदाचिदन्यैर्मुनिभिः प्रशान्तैः श्रुतार्णवान्तर्गतवद्भिरार्यैः ।
तपोऽधिकैर्धर्मधुरंधरैश्च सहोपविष्टः सुविशुद्धचेताः ॥ ४० ॥
कदाचिदुन्मार्गनिरञ्जितानां दुर्वृत्तदुर्भाषणतत्पराणाम् ।
मध्यामहामोहतमोवृतानां चित्तप्रसादाय दिदेश धर्मम् ॥ ४१ ॥
कल्याणभाजां स कदाचिदीशो भव्यात्मनां भावितसत्कृतीनाम् ।
सद्धर्ममार्गश्रवणप्रियाणां हितोपदेशं प्रचकार धीमान् ॥ ४२ ॥
कदाचिदन्तर्गतशुद्धभावो विचित्रपञ्चेन्द्रियरागबन्धः ।
आस्थाय मौनव्रतमप्रकम्प्यस्तस्थौ स रात्रिप्रतिमामभीक्ष्णम् ॥ ४३ ॥

राजर्षिका चित्त सब दृष्टियोंसे शुद्ध हो गया था अतएव शुभ तथा शुद्ध संस्कारोंको ग्रहण करनेकी अभिलाषासे वे कभी-कभी ऐसे मुनियोंका सत्संग करते थे जो कि मूर्तिमान शान्ति ही थे, शास्त्र रूपी अपार पारावार जिनके द्वारा पार किया गया था, पूज्यताने जिनको स्वयं वरण किया था, धर्ममार्गका चलाना जिनके लिए परम प्रिय था तथा जिनकी तपसिद्धि राजर्षि वरांगसे बहुत अधिक थी ॥ ४० ॥

अधमोद्धार

कभी-कभी वे उन अज्ञानियोंके हृदयको पवित्र करनेके लिए धर्मोपदेश भी देते थे जो कि विपरीत मार्गको मानने, फैलाने तथा पालन करनेमें लवलीन थे, जिनको कुत्सित आचरण तथा पापमय आचरण करनेमें ही आनन्द आता था तथा जिनके विवेक तथा आचरण मिथ्यात्व और महामोहके द्वारा बुरी तरहसे ढक लिये गये थे ॥ ४१ ॥

भव्य विकास

दूसरे किसी अवसरपर महाज्ञानी वरांग यति भव्य जीवोंको आत्माके अभ्युदय तथा निश्रेयसका उपदेश देते थे, क्योंकि वे जानते थे कि उन लोगोंका शीघ्र अथवा विलम्बसे कल्याण होनेवाला ही था, वे लोग सदा ही शुभ भाव रखते थे और तदनुसार शुभ कर्म ही करते थे। उन भव्य प्राणियोंको जिन धर्मकी कथा सुनते, सुनते कभी भी सन्तोष और शान्ति (तृप्ति) न होती थी ॥ ४२ ॥

अन्तर्मुख इन्द्रियाँ

राजर्षिकी पाँचों इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियोंने एक विचित्र (संसारसे विपरीत) ही पथ पकड़ लिया था अतएव वे कभी-कभी अकस्मात् ही मौन व्रत धारण कर लेते थे और पूरीको पूरी रात पाषाण निर्मित मूर्तिके समान ध्यानस्थ बैठे रहते थे। ये सब साधनाएँ धीरे-धीरे उनके अत्यन्त अन्तरंग भावोंको परम पवित्र करती जा रही थीं ॥ ४३ ॥

१. [बद्धः] !

कदाचिदुत्कृष्टतपःप्रभावो विविक्तदेशे स चतुर्दिनानि ।
चतुर्मुखस्थानगृहीतयोगं निनाय निष्कम्पधृतिर्महात्मा ॥ ४४ ॥
कदाचिदुच्छ्रङ्गमहागिरीणां सूर्यांशुभिस्तप्तमहाशिलासु ।
प्रलम्बहस्तः समपाददृष्टिस्तस्थौ महर्षिः स्वरजःक्षयाय ॥ ४५ ॥
कदाचिदाघूर्णितमण्डलानां सविद्युतां प्रक्षरतां घनानाम् ।
धारा[1]भिधौताचलगात्रयष्टिस्तस्थौ महर्षिः स्वरजःक्षयाय ॥ ४६ ॥
कदाचिदाघूर्णितमण्डलानां सविद्युतां प्रक्षरतां घनानाम् ।
धाराभिधौताचलगात्रयष्टिस्तस्थौ रजन्यां स घनागमेषु ॥ ४७ ॥

समस्त अतिचारों आदिसे रहित उत्कृष्ट तपके कारण राजर्षिका प्रभाव बड़े वेगसे बढ़ रहा था। वे किसी अत्यन्त एकान्त स्थानपर चले जाते थे और वहाँपर चतुर्मुखस्थान (चारों दिशाओंमें क्रमशः मुख करके समाधि लगाना) योगको धारण करके चार दिन पर्यन्त थोड़ा सा भी हिले डुले बिना एकासनसे बैठे रहते थे। उनका धैर्य अपार था ॥ ४४ ॥

ऋतुतप

ग्रीष्म ऋतुमें कभी, कभी वे महापर्वतोंके बहुत ऊँचे-ऊँचे शिखरोंपर चले जाते थे। इन पर प्रातःकालसे संध्यापर्यन्त सूर्यकी प्रखर किरणें सीधी पड़ती थीं, जिससे शिलाएँ अत्यन्त उष्ण हो जाती थीं। राजर्षि अपने कर्मोंरूपी मैलको गलानेके लिए इन्हीं शिलाओंपर हाथ नीचे लटकाकर खड़े हो जाते थे उस समय उनकी दृष्टि पैरोंपर रहती थी ॥ ४५ ॥

वर्षा योग

जिस समय जोरोंसे उठी घनघटाके कारण एक ओर दूसरे छोर तक पूराका पूरा आकाश तथा भूमण्डल चंचल हो उठता था, बिजलीकी लगातार चमकसे सृष्टि भीत हो उठती थी, और मूसलाधार वृष्टि होती थी, ऐसे ही दारुण वर्षाकालमें वे अपने पापों रूपी धूलिको धोनेके लिए खुले आकाशमें ध्यान लगाते थे ॥ ४६ ॥

घुमड़-घुमड़कर घिर आये बादलोंके कारण उस समय ऐसा लगता था कि पृथ्वी और आकाश एकमेक हो जायेंगे। इस भीषण घनघटामें निरन्तर बिजली चमकती थी और वृष्टि एक क्षणके लिए भी नहीं रुकती थी। एकके बाद दूसरी घटा उठती ही आती थी। ऐसे घनघोर वर्षाकालमें रात्रिके समय वे आकाशके नीचे योग धारण करते थे। उनके ध्यानस्थित शरीरपर रात्रिभर पानीकी प्रबल बौछारें पड़ती थीं तो भी शरीर निष्कम्प ही रहता था ॥ ४७ ॥

१. क वाराभि° ।

गृहौ [˘–][1] ग्योभ्यवकाशयोगो प्रवाति वाता[2]यति शीतले च ।
तुषारपातातिविरूक्षिताङ्गः कदाचिदासैकमनः प्रविष्टः ॥ ४८ ॥
कदाचिदत्यर्थमहोपवासैश्चान्द्रायणाद्यैः प्रथितैरनेकैः ।
कृशीकृताङ्गो नियमैर्यमैश्च मुनिः प्रचक्रे सुतपोऽतिघोरम् ॥ ४९ ॥
जिनेन्द्रसूत्रोक्तपथानुचारी संयम्य वाक्कायमनांसि धीरः ।
सुदुर्धरं कापुरुषैरचिन्त्यं द्विषट्प्रकारं तप आचचार ॥ ५० ॥
प्रसन्नभावात्तपसः प्रकर्षात्क्षमान्वितः स्वादशुभप्रणाशात्[3] ।
अखण्डचारित्रव्रतो महर्षेरुत्पेदिरे तस्य हि लब्धयस्ताः ॥ ५१ ॥

शीतकाल प्रारम्भ होनेपर जब अत्यन्त शीतल पवन बड़े वेग और बलके साथ झकोरे मारता था। निरन्तर तुषारपात होता था, उस समय ही वे विधिपूर्वक अभ्यवकाश योग (वृक्षादिकी छायाको छोड़कर बिना आड़के बिल्कुल खुले प्रदेशमें ध्यान लगाना) लगाते थे। शीतल अनिलके झकोरे अंग-अंगको रुक्ष करके फाड़ देते थे तो भी उनका मन चरम लक्ष्यपर ही एकाग्र रहता था ॥ ४८ ॥

घोर शीत सहन

यदि एक समय दीर्घतम उपवास करते थे, तो दूसरे अवसरपर ही चान्द्रायण आदि परम प्रसिद्ध अनेकों व्रतोंका पालन करते थे। यद्यपि इन सब नियमों और यमोंके निरन्तर पालनने राजर्षिके शरीरको अत्यन्त कृश कर दिया था तो भी वे पूर्ण उत्साहके साथ घोरसे घोर सुतप करनेमें दत्तचित्त थे ॥ ४९ ॥

जैनागम जैसा उपदेश करता है उसके अनुकूल साधना मार्गका अक्षरशः अनुसरण करते हुए मुनि वरांगने अपने मन, वचन तथा कायको पूर्णरूपसे वशमें कर लिया था। उनका धैर्य अपार था अतएव अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन तथा कायक्लेश, ये छह बाह्य तप तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप, कुल मिलाकर इन बारहों तपोंकी ऐसी साधना की थी जिसे करना अति कठिन था तथा विषयलोलुप भीरु पुरुष जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे ॥ ५० ॥

घोरतपके ऐहिक फल

राजर्षि वरांगका अन्तःकरण स्फटिककी भांति निर्मल हो गया था। तप इतना बढ़ गया था कि क्षमा उनकी जीवन सहचरी हो गयी थी। स्वादु पदार्थ तथा शुभ फलोंकी अभिलाषा समूल नष्ट हो गयी थी। महाव्रतीके पूर्ण आचरणको साव-

१. क (° तयो०), [गृहीतयोग्या°]। २. [वायावति°]। ३. म प्रमाणात्, [क्षमान्वितत्वादशुभ०]।

सर्वौषधित्वं च महातपस्त्वं क्षीरास्रवत्वं च सचारणत्वम् ।
सुलभ्य लोकातिशयान्गुणौघान्सुखं विजह्रे भुवि वीतशोकः ॥ ५२ ॥
समाप्तयोगैः परिपक्षविद्यैर्विहर्तुकामैरविषण्णभावः ।
दयात्माभिः साधुगणैरनेकैः क्षितिं विजह्रेस्वतपोऽभिवृद्धये ॥ ५३ ॥
क्षान्त्या च दान्त्या तपसा श्रुतेन ऋद्धया च वृत्त्या व्रतभावनाभिः ।
प्रकाशयामास जिनेश्वराणां स शासनं शासनवत्सलत्वात् ॥ ५४ ॥
पुराणि राष्ट्राणि मटम्बखेटान् द्रोणीमुखान्खर्वउपत्तनानि ।
विहृत्य धीमानवसानकाले शनैः प्रपेदे मणिमत्तदेव ॥ ५५ ॥

धानीसे पालते थे, उसमें कहींसे भी कोई कमी न आती थी। इन सब योग्यताओंके कारण ही महर्षिको वे लब्धियाँ प्राप्त हुई थी जो कि सबके द्वारा अभिलषणीय हैं ॥ ५१ ॥

उन्हें सर्वौषधि (जिससे सब रोग शान्त हो जाते थे,) महातपस्त्व (घोरसे घोर तप करनेपर भी श्रान्ति न होना) क्षीरस्रवत्व (वाणीका दूधकी धारकी तरह स्व-पर पौष्टिक होना) चारण (आकाशमें गमन करना) आदि अद्भुत गुणोंको सरलतासे प्राप्त करके वे सारी पृथ्वीपर विहार करते थे। ये लब्धियाँ ऐसी थीं कि संसारमें इनके सदृश सिद्धियां देखी ही नहीं जाती हैं ॥ ५२ ॥

जिन ऋषियोंके आतापन, आदि योग सफल हो चुके थे, समस्त विद्यायें परिपक्व हो गयी थीं, दया जिनकी प्रकृति हो चुकी थी, तथा तीर्थस्थानोंके दर्शन और जैनमार्गकी प्रभावनाके लिए जो लोग विहार करना चाहते थे, ऐसे अनेक साधुओंके साथ वे देश-देशान्तरोंमें विहार करते थे क्योंकि विहारसे भी तपकी उन्नति ही होती है ॥ ५३ ॥

धर्म विहार

अपने आचार तथा विचारकी सम्पूर्ण शान्ति, कष्टों तथा बाधाओंको उपेक्षा करनेसे प्रकट हुई परम उदारता, अखण्ड तप, सांगोपांग शास्त्रज्ञान, चारण आदि ऋद्धियां, सरल वृत्ति, व्रतोंकी भावनाओं तथा श्री केवली भगवान द्वारा उपदिष्ट जैन-शासनकी अगाध प्रीतिके कारण राजर्षिने जैनधर्मकी खूब प्रभावना की थी ॥ ५४ ॥

राजर्षिके संघने अनेक खेड़ों (ग्राम) विशाल तथा साधारण नगरोंमें, सामुद्रिक व्यापारके स्थानोंमें धर्म विहार किया था। और जब आयुकर्मका अन्त निकट आ गया था तब वे धीरे-धीरे विहारको समाप्त करते हुए फिर उसी मणिमन्त पर्वतपर जा पहुँचे थे ॥ ५५ ॥

तैः संयतैः सागरवृद्धिमुख्यैर्यथोक्तचारित्रतपःप्रभावैः ।
संन्यासतस्त्यक्तुमनाः शरीरं वराङ्गसाधुर्गिरिमारुरोह ॥ ५६ ॥
आरुह्य तं पर्वतराजमित्थं तपस्विभिः सार्धमुपात्तयोगैः ।
निर्वाणभूमौ वरदत्तनाम्नः प्रदक्षिणीकृत्य नमश्चकार ॥ ५७ ॥
पवित्रचित्तो गतरागबन्धः पल्यङ्कृतस्तत्र निषद्य धीमान् ।
कृताञ्जलिः साधुगणान्समग्रान्क्षमध्वमित्येवमुवाच वाचम् ॥ ५८ ॥
अस्नानकण्डूव्रतमण्डिताङ्गैः प्रपण्डितैः पण्डितसाधुवर्गैः ।
प्रायोपयानं कृतवान्सहैव स पण्डितः पण्डितमृत्युमिच्छन् ॥ ५९ ॥

महर्षि वरांग भूतपूर्व सेठ मुनि सागरवृद्धि, आदि प्रधान साधुओंके साथ मणिमन्त शैलकी शिखरोंपर इसलिए चले गये थे कि वहाँके शान्त वातावरणमें संन्यास पूर्वक प्राणोंको छोड़ें। राजर्षि वरांग जैसे ऊंची कोटिके तपस्वी थे वैसे ही उनके साथी सब ही साधु परम संयत थे ॥ ५६ ॥

निर्वाण भूमिकी ओर

इन सब ही ऋषियोंने योगसाधनामें पूर्ण सिद्धि प्राप्त की थी और उग्र तपस्वी तो वे स्वयं थे ही। पूर्वोक्त क्रमसे इन सबके साथ जब राजर्षि वरांग पर्वतके ऊपर पहुँच गये थे तब वे सब महाराज वरदत्त केवलीकी निर्वाण भूमिकी ओर गये थे। उसके निकट पहुँचकर तीन प्रदक्षिणाएं करनेके उपरान्त उन्होंने श्रीगुरुके चरणोंमें प्रणाम किया था ॥ ५७ ॥

समाधिमरण

राजर्षि सल्लेखना (संन्यास) के लिए प्रस्तुत थे, क्योंकि उनका चित्त सर्वथा शुद्ध था, राग आदिके बन्धन तो कभीके नष्ट हो चुके थे। अतएव उन्होंने पद्मासन लगाया था। इसके बाद अत्यन्त विनम्रताके साथ दोनों हाथ जोड़कर परम ज्ञानी राजर्षिने अपने संयमके साथी सब ही तपोधनोंसे प्रार्थना की थी 'आपलोग मुझे क्षमा करें ॥ ५८ ॥

वहाँ उपस्थित सबही साधुओंने स्नान, खुजाना, आदि सब प्रकारके अंग संस्कारोंको न करनेका व्रत ले लिया था तो भी सबके शरीरोंसे तपःश्री फूटी पड़ती थी। वे सब ही शास्त्रोंके पण्डित तथा आचारके विशेषज्ञ थे। जीवन रहस्यके पण्डित राजर्षिको भी पण्डित-मरण (समाधिमरण) पूर्वक शरीर त्यागनेकी अभिलाषा थी अतएव अन्य समस्त साधुओंके साथ उन्होंने भी प्रायोपगमन (जिसमें अपने शरीरकी परिचर्या न स्वयं करते हैं और न दूसरोंसे कराते हैं) संन्यास धारण किया था ॥ ५९ ॥

आजीवितान्तादशनादिभेदान्संसारसंवर्धनहेतुभूतान् ।
विहाय धीरः स तु मोक्षकाङ्क्षो कृतप्रतिज्ञः सुखमास तत्र ॥ ६० ॥
अभ्यन्तरं बाह्यमपि प्रसंगं विपृच्य संक्लेशपदं सुधीमान् ।
द्वन्द्वैर्विमुक्तोऽप्रतिकारदेह आसीन्मुनिः संयमधाम्नि तस्मिन् ॥ ६१ ॥
स्वजीविताशां मरणानुरागं विहाय मित्रेषु ममत्वसंज्ञाम् ।
स चानुबद्धं वनिताकदम्बमभून्मुनिर्मुक्तिपथैकचेताः ॥ ६२ ॥
प्रणम्य पूर्वं तमरिष्टनेमिमरिष्टकर्माष्टकपाशमुक्तम् ।
शेषान् जिनेन्द्रानपि च प्रणम्य यथावदालोच्य मुनिः स तेभ्यः ॥ ६३ ॥

भोजन पान आदि सब ही क्रियाएँ आरम्भ तथा परिग्रह साध्य होनेके कारण नूतन बंधके कारण होती हैं, इसी विचारसे उन्होंने जीवनकी समाप्ति पर्यन्त इन सबको छोड़ दिया था। इसके अतिरिक्त अन्य सब ही आवश्यक प्रतिज्ञाओंको भी धारण करके तथा धीर वीरताके साथ मोक्षपर ही ध्यान लगा कर सुख और शान्ति पूर्वक ध्यान मग्न हो गये थे ॥ ६० ॥

समाधिस्थ मुनि

उनके ज्ञानकी सीमा न थी। संक्लेश, विक्लेशके मूल स्थान बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रहोंका उनके पास लवलेश भी न था। लाभ-हानि, सुख-दुख, शुभ-अशुभ आदि द्वन्दोंसे वे परे थे। शारीरिक कष्टका प्रतिकार न करते थे। केवल संयम और ध्यानमय परमधाममें ही विराजमान थे ॥ ६१ ॥

इस जीवन अथवा अगले जीवनमें उन्हें किसी प्रकारकी अभिलाषा न थी, मरनेकी कोई अभिरुचि न थी, मित्रोंमें अथवा किसी भी अन्य प्राणी और पदार्थमें उन्हें ममत्व न था तथा जन्म-जन्मान्तरोंसे चले आये स्त्री पुरुष सम्बन्धके प्रति भी पूर्ण उदासीन थे। समस्त बन्धनोंको छोड़कर महामुनि वरांगने अपनी समस्त वृत्तियोंको एकमात्र मुक्ति मार्गपर लगा दिया था ॥ ६२ ॥

तीर्थंकर नुति

सबसे पहिले उन्होंने यादवपति श्री नेमिनाथ भगवानके चरणोंमें नतिकी थी जो कि आठों कर्मोंके प्रबल पाशको तोड़कर मुक्त हो चुके थे। इसके उपरान्त बाईसवें तीर्थंकरसे पहिलेके समस्त जिनेन्द्रोंको प्रणाम किया था। तथा उन्हें ही साक्षी मानकर अपनी निष्पक्ष तथा सत्य आलोचना की थी ॥ ६३ ॥

उदन्मुखस्त्यक्तशरीरचेष्टः प्रसन्नबुद्धिः शमितान्तरात्मा ।
आराधनां तां च चतुष्प्रकारामाराधितुं प्रारभतानुसूत्रम् ॥ ६४ ॥
ज्ञानाश्रितां दर्शनकारिणीं च बहुप्रकारोग्रतपःश्रितां च ।
चारित्रभेदोपनिबन्धितीं च प्रचक्रमे कर्तुमनुक्रमेण ॥ ६५ ॥
काले प्रधानैर्विनयप्रधानैस्सन्माननाचिह्नवशप्रयोगैः ।
ग्रन्थार्थयोरप्युभयप्रयोगैः साराधना ज्ञानविधिप्रणीता ॥ ६६ ॥
संध्यामहोकम्पतटित्प्रचारपर्वादिनिन्द्येषु च दुर्विनीताः ।
अध्यापनं चाध्ययनं च भूयो व्यात्रेडिताद्याः प्रतिपत्प्रदोषाः ॥ ६७ ॥

इतना करनेके तुरन्त बाद ही उनका अन्तरात्मा पूर्ण शान्त हो गया था, मति पूर्ण प्रबुद्ध हो गयी थी। शारीरिक चेष्टाएं पूर्ण रूपसे बन्द हो गई थीं, और वे ऊपरको मुख करके समाधिस्थ हो गये थे। शास्त्रीय मार्गके अनुसार ही उन्होंने अन्तिम समय परम आवश्यक चारों प्रकारकी आराधनाको प्रारम्भ कर दिया था ॥ ६४ ॥

चतुर्विध आराधना

सबसे पहिले उन्होंने ज्ञानाराधनाको किया था। इसके आगे क्रमानुसार सम्यक्दर्शनको पुष्ट करनेवाली दूसरी आराधना की थी। तीसरी आराधना तपके आश्रित थी क्योंकि उसमें भांति-भांतिके उग्रतपोंका विधान था और अन्तिमें चारित्र आराधनाको लगाया था जिसमें कि चारित्रके सकल भेदों तथा उपभेदोंका विस्तार है ॥ ६५ ॥

ज्ञानाराधना

जो समयकी अपेक्षा प्रधान हैं अथवा विनयके आचरणमें बढ़े चढ़े हैं, ऐसे लोगोंके साथ सन्मान पूर्वक चिह्नोंसे आत्मवश उपायोंसे केवल ग्रन्थ-पाठ अथवा अर्थका मनन अथना दोनोंका अभ्यास ऐसे दोनों प्रकारके उपायों द्वारा; जो कि ज्ञान अर्जनके साधन हैं, करना ही ज्ञानाराधना है ॥ ६६ ॥

संध्याओंकी वेलाओंमें भूकम्प बिजलीकी चमक तथा वज्रपात युक्त कुसमयमें तथा अशुभ पर्वोंके दिनोंमें अध्ययन नहीं करना चाहिये जो दुर्विनीत हैं वे ही लोग प्रतिपदा आदि वर्जित दिनोंमें अध्ययन तथा अध्यापन करते हैं किन्तु विनय विधिके विशेषज्ञ कदापि नहीं करते हैं ॥ ६७ ॥

जीवादयो मोक्षपदावसाना भूतार्थतो येऽधिगताः पदार्थाः ।
नयप्रमाणानुगतक्रमेण सम्यक्त्वसंज्ञामिह ते लभन्ते ॥ ६८ ॥
अपोह्य शङ्कां विचिकित्सतां च काङ्क्षां निराकृत्य च वत्सलत्वम् ।
अमूढतास्थापनाभावने च सदृष्टिलिङ्गान्युपगूहनं च ॥ ६९ ॥
शङ्का च काङ्क्षा मतिविप्लुता च परस्य दृष्टेरपि च प्रशंसा ।
भूयः सदानायतनस्य सेवा पञ्चातिचाराः खलु दर्शनस्य ॥ ७० ॥
नित्याविरोध्युत्तमसंयमस्य खेदो महावाक्तनुमानसानाम् ।
पूर्वार्जितक्लेशविनाशहेतुस्तपः समुद्दिष्टमनाविलं च ॥ ७१ ॥

सम्यक्त्वाराधना

जीवसे प्रारम्भ करके मोक्ष पर्यन्त जो सात तत्त्व हैं, जीव आदि पदार्थ छह हैं तथा सात तत्त्वोंमें पुण्य पाप मिलनेसे जो पदार्थ होते हैं। इन सबको सातों नयों तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी कसौटीपर कसे जानेके बाद इनका जो साक्षात्कार होता है उसे ही शास्त्रकारोंने सम्यक्त्व आराधना नामसे कहा है ॥ ६८ ॥

सम्यक्दर्शन (सम्यक्त्व) को प्रशस्त बनानेके लिए आवश्यक है कि साधक समस्त शंकाओंका समाधान कर ले (निशंकित), किसी भी प्रकारकी घृणाको अपने अन्तरमें न रखे (निर्विचिकित्सता), समस्त आकांक्षाओंको छोड़ दे (निकांक्षितः), धर्म और धर्मियोंपर निःस्वार्थ स्नेह करे (वात्सलत्व) विवेक विरुद्ध सिद्धान्त अथवा अस्थाको न माने (अमूढदृष्टि), सहधर्मियोंकी क्षम्य भूलोंको गुप्त ही रहने दे (उपगूहन) ये सब सम्यक्त्वकी पूर्तिके द्योतक हैं ॥ ६९ ॥

दर्शनके अतिचार

तत्त्वोंमें शंका करना साधनाके फलस्वरूप किसी अभ्युदयकी आंकाक्षा करना, विवेकको नष्ट होने देना, दूसरोंके सदोष सिद्धान्तोंकी अनावश्यक प्रशंसा करना तथा जो छह पापके साधक (अनायतन) है उनका सेवन करना ये पांचों सम्यक् दर्शनके अतिचार हैं ॥ ७० ॥

तपाराधना

अनादि पूर्व जन्मोंमें बांधे गये पापकर्मोंके नष्ट करने लिए मन, वचन तथा कायको जो अतिशय संयत किया जाता है उसीको तप कहते हैं। इसके करनेसे ऊंचीसे ऊंची कोटिके संयमकी थोड़ीसी विराधना नहीं होती है। आत्माकी क्लेश आदि जन्य मलीनताको यह स्वच्छ करती है तथा उसका आदर्श सदा ही संसारसे ऊपर होता है। परम तपस्वी मुनियोंने ही इस तपके दो भेद किये हैं ॥ ७१ ॥

तद्विप्रकारं मुनिभिः प्रदिष्टं सान्तर्बहिर्भेदविशेषयुक्त्या ।
आध्यात्मिकं भेदमुपैति षोढा बाह्यं पुनः षड्विधमामनन्ति ॥ ७२ ॥
बहुप्रकारं हि तपोविधानं तद्विघ्नमानाशयशुद्धिहेतोः ।
न्याय्यं[1] हि दोषान्यतमप्रकोपे विशेषभैषज्यविधानदृष्टम्[2] ॥ ७३ ॥
रागात्मकानामुपवासयोगाद्द्वेषान्वितानां च विविक्तवासः[4] ।
षोढान्वितानां[5] मुनिभिः प्रणीतो ज्ञानोपयोगः सततं तपस्त्वम् ॥ ७४ ॥
महाव्रतान्यप्रतिमानि पञ्च पञ्चैव सम्यक्समितिप्रयोगाः ।
त्रिगुप्तयो या अवशं विधाय्यश्चारित्रमेतत्सकलं मुनीनाम् ॥ ७५ ॥

साधन तथा योग-युक्तिके भेदसे वह अभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकारका है। आध्यात्मिक तपके छह भेद हैं तथा बाह्य तपके इस विधिसे छह विभाग हैं। उक्त बारह भेद स्थूल दृष्टिसे किये हैं वास्तवमें तो अनशन, अवमौदर्य आदि प्रत्येक बाह्य तप तथा प्रायश्चित्त आदि प्रत्येक अभ्यन्तर तपके भी अनेक भेद होते हैं ॥ ७२ ॥

आत्मचिकित्सा विधि

इस बहुमुख तपका चरम लक्ष्य एक ही है और वह है विद्यमान पापोंका विनाश। वात, पित्त तथा कफमेंसे किसी भी दोषके प्रकुप्त हो जानेपर जिस तत्पराके साथ औषध उपचार आवश्यक होता है, उसी भाँति आत्मामें कोई दोष आनेपर तपरूपी उपचार ही सफल हो सकता है ॥ ७३ ॥

जिन मनुष्योंमें अनुराग भाव बहुत प्रबल तथा जाग्रत है उन्हें उपवास करना साधक है। जिन्हें बात बातमें कलह तथा द्वेष करनेका स्वभाव पड़ गया है उन्हें एकान्त स्थानपर निवास करना अनिवार्य है। तथा जो प्राणी सब दिशाओंसे मोहाक्रान्त हैं। उनके उद्धारका मार्ग ज्ञानोपयोग तथा सदा तपस्या करना ही है ॥ ७४ ॥

चारित्राराधना

निर्ग्रन्थ मुनियोंके सकलचारित्रको निम्न विधियाँ है। सबसे प्रधान तो पाँचों अहिंसा आदि महाव्रत हैं जिनकी उपमा खोजना ही असम्भव है अप्रमत्त तथा सावधान होकर ईर्या आदिमें प्रवृत्त होनेकी अपेक्षासे ही समितियाँ भी पाँच हैं, मन, वचन तथा कायकी यथेच्छ प्रवृत्तियोंको नष्ट करके सर्वथा आत्माको वशमें कर देनेवाली गुप्तियाँ भी तीन हैं ॥ ७५ ॥

१. म न्यायं । २. म °दृष्टो । ३. [वातयोगो] । ४. म विमक्तवित्तः । ५. [मोहान्वितानां] ।

ईर्यासमादाननिसर्गयत्नो वाणीमनोगुप्तिरपि प्रकाशे ।
अनिन्द्यभुक्तिः प्रथमव्रतस्य ता भावनाः पञ्च मुनिप्रणीताः ॥ ७६ ॥
क्रोधस्य लोभस्य भयस्य चापि हास्यस्य चात्यन्तमपोहनं च ।
वाचः प्रयोगोऽप्यनुवीचियुक्त्या पञ्चैव सत्यव्रतभावनास्ताः ॥ ७७ ॥
आदाय वक्रानुमतिस्तथैव[1] तस्मिन्नसंगोऽपि च भुक्तिसेवा[2] ।
सधर्मणश्चानुगृहीतिरेवमाहुस्तृतीयव्रतभावनास्ताः ॥ ७८ ॥
स्त्रीरूपसंदर्शनसंकथानां तदाकुलावासरतिस्मृतीनाम् ।
त्यागः प्रणीतः सरसस्य चापि ता भावना ब्रह्ममहाव्रतस्य ॥ ७९ ॥

अहिंसा व्रतकी भावनाएँ

प्रथम महाव्रत अहिंसाकी ईर्या समिति, आदान-निक्षेपणमें सावधानी, वचन और मनकी गुप्ति तथा सूर्यका स्पष्ट प्रकाश रहते हुए ही ऐसे पदार्थोंका भोजन करना जो कि अभक्ष्य होनेके कारण निन्दनीय न हों, ये पाँचों भावना (पालनमें साधक क्रियाएँ) हैं । परम तपस्वी मुनियोंके कथनानुसार इनको पालनेसे अहिंसा महाव्रत सुकर हो जाता है ॥ ७६ ॥

सत्यमहाव्रतकी भावनाएँ

क्रोधको सर्वथा बुझा देना, लोभपंकको सुखाना, भयसमुद्रको पार करना, हास्य क्रियाको समूल छोड़ देना तथा ऐसी कथा करना छोड़ देना जिसे कहनेमें चाटुकारिता अथवा दीनताको प्रकट करना पड़ता हो । ये पाँचों वे भावनाएँ हैं जिनके पालनसे सत्य महाव्रत अपने आप ही सिद्ध हो जाता है ॥ ७७ ॥

अचौर्य महाव्रतकी भावनाएँ

आहार आदि ग्रहण करनेमें शुद्धि, कुटिल कार्यों (परोपरोध आदि) के अनुमोदनका त्याग, जहाँ कोई आरम्भ परिग्रह न हो ऐसे शून्य स्थानपर निवास करना उस स्थान पर रहना जिसे कि लोग छोड़ गये हों तथा प्रत्येक अवस्थामें सत्य धर्मके प्रति अक्षुण्ण अनुराग बनाये रखना—इन पाँचोंको तीसरे महाव्रत अचौर्यकी भावनाएँ कहा है ॥ ७८ ॥

ब्रह्मचर्य महाव्रतकी भावनाएँ

स्त्रियोंके सुन्दर रूपको घूर घूरकर देखनेका त्याग, उनके रूप, रति आदि कामोत्तेजक वार्तालापको कभी न करना, स्त्रियोंसे परिपूर्ण स्थानपर न रहना, पूर्व समयमें भोगे गये विषय प्रसंगोंको स्मरण भी न करना तथा सरस उद्दीपक भोजनका सर्वथा त्याग, ये पाँचों चौथे महाव्रत ब्रह्मचर्यकी भावनाएँ हैं ॥ ७९ ॥

१. [°भर्ति° तथैव] । २. म मुक्तिसेवा ।

मनोहरेष्वप्यमनोहरेषु मनोहरे मुनेरसंकल्प्यसमा मतेषु ।
शदादिषु स्यात्समवृत्तिचेतस्ता भावनाः पञ्चमसद्व्रतस्य ॥ ८० ॥
विसर्जनीयान्यथ वर्जयित्वा गुणानुपादाय यथाक्रमेण ।
ज्ञानोपयोगात्प्रशमेन तेन ज्ञानं समाराधितमात्मशक्त्या ॥ ८१ ॥
तथाभिचारातपनीय[1] सर्वं तद्भावनाश्चापि सुसाधयित्वा ।
नित्योपयोगोऽस्खलितैकदृष्टिः सम्यक्त्वमाराधितवान्यथार्थम् ॥ ८२ ॥
अध्यापकं चापि ततः पुरस्तात्कृत्वानुपूर्वोत्तरवर्धितं तत् ।
विजित्य सर्वान्स परीषहारींस्तपः समाराधितवान्महात्मा ॥ ८३ ॥

अपरिग्रह महाव्रतकी भावनाएँ

समस्त मनोहर पदार्थोंका त्याग, अमनोहर विषयोंके प्रति उदासीनता, शब्द आदि इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्ति, रागरूप संकल्पसे मुक्ति तथा द्वेषभावोंसे लिप्त प्राणियोंके प्रति भी समभाव, ये पाँचवें महव्रत अपरिग्रहकी भावनाएँ हैं ॥ ८० ॥

गुण प्राप्ति

राजर्षि वरांगने उन सब विषयोंको स्वयं ही त्याग दिया था जिनका त्यागना आवश्यक था। जिस क्रमसे त्याज्य विषयोंको छोड़ा था उसी क्रमसे गुणोंको धारण भी किया था। इन परिवर्तनोंसे उत्पन्न प्रशम मय भावों तथा सतत ज्ञानोपयोगके द्वारा उन्होंने अपनी आत्म शक्तिके अनुसार जितना संभव था उतना अधिक ज्ञानाभ्यास किया था ॥ ८१ ॥

वे सदा ही शुभ और शुद्ध उपयोगमें लीन रहते थे, किसी भी क्षण उनकी तत्त्व दृष्टि भ्रान्त न होती थी। पाँचों महाव्रतोंकी भावनाओंमें वे अत्यन्त अभ्यस्त थे तथा उनके अतिचारोंमेंसे एकको भी पास न फटकने देते थे। इस कठिन पथका अनुकरण करके उन्होंने सम्यक्त्वकी पूर्ण उपासना की थी ॥ ८२ ॥

अन्तिम-साधना

अपने निर्यापक आचार्यको साक्षी बनाकर राजर्षिने प्रारम्भसे तप साधना प्रारम्भ की थी तथा क्रमशः बढ़ाते हुए उसे चरम सीमा तक ले गये थे। इस अन्तरालमें उन्होंने क्षुधा, तृषा आदि सब ही परीषह शत्रुओंका भी परास्त किया था और पूर्णरूप से तपकी आराधनाको सम्पन्न किया था ॥ ८३ ॥

१. [तथातिचारानपनीय सर्वान्]।

सभावनात्युग्रमहाव्रतानि रक्षन्स यत्नात्समितः समित्या ।
त्रिगुप्तिगुप्तो विगतप्रमादश्चारित्रमाराध्य यथोपदिष्टम् ॥ ८४ ॥
संहृत्य सर्वाण्यपि गोचराणि तथेन्द्रियाण्यात्ममनश्च तेभ्यः ।
अचिन्तयद्द्वादश[1] चिन्तनीयान्याराधनोत्कर्षगतो यतीशः ॥ ८५ ॥
संध्यातडिद्वह्निशिखाम्बुदोर्मि[2] तृणाग्रलग्नाम्बुकणश्रियं च ।
समावृतोनीह च जीवितानि नृणामिति प्राहुरनित्यतायाः ॥ ८६ ॥
व्यादारितास्ये सति यत्कृनिक्ष्[3] न प्राणिनां प्राणमिहास्ति[4] किंचित् ।
मृगस्य सिंहोग्रनिशातदंष्ट्रा यत्र प्रविष्टात्मतनोरिवात्र ॥ ८७ ॥

अत्यन्त कठिन महाव्रतों तथा उनकी पच्चीसों भावनाओंकी सांगोपांग शुद्धिकी रक्षा करते हुए, बड़े यत्नके साथ ईर्या आदि समितियोंकी मर्यादाके भीतर ही आचरण करते हुए, तीनों गुप्तियों रूपी रक्षकोंसे रक्षित होते हुए तथा आलस तथा प्रमादको सर्वथा राजर्षिने आगमके अनुकूल विधिसे ही चरित्र आराधनाका अनुष्ठान किया था ॥ ८४ ॥

विषय विसर्जन

जितने भी पदार्थ तथा भाव इन्द्रियोंकी पहुँचके भीतर हो सकते थे, उनकी कल्पना तकको नष्ट कर दिया था तथा मन और इन्द्रियोंको भी उधरसे संकुचित कर लिया था उनका चित्त सदा ही अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओंकी चिन्तामें लीन रहता था, क्योंकि श्रेयार्थी जीवोंके लिए भावनाओंका मनन अनिवार्य है। इस व्यवस्थित क्रमका पालन करनेसे यतिराज वरांगकी आराधनाएँ चरम उत्कर्षको प्राप्त हो गयी थीं ॥ ८५ ॥

संसारकी अनित्यता

मनुष्योंके जीवनोंकी सुषुमा संध्याकी लालिमाके सदृश ललाम है, विद्युत् प्रकाशकी भाँति चंचल है, अग्निकी भभकके समान क्षण-स्थायी है, मेघ-चित्रोंके समान विनाशी, लहरोंके समान अस्थायी, दूबकी पत्तीपर जमी इन्द्र धनुषकी शोभा युक्त ओसकी बूँदके समान ही मनुष्य जीवन हर ओरसे अनित्यतासे घिरा हुआ है ॥ ८६ ॥

आयु कर्मका अन्त अथवा यम जब अपने विकराल मुखको फैला देता है तब निश्चित है कि इस संसारमें प्राणियोंके प्राणोंका बचना असम्भव है। सिंहके घातक तथा तीक्ष्ण दाँत जब मृगके शरीरमें धँस ही गये, तो वह कैसे बच सकता है यही अवस्था शरीरमें प्रविष्ट आत्माकी भी है ॥ ८७ ॥

१. [अचिन्तयद्द्वादश°]। २. क °तटिद्। ३. [कृतान्ते]। ४. [त्राण°]।

जातौ तिरश्चामथ देवभावे मानुष्यके नारकदुःखयोनौ ।
जीवो घटीयन्त्रमिवास्वतन्त्रो बंभ्रम्यते संसृतिकल्पनैषा ॥ ८८ ॥
द्वन्द्वत्रयव्याप्तिषु सर्वकालमेकोऽयमात्मा स्वकृतोपभोगी ।
आध्यात्मिकं बाह्यमिहापि वस्तु न किंचिदस्त्यत्र विचिन्तनीयम् ॥ ८९ ॥
देहात्मनो भेदविकल्पनायां संज्ञादिभेदं स्फुटमन्यथात्वम् ।
विद्वानथैकं कथमत्र कुर्यात्संगं पुमान्भङ्गिनि कः शरीरे ॥ ९० ॥
स्थानेन बीजेन तथाश्रयेण शश्वन्मलस्यन्दनसंप्रयोगात् ।
शरीरमावेदशुचीति मत्वा शुचित्वमस्मिन् विदुषा न कार्यम् ॥ ९१ ॥

संसार प्रभाव

कभी समस्त दुःखोंके भण्डार नरक योनिमें उत्पन्न होना, दूसरे समय तिर्यंच जातिमें भटकना, तीसरे अवसरपर मनुष्य पर्यायके चक्रमें पड़ना तथा अन्य समय देवगतिके विषय भोगोंमें भरमना इन्हीं आवागमनोंको संसार कहते हैं। इसमें पड़े जीव रेंहटकी घड़ियोंके समान सर्वथा कर्मोंके पराधीन होकर नीचे ऊपर आया जाया करता है ॥ ८८ ॥

एकत्व

लाभ हानि, पाप पुण्य, शुभ-अशुभ आदि द्वन्द्वों तथा तीनों लोकों तथा कालोंमें यह आत्मा सदा अकेला ही चक्कर मारता है सदा ही अपने पूर्वकृत कर्मोंके शुभ तथा अशुभ फलोंको अकेले ही भरता है। जिन भावों आदिको आध्यात्मिक कहते हैं अथवा शरीर आदि समस्त बाह्य पदार्थ पुत्र-कलत्र आदि कोई भी इस आत्माके साथी नहीं है। यह जीव सर्वदा अकेला ही है यही सब दृष्टियोंसे विचारणीय है ॥ ८९ ॥

अन्यत्व

जब शरीर तथा आत्माके स्वरूप तथा गुणोंको अलग-अलग करके देखने लगते हैं तो इनका अन्यत्व स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि इनके नाम ही अलग नहीं हैं गुणों और स्वभावका भेद तो इससे भी अधिक स्पष्ट है। जो विवेकी हैं वह इन दोनोंमें ऐक्य कैसे कर सकता है क्योंकि कहाँ तो नित्य आत्मा और कहाँ क्षणभंगुर शरीर ॥ ९० ॥

अशुचित्व

इस शरीरका बीज स्त्री तथा पुरुषका मल है, जिस स्थानपर बनता है वह भी मलमय है, स्वयं मलोंका भंडार है तथा इसके आँख, नाक, कान, मुख आदि नव द्वारोंसे मल ही बहता रहता है। शरीरके एक-एक अणुको प्रत्येक दृष्टिसे अशुचि ही समझिये। किसी भी विद्वान्को इसे पवित्र समझने या बनानेका दुस्साहस नहीं करना चाहिये ॥ ९१ ॥

आत्मा नु चेतोविवरेण तेन गृह्णात्ययं कर्म सहेन्द्रियेण ।
तथाम्बु नः[1] छिद्रमतिस्तथैव प्रयोग एवं परिचिन्तनीयः ॥ ९२ ॥
संस्तम्भ्य चेतोविवरं यथावत्तथेन्द्रियद्वारमथो पिधाय ।
स्यात्संवृतस्याश्रवसंनिरोधो नावौ यथा वारिणि संवृतायाम्[2] ॥ ९३ ॥
यथापि दुर्वह्निशिखाभिमर्शान्निमेषमात्रेण सभस्मता स्यात् ।
तपोबलात्प्राक्तनकर्महानिस्तथा मुनेः सा खलु निर्जरोक्ता ॥ ९४ ॥
लोके[3] द्विधा कारणकार्यभावैरुत्पादभङ्गस्थितिसंप्रयुक्तः ।
पञ्चास्तिकायात्मकसंनिबद्धो विचित्ररूपस्त्विति लोकचिन्ता ॥ ९५ ॥

आस्रव

इस शरीरसे संबद्ध आत्मा मनरूपी मुक्केके द्वारा पाँचों इन्द्रियोंकी सहायता पाकर नये-नये शुभ तथा अशुभ कर्मोंको ग्रहण करता है। जैसे कि छिद्र पाकर जल फटी नौकामें प्रवेश करता है उसी प्रकार कर्मोंका आत्मामें आना होता है ॥ ९२ ॥

संवर

यदि मनरूपी बड़े मुखको तत्परताके साथ भर दिया जाय तथा पाँचों इन्द्रियोंरूपी छेदोंको विधिपूर्वक ढक दिया जाये तो आत्मा भलीभाँति सुरक्षित हो जायगा। और जब वह संवृत्त ही हो गया तो कोई कारण नहीं कि उसका आस्रव बन्द न हो। क्योंकि ज्यों ही नौकाके छिद्र मूँद दिये जाते हैं त्योंही पानीकी एक बूँद भी उसके भीतर नहीं आ पाती है ॥ ९३ ॥

निर्जरा

यदि उनको किसी प्रकार धधकती हुई अग्निकी ज्वालाकी लपटें स्पर्श कर लें तो एक क्षणमें ही उसका विशाल ढेर भस्म हो जाता है। इसी विधिसे जब मुनियोंकी तपरूपी अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है तो पहिलेसे बँधे कर्म देखते-देखते ही नष्ट हो जाते हैं इसे ही निर्जरा-भावना कहते हैं ॥ ९४ ॥

लोक भावना

लोक जीवलोकके उत्पादक कारण प्रधानतया दो (उपादान और निमित्त) प्रकारके हैं प्रत्येक पर्यायके कार्य-कारण भाव निश्चित हैं। इसके प्रत्येक अंग और पर्यायमें आप कुछ पदार्थोंको उत्पन्न होते देखेंगे, कुछ समय बाद उन्हें लुप्त होता भी देखेंगे, और देखेंगे कुछ ऐसे तत्त्व जिनपर जन्म और मरणका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। इसको स्थूल रूप देनेमें पृथ्वी आदि पाँचों अस्तिकायोंका प्रधान हाथ है तथा इसका रूप और आकार भी बड़ा विचित्र (पैर फैलाकर कोई आदमी कमर पर हाथ रखकर खड़ा हो तो जो आकार बनेगा वही लोकका आकार) है। यही लोक-भावना है ॥ ९५ ॥

१. [नौश्छिद्रवती तथैव]। २. [नावो यथा वारिविसंवृतायाः]। ३. [लोको]

अनन्तशः संसरतोऽस्य जन्तोः सुदुर्लभा बोधिरिति प्रचिन्त्य ।
तां प्राप्य तस्मिन्न खलु प्रमादः कर्तव्य इत्येव हि बोधिभिन्ना[1] ॥ ९६ ॥
यत्प्राणिनां जन्मजरोग्रमृत्युर्महाभयत्रासनिराकृतानाम् ।
भैषज्यभूतो हि दशप्रकारो धर्मो जिनानामिति चिन्तनीयम् ॥ ९७ ॥
इत्येवमाद्या अनुचिन्तनीयाः प्रोक्ता यथार्थाः क्रमशो विचिन्त्य ।
प्रसन्नचेता विनिवृत्ततृष्णः समाहितः संयतवाक्प्रचारः ॥ ९८ ॥
मध्ये ललाटस्य मनो निधाय [2]नेत्रभ्रुवोर्था खलु नासिकाग्रे ।
एकाग्रचिन्ता प्रणिधानसंस्था समाधये ध्यानपरो बभूव ॥ ९९ ॥

बोध-दुर्लभ

यह जीव संसारमें अनन्तों बार जन्म-मरण कर चुका है तो भी इसे सब कुछ पाकर भी केवल एक ज्ञान ही प्राप्त नहीं हुआ है। यही समझ कर यदि इसे कभी सत्यज्ञान प्राप्त हो जाय तो उसके संरक्षण और वर्द्धनमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। इसे ही बोध-दुर्लभ भावना कहते हैं ॥ ९६ ॥

धर्म भावना

जो वीतराग तीर्थंकर जन्म, जरा तथा मृत्युसे पार हो गये हैं तथा जिनको बड़ेसे बड़े सांसारिक भय तथा त्रास स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं ऐसे कर्मजेता तीर्थंकरोंका क्षमा, आदि दश प्रकारका धर्म ही, जन्म, जरा, मृत्यु, भय, आदिसे पराभूत प्राणियोंकी संसार व्याधिको शान्त कर सकता है ॥ ९७ ॥

ये सब बारह भावनाएँ निश्रेयस पानेके लिए उत्सुक व्यक्तिको सदा ही चिन्तवन करना चाहिये इसीलिए इनका सत्य तथा विशद स्वरूप शास्त्रोंमें कहा गया है ऐसा मन ही मन समझकर राजर्षिका चित्त पुलकित हो उठा था। उनकी सब प्रकार की तृष्णाएँ शान्त हो गयी थीं, अपनी आराधनामें वे चैतन्य हो गये थे तथा वचन आदिका प्रचार भी पूर्ण नियन्त्रित हो गया था ॥ ९८ ॥

ध्यानकी चरमावस्था

शक्ति और उपयोगके साथ राजर्षिने अपने मनको ललाटके मध्य (मस्तिष्क) में एकाग्र कर दिया था, भ्रुकुटियों तथा आँखोंको जो नाकके अन्तिम बिन्दुपर स्थापित किया था उनकी चिन्ता तथा चित्त दोनों सर्वथा निश्चल हो गये थे। इस क्रमसे समस्त शक्तियोंका एक स्रोतमें सम्मिलन हो जानेके कारण वे समाधिके चरम विकासके लिए सन्नद्ध हो गये थे ॥ ९९ ॥

१. [बोधिचिन्ता]। २. [नेत्रभ्रुवोर्वा]।

संसारनिस्सारमपारतीरं त्रिलोकसंस्थानमनादिकालम् ।
द्रव्याणि च द्रव्यगुणस्वभावान्स चिन्तयामास यतिर्यथार्थम् ॥ १०० ॥
एकस्तु मे शाश्वतिकः[2] स आत्मा सद्दृष्टिसज्ज्ञानगुणैरुपेतः ।
शेषाश्च मे बाह्यतमाश्च भावाः संयोगसल्लक्षणलक्षितास्ते ॥ १०१ ॥
संयोगतो दोषमवाप जीवः परस्परं नैकविधानुबन्धि ।
तस्माद्द्विसंयोगमतो दुरन्तमाजीवितान्तादहमुत्सृजामि ॥ १०२ ॥
सर्वेषु भूतेषु मनः समं मे वैरं न मे केनचिदस्ति किंचित् ।
आशां पुनः क्लेशसहस्रमूलां हित्वा समाधिं लघु संप्रपद्ये ॥ १०३ ॥

यह संसार सब दृष्टियोंसे निस्सार है, अपने आप इसका कभी अन्त नहीं होता है, तीनों लोकोंका निर्माण भी कैसा अद्भुत है, काल भी कैसा विचित्र है, न उसका आदि है और न अन्त है, छहों द्रव्योंके स्वरूप क्या हैं, उनके गुण और पर्यायें कैसी हैं, इन सब तत्त्वोंको अपने एकाग्र ध्यानमें उन्होंने वैसे ही सोचा था जैसे कि वे वास्तवमें हैं ॥ १०० ॥

मेरा यह आत्मा इन सबसे भिन्न है वह अनादि तथा अनन्त है। उसका स्वभाव ही सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान मय है। ज्ञान और दर्शनके अतिरिक्त जितने भी शुभ तथा अशुभ भाव तथा पदार्थ हैं वे इससे सर्वथा पृथक् हैं। उनका और आत्मा का वही सम्बन्ध है जो काया तथा कपड़ों आदिका है, इसके अतिरिक्त चैतन्य आत्मा और बाह्य जगतमें कोई सदृशता अथवा सम्बन्ध नहीं है ॥ १०१ ॥

बाह्य पदार्थोंके संयोगमें फँस कर ही यह आत्मा सब दोषोंका आश्रय बन जाता है, क्योंकि संयोगकी कृपासे जीव तथा जड़ एकमेक हो जाते हैं। अतएव इन दोनोंके इस भीषण तथा परिणाममें बाधक संयोगको मैं जीवनके अन्तके साथ-साथ ही छोड़ता हूँ ॥ १०२ ॥

वंध वैचित्र्य

संसारके समस्त प्राणियों पर मेरा मन एकसा है, किसीके साथ मेरी कोई भी शत्रुता नहीं है। आशा इस जगतमें एक, दो नहीं हजारों तथा अनन्त क्लेशोंका एक मात्र अक्षय मूल है मैं उसे भी छोड़ कर वेगके साथ समाधिस्थ होता हूँ ॥ १०३ ॥

१. [निस्सारसंसारमपार°]। २. म शाश्वतकः ।

इत्येवमर्थान्बहुशो विचिन्त्य विधूय संकल्पमनल्पबुद्धिः ।
तपःकृशीभूतशरीरबन्धो महामुनिर्मासमथाध्युवास ॥ १०४ ॥
कृत्वा कषायोपशमं क्षणेन ध्यानं तथाद्यं समवाप्य शुक्लम् ।
यथोपशान्तिप्रभवं महात्मा स्थानं समं प्राप वियोगकाले ॥ १०५ ॥
त्रिगुप्तिगुप्तेन दृढव्रतेन द्वारं नयानं [॰] हितं[1] यथावत् ।
स्थितानि कर्माणि कृशीकृतानि तपःप्रभावान्मुनिसत्तमेन ॥ १०६ ॥
स्थित्वापि सद्धयानपथे[2] निरोधात्कृत्वा च चारित्रविधिं यथावत् ।
कर्मावशेषप्रतिबद्ध[3]हेतोः स निर्वृतिं नापदतो महात्मा ॥ १०७ ॥

इस पद्धतिका अनुसरण करके राजर्षिने लोक तत्त्वोंका अनेक बार अनेक दृष्टियोंसे ध्यान किया था। वे महामतिमान् थे अतएव संकल्प-विकल्पोंको समाप्त करनेमें उन्हें समय न लगा था। निरन्तर चलते हुए तपस्याके अनुष्ठानोंके भारसे उनका शरीर सर्वथा कृश हो गया था ॥ १०४ ॥

निदान त्याग

इस प्रकार वे महामुनि एक मास पर्यन्त साधना-रत ही रहे थे। इसके उपरान्त एक क्षण भरमें ही राजर्षिकी समस्त कषाएँ (लोभ) विनष्ट हो गयीं थीं तथा वे शुक्ल-ध्यानकी प्रथम कोटि पृथक्त्व-वितर्क अवस्थामें आसीन हो गये थे। इसी क्रमसे विकास करते हुए वे प्राण वियोगके समय परम शान्तिसे प्राप्त होनेवाले सम स्थानपर पहुँच गये थे ॥ १०५ ॥

क्षपकश्रेणी

तीनों गुप्तियों रूपी कवचमें सुरक्षित, ग्रहीत व्रतोंको निभानेके लिए अडिग तथा अकम्प, शास्त्रोक्त प्रक्रियाके अनुसार ही कर्मोंका आस्रव तथा निर्जरा (क्योंकि कुछ रह ही नहीं गया था) रूपी द्वारोंके रोधक राजर्षिने अल्पकालमें ही पहिलेसे बँधे कर्मोंको भी महान् तपके द्वारा नष्ट कर दिया था ॥ १०६ ॥

राजर्षि वरांग यद्यपि शुभ शुक्लध्यानकी प्रगतिमें पूर्णरूपसे प्रवेश पा चुके थे, मानसिक तथा अन्य वृत्तियोंके पूर्ण निरोध को, सम्यक्चारित्रकी सर्वांग विधिको आगमके अनुकूल रूपमें पूर्ण कर चुके थे तो भी उन महर्षिको मोक्ष पदकी प्राप्ति न हुई थी। इसका कारण तो स्पष्ट ही था; उनके आत्माको शरीरमें बाँध रखनेके लिए कुछ कर्म तब भी शेष रह गये थे ॥ १०७ ॥

१. [पिहितं]। २. क निरोधो। ३. [प्रतिबन्ध°]।

परीषहारीनपरिश्रमेण जित्वा पुनर्वान्तकषायदोषः ।
विमुच्य देहं मुनिशुद्धलेश्य[1] आराधयन्तं[2] भगवाञ्जगाम ॥ १०८ ॥
यथैव वीरः प्रविहाय राज्यं तपश्च सत्संयममाचचार ।
तथैव निर्वाणफलावसानां लोकप्रतिष्ठां सुरलोकमूर्ध्नि ॥ १०९ ॥
शेषाश्च सर्वे जितरागमोहा महाधियः संयतपुङ्गवास्ते ।
सज्ज्ञानचारित्रतपःप्रयोगाद् विशुद्धलेश्याः सुरलोकमीयुः ॥ ११० ॥
अनन्तरं केचन वैजयन्तं ग्रैवेयकं ह्यारणमच्युतं च ।
माहेन्द्रकल्पं च ययुर्यतीशाः सुरर्षयो ज्ञानपरायणास्ते ॥ १११ ॥

तब अथक परिश्रमके द्वारा उन्होंने शेष परीषहों रूपी शत्रुओंको जीत लिया था तथा कषायों-रूपी समस्त दोषोंको विवेकके द्वारा धो डाला था फलतः उनकी आभ्यन्तर लेश्या परम शुक्ललेश्या हो गयी थी। उस समय उनका ध्यान पंचपरमेष्ठीके स्मरण और आराधनामें लीन था इस अवस्थाको प्राप्त होते ही भगवान वरांग महामुनि अपने उत्तम औदारिक शरीरको छोड़कर पंचम गतिको प्रस्थान कर गये थे ॥ १०८ ॥

अयोगावस्थाकी ओर

वीरोंके मुकुटमणि सम्राट वरांगने जिस उत्साह और लगनके साथ आनर्तपुरके विशाल साम्राज्यको छोड़कर परम शुद्ध निर्ग्रन्थ दीक्षाको ग्रहण किया था और मुनि वरांग होकर शुद्ध संयम तथा तपका आचरण किया था, उसी निरपेक्ष भाव तथा शुद्ध स्वभाव प्राप्तिके साथ वे देव (ऊर्ध्व) लोकके मस्तक तुल्य तथा जीवलोककी अन्तिम सीमा भूत उस सर्वार्थसिद्धि विमानमें उत्पाद शय्यासे जाग कर विराज गये थे। जिसमें उत्पन्न होनेका तात्पर्य ही यह होता है कि अगले भवमें निर्वाण पद प्राप्त करेंगे ॥ १०९ ॥

शरीरान्त

राजर्षि वरांगके साथ जिन-जिन अन्य राजाओंने दीक्षा ग्रहण करके कठोर संयमकी आराधनामें सफलता प्राप्त करके रागद्वेष आदि कषायोंको जीत लिया था, वे मतिमान् राजर्षि भी सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, घोर तप आदिके सफल प्रयोगोंके फलस्वरूप परम शुद्ध लेश्याओंको प्राप्त करके आयुकर्मकी समाप्ति होते ही देवलोक चले गये थे ॥ ११० ॥

अन्य मुनि समाधिमरण

ज्ञान ध्यान परायण उन राजर्षियोंमें से कितने ही मुनिवर सर्वार्थसिद्धिके पहिले स्थित अपराजित विमानमें प्रकट हुए

१. [मुनिरुच्च°, सुविशुद्ध°]। २. [आराधनान्तं]।

जिनेन्द्रपूजारतयः प्रकृत्या विशुद्धसम्यक्त्वधियः प्रकृत्या ।
विशुद्धसम्यक्त्वधियः सुलेश्या लोकान्तिकाः केचन संबभूवुः ॥ ११२ ॥
महेन्द्रपत्न्यः श्रमणत्वमाप्य प्रशान्तरागाः परिणीतधर्माः ।
दयादमक्षान्तिगुणैरुपेताः स्वैः स्वैस्तपोभिस्त्रिदिवं प्रजग्मुः ॥ ११३ ॥
इत्येवं नरपतिना वराङ्गनाम्ना यत्प्राप्तं सुखदुःखमप्रचिन्त्यम् ।
राज्यान्ते कृतमिह सत्तपश्च तेन तत्सर्वं परिकथितं मया समासात् ॥ ११४ ॥
तद्भक्त्या चरितमिदं मुनीश्वरस्य श्रीकीर्तिद्युतिमतिसत्त्वसंयुतस्य ।
संशृण्वन्परियय्यन्पठन्स्मरन्यः सोऽवश्यं ध्रुवमतुलं पदं प्रयाति ॥ ११५ ॥

इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते स्फुटशब्दार्थसंदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते
वराङ्गर्षेः सर्वार्थसिद्धिगमनं नाम एकत्रिंशतितमः[1] सर्गः ।

थे। दूसरे कितने ही महर्षि वैजयन्त विमानमें उत्पन्न हुए थे। कुछ लोग ग्रैवेयकोंमें पहुँचे थे, अन्य लोगोंका पुण्य उन्हें आरण-अच्युतों कल्प तक ही ले जा सका था ॥ १११ ॥

अन्य यतिवर महेन्द्र कल्पमें ही देव हुए थे। मन, वचन, कायकी तन्मयतासे जिनेन्द्र पूजा करना जिनका स्वभाव था, प्रकृतिसे ही जिन्हें तत्त्वोंपर निर्दोष गाढ़ श्रद्धान होनेके कारण नैसर्गिक सम्यक्त्व था तथा शुद्ध सम्यक्दर्शनके साथ-साथ तप-जन्य प्रभावके कारण जिनकी लेश्या विशुद्ध पीत, पद्म तथा शुक्ल हो गयी थी वे संयमी मर कर लौकान्तिक देव हुए थे ॥ ११२ ॥

इतरजन सद्गति

सम्राट वरांगकी पत्नियोंने भी अर्यिकाकी दीक्षा ग्रहण करके विपुल पुण्यराशिका संचय किया था। उनके राग आदि भाव शान्त हो गये थे। दया, इन्द्रिय दम, शान्ति आदि गुणोंने स्वयं ही उन्हें वरण किया था। उन्होंने पर्याप्त घोर तप किया था। जिसके प्रभावसे वे सब भी देवयोनिमें उत्पन्न हुई थीं ॥ ११३ ॥

वरांग नामधारी उत्तमपुर तथा पीछे आनर्तपुरके नरपतिने राज्य अवस्थामें ही जो अचिन्तनीय सुख तथा दुख पाये थे तथा राज्य त्याग कर दीक्षा ली थी और श्रमण अवस्थामें उनके द्वारा, जो-जो घोर सत्य तप किये गये थे उन सबका मैंने इस ग्रन्थमें बड़े संक्षेपसे वर्णन किया है ॥ ११४ ॥

प्रथम सम्राट तथा पश्चात् महर्षि वरांग अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मीके स्वयं-वृत वर थे, उनकी कीर्ति विशाल और सर्व

१. [एकत्रिंशत्तमः]।

सर्गसमाप्तिपातनिकोपेतग्रन्थप्रमाणमत्र (३८१९)।
एकोनविंशत्यधिकाष्टशतयुता त्रिसहस्री ज्ञातव्या ॥

व्यापिनी थी, उनके तेजका तो कहना ही क्या है, उनका विवेक और शक्ति भी अपार थी ऐसे राजर्षिके इस चरित्रको जो व्यक्ति उनकी भक्तिके साथ सुनता है, सुनाता है, पढ़ता है अथवा मनन करता है वह निश्चयसे अनुपम तथा ध्रुवपद (मोक्ष) को प्रयाण करता है ॥ ११५ ॥

उपसंहार

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द, अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
सर्वार्थसिद्धि गमन नाम एकत्रिंशतितम् सर्ग समाप्त ।

इस महाकाव्यमें सर्गकी समाप्ति होनेपर दी गई प्रशस्तिको भी मिलाकर पूरे ग्रन्थका प्रमाण तीन हजार, आठ सौ, उन्नीस श्लोक (३८१९) है।

प्रथम सर्ग

अरहन्त—मोहनीय, दर्शनावरणी, ज्ञानावरणी तथा अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंको नष्ट करके अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्यसे युक्त आत्माको अरहन्त (अर्ह–पूज्य) कहते हैं। इनके ४६ गुण होते हैं–आठ प्रातिहार्य, चार दर्शनादि अनन्त–चतुष्टय तथा ३४ अतिशय होते हैं ।

केवल ज्ञान—तीनों लोकों और तीनों कालोंके समस्त द्रव्य तथा पर्यायोंको एक साथ जाननेमें समर्थ आत्माका अन्तर्मुख क्षायिक गुण है ।

रत्नत्रयी—मोक्षके मार्गभूत सम्यक्–दर्शन, सम्यक्–ज्ञान और सम्यक्–चारित्र ही रत्नत्रयी है ।

मोह—आत्माके सम्यक्त्व और चारित्र गुणको घातनेवाली शक्तिको मोह कहते हैं । यह चौथा कर्म है । दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय इसके प्रधान भेद हैं । दर्शन मोहनीय वह है जो आत्मामें सत्य श्रद्धा (सम्यक्त्व) का उदय न होने दे । यह मिथ्यात्व, सम्यक्–मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके भेदसे तीन प्रकारका है । जो आत्माके चारित्रगुणका घात करे उसे चारित्र मोहनीय कहते हैं । कषाय तथा नो–कषायके भेदसे यह दो प्रकारका है । प्रथमके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन चार भेद हैं । इनमें भी प्रत्येकके क्रोध, मान, माया तथा लोभ चार भेद होते हैं, इस प्रकार कषाय मोहनीय १६ प्रकारका है । तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, तथा नपुंसक-वेदके भेदसे नो–कषाय-मोहनीय ९ प्रकारका है । मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ा-कोड़ी सागर है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है । यह कर्मोंका राजा है ।

क्षायिक—किसी कर्मके क्षयसे उदित होनेवाले जीवके गुणको क्षायिक-भाव या गुण कहते हैं ।

ऋद्धि—पूर्वजन्म (देव नारकियोंमें) या इसी जन्मके तपसे प्राप्त विशेष शक्तिको ऋद्धि कहते हैं । ऋद्धिके आठ प्रकार होते हैं। १. बुद्धिऋद्धि–अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारी, संभिन्न-श्रोतृता, रसना, स्पर्शन, चक्षु तथा श्रोत्र इन्द्रिय ज्ञानलब्धि, दर्श पूर्वित्व, अष्टांग निमित्त, प्रज्ञाश्रवणत्व, प्रत्येकबुद्धि तथा वादित्वके भेदसे १८ प्रकारकी है । २. क्रियाऋद्धि–जंघा, तंतु, पुष्प, पत्र, श्रेणी, अग्निशिखा चारण तथा आकाशगामित्वके भेदसे ८ प्रकारकी है । ३. विक्रियाऋद्धि–अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्द्धान तथा काम-रूपित्वके भेदसे ११ प्रकारकी है । ४. तप–उग्र, दीप्त, तप्त, महा, घोर, घोरपराक्रम तथा घोर-ब्रह्मचर्यके भेदसे ७ प्रकारकी है । ५. बलऋद्धि–मन, वचन तथा कायके भेदसे ३ प्रकारकी है । ६. औषधिऋद्धि–आमर्ष, क्ष्वेल, जल्ल, मल्ल, विट, सर्वौषधि, आस्यविष तथा दृष्टिविषके भेदसे ८ प्रकारकी है । इसे 'अगद–ऋद्धि' भी कहते हैं । ७. रस ऋद्धि–आस्यविष (मुख या वचनमें विष), दृष्टि विष, क्षीरस्रावी, मधुस्रावी, सर्पिस्रावी तथा अमृतस्रावीके भेदसे ६ प्रकारकी है ८. क्षेत्र ऋद्धि–अक्षीणमहानस तथा महालयके भेदसे दो प्रकारकी है ।

गणधर—मुनियोंके प्रधान तथा तीर्थंकरोंके उपदेशके प्रधान ग्रहीता । ये मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानधारी होते हैं । पुराणोंके अनुसार वर्तमान चौबीस तीर्थंकरोंके १४५३ गणधर हुए हैं । प्रत्येक तीर्थंकरके मुख्य गणधरके नाम क्रमशः वृषभसेन, सिंहसेन, चारुदत्त, वज्र, चमर, वज्रचमर, बलि, दत्तक, वैदर्भि, अनगार, कुन्थु, सुधर्म, मंदरार्य, अय, अरिष्टनेमि, चक्रायुध, स्वयंभू, कुन्थु, विशाख, मल्लि, सोमक, वरदत्त, स्वयंभू तथा गौतम (इन्द्रभूति) हैं ।

लब्धि—आत्माकी योग्यताकी प्राप्तिको लब्धि कहते हैं । इसके पाँच भेद हैं–१. क्षयोपशम–संज्ञी पञ्चेन्द्रित्व, विवेक बुद्धिकी प्राप्ति तथा पापोदयके विनाशको कहते हैं । २. विशुद्धि–पापपरिहार और पुण्याचारको कहते हैं । ३. देशना–जिनवाणीके श्रवण की प्रगाढ़ रुचि । ४. प्रायोग्य–कर्मस्थितिका अपकर्षण । ५. करण–प्रति समय अनन्त गुणी विशुद्धि युक्त परिणामोंकी प्राप्ति । इसके अधःकरण, अपूर्वकरण तथा

[६५७]

अनिवृत्तिकरण विशेष भेद हैं। इनके सिवा काल-लब्धि, कर्मस्थिति-काललब्धि तथा भव-काल-लब्धि तथा नौ क्षायिक और पाँच क्षयोपशमिक लब्धियाँ भी होती हैं।

मोक्ष—जैन दर्शनका सातवाँ तत्व, मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग इन बन्धनके कारणोंके अभाव तथा पूर्वोपार्जित कर्मोंकी निर्जरा हो जानेसे ज्ञानावरणी आदि आठों कर्मोंके आत्यन्तिक विनाशको मोक्ष कहते हैं।

सम्यक्ज्ञान—सम्यक् दर्शनसे युक्त ज्ञान। जीव आदि पदार्थ जिस रूपमें हैं उसी रूपमें जानना। संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय दोषोंसे यह ज्ञान अछूता होता है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल इसके भेद हैं।

दिव्य-ध्वनि—केवल ज्ञान होनेपर तीर्थङ्करोंके उपदेशकी भाषा। इसकी तुलना मेघ गर्जनासे की है। यह एक योजन तक सुन पड़ती है। यह देव, मनुष्य और पशुओंकी भाषाका रूप लेकर समवशरणमें बैठे सब प्राणियोंका शंका-समाधान तथा अज्ञान-निराकरण करती है। 'अर्द्धमागधी' नामसे भी इसका उल्लेख मिलता है।

द्रव्य—गुण और पर्यायसे युक्त सत्को द्रव्य कहते हैं। सत् उसे कहते हैं जिसमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य हों। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छह द्रव्य हैं।

गुण—द्रव्यकी अन्वयी-सहभावी योग्यताओंको गुण कहते हैं अर्थात् जिनके कारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे अलग मालूम दे, वे गुण हैं। जो अस्तित्व, आदि गुण सब द्रव्योंमें पाये जाते हैं इन्हें सामान्य गुण कहते हैं। ज्ञानादि, रूपादि, विशेष-गुण हैं।

पर्याय—गुणोंके विकारको अर्थात् जो द्रव्यमें आती-जाती रहें उन्हें पर्याय कहते हैं। व्यञ्जन पर्याय और अर्थ पर्यायके भेदसे यह दो प्रकारकी होती है।

पदार्थ—सम्यक्-ज्ञानकी उत्पत्तिके प्रधान साधन अर्थोंको बतलानेवाले पदोंको पदार्थ कहते हैं। जीव आदि सात तत्त्व तथा पुण्य और पाप ९ पदार्थ हैं।

सम्यक् चारित्र—संसार चक्र समाप्त करनेके लिए उद्यत सम्यक् ज्ञानीकी उन सब क्रियाओंको सम्यक् चारित्र कहते हैं जिनसे कर्मोंका आना रुक जाय। अर्थात हिंसा, आदि बाह्य क्रियाओं तथा योग, आदि आभ्यन्तर क्रियाओंके रुक जानेसे उत्पन्न आत्माकी शुद्धिको ही चारित्र कहते हैं। इसके स्वरूपाचरण, देश, सकल और यथाख्यात चार भेद हैं।

सुषमा—अवसर्पिणी युग-चक्रका दूसरा तथा उत्सर्पिणीका पाँचवाँ काल। इसकी स्थिति तीन कोड़ाकोड़ी सागर है। इसमें मध्यम भोगभूमि हरि तथा रम्यक् क्षेत्रोंके समान मनुष्य होते हैं।

क्षायोपशमिक—जीवकी वह स्थिति जब उदयमें आनेवाले कर्मोंके सर्वघाती स्पर्द्धक विना फल दिये झरते (उदया-भावी-क्षय) हैं तथा सत्तामें रहनेवाले कर्मोंके सर्वघाती स्पर्द्धक दबे रहते हैं। तथा देशघाती कर्मोंके स्पर्द्धक उदय में हों। ऐसे भाव १८ होते हैं-मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञान, कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि अज्ञान, चक्षु, अचक्षु तथा अवधि दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम।

तीर्थंकर—दर्शन विशुद्धि, आदि सोलह भावनाओं के कारण बंधे कर्मके उदयसे प्रादुर्भूत प्राणिमात्रका सर्वोपरि आध्यात्मिक नेता। इस जीवके गर्भ, जन्म, तप, केवल तथा मोक्ष कल्याणक इसकी लोकोत्तरताका ख्यापन करते हैं। इसमें जन्मसे ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञान होते हैं। ऐसे महात्मा हमारे भरत क्षेत्रमें प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालमें २४-२४ होते हैं। विदेहोंमें सदैव तीर्थंकर होते हैं। वहाँपर इनकी कमसे कम संख्या २० और अधिकसे अधिक १६० होती है। वहाँपर पाँचों कल्याणक होना आवश्यक नहीं है इस युग के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ थे और अन्तिम श्री महावीर थे।

धर्म—गमन करनेके लिए उद्यत जीव तथा पुद्गलोंकी गतिके उदासीन निमित्तको धर्म द्रव्य कहते हैं। यह नित्य, अवस्थित, अरूपी तथा अखण्ड द्रव्य है। इसके असंख्यात प्रदेश होते हैं।

अधर्म—ठहरनेके लिए उद्यत जीव तथा पुद्गलोंकी स्थितिके उदासीन निमित्तको अधर्म द्रव्य कहते हैं। यह भी धर्म द्रव्यके समान है। ये दोनों द्रव्य लोकाकाश भरमें व्याप्त हैं।

आकाश—षड्द्रव्योंमेंसे एक द्रव्य जो समस्त द्रव्योंको स्थान देता है। यह भी नित्य, अवस्थित, अरूपी, अखंड तथा निष्क्रिय द्रव्य है। इसके अनन्त प्रदेश होते हैं। इसके दो भेद हैं- १-लोकाकाश-जहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा काल द्रव्य पाये जायँ। २-अलोकाकाश-लोकाकाशके अतिरिक्त द्रव्य-विहीन आकाश।

काल—षड्द्रव्योंमेंसे एक द्रव्य, जो जीव पुद्गलोंमें परिवर्तन क्रिया तथा छोटे-बड़ेपनेका व्यवहार कराता है। यह भी नित्य, अवस्थित तथा अरूपी है। यह लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालाणु स्थित है। यह असंख्यात द्रव्य है। इसके सबसे छोटे परिमाणको समय कहते हैं। काल द्रव्यके समयोंका प्रमाण अनन्त है। समयसे प्रारम्भ करके आवलि, आदि इसके भेद होते हैं।

जीव—षड्द्रव्योंमें मुख्य द्रव्य। इसका लक्षण चेतना है अर्थात् जो सदा चैतन्य था, है और रहेगा। यह नित्य, अवस्थित तथा अरूपी है। व्यवहार दृष्टिसे जिसमें पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण पाये जायँ वह जीव है। इसके संसारी और मुक्त रूपसे दो प्रधान भेद हैं। इन्द्रिय, आदिकी अपेक्षा संसारी जीवका विपुल विस्तार है (तत्वार्थसूत्र तथा टीका १-४ अध्याय)।

स्वर्ण पाषाण—वह पत्थर जिसमें सोना होता है। कहीं-कहीं पारस पत्थरके लिए भी इस शब्दका प्रयोग हुआ है।

दृष्टि—दर्शनको कहते हैं। जीव आदि तत्वोंके श्रद्धानको दर्शन कहते हैं। अतएव जैन आगममें दृष्टि श्रद्धाका पर्यायवाची है।

उपदेष्टा—उपदेशकको कहते हैं किन्तु सच्चे उपदेष्टा केवली भगवान् हैं। अतः उपदेष्टाको विरागी, निर्दोष, कृतकृत्य परमज्ञानी, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, आदि-मध्य-अन्त विहीन तथा पूर्वापर विरोध-विहीन होना चाहिये।

श्रावक—सच्चे देवका पुजारी, सच्चे गुरुके उपदेशानुसार आचरण करनेवाला तथा सच्चे शास्त्रका श्रोता तथा अभ्यासी व्यक्ति श्रावक होता है। इसके पाक्षिक, नैष्टिक तथा साधक ये तीन भेद हैं। सप्त व्यसनका त्यागी और आठ मूलगुणोंका धारक पाक्षिक-श्रावक है। निर्दोष रूपसे दर्शन-प्रतिमा, आदि चारित्र का पालक नैष्टिक होता है। तथा उक्त प्रकारसे व्रतोंको पालते हुए अन्तमें समाधिमरण पूर्वक प्राणछोड़ने वाला साधक होता है।

प्रमाण—सच्चे ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान,मनःपर्यय ज्ञान तथा केवल ज्ञान सत्य ज्ञान होनेके कारण ही प्रमाण हैं। पदार्थका ज्ञान एक देश (पहलू) और सर्वदेश होता है। प्रमाण, पदार्थका सर्वदेश सत्य ज्ञान है।

नय--पदार्थके आंशिक सत्य ज्ञानको नय कहते हैं। निश्चय और व्यवहारके भेदसे यह दो प्रकार का है। वास्तविकताको ग्रहण करनेवाला निश्चय-नय है। नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे भी दो प्रकारका है। द्रव्य अर्थात् सामान्यको ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिक नयके १-नैगम, संग्रह और व्यवहार तीन भेद हैं। विशेषको ग्रहण करने वाले पर्यायार्थिक नयके ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत चार भेद हैं। निमित्त-वश एक पदार्थको दूसरे रूप जाननेवाले व्यवहार नयके सद्भूत, असद्भूत और उपचरित ये तीन भेद हैं।

व्यसन--इस लोक परलोकमें हानिकर बुरी आदत का नाम व्यसन है। ये सात हैं-१-जूआ खेलना, २-मांस भोजन, ३-मदिरा पान, ४-वेश्या-गमन, ५-शिकार-खेलना ६-चोरी तथा ७- परस्त्री-सेवन। इन सात कुकर्मोंके साधक कार्योंको उपव्यसन कहते हैं।

चक्रवर्ती--छह खण्ड पृथ्वीका विजेता, १४ रत्नों और नवनिधियोंका स्वामी सर्वोपरि राजा। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें

भरत तथा ऐरावत क्षेत्रमें बारह-बारह होते हैं। १६० विदेहोंमें अधिकसे अधिक १६० और कमसे कम २० होते हैं। इनकी सेनामें ८४ लाख हाथी ८४ लाख रथ तथा ११८ लाख घोड़े होते हैं। १ चक्र, २ असि, ३ छत्र, ४ दण्ड, ५ मणि, ६ चर्म, ७ काकिणी, ८ गृहपति, ९ सेनापति, १० हाथी, ११ घोड़ा, १२ शिल्पी, १३ स्त्री तथा १४ पुरोहित ये चौदह रत्न हैं। १ काल, २ महाकाल (अक्षय भोजन दाता), ३ पाण्डु, ४ माणवक, ५ शंख, ६ नैसर्प, ७ पद्म, ८ पिंगला तथा ९ रत्न ये नौ निधियाँ हैं। प्रत्येक चक्रवर्तीके स्त्री रत्न (पट्टरानी) के साथ-साथ ९६ हजार रानियाँ होती हैं। तथा बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा उसे अपना अधिपति मानते हैं। इस काल में १-भरत, २-सगर, ३-मघवा, ४-सनत्कुमार, ५-शान्तिनाथ, ६-कुन्थनाथ, ७-अरनाथ, ८-सुभौम, ९-महापद्म, १०-हरिसेन, ११-जय, १२-ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुए हैं। भावी उत्सर्पिणीमें १-भरत, २-दीर्घदन्त, ३-मुक्तदंत ४- गूढ़दंत, ५-श्रीषेण, ६-श्रीभूति, ७-श्रीकान्त, ८-पद्म, ९-महापद्म, १०-चित्रवाहन, ११-विमलवाहन और १२-अरिष्टसेन चक्रवर्ती होंगे।

अहमिन्द्र—सौधर्म आदि सोलह स्वर्गोंके ऊपरके नौ अनुदिश, नौ ग्रेवेयक तथा पञ्च पञ्चोत्तरमें होनेवाले सब देव। स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, आदिमें ये सब समान होते हैं। इनके देवियाँ नहीं होती हैं।

अनन्तसुख—ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय तथा अन्तराय इन चार घातियाँ कर्मोंके क्षयसे १३वें गुणस्थानमें प्रगट होनेवाले स्वाभाविक आनन्दको अनन्तसुख कहते हैं।

अनन्तवीर्य—वीर्यान्तराय कर्मके सर्वथा नाश हो जानेपर केवलीमें उदित होनेवाली आत्माकी अनन्त-शक्तिको अनन्तवीर्य कहते हैं।

अनन्त दर्शन—दर्शनावरणी कर्मके आत्यन्तिक क्षयसे केवलीमें उदित होनेवाला परिपूर्ण स्वाभाविक दर्शन।

ककुद—बैल या साँड़के कन्धेके ऊपर उठा स्थान। कांदोल।

देवकुरु—विदेह क्षेत्रके मध्यमें स्थित सुमेरु पर्वतकी दक्षिण दिशामें उसके सौमनस तथा विद्युत्प्रभ गजदंतके बीचके धनुषाकार क्षेत्रका नाम है। यह उत्तम भोगभूमि है। यहाँके युगलियोंकी आयु तीन पल्य होती है।

उत्तरकुरु—विदेह क्षेत्रके मध्यमें स्थित सुमेरु पर्वतकी उत्तर दिशामें स्थित धनुषाकार क्षेत्र। दोनों गजदन्तों के बीचका क्षेत्र इसकी लम्बाई (जीवा) है और इससे सुमेरु तक इसकी चौड़ाई (धनुष) है। यह भी उत्तम भोगभूमि है अर्थात् यहाँपर भी सदैव सुषमाकाल रहता है।

भोगभूमि—जहाँपर असि, मसि, कृषि आदि कर्म बिना किये ही मनुष्य या पशु दश प्रकारके कल्प वृक्षोंसे इच्छित भोग-उपभोग पाते हैं और सुख सन्तोषमय जीवन बिताते हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे भोगभूमि तीन प्रकारकी हैं। मुख्य रूपसे देवकुरु-उत्तरकुरु उत्तम भोगभूमि है। जो लोग उत्तम पात्रको दान देते हैं, वे यहाँ उत्पन्न होते हैं। इनकी आयु तीन पल्य होती है। तीन (आठवीं वार) दिनमें ये एक बेरके बराबर भोजन करते हैं। इनके शरीरकी ऊँचाई छह हजार धनुष होती है। शरीरका रंग सोनेके समान होता है। हरि तथा रम्यक क्षेत्र मध्यम भोगभूमि है। जो मध्यम पात्रको दान देते हैं वे यहाँ पैदा होते हैं। इनकी आयु दो पल्य होती है। ये दो दिन बाद अर्थात छठी बार बहेड़ेके बराबर भोजन करते हैं। शरीरकी ऊँचाई ४ हजार धनुष होती है तथा रंग शंखके समान श्वेत होता है। हैमवत तथा तथा हैरण्यवत् क्षेत्र जघन्य भोगभूमि है। जघन्य पात्रको दान देनेसे यहाँ जन्म होता है। इनकी आयु एक पल्य होती है। ये एक दिन बाद अर्थात चौथी बार आँवले बराबर भोजन करते हैं। शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुष होती है और रंग नील कमलके समान होता है।

भोगभूमिकी पृथ्वी दर्पणके समान निर्मल होती है। इसपर सुगंधित दूब होती है। मधुर जलकी बावडियाँ होती हैं यहाँपर एक स्त्री तथा पुरुष साथ-साथ (युगल) उत्पन्न होते हैं। इनके पैदा होते ही माता-पिता क्रमशः जँभाई और छींक लेकर मर जाते हैं। अतः

ये स्तन्यपान नहीं करते । और ऊपरको मुख किये पड़े रहते हैं तथा अँगूठा चूसते रहते हैं, इस प्रकार सात सप्ताहमें ये दोनों युवक हो जाते हैं और पति-पत्नीकी तरह शेष जीवन बिताते हैं । सबके वज्र-वृषभ-नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान होता है । मृत्यु होने पर इनका शरीर बादलके समान लुप्त हो जाता है । इनमें जो सम्यक्दृष्टि होते हैं वे मरकर सौधर्म-ऐशान स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं । तथा मिथ्या दृष्टि भवनत्रिक (भवनवासी व्यन्तर तथा ज्योतिषी देवों) में उत्पन्न होते हैं । भरत तथा ऐरावतोंमें सुषमा सुषमा-सुषमा तथा सुषमा-दुषमा कालोंमें क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा जघन्य भोगभूमियाँ होती हैं ।

किन्नर—देव योनिकी चार श्रेणी हैं । इनमें दूसरी श्रेणीके देव विविध देश-देशान्तरोंमें रहनेके कारण व्यन्तर कहलाते हैं । इन व्यन्तरोंके प्रथम भेदका नाम किन्नर है । वैदिक मान्यतामें इन्हें गायक देव बताया है । ऐसा लिखा है कि इनका मुख घोड़ेका होता है और, शरीर मनुष्यका होता है । कुबेरको इनका स्वामी बताया है ।

नागकुमार—प्रथम श्रेणीके देव भवन-वासियोंका दूसरा भेद । इनका चिह्न सर्प होता है । वैदिक मान्यतामें इन्हें सर्पयोनि अर्थात् ऊपरसे मनुष्य और कमरके नीचे साँपसरीखा बताया है । इनके चौरासी लाख भवन होते हैं और प्रत्येकमें एक जिन मन्दिर होता है ।

पन्नग—सर्पका नाम है । शास्त्रोंमें भवनवासियोंके भेद नागकुमारों तथा व्यन्तरोंके तीसरे भेद महोरगोंके लिए भी इसका प्रयोग हुआ है ।

गन्धर्व—व्यन्तर देवोंका चौथा प्रकार । १-हाहा, २- हूहू, ३-नारद, ४-तुंबुरू, ५-गर्दव, ६-वासव, ७-महास्वर, ८-गीत, ९-रति तथा १०-दैवतके भेदसे ये दश प्रकारके होते हैं । वैदिक मान्यताके अनुसार ये गायक जातिके देव हैं ।

सिद्ध—व्यन्तरोंकी उपभेद । वैदिक मान्यतामें भी इसे देवयोनियोंमें गिना है ।

तुषित—लोकान्तिक देवोंका छठा भेद । ये ब्रह्मलोक स्वर्गके सबसे ऊपरके भागमें रहते हैं । यतः यहाँसे चयकर एक बार जन्म धारण करके मोक्ष चले जाते हैं अतः इन्हें लोकान्तिक कहते हैं, क्योंकि इनके लोक अर्थात् संसार भ्रमणका अन्त आ चुका है । ये सब स्वतन्त्र और समान होते हैं । इन्हें इन्द्रियोंके विषयमें प्रीति नहीं होती अतः ये देवोंमें ऋषि माने जाते हैं । सब देव इनकी पूजा करते हैं । ये चौदह पूर्वके ज्ञाता होते हैं और जब तीर्थंकरको संसारसे विराग होता है तो ये उनको उपदेश देकर दीक्षाके अभिमुख करते हैं ।

चारण—व्यन्तर देवोंका एक भेद । वैदिक मान्यतामें इन्हें देवोंका स्तुतिपाठक या गायक कहा है ।

दन्तकेलि—हाथी मदोन्मत्त होकर अपने दाँतोंसे पहाड़ों-पत्थरों-पेड़ोंको तोड़ देता है यही दन्तकेलि है । शृङ्गाररसमें दाँतोंसे काटनेको भी दन्तकेलि कहते हैं ।

उद्भिज—वनस्पति कायिक जीव, जो पृथ्वीको फोड़कर उगते हैं ।

बलि—पूजा अथवा उपहार । वैदिक मान्यतामें इसका मुख्य अर्थ पशु आदिका बलिदान होता है ।

इन्द्रध्वज—इन्द्रके द्वारा की गयी पूजा । नन्दीश्वर पर्वमें प्रतिवर्ष आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुनमासोंके शुक्ल पक्षकी अष्टमीसे आठ दिन पर्यन्त भव्य जीवों द्वारा जो पूजा की जाती है उसे अष्टाह्निक पूजा कहते हैं यही जब इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिकादिकके द्वारा की जाती है तो इसे इन्द्रध्वज मह कहते हैं ।

पञ्चामृत—दूध, दही, घी, इक्षुरस तथा सर्वौषधि रसको पंचामृत कहा है । इन पाँचोंसे तीर्थंकरकी मूर्तिका अभिषेक किया जाता है।

आगम—सर्वज्ञ वीतराग द्वारा उपदिष्ट, अकाट्य, पूर्वापर विरोध रहित, सब क्षेत्रों और कालोंमें सत्य तथा तत्वोंके उपदेशक शास्त्रको आगम कहते हैं ।

वर्ण—व्यवसायके आधारपर किया गया मनुष्यका मुख्य वर्ग या जाति । भगवान् ऋषभदेवने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णोंकी व्यवस्था की थी क्योंकि पठन-पाठन, यजन-याजन, आत्मविद्या होनेके कारण सैनिक, व्यवसायी और सेवक तीनोंके लिए अनिवार्य हैं । किन्तु भरत चक्रवर्तीने ब्राह्मण वर्णकी भी पृथक् रूपसे व्यवस्था इसलिए की थी कि कुछ लोग पठन-पाठन, यजन-याजनमें ही लीन रहें ।

भोजवंश—पुराणोंमें पुरुवंश और कुरुवंशको प्रधान राज्यवंशोंमें गिनाया है । इसके सिवा गिनाये गये आठ राजवंशोंमें भोजवंशका भी प्राधान्य है । ऐसा ज्ञात होता है कि भोज परमार (ल० १०१०-५५ ई०) तथा प्रतीहार (ल० ८३६-९० ई०) के पहिले भी किसी प्रधान सुख्यात राजाका नाम भोज था जिसके कारण इस वंशको इतना प्राधान्य तथा लोकप्रियता मिली होगी ।

आश्रम—मानव जीवनके विभागोंका नाम आश्रम है । ये चार हैं १-ब्रह्मचारी, २-गृहस्थ, ३-साधक (वानप्रस्थ) तथा ४-भिक्षु (संन्यास) । ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए विद्याभ्यास तथा मानव जीवनोपयोगी मानसिक तथा शारीरिक योग्यताओंके सम्पादनकी वयको ब्रह्मचर्य कहते हैं । सम्राट् खारवेलने २४ वर्षकी वय तक इसे पाला था । देवपूजा, गुरूपासनादि नित्य क्रियाओंका पालन करते हुए जो गृहस्थ धर्मका पालन करते हैं वे छठी प्रतिमा तक गृहस्थ ही रहते हैं । सातवींसे ग्यारहवीं प्रतिमा तकका पालन करनेवाले उदासीन व्यक्ति साधक कहलाते हैं । अन्तरंग बहिरंग परिग्रहके त्यागी दिगम्बर मुनि भिक्षु कहलाते हैं ।

जाति—शब्दका प्रचलित अर्थ प्रत्येक वर्णकी परमार, प्रतिहार, अग्रवाल, ओसवाल, आदि जातियाँ होता है । किन्तु शास्त्रोंमें मनुष्यकी कुलीनताके लिए दो बातोंकी शुद्धिपर जोर दिया है वे हैं वंश और जाति । वंश शब्दका अर्थ पितृ-अन्वय अर्थात् पिताका-कुल किया है और जातिकी व्याख्या जननीका कुल किया है । अर्थात् वह व्यक्ति कुलीन है जिसके माता तथा पिता दोनोंके कुल शुद्ध हों । इस पौराणिक व्याख्याके आधारपर जातिका अर्थ ननहाल या माताका वंश है ।

द्वितीय सर्ग

भूरि भूरि—भरपूर, या खूब, बारम्बार ।

अकृत्रिम बन्धु—स्वाभाविक हितू या मित्र । शास्त्रोंमें बताया है कि जिनके साथ सम्पत्तिका बँटवारा नहीं होता वे नाना, मामा, ससुर, साले वगैरह अकृत्रिम या स्वाभाविक बन्धु होते हैं । तथा दादा, चाचा, चचेरे भाई आदि जिनका पैत्रिक सम्पत्तिमें भाग हो सकता है ये सब स्वाभाविक बन्धु होते हैं । अकृत्रिम बन्धुका दूसरा अर्थ हितकारक हितैषी भी होता है ।

आठ दिक्पाल—चार दिशाओं तथा विदिशाओंके नियामक देवोंको दिक्पाल कहते हैं । चारों दिशाओंके दिक्पालोंके नाम क्रमशः इन्द्र (सोम), यम, वरुण तथा कुबेर है । चारों विदिशाओंके अधिपतियोंके नाम अग्नि, नैऋत्य, वायव्य तथा ईशान हैं ।

दान—स्व-परके उपकारके लिए अपनी न्यायोपात्त सम्पत्तिके त्यागको दान कहते हैं । यह चार प्रकारका होता है १-औषधि दान, २-शास्त्र दान, ३-अभयदान तथा ४-आहारदान । दूसरे प्रकारसे भी चार भेद किये हैं व निम्न प्रकार हैं- १-सर्वदान अथवा सर्वदत्ति अपनी समस्त न्यायोपात्त सम्पत्तिको किसी सत्कार्यमें लगाकर तथा पुत्रादिको उचित भाग देकर विरक्त होनेको कहते हैं । २-पात्रदत्ति रत्नत्रय धारी निर्ग्रन्थ मुनिको नवधा भक्ति पूर्वक आहार दान देना उत्तम पात्रदत्ति है । व्रती श्रावकोंको दान देना मध्यम पात्रदत्ति है तथा अविरत सम्यक् दृष्टिको देना जघन्य पात्रदत्ति है । ३-समदत्ति साधर्मी बहिन भाइयों की सहायता करनेको कहते हैं । ४-दयादत्ति, दीन-दुखी मनुष्य पशु आदिको दयासे औषधि आदि चार प्रकारका दान देना दयादत्ति है ।

तप—पूर्वबद्ध कर्मोंको नष्ट करनेके लिए जो शरीर और मनको तपाया जाता है उसे तप कहते हैं। बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे तप दो प्रकारका है। इनके भी छह छह भेद हैं। बाह्य तपके भेद निम्न प्रकार हैं–१ रागके विनाश और ध्यान की सिद्धिके लिए खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय चारों प्रकारके भोजनके त्यागको अनशन कहते हैं। २–नींद तथा आलस्यको जीतनेके लिए जितनी भूख हो उससे कम भोजन करनेको अवमौदर्य कहते हैं। ३–आशा तथा लौल्यको जीतनेके लिए चर्यकि समय एक, दो मोहल्ला या घरोंका नियम कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान है। यदि मर्यादित क्षेत्रमें स–विधि आहार नहीं मिलता है जो मुनि भूखा ही लौट कर भी परम तुष्ट रहता है। ४–इन्द्रिय विजयके लिए मीठा, लवण, घी, दूध, आदि रसोंके त्यागको रसपरित्याग कहते हैं। ५–ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय तथा ध्यानकी साधनाके लिए एकान्तमें शयन–आसन करना विविक्तशय्यासन हैं। ६–शरीरकी सुकुमारता तथा भोगलिप्सा समाप्त करनेके लिए पर्वत शिखर, नदीतीर, वृक्षमूल आदिमें गर्मी, ठंड तथा वर्षामें आसन आदि लगाना कायक्लेश है। अन्तरंग तपोंका विवरण निम्न प्रकार है—१–प्रमाद वश हुए दोषोंका दण्ड लेकर शुद्धि करना प्रायश्चित है। २–पूज्य पुरुषों तथा शास्त्र आदि का आदर करना विनय है। ३–अपने कायसे दूसरोंकी शरीर–सेवा करना वैयावृत्य है। ४–आलस्य त्याग कर शास्त्र स्वाध्याय करना तथा ज्ञान भावनाको भाना स्वाध्याय है। ५–पर पदार्थोंमें ममत्वके त्यागको व्युत्सर्ग कहते हैं। ६–सब चिन्ताओंसे मनको रोक कर आत्मा या धर्मके ही चिन्तवनमें लगा देना ध्यान है।

संयम—भली भांति शरीर तथा मनके नियमनको संयम कहते हैं। यह भी पांच प्रकार का है। १–अहिंसा, सत्य, आदि पांच व्रतोंका–पालन, २–इर्या, भाषा, आदि पांच समितियोंका आचरण, ३–चारों प्रकारके क्रोध, लोभ, आदि कषायोंका निरोध, ४–तीनों योगोंका निरोध तथा ५–रसनादि पाँचों इन्द्रियोंकी जय।

शौच—क्षमा, मार्दव, आदि दश धर्मों में से चौथा धर्म। सर्वथा वर्द्धमान लोभके निग्रह को शौच कहते हैं।

मैत्री—दूसरे को दुःख न हो इस प्रकार की अभिलाषाको मैत्री कहते हैं।

क्षमा—दुष्ट लोगों के द्वारा गाली दिये जाने, हँसी उड़ायी जाने, अवज्ञा किये जाने, पीटे जाने, शरीर पर चोट किये जाने आदि क्रोध उत्पादक परिस्थितियोंमें भी मनमें क्रोध, प्रतिशोध तथा मलीनता न आनेको क्षमा कहते हैं।

परिमित परिग्रह—बाह्य धन–धान्यादि तथा अन्तरंग रागादि भावोंके संरक्षण तथा संचय स्वरूप मनोवृत्तिको मूर्च्छा या परिग्रह कहते हैं। इनके जीवनोपयोगी अनिवार्य परिमाण को निश्चित करनेको परिमित परिग्रह कहते हैं। इसका 'इच्छा परिमाण' तथा 'परिग्रह परिमाण' नामों द्वारा भी उल्लेख शास्त्रों में है। संसारके समस्त त्याग तथा संयमोंकी सफलता इस व्रतके पालन पर ही निर्भर है, विशेष कर आजके युगमें जब कि मार्क्सवाद–साम्यवादके नाम पर मानवको अपनी आवश्यकताएँ उसी प्रकार बढ़ानेका उपदेश दिया जा रहा है जिस प्रकार संसारके महान् पापी (असीम सम्पत्तिके स्वामी) व्यक्तियोंने बढ़ा रखी हैं।

द्रव्य हिंसा—क्रोधादि कषाययुक्त आत्मा प्रमत्त होता है, ऐसा प्रमादी आत्मा अपने मन, वचन तथा काय योगोंके द्वारा यदि किसी जीवको इन्द्रिय, बल, आयु आदि दश प्राणों से वियुक्त करता कराता है तो द्रव्य हिंसा होती है। अर्थात् किसी जीवके प्राणोंको अलग करना द्रव्यहिंसा है। विशेषता यही है कि यदि आत्मामें प्रमादीपनेसे चेष्टा न होगी तो वह हिंसक नहीं होगा। क्योंकि इर्या समितिसे चलने वाले मुनिके पैरोंके नीचे भी आकर प्राणी मरते हैं किन्तु इस कारणसे मुनिके थोड़ा भी बन्ध नहीं होता। कारण; उसमें प्रमत्त योग नहीं हैं। दूसरी ओर असंयमी प्राणी है जिसे हिंसाका पाप लगता ही है चाहे जीव मरे या न मरे क्योंकि उसमें प्रमत्त योग है, क्योंकि प्रमादी आत्मा अपनी ही हिंसा करता है चाहे दूसरे प्राणी मरें या न मरें।

भावहिंसा—प्रमाद और योगके कारण किसी प्राणीके द्रव्य अथवा भाव प्राण लेनेके विचार हो जाना भावहिंसा है। अर्थात् किसीको मारे, या न मारे, लेकिन यदि भाव मारनेके हो गये तो मनुष्य हिंसाके पापको प्राप्त करता है। जैसे एक भी मछलीको जाल में न फंसाने

वाला धीवर अथवा स्वयंभूरमण समुद्रमें पड़े पुष्कर मत्सके कानमें रहने वाला तन्दुल मत्स । भाव हिंसा का चमत्कार यह है कि मारे जाने वाले का बाल भी बाँका नहीं होता किन्तु मारने वाला सहज ही अपने परिणामोंकी हिंसा कर लेता है ।

तृतीय सर्ग

घातियाकर्म—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञानादि क्षयोपशमिक गुणों तथा अनन्त-दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सुखादि क्षायिक गुणोंको रोकने वाले कर्मोंको घातिया कर्म कहते हैं ये कर्म चार हैं १-ज्ञानावरणी, २-दर्शनावरणी, ३-मोहनीय तथा ४-अंतराय ।

अतिक्रम—ग्रहीत यम अथवा नियमके विषयमें मनकी शुद्धिका न रहना अतिक्रम कहलाता है । यथा सत्याणुव्रत लेकर मनमें ऐसा सोचना कि कभी झूठ बोलूं तो क्या हानि है । दिग्व्रतके अतिचारोंमें ऊपर, नीचे अथवा तिरछे मर्यादाके लंघनको भी अतिक्रम बताया है।

अतिचार—अमितगति सूरिके मतसे त्यक्त विषयमें फिरसे प्रवर्तनको अतिचार कहते हैं । की हुई प्रतिज्ञाके आंशिक भंगको भी अतिचार कहते हैं । अथवा विवश होकर त्यक्त विषयमें प्रवृत्त होनेको भी अतिचार कहते हैं । किन्तु उक्त प्रकारके आचरण तभी तक अतिचार हैं जबतक व्रतके पालनेकी भावना बनी रहती है । व्रत पालनकी भावनाके न रहने पर ऐसे कर्म अनाचार ही हो जाते हैं ।

श्रेणी—आत्मविद्यामें साधुके चारित्रके विकासको श्रेणी नाम दिया है । दशम गुणस्थान वाला मुनि चारित्र मोहनीयकी २१ प्रकृतियोंका उपशम करके जब ग्यारहवें गुण-स्थानमें जाता है तब उपशम श्रेणी होती है । तथा जब उक्त प्रकृतियोंका क्षय करके १२वें गुणस्थानमें जाता है तब क्षपक श्रेणी होती है । सामाजिक संगठनमें श्रेणी शब्दका अर्थ एक प्रकारके व्यवसायियों अथवा एक प्रकार के आचार-विचारके लोगोंके समूहके लिए आया है । प्राचीन भारतमें इस प्रकारकी अनेक श्रेणियाँ थीं ।

गण—अध्यात्म शास्त्रमें तीन मुनियों अथवा वृद्ध मुनियोंके समुदायको गण कहते हैं । इसीलिए भगवानके प्रधान शिष्य अथवा श्रोता गणधर कहे जाते थे । लोकमें गण सामाजिक इकाई थी । प्राचीन भारतमें राजतन्त्रादिके समान गणतन्त्र भी थे अर्थात् जनता या जन अथवा उनके प्रतिनिधियोंको गण कहते थे तथा उनके द्वारा संचालित शासनको गणतन्त्र कहते थे । गणका अर्थ गिनना होता है अर्थात् वह शासन व्यवस्था जिसमें सम्मतियोंको गिनकर बहुमतके आधार पर निश्चय किया जाय ।

सत्पात्र—दान देने योग्य व्यक्तिको पात्र कहते हैं । यह सत्पात्र (सुपात्र), कुपात्र तथा अपात्रके भेदसे तीन प्रकार का है । जो सम्यक्दर्शनको प्राप्त कर चुके हैं वे सत्पात्र हैं । इनमें भी मुति आर्यिका उत्तम हैं । श्रावक-श्राविका मध्यम तथा अविरत जघन्य हैं । कुपात्र वे हैं जिन्हें सम्यक्दर्शन तो नहीं हुआ है किन्तु जैन शास्त्रोंके अनुसार आचरण पालते हैं । तथा जिनमें न सम्यक्दर्शन है और न आचरण है वे अपात्र हैं । पात्रके दूसरे प्रकार से पांच भेद भी किये हैं १-सामयिक, २-साधक, ३-समयद्योतक, ४-नैष्ठिक तथा ५-गृहस्थाचार्य।

आहारदान—भक्ष्य अन्नादिका भोजन देना आहार दान है। नवधा भक्ति, आदि पूर्वक सुपात्रको देनेसे यह पात्र-आहार दान होता हैतथा इतर जन साधारणको देनेसे करुणा-आहार दान होता है ।

षड्द्रव्य—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा जीव छह द्रव्य हैं । गुणोंके समूहको द्रव्य कहते हैं ।

हिरण्यगर्भ—जैन मान्यतानुसार प्रत्येक तीर्थंकरके पाँच कल्याणक (महोत्सव) होते हैं । इनमें गर्भ कल्याणक पहिला है । तीर्थंकरके गर्भमें आते ही अतिशय (असाधारणता द्योतक विशेष घटनाएं) होने लगती हैं उनमें एक यह भी है कि छह मास पहिलेसे ही सोनेकी वृष्टि होती है । फलतः प्रत्येक तीर्थंकर ऐसा व्यक्ति है जिसके गर्भमें आते ही पृथ्वी हिरण्य (सोने) मय हो जाती है ।

ज्योतिषी देव—देवोंके प्रधान भेद चार हैं भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी । जिन देवोंके शरीर तथा विमानादि तेजपुञ्ज है उन्हें ज्योतिषी कहते हैं । इनके मुख्य भेद १-सूर्य, २-चन्द्र, ३-ग्रह, ४-नक्षत्र तथा ५-तारका हैं । पृथ्वीकी सतहसे ७९० योजन

ऊपर जाने पर ज्योतिष्क लोक प्रारम्भ होता है और ९०० योजन की ऊँचाई पर समाप्त होता है। ये सूर्य चन्द्रादि सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा करते हुए मनुष्य लोकके ऊपर घूमते हैं तथा इन्हींके द्वारा दिन, रात्रि, आदि समयका विभाग होता है। विशेषता यही है कि ये मनुष्यलोकके बाहरके आकाशमें स्थित हैं।

देश—जीव आदि तत्वोंके ज्ञानके प्रकारोंको बताते हुए यह भी कहा है कि अस्तित्व, भेद, क्षेत्र (वर्तमान निवास देश), त्रिकालवर्ती निवास, मुख्य तथा व्यवहार काल, भाव और तारतम्य की अपेक्षा इनका विचार करना चाहिये। अर्थात् विविध देशों और कालोंकी अपेक्षा समस्त पदार्थोंमें परिवर्तन-परिवर्द्धन होते हैं। फलतः जो एक देश और कालके लिए उपयोगी था वही सर्वत्र सर्वदा नहीं हो सकता।

क्षायिक—जो भावादि कर्मोंमें क्षयसे होते हैं उन्हें क्षायिक भाव, आदि कहते हैं। क्षायिक भाव सम्यक्त्व, चरित्र, दर्शन ज्ञान, दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्यके भेदसे नौ प्रकार के हैं।

स्वर्ग—जैन भूगोलके अनुसार यह लोक तीन भागों और चार योनियोंमें बँटा है। देवयोनिके चौथे भेद अर्थात् कल्पवासी देव ऊर्ध्व लोकके जिस भागमें रहते हैं उसे स्वर्ग कहते हैं। तथा ये स्वर्ग १६ हैं। ये सोलह स्वर्ग भी १-सौधर्म-ऐशान, २-सनत्कुमार-माहेन्द्र, ३-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, ४-लान्तव-कापिष्ठ, ५-शुक्र-महाशुक्र, ६-शतार-सहस्रार, ७-आनत-प्राणत तथा ८-आरण-अच्युत-युगलोंमें बँटे हुए हैं।

इन्द्र—अन्य देवोंमें अप्राप्त अणिमा आदि गुणोंके कारण जो देवलोक में सबसे अधिक प्रतापी तथा कान्तिमान होते हैं उन्हें इन्द्र कहते हैं। ये देवोंके राजा होते हैं। उक्त सोलह स्वर्गोंमें प्रारम्भके चार स्वर्गोंमें ४ इन्द्र होते हैं। ब्रह्मसे लेकर सहस्रार पर्यन्त आठ स्वर्गोंमें ४, तथा अन्तके चार स्वर्गों में ४, इस प्रकार कुल मिलाकर १२ इन्द्र होते हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, महेन्द्र, ब्रह्म, लान्तव, शुक्र, शतार, आनत, प्राणवत, आरण तथा अच्युत। मध्यलोकके बीचमें सुमेरु पर्वत खड़ा है। पृथ्वीके ऊपर उसकी ऊँचाई ९९ हजार योजन है। सुमेरुकी शिखरकी ऊँचाई चालीस योजन है। जहाँ सुमेरुकी शिखर समाप्त होती है उसके ऊपर एक बाल भर बढ़ते ही ऊर्ध्वलोक प्रारम्भ हो जाता है। अर्थात् यहींसे सुधर्म स्वर्ग प्रारम्भ हो जाता है।

नरक—सुमेरु पर्वतकी जड़ भूमि में एक हजार योजन है। इसके नीचे अधोलोक प्रारम्भ होता है। यह सात पटलोंमे बँटा है जिनके नाम १-रत्नप्रभा, २-शर्कराप्रभा, ३-बालुकाप्रभा, ४-पंकप्रभा, ५-धूमप्रभा, ६-तमःप्रभा तथा ७-महातमःप्रभा हैं। जो प्राणी बहुत-आरम्भ परिग्रह करते हैं वे मरकर यहाँ उत्पन्न होते हैं। इनके शरीरका वर्ण, भाव, शरीर, वेदना तथा विक्रिया अशुभ होते हैं। तथा ज्यों-ज्यों नीचे जाइये त्यों त्यों लेश्या आदिकी कुत्सितता बढ़ती ही जाती है एक दूसरे को दुःख देते ही इनकी लम्बी जिन्दगी बीतती है।

तिर्यञ्च—देव नारकी तथा मनुष्योंके सिवा शेष संसारी जीवोंको तिरछे 'चलनेके कारण' तिर्यञ्च कहते हैं। अथवा इनमें कुटिलता होती है अतः इन्हें तिर्यञ्च कहते हैं। इनमें पशु-पक्षीसे लेकर एकेन्द्रिय वृक्षादि तक सम्मिलित हैं। देव आदिके समान इनका लोक अलग नहीं है क्योंकि ये समस्त लोकमें फैले पड़े हैं। इन्हें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका ज्ञान नहीं होता। आहार मैथुनादि होने पर भी प्रभाव, सुख, द्युति लेश्या, आदि इनके निकृष्ट होते हैं। सामान्य रूपसे जिनमें माया अधिक होती है वे मर कर तिर्यञ्च होते हैं।

मनुष्य—नित्य मननशील, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य विवेक धारी, प्रबल मनोबल विभूषित तथा अडिग उपयोगवान प्राणी मनुष्य कहलाते हैं। ये सब पञ्चेन्द्रिय संज्ञी होते हैं। जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड तथा पुष्करार्द्धमें ये पाये जाते हैं। इनके प्रधान भेद आर्य और म्लेक्ष हैं। जो आर्य खण्डमें उत्पन्न होते हैं वे आर्य कहलाते हैं तथा म्लेच्छ खण्डमें उत्पन्न लोग म्लेच्छ कहलाते हैं। ऊपर लिखे ढाई द्वीपोंमें लवण समुद्र तथा कालोदधि मिला देने पर मनुष्य लोक हो जाता है यह मनुष्यलोक लोकके मध्यमें स्थित है तथा इसका व्यास ४५ लाख योजन है।

भवनवासी—चार देव योनियोंमें प्रथम योनि । यतः ये भवनों में रहते हैं, व्यन्तर ज्योतिषियोंके समान इधर-उधर घूमते नहीं हैं अतः इन्हें भवनवासी कहते हैं । इनके दस भेद हैं—असुर कुमार, विद्युतकु. सुपर्णकु. नागकु. अग्निकु. वातकु. स्तनितकु. उदधिकु., दपिकु. तथा दिक्कुमार। इन सबका वेष-भूषा, शस्त्र, यान-वाहन, क्रीड़ा, आदि कुमारोंके समान होते हैं अतः इन्हें कुमार कहते हैं । अधोलोकी प्रथम पृथ्वी रत्नप्रभाके पङ्क-बहुलभागमें असुरकुमार रहते हैं तथा खर भागमें शेष नागकुमार आदि नौ भवनवासी देवोंके विशाल भवन हैं । इनके इन्द्रोंकी संख्या ४० है । इनमें असुरकुमारोंकी उत्कृष्ट आयु सागर प्रमाण है, नागकुमारोंकी तीन पल्य है, सुपर्ण-कुमारों वर्ष साढ़े तीन, द्वीपकुमारोंकी दो तथा शेष छह कुमारोंकी आधा पल्य है । तथा जघन्य आयु दश सहस्र वर्ष है ।

व्यन्तर—देवोंका दूसरा मुख्य भेद । विविध द्वीप देशोंमें रहनेके कारण इनको व्यन्तर देव कहते हैं । किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत तथा पिशाचके भेदसे ये आठ प्रकारके हैं । यद्यपि जम्बूद्वीपसे चलकर असंख्य द्वीप समुद्रोंको पार कर जानेके बाद इसी रत्नप्रभा पृथ्वीके खरभाग पर ७ प्रकारके व्यन्तरोंका तथा पङ्कबहुल भागमें राक्षसोंका मुख्य निवास है तथापि ये मध्य लोकमें यत्र-तत्र-सर्वत्र घूमते रहते हैं । इनमें १६ इन्द्र होते हैं । इनकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे अधिक है तथा जघन्य आयु दस हजार वर्ष है ।

अंध-पंगु—शास्त्रोंमें चरित्रवान् श्रद्धावान् व्यक्तियोंकी तुलना क्रमशः अंध और पंगुसे की है । किसी स्थान पर अंधा और लंगड़ा अलग अलग रहते हों और यदि दैवात् उस स्थानमें आग लग जाय तो वे दोनों अलग होनेके कारण जल्द भस्म हो जाते हैं । किन्तु यदि दोनों एक साथ हों तो अंधा लंगड़ेको अपनी पीठ पर ले लेता है तथा लंगड़ा आँखोंसे देख सकनेके कारण उसे रास्ता बताता जाता है । फलतः दोनों बाहर निकल जाते हैं । यही हालत चरित्र और श्रद्धा (दर्शन) की है यदि ये दोनों मिल जांय तो मोक्ष होना अनिवार्य है । अन्यथा चरित्रहीन ज्ञान व्यर्थ है और ज्ञानहीन चरित्र भी विडम्बना है । जैसे कि देखता हुआ भी पंगु जलता है तथा दौड़ता हुआ भी अन्धा नष्ट होता है ।

चतुर्थ सर्ग

कृमि—इन्द्रियोंका वर्णन करते हुए बताया है कि पृथ्वी आदिके एक इन्द्री होती है । इसके आगे कृमिके एक अधिक स्पर्शन अर्थात् स्पर्शन और रसना इन्द्रिय होती है । अर्थात् यह कीडे तीन इन्द्रिय चींटीकी जातिसे नीची जातिके हैं । रेशमके कीड़ोंको भी कृमि कहा है।

सर्वार्थसिद्धि—सोलह स्वर्गोंके ऊपर नौ ग्रैवेयक और अनुदिश हैं । इनके ऊपर विजय आदि पंचोत्तरोंका पटल है । इस पञ्चोत्तर पटलके मध्यके विमानका नाम सर्वार्थसिद्धि है । यहां उत्पन्न होनेवाले अहमिन्द्र मर कर नियमसे मनुष्यभव में जाते हैं और वहांसे मोक्षको प्राप्त करते हैं । इनकी आयु ३३ सागर होती है तथा शरीरकी ऊँचाई १ हाथ प्रमाण होती है ।

ईश्वरेच्छा—वैदिक मतानुयायी ईश्वरको जगत्का कर्ता मानते हैं । किन्तु जैनमत अपने कर्मोंको ही अपना कर्ता मानता है । इस सहज तथ्यकी सिद्धिके लिए जब ईश्वरके जगत्कर्तृत्व में दोष दिखाये गये तो वैदिकोंने ईश्वरकी इच्छाको संसारका कर्ता माना अर्थात् कर्म तो प्राणी ही करता है किन्तु ईश्वरकी इच्छासे करता है । लेकिन यदि ईश्वरमें इच्छा शेष है तो भी वह संसारियोंके समान रागद्वेषी हो जायगा परमात्मा या सिद्ध नहीं रहेगा ।

मिथ्यादर्शन—चौथे कर्म मोहनीयके प्रथम भेद दर्शन मोहनीयका प्रथम भेद । इसके उदयसे जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्गसे विमुख होता है अर्थात् न जीवादि तत्त्वोंकी श्रद्धा करता है, और न उसे अपने हित-अहितकी पहिचान होती है । इसके दो भेद हैं १-नैसर्गिक या अग्रहीत जो अनादि कालसे चला आया है, २-ग्रहीत, जो दूसरोंको देखने या दूसरोंके उपदेश से असत्य श्रद्धा हो गयी हो । ग्रहीत मिथ्यात्व भी १८० क्रियावाद, ८४ अक्रियावाद, ६७ अज्ञानवाद तथा ३२ विनयवादके भेद से ३६३ प्रकारका होता है । मिथ्यादर्शन को

१–एकान्त, २–विपरीत, ३–संशय, ४–वैनयिक तथा ५–अज्ञानके भेदसे भी पांच प्रकारका बताया है । यह कर्मबन्ध या संसारका प्रधान कारण है ।

अविरति—पांच पापोंसे विरक्त न होनेको अथवा व्रतोंको न धारण करनेकी अवस्थाको अविरति कहते हैं । यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति तथा त्रस इन षट्कायों तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा मन इन षट्करणोंकी अविरतिके भेद से १२ प्रकारकी होती है ।

प्रमाद—चारित्र मोहनीय कर्मके उदयके कारण आगमोक्त आवश्यकादि करनेमें असमर्थ होनेके कारण उनका अन्यथा प्रतिपादन करना तथा मूर्खता, दुष्टता और आलस्यके कारण शास्त्रोक्त विधियोंकी अवहेलना करना ही प्रमाद है । चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रियाँ, निन्दा तथा स्नेहके भेदसे प्रमाद १५ प्रकारका है । मुनिके लिए ५ समिति, ३ गुप्ति, ८ शुद्धि तथा १० धर्मोंका अनादर अथवा अन्यथा–करणसे प्रमादके अनेक भेद होते हैं ।

कषाय—बड़ आदिके कषाय (दूध) के समान होनेके कारण क्रोधादिको कषाय कहते हैं । इन्हीं के कारण आत्मा पर कर्म रज चिपकती है अथवा जो आत्माके गुणोंको नष्ट करते (कर्षंति, हिंसन्ति, घ्नन्ति) हैं उन्हें कषाय कहते हैं । अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया लोभके भेदसे कषाय १६ प्रकारकी हैं तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री–पुं–नपुंसक वेदके भेदसे नोकषाय नौ प्रकारकी है । इस प्रकार कुल मिलाकर कषायके २५ भेद हैं ।

योग—काय, वचन और मनकी हिलन–डुलनको योग कहते हैं । अथवा आत्माके प्रदेशोंकी सक्रियताका नाम योग है । फलतः कर्म अथवा नोकर्मोंको ग्रहण करने की आत्माकी शक्ति ही भाव–योग है । तथा इसके निमित्तसे होनेवाली काय, वचन और मनकी चेष्टाएं द्रव्य–योग । यतः काय, वचन और मनके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है अतः योग भी तीन प्रकारका है ।

योग शब्दका प्रयोग ध्यानके लिए भी हुआ है । इसीलिए पण्डिताचार्य आशाधरजीने देश संयमीको समझाते हुए लिखा है कि प्रारब्धयोगी, घटमान–योगी तथा निष्पन्न–योगीके समान देश संयमी भी होता है । अर्थात् १–जिनकी ध्यानकी साधना प्रारम्भ हुई है वे प्रारब्ध योगी है, २–जिनकी साधना भले प्रकारसे बढ़ रही है वे घटमान योगी हैं और ३–जिनकी साधना पूर्ण हो गयी है वे निष्पन्न योगी हैं।

प्रकृतिबंध—योगोंके द्वारा कार्माण वर्गणाएँ आत्मासे बंधती हैं । तथा वे ज्ञान, दर्शनको रोकना, सुख दुःखादिका अनुभव कराना आदि स्वभाव धारण करती हैं इसे ही प्रकृतिबंध कहते हैं । अर्थात् त्रियोगसे आकृष्ट और बद्ध कार्माण वर्गणाओंका ज्ञान–दर्शनावरणादि रूप से बंटना प्रकृतिबन्ध है । इसके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय आठ मुख्य भेद हैं । प्रभेद १४८ हैं । आयुकर्मके सिवा शेष सातकर्मोंका प्रकृतिबन्ध संसारी जीवके सदैव होता रहता है ।

स्थितिबंध—प्रकृति या स्वभावसे स्खलित न होनेको स्थितिबन्ध या आयु कहते हैं । अर्थात् तीव्र मन्द या मध्यम कषायोंके कारण जितने समय तक कार्माण वर्गणाएं आत्मासे बन्धी रहें वह उनकी स्थिति (आयु) कहलायगी । आदिके तीन कर्मों (ज्ञान–दर्शनावरण तथा वेदनीय) ३० कोड़ाकोड़ि सागर, मोहनीय की ७० कोड़ाकोड़ि सागर, आयुकर्म की ३३ कोड़ाकोड़ि सागर तथा नाम, गोत्र, अन्तराय कर्मोंको २० कोड़ाकोड़ि सागर उत्कृष्ट स्थिति है । वेदनीयकी १२ मुहुर्त, नाम–गोत्रकी ८ मुहूर्त तथा शेष पांचों कर्मों की अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है ।

अनुभाग बंध—बन्धी कार्माण वर्गणाओंके रस या फलको अनुभाग कहते हैं । कषायों की तीव्रता, मन्दता, आदिके कारण कर्मभूत पुद्गलोंमें जो तीव्र या मन्द फल देनेका सामर्थ्य आता है उसे ही अनुभाग बन्ध कहते हैं ।

प्रदेशबंध—बंधते हुए कर्म पुद्गलोंके परिमाण या प्रदेश संख्याको प्रदेशबन्ध कहते हैं । योगके कारण आकृष्ट तथा विविध प्रकृति रूप

परिणत कर्म परमाणुओंका एक निश्चित मात्रामें आत्माके प्रदेशोंके साथ एकमेक हो जाना ही प्रदेश बन्ध है ।

देशावधि—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादाओंके साथ रूपी पदार्थके प्रत्यक्ष ज्ञाता ज्ञानको अवधि ज्ञान कहते हैं । इसके दो भेद हैं १–भव प्रत्यय, जैसे देव, नारकियों तथा तीर्थंकरोंका अवधिज्ञान, २–क्षयोपशम–निमित्त अर्थात् सम्यक्दर्शन और तपके द्वारा पर्याप्त मनुष्य अथवा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्चोंके होनेवाला अवधिज्ञान । इनमें प्रथम प्रकार का अवधिज्ञान देशावधि ही होता है और दूसरा देशावधि भी होता है । अर्थात् देश, द्रव्य, काल, भाव की मर्यादाओंके साथ रूपी पदार्थको देशरूपसे प्रत्यक्ष जानने वाला ज्ञानको देशावधि कहते हैं । इसका विषय (ज्ञेय) थोड़ा होता है तथा यह छूट भी सकता है ।

परमावधि—उपरि उक्त मर्यादाओंके साथ पदार्थको अधिकतर रूपसे जाननेवाले क्षयोपशम निमित्तक अवधि ज्ञानको परमावधि कहते हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की वृद्धि हानिकी अपेक्षा इसके असंख्यात भेद होते हैं । यह मध्यम अवधि ज्ञान है तथा इसके धारी तद्भव–मोक्षगामी होते हैं ।

नोकषाय—साधारण शक्ति युक्त कषायको नो (ईषत्) कषाय कहते हैं । यह हास्य, आदिके भेदसे नौ प्रकार की है ।

शील—साधारणतया शील शब्दका प्रयोग पातिव्रत तथा पत्नीव्रत अथवा ब्रह्मचर्यके लिए हुआ है । किन्तु जैन दर्शनमें तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंके लिए भी सप्तशील संज्ञा दी है । दिग्विरति, देशविरति तथा अनर्थदण्डविरति ये तीन गुणव्रत हैं । सामयिक प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग–परिमाण तथा अतिथि–संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं ।

कवलाहार—कवल ग्रासको कहते हैं । महाव्रतीके लिए नियम है कि वह ग्रासोंमें आहार ले । तथा ऐसे ग्रासोंकी संख्या ३२ के ऊपर नहीं जाती । केवलीके चारों घातिया नष्ट हो जानेसे क्षुधादि नहीं रहते फलतः वे कवलाहार नहीं करते किन्तु श्वेताम्बर केवलीके भी कवलाहार मानते हैं ।

स्याद्वाद—प्रत्येक वस्तु, अनेक धर्म युक्त है । यतः शब्दोंको क्रमशः ही कहा जा सकता है अतः किसी पदार्थके सब धर्मोंको युगपत् कहना अशक्य है । तथा एक शब्द द्वारा बताये गये धर्मको ही उस वस्तुका पूर्ण रूप समझ लेना भी भ्रान्ति है । अतएव किसी वस्तुके एक धर्म को कहते हुए उसके अन्य धर्मोंका 'संकेत करनेके लिए उस धर्मके पहिले 'स्यात्' लगाया जाता है । इस स्यात्के व्यवहारको ही 'स्याद्वाद' कहते हैं । इसके सात मुख्य भेद (भंग) हैं । १ स्याद्–अस्ति–अर्थात् स्व द्रव्य क्षेत्र काल, भाव की अपेक्षा प्रत्येक पदार्थ हैं ।' २–स्याद् नास्ति–पर द्रव्य, आदि की अपेक्षा नहीं है । ३–स्याद्–अस्ति नास्ति, उक्त दोनों दृष्टियों से देखनेपर पदार्थ है भी और नहीं भी है । ४–स्यात–अवक्तव्य–उक्त दोनों दृष्टियोंसे युगपत् देखने कहनेपर पदार्थ अवक्तव्य है; कहा नहीं जा सकता है । ५–स्यादस्ति अवक्तव्य; क्योंकि उक्त दृष्टि होते हुए भी स्व द्रव्यादिकी अपेक्षा अवश्य है ६–स्यान्नास्ति अवक्तव्य–अवक्तव्य होते हुए भी पर द्रव्यादिकी अपेक्षा नहीं ही है ७–स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य–क्योंकि युगपत् अनिर्वचनीय होते हुए भी अस्ति–नास्ति स्वरूप है ही । इन सातों दृष्टियोंसे पदार्थके नित्यत्वादि गुणोंका भी विचार होता है ।

साकूत—अभिप्राय या संकेतको आकूत कहते हैं अतएव साकूतका अर्थ अभिप्राय युक्त है ।

दुर्वर्ण—अशोभन रूप युक्त । अथवा नीच जातिका अथवा कुत्सित अक्षरों युक्त ।

अयशःकीर्ति—नाम कर्मका प्रभेद । जिसके उदयसे संसारमें अपयश या प्रवाद हो उसे अयशःकीर्ति नाम–कर्म कहते हैं ।

शुभ—नाम कर्म का भेद। इसके उदयसे शरीर आदि सुन्दर होते हैं ।

सुस्वर—नामकर्मका भेद । इसके उदयसे प्राणीका कण्ठ मधुर–मनोहारी होता है ।

दोषोद्घाटन—गोत्रकर्मके बन्धके कारणोंका विवेचन करते समय बताया है किम परनिन्दा, आत्म-प्रशंसा, सत्-गुणाच्छादन तथा असत् दोषोद्घाटन नीच गोत्रके कारण होते हैं। फलतः दूसरेके दोषोंका सप्रचार करना अथवा दूसरेमें दोषोंकी कल्पना करना ही दोषोद्घाटन का तात्पर्य है।

पैशुन्य—दुर्जन या खलको पिशुन कहते हैं। पिशुनके भावको पैशुन्य अर्थात् दुर्जनता अथवा खलता कहते हैं। एककी बुराई दूसरे से करना तथा एक दूसरेकी गुप्त बातें बताना अथवा चुगलखोरी भी पैशुन्यका अर्थ है।

बन्ध—कषाययुक्त आत्मा द्वारा कर्म होने योग्य पुद्गलोंके ग्रहणको बन्ध कहते हैं। यह बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका है।

पुद्गल परमाणुओंके मिलकर स्कन्धरूप होनेको भी बन्ध कहते हैं। यह बन्ध परमाणुओं की स्निग्धता और रूक्षताके कारण होता है। एक गुण स्निग्धका एक या अनेक गुण स्निग्धरूक्ष से बन्ध नहीं होता। समान गुण होने पर समोंका बन्ध नहीं होता। विषम होने पर समान गुणोंका भी बन्ध होता। दो गुणोंके अन्तरवालोंका तो बन्ध होता ही है। बन्धमें जिसके गुण अधिक होते हैं वह अल्पगुणयुक्तको अपना सा बना लेता है। अहिंसा अणुव्रतके पहिले अतिचारको भी 'बन्ध' कहते हैं अर्थात् प्राणियोंसे विराधना होने पर उन्हें बन्धनमें डाल देना।

उदय—बंधे हुए कर्मकी स्थिति पूर्ण होने पर उसके फलको प्रकट होनेको उदय कहते हैं। अर्थात् स्थितिपूर्ण होने पर द्रव्य, क्षेत्र, आदिके निमित्तसे कर्मोंके फल देने को उदय कहते हैं। ग्रहादि के प्रकट होनेको भी उदय कहते हैं। तथा किसी ग्रह विशेषका नाम भी है।

आबाधा—बन्ध होनेके बाद जब तक कर्म उदयमें न आवे उस अवस्थाको आबाधा कहते हैं। इसका काल उदय और उदीरणाके कारण विविध होता है क्योंकि उदय स्थिति पूर्ण होने पर ही होगा, किन्तु उदीरणा तो असमय में ही होती है। साधारण नियम सात कर्मों (आयु को छोड़ कर) के लिए यही है कि कोड़ाकोड़िकी स्थिति पर १०० वर्ष आबाधाकाल होगा। आयुकर्म बंधनेके बाद दूसरी गतिको जाने तक उदय में नहीं आता। इसकी उत्कृष्ट आबाधा एक कोडि पूर्वका तृतीयांश है तथा जघन्य आवलिका असंख्यात का भाग है। यह हुई उदयकी अपेक्षा, उदीरणाकी अपेक्षा सातों कर्मोंकी आबाधा एक आवलि है।

पञ्चम सर्ग

आकाश—षड् द्रव्यों में तीसरा द्रव्य है। जो जीव आदि पाँचों द्रव्यों को अवकाश-ठहरनेका स्थान दे उसे आकाश कहते हैं। आकाश अमूर्तिक, अखण्ड, सर्वव्याप्त तथा स्व-आधार द्रव्य है। इसके दो भेद हैं—१ लोकाकाश तथा २-अलोकाकाश। जहां जीवादि पांच द्रव्य (लोक) पाये जांय वह लोकाकाश है। इसके सिवा शेष अलोकाकाश है। इसके प्रदेश अनन्त हैं। इसका कार्य अवगाह या रहनेका स्थान देना है, जैसा कि इसकी परिभाषासे स्पष्ट है।

लोक—जीव आदि षड्द्रव्यमय स्थानको लोक कहते हैं। अनन्त आकाशके मध्यमें वह पुरुषाकार खड़ा है। अर्थात् नीचे से ऊपर लोक १४ राजू ऊँचा है आधारपर पूर्वसे पश्चिम ७ राजू चौड़ा है। यह चौड़ाई घटते घटते ७ राजूकी ऊँचाई पर केवल १ राजू है। फिर बढ़ती हुई १०॥ राजूकी ऊंचाई पर ५ राजू है तथा शिर पर (१४ राजू की ऊंचाई पर) फिर १ राजू चौड़ाई है। इस लोक स्कन्धकी मोटाई सर्वत्र ७ राजू है। इस प्रकार सारे लोकका घनफल ३४५ घनराजू है। मोटे तौरसे ऊँचे मोड़ा पर मृदङ्ग रखनेसे लोककी आकृति बन जाती है।

इस लोकका कोई कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। षड् द्रव्यों तथा विशेष कर जीव द्रव्यकी चेष्टाओंके कारण यह उन्नत अवनत होता चलता है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, चिह्न, कषाय, भव, भाव, पर्यायकी अपेक्षासे इसका विवेचन किया जाता है।

राजु—जगत् श्रेणीके सातवें भागको राजु कहते हैं। लोकाकाश (१४ राजु) की प्रदेश मात्र चौड़ी तथा मोटी आधी (सात राजु) ऊंचाई को जगत् श्रेणी कहते हैं, इसके सातवें भागका नाम राजु (रज्जु) है। परमाणु सबसे सूक्ष्म स्थान-माप है। इसके बाद अवसन्नासन्न, आदि ९ माप बननेके बाद सरसों होता है। ८ सरसोंकी मोटाई १ यव(जौ) होता है। आठ जौकी मोटाई १ अंगुल होती है। ६ अंगुल (उत्सेधांगुल) की लम्बाईका १ पाद होता है। २ पादकी १ वितति (वालिश्त)। २ विततिका १ हाथ (हस्त)। २ हस्तका १ किष्कु (गज)। २ किष्कुका १ धनुष अथवा दण्ड होता है। २००० धनुषका १ क्रोश। ४ क्रोशका १ योजन। ५०० योजनका १ प्रमाण योजन। और असंख्यात प्रमाण योजनों का १ राजु होता है। ७ राजुकी जगत् श्रेणी होती है।

घनोदधि—पूर्ण लोक तीन प्रकारके वायुमण्डलोंसे घिरा है। इनमें घनोदधि वातवलय पहिला है। घनोदधि वह वायु है जिसमें जलांश (नमी) रहता है। इसका रंग गायके मूत्रके समान है तथा लोक मूलसे लेकर १ योजनकी ऊँचाई तथा इसकी मोटाई २० हजार योजन है। इसके बाद ज्यों ज्यों ऊपर जाइये त्यों त्यों मोटाई घटती जाती है और सातवीं पृथ्वीके पास केवल ७ योजन रह जाती है। लोकमध्यमें केवल ५ राजु रह जाती है। इसके बाद बढ़ती हुई घनोदधि वात वलय की मोटाई ब्रह्म स्वर्गके पास सात योजन है। फिर घटती है और ऊर्ध्वलोकके पास ५ योजन होती हुई लोकाग्रमें केवल दो कोश रह जाती है।

घन—लोकको घेरनेवाले दूसरे वायुमण्डलका नाम घन वातवलय है। यह वायु-मण्डल ठोस है। इसका रंग मूंगके समान है। घनोदधि वात वलयके समान इसकी भी मोटाई क्रमशः २० हजार योजन, ५ योजन, ४ योजन तथा १ क्रोश मात्र है।

तनु—लोकको घेरनेवाले तीसरे वातवलयका नाम तनु वातवलय है। यह बहुत ही हल्की वायु है। इसका रंग नाना प्रकारका है। घनोदधि वातवलयके समान इसकी भी मोटाई क्रमशः २० हजार योजन, ४ योजन, ३ योजन, ४ योजन, ३ योजन तथा कुछ कम १ क्रोश मात्र है। ये तीनों वातवलय एक प्रकारसे लोकके धारक हैं।

योजन—अनन्तानन्त परमाणुओंसे 'अवसन्नासन्न' स्कन्ध बनता है, ८ अवसन्नासन्नका १ सन्नासन्न, ८ सन्नासन्नका १ तट्रेणु, ८ तट्रेणुका १ त्रसरेणु, ८ त्रसरेणुका १ रथरेणु, ८ रथरेणुका १ बालाग्र (उत्तम भोगभूमिया मेढ़ेका), ८ बालाग्रका १ (मध्यमभोगभूमिया मेढ़ेका) बालाग्र, ८ (मध्य. भो.) बालग्रका १ (कर्मभूमिया मेढ़ेका) बालाग्र, ८ (कर्मभू०) बालाग्रकी १ लीक, ८ लीककी मोटाईकी १ सरसों, ८ सरसोंकी मोटाई का १ यव, ८ यवकी मोटाई का १ अंगुल, ६ अंगुलका १ पाद, २ पादकी १ वितति (वालिश्त), २ वितति का १ हस्त, २ हस्तका १ किष्कु, २ किष्कु का १ धनुष या दंड, २००० धनुषका १ क्रोश ४ क्रोशका १ योजन होता है। चारों गतियोंके जीवोंके शरीरों देवोंके नगर, मंदिर आदिका माप इसी योजन द्वारा है।

गव्यूति—दो क्रोशकी १ गव्यूति होती है। अथवा आधे योजनको गव्यूति कहते हैं।

क्रोश—५ नल्वका अर्थात् (४०० किष्कु x ५) २००० धनुषका १ क्रोश होता है।

पटल—छत या चंदोवेको पटल कहते हैं, किन्तु शास्त्रोंमें इसका प्रयोग स्तर या प्रदेश मात्र मोटाई युक्त लम्बे चौड़े विस्तारके लिए हुआ है।

संस्थान—शरीरका आकार निर्मापक कर्म। इसके मुख्य भेद छह हैं, १ समचतुष्क अर्थात् सुडौल आनुपातिक शरीर, २ न्यग्रोध परिमंडल—कमरके ऊपर भारी और नीचे हल्का शरीर, ३ स्वाति—कमरके नीचे वामीकी तरह भारी और धड़ हल्का, ४ कुब्जक—कुबड़ा, ५ वामन—अर्थात् बौना और ६ हुण्डक—बेडौल अष्टावक्र शरीर।

नपुंसक—मोहनीय कर्मके नोकषाय भेदका उपभेद है इसके उदयसे जीव न पुरुष होता है और न स्त्री । ईंटोंके आवेकी आगके समान उसकी रति-अग्नि अंदर ही अंदर सुलगती रहती है और परिणाम अत्यन्त कलुषित होते हैं ।

विभंग अवधिज्ञान—अवधि ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्मोंके क्षयोपशमसे द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी मर्यादा युक्त मिथ्यादृष्टि जीवोंके ज्ञानको विभंग (अवधि) ज्ञान कहते हैं । विभंग या उल्टा इसलिए होता है कि इसके द्वारा जाना गया रूपी पदार्थोंका स्वरूप सच्चे देव, गुरु और आगमके विपरीत होता है । तीव्र कायक्लेशके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण तिर्यञ्च और मनुष्योंमें गुण-प्रत्यय होता है तथा देव-नारकियोंमें भव-प्रत्यय होता है ।

अन्तर्मुहूर्त—कालद्रव्य के छोटेसे छोटे अंशका नाम 'समय' है । जघन्य युक्ता-संख्यात समयकी १ आवलि, संख्यात आवलिका १ प्रतिविपलांश, ६० प्रति विपलांशका १ प्रति विपल, ६० प्रति विपलका १ विपल, ६० विपल (२४ सैकिण्ड) का १ पल या विनाड़ी, ६० पल (२४ मिनट) की १ घटिका या नाड़ी, २ घटिका (अथवा ४८ मिनट) की १ मुहूर्त । एक समय कम मुहूर्त का १ उकृष्ट अन्तर्मुहूर्त होता है ।

असाता—जिस कर्मके उदयसे जीवको आकुलता हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं, इसका दूसरा भेद असाता वेदनीय है । जिस कर्मके उदयसे दुःखकी वेदना हो असाता (वेदनीय) कहते हैं ।

सनत्कुमार—भवनवासी देवोंका पहिला प्रकार है ।

स्वयंभूरमण—मध्य या तिर्यञ्च लोकमें असंख्यात द्वीप तथा समुद्र हैं । प्रथम तथा द्वितीय द्वीप जम्बू और धातुकीको लवण तथा कालोदधि समुद्र घेरे हैं । इसके बाद जो द्वीपका नाम है वही समुद्रका भी है । दूसरे १६ द्वीपोंमें अन्तका (अर्थात् ३२वां द्वीप) स्वयंभूरमण है इसे घेरनेवाला अर्थात् ३२वां समुद्र स्वयंभूरमण है । इसके पानीका स्वाद जलके ही समान है । इसमें भी जलचर तथा विकलत्रय जीव पाये जाते हैं । किनारेके पास ५०० योजन तथा बीचमें १००० योजन लम्बे मत्स्य पाये जाते हैं । इसकी गहरायी १००० योजन के लगभग है ।

अपवर्त्य—भोगी जानेवाली आयुका घटना या उलटना । विष, वेदना, शस्त्र आदिके द्वारा मृत्युको अपवर्त्य कहते हैं ।

षष्ठम सर्ग

कुभोगभूमि—लवण तथा कालोदधि समुद्रमें ९६ छोटे छोटे (अन्तर) द्वीप हैं । यही कुभोगभूमियां हैं । क्योंकि इनमें लम्बकर्ण, अश्वमुख, श्वानमुख युगलिये पैदा होते हैं । इनकी आयु १ कल्प होती है । ये मरकर देवगतिमें जाते हैं । सम्यक्त्व हीन केवल चारित्र धारी कुपात्रोंको दान देनेसे जीवों का कुभोगभूमिमें जन्म होता है ।

कर्मभूमि—जिन क्षेत्रोंमें मोक्षके कारण धर्म (संयम) का पालन होता है तथा जहां असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प तथा विद्याके द्वारा आजीविका की जाती है उसे कर्मभूमि कहते हैं । ढाई द्वीपमें ५ भरत ५ ऐरावत तथा ५ विदेह मिलकर १५ कर्म भूमियां हैं । विदेहमें सदा चौथा काल रहता है और मोक्षमार्ग खुला रहता है । भरत ऐरावतमें परिवर्तन होता रहता है । और चौथे कालमें ही मोक्षमार्ग खुलता है, शेष कालोंमें बन्द रहता है ।

पूर्वकोटि—८४ लाख वर्षका १ पूर्वाङ्ग तथा ८४ लाख पूर्वाङ्गका १ पूर्व होता है । करोड़ पूर्वको पूर्वकोटि शब्दसे कहा है ।

अण्डज—प्राणियोंके जन्म तीन प्रकारसे होते हैं । दूसरे प्रकारका जन्म अर्थात् गर्भ जन्म जिनके होता है उनमें अण्डज जीव भी हैं। जो जीव गर्भसे अण्डे द्वारा उत्पन्न हो उन्हें अण्डज कहते हैं जैसे-कछुआ, मछली, पक्षी, आदि ।

कुल-योनिसंख्या—साधारणतया 'कुल' शब्द वंशवाची है किन्तु शास्त्रमें इसका प्रयोग जीवके प्रकारों या वर्गोंके लिए हुआ है। अर्थात् जितने प्रकारसे संसारी जीव जन्म लेते हैं उतने ही कुल होते हैं। उनका विशद निम्न प्रकार है—

पृथ्वी कायिक जीवोंके २२ लाख कोटि, जलकायिकोंके ७ला०को०, तेज कायिकोंके ३ ला०को०, वायुका० ७ला०को०, वनस्पति कायिकोंके २६ला०को०, द्वीन्द्रियोंके ७ला०को०, त्रीन्द्रियोंके ८ला०को०, चतुरिन्द्रियोंके ९ला०को०, जलचर पंचेन्द्रियोंके १२½ला०को०, पक्षियोंके १२ला०को०, चौपायोंके १७ला०को०, सरीसपोंके ९ला०को०, देवोंके २६ला०को०, नारकियोंके २५ला०को०, मनुष्योंके १२ला०को०।

योनि—जिस आधारमें जीव जन्म लेता है उसे योनि कहते हैं। इसके दो भेद हैं आकार योनि और गुण योनि। शंखावर्त, कूर्मोन्नत और वंशपत्रके भेदसे आकार योनि तीन प्रकारकी है। गुणयोनि भी सचित्त, शीत, संवृत, इनके उल्टे अचित्त उष्ण, विवृत तथा मिश्रित सचित्ता-चित्तादिके भेदसे नौ प्रकारकी है। इसके भेदोंकी संख्या-नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वी, अप, तेज तथा वायुकायिकोंमें प्रत्येककी ७ ला० (४२ ला०) वनस्पतिकाय १० ला०, द्वि- त्रि- तथा चतुरिन्द्रियोंमें प्रत्येककी २ ला० (६ लाख) नारकी, तिर्यञ्च तथा देवोंमें प्रत्येककी ४ लाख (१२ लाख) तथा मनुष्यकी १४ लाख योनियां होती हैं। इन सब योनियोंको मिलाने पर समस्त योनि संख्या ८४ लाख होती है।

विकलेन्द्रिय—एक इन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रिय तकके जीव। अर्थात् वे जीव जिनके पाँचों इन्द्रियाँ नहीं हैं।

सप्तम सर्ग

हैमवत-हैरण्यक—जम्बूद्वीपके दूसरे तथा छठे क्षेत्र। ये दोनों जघन्य भोग-भूमि हैं।

हरि-रम्यक—जम्बूद्वीपके तीसरे तथा पांचवें क्षेत्र। ये दोनों मध्यम भोग-भूमियां हैं।

ईति—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, चूहे, पक्षी तथा आक्रमण करनेवाले राजा या राष्ट्र आदि जनताके शत्रुओंको ईति कहते हैं।

कल्पवृक्ष—इच्छानुसार पदार्थ देनेवाले वृक्ष हैं। ये वनस्पतिकायिक न होकर पृथ्वीकायिक होते हैं। इनके निम्न दस प्रकार गिनाये हैं—१ मद्यांग—नाना प्रकारके पौष्टिक रस देते हैं। २ वादित्रांग—विविध प्रकारके बाजे इनसे प्राप्त होते हैं। ३ भूषणांग—मनोहर भूषण देते हैं। ४ मालांग—नाना प्रकारके पुष्प मालादि देते हैं। ५ दीपांग—सब प्रकारके प्रकाश देते हैं। ६ ज्योतिरंग—समस्त क्षेत्रको कान्तिसे आलोकित करते हैं। ७ गृहांग—सुविधा सम्पन्न भवन देते हैं। ८ भोजनांग—सर्व प्रकारके स्वादु भोजन देते हैं। ९ भाजनांग—अनेक प्रकारके पात्र प्रदान करते हैं। १० वस्त्रांग—मनोहर वस्त्र देते हैं।

वर प्रसंग—पुष्पके प्रसाधनों (आभूषणों) के लिए आया है। अर्थात् जो वृक्ष चम्पक, मालती, पलास, जाति, कमल, केतकी, आदिक पांच प्रकारकी मालाओंको दें उन्हें वरप्रसंग कल्पवृक्ष कहते हैं।

संयमी—पांचों इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला तथा षट् कायोंके जीवोंके रक्षकको कहते हैं।

निर्ग्रन्थ—मुनियोंका चौथा भेद। डंडेसे पानीमें खींची गयी लकीरके समान जिनके कर्मोंका उदय स्पष्ट नहीं है तथा जिन्हें एक मुहूर्त बाद ही केवल ज्ञान दर्शन प्राप्त होनेवाले हैं ऐसे क्षीणमोह साधुको निर्ग्रन्थ कहते हैं। इसका साधारण अर्थ ग्रन्थ (परिग्रह) हीन साधु है।

वर्द्धमानक—साधारणतया शराब (पुरुवे प्याले) को वर्द्धमानक कहते हैं। यहां यह शुभ लक्षणोंके प्रकरणमें आया है अतएव विशेष प्रकारके स्वस्तिकसे तात्पर्य है।

श्रीवत्स—तीर्थंकरों या विष्णुके वक्षस्थल पर होनेवाला रोमोंका पुष्पाकार चिन्ह । तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंमें भी यह पुष्पाकार उठा हुआ बना रहता है ।

पल्य—का शब्दार्थ गढ़ा या खत्ता है । इनका पारिभाषिक अर्थ वह परिमाण या संख्या है जो एक विशेष प्रकारके पल्य (खत्ते) द्वारा निश्चितकी जाती है यह (१) व्यवहार, (२) उद्धार तथा (३) अद्धाके भेदसे तीन प्रकारका है । वे निम्न प्रकार हैं—एक प्रमाण योजन (२००० कोश) व्यास तथा गहराई युक्त गढ़ा खोद कर उसमें उत्तम भोग-भूमिया मेढेके बालाग्रोंको भर दे । इस गढ़ेमें जितन रेम आंय उनमेंसे प्रत्येकको सौ, सौ वर्षमें निकाले । इस प्रकार जितने समयमें वह गढ़ा खाली हो जाय उसे 'व्यवहार पल्योपमकाल' कहेंगे । इसके द्वारा केवल संख्या बतायी जाती है । व्यवहार पल्यके प्रत्येक रोमके उतने हिस्से करो जितने असंख्यात कोटि वर्षके समय होते हैं ; इन रोम खण्डोंसे भरा गढ़ा उद्धार पल्य कहलायगा । तथा प्रति समय एक एक रोम खंड निकालने पर जितने समयमें यह गढ़ा खाली होगा उसे 'उद्धार पल्योपमकाल' कहेंगे । इसके द्वारा द्वीप तथा समुद्र गिने जाते हैं । उद्धार पल्यके प्रत्येक रोम खंडके उतने टुकड़े करो जितने सौ वर्षमें समय होते हैं । इनसे जो गढ़ा भरा जायगा उसे अद्धा पल्य कहेंगे । तथा प्रति समय एक एक रोमच्छेद निकालने पर जितने समयमें वह गढ़ा खाली होगा उसे 'अद्धा पल्योपमकाल' कहेंगे । इसके द्वारा कर्मोंकी स्थिति आयु आदि गिनायी जाती है ।

देवलोक—जहां पर भवनवासी, व्यन्तर, ज्यौतिषी तथा कल्पवासी देवोंका निवास है उस क्षेत्रको देवलोक कहते हैं । वह लोक रत्नप्रभा पृथ्वीके पंक बहुल भागसे प्रारम्भ होकर सर्वार्थसिद्धि या सिद्धिशिलाके नीचे तक फैला है । साधारणतया ऊर्ध्वलोक (सुमेरुकी शिखाके एक बाल ऊंचाईसे लेकर सिद्धशिलाके नीचे तक विस्तृत) को देवलोक कहते हैं ।

नवम सर्ग

वैमानिक—जिनमें रहने पर अपनेको जीव विशेष भाग्यशाली माने उन्हें विमान कहते हैं । विमानमें रहनेवाले देव वैमानिक कहलाते हैं । वैमानिक देव दो प्रकारके हैं । १ कल्पोपन्न तथा २ कल्पातीत । सौधर्म आदि सोलह स्वर्गोंमें इन्द्र, सामानिक आदि दस भेदोंकी कल्पना है अतएव वे कल्प और वहां उत्पन्न देव कल्पोपन्न कहलाते हैं । इसके ऊपर ग्रैवेयकादिमें छोटे बड़ेके ज्ञापक इन्द्रादि भेद नहीं होते अतएव इन्हें कल्पातीत कहते हैं । सौधर्मादि—सोलह स्वर्ग कल्प हैं तथा नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश तथा पञ्च पंचोत्तर कल्पातीत हैं ।

वंशा—दूसरे नरककी भूमिका नाम है । इसकी मोटाई ३२००० योजन है । इसमें २१ पटल हैं । नारकियोंके निवास के लिए इसमें २५ लाख बिल हैं । वहां उत्पन्न होनेवाले नारकियोंकी जघन्य आयु १ सागर होती है और उत्कृष्ट ३ सागर होती है ।

कल्प—उन स्वर्गोंको कहते हैं जिनके देवोंमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, आदि भेदोंकी कल्पना है । सौधर्मसे लेकर अच्युत पर्यन्त सोलह कल्प हैं । इसके ऊपरके देवोंमें उक्त भेदों के द्वारा छोटे बड़ेकी कल्पना नहीं है अतएव वे स्वर्ग कल्पातीत कहलाते हैं ।

इन्द्रक—स्वर्ग पटलोंके विमानोंकी व्यवस्थामें जो विमान मध्यमें होता है उसे 'इन्द्रक' कहते हैं । सोलह स्वर्गोंमें ऐसे विमानों की संख्या ५२ है तथा नौ ग्रैवेयकके ९, नौ अनुदिशोंका १ और पांच पञ्चोत्तरोंका १ मिलाने पर स्वर्गोंके समस्त इन्द्रक विमानोंकी संख्या ६३ होती है ।

श्रेणीबद्ध—दिशाओं और विदिशाओंमें पंक्ति रूपसे फैले विमानों या नरकके बिलोंको श्रेणीबद्ध कहते हैं ।

प्रकीर्णक—श्रेणीबद्ध विमानों अथवा बिलोंके अन्तरालमें फूलोंकी तरह छितराये हुए विमानादिकोंको प्रकीर्णक कहते हैं ।

अकृत्रिम—जो मनुष्यके द्वारा न बनाया गया हो अर्थात् प्राकृतिक । पुराणोंमें वर्णन है कि आठ प्रकारके व्यन्तरों तथा पांच प्रकारके ज्योतिषी देवोंके स्थानोंमें अकृत्रिम जिनबिम्ब तथा जिन मन्दिर हैं । ऐसी निरवद्य मूर्तियोंकी संख्या ९२५५३२७९४८ है ।

उपमान—तुलनाके वर्णनमें पदार्थ, सदृशपदार्थ, सदृशधर्म तथा सदृशता वाचक शब्द ये चार अंग होते हैं। इनमें सदृशपदार्थको उपमान कहते हैं। द्रव्यमानके दो भेद हैं संख्या मान तथा उपमा अथवा उपमान। पल्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर तथा घनलोकके भेदसे उपमान आठ प्रकारका है।'

गुणव्रत—अहिंसा आदि पांच व्रतोंको गुणित (बढ़ाने) करनेवाले व्रतोंको गुणव्रत कहते हैं। दिग, देश तथा अनर्थदण्ड-विरतिके भेदसे ये तीन प्रकारके हैं।

शिक्षाव्रत—महाव्रतोंकी शिक्षा देनेवाले व्रतोंको शिक्षाव्रत कहते हैं सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि संविभाग तथा भोगोपभोग परिमाण के भेदसे वे चार प्रकारके हैं।

अष्टदोष—सम्यक् दर्शनके शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़ता, अपकर्षण, चांचल्य, ईर्ष्या तथा निन्दा दोषोंको अष्टदोष कहते हैं।

तप—आत्माके शुद्ध स्वरूप को लाने (तपाने) के लिए अथवा कर्मोंके क्षयके लिए किये गये प्रशस्त प्रयत्नको तप कहते हैं। बाह्य तथा अन्तरंगके भेदसे यह दो प्रकारका है। इनमें भी प्रत्येकके छह छह भेद हैं।

समिति—सावधानी पूर्वक उठने-बैठने बोलने आदि आचरण नियमोंको समिति कहते हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप तथा उत्सर्गके भेदसे यह पांच प्रकारकी है।

गुप्ति—आत्म नियंत्रणको गुप्ति कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति।

विक्रिया—जिसके द्वारा शरीरको विविध रूपोंमें बदला जा सके उस सामर्थ्यको विक्रिया कहते हैं। यह दो प्रकारसे होती है अपने मूल शरीरको ही विविध रूपसे परिणत करना अर्थात् अपृथक् विक्रिया और मूल शरीरको तदवस्थ रखते हुए विविध रूप धारण करना अर्थात् पृथक् विक्रिया।

सागर—उपमा मानके दूसरे भेदका नाम सागर है। क्योंकि समुद्रकी उपमा देकर इसमें प्रमाण बताया जाता है। सागर प्रमाणसे चौगुने लवणसागर धन एक षष्ठ (लवण सागर ४+१/६) इष्ट है। पल्यके समान सागर भी व्यवहार, उद्धार तथा अद्धाके भेदसे तीन प्रकारका है। व्यवहार पल्यके प्रमाणमें दश कोड़ाकोडि (करोड़ गुणित करोड़) का गुणा करने पर व्यवहारसागरका प्रमाण आयगा। इसी प्रकार उद्धार सागर तथा अद्धा सागरको समझना चाहिये।

अतीन्द्रिय—संसारमें इन्द्रियोंके द्वारा ही अनुभव होता है, किन्तु इन्द्रियां कर्मजन्य हैं। फलतः जब कर्मोंका नाश करके मोक्षको यह जीव प्राप्त करता है तो वह सहज अर्थात् निरपेक्ष (अतीन्द्रिय) ज्ञानादिका सागर हो जाता है।

दशम सर्ग

व्यतिरेक—अभाव रूप व्याप्तिको व्यतिरेक कहते हैं। अर्थात् जिसके न होने पर जो न हो जैसे 'धर्मके न होने पर शान्ति न होना'।

लेश्या—आत्माको कर्मोंसे लिप्त करने वाली मन, वचन कायकी प्रवृत्तियों तथा तदनुसारी शरीरके रंगको लेश्या कहते हैं। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म तथा शुक्लके भेदसे यह छह प्रकारकी है। पूर्व तीन अशुभ हैं और उत्तर तीन शुभ मानी जाती हैं।

पाषण्ड—वर्तमानमें इसका प्रयोग बाह्य आचरणके-दिखावेके लिए होता है, अर्थात् दिखावटी या झूठा धर्माचरण इसका तात्पर्य है। किन्तु प्राचीन आर्ष ग्रन्थों तथा अशोकके शिलालेखोंमें भी इसका प्रयोग है। प्रकरण तथा परिस्थितियोंका ख्याल करने पर ऐसा लगता है कि उस समय 'पाखण्ड' शब्दसे साधु, मत या साधना-मार्ग समझा जाता था।

द्वादशांग—श्रुतज्ञान दो प्रकारका है—१ अक्षरात्मक २ अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान भी (१) अंग प्रविष्ट तथा (२) अंगबाह्यके भेदसे दो प्रकार का है। अङ्ग प्रविष्ट श्रुतज्ञान बारह भेदोंमें विभाजित है—१ आचारांग–मुनिधर्मके मूलगुणों तथा उत्तर गुणोंका वर्णन। २ सूत्रकृतांग–आगमके अध्ययन, प्रज्ञापन कल्पाकल्प, व्यवहारधर्म तथा स्व–पर समयका विवेचन। ३ स्थानाङ्ग–नय दृष्टिसे द्रव्योंके समस्त स्थान विकल्पोंका वर्णन। ४ समवायाङ्ग–द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षासे द्रव्योंकी समतादिका विवेचन। ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति—अस्ति–नास्ति, एकानेक, नित्या–नित्य साठ हजार प्रश्नोंकी दृष्टिसे जीव विवेचन। ६ ज्ञातृ धर्म कथांग–धर्मके सिद्धान्तोंको समझनेमें सहायक कथाओंका संचय। ७ उपासकाध्ययन–श्रावकाचारका विवेचन। ८ अन्तः कृद्दशांग–प्रत्येक तीर्थकालके उपसर्ग जेता दश मुनियोंका वर्णन। ९ अनुत्तरौपापादिक दशांग–प्रत्येक तीर्थ कालमें घोर तप करके पंचोत्तरोंमें जानेवाले दश मुनियोंका वर्णन। १० प्रश्न व्याकरण–जीवन मरण, जय पराजयादिकी जिज्ञासा रूप प्रश्नोंका उत्तर दाता निमित्त शास्त्र। ११ विपाक सूत्र–कर्मोंके फलादिका विवेचन। १२ दृष्टिवाद–परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिकाका विवेचन।

चौदह पूर्व—बारहवें अंगका चौथा भेद पूर्वगत है, यह चौदह प्रकारका है—१ उत्पाद–द्रव्योंके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यादिका विशद विवेचन। २ आग्रायणी–अस्तिकाय, द्रव्य, तत्व, पदार्थ तथा नयोंका निरूपण। ३ वीर्यानुवाद–द्रव्यादिकी सामर्थ्यका वर्णन। ४ अस्तिनास्ति प्रवाद–प्रत्येक द्रव्यका स्याद्वादमय चित्रण। ५ ज्ञान प्रवाद–पाँचों ज्ञानों तथा तीनों कुज्ञानोंके स्वरूप, भेद, विषय तथा फलादिका निरूपण। ६ सत्यप्रवाद–अक्षर, भाषा शास्त्र। ७ आत्मप्रवाद–जीव तत्वका सांगोपांग सर्व दृष्टिसे निरूपण। ८ कर्मप्रवाद–बन्ध, उदय, सत्ता, गुणस्थानादिकी अपेक्षा से कर्मोंका विवेचन। ९ प्रत्याख्यान–त्याग शास्त्र। १० विद्यानुवाद–सात सौ अल्प तथा पांच सौ महा विद्याओं की सिद्धि अनुष्ठानादिका विवेचन। ११ कल्याणवाद–त्रेसठ शलाका पुरुषोंके जन्म, जीवन, तपस्या तथा चन्द्र सूर्यादिके शुभाशुभका विवेचन। १२ प्राणवाद–आयुर्वेद शास्त्र। १३ क्रिया विशाल–ललित कलाओं, स्त्री लक्षण, गर्भाधानादि सम्यक्दर्शनादि तथा वन्दनादि क्रियाओंका निरूपण। १४ त्रिलोक बिन्दुसार–तीनों लोकोंका स्वरूप, गणित तथा मोक्षका विवेचन।

ध्यान—एक विषय पर चित्तको लगा देना ध्यान है। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्लके भेदसे वह चार प्रकारका है। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, रोग तथा किसी आकांक्षाको लेकर दुखमय होना आर्त–ध्यान है। हिंसा, झूठ, चोरी तथा परिग्रहकी कल्पनामें मस्त रहना रौद्र–ध्यान है। आगम, लोक कल्याण, कर्म विपाक तथा लोक संस्थानके विचारमें तन्मय हो जाना धर्म–ध्यान है। उत्तम संहनन धारीका शुद्ध आत्म स्वभावमें लीन हो जाना शुक्ल–ध्यान है। पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति तथा व्युपरत क्रिया–निवर्ति ये चार अवस्थाएं शुक्ल ध्यान की होती है।

अनशन—बाह्य तपका प्रथम भेद है। संयमकी प्राप्ति, काम विजय, कर्म क्षय तथा ध्यान सिद्धिके लिए फलाशा छोड़कर किया गया उपवास ही अनशन है।

अवमौदर्य—संयमकी साधना, निद्रा निवारण, स्वाध्याय ध्यानादिकी प्रगतिके लिए भूखसे कम खाना अवमौदर्य नामका दूसरा बाह्य तप है। साधारणतया मुनिको ३२ ग्रास भोजन करना चाहिये फलतः अवमौदर्यके पालकको ३२ ग्राससे भी कम खाना चाहिये।

वृत्तिपरिसंख्यान—चर्याको जाते समय विशेष प्रतिज्ञाएँ करना तथा उनके पूर्ण होने पर ही आहार लेना अन्यथा निराहार रह जाना ही वृत्ति परिसंख्यान नामका तीसरा बाह्य तप है।

रसपरित्याग—इन्द्रियोंकी दुर्दमता मिटानेके लिए, निद्रा विजय एवं स्वाध्यायमें स्थिरताके लिए घी, आदि गरिष्ट रसोंके त्यागको रसपरित्याग कहते हैं।

विविक्त शय्यासन—ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय तथा ध्यानकी सिद्धिके लिए ऐसे एकान्त स्थान आदिमें सोना बैठना जिससे किसी प्राणीको

कष्ट न हो उसे 'विविक्त शय्यासन' कहते हैं ।

कायक्लेश—शरीर तथा दुखोंसे मुक्ति, सुखोंमें उदासीनता, शास्त्र ज्ञान, प्रभावना, आदिके लिए धूप, वृक्षमूल आदिमें बैठना, खुलेमें सोना विविध आसन लगा कर ध्यान करना कायक्लेश है ।

प्रायश्चित—आभ्यन्तर तपका प्रथम प्रकार । प्रमाद तथा दोषोंके परिमार्जनके लिए कृत शुभाचरणको प्रायश्चित्त कहते हैं ।

विनय—द्वितीय आभ्यन्तर तप । पूज्योंमें आदर, सादर ज्ञानाभ्यास निशंक, सम्यक्त्व पालन तथा आल्हादके साथ चरित्र पालनको विनय कहते हैं ।

वैयावृत्य—तृतीय अंतरङ्ग तप । आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु तथा मनोज्ञ साधुओंकी शरीर अथवा अन्य द्रव्यसे सेवा करना वैयावृत्य है ।

स्वाध्याय—चौथा अंतरंग तप । आलस्य त्यागकर ज्ञान की प्राप्तिके लिए पढ़ना, पूंछना, चिन्तवन, शब्दार्थ धोकना तथा धर्मोपदेश करना स्वाध्याय है ।

व्युत्सर्ग—पञ्चम अन्तरङ्ग तप । आत्मा तथा आत्मीय बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहका त्याग व्युत्सर्ग है ।

ध्यान—षष्ठ अंतरङ्ग तप । चित्तकी चञ्चलताके त्यागको ध्यान कहते हैं ।

शल्य—शरीरमें चुभी कील या फांसकी तरह जो चुभे उसे शल्य कहते हैं । माया, मिथ्यात्व तथा निदानके भेदसे तीन प्रकार की है ।

अष्टकर्म—राग, द्वेष, आदि परिणामोंके कारण जीवसे बंधने वाले पुद्गलस्कंधोंको कर्म कहते हैं । यह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, गोत्र, नाम तथा अन्तरायके भेदसे आठ प्रकारका है । इन आठोंकी ही अष्टकर्म संज्ञा है ।

समुद्घात—आवास शरीरको बिना छोड़े ही आत्माके प्रदेशोंका बाहर फैल जाना तथा फिर उसीमें समा जाना समुद्घात है । वेदना, कषाय, विक्रिया, मरण, तेज तथा कैवल्य के कारण ऐसा होता है ।

प्रत्येक बुद्ध—अपनी योग्यताके कारण दूसरोंके उपदेश आदिके बिना ही जो दीक्षा लें तथा कैवल्य प्राप्ति करें उन्हें प्रत्येक बुद्ध कहते हैं ।

बोधितबुद्ध—जो दूसरोंके उपदेशादि निमित्तसे दीक्षित हों तथा कैवल्य प्राप्ति करें उनकी संज्ञा बोधित-बुद्ध है ।

अंतरंग परिग्रह—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद तथा नपुंसकवेद यह १४प्रकारका अंतरङ्ग (आध्यात्मिक) परिग्रह है ।

बहिरंग परिग्रह—क्षेत्र, गृह, सुवर्ण, रूप्य, पशु, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र तथा पात्र ये दश प्रकारका बाह्य परिग्रह है ।

पौद्गलिक—गुणोंकी हीनता और अधिकताके कारण जो मिलें और अलग हों उन्हें पुद्गल, जड़ या अचेतनके कार्यादिको पौद्गलिक कहते हैं ।

उत्सेध—शरीरकी ऊंचाई, गहराई, बांध आदि का नाम है ।

रूपी—कृष्ण, नील, पीत, शुक्ल तथा रक्त ये पाँच रूप हैं । ये या इनमेंसे कोई जिसमें पाया जाय उसे रूपी पदार्थ कहते हैं । जिन शासनमें जिसमें रूप होगा उसमें स्पर्श, रस तथा गन्ध अवश्य होंगे । अर्थात् वह पौद्गलिक ही होगा ।

अवगाहन—आयुकर्मके क्षयसे प्रगट होने वाला सिद्धोंका वह गुण जिसके कारण वे दूसरे सिद्धोंको भी अपनेमें स्थान दे सकते हैं।

अगुरुलघुत्व—गोत्र कर्मके विनाशसे उदित होने वाला सिद्ध परमेष्ठीका गुण। अर्थात् सिद्धोंमें छोटे-बड़े, पर-अपर आदि कल्पना नहीं रह जाती है।

अनुमान—परोक्ष प्रमाणका चतुर्थ भेद। साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं।

तर्क—परोक्ष प्रमाणका तृतीयभेद। अविनाभाव सम्बन्ध या व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं यथा—जहां भ्रष्टाचार है वहां कुशासन है।

गृहस्थाचार—चरित्र मोहनीयके कारण जिसकी घरमें रहनेकी भावना समाप्त नहीं हुई उसे गृहस्थ या गृही कहते हैं। न्यायसे धन कमाना, गुणियों तथा गुरुओंकी सेवा करना हित-मित भाषी होना धर्म-अर्थ-काम का समन्वय करना, अच्छे स्थान मकानमें सुलक्षणा पत्नीके साथ रहना, लज्जाशील होना, अहार विहार ठीक करना। सज्जनोंका सहवास रखना, विचारक, कृतज्ञ इन्द्रिय जेता होना। धर्म रसिक, दयालु और पाप भीरु होना साधारण गृहस्थाचार है। सात व्यसनका परित्याग और अष्टमूल गुणका स्थूल पालन करने पर गृही पाक्षिक श्रावक कहलाता है। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका पालन ही गृहस्था (श्रावका) चार है। इसके पालकको नैष्ठिक कहते हैं। ऐसा श्रावक मरण समय आने पर जब समाधि मरण करता है तो वह साधक श्रावक कहलाता है।

एकादशम सर्ग

मिथ्यात्व—विपरीत दृष्टिको मिथ्यात्व कहते हैं। इसके कारण जीव अदेव, अतत्त्व, अधर्म आदिको देव, तत्त्व तथा धर्म मानता है।

सम्यक्त्व—तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं।

मूढ—कोशके अनुसार अज्ञ, मूर्ख आदिको मूढ कहते हैं, किन्तु जैन शासनमें इसका पारिभाषिक अर्थ भी है—जो व्यक्ति सागर स्नान, पत्थरका ढेर करना, पर्वतसे गिरना तथा आगीमें कूंदने आदिको धर्म समझता है वह 'लोकमूढ़' है। किसी वरकी इच्छासे रागी द्वेषी देवताओंका पूजक देवमूढ़ है। आरम्भी, परिग्रही, संसारी मूर्ख साधुओं का पुजारी गुरुमूढ़ है।

वैनयिक—समस्त देवों तथा धर्मोंमें श्रद्धालुता रखनेको वैनयिक मिथ्यात्व कहते हैं।

व्युद्ग्राहित—परिग्रही देवोंको निर्ग्रन्थ कहना, केवलीको कवलाहारी बताना आदि भ्रान्त मान्यताएं व्युद्ग्राहित मिथ्यात्व है।

पुद्गल परिवर्तन—द्रव्य परिवर्तनका ही दूसरा नाम है। द्रव्यपरिवर्तना नोकर्म-द्रव्य तथा कर्म द्रव्य परिवर्तनके भेदसे दो प्रकार की है। किसी जीवने औदारिकादि तीन शरीर, आहारादि छह पर्याप्तिके योग्य स्निग्ध रूक्ष, वर्ण गन्धादि युक्त किन्हीं पुद्गलोंको तीव्र-मन्द-मध्यम भावसे जैसे ग्रहण किया, उन्हें दूसरे आदि क्षणोंमें वैसेका वैसा खिरा दिया। इसके बाद अनन्तों बार अग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण किया और छोड़ा, मिश्रों (ग्रहीताग्रहीत) को अनन्तों बार ग्रहण किया छोड़ा और इस बीचमें ग्रहीतोंको भी अनन्तों बार ग्रहण किया छोड़ा, इस प्रक्रममें जितने समय बाद वही जीव उन्हीं पूर्व ग्रहीत पुद्गल परमाणुओंको पुनः उसी तरह ग्रहण करता है, इस कालको नोकर्म परिवर्तन कहते हैं। कोई जीव आठों कर्मोंके पुद्गलोंको ग्रहण करता है और एक समय अधिक आवलि विता कर दूसरे आदि क्षणोंमें उन्हें खिरा देता है, नोकर्म परिवर्तनमें दत्त प्रक्रियाको पूर्ण करके फिर जितने समय बाद वही पुद्गल उसी जीवके उसी प्रकार कर्म बनें, इस कालको द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। इन दोनों परिवर्तनोंके समयके जोड़को पुद्गल परिवर्तन कहते हैं।

वेदक-सम्यक्दृष्टि—वेदक अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्दर्शनका धारक जीव वेदक सम्यक्दृष्टि कहलाता है। अनन्तानुबंधी क्रोध आदि चार कषायोंके उपशम, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व के क्षय अथवा उपशम तथा सम्यक्त्व मोहनीयके उदय होनेसे जो तत्वार्थका श्रद्धान

होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं । यतः इस अवस्थामें सम्यक्त्व प्रकृतिका वेदन होता है अतएव इसे वेदक सम्यक्त्व भी कहते हैं । इसमें चल, मलिन और अगाढ़ दोष होते हैं ।

महाव्रत—हिंसा, झूठ, चोरी कुशील तथा परिग्रहके सर्वथा त्यागको पंच महाव्रत कहते हैं । इन्हें निर्ग्रन्थ साधु पाल सकते हैं ।

समिति—सावधान आचरणको समिति कहते हैं । इसके १ ईर्या-दिनके प्रकाशमें चार हाथ आगे देख कर प्राशुक स्थानपर चलना, २ भाषा-हित, मित एवं प्रिय वचन बोलना, ३ एषणा-शुद्ध भोजन पान, ४ आदान निक्षेप-देखकर सावधानीसे वस्तु उठाना तथा रखना तथा ५ उत्सर्ग-जीव रहित स्थान पर मलमूत्र छोड़ना ये पाँच भेद हैं ।

परीषह—रत्नत्रयके मार्गकी साधनामें उपस्थित तथा सहे गये कष्टको परीषह कहते हैं । इसके २२ भेद है—१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्णा, ५ दंशमशक (डांस मच्छर), ६ नग्नता, ७ अरति, ८ स्त्री अथवा पुरुष, ९ चर्या, १० निषद्या (आसन), ११ शय्या, १२, आक्रोश (गाली, निन्दादि), १३ वध, १४ याचना १५ अलाभ, १६ रोग, १७ तृणास्पर्श, १८ मल (शरीरका संस्कार न करना), १९ सत्कार पुरस्कार (अभाव) २० प्रज्ञा (ज्ञानमद), २१ अज्ञान (जन्य तिरस्कार खेद) तथा २२ अदर्शन (सम्यक्दर्शन न होना) ।

अणुव्रत—हिंसा, आदि पाँच पापोंका आंशिक अर्थात् स्थूल त्याग अणुव्रत कहलाता है । इनका श्रावकको अवश्य पालन करना चाहिये ।

शम—किसी भाव या पदार्थको शान्त कर देना शम है ।

दम—किसी भाव अथवा क्रियाको बलपूर्वक रोक देना दम है ।

त्याग—किसी भाव या क्रियाको संकल्प पूर्वक छोड़ देना त्याग है ।

उपस्थान—किसी क्रिया या आचरणके दूषित अथवा खंडित अर्थात् छूट जाने पर उसके पुनः प्रारम्भको उपस्थान कहते है ।

अन्वय—वंशको अन्वय कहते हैं । आज अज्ञान वश यही अन्वय जाति हो गये हैं जैसा कि पंडिताचार्य आशाधरजीकी प्रशस्तिसे स्पष्ट है, व्याघ्रेर वालान्वया' 'व्याघ्रेरवाल वर वंश' आदि पद घोषित करते हैं । किन्तु संकीर्णता वश वघेरवाल वंश ही आज जाति बन गये हैं ।

छिद्र—रन्ध्र सूराख तथा दूषण अथवा दुर्बलताको कहते हैं ।

अनित्य—बारह भावनाओंमें से प्रथम भावना । संसारके प्रत्येक पदार्थकी अनित्यताका सोचना अनित्य भावना ।

एकत्व—यह प्राणी अकेला ही आता है, अपने आप ही अपने सुख-दुखको जुटाता है कोई दूसरा संग साथी नहीं, इत्यादि विचार ही एकत्व भावना है ।

वस्तु स्वाभाव—प्रत्येक वस्तुके असाधारण लक्षणको स्वभाव कहते हैं । जैसे जीवका चेतना, अग्निका दाहकत्व आदि । जिन शासनमें वस्तु स्वभाव ही सच्चा धर्म है ।

वात्सल्य—प्राणिमात्रके प्रति बिना किसी बनावटके सद्भाव रखना तथा यथायोग्य व्यवहार करना वात्सल्य है । साधर्मियोंके प्रति इसमें विशिष्टता रहती है ।

आप्त—भूख, प्यास आदि अठारह दोषोंका विजेता, जन्म, जरा आतङ्क, भय, ताप, राग द्वेष तथा मोहसे हीन महापुरुष ही आप्त होता है क्योंकि वह संसारकी वञ्चनासे बचाता है ।

सम्यक्त्वके आठ दोष—यद्यपि सम्यक् दर्शनमें ५० दोष आ सकते हैं किन्तु निम्न आठ प्रधान हैं क्योंकि इनके विनाश होने पर ही दर्शनके आठों अंग प्रकट होते हैं। वे दोष निम्न प्रकार हैं—१ शंका, २ आकांक्षा, ३ विचिकित्सा (शारीरिक विकारके कारण घृणा), ४. मूढ़दृष्टि (कुमार्गमें रुचि आदि), ५ अनुपगूहन (निन्दा करना, दोषोंको प्रकट करना), ६ अस्थितीकरण (धर्मसे गिरा देना), ७ अवात्सल्य (साधर्मीसे इर्ष्या द्वेष) तथा ८ अप्रभावना (धर्मको कूपमण्डूक करना)। इनमें आठ मद, षडायतन, सप्तव्यसन, तीन शल्य, सात भय, छह अभक्ष्य तथा पांच अतिचार जोड़ देनेसे सम्यकदर्शनके ५० दोष हो जाते हैं।

अष्टादश श्रेणी—जिन शासनमें प्रत्येक राजाको अठारह श्रेणियों का स्वामी कहा है। वे निम्न प्रकार हैं—१ सेनापति, २ गणकपति (ज्योतिषी), ३ वणिकपति, ४ दण्डपति, ५ मन्त्री, ६ महत्तर (कुलवृद्ध), ७ तलवर (नगर रक्षकादि), ८-११ चारों वर्ण, १२-१५ हस्ति, अश्व, रथ, पदाति मय चतुर्विध सेना, १६ पुरोहित, १७ अमात्य तथा, १८ महामात्य।

निश्चय नय—वस्तुके केवल शुद्ध स्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको निश्चय नय कहते हैं। यह ज्ञान पदार्थके वास्तविक निजी स्वभावको जानता है इसीलिए यह सत्य हो। जैसे जीवको अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि मय तथा कर्म मल रहित जानना।

पञ्चदशम सर्ग

अष्ट द्रव्य—जिनेन्द्र पूजनकी निम्न आठ प्रकारकी सामग्री १-जल, २-चन्दन, ३-अक्षत, ४-पुष्प, ५-नैवेद्य, ६-दीप, ७-धूप तथा ८-फल।

द्रव्य पूजा—आठ प्रकारकी सामग्रीसे भगवान् वीतरागकी पूजा करना। इसमें संभव है कि पूजक जलादि चढ़ते समय जन्म जरा मृत्यु, संसारताप, क्षय, कामदेव, क्षुधा, अज्ञान, अष्टकर्म तथा संसारके विनाशको कायेन वाचा चाहता रहे पर मनको न सम्हाल सके। प्रधानतया यह सामग्रीसे पूजा होती है।

भाव पूजा—आठ विध सामग्रीके बिना ही जब पूजक उक्त आठों उत्पातोंके विनाशकी मनसा कामना करता है तथा वचनसे पाठ भी पढ़ता जाता है। फलतः बिना सामग्रीकी पूजाको भावपूजा कहते हैं।

चार आहार—पेट खाली होने, भोजन देखने अथवा भोज्यकी स्मृतिसे उत्पन्न होनेवाली आहार संज्ञा मोटे तौरसे चार प्रकारके आहारसे शान्त होती है। १ खाद्य-वे वस्तुएं जो दांतोंसे चबायी जांय, लेह्य-व वस्तुएं जिन्हें केवल जिह्वासे चाटा जाय, ३-पेय वे तरल पदार्थ जिन्हें पिया जाय तथा ४-स्वाद्य वे पदार्थ जिन्हें केवल स्वाद बनानेके लिए थोड़ी मात्रामें खाया जाता है जैसे इलायची, किमाम आदि।

निर्यापकाचार्य—क्षपक मुनि या साधक गृहस्थकी वैयावृत्यमें लीन साधुओंको निर्यापक कहते हैं। धर्म प्रेम, दृढ़ता, संसारभय, धैर्य, इंगितज्ञान, त्यागमार्गका ज्ञान, निश्चलता तथा हेयोपादेय विवेकके साथ स्व-पर वा समीचीन ज्ञान इनकी विशेषताएं हैं। इस प्रकारके ४८ उत्कृष्ट मुनि, मुनिके समाधि मरणके समय होने चाहिए। इनको नियत करने वाले मुनिवरकी संज्ञा निर्यापकाचार्य होती है।

नन्दीश्वर द्वीप—आठवां महाद्वीप है। यतः इसके स्वामी नन्दि तथा नन्दिप्रभ व्यन्तरदेव हैं अतः इसे नन्दीश्वर द्वीप कहते हैं। इसका व्यास १६३८४००००० योजन है। इसको चारों दिशाओं में ८४००० योजन ऊँचे काले पर्वत हैं जिन्हें अञ्जनगिरि नामसे पुकारते हैं। इन पर्वतोंकी चारों दिशाओंमें १ लाख योजन लम्बी-चौड़ी बावड़ी (झीलें) हैं। प्रत्येक बावड़ीके बीचमें १०००० यो० ऊँचे अतिश्वेत पर्वत हैं जिनकी दधिमुख संज्ञा पड़ गयी हैं। प्रत्येक झीलकी बाहरी बाजूमें एक-एक हजार योजन ऊँचे लाल रंगके दो दो पर्वत हैं, इनकी पौराणिक संज्ञा रतिकर है इन ५२ पर्वतों के ऊपर ५२ मन्दिर हैं जहाँ पर सौधर्मादि इन्द्र देवों सहित जाकर कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़के अन्तिम आठ दिनोंमें पूजा करते हैं।

अष्टशुद्धि—१ भाव, २ काय, ३ विनय, ४ ईर्यापथ, ५ भिक्षा, ६ प्रतिष्ठापना, ७ शयनासन तथा ८ वाक्य, इस आठोंकी शुद्धि आदि अष्टगुण कहते हैं ।

षोडषम सर्ग

षड्बल—बल शब्दके गन्ध, रूप, रस, स्थैर्य, स्थौल्य तथा सैन्यादि अर्थ होने पर हैं भी शारीरिक शक्ति, और सेना इन दोनों अर्थोंमें इसका अधिक प्रयोग हुआ है । जैसाकि कालिदासने लिखा है कि १-मौल सेना (स्थायी सेना), २-भृत्या (नयी सेना), ३- मित्रोंकी सेना, ४-श्रेणीके प्रधानोंकी सेना ५-शत्रुओंसे छीनी सेना तथा ६-आटविकों (जंगलियों) की सेना । छह प्रकारकी सेना लेकर रघुने दिग्विजयके लिए प्रस्थान किया था । इसके सिवा १-हस्ति, २ अश्व, ३ रथ, ४ पदाति, ५ नौ तथा ६ विमानोंके भेदों में भी इसका प्रयोग हुआ है ।

सामादि—दण्ड व्यवस्था मोटे तौरसे चार प्रकारकी है—१ साम, २ दाम, ३ दंड तथा ४ भेद ।

षनासनादि—राजनीतिको षाडगुण्य नीति कहा है । अर्थात् इसमें १-सन्धि, २-विग्रह, ३-यान, ४-आसन, ५-द्वैध तथा ६-आश्रय नीतिका प्रयोग होता है । विजेय या विजिगीषुके साथ मैत्रीका नाम संधि है । सदल बल विरोधको विग्रह कहते हैं । शत्रुके विरुद्ध प्रस्थानकी संज्ञा यान है । कुछ समय तक चुप बैठनेको आसन कहते हैं । दुर्बल प्रबलके बीचमें चलने वाले वाचनिक समर्पणको द्वैधी भाव कहते हैं। घेरा डाल देनेका नाम आश्रय है ।

विद्याधर—साधित, कुल तथा जाति इन तीनों प्रकारकी विद्याओंके धारकोंको विद्याधर कहते हैं । जो विद्याएं अनुष्ठान करके सिद्धकी जाती हैं उनको साधित श्रेणीमें रखते हैं । जो पिता या पिताके वंश से मिलें उनको कुल विद्या कहते हैं । माता या माताके वंशसे मिलने वाली विद्याओंको जाति विद्याओंमें गिनते हैं । ये विद्याधर विजयार्ध पर्वतके दक्षिणी तथा उत्तरी ढालों (श्रेणियों) पर रहते हैं । सदैव इज्या, दत्ति, वार्ता, स्वाध्याय, संयम तथा तप इन छह कर्मोंमें लवलीन रहते हैं ।

शीलव्रत—शील शब्दका अर्थ स्वभाव तथा ब्रह्म है । ब्रह्मचर्यका पर्यायवाची होने पर भी पतिव्रतके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । पुरुषके लिए स्वदार संतोष और स्त्रीके शील व्रतकी व्यवस्था है । चार शिक्षाव्रत और तीन गुणव्रतोंको भी सप्तशील कहा है ।

अनागार धर्म—गृह त्यागीको अनगार कहते हैं । फलतः मुनिके धर्मको ही अनागार धर्म कहते हैं ।

सांकल्पी त्रस हिंसा—अभिसंधि पूर्वक त्रसोंका प्राण लेना संकल्पी-त्रस-हिंसा है । गृहस्थ आरम्भ तथा विरोधीकी हिंसासे नहीं बच सकता है किन्तु उसके परिणाम अपना कार्य करने तथा आत्म रक्षाके ही रहते हैं । वह ऐसा संकल्प नहीं करता कि मैं हल चला कर त्रसोंको मारूं । अथवा सब शत्रुओंको मारूं । फलतः संकल्प पूर्वक प्राण लेना ही महा पाप है ।

भरत—भगवान ऋषभदेवके दो पत्नी थीं । एकके केवल बाहुबलि उत्पन्न हुए थे और दूसरी से भरत आदि ९८ पुत्र तथा ब्राम्ही सुंदर दो कन्याएं हुई थीं । १०१ बहिन भाइयोंमें भरत ही सबसे बड़े थे अतएव भगवान्के दीक्षा लेकर बन चले जाने पर भरत जी ही अयोध्याके राजा हुए थे । इन्होंने छहों खण्डोंकी विजय की थी । और बहुत लम्बे समय तक राज्य किया था इस अवसर्पिणी युगके ये सबसे बड़े चक्रवर्ती थे । अन्तमें इन्हें वैराग्य हुआ, जिन दीक्षा ली और अन्तमुर्हूतमें कैवल्य प्राप्त करके मोक्ष गये ।

कृत्रिमाकृत्रिम बिम्ब—ऐसी मान्यता है कि नन्दीश्वर द्वीपादिमें कुछ ऐसे देवालय तथा प्रतिमा हैं जिन्हें किसीने नहीं बनवाया है। पर्वत, नदी, आदिके समान प्रकृतिने ही उनका निर्माण किया है । पौरुषेय और अपौरषेय मूर्तियोंको ही कृत्रिम-अकृत्रिम बिम्ब शब्दसे कहा है ।

गर्भगृहादि—प्रत्येक जिनालयके आठ भाग होते थे ऐसा वास्तु शास्त्र भी कहता है तथा खजुराहो आदिके प्राचीन भग्नावशेष देखनेसे इसकी पुष्टि भी होती है १ गर्भगृह-देवालयके मध्यका वह भाग जिसमें मूर्तियाँ विराजमान की जाती हैं। २ प्रेक्षागृह-गर्भगृहसे लगा हुआ वह भाग जहांसे लोग दर्शन करते हैं। ३ बलिगृह-जहां पर पूजनकी सामग्री तैयार की जाती है तथा जहां पर हवनादि होते हैं। ४ अभिषेक गृह-जहां पर पञ्चामृतसे देवताका स्नपन होता है। ५ स्वाध्याय गृह-जहाँ पर लोग शास्त्रोंको पढ़ते हैं। ६ सभा गृह-जहां पर सभाएं होती हैं मण्डप। ७ संगीत गृह-जहाँ पर संगीत नृत्यादि होता है। ८ पट्ट गृह-जहां पर चित्रादिकी प्रदर्शिनी होती है। अथवा जहां पर पूजनादिके वस्त्रादि संचित रहते हैं।

जिनमह—मह शब्दका प्रयोग पूजाके लिए हुआ है अतः जिनमहका अर्थ साधारणतया जिन पूजा है इसीलिए पंडिताचार्य आशाधरजीने घरसे लायी सामग्री द्वारा पूजा, अपनी सम्पत्तिसे मन्दिरादि बनाना, भक्तिपूर्वक धर्मायतनको मकान, गाय, आदि लगाना, तीनों समय अपने घरमें भगवान की अर्चा करना तथा व्रतियोंको दान देनेको नित्यमह कहा है। इसके नन्दीश्वर पूजा, इन्द्रध्वज, सर्वतोभद्र, चतुर्मुख, महामह, कल्पद्रुम मह आदि अनेक भेद हैं।

किमिच्छिक दान—पंडिताचार्यके मतसे जो महापूजा चक्रवर्तीके द्वारा की जाती है उसका एक अंग किमिच्छिक दान भी होता है। अर्थात् उपस्थित याचकसे पूंछते हैं 'क्या चाहते हो ?' वह जो कहता है उसे वही दिया जाता है इस प्रकार दान देकर विश्वकी आशा पूर्ण करते हुए चक्रवर्ती कल्पद्रुम-मह करता है।

नन्दिमूख—पूजाकी प्रारम्भिक विधिको कहते हैं। मंगल पाठ अथवा नाटकका प्रथम अंग।

नैवेद्य—पूजाकी पाँचवी सामग्री। भोज्य सामग्री जिसे क्षुधारोगकी समाप्तिकी कामनासे जिनदेवको चढ़ाते हैं।

अर्घ्य—जल, आदि आठों द्रव्योंकी सम्मिलित बलिको करते हैं।

उपमानिका—मिट्टीके मंगल कलश तथा अन्त-स्तुति।

अष्ट मंगल द्रव्य—छत्र, ध्वजा, कलश, चमर, आसन (ठोना), झारी, दर्पण, तथा व्यंजन ये आठों पूज्यता ज्ञापक बाह्य चिह्न अष्ट मंगलद्रव्य कहलाते हैं।

स्नपन—जिन बिम्बको स्नान कराना।

निवेश—गाढ कल्पना अथवा स्थापना।

युद्धवीर—संग्राममें दक्ष यथा बाहुबलि, भरत आदि।

धर्मवीर—धार्मिक कार्योंमें अग्रणी, सब कुछकी बाजी लगा कर अहिंसा, दया, आदिके पालक।

प्रदक्षिणा—जिन मन्दिर, जिन बिम्ब आदि आराध्योंके बांयेसे दांये ओर चलते चलते चक्कर लगाना ये तीन होती हैं।

वैसान्दुर—पूजनके समय धूप आदि जलानेके लिए लायी गयी अग्नि।

बीजाक्षर—ओं, ह्रां, ह्रीं, ह्रूं आदि अक्षर जो मंत्रके संक्षिप्त रूप समझे जाते हैं इनके जाप का बड़ा माहात्म्य है।

स्वस्तियज्ञ—पूजाका अन्तिम भाग जिसमें देश, राज्य, नगर, शासक आदिकी मंगल कामना होती है। यह वास्तवमें स्वस्ति पाठ होता है। कल्याण, रोग, मरी, आदिकी शान्तिके लिए होने वाले यागादिको भी स्वस्ति यज्ञ कहते हैं।

अष्टांग नमस्कार—मस्तक, पीठ, उदर, नितम्ब, दोनों पैर तथा दोनों हाथ झुका कर प्रणाम करना ।

शेषिका—पूजाकी समाप्ति पर सविनय स्थापनाके पुष्प धूप दहनका घूम्र तथा दीपक शिखा आदिकी नति करना ।

महामह—मुकुटबद्ध मण्डलेश्वरादिके द्वारा जो विशेष पूजाकी जाती है उसे महामह कहते हैं । पण्डिताचार्यके मत से अष्टान्हिक पूजासे विशिष्ट होनेके कारण इसे महामह संज्ञा दी है ।

धर्मचक्र—कैवल्य प्राप्तिके बाद तीर्थंकरोंके लिए इन्द्र समवशरण रचना करते थे । इस समवशरणके सामने विशेष आकार प्रकार की ध्वजा चलती थी जिसकी संज्ञा धर्मचक्र थी । वास्तवमें चक्रका तात्पर्य होता है सब दिशाओंमें व्याप्ति फलतः सर्वत्र धर्मके प्रचारको ही धर्मचक्र प्रवर्तन कहते हैं ।

सुस्वर—शरीर निर्मापक 'नामकर्म' का भेद । जिसके उदयसे मधुर मोहक स्वर हो उसे सुस्वर कहते हैं ।

गृहस्थाचार्य—धर्म तथा आचार शास्त्रका ज्ञाता तथा चरित्रवान् सद्गृहस्थ । यह श्रावकोंकी समस्त क्रियाओंको जानते हैं और करा सकते हैं । अपने अध्ययन, विवेक और चरित्रके कारण गृहस्थोंके वास्तविक नेता होते हैं ।

पट्टक—वर्तमान पट्टा इसीका अपभ्रंश है । धर्म, अर्थ तथा कामके विशेष उत्सवोंके समय विशेष आकार-प्रकारके पट्टक बांधे जाते थे जिन्हें देखकर ही धारकके कार्यादिका ज्ञान हो जाता था ।

सर्ग २४

नियम—कुछ कालके लिए धारण की गयी प्रतिज्ञाको नियम कहते हैं ।

यम—जीवन पर्यन्तके लिए की गयी त्यागादिकी प्रतिज्ञाको यम कहते हैं ।

नय—तत्त्वके एक अंशी ज्ञान को नय कहते हैं ।

दैव—भाग्य अर्थमें प्रयुक्त होता है । वैदिक लोग तथा इतर धर्मानुयायी देव अथवा ईश्वर कृत होनेके कारण इसे दैव शब्दसे कहते हैं । किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है । जीवके विधायक दैव तथा पुरुषार्थ दोनों ही, अपने कर्मोंसे प्राप्त जीवकी शक्तियाँ हैं । अन्तर केवल इतना है कि ज्ञात अथवा एक जन्मके कार्योंको पुरुषार्थ कहते हैं । अज्ञात अथवा जन्मांतरसे बद्ध (पुरुषार्थ) कर्मोंको दैव संज्ञा दी है ।

ग्रह—ज्योतिषी देवोंका प्रथम भेद । सूर्य-चन्द्रमा आदि ।

जगदीश्वर—कुछ वैदिक दर्शनोंमें तथा ख्राष्ट, इस्लाम, आदि धर्मोंके अनुयायी मानते हैं कि कोई सर्व शक्तिमान् इस जगतका स्वामी है वही इसके उत्पाद, स्थिति और विनाशका कर्त्ता है ।

नियति—संसारकी प्रत्येक हलचल निश्चित है फलतः इसे करने वाली कोई शक्ति है जिसे नियति कहते हैं । ये ईश्वरकी जगह नियतिको मानते हैं । जिनेन्द्र प्रभुके समान यह भी यह नहीं सोच सकते हैं कि प्रत्येक प्राणीके अपने कर्म ही उसके निर्माता आदि हैं ।

सांख्य—भले प्रकारसे जानने, समझनेको सांख्य कहते हैं फलतः जिस दर्शनमें संख्या (विवेक ख्याति) की प्रधानता है उसे सांख्य दर्शन कहते हैं ।

पुरुष—साक्षात् चैतन्य स्वरूप सृष्टिके साक्षी मात्र तत्त्वको पुरुष कहते हैं । यह स्वभावतः कैवल्य संपन्न है । यह अविकारी, कूटस्थ, नित्य तथा सर्व व्यापक है । अर्थात् यह विशेष विषयी, अकर्त्ता है । पुरुष अनेक हैं ।

प्रकृति—स्थूल तथा सूक्ष्म जगतकी उत्पादिका, जड़ तथा एक शक्तिको प्रकृति कहते हैं यह संसार भरका कारण होते हुए भी कोई इसका कारण नहीं होता है। इसे अव्यक्त, प्रधान आदि शब्दों द्वारा भी कहा है। सत्य-रज-तम गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है। यह अकारण, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, निराश्रित, लिंग-अवयव-विवेक-चैतन्य हीन सामान्य, स्वतंत्र तथा प्रसव धर्मिणी है।

महत्—पुरुषके समीप आने पर प्रकृतिमें विकार होता है इस प्रकृतिके प्रथम परिणमनको महत् अथवा बुद्धि कहते हैं यही सृष्टि का बीज है।

अहंकार—महत्से अहंकार उत्पन्न होता है। अर्थात् मैं कर्त्ता-धर्त्ता आदि हूँ यह भावना ही सांख्य दर्शनका अहंकार है यह त्रिगुणके कारण प्रधान रूपसे तीन प्रकार का होता है।

कौशिक—कुशिक राजाके अति तप करने पर इन्द्र ही पुत्र रूपसे उनके उत्पन्न हुए थे। ये पुत्र कौशिक बड़े तपस्वी और सिद्ध थे। ये विश्वामित्र नामसे भी ख्यात हैं।

काश्यप—वैशेषिक दर्शनके प्रणेता कणाद मुनि। इस नामके एक और भी ब्राह्मण ऋषि हुए हैं, जो विष विद्यामें पारंगत थे। महाभारतके अनुसार इन्होंने परीक्षितको फिरसे जीवित किया था।

गौतम—न्याय दर्शनके प्रवर्तक गौतम ऋषि तथा इनके वंशज। भरद्वाज मुनिका भी गौतम नाम था। एक स्मृतिकार तथा महात्मा बुद्धके लिए भी गौतम शब्दका प्रयोग हुआ है।

कौण्डिन्य—कुण्डिन मुनिके पुत्र। इन्हें शिवके कोपसे विष्णुने बचाया था। गौतम बुद्धके प्रधान, वयोवृद्ध शिष्यका नाम भी कौण्डिन्य था।

माण्डव्य—वैदिक ऋषि। बाल्यावस्थाके अपराधके कारण यमराजने इन्हें शूली पर चढ़वा दिया था। इस पर ऋषिने यमको शाप दिया था तथा वे पाण्डुके यहां दासीसे उत्पन्न हुए थे।

वशिष्ठ—सुप्रसिद्ध वैदिक ऋषि। यज्ञस्थलमें उर्वशीको देख कर मित्र और वरुणका चित्त चञ्चल हुआ तथा इनका जन्म हुआ। इन्हें इंद्रने घूस रूपसे ब्राह्मणत्व दिया था। इनकी और विश्वामित्रकी प्रतिद्वंदिता वैदिक साहित्यमें भरी पड़ी है।

अत्रि—ब्रह्माकी चक्षुसे उत्पन्न वैदिक ऋषि। कर्दम ऋषिकी पुत्री अनुसूया इनकी पत्नी थीं। सप्तर्षियोंके सिवा दस प्रजापतियोंमें भी अत्रिकी गिनती है। इन्होंने भी ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंकी रचना की थी।

कुत्स—प्रायश्चित्त शास्त्रके प्रणेता ऋषि। इनका धर्म आपस्तम्भ धर्म नामसे ख्यात है तथा गृह्य-कल्प-धर्म सूत्रादिमें वर्णित है।

अंगिरस—ब्रह्माके द्वितीय पुत्र। इनकी पत्नी शुभ थी। पुत्र बृहस्पति थे तथा इनके छह कन्याएं हुई थीं। इन्होंने ऐसा तप किया था कि इनके तेजसे पूर्ण विश्व व्याप्त हो गया था।

गर्ग—बृहस्पतिके वंशज वितथ ऋषिके पुत्र। शिवकी आराधना करके इन्होंने चौंसठ अंग ज्योतिष आदिका परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था।

मुद्गल—वैदिक ऋषि। इन्होंने गोत्रों को प्रारम्भ किया था। इनकी पत्नीका नाम इन्द्रसेना था। एक उपनिषद् का भी नाम है।

कात्यायन—अत्यन्त प्राचीन वैदिक ऋषि। इन्होंने धर्मशास्त्रोंकी भी रचना की है। ये दो हुए हैं गोभिलपुत्र कात्यायन तथा वररुचि (सोमदत्त पुत्र) कात्यायन। प्रथमने अनेक सूत्र ग्रन्थों की रचना की है जो वैदिक धर्मकी मूलभित्ति है। द्वितीयको पाणिनी सूत्रका वार्त्तिककार कहते हैं।

भृगु—ब्रह्माके अग्निमें हुत वीर्यसे उत्पन्न ऋषि थे। दश प्रजापतियों और सप्तर्षियोंमें से एक हैं इनका वंश वारुण या भार्गव था जिसमें परशुरामजी उत्पन्न हुए थे।

सत्रि—अनेक यज्ञोंके कर्ता विशेष ऋषि।

मधुपिंगल—लिंगपुराणमें वर्णित मुनिका नाम।

सुलसा—नागमाता, जिन्होंने हनूमानजीके मार्गमें मायारूप धारण कर बाधा डाली थी। एक राक्षसी तथा अप्सरा भी इस नामकी हुई हैं।

अक्रूर—ये श्वफल्क और गान्दिनीदेवीके पुत्र यादव थे। यह कृष्णजीके काका लगते थे। इनके पास शतधन्वाका स्यमन्तक मणि था जो समस्त रोग, मरी, दुर्भिक्षादिको नष्ट कर देता था।

देवानांप्रिय—सम्राट अशोककी उपाधि। वैदिक विद्वानोंने धार्मिक विद्वेषके कारण मूर्खको व्यङ्ग्यरूपसे देवानांप्रिय कहना प्रारम्भ किया था।

कृष्णद्वीपायन—पराशर मुनि एक दिन जमुना किनारे आये तो मल्लाहकी लड़की बापके न होनेसे उन्हें उस पार ले जाने लगी। बीच नदीमें मुनि लड़की पर आसक्त हुए और इस प्रकार जमुनाके द्वीप पर एक सन्तति उत्पन्न हुई जो अपने ज्ञानबलके कारण वेदव्यास, कृष्णद्वीपायन नामसे ख्यात हुए।

कमठ—एक विशेष दैत्यका नाम है। इस नामके एक ऋषि भी हुए हैं। यहां ऋषिसे ही तात्पर्य है।

कठ—वेदकी कठ शाखा के प्रवर्तक मुनिका नाम। महाभाष्यके अनुसार ये वैशम्पायनके शिष्य थे। कठकी वेद शाखा वर्तमानमें अनुपलब्ध है।

द्रोणाचार्य—भारद्वाजके पुत्र कौरव-पाण्डवोंके अस्त्र शिक्षक तथा महाभारतके निर्णायक पात्र।

कार्तिकेय—शिवके वीर्यसे पार्वतीके पुत्र (अग्नि तथा शरवन द्वारा) इन्होंने तारकासुरादि का बध किया था। इनका निवास शरवन अथवा हिमालय पर था। आज भी कमायूंमें इनका कार्तिकेय पुर है।

कुमारी—सीता पार्वतीका नाम। परीक्षितके लड़के भीमसेनकी पत्नीका भी कुमारी नाम था। भारत का दक्षिणी भाग। पृथ्वी का मध्यभाग।

पुष्कर—इस शब्द के चालीस अर्थों में से यहाँ तीर्थ अभीष्ट है। वर्तमान में यह अजमेरके पास है। पुराणों के अनुसार इसमें उत्तम, मध्यम तथा जघन्य तीन पुष्कर (तालाब) हैं। इसमें नहानेसे विशेष पुण्य होता है।

असत्से सत् आदि—गधेके सींग से बंध्या का लड़का असत्का निदर्शन है। आकाश कुसुमसे पेठाकी कल्पना असत्से सत्का उदाहरण है। जपाकुसुमसे गधेके सींगका प्रादुर्भाव मानना सत्से असत् है। मिट्टीसे घड़ा सत्से सत्का उदाहरण है।

उपादान—जो कारण स्वयमेव कार्यका रूप धारण करे वह उपादान कारण कहलाता है। यथा घड़े के लिए मिट्टी।

भाव—जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा पारिणामिक भाव होते हैं।

उत्पाद—नूतन पर्यायका भाव या प्रादुर्भाव ही उत्पाद है।

व्यय—एक पर्यायका अभाव या नाश ही व्यय या मरण है।

शुम्भ-निशुम्भ—ये दानव प्रह्लादके पुत्र गवेष्ठीके पुत्र थे। वामनपुराणमें लिखा है कि कश्यपके दनु नामक स्त्री थी उसके गर्भसे दो पुत्र पैदा हुए। जिनमें छोटेका नाम निशुम्भ और बड़ेका नाम शुम्भ था। इन्होंने संसारको ही नहीं स्वर्गको भी जीत लिया था। अवमानित त्रस्त देवताओंने महामायाकी आराधना की। इन्होंने सुन्दरतम रमणी का रूप धर दोनों भाइयोंमें लड़ाई करायी और वे मारे गये थे।

तिलोत्तमा—स्वर्गकी वेश्या। वैदिक आम्नायमें लिखा है कि सब रत्नोंमें से तिलतिल लेकर ब्रह्माने इसे बनाया था। यह ऐसी सुंदरी थी कि इसे देखनेके लिए योगस्थ महादेवने भी चार मुख बनाये थे। जब देवताओंको सुंद-उपसुंदको जीतना असम्भव हो गया तो उन्होंने इसे उनके सामने भेजा और वे इस पर मोहित हो आपसमें ही लड़ मरे थे।

बलि—प्रह्लादके पुत्र विरोचनका पुत्र था। इसने यज्ञ करके जिस याचकने जो मांगा वही दान दिया था। इसकी सत्य निष्ठाकी परीक्षा करने विष्णुजी वामन बनकर आये थे और इससे तीन पग जमीन मांगी थी। इसके गुरु शुक्राचार्य इस याचनाके रहस्यको समझ गये और बलिसे कहा कि वह अपना वचन वापस ले ले। पर बलिने दान पूर्ण न होनेसे नरकवासके दण्डकी चिन्ता न की और अपने वचन पर दृढ़ रहा। अन्तमें विष्णुजी ने ही उसे वरदान दिया और वह इस समय 'सुतल' लोकमें विराजमान है।

हयग्रीव—असुर दितिका पुत्र। सरस्वती नदीके किनारे इसने महामायाको प्रसन्न करने के लिए हजार वर्ष तक घोर तप किया। वे प्रसन्न होकर वर देने आयीं तो इसने अजेयत्व अमरत्व माँगा। यतः प्रत्येक जातका मरण अवश्यंभावी है अतः उन्होंने इसे इससे (हयग्रीवसे) ही मृत्युका वर दिया। इससे आतंकित त्रस्त देवता विष्णुके पास गये और उन्होंने हयग्रीव रूप धारण कर इसे मारा था।

अनु—महाराज ययातिके पुत्र थे। इनसे ही म्लेच्छ वंशका प्रारम्भ हुआ था।

मुचुकुंद—ये मन्धाताके पुत्र थे। इन्होंने देवताओंकी सहायता करनेके लिए असुरोंसे युद्ध किये थे। तथा कालयवन ऐसे दुर्दान्त दैत्यको मारा था।

गौतमपत्नी—इनका नाम अहिल्या था। यतः ये अपने पतिके शिष्य इन्द्रसे भ्रष्ट हो गयी थी अतः उन्होंने शाप देकर इन्हें पाषाण कर दिया था। बादमें श्रीरामचन्द्रजीके पाद स्पर्शसे अपने पूर्व रूपको प्राप्त हुई थीं।

कार्तिकेय प्रेमिका—अनेक पुराणोंने इन्हें ब्रह्मचारी लिखा है। पर यह ठीक नहीं। इन्होंने विवाह किया था। इनकी प्रेयसीका नाम षष्ठी देवी था।

शून्यवाद—बौद्ध दर्शनकी एक शाखा। साधारणतया ब्राह्मण दार्शनिकोंने शून्यका अर्थ असत् लेकर ही इस मान्यता की विवेचना की है। किन्तु माध्यमिक आचार्योंके ग्रन्थोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि उन्होंने 'शून्य' का प्रयोग 'अवक्तव्य' के लिए किया है। वस्तुके जाननेकी (१) अस्ति, (२) नास्ति, (३) उभय तथा (४) अनुभय ये चार दृष्टियाँ हैं। यतः इन चारोंसे अनिर्वचनीय परम तत्त्व नहीं कहा जा सकता, अतएव वे उसे शून्य कहते हैं।

इन्द्रियाश्व—धर्मशास्त्र तथा उपनिषदोंमें पांचों इन्द्रियों और मनका रूपक इस शरीरको रथ, पांचों इन्द्रियोंको दुदर्म घोड़े और मनको सारथी कह कर खींचा है।

आठमद—ज्ञान, लोकपूजा, कुल (पितृकुल) जाति (माताका कुल), बल, ऋद्धि, तप तथा शरीरको इन आठोंको लेकर अहंकार भी आठ प्रकारका होता है।

लेश्या—क्रोध आदि कषायोंमय मन, वचन तथा कायकी चेष्टाओंको भाव लेश्या कहते हैं। और शरीरके पीले, लाल श्वेत आदि रंगोंको द्रव्य लेश्या कहते हैं।

अतिशय—अद्भुत विशिष्ट बात अथवा चमत्कारको अतिशय कहते हैं। तीर्थंकरोंके ३४ अतिशय होते हैं। जन्मते ही मल, मूत्र, पसीना-राहित्य, आदि दश अतिशय होते हैं। कैवल्य प्राप्ति पर सुभिक्ष आदि दस होते हैं तथा १४ देवता करते हैं।

अष्टादश दोष—१-भूख २-प्यास ३-भय ४-द्वेष ५-राग ६-मोह ७-चिन्ता ८-जरा ९-रोग १०-मृत्यु ११-स्वेद १२-खेद १३-मद १४-रति १५-आश्रय १६-जन्म १७-निद्रा तथा १८-विषाद ये अठारह दोष हैं।

सर्ग २६

द्रव्य—गुण और पर्यायोंके समूहको द्रव्य कहते हैं। ये द्रव्य जीव, पुद्गल, (अजीव) धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे छह प्रकारके हैं।

गुण—समस्त द्रव्यमें सब अवस्थाओं में रहनेवाली योग्यताओंको गुण कहते हैं।

पर्याय—गुणके परिणमनको पर्याय कहते हैं।

अस्तिकाय—बहुप्रदेशी द्रव्यको अस्तिकाय कहते हैं। कालके अतिरिक्त सब द्रव्य अस्तिकाय हैं।

दर्शनोपयोग—जीवके श्रद्धानरूप परिणमनको दर्शनोपयोग कहते हैं। यह (१) चक्षु (२) अचक्षु (३) अवधि और (४) केवल के भेदसे चार प्रकारका होता है।

ज्ञानोपयोग—जीवके ज्ञानरूप परिणमनको ज्ञानोपयोग कहते हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधिके भेदसे यह आठ प्रकारका होता है।

दिव्यध्वनि—कैवल्य प्राप्तिके बाद तीर्थंकरोंके उपदेशकी अलौकिक भाषा तथा भाषण शैलीका नाम है। इसका अपना रूप तो नहीं कहा जा सकता है पर इसकी विशेषता यही है कि यह विविध भाषा भाषियोंको ही नहीं, अपितु पशु, पक्षियोंको भी अपनी बोलीके रूपमें सुन पड़ती है। समवशरणमें उपस्थित सब प्राणी इसे समझते हैं। यह एक योजन तक सुन पड़ती है। इसे निरक्षरी भाषा भी कहा है। अर्द्ध मागधी भी इसकी संज्ञा है।

पुद्गल—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण युक्त द्रव्यको पुद्गल कहते हैं। परमाणु और स्कन्धके भेदसे यह दो प्रकारका है।

कार्माण वर्गणा—जो पुद्गल कार्माण (कर्म मय) शरीर रूप धारण करें उन्हें कार्माण वर्गणा कहते हैं। कर्मोंकी फल देनेकी शक्तिके अविभाज्य अंशको अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। समान अविभाग प्रतिच्छेदों युक्त प्रत्येक कर्म परमाणुको वर्ग कहते हैं और वर्गोंके समूहको वर्गणा अर्थात् कर्म परमाणु समूह कहते हैं।

प्रदेश—एक परमाणु द्वारा रोके जाने वाले आकाशके भागको प्रदेश कहते हैं।

असंख्यात—लौकिक अंक गणनाके अतिरिक्त शास्त्रोंमें लोकोत्तर अंक गणना बतायी है। इसके मुख्य भेद (१) संख्यात (२) असंख्यात तथा (३) अनन्त हैं। संख्यात भी तीन प्रकारका है—१-जघन्य संख्यात यथा २ (१ नहीं क्योंकि इसका वर्ग, घन, आदि एक ही रहेगा)। २- मध्यम संख्यात यथा ३से उत्कृष्ट संख्यात पर्यन्त और ३-उत्कृष्ट संख्यात, यथा जघन्य परीतासंख्यात पर्यन्त। अर्थात् उत्कृष्ट संख्यातमें एक जोड़ देने पर असंख्यात आता है।

असंख्यात भी परीत, युक्त तथा असंख्यातासंख्यातके भेदसे ३ प्रकारका है। इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद होनेसे यह ९ प्रकारका है। जघन्य परीता संख्यातको निकालनेके लिए अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका कुण्डोंका सहारा लेना पड़ता है।

ये कुंड १ लाख महायोजन व्यास और एक सहस्र महायोजन गहराई युक्त वृत्त कुण्ड होते हैं । प्रथम अनवस्था कुण्डको सरसोंसे ऐसा भरना पड़ता है कि ऊपर ढेरी भी लग जाती है । इस ढेरीमेंसे एक दाना सरसों लेकर शलाका कुण्डमें डालिये और शेष दानोंको एक द्वीप पर एकके हिसाबसे डालते जाइये । जहां जाकर सब दाने खाली हो जांय उतने बड़े व्यास तथा एक हजार महायोजन गहराईका दूसरा अनवस्था कुण्ड बनाकर इसे ऊपर ढेरी लगाकर सरसोंसे भरिये । इसमेंसे एक दाना शलाका कुण्डमें डालकर बाकी दानोंको आगेके द्वीपों पर डालते जाइये । जिस द्वीप पर जाकर दानें खाली हो जांय उतने महान व्यास तथा १ हजार योजन गहराई वाला तीसरा अनवस्था कुण्ड बनाकर ऊपर ढेरी लगाकर सरसोंसे भरिये । इसमेंसे भी एक दाना शलाका कुण्डमें डालिये और शेष पहिलेके समान आगेके द्वीपों पर एक एक करके डालिये । यह प्रक्रिया तब तक चालू रहेगी जब तक उत्तरोत्तर वर्द्धमान प्रत्येक अनवस्था कुण्डोंमेंसे केवल एकएक दाना डालनेसे शलाका प्रति शलाका, और महाशलाका तीनों कुण्ड भर जायेंगे और अन्तमें जो महा-महा अनवस्था कुण्ड होगा उसमें ढेरी लगाकर भरे जितने सरसों आयेंगे वह संख्या जघन्य परीतासंख्यात की होगी ।

जघन्य परीतसंख्यातसे एक अधिकसे लेकर उत्कृष्ट परीतासंख्यातसे १ कम पर्यन्त मध्यम परीता संख्यात है । उत्कृष्ट परीतासंख्यात जघन्य युक्तासंख्यातसे एक कम है । जघन्य परीता संख्यातकी संख्या पर जघन्य परीतासंख्यातकी संख्या प्रमाण बल देने पर जघन्य युक्तासंख्यातकी संख्या आवेगी । इससे एक अधिकसे लेकर उत्कृष्ट युक्ता संख्यात (जो कि जघन्य संख्यातासंख्यातसे एक कम प्रमाण है) १ कम पर्यन्त मध्यम युक्तासंख्यात है ।

जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग करने पर जघन्य संख्यातासंख्यात का प्रमाण निकलता है । मध्यम और उत्कृष्ट पहिलोंके समान हैं ।

अनन्त—यह भी परीत, युक्त तथा अनन्तके भेदसे तीन प्रकारका है और तीनोंमें प्रत्येकके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद होनेसे ९ भेद होते हैं—

जघन्य असंख्यातासंख्यात पर जघन्य असंख्यातासंख्यातका ही बल देने पर उत्तरोत्तर इन संख्याओंका उतनी बार बल देते जांय जितनी जघन्य असंख्यातासंख्यातकी संख्या है । इस प्रकार शलाका त्रय निष्ठापन से जो अन्तिम राशि प्राप्त हो उसमें धर्म आदि छः प्रकार के द्रव्योंकी प्रदेश संख्या जोड़ें । इन सातों राशियोंके जोड़का पुनः शलाका त्रय निष्ठापनसे जो अन्तिम राशि प्राप्त हो उसमें २० कोडाकोडि सागरोपम प्रमाण कल्पकालकी समय-संख्या आदि ४ संख्याएं जोड़ें । इन पांचो राशियोंके जोड़का फिर पूर्व विधिसे शलाका त्रय निष्ठापन करें । जब जघन्य परीतानन्तका प्रमाण आयगा । मध्यम उत्कृष्ट परीतानन्त, जघन्य मध्यम तथा उत्कृष्ट युक्तानन्त तथा जघन्य, मध्यम अनन्तानन्तकी प्रक्रिया मध्यम परीतासंख्यादि के समान है । उत्कृष्ट अनंतानंतके लिए जघन्य अनन्तानन्त की संख्याका शलाकात्रय निष्ठापन करने पर सिद्धराशि आदिके के छह प्रमाण जोड़े जाते हैं । फिर इन सातोंके योगका शलाका त्रय निष्ठापन होता है । इसमें धर्म, अधर्म द्रव्यके अगुरु लघु गुणके अनन्तानन्त अविभागी प्रतिच्छेद जोड़े जाते हैं और तीनों राशियोंके योगका शलाकात्रय निष्ठापन होता है । जो राशि आती है उसे केवलज्ञानकी शक्तिके अविभागी प्रतिच्छेदोंकी संख्यामें घटानेपर जो शेष आवे उसे ही जोड़ने पर उत्कृष्ट अनन्तानन्तका प्रमाण आता है । अर्थात् उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण ही केवलज्ञानकी शक्तिके अविभागी प्रतिच्छेदोंकी संख्या है ।

नित्य—जो जिसका असाधारण स्वरूप है उसी रूपसे रहना ही नित्यता है । मोटे तौरसे कह सकते हैं जैसा पहिले देखा था वैसा ही पुनः पुनः देखने पर भी ज्ञात होना नित्यता है ।

नैगमादि नय—१-निमित्त रूपसे प्रारब्ध अपरिपूर्ण पदार्थके संकल्पको ग्रहण करना नैगम-नय है । २-एक वर्गके पदार्थोंको बिना भेदभाव किये समूह रूपसे ग्रहण करना संग्रह नय है । ३-समूहरूपसे ज्ञात पदार्थोंमें विशेष भेद करना व्यवहार नयका कार्य है जैसे व्यवस्थापकोंमें विधान तथा वृद्ध सभाका भेद करना । ४-केवल वर्तमान पर्यायको ग्रहण करना ऋजुसूत्र नय है । ५-लिंग-कारक-वचन-कालादिके भेदसे पदार्थको ग्रहण करना शब्द नय है यथा दारा-भार्या-कलत्र एक स्त्रीके वाचक हैं । ६-लिंगादिका भेद न होने पर भी

तत्तत् पर्याय रूपसे पदार्थमें भेद करना समभिरूढ़ नय है यथा इन्द्रशक्र-पुरन्दरादि । ७-तत्तत् क्रियाके कर्ताको ही तत्तत् शब्दोंसे कहना एवंभूत नय है यथा पथ प्रदर्शन करते समय ही नेहरूको नेता कहना ।

निक्षेप—मूल पदार्थ होने पर प्रयोजनवश नामादि रूपसे अन्य पदार्थमें स्थापना करना निक्षेप है । नाम, स्थापना, द्रव्य और भावकी अपेक्षा यह चार प्रकारका होता है । १-संज्ञा विशेषके लक्षण हीन पदार्थको वह संज्ञा देना नाम निक्षेप है यथा झूठे हिंसक स्वार्थी व्यक्तिको कांग्रेसी कहना । २-तदाकार अथवा अतदाकार पदार्थको पदार्थ विशेष रूप मानना यथा भद्दी मूर्तिको पार्श्वनाथ मानना । ३-आगे आनेवाली योग्यताके आधार पर वर्तमानमें व्यवहार करना द्रव्य निक्षेप है, यथा जयप्रकाशनारायणको भारतका भावी प्रधानमन्त्री कहना । ४-जिस पर्याय युक्त व्यक्ति हो उसीरूपसे उसे मानना भाव निक्षेप है जैसे जवाहरलाल नेहरूको प्रधानमन्त्री मानना ।

ईश्वरेच्छा—नैयायिक जगत्कार्य, आयोजन, धृति, पद, आदिके कारण ईश्वरको सिद्ध करता है । यथा समवायि, असमवायि और निमित्त कारणके समान ईश्वरकी इच्छाको ही सृष्टिका उत्पादक, स्थापक और विनाशक मानता है ।

एकान्तवाद—पदार्थको नित्य ही, क्षणिक ही, माया ही आदि रूपसे एकाकार मानना ही एकान्तवाद है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्मयुक्त होनेसे अनेकान्तवाद रूप है ।

प्रथमानुयोग—बारहवें अंग दृष्टिवादका तृतीय भेद । संयम ज्ञान कैवल्य आदि मय पवित्र जीवनियोंके साहित्यको प्रथमानुयोग कहते हैं । त्रेसठ शलाका पुरुषोंके जीवनादि कथा साहित्य द्वारा सहज ही तत्त्व ज्ञान करा देता है ।

उत्सर्पिणी—जिस-युग चक्रमें समस्त पदार्थ आदि वर्द्धमान हों उसे उत्सर्पिणी कहते हैं इसके उल्टे अर्थात् जिसमें सब बातें हीयमान हों उसे अवसर्पिणी कहते हैं । जैसे वर्तमान समय ।

आवलि—जघन्य युक्ता संख्यात प्रमाण समयोंको आवलि कहते हैं ।

सुषमा—प्रत्येक उत्-अवसर्पिणी कालके छह भेद होते हैं १-सुषमा-सुषमा (चार सागर कोटाकोटि) २-सुषमा (तीन सा० को०) ३-सुषमदुःषमा (दो सा० को०) ४-दुःखमासुषमा (४२००० वर्ष कम एक सा० को०) ५-दुःषमा (२१ हजार वर्ष अभी चल रहा है ६-दुःषमादुःषमा (२१ हजार वर्ष) ।

मनु—तीर्थंकरोंके पहिले प्रजाका मार्ग दर्शन करनेवाले महापुरुषोंको कुलकर या मनु कहते हैं । प्रत्येक अवसर्पिणी चक्रके तीसरे कालके अन्तमें तथा उत्सर्पिणी चक्रके दूसरे काल (दुःषमा) के अन्तमें होते हैं । इस चक्रके सुषमादुःषमाके अन्तमें प्रतिश्रुति, सम्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमल, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित, नाभिराजादि हुए थे ।

षोडश भावना—आस्रव-बन्ध प्रकरणमें जहां विविध गतियोंके बन्धके कारण गिनाये हैं वहां पर तीर्थंकरत्वके सविशेष पद होनेके कारण उसके बन्धके कारणभूत सोलह भावनाएं गिनायीं हैं । वे निम्न प्रकार हैं । १-रत्नत्रय स्वरूप वीतराग धर्ममें रुचि दर्शन-विशुद्धि है। २-शास्त्र गुरु आदिमें आदर बुद्धि विनयसम्पन्नता है । ३-अहिंसादि व्रत तथा शीलोंका निर्दोष पालन शीलव्रतेष्वनतिचार है । ४स्व तत्त्व जीवादिके ज्ञानमें लवलीनता अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग है । ५-संसारके दुखोंसे भय संवेग है । ६-यथा सामर्थ्य दान शक्तितस्त्याग है । ७-जैनधर्मानुसार बिना कोर कसरके शरीर क्लेश सहना तप है । ८-उपसर्ग उपस्थित होने पर उसे सहना समाधि है । ९-गुणियों पर दुःख आने पर उसको दूर करना वैयावृत्य है । १०-१३-अर्हत्-आचार्य-उपाध्याय-शास्त्रमें विशुद्ध मनसे अनुराग-भक्ति है । १४-षड् आवश्यकोंका समयसे पालन आवश्यकपरिहाणि है । १५-ज्ञान, तपस्या तथा जिनपूजादि द्वारा धर्मका प्रचार प्रभावना है । १६-साधर्मी पर सहज निस्वार्थ प्रेम प्रवचन-वात्सल्य है ।

श्रावस्ती—इस नामका प्राचीन जनपद । इसकी राजधानीका नाम भी श्रावस्ती था । यह तीसरे तीर्थंकर संभवनाथका जन्म स्थान था । वर्तमानमें गौंड़ा जिलेमें शेठ-महेट नामसे ख्यात ग्राम है । वैदिक पुराण और बौद्ध जातकोंमें जैन पुराणोंके समान श्रावस्तीका इतिहास तथा महिमा भरी पड़ी है । राजा सुहिराल (सुहृदध्वज) इसके अन्तिम जैन राजा थे ।

काकन्दीपुर—प्राचीन देश तथा उसकी राजधानी ।

भद्रपुर—प्राचीन नगर ।

कम्पिलापुरी—प्राचीन नगर । वर्तमान उत्तरप्रदेशके फरुखाबाद मण्डलकी कायमगंज तहसीलका कुंविल ग्राम । महाभारत में भी इसका नाम आया है ।

रत्नपुर—प्राचीन नगर । वर्तमान मध्यप्रदेशका एक ग्राम । यहां हैहय वंशी राजा राज करते थे ।

मिथिलापुरी—प्राचीन विदेह जनपदकी राजधानी । रामायण, महाभारत तथा जैन बौद्ध साहित्य मिथिलाके उद्धरणोंसे भरे पड़े हैं । इन उद्धरणोंके आधार पर प्राचीन मिथिलापुरीके स्थानका निर्णय सुसंभव नहीं है । वर्तमान मुजफ्फरपुर मण्डलके सीतामढी ग्रामसे १२-१४ मील दूर स्थित जनकपुर ही प्राचीन मिथिलापुरीका शेष प्रतीत होता है । इस समय यह नेपालकी तराई तथा नैपाल राज्यमें है ।

सम्मेदाचल—विहार प्रदेशके हजारीबाग मण्डलमें स्थित श्री पार्श्वनाथ पर्वतका पौराणिक प्राचीन नाम । यह जैनियोंके श्री ऋषभदेव वासुपूज्य, नैमिनाथ तथा महावीरके सिवा शेष २० तीर्थंकरोंकी निर्वाण भूमि होनेसे जैनियोंका सबसे बड़ा सिद्ध क्षेत्र है ।

चौदह रत्न—प्रत्येक चक्रवर्तीके पास १४ रत्न (सर्व श्रेष्ठ पदार्थ) होते हैं । इनमें १-गृहपति २-सेनापति ३-शिल्पी ४-पुरोहित ५-स्त्री ६-हाथी तथा ७-घोड़ा ये सात चेतन होते हैं । तथा ८-चक्र ९-असि १०-छत्र ११-दण्ड १२-मणि (प्रकाश कारक) १३-चर्म (इसके द्वारा जलमें थल वत् गमन होता है) तथा १४-कांकणी (रत्नकी लेखनी) । प्रथम सातों चेतन रत्न विजयार्द्धसे लाये जाते हैं । चक्र, असि, छत्र तथा दण्ड आयुधशालामें प्रकट होते हैं तथा मणि, चर्म और कांकिणी हिमवन पर्वतके पद्म हृदमें निवास करनेवाली श्री देवीके मन्दिरसे आते हैं ।

नव निधि—प्रत्येक चक्रवर्तिके पास नौ प्रकारकी निधियां (कोश) होती हैं—१-छहों ऋतुओंकी वस्तु दायक को कालनिधि कहते हैं । २-जितने चाहे लोगोंको भोजन दाता महाकाल निधि होती है । २-अन्न भण्डारका नाम पाण्डुनिधि है । ४-शस्त्रों के अक्षय भण्डारका नाम माणवक निधि है । ५-वादित्रोंके भण्डारको शंख निधि नाम दिया है । ६-भवन आदि व्यवस्थापक नैसर्प निधि है । ७-वस्त्रोंके अक्षय भण्डारका नाम पद्म निधि है । ८-आभूषणादि साज-सज्जा दायक पिंगल निधि है । तथा ९-रत्नादि संपत्तिका भण्डार कर्ता रत्न निधि है ।

सुमेरु—अत्यन्त ऊँचा पर्वत है । जम्बू द्वीपके केन्द्रमें एक धातुकीखंड तथा पुष्कराद्धके पूर्व पश्चिम केन्द्रमें एक एक अर्थात् मनुष्य लोकमें पांच मेरु हैं । इनके नाम क्रमशः सुदर्शन, विजय, अचल, मन्दिर और विद्युन्माली हैं । प्रथम सुदर्शन मेरु १००० योजन भूमिमें ९९००० पृथ्वीसे ऊपर होता है तथा ४० योजनकी चोटी होती है । यह मूलमें १० सहस्र तथा भूमिके ऊपर १ सहस्र योजन मोटा है । इस पर नीचे भद्रशाल वन होता है । ५०० यो० की चढ़ाई पर नंदन वन, ६३५०० यो० ऊपर जाकर सौमनस और ३६००० यो० ऊपर जाकर पांडुक वन है । शेष चारों सुमेरु ८४००० यो० ऊँचे हैं अतः इनमें तीसरा सौमनस वन ५५५०० की ऊँचाई पर तथा पांडुक वन २८००० यो० की ऊंचाई पर है । प्रत्येक वनमें चारों दिशाओं में ४ अकृत्रिम जिनमंदिर हैं । इन पर्वतों पर ६१००० यो० की ऊंचाई तक ही मणि पाये जाते हैं । इसके ऊपर इनका रंग सोने ऐसा है ।

सामानिक—वे देव जो शासन तथा प्रभुताके सिवा सब बातों में इन्द्रके समान होते हैं ।

त्रायस्त्रिंश—मंत्री, पुरोहित, आदि के समान देव ।

परीषह—सब प्रकारसे सहना परीषह है । कर्म निर्जरा के लिए ये सहे जाते हैं । भूख, प्यास, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याञ्चा, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान तथा अदर्शन ये २२ परीषह हैं ।

मागध—भरत ऐरावत क्षेत्रोंके समुद्र तथा सीता सीतोदा नदीके जलमें स्थित द्वीपोंका नाम है । भरत क्षेत्रके दक्षिणी किनारेसे संख्यात योजनकी दूरी पर यह स्थित है । इसका स्वामी मागध देव है ।

आर्यिका—उदिष्टत्याग प्रतिमाकी धारिणी स्त्रीको आर्यिका कहते हैं । द्रव्य स्त्रीके त्यागकी यह चरम सीमा है । यह सफेद साड़ी पहिनती है, पीछी कमण्डल धारण करती हैं । बैठ कर आहार करती हैं । सदैव शास्त्र स्वाध्याय तथा संयममें रत रहती हैं ।

गुणस्थान—मोह और योगके निमित्तसे आत्माके गुण सम्यक-दर्शन ज्ञान चारित्र के कम-बढ पनेके अनुसार होनेवाली अवस्थाओंको गुणस्थान कहते हैं ।

गुप्ति—जिसके द्वारा संसारमें फंसानेवाली बातोंसे आत्माका रक्षण हो उसे गुप्ति कहते हैं । मन-वचन-काय गुप्तिके भेदोंसे यह तीन प्रकारकी है ।

धर्म—जो इष्ट स्थान पर रखे या ले जाय उसे धर्म कहते हैं । उत्कृष्ट क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्यके भेदसे दस प्रकारका है ।

चौदह मार्गणा—जिन विशेष गुणोंके आधारसे जीवोंका विवेचन, ज्ञान तथा शोध की जाय उनको मार्गणा कहते हैं । गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व तथा आहारके भेदसे यह चौदह प्रकारकी है ।

अष्ट अनुयोग—पुलाकादि मुनियोंका जिन विशेषताओं के आधार पर विवेचन होता है उन्हें अनुयोग कहते हैं । संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद तथा स्थान के भेद से यह आठ प्रकार का होता है ।

आस्रव—शुभ अशुभ कर्मों के आने के लिए द्वार भूत काय, वचन और मन की क्रियाएं आस्रव हैं ।

संवर—आस्रव भूत योगों का निरोध ही संवर है ।

निर्जरा—आंशिक रूप से कर्मों के क्षय को निर्जरा कहते हैं ।

श्रमण—जो शत्रु-मित्र, सुख-दुख, आदर-निरादर, लोष्ठ-काञ्चन, आदिमें समभाव रखते हैं वे महाव्रती साधु श्रमण कहलाते हैं ।

शल्य—शरीरमें कील के समान मनमें चुभने वाले कर्मोंके उदयसे होने वाले विकार ही शल्य हैं । माया, निदान और मिथ्यात्व के भेद से यह तीन प्रकार की है ।

आचार्य—साधुओं को दीक्षा तथा शिक्षा देकर जो व्रतों का आचरण करायें उन्हें आचार्य कहते हैं । १२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक तथा ३ गुप्ति का पालन; आचार्य परमेष्ठी के ये ३६ गुण हैं ।

उपाध्याय—जिसके पास जाकर मोक्षमार्गके साधक शास्त्रोंका अध्ययन किया जाता है उन्हें उपाध्याय कहते हैं । ११ अंग तथा चौदह पूर्वों का ज्ञान ये २५ उपाध्याय परमेष्ठीके गुण हैं ।

चतुर्विध संघ—ऋषि, मुनी, यति तथा अनगार इन चार प्रकार के साधुओं के समूहको संघ कहते हैं ।

आतप—अथवा आतापन योग का तात्पर्य है कि ग्रीष्म ऋतु में धूपमें खड़े होकर बैठ कर ध्यान करना ।

साधु—बहुत समय से दीक्षित मुनिको साधु कहते हैं । ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियों का पूर्ण निरोध, ६ आवश्यक, स्नान त्याग, भूमि शयन, वस्त्र त्याग, केशलौञ्च, एकाशन, खड़े आहार तथा दंत-धावन त्याग ये २८ साधु परमेष्ठीके गुण हैं ।

आवश्यक—मुनियोंके लिए प्रतिदिन अनिवार्य रूप से कारणीय कार्यों को आवश्यक कहते हैं । ये छह हैं—१ सामायिक, २ बंदना, ३ स्तुति, ४ प्रतिक्रमण (कृत दोषों के लिए पश्चाताप) ५ प्रत्याख्यान तथा ६ कायोत्सर्ग ।

सल्लेखना—उपसर्ग, दुर्भिक्ष, असाध्य रोग अथवा मृत्युके आने पर भली भांति काय तथा कषाय की शुद्धि को सल्लेखना कहते हैं। उक्त प्रकार से मृत्यु के संयोग उपस्थित होने पर गृहस्थ तथा मुनि दोनों ही धार्मिक विधिपूर्वक शरीरको छोड़ते हैं । समाधिमरण करने वाला व्यक्ति आहार पानादि यथा सुविधा घटाता जाता है अथवा सर्वथा छोड़ देता है । सबसे क्षमा याचना करता है तथा सबको क्षमा देता भी है । उसका पूरा समय ध्यान तथा तत्त्व चर्चामें ही बीतता है । १- जीने या २- मरनेकी इच्छा करने ३- मित्रों से मोह करने ४- भुक्त सुखोंकी स्मृति ५-अगले भव के लिए कामना करने से सल्लेखनामें दोष लगता है ।

प्रायोपगमन—ऐसी सल्लेखना जिसमें व्यक्ति न स्वयं अपनी चिकित्सा करता है न दूसरे को करने देता है, ध्यानमें ही स्थिर रहता है और शरीरको भी स्थिर रखता है ।

आराधना—आत्यन्तिकी भक्ति अथवा सेवा को आराधना कहते हैं । सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तपकी आराधनाके भेदसे यह चार प्रकार की होती है ।

अनायतन—धर्माचरण को शिथिल करने वाले निमित्तों को अनायतन कहते हैं । कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र तथा इन तीनों के भक्त ये छह अनायतन होते हैं ।